पौराणिक पोप पर वैदिक तोप

: लेखक :

पं० मनसाराम 'वैदिक तोप'

विषय सूची

ओ३म्

समर्पण

मैं इस ग्रन्थ को

श्रीमान् पूज्यपाद महाशय रामप्रसादजी आर्य

निवासी शिकारपुर खेड़ी जि० मुजफ्फरनगर

भूतपूर्व पटवारी नंगल आरयाँ, पत्रालय रतिया,

तहसील फतेहाबाद, जि० हिसार

की

सेवा में श्रद्धापूर्वक समर्पित करता हूँ,

जिनकी परम प्रेरणा से उत्साहित होकर ही मैंने देश, धर्म और जाति की सेवा का व्रत धारण किया, और इस व्रत की पूर्ति के लिए अत्यन्त परिश्रम के साथ परम पवित्र देववाणी संस्कृत का स्वाध्याय करके अपने जीवन को वैदिक धर्म के प्रचार में अर्पित किया तथा पञ्जाब के आर्यों की मुख्य सभा श्रीमती आर्यप्रतिनिधिसभा पञ्जाब के उपदेशक-पद को स्वीकार करके आज इस अनूठे ग्रन्थ के द्वारा जनता की सेवा के योग्य हो सका।

मैं आशा करता हूँ कि महाशयजी मेरी इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करके मुझे कृतार्थ करेंगे।

वैदिक धर्म का सेवक

मनसाराम

उपदेशक आर्यप्रतिनिधिसभा, पञ्जाब

गुरुदत्तभवन, लाहौर

धन्यवाद

धन्यवाद पण्डित मनसारामजी नूँ, पुस्तक महनताँ नाल बनाया जिसने।
अक्षर-अक्षर बारूद दा कम्म देवे, गोला युक्ति-प्रमाण दा पाया जिसने॥
बत्ती कथा-पुराणाँ दी लाये ऐसी, बनके तोपची गोला दबाया जिसने।
पापी पोप दा क़िला पाखण्डरूपी, वैदिक तोप दे नाल उड़ाया जिसने॥

[पण्डित मनसारामजी को धन्यवाद कि जिसने मेहनत से यह पुस्तक बनाया, इसका अक्षर-अक्षर बारूद का काम देता है, जिसने युक्ति-प्रमाणों का गोला डाला है, पुराणों की कथाओं की ऐसी बत्ती (आग) लगाई, जिसने तोपजी बनके गोला दागा, पापी पोप के पाखण्ड-किले को, जिसने वैदिक तोप से उड़ाके रख दिया!]

यह बहुमूल्य ग्रन्थ जो पाठकों के हाथों में है, पं० मनसारामजी आर्योपदेशक ने 'सनातनधर्म-विजय' नामक ट्रैक्ट के उत्तर में प्रकाशित किया है, जिसे दर्जनों सनातनी पण्डितों ने मिलकर, बहुत ही परिश्रम करके 'शास्त्रार्थ जाखल' में हुई पराजय की लज्जा को दूर करने के लिए प्रकाशित किया था। पण्डितजी ने अत्यन्त परिश्रम और योग्यता से अपने विस्तृत स्वाध्याय के बल पर २५० पृष्ठ की पुस्तक का उत्तर उससे दुगुने आकार और पाँच गुणी मोटाई में थोड़े-से समय में लिख दिया। इसमें आर्यसमाज पर किये गये बहुत-से प्रश्नों का तर्कपूर्ण उत्तर अत्यन्त सुन्दरता से दिया गया है। यद्यपि पण्डितजी को प्रचारकार्य के कारण एक स्थान पर बैठने का अवसर नहीं मिला और वे सभा के पुरोगमानुसार दिन-रात भारतवर्ष में इधर-उधर घूमते रहे और पुस्तकों का मनों [साढ़े सेंतीस किलो] बोझ अपने साथ-साथ उठाये फिरते रहे। इसी अन्तराल में उनकी पत्नी धनलक्ष्मी देवी का देहान्त हो गया, जो अत्यन्त सुशील, लग्न और उत्साह से धार्मिक कामों में भाग लेती थीं। इन सब कठिनाइयों की ओर ध्यान न देते हुए पण्डितजी ने कुछ ही मास में पुस्तक को पूर्ण कर दिया।

यह पुस्तक पौराणिक गाथाओं की जानकारी प्राप्त कराने का सर्वश्रेष्ठ संग्रह है। आशा है कि यह आर्यसमाज के उर्दू साहित्य में [अब हिन्दी साहित्य में] एक बहुमूल्य वृद्धि समझी जाएगी। मैं पण्डितजी महाराज के परिश्रम की प्रशंसा करता हूँ और लाला देवपालजी गुप्त 'टोहानवी' को बधाई देता हूँ, जिन्होंने प्रचुर धन व्यय करके इस पुस्तक को प्रकाशित कराया। मैं आर्यजनता से प्रार्थना करता हूँ कि प्रत्येक आर्यसमाजी इस पुस्तक का स्वाध्याय करके अपनी योग्यता में वृद्धि करे।

निवेदक
गीताराम वीर
मन्त्री
अछूतोद्धार मण्डल, अमृतसर

दो शब्द

आर्यसमाज का प्रारम्भिक युग शास्त्रार्थों का युग था। महर्षि दयानन्द सरस्वती स्वयं बहुत बड़े तार्किक और शास्त्रार्थ-महारथः थे। उन्होंने अपने जीवन में सैकड़ों शास्त्रार्थ किये और स्वामी विशुद्धानन्दजी, पं० बालशास्त्री और हलधर ओझा-जैसे कितने ही विद्वानों को चारों खाने चित्त गिराकर मिट्टी सुँघा दी।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के पश्चात् तो आर्यसमाज में शास्त्रार्थ-महारथियों की बाढ़-सी आ गयी। पं० लेखरामजी आर्यमुसाफिर, महात्मा मुंशीरामजी (स्वामी श्रद्धानन्दजी), स्वामी दर्शनानन्दजी सरस्वती, पं० जे० पी० चौधरी, स्वामी विवेकानन्दजी, पं० मुरारीलालजी (सिकन्दराबाद), पं० तुलसीरामजी स्वामी, पं० छुट्टनलालजी स्वामी, पं० बुद्धदेवजी विद्यालंकार, पं० बुद्धदेवजी मीरपुरी, श्री अमर स्वामीजी (ठाकुर अमरसिंहजी), पं० लोकनाथजी तर्कवाचस्पति, पं० सुरेन्द्र शर्माजी 'गौर', पं० रामचन्द्रजी 'देहलवी', पं० शान्तिप्रकाशजी, पं० ओम्प्रकाशजी शास्त्री (खतौली), पं० बिहारीलालजी शास्त्री (बरेली), पं० मुरारीलालजी (हिसार), पं० रुद्रदत्तजी शास्त्री (देहरादून), पं० सत्यमित्रजी शास्त्री (बड़हलगंज, गोरखपुर), पं० रामदयालुजी शास्त्री (अलीगढ़), पं० धर्मभिक्षुजी (लखनऊ), पं० व्यासदेवजी शास्त्री (दिल्ली) और कितने ही शास्त्रार्थ-महारथः आर्यसमाज में में हुए। पं० मनसारामजी 'वैदिक तोप' भी अद्भुत तार्किक और शास्त्रार्थ-महारथः थे।

एक समय था जब आर्यसमाज के प्रत्येक उत्सव पर शास्त्रार्थ होता था। अब वह युग समाप्त हो गया। परिणामस्वरूप नये-नये मत और पन्थ पुनः पनपने लगे हैं। हमारी तो प्रबल इच्छा है कि शास्त्रार्थों का युग फिर आये, जिससे संसारवाले सत्य और असत्य को समझकर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग कर सकें।

पं० मनसारामजी ने जहाँ सहस्त्रों व्याख्यान दिये, सैकड़ों शास्त्रार्थ किये, वहाँ अनेक पुस्तकें भी लिखीं। आपके द्वारा लिखी छोटी और बड़ी सभी पुस्तकें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उन सबमें भी दो पुस्तकें विशेष हैं—'पौराणिक पोलप्रकाश' और 'पौराणिक पोप पर वैदिक तोप'। 'पौराणिक पोलप्रकाश' हमने सन् १९८७ में पुनः प्रकाशित कर दिया था जो शीघ्र ही बिक गया।

'पौराणिक पोप पर वैदिक तोप' उर्दू में था। यह ग्रन्थ सन् १९३३ में छपा था। हमने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक इसका अनुवाद किया है। सभी प्रमाणों को मूल ग्रन्थों से मिलाया है। जहाँ पते ग़लत थे, उन्हें शुद्ध कर दिया है। मूल उद्धरणों में जो मुद्रण की अशुद्धियाँ थीं, उन्हें भी शोध दिया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ को उपयोगी बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। स्थान-स्थान पर अन्यून सौ टिप्पणियाँ देकर इसकी गरिमा को और बढ़ाया है। इसमें एक-दो टिप्पणियों को छोड़कर सभी टिप्पणियाँ हमारे द्वारा दी गयी हैं।

'भगवती प्रकाशन' का उद्देश्य वैदिक साहित्य का प्रचार है। जहाँ अन्य प्रकाशक डिमाई-साइज (छोटे आकार) में दो-सौ पृष्ठ के ग्रन्थ मूल्य २५०-३०० रुपये रख देते हैं, वहाँ हमने इतने बड़े ग्रन्थ का मूल्य केवल १५०.०० रक्खा है [पहले संस्करण का मूल्य]। हमने इसके अनुवाद, ईक्ष्य-वाचन , और प्रेस के चक्कर लगाने में जो श्रम, समय, शक्ति और व्यय किया है, उसका लेशमात्र भी पुस्तक के मूल्य में नहीं जोड़ा है।

मैं पं० राजेन्द्रजी 'जिज्ञासु' का हार्दिक आभारी हूँ, जिन्होंने पं० मनसारामजी का जीवन-परिचय लिखने की कृपा की है। श्री सुनीलजी शर्मा को ईक्ष्यवाचन [प्रूफ रीडिंग] और यत्र-तत्र उपयोगी सुझाव देने के लिए हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। दुर्गा मुद्रणालय के सञ्चालक पं० रामसेवक जी मिश्र और उनके कर्मचारियों को शुद्ध और सुन्दर मुद्रण के लिए साधुवाद देता हूँ।

पाठकगण इस पुस्तक को पढ़ें, इसपर मनन और चिन्तन करें। यह ग्रन्थ पाठकों के मन और मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से आपूर कर [भर] देगा। इसके अध्ययन से उन्हें वैदिक सिद्धान्तों की महत्ता और सार्वभौमिकता का ज्ञान होगा, एवं पुराणों की अश्लीलता, खोखलेपन और अनर्गलता का भान होगा। यह पुस्तक पाठकों के हृदय और मस्तिष्क को उद्वेलित कर उन्हें वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट करेगी, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

पं० मनसारामजी के दो ग्रन्थरत्नों को प्रकाशित करके हमने पण्डितजी का सच्चा श्राद्ध किया है और उन्हें सच्ची श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है।

वेद सदन
एच १/२ माडल टाउन,
दिल्ली-११०००९

विदुषामनुचरः
जगदीश्वरानन्द सरस्वती

तृतीय संस्करण

यह ग्रन्थरत्न हाथों हाथ बिक गया। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यजगत् में खण्डनात्मक साहित्य पढ़ने की बहुत भूख है। पुस्तक की निरन्तर माँग बनी हुई थी, अतः इसे पुनः प्रकाशित कराया जा रहा है। मैंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सारा अधिकार श्री विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली-६ को दे दिया है। इस बार यह ग्रन्थ कम्प्यूटर द्वारा कम्पोज़ होकर नये सजधज के साथ आ रहा है।

इस संस्करण में यत्र-तत्र परिशोधन करके इसे अधिक उपयोगी एवं पूर्ण बनाया गया है। पहले संस्करण में जो छोटी-मोटी अशुद्धियाँ रह गई थीं, उन्हें सुधार दिया है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि पाठक इसे पहले से भी अधिक अपनाएँगे।

वेद-मन्दिर
इब्राहीमपुर, दिल्ली-११००३६
दूरभाष-७२०२२४९

विदुषामनुचरः
जगदीश्वरानन्द सरस्वती

एक मार्मिक प्रशस्ति

पाठक महाशय! यह बात किसी भी सत्यनिष्ठ से छुपी नहीं है कि ऋषि दयानन्द के प्रचारकाल से पूर्व सारा संसार मत–मतान्तरों के काले और घनघोर बादलों से आच्छादित था। संसार का गुरु, ज्ञान का अगाध भण्डार भारत भी अज्ञान–अन्धकार और स्वार्थ का अड्डा बना हुआ था। प्राचीन आर्यजाति दिन–प्रतिदिन अपने पवित्र वैदिक धर्म से घृणा करके ईसाइयों और मुसलमानों के समुदाय में सम्मिलित होकर अपने पवित्र वैदिक धर्म को तिलाञ्जली दे रही थी। ऐसे संकट के समय में ऋषि दयानन्दजी महाराज के प्रादुर्भाव ने वेदविरुद्ध मतों पर बम्ब के गोले का काम किया, और उनके रचित, सुप्रसिद्ध, अमरग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' ने मत–मतान्तरों के दुर्गों की नींवों को हिला दिया। तब समस्त मत–मतान्तरों ने अपनी रेतीली आधार–शिलाओं को स्थिर रखने के लिए सत्यार्थप्रकाश के उत्तर में कई ग्रन्थ प्रकाशित किये, जिनका आर्यसमाज ने मुँहतोड़ उत्तर दिया। इनमें से एक पुस्तक का नाम 'भास्कर–प्रकाश' है, जिसे पं० तुलसीरामजी स्वामी, मेरठे–निवासी ने पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्र द्वारा लिखित 'दयानन्द तिमिरभास्कर' के उत्तर में लिखा है।

जब झूठे मत–मतान्तर अपनी बोदी दलीलों के द्वारा सत्यार्थप्रकाश के तीव्र प्रकाश को आच्छादित न कर सके तो उन्होंने कमीनी चालें चलनी आरम्भ कीं। सरकार को भी सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध भड़काकर उसे प्रतिबन्धित (ज़ब्त) कराने का दूषित प्रयत्न किया, परन्तु इसमें भी मुँह की खानी पड़ी।

जब विरोधी इस प्रकार के दूषित सङ्कल्पों में सफल न हो सके तो उन्होंने अपने बचाव का एक और उपाय निकाला। वह यह कि शास्त्रार्थों में किसी निश्चित विषय पर शास्त्रार्थ न करते हुए 'स्वामी दयानन्द के ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं'—इस बात को शास्त्रार्थ की नींव रखकर भोली–भाली जनता में भ्रम फैलाने और धोखा देने का मार्ग ढूँढा। शास्त्रार्थ के लिए प्रत्येक स्थान पर पं० बुद्धदेवजी विद्यालंकार, पं० लोकनाथजी न्यायवाचस्पति, पं० मनसारामजी पुराणाचार्य आदि का जाना कठिन था। इसलिए आवश्यकता थी कि विरोधियों की इन बेढंगी चालों की पोल पुस्तक के रूप में खोली जाकर जनता को इस धोखे से सावधान किया जाए। फलस्वरूप इस कार्य को पूर्ण करने के लिए पं० मनसारामजी शास्त्रार्थ–महारथी ने लेखनी उठाई और 'शास्त्रार्थ जाखल' के नाम से उर्दूभाषा में एक अनूठा ग्रन्थ प्रकाशित कराया जिसमें विरोधियों की बेहूदा चालाकियों का भाँडा सरे–बाज़ार फोड़ा गया।

इस ग्रन्थ के प्रकाशित होते ही पौराणिक क्षेत्रों में खलबली मच गयी और उन्होंने इस पुस्तक का उत्तर लिखने में ही अपना कल्याण समझा। परिणामस्वरूप सनातनधर्म के समस्त पण्डितों ने पं० कुञ्जलाल को आगे रखकर एक पुस्तक 'सनातनधर्म विजय' नाम से प्रकाशित कराई। पुस्तक क्या है, गालियों का पुलिन्दा है। लेखक ने सचाई को बोदे तर्कों और मिथ्या भाषणों से छुपाने का प्रयत्न किया है। इस विचार से कि जनता में भ्रम न फैले, पं० श्री मनसारामजी आर्योपदेशक ने इस पुस्तक के उत्तर में एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक जिसका नाम **'सनातनधर्म की मौत'** है, अत्यन्त परिश्रम से युक्ति और प्रमाणपूर्वक लिखी है।

मैं बिना किसी प्रतिवाद के भय के कह सकता हूँ कि यह पुस्तक पाण्डित्यपूर्ण, युक्ति और प्रमाण–पुरःसर शैली में लिखी गयी है। प्रत्येक बात को सिद्ध करने के लिए वेद, स्मृति

और शास्त्रों के उद्धरण दिये गये हैं।

'सनातनधर्म विजय' नामक पुस्तक के उत्तर में लेखक महोदय ने धैर्य, शान्ति और सभ्यता से काम लिया है। इस बात को कहने में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि आर्यसाहित्य में 'भास्कर प्रकाश' के पश्चात् यह एक अद्वितीय पुस्तक सिद्ध होगी, और आर्यजनता की एक बहुत बड़ी माँग की पूर्ति करेगी। मैं आशा करता हूँ कि प्रत्येक आर्यभाई इस ग्रन्थ को आदि से अन्त तक पढ़कर लाभ उठाएगा, जिससे जनता में फैली हुई भ्रान्ति दूर हो सके।

अन्त में, इस ग्रन्थ की तैयारी के लिए मैं पं० श्री मनसारामजी आर्योपदेशक का धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने ऐसी पाण्डित्य और युक्तिपूर्ण पुस्तक तैयार करके आर्यजनता की बहुत बड़ी सेवा की है।

ओं शम्

वैदिक धर्म का तुच्छ सेवक
कुन्दनलाल गुप्त
मन्त्री
आर्यसमाज, बुढलाडा मण्डी
जि० हिसार

श्री मनसारामजी वैदिक तोप
एक आग्नेय पुरुष

—प्रा० पं० श्री राजेन्द्रजी 'जिज्ञासु'

पं० श्री मनसारामजी 'वैदिक तोप' एक आग्नेय पुरुष थे। देश, धर्म व जाति की सेवा में उन्होंने सर्वस्व होम दिया। जान जोखिम में डालकर देश के लिए ऐसे-ऐसे कार्य किये, जिनकी कल्पना करना भी उस युग के देशभक्तों के लिए अति कठिन था। आर्यसमाज के नाम व काम के लिए वे सदैव शीश तली पर धरकर आग में भी कूदने के लिए तत्पर रहते थे। यदि मैं आर्यकवि प्राध्यापक 'शरर' जी की एक पंक्ति का प्रयोग करूँ तो यह कहूँगा कि—

'प्राणों में अंगार धधकते वे लाये थे'

एक आर्य के लिए जो-जो कुछ भी करणीय कर्म हैं, वे उन्हें करने का प्रयत्न करते रहे। उनमें तीन गुण विशेषरूप से पाये जाते थे। उनमें मौलिक सूझ तो थी ही—यह सूझ थी भी अद्भुत। वे बड़े साहसी थे। लोभ किञ्चिन्मात्र भी न था, दानी व उदार थे।

घोर पौराणिक कुल में—आपका जन्म सन् १८९० ई० में हुआ। इसी वर्ष मुनिवर गुरुदत्त विद्यार्थी के निधन से आर्यसमाज की अपार क्षति हुई। वीरभूमि हरियाणा के हिसार ज़िले के ग्राम हड्डाँवाला नंगल के एक वैश्य लाला शंकरदास के घर आपने जन्म लिया। लाला शंकरदास एक सुखी, सम्पन्न गृहस्थी थे। अग्रवाल-परिवारों में पौराणिकता का घटाटोप अँधेरा होता ही है। लाला श्री शंकरदासजी इसका अपवाद न थे। लालाजी ने अपने घरपर ही एक 'देवी रानी' मन्दिर बना रक्खा था। वे प्रतिदिन इस 'देवी रानी' की पूजा किया करते थे। दो पैसे नित्यप्रति देवीजी को भेंट चढ़ाते थे। लालाजी ने 'देवी रानी' का कोष बना रखा था। बालक मनसाराम कुछ बड़ा हुआ तो अपने पिताजी की अनुपस्थिति में देवी की जोत (ज्योति) जगाने व टका चढ़ाने (दो पैसे) का कर्त्तव्य अपने पिता की भाँति पूर्ण अन्धभक्ति से निभाया करता था।

मुसलमान मुंशी की अन्धभक्ति से सेवा—ग्राम बामनवाला में आपकी प्राथमिक शिक्षा पूरी हुई। यहाँ मुंशी शम्सुद्दीन के प्रभाव में आये। मुंशीजी का टोहाना में स्थानान्तरण हो गया। मनसाराम भी प्राइमरी परीक्षा उत्तीर्ण करके टोहाना के मिडल स्कूल में प्रविष्ट हो गये। मुंशीजी अपने इस मेधावी शिष्य को मुसलमान बनाना चाहते थे। मनसाराम यदा-कदा मुंशीजी की रोटियाँ भी बना दिया करते थे। मुंशीजी कभी-कभी मनसाराम पर कुल्लियाँ भी मार दिया करते थे। अग्रवाल उस युग में अन्धश्रद्धा में और भी दृढ़ थे, इस कारण मनसाराम गुरुभक्ति से यह सब-कुछ सहन कर लेता था, परन्तु अन्य हिन्दू छात्रों, विशेषरूप से जाखलमण्डी के मोहनलाल को मुंशीजी का यह कुकृत्य बड़ा बुरा लगता था।

मोहनलाल ने कई बार मनसाराम को समझाया कि तुम मुसलमान से भले ही मेल-मिलाप रखो, परन्तु ऐसे सम्बन्ध न रखो कि धर्मभ्रष्ट हो जाओ। मनसाराम पर सहपाठी की सीख का तनिक भी प्रभाव न हुआ। सभी सहपाठी भाँप गये थे कि मुंशीजी मनसाराम को मुसलमान बनाकर ही दम लेंगे, परन्तु इसे बचाया कैसे जाए, यह उनकी समझ में नहीं आ रहा था। आर्यसमाज का तब तक इस क्षेत्र में कोई विशेष प्रचार न था। अन्य हिन्दू जानते

ही न थे कि धर्म-रक्षा कैसे की जाए।

मुसलमान बनने से कैसे बचे?—इन्हीं दिनों मनसाराम के जीवन में दो विशेष घटनाएँ घटीं। १९०७ ई० में जब वे आठवीं में पढ़ते थे तो उनके पिताजी का देहान्त हो गया। ला० शंकरदास के घरपर एक पटवारी रामप्रसाद रहा करते थे। वह दृढ़ आर्यसमाजी, सदाचारी व बड़ा परोपकारी मनुष्य था। पटवारीजी में वैदिक धर्म-प्रचार की बड़ी लग्न थी। ला० शंकरदासजी उस पटवारी के सत्संग से वेद की सचाइयों को मानकर भी पौराणिक अन्धकूप से न निकल सके। अब मनसाराम घरपर रहकर मिडल परीक्षा की प्राइवेट तैयारी करने लगा।

पटवारीजी इनसे बड़ा स्नेह करते थे। सब प्रकार का सहयोग भी देते। नित्यप्रति महाशय रामप्रसाद बालक मनसाराम को वैदिक मन्तव्य समझाते। मनसाराम में आरम्भ से ही यह विशेष गुण था कि यदि युक्ति से उन्हें कोई बात समझाई जाए तो वह झट से उसे स्वीकार कर लेते। कुछ जाँच-पड़ताल करनी होती तो वह भी करते। शीघ्र ही मनसाराम पर पटवारीजी की संगत की रंगत दिखाई देने लगी। जीवन-भर पं० मनसाराम बड़ी कृतज्ञता से महाशय रामप्रसाद के इस उपकार को स्मरण करते रहे। मनसाराम के मनोभाव वही थे जो भक्तराज अमींचन्दजी ने ऋषि के प्रति व्यक्त किये हैं—

तुम्हारी कृपा से अजी मेरे भगवन्, मेरी ज़िन्दगी ने अजब पलटा खाया॥

टोहाना का शास्त्रार्थ—टोहाना अब आर्यसमाज का एक गढ़ बनता जा रहा था। १९०४ में ला० देवीदयालजी के एक ताऊ कालूरामजी आर्यसमाज के प्रथम प्रधान चुने गये। १९०८ ई० में टोहाना में आर्यों का पौराणिकों से एक अविस्मरणीय शास्त्रार्थ हुआ। मोहनलाल व मनसाराम दोनों ने यह शास्त्रार्थ सुना। आर्यसमाज के प्रतिनिधि पं० राजाराम ने पौराणिक पं० लक्ष्मीनारायणजी से पूछा, "शास्त्रार्थ किस विषय पर होगा?" उसने उत्तर दिया, "आर्यसमाज के नियमों पर।"

प्राध्यापक राजाराम ने कहा कि आर्यसमाज के नियम तो आप भी मानते हैं। शास्त्रार्थ तो ऐसे विषय पर हो सकता है जिसमें आपका हमसे मतभेद है। ऐसे चार विषय हैं—मूर्त्तिपूजा, मृतकश्राद्ध, वर्ण-व्यवस्था व विधवा-विवाह। पौराणिक पं० लक्ष्मीनारायण बड़े जोश से बोले, "हम आपका एक भी नियम नहीं मानते।" इसपर पं० राजाराम ने पौराणिक प्रधान श्री उदमीरामजी से पूछा, "क्योंजी, आप हमारा कोई नियम नहीं मानते?" पटवारी उदमीराम ने भी अपने पण्डित की बात उसी शैली में दोहराई।

पं० राजाराम ने कहा, "लिखकर दो।" पटवारीजी ने अविलम्ब लिख दिया। पौराणिक प्रधान पटवारी उदमीरामजी का लिखा कागज़ राजारामजी ने भरी सभा में पढ़कर सुनाया, "हम आर्यसमाज का एक भी नियम नहीं मानते।"

अब राजारामजी ने श्रोताओं से कहा, "आर्यसमाज का नियम है—वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है। पौराणिक मत यह हुआ कि न वेद पढ़ना, न पढ़ाना, न सुनना और न सुनाना। आर्यसमाज का नियम है—सत्य के ग्रहण करने व असत्य के त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। पौराणिक सिद्धान्त यह बना कि असत्य को स्वीकार करने व सत्य के परित्याग करने में सर्वदा तत्पर रहना चाहिए।"

आर्यसमाज के पण्डित की युक्ति ने श्रोताओं के मन व मस्तिष्क को जीत लिया। पटवारी उदमीराम प्रधान वैदिक धर्म में दीक्षित हो गये। मनसाराम आर्यसमाज का दीवाना बन गया। मिडल परीक्षा देकर मनसाराम घर पहुँचे। वैदिक धर्म के प्रचार के लिए ट्रैक्ट

लिखने लग गये। पहले दो ट्रैक्ट कविता में लिखे, तीसरा 'गुमराही के समुद्र में रास्ती की किश्ती' (असत्यसिन्धु में सत्य-नौका)। यह गद्य में है। एक दुर्लभ प्रति हमारे पास है। देवीरानी के कोष से यह सारा प्रकाशन-कार्य हुआ।

प्रेमिल सङ्गम का वह स्वर्गीय दृश्य—आर्यसमाज टोहाना का वार्षिकोत्सव आया। मोहनलाल अपने भाई रामशरण व मित्र-मण्डली को लेकर टोहाना का उत्सव देखने गया। मनसाराम भी अपने मित्रों का दल लेकर टोहाना पहुँच गया। मुंशी शम्सुद्दीन की 'कुल्लियों' के कारण मोहनलाल के मनसाराम से सम्बन्ध टूट चुके थे। बोलचाल भी बन्द थी। अब मनसाराम ने मोहनलाल को एक चिट भेज दी कि आर्यसमाज का एक नियम है कि 'सबके साथ प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्तना चाहिए। आप तो मुझसे भी पहले आर्य बने, अतः आपको मुझसे रुष्ट नहीं रहना चाहिए। आपका कर्त्तव्य बनता है कि मुझे गले लगाओ।'

चिट पढ़कर मोहनलाल गद्‌गद हो गया और मनसाराम से कहा कि शम्सुद्दीन के कारण तुम्हारा आर्यसमाजी बनना तो दूर रहा, तुम्हारा हिन्दू रहना भी असम्भव था। दोनों सहपाठी घनिष्ठ मित्र बन गये। जब तक पं० मनसाराम जीवित रहे, मोहनलालजी व उनके दोनों भाइयों— रामशरणजी व हँसराजजी ने वैदिक धर्म के प्रचार-कार्य में उनको तन, मन व धन से भरपूर सहयोग दिया।

देववाणी संस्कृत के पठन-पाठन की धुन—अब मनसाराम के मन में आया कि बुद्धि तो आर्यसमाज के सिद्धान्तों को स्वीकार करती है, परन्तु जब भी वेदशास्त्र का कोई प्रमाण दिया जाता है तो पौराणिक पण्डित झट से कह देते हैं कि ऋषि दयानन्दजी द्वारा किये अर्थ ठीक नहीं है। पौराणिकों को मुँह तोड़ उत्तर देने के लिए संस्कृत-अध्ययन का स्वप्न मन में सँजोकर वह हिसार में सनातनियों की संस्कृत पाठशाला में प्रविष्ट हो गये। यहाँ श्री बनवारीलाल आज़ाद उनके सहपाठी थे। ये एक अच्छे आर्यकवि थे। तीन-चार वर्ष तक भागीरथी पाठशाला कनखल में संस्कृत का अध्ययन चलता रहा। देववाणी के पठन-पाठन के लिए गुरुकुल कांगड़ी में चपरासी की नौकरी भी करते रहे, फिर वाराणसी चले गये।

सूखे बेर खाकर—वाराणसी में दानियों ने संस्कृत के छात्रों के लिए कई क्षेत्र (भण्डारे) चला रखे थे, परन्तु मनसाराम को यहाँ भोजन नहीं मिलता था। कारण यह था कि वे ब्राह्मणकुल में नहीं जन्मे थे। सूखे बेर चुन-चुनकर रख देते। भूख लगती तो भिगोकर खा लेते। एक वैश्य ने एक बार बेर चुनने का कारण पूछा तो बताया कि मैं अग्रवाल-कुल में जन्मा हूँ, इस कारण मुझे भण्डारे में भोजन नहीं मिलता। उस सेठ का भी भण्डारा चलता था। उसने इनके भोजन की व्यवस्था कर दी। इस प्रकार मनसारामजी ने न जाने कितने महीनों तक देववाणी के अध्ययन के लिए सूखे बेर भिगो-भिगोकर खाये और कितनी बार भूख सहनी पड़ी होगी। सब दुःख-कष्ट सहकर भी उनके मन में किसी के लिए कोई दुर्भावना या प्रतिक्रिया न जागी।

अब पं० मनसाराम वैदिक तोप बन गये—देव-वाणी का अध्ययन करके आप कार्यक्षेत्र में कूद पड़े। सुलतानपुर लोधी पंजाब व सिरसा की समाजों में पुरोहित के पद को सुशोभित करते हुए आपने अपनी लग्न व विद्वत्ता की धाक जमा दी। स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज सिरसा पधारे। आपने पं० मनसाराम की प्रतिभा को पहचाना और उन्हें आर्यप्रतिनिधि सभा में ले-गये। अब पण्डितजी ने सारे हरियाणा, पंजाब, हिमाचल, सीमाप्रान्त, देहली आदि के नगरों व ग्रामों में घूम-घूमकर अपने व्याख्यानों व शास्त्रार्थों द्वारा वैदिक धर्म की धूम

मचा दी, लेखनी व वाणी से विरोधियों के छक्के छुड़ा दिये। शास्त्रार्थ व प्रचार करते हुए आपपर प्रहार हुए। कई बार जीवन सङ्कट में पड़ गया। पूज्यपाद स्वामी सर्वानन्दजी महाराज व पं० श्री शान्तिप्रकाशजी आपके उन दिनों के सहयोगी व मित्र थे। 'पौराणिक पोप पर वैदिक तोप' ग्रन्थरत्न के प्रकाश से 'वैदिक तोप' नाम से विख्यात हुए। 'वैदिक तोप' आपके नाम का अभिन्न अङ्ग बन गया। विरोधी आपका नाम सुनकर ही काँपते-हाँपते थे।

स्वतन्त्रता-आन्दोलन में—आप देश के स्वाधीनता-आन्दोलन में कई बार जेल गये। कब-कब जेल गये, यह ठीक पता नहीं चल सका। मृत्यु से पूर्व भी पुनः व्यक्ति सत्याग्रह में भाग लेने की तैयारी में थे। हैदराबाद-सत्याग्रह में भी अपनी बारी की बाट जोहते रह गये। आप हिसार व अम्बाला आदि जेलों में बन्दी रहे। गाँधीजी के प्रथम सत्याग्रह में भाग लेकर आपने जेल के भीतर बन्द न्यायालय में डिप्टी कमिश्नर व ज़िला न्यायाधीश मिस्टर ख्वाजा के सामने पेश होते हुए अपने मुख पर तौलिया डाल लिया व बैठ गये। उसने मुख ढाँपने का कारण पूछा तो कहा कि मैं चाँदी के चन्द टुकड़ों के लिए देश-धर्म को बेचनेवाले का मुँह देखना नहीं चाहता।

यह न्यायालय का अपमान (Contempt of Court) था। न्यायालय का अपमान करनेवाले वे प्रथम सत्याग्रही थे। इस अपराध में उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी। वे फिर भी न घबराए, न पछताए और न डगमगाए।

यशस्वी लेखक, कवि व गवेषक—पं० श्री मनसारामजी एक परिश्रमी, बेजोड़ गवेषक व लेखक थे। शास्त्रार्थ जाखल, शास्त्रार्थ संगरूर, रावण जोगी के भेस में, चेतावनीप्रकाश, मेरे पच्चीस मिनट, पौराणिक पोलप्रकाश व पौराणिक पोप पर वैदिक तोप आदि ग्रन्थरत्नों का सृजन कर आपने नाम कमाया। कविता का कोई संग्रह अब उपलब्ध नहीं, तथापि वैदिक तोप आदि में कहीं-कहीं उनके स्वरचित पद्य मिलते हैं। उर्दू-हिन्दी के सशक्त लेखक थे। उनकी भाषा में प्रवाह, रोचकता व ओज है। आपने जैनियों से भी कई शास्त्रार्थ किये।

सच्चे आस्तिक—वे बड़े पक्के आस्तिक थे। भले ही देर हो जाए, परन्तु वे सन्ध्या नियमपूर्वक किया करते थे। स्वदेशी वस्त्रों का प्रयोग करते थे। घी-दूध के प्रेमी थे। दक्षिणा का सारा पैसा श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी को वेद-प्रचार के लिए भेंट कर दिया करते थे। निर्वाह के लिए सभा द्वारा दी गयी मासिक दक्षिणा को ही पर्याप्त मानते थे। आपने अन्तिम दिनों में बुडलाढा में अपना घर बनाया। सन् १९४१ में उन्हें कारबंकल फोड़ा निकल आया। इसी से २५-१०-१९४१ में उनका निधन हो गया। पूज्य स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी सरीखे वीतराग संन्यासी और सर्वमान्य नेता भी उनका पता करने बुडलाढा गये। पं० मनसारामजी ने लगभग तीस वर्ष तक आर्यसमाज की सक्रिय सेवा की। अपने कालजयी साहित्य, देशसेवा व जातिसेवा के कारण वे चिरस्मरणीय रहेंगे। यह याद रहे कि अपने आरम्भिक दिनों की एक पुस्तिका में पण्डितजी ने अपने नाम के साथ जन्म की जाति-पाँति का प्रयोग किया है, फिर कभी उन्होंने जाति-पाँति की पूँछ नाम के साथ नहीं लगाई। वे एक आदर्श सुधारक थे। उनका जीवन इस दृष्टि से अनुकरणीय था।

मनसारामजी बेजोड़

लौह लेखनी चलाई। धूम धर्म की मचाई॥
ज्योति वेद की जगाई। सत्य कीर्ति कमाई॥

तेरे सामने जो आये। मतवादी घबराये॥
कीनी पोप से लड़ाई। ध्वजा वेद की झुलाई॥
वैदिक तोप नाम पाया। दुर्ग ढोंग का गिराया॥
तान वेद की सुनाई। विजय दुन्दुभि बजाई॥
रूढ़ीवाद को लताड़ा। मिथ्या मतों को पछाड़ा॥
काँपे अष्टादश पुराण। पोल खोलकर दिखाई॥
लेखराम के समान। ज्ञानी गुणी मतिमान॥
जान जोखिम में डाल। धर्म भावना जगाई॥
जिसकी वाणी में विराजे। युक्ति तर्क व प्रमाण॥
धाक ऋषि की जमाई। फैली वेद की सचाई॥
मनसारामजी बेजोड़। कष्ट सहे कई कठोर॥
धुन देश की समाई। लड़ी गोरे से लड़ाई॥
बड़ा साहसी सुधीर। मनसाराम प्राणवीर॥
सफल हुआ जन्म जीवन। तार गई तरुणाई॥
धर्म धौंकिनी चलाई। राख तम की हटाई॥
जीवन समिधा बनाके। ज्ञान-अग्नि जलाई॥

—रचयिता : **राजेन्द्र 'जिज्ञासु'**
वेद सदन, अबोहर - १५२११६

सत्य का प्रकाश

प्रिय पाठकगण ! आर्यसमाज जाखलमण्डी जनपद हिसार का तीसवाँ वार्षिकोत्सव १, २, ३ मई, १९३१ को होना निश्चित हुआ था, जिसपर सनातनधर्म सभा जाखल के विशेष आग्रह पर धर्मचर्चा के रूप में शास्त्रार्थ भी हुआ था, जिसका विषय था कि ''स्वामी दयानन्द-कृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं या अष्टादश पुराण''। इस प्रकार के शास्त्रार्थ आर्यसमाज के उत्सवों पर प्राय: होते ही रहते हैं। दोनों ओर से जो प्रश्नोत्तर हुए, उन्हें जनता सुनती रही। उत्सव के पश्चात् निश्चय हुआ कि उन प्रश्नोत्तरों को केवल इस उद्देश्य से कि जो लोग उत्सव में सम्मिलित होकर उन विचारों से लाभान्वित नहीं हो सके उनकी जानकारी के लिए, इस शास्त्रार्थ की सम्पूर्ण कार्रवाई को ट्रैक्ट के रूप में छपवा दिया जाए। परिणामस्वरूप उन सारी घटनाओं (पत्र-व्यवहार आदि) और प्रश्नोत्तरों को एकत्र करके मात्र चलती लेखनी और साधारण भाषा में '**शास्त्रार्थ आर्यसमाज जाखल**' के नाम से प्रकाशित करा दिया गया।

ट्रैक्ट लिखते समय यह बात कल्पना में भी न थी कि यह साधारण-सा ट्रैक्ट सनातनधर्म की बोदी दीवारों पर एक बम्ब के गोले का काम करेगा और सनातनधर्म के शिविर में इतनी खलबली मच जाएगी कि वे अपनी धोतियों और पोथियों को फटकारते हुए और अपनी बूथियों (मुँह-माथे) को खुजाते हुए इधर-उधर भागते फिरेंगे और 'लुट गये, मर गये, विनष्ट हो गये', का शोर मचाते हुए शरण का स्थान ढूँढते फिरेंगे। कभी समाचारपत्र 'आनन्द' (लाहौर) के द्वारा अपील की गयी, और कभी 'सनातनधर्म प्रचारक' (अमृतसर) के कॉलमों में चिल्ल-पों की रट लगाई कि लोगो ! दौड़ियो, भागियो, आइयो, हम मर गये, सनातनधर्म के किले पर गोलाबारी आरम्भ हो गयी। पता नहीं और क्या-क्या कोलाहल मचाना आरम्भ कर दिया और एक साधारण-से ट्रैक्ट को लेकर जो इनके विचार के अनुसार इनकी मृत्यु का आदेश-पत्र था न जाने कहाँ-कहाँ भागे फिरे और किस-किस के आगे अपना माथा फोड़ा। अन्त में 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुन्बा जोड़ा' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए किसी से दस, किसी से पाँच, और किसी से बीस पृष्ठ लिखवाकर एक पोथा रचा जिसका नाम सत्य के सर्वथा विरुद्ध 'सनातनधर्म विजय' रक्खा गया। इस 'विजय' से सनातनधर्म की विजय हुई या पराजय, दूरदृष्टिवालों ने तो एक ही दृष्टि में भाँप लिया होगा। बहुत-से आर्यसमाजी नेताओं ने तो इसे कोई महत्त्व ही नहीं दिया और पाँव की ठोकर से परे फेंक दिया, परन्तु इस अनर्गल-प्रलाप के पुलिंदे में व्यर्थ की बकवास करते हुए आर्यसमाज को इसका उत्तर देने के लिए चैलैञ्ज दिया गया था।

'सनातनधर्म विजय' में आर्यसमाज पर दोषारोपण किये गये हैं। पं० मनसारामजी शास्त्री ने उनका उत्तर भली-भाँति दे दिया है और पौराणिक मत की नङ्गी तस्वीर भी जनता के समक्ष प्रस्तुत कर दी है। जहाँ तक पण्डितजी की योग्यता का प्रश्न है, वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् हैं, वाराणसी व पञ्जाब विश्वविद्यालयों की उच्च डिगरियाँ प्राप्त करके वाराणसी के पण्डितों से

'पण्डित' पदवी प्राप्त की है। दर्जनों पुस्तकों के लेखक हैं। इनकी लिखी हुई पुराणों की आलचनाओं पर आज तक भी किसी पौराणिक पण्डित का लेखनी उठाने का साहस नहीं हुआ। आर्यप्रतिनिधि सभा पञ्जाब का प्रमुख उपदेशक होना ही इस बात का प्रमाण है कि आप उच्चकोटि के विद्वान् और शास्त्रार्थों के महारथी हैं। सनातनधर्म के लगभग सभी पण्डित शास्त्रार्थों में आपसे मुँह की खा चुके हैं, अतः पण्डितजी का नाम सनातनधर्म के लिए हरिसिंह नलवा से कम नहीं है।[१]

मोहनलाल गुप्त

मन्त्री आर्यसमाज

जाखलमण्डी, जि० हिसार

१. यह लेख बहुत लम्बा था। हमने अनुवाद करते हुए सामयिक बातों को छोड़ दिया है।

पौराणिक पोप पर वैदिक तोप
अर्थात्
सनातनधर्म की मौत

ईश्वर-प्रार्थना

ओ३म्। विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रन्तन्न आ सुव॥

—यजुः० ३०।३

अर्थ—हे सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त, शुद्धस्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर! आप कृपा करके हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को दूर कर दीजिए। जो कल्याणकारक गुण-कर्म-स्वभाव और पदार्थ है, वह सब हमें प्राप्त कराइए।

ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

—यजुः० ३६।३

अर्थ—हम लोग उस प्राणों से प्यारे, दुःखों से छुड़ानेवाले, सुखों को देनेवाले, सारे संसार को उत्पन्न करनेवाले, प्रशंसा के योग्य परमात्मा के उस ग्रहण करने योग्य तेजःस्वरूप का ध्यान करें कि जो परमात्मा हमारी बुद्धियों का नेतृत्व करे, अर्थात् हमें उलटे मार्ग से हटाकर सीधे मार्ग पर लगा दे।

लालाजी और पोपजी

जैसे को वैसा मिले मिलकर करे न कोप।
पण्डित को लाला कहे तभी कहावे पोप॥

हमारे सनातनधर्मी भाइयों ने अपनी पुस्तक में हमें 'लाला' शब्द से सम्बोधित किया है। हम 'लाला' शब्द का आदर करते हैं। आजकल यदि देखा जाए तो देश, धर्म और जाति के सुधार का सब काम लाला लोगों के ही हाथ में है। सच पूछो तो ये लाला लोग ही ब्राह्मण और पण्डित लोगों के अन्नदाता हैं, क्योंकि वे सनातनधर्म के ब्राह्मण और पण्डित लोग ही हैं जो लाला लोगों के घरों में पानी भरने, रोटी पकाने, धोती धोने, बर्तन माँजने, बोझा ढोने, बच्चों को कन्धे पर उठाने, उनके पेशाब से स्नान करने, उनकी टट्टी उठाने, चिलम भरने और मुट्ठी-चापी (पाँव दबाने) आदि सेवाकार्य करके अपना पेट पाल रहे हैं। ऐसी स्थिति में हमारे भाइयों ने हमें उपर्युक्त ब्राह्मणों और पण्डितों की मण्डली में सम्मिलित न करके हमारी मानवृद्ध्यर्थ हमारे लिए 'लाला' शब्द का प्रयोग ही उचित समझा है।

परन्तु हमारे भाइयों को ज्ञात होना चाहिए कि हम वैदिक धर्म के अनुयायी हैं और

गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था मानते हैं। हमारी दृष्टि में ब्राह्मण और पण्डित शब्द का बड़ा भारी आदर है। इसलिए हम लोगों ने 'ब्राह्मण' और पण्डित शब्द का आदर कराने का ठेका ले-रक्खा है। इसी धुन में हमने अत्यन्त परिश्रम से संस्कृत का स्वाध्याय करके बनारस और पञ्जाब विश्वविद्यालय की तीन परीक्षाएँ देकर, काशी के विद्वानों से 'पण्डित' पदवी प्राप्त करके आर्यसमाज में गुण-कर्म-स्वभावानुसार आर्यप्रतिनिधि सभा के अधीन उपदेशक का काम करते हुए 'ब्राह्मण' पद को प्राप्त किया है।

अब हम इस बात को सहन नहीं कर सकते कि इस प्रकाश के युग में भी हमारे सनातनधर्मी भाई उपर्युक्त कार्यों को करनेवाले मनुष्यों के नाम के साथ केवल इस कारण से कि वे ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए हैं, ब्राह्मण और पण्डित-जैसे सम्मानास्पद शब्दों का प्रयोग करके उनकी मिट्टी-पलीद [दुर्दशा] करते रहें। अपितु हम यह चाहते हैं कि वैदिक धर्म के दृष्टिकोण से गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार ब्राह्मण और पण्डित शब्दों का संस्कृत के योग्य विद्वानों के नाम के साथ प्रयोग करके उन शब्दों का गौरव बढ़ाया जाए।

जो लोग अब भी ब्राह्मण और पण्डित शब्द का अपमान करने पर तुले रहते हैं, हम उन्हें देश, जाति और धर्म का घातक समझते हैं, क्योंकि सनातन-धर्म के ठेकेदारों ने अपने दृष्टिकोण को समक्ष रखते हुए हमें पण्डित के स्थान पर लाला शब्द से सम्बोधित करके ब्राह्मण और पण्डित शब्द का अत्यधिक अपमान किया है, अतः हम इस प्रकार के मूर्ख, दुराग्रही (हठी) और स्वार्थी लोगों को, अपने दृष्टिकोण से गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार ब्राह्मण और पण्डित शब्द का अधिकारी न समझकर, अपनी पुस्तक में 'पोप' शब्द से सम्बोधित करेंगे।

पण्डित का लक्षण

पण्डित सो जो मन प्रबोधे। राम नाम आतम में शोधे ॥
छहों वर्णों को दे उपदेश। नानक उस पण्डित को सदा आदेश ॥

तदस्य सञ्जातं तारिकादिभ्य इतच् । —अष्टा० ५।२।३६

पण्डा सदसद्विवेकिनी बुद्धिः । सा जाताऽस्येति पण्डितः, इतच् प्रत्ययः ॥

अर्थ—सत्य और असत्य का निर्णय करनेवाली बुद्धि का जो स्वामी हो, उसका नाम पण्डित है।

विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः ।
धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान्पण्डितः कविः ॥

—अमरकोशः २।७।५

अर्थ—विद्वान्, विपश्चित्, दोषज्ञः (दोषों को जाननेवाला), सन् (साधु), सुधी, कोविद (वेदों को जाननेवाला), बुध, धीर, मनीषी, ज्ञः, प्राज्ञ, संख्यावान् (विचारशील) और कवि पण्डित कहलाता है।

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् । आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥

अर्थ—जो पर-स्त्री को माता के समान, पर-धन को मिट्टी के ढेले के समान और सब प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा के समान देखता है, वह पण्डित है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

—गीता ५।१८

अर्थ–जो लोग विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण में, गौ और हाथी में, कुत्ते और चाण्डाल में समान दृष्टि रखते हैं, वे ही पण्डित हैं।

हनुमान् के लिए पण्डित शब्द–

देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डित। –वा०रा०किष्कि० ४४।७

अर्थ–हे न्याय के पण्डित! आप न्याय और देशकाल की नीति को जाननेवाले हैं।

श्रीराम के लिए पण्डित शब्द–

मतिमान् शास्त्रवित्प्राज्ञः पण्डितश्चासि राघव। –वा०रा०युद्ध० २।४

अर्थ–हे राम! आप बुद्धिमान्, शास्त्रों के जाननेवाले और पण्डित हैं।

सुग्रीव के लिए पण्डित शब्द–

सुग्रीवः पण्डितो नित्यं भवान्मन्त्रविचक्षणः। –वा०रा०युद्ध० १९।३६

अर्थ–सुग्रीव पण्डित है और तुम (लक्ष्मण) परामर्श देने में कुशल हो।

सहदेव के लिए पण्डित शब्द–

अयं धर्मान् सहदेवोऽनुशास्ति लोके ह्यस्मिन् पण्डिताख्यां गतश्च॥

–महा० सभा० ६५।१५

अर्थ–यह सहदेव धर्मों का उपदेश करते हैं और संसार में पण्डित के रूप में इनकी ख्याति है।

द्रौपदी के लिए पण्डिता शब्द–

प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता। अथ कृष्णा धर्मराजमिदं वचनमब्रवीत्॥

–महा० वन० २७।२

अर्थ–प्रिया, दर्शनीया, पण्डिता और पतिव्रता द्रौपदी ने धर्मराज से ये वचन कहे।

परिणाम–इन प्रमाणों से सिद्ध है कि पण्डित नाम केवल जन्म के ब्राह्मणों का ही नहीं है, अपितु प्रत्येक मनुष्य को पण्डित कहा जा सकता है, जो पण्डितों के लक्षणों से युक्त हो।

पोप का लक्षण

परहित से मतलब नहीं पोप इसी का नाम।
ठग्गी-छल और कपट से साधे अपना काम॥

छल-कपट से दूसरे को ठगकर अपना प्रयोजन साधनेवाले को पोप कहते हैं........ राजा और प्रजा को विद्या न पढ़ने देना, अच्छे पुरुषों का संग न होने देना, रात-दिन बहकाने के सिवाय दूसरा कुछ भी काम नहीं करना, परन्तु यह बात ध्यान में रखना कि जो-जो छल-कपटादि कुत्सित व्यवहार करते हैं, वे ही पोप कहाते हैं। जो कोई उनमें भी धार्मिक, विद्वान् और परोपकारी हैं वे सच्चे ब्राह्मण और साधु हैं। अब इन्हीं छली-कपटी, स्वार्थी लोगों का ही ग्रहण पोप शब्द से करना। –सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लासः

वैदिकधर्म का लक्षण

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति। देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥

–अथर्व० १०।८।३२

अर्थ–मनुष्य अपने समीप रहनेवाले परमात्मा को नहीं देखता और उस अत्यन्त निकट रहनेवाले को छोड़ भी नहीं सकता। हे मनुष्य! ईश्वर के काव्य वेद को देख, वह न पुराना होता है और न मरता है।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः । एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

—मनु० २।१२

अर्थ—वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा की अनुकूलता—ये चार प्रकार के धर्म के साक्षात् लक्षण कहे जाते हैं।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

—मनु० ६।९२

अर्थ—धैर्य, क्षमा, मन को वश में करना, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि को बढ़ाना, विद्या पढ़ना, सत्य बोलना और क्रोध न करना—ये दस धर्म के लक्षण हैं।

सनातनधर्म का लक्षण

श्वेतकेतोः किल पुरा समक्षं मातरं पितुः। जग्राह ब्राह्मणः पाणौ गच्छाव इति चाब्रवीत्॥१२॥
ऋषिपुत्रस्ततः कोपं चकारामर्षचोदितः। मातरं तां तथा दृष्ट्वा नीयमानां बलादिव॥१३॥
क्रुद्धं तं तु पिता दृष्ट्वा श्वेतकेतुमुवाच ह। मा तात कोपं कार्षीस्त्वमेष धर्मः सनातनः॥१४॥[1]

—महा० आदि० १२२।१२-१४

अर्थ—एक समय श्वेतकेतु बैठा था। उसने देखा कि उसके पिता के सामने ही किसी ब्राह्मण ने उसकी माता का हाथ पकड़कर अपने साथ चलने को कहा। ब्राह्मण के द्वारा माता को इस प्रकार बलपूर्वक ले-जाते हुए देखकर ऋषिपुत्र श्वेतकेतु अमर्ष में भरकर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। तब अपने पुत्र को कुपित देखकर उसका पिता उद्दालक उससे बोला—हे पुत्र! क्रोध मत कर, यह तो सनातनधर्म है।

तस्य भावं समालोक्य त्रयो देवाः सनातनाः। अनसूयां तस्य पत्नीं समागम्य वचोऽब्रुवन्॥७०॥
लिंगहस्तः स्वयं रुद्रो विष्णुस्तद्रसवर्धनः।
ब्रह्मा कामब्रह्मलोपः स्थितस्तस्या वशं गतः। रतिं देहि मदाघूर्णे नो चेत्प्राणांस्त्यजाम्यहम्॥७१॥

—भविष्य० प्रतिसर्गपर्व, खण्ड ४, अ० १७।७०-७१

उस अत्रिमुनि के भाव को देखकर सनातनधर्म के तीनों देवता उसकी स्त्री अनसूया के पास आकर कहने लगे। लिंग को हाथ में लेकर महादेवजी, उसके रस को बढ़ाते हुए विष्णु और कामवश होकर वेद का लोप किये हुए ब्रह्माजी—तीनों उसके वश में होकर बैठे और बोले—हे काम से मस्त आँखोंवाली! यौवन का दान दे, नहीं तो हम तीनों यहीं प्राण त्याग देंगे।

श्रीकृष्ण और आर्यसमाज

देखो! श्रीकृष्ण का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण-कर्म-स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है, जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्णजी ने जन्म से मरणपर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो, ऐसा नहीं लिखा और इस भागवत बनानेवाले ने अनुचित, मनमाने दोष लगाये हैं। दूध, दही, मक्खन आदि की चोरी और कुब्जा दासी से समागम, पर-स्त्रियों से रासमण्डल, क्रीड़ा आदि मिथ्या दोष श्रीकृष्णजी में लगाये हैं।

इसको पढ़-पढ़ा, सुन-सुनाके अन्य मत वाले, श्रीकृष्णजी की बहुत-सी निन्दा करते

---

१. गीता प्रेस से प्रकाशित महाभारत से इन श्लोकों को निकाल दिया गया है, परन्तु 'महाभारत प्रकाशक मण्डल' चाँदनी चौक, दिल्ली संस्करण में ये श्लोक हैं। पूना-संस्करण में ये श्लोक परिशिष्ट में उपलब्ध हैं। —सम्पादक

हैं। जो यह भागवत न होता तो श्रीकृष्णजी के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्योंकर होती?

—सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लासः

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

—गीता० १८।७८

अर्थ—जहाँ योगिराज श्रीकृष्णजी हों और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन हो वहाँ पर ही श्री, विजय, कल्याण, ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति और स्थिर राजनीति होगी, यह मेरी [सञ्जय की] निश्चित धारणा है।

सनातनधर्म और कृष्णजी

श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम प्रद्युम्न था और प्रद्युम्न के पुत्र का नाम अनिरुद्ध था। कृष्ण का पोता अनिरुद्ध जब एक बार युद्ध में बाण के सामने आया तो बाण ने इस प्रकार वार्त्तालाप आरम्भ किया—

हे वीर! हे महादुष्ट! हे राजनीति से शून्य! हे चन्द्रवंश के कलंक! हे धर्म से हीन!॥५८॥ तेरे पिता ने शम्बर को मारकर उसकी स्त्री को छीन लिया। उससे आप अपने कुल को नष्ट करनेवाले उत्पन्न हुए॥५९॥ तेरा दादा कृष्ण मथुरा में क्षत्रिय कहाता है और गोकुल में वैश्य का पुत्र नन्दनन्दन नाम से प्रसिद्ध है॥६०॥ वृन्दावन में वह नन्दगोप के पशुओं का रक्षक, गोपियों का साक्षात् यार, दुष्ट और लम्पट था॥६२॥ स्त्री का घात करनेवाले पापी कृष्ण ने पूतना को शीघ्र मार दिया और मथुरा में आकर कुब्जा को मैथुन से मार डाला॥६२॥ दुर्बल नरक को मारकर उसकी सुन्दर स्त्रियों और अपने कामी पुत्र को दुष्ट कृष्ण ने ग्रहण कर लिया॥६९॥ भीष्मक और उसके पुत्र को जीतकर देवताओं के ग्रहण करने योग्य उसकी पुत्री रुक्मिणी को ग्रहण कर लिया॥६४॥ उपायपूर्वक सत्राजित को मारकर उसकी मणि-कन्या को ग्रहण कर लिया॥६५॥ कौरव और पाण्डवों का भयंकर युद्ध कराके युधिष्ठिर के यज्ञ में शिशुपाल को मार डाला॥६६॥ क्रूर कृष्ण ने दन्तवक्र, शाल्व और जरासन्ध आदि राजाओं को पृथिवी पर दे मारा॥६७॥ उपायपूर्वक नरक को मारकर उसका सब-कुछ छीन लिया, फिर राजाओं से भयभीत, दुर्बल कृष्ण समुद्र की शरण में गया॥६८॥ अपनी पत्नी के कहने से भाई इन्द्र को जीतकर स्वर्ग में भी दुर्लभ पुष्पक विमान और पारिजात वृक्ष छीन लिया॥६९॥ अपनी माता के भाई कंस को मारकर पापी कृष्ण ने उसका सब-कुछ छीन लिया, इससे अधिक तुम्हें क्या बताऊँ॥७०॥ भल्लुक को युद्ध में मारकर उसकी कन्या को ग्रहण कर लिया। कृष्ण के पिता की बहिन कुन्ती संसार में चार की स्त्री थी॥७१॥ और उसके भाई की स्त्री द्रौपदी पाँच की स्त्री थी। कृष्ण शराबी, दुराचारी और अत्यन्त लम्पट है॥७२॥ उसका बड़ा भाई बलदेव मद्यपान करता है और अपने भाई की पत्नी यमुना को प्रेम से बुलाता है॥७३॥ कृष्ण की बहिन और मामा की पुत्री सुभद्रा को इन्द्र का पुत्र और कुन्ती का जाया अर्जुन भगाकर ले गया—यह तुम्हारे कुल का क्रम है॥७४॥

—ब्रह्मवै०, खण्ड ४, अध्याय ११५

राधिकोवाच

हे कृष्ण विरजाकान्त गच्छ मत्पुरतो हरे। कथं दुनोषि मां लोल रतिचौरातिलम्पट॥५९॥
हे सुशीले शशिकले हे पद्मावति माधवि। निवार्यतां च धूर्तोऽयं किमस्यात्र प्रयोजनम्॥६३॥

—ब्रह्मवै० खण्ड ४, अ० ३।५९, ६३

अर्थ—राधा ने कहा—हे कृष्ण! हे विरजा के प्यारे! मेरे सामने से चला जा। हे चञ्चल, कामी और लम्पट! मुझे क्यों दु:ख दे रहा है? हे सुशीला, हे शशिकला, हे पद्मावती, हे माधवी! इस धूर्त को बाहर निकालो। इसका यहाँ क्या काम है?

आर्यसमाज और व्यासजी

जो अठारह पुराणों के कर्त्ता व्यासजी होते तो उनमें इतने गपोड़े न होते, क्योंकि शारीरकसूत्र, योगशास्त्र के भाष्यादि व्यासोक्त ग्रन्थों के देखने से विदित होता है कि व्यासजी बड़े विद्वान्, सत्यवादी, धार्मिक, योगी थे। वे ऐसी मिथ्या कथा कभी न लिखते और इससे यह सिद्ध होता है कि जिन सम्प्रदायी, परस्पर-विरोधी लोगों ने भागवत आदि नवीन कपोलकल्पित ग्रन्थ बनाये हैं उनमें व्यासजी के गुणों का लेश भी नहीं है, और वेदशास्त्रविरुद्ध असत्यवाद लिखना व्यासजी-सदृश विद्वानों का काम नहीं, किन्तु यह काम विरोधी, स्वार्थी, अविद्वान् लोगों का है। —सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लास:

व्यासजी और सनातनधर्म

पौराणिकानां व्यभिचारदोषो न शंकनीयः कृतिभिः कदाचित्।
पुराणकर्त्ता व्यभिचारजातस्तस्यापि पुत्रो व्यभिचारजातः ॥

—सुभाषितरत्नभाण्डागारम्

अर्थ—पौराणिकों के सम्बन्ध में बुद्धिमानों को व्यभिचार की शंका कभी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पुराणों के कर्त्ता व्यासजी व्यभिचार से उत्पन्न हुए थे और उनके पुत्र शुकदेव का जन्म भी व्यभिचार से हुआ था।

वैदिक धर्म की जय

प्रिय पाठक महाशय! यह बात आर्यसमाज और सनातनधर्म को साझी है कि वेद ईश्वर का ज्ञान हैं, जिन्हें परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों को धर्म और अधर्म की व्यवस्था देने के लिए प्रकाशित किया, अत: वेदों में जिस काम को करने की आज्ञा है, वही धर्म है और जिस काम को करने का वेदों में निषेध है, वही अधर्म है। इसमें सन्देह नहीं कि धर्म-अधर्म को जानने के लिए स्मृति, इतिहास और अपनी आत्मा अर्थात् तर्क से भी सहायता मिलती है, परन्तु वे वहीं तक प्रमाण हैं जहाँ तक वे वेदों के अनुकूल हों, किन्तु जहाँ पर वे वेदों से विरुद्ध हों, वहाँ वे प्रमाण के योग्य नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि धर्म और अधर्म का निर्णय करने के लिए स्मृति, इतिहास और आत्म-प्रियता अन्तिम कसौटी नहीं हैं, अपितु धर्म और अधर्म का निर्णय करने के लिए अन्तिम कसौटी वेद है। इसलिए धर्म का यही लक्षण ठीक है कि जिसका वेद ने प्रतिपादन किया हो, वह धर्म है। इसी का नाम वैदिक धर्म है। वही सत्य है और वही ईश्वरीय धर्म है और वही तीनों कालों में मानने योग्य है।

महाभारतकाल तक लोग वेद को ही धर्म और अधर्म के निर्णय की अन्तिम कसौटी मानते रहे। इसलिए सारे संसार में बिना किसी मतभेद के वैदिक धर्म ही विद्यमान रहा, परन्तु महाभारत के पश्चात् एक ऐसा युग आया जब वेद के विद्वानों की कमी के कारण यह कसौटी लोगों के हाथ से जाती रही और अविद्या-अन्धकार के कारण स्वार्थी, दुष्ट, शराबी, दुराचारी, मांसभक्षी, जुआरी और व्यसनी लोगों की बन आयी। उन्होंने लोगों में यह

बात प्रसिद्ध की कि जो बात संस्कृत [देववाणी] में लिखी हो और जो वचन ब्राह्मणों के मुख से निकले, धर्म और अधर्म का निर्णय करने में वही अन्तिम कसौटी है। अविद्या-अन्धकार के कारण जब लोगों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया तो इन स्वार्थी और दुराचारी लोगों ने ऋषियों और मुनियों के नाम से ग्रन्थ बनाने आरम्भ किये, जिनमें अपने दुराचारों को धर्म सिद्ध करने के लिए यज्ञों और मृतकश्राद्धों के बहाने से मांसभक्षण और मद्यपान की शिक्षा लिखी गयी और मांसभक्षण को इस सीमा तक उचित सिद्ध किया गया कि गोमेध के बहाने से गोमांस तक खाने की आज्ञा दे दी गयी और दुराचार की शिक्षा देने में वह योग्यता प्रकट की कि कोई ऋषि, कोई मुनि, कोई देवता ऐसा नहीं छोड़ा जिसपर दुराचार का आरोप न लगाया गया हो। यहाँ तक कि माँ, बहिन और बेटी से सम्भोग को भी उचित ठहरा दिया।

झूठ, चोरी, जुआ, छल, कपट आदि को धर्म सिद्ध करने के लिए ऋषियों और महात्माओं के नाम से अनेक कहानियाँ घड़ डालीं। स्त्री और शूद्रों से विद्याध्ययन का अधिकार छीन लिया। छोटी अवस्था के, बुढ़ापे के और अनमेल विवाहों को धर्म के नाम से प्रचलित कर दिया। परमात्मा की पूजा के स्थान में मूर्त्तिपूजा आरम्भ की और तीर्थ, व्रत तथा तिलक आदि से मुक्ति बताकर लोगों को खूब उल्लू बनाया। मृतक पितरों के नाम से खीर-पूरी खाकर अपने पेट को लैटरबक्स बनाया। समुद्रयात्रा को पाप बताकर व्यापार को चौपट किया और विदेशियों के लिए धर्म का दरवाजा बन्द करके वैदिक धर्म को सीमित कर दिया। आपस में छूआछूत और घृणा फैलाकर देश और जाति के विनाश के सामान एकत्र कर दिये। वर्णों को जन्म से मानकर उन्नति के द्वारों को बन्द करके, जन्म से ही लोगों के गुरु बनकर विद्याध्ययन की इच्छा को समाप्त कर दिया। विधवाओं के विवाह का निषेध करके उन्हें अपनी सेवा से ही मुक्ति का मार्ग बताया। अपनी बनाई कपोलकल्पित पुस्तकों का नाम पुराण और अपने नये कपोलकल्पित धर्म का नाम सनातनधर्म रखकर धर्म के ठेकेदार बन बैठे।

जब तक किसी अन्य मत का भारतवर्ष में प्रवेश नहीं हुआ तब तक इन लोगों ने राजा और प्रजा को बन्दर की भाँति मनमाना नाच नचाया, परन्तु जब विदेशी लोग अर्थात् मुसलमान और ईसाइयों ने भारत में आकर पुराणों का अध्ययन कर इनके विरुद्ध प्रचार किया तो इससे प्रभावित होकर सैकड़ों और सहस्रों ही नहीं अपितु लाखों-करोड़ों मनुष्य अपने धर्म को छोड़कर मुसलमान और ईसाई बन गये, परन्तु ये लोग—**'कोई मरे कोई जीवे, सुथरा घोल बताशे पीवे'**—इस कहावत के अनुसार अपने स्वार्थों तथा व्यसनों में मस्त रहे और टस-से-मस न हुए।

ऐसी स्थिति होनेवाली थी कि सम्पूर्ण भारत मुसलमान और ईसाई होकर अपने पुराने धर्म को तिलाञ्जलि दे देता कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्वामी विरजानन्दजी से वेदों की शिक्षा ग्रहण कर अपने गुरु की आज्ञा के अनुसार भारतवर्ष से मत-मतान्तरों के अन्धकार को मिटाकर वैदिक धर्म-प्रचार करने के दृढ़ व्रत को धारण किया और अपने सारे जीवन को इसी काम में लगा दिया तथा डंके की चोट इस बात की घोषणा की कि 'पुराण हमारे धर्मग्रन्थ नहीं हैं अपितु ये स्वार्थी लोगों ने अपने दुराचार को धर्म सिद्ध करने के लिए ऋषि-मुनियों के नाम से बनाये हैं, जिनमें वैदिक धर्म और ऋषि-मुनियों की निन्दा है। हमारे धर्मग्रन्थ चार वेद हैं और वेद ही धर्म और अधर्म का निर्णय करने में

अन्तिम कसौटी हैं।'

उन्होंने मुसलमान, ईसाई तथा पौराणिकों को ललकारा और कहा कि मैदान में आकर शास्त्रार्थ करो और अपने सिद्धान्तों को वेद के मुक़ाबले में सत्य सिद्ध करो। ऋषि दयानन्द के घोषणा करते ही सब स्वार्थी और धूर्त लोगों में हलचल मच गयी। ऋषि ने नगर-नगर और ग्राम-ग्राम में घूम-घूमकर वैदिक धर्म का प्रचार और असत्य मतों का खण्डन किया। जो लोग हिन्दुओं को हड़पने के लिए सरपट दौड़ लगा रहे थे, वे शास्त्रार्थों में सिर पर पाँव रखकर भागे और उनके लिए अपना मुँह छिपाना कठिन हो गया। ऋषि दयानन्द ने पौराणिक सिद्धान्तों का खण्डन करके वैदिक धर्म का प्रचार किया। परिणाम यह निकला कि पौराणिकों ने पैंतरे बदलने आरम्भ किये और क्रियात्मक रूप से पौराणिक सिद्धान्तों को तिलाञ्जलि देकर वैदिक धर्म की शरण में आ गये। आज वह कौन-सा सिद्धान्त है जिसे स्वीकार करके पौराणिकों ने सनातनधर्म की पराजय और वैदिक धर्म की वास्तविक विजय का प्रमाण न दिया हो। जो सनातनधर्म आज से कुछ समय पूर्व स्त्री और शूद्रों की शिक्षा का घोर विरोधी था और इस विषय पर आर्यसमाज के साथ शास्त्रार्थ किया करता था, उसी सनातनधर्म के अधीन आज पञ्जाब में सैकड़ों कन्या पाठशालाएँ चल रही हैं, जिनमें चारों वर्णों की लड़कियाँ शिक्षा पा रही हैं, जिन पाठशालाओं में लड़कियों को सनातनधर्म के अनुसार वेदमन्त्रों से सन्ध्या करना सिखाया जाता है और जिनके दरवाजों पर ये बोर्ड लिखे हुए दिखाई देते हैं—'सनातनधर्म पुत्री पाठशाला'। बताइए, यह वैदिक धर्म की विजय है या नहीं? जो सनातनधर्म साधारण जनसमाज में वेदमन्त्रों को पढ़ना इसलिए पाप समझता था कि किसी शूद्र के कान में वेदमन्त्र न पड़ जाएँ, इसी सनातनधर्म के हाईस्कूलों में चारों वर्णों के विद्यार्थियों को सनातनधर्म की विधि के अनुसार वेदमन्त्रों के साथ सन्ध्या सिखाई जाती है और सनातनधर्म के पण्डित शास्त्रार्थों में जनसमूह के समक्ष प्रमाणों में वेदमन्त्रों का पाठ करते हैं। बताओ, यह वैदिक धर्म की विजय है या नहीं?

जो सनातनधर्म समुद्र-यात्रा को पाप समझता था और जिसने बनारस में एक सेठ को समुद्रयात्रा के कारण जाति-च्युत कर दिया था, आज वही सनातनधर्म प्रतिवर्ष अपने उपदेशकों को समुद्र-पार अफ्रीका में स्वयं प्रचार के लिए भेजता है और इसके बड़े-बड़े नेता राजनैतिक कार्यों के लिए लन्दन की गलियों में होटलों की सजावट बने हुए दृष्टिगोचर होते हैं, क्या वह वैदिक धर्म की विजय नहीं?

जो सनातनधर्म अछूतोद्धार से कोसों दूर भागता था और किसी अछूत के साथ छू जाने से सनातनधर्म की लुटिया डूब जाती थी; आज उसी सनातनधर्म ने अछूतोद्धार का विभाग खोला हुआ है और उसी सनातनधर्म के पण्डितों ने अछूतों को कुओं से पानी भरने, स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने, दरियों पर बैठकर कथा सुनने और मन्दिरों में जनसाधारण के साथ पूजा करने की व्यवस्था देकर वैदिक धर्म की विजय को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया और सनातनधर्म के संरक्षक मुख्य नेता ने प्रयाग और वाराणसी में महतरों को एक ही दरी पर बैठाकर मन्त्रपूर्वक दीक्षा दी, क्या यह वैदिक धर्म की विजय नहीं?

जिस सनातनधर्म की नौका ईसाई और मुसलमानों की शुद्धि का नाम लेते ही समुद्र की तह में डूब जाती थी, उसी सनातनधर्म के धार्मिक नेता स्वामी शंकराचार्यजी ने जन्म की ईसाई अमेरिकन लेडी मिस मुलर को शुद्ध करके उसका विवाह सनातनधर्म के अन्नदाता महाराजा इन्दौर के साथ पूर्ण सनातनधर्म की विधि के अनुसार किया। इसी सनातनधर्म ने मथुरा और आगरा के क्षेत्र में 'पुनः संस्कार-समिति' बनाकर जन्म-जन्मान्तरों

के मुसलमान मलकानों को सनातनधर्म में मिलाकर उनका राजपूतों के साथ रोटी और बेटी का सम्बन्ध स्थापित करा दिया। इसी सनातनधर्म के मोक्ष के ठेकेदार और हरद्वार के पण्डों ने जन्म के मुसलमान मुम्बई के सेठ को सनातनधर्म में सम्मिलित करके उसके हाथ से खीर और हलवा उड़ाया। इसी सनातनधर्म की प्रतिनिधि सभा ने कश्मीर के मुसलमान हुए-हुए हिन्दुओं की शुद्धि के लिए कुछ समय पूर्व ही लाहौर में व्यवस्था देकर उन सबको शुद्ध करके सनातनधर्म में सम्मिलित किया। अब कहिए, यह वैदिक धर्म की विजय है या सनातनधर्म की?

विधवाविवाह का नाम लेते ही जिस सनातनधर्म के तन-बदन में आग लग जाती थी, उसी सनातनधर्म के पण्डित अब स्थान-स्थान पर सनातनधर्म की विधि के अनुसार विधवाओं का विवाह कराके डबल दक्षिणा उड़ा रहे है, और जन्म की मुसलमान विधवाओं को शुद्ध करवाकर उनके साथ विवाह करनेवाले पण्डित को धर्मप्रचार के मञ्च पर गुरु का स्थान देकर उसे गुरु-पत्नी का पद दे रहे हैं, क्या यह वैदिक धर्म की विजय नहीं है?

जो सनातनधर्म जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था को परमधर्म मानता था, उसने एक जन्म से कायस्थ संस्कृत के विद्वान् रघबर दयाल शास्त्री एम०ए० को पण्डित की उपाधि प्रदान कर सनातनधर्म कॉलेज लाहौर का प्रिंसिपल बनाकर कर्मों से वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त के सामने सिर झुका दिया, क्या यह वैदिक धर्म की विजय नहीं?

जो सनातनधर्म बालविवाह को अपने धर्म की नींव मानता था, उसने आज युवा-अवस्था के विवाह को स्वीकार कर लिया है और सनातनधर्म के नेताओं ने असेम्बली में बहुमत से 'शारदा एक्ट' को पास करके सनातनधर्म के **'अष्टवर्षा भवेद् गौरी'** वाले सिद्धान्त को बूट की ठोकर से ठुकरा दिया, क्या यह वैदिक धर्म की विजय नहीं है?

जो सनातनधर्म पुराणों को सच्चा इतिहास मानकर उनकी कथाओं को सरल और रोचक बताया करता था, आज वह वैदिक धर्म की गोलाबारी से तंग आकर अलङ्कारों की खाइयों में अपनी जान बचाता फिरता है, क्या यह वैदिक धर्म की विजय नहीं है?

सनातनधर्म पहले यह मानता था कि मूर्त्ति परमेश्वर है, फिर उसने पैंतरा बदला कि मूर्त्ति में परमेश्वर की पूजा करते हैं, अब कहता है कि मूर्त्ति के द्वारा परमेश्वर की पूजा की जाती है, और मूर्त्तिपूजा मूर्खों के लिए है, ज्ञानियों के लिए नहीं। सनातनधर्म पहले कहता था कि पितरों के नाम से खिलाया हुआ भोजन पितरों को उनकी योनि के अनुसार भोजन बनकर वहीं पहुँचता है, फिर कहने लगा कि पितर स्वयं भोजन करने के लिए आते हैं। अब यह कहा जा रहा है कि मृतक पितरों की स्मृति है। सनातनधर्म पहले निराहार व्रतों को मुक्ति का साधन मानता था, अब कहता है कि इससे शरीर का स्वास्थ्य प्राप्त होता है। सनातनधर्म पहले तीर्थों को मुक्ति का मुख्य साधन मानता था, परन्तु अब ध्वनि आ रही है कि भ्रमण से जलवायु का परिवर्तन होकर स्वास्थ्य ठीक हो जाता है। तात्पर्य यह कि सनातनधर्म का एक भी सिद्धान्त ऐसा नहीं दिखता जिसे उसने बदलकर वैदिक धर्म के अनुरूप बनाने का प्रयत्न न किया हो। यह वैदिक धर्म की विजय की मुँह बोलती तस्वीर है। जब मैं इस परिवर्तन को देखता हूँ तो भविष्य में पौराणिक धर्म के मटियामेट होकर वैदिक धर्म में परिवर्तित हो जाने का चित्र मेरी आँखों के सामने घूमता हुआ दिखाई देता है। इस दृश्य को देखकर मेरे मुँह से सहसा निकल जाता है—

जो बोले सो अभय—वैदिक धर्म की जय!

सनातनधर्म के फूल

गर सुगन्धित पुष्प हों तब तो हमें मक़बूल[1] हैं।
वरना गंगा में बहाओ सनातनधर्म के ये फूल हैं॥

आदरणीय पाठकगण! मैं बहुत दिनों से यह चर्चा सुन रहा था कि मेरी पुस्तक 'स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं या अष्टादश पुराण' का उत्तर सनातनधर्म की ओर से तैयार कराया जा रहा है और शीघ्र ही प्रकाशित हो जाएगा। इसी प्रतीक्षा में मेरे मित्र महाशय मोहनलालजी आर्य ने एक ट्रैक्ट का मुखपृष्ठ मेरे पास भेजा, जिसके दूसरी ओर प्रकाशित होनेवाली पुस्तक का विज्ञापन था, जिसमें मुझे दर्जनों गालियाँ दी गयी थीं। इन गालियों को पढ़कर मुझे दु:ख नहीं हुआ, क्योंकि मुझे प्राय: सनातनधर्म का अतिथि बनने का अवसर मिलता रहता है और ये गालियाँ आतिथ्य के रूप में सनातनी मित्रों की ओर से मुझे भेंटस्वरूप मिलती रहती हैं। मुझे कोई आश्चर्य भी नहीं हुआ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरे सनातनी भाइयों के पास सिवाय, झूठ, मिथ्याभाषण, धोखा देना, दुराग्रह, दोषारोपण, अविद्या, स्वार्थ और गालियों के और कुछ है ही नहीं। मुझे आश्चर्य तो तब होता, यदि वे गालियाँ न निकालते, अस्तु।

विज्ञापन-पत्र को देखकर मेरे मन में मेरी पुस्तक के उत्तर में लिखी गयी पुस्तक को देखने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई, क्योंकि मैं सत्य-अन्वेषी होने के कारण सत्य के स्रोत पर पहुँचकर अपनी धार्मिक प्यास को बुझाना चाहता था। पर्याप्त प्रतीक्षा के पश्चात् मेरे मित्र ने वह पुस्तक मेरे पास भेजी। मैंने उत्सुकता के साथ पुस्तक के पन्ने पलटने आरम्भ किये। पुस्तक का नाम 'सनातनधर्म विजय' पढ़ा तो मन बहुत प्रसन्न हुआ, क्योंकि सनातनधर्म नाम प्राचीन वैदिक धर्म का है। इसकी विजय से बढ़कर प्रसन्नता की और क्या बात हो सकती है! पुस्तक के नाम के नीचे योगिराज श्रीकृष्णजी का चित्र देखकर भारत की प्राचीन सभ्यता आँखों के सामने चमचमाने लगी। श्रीकृष्णजी के सदाचार, राजनीति और पीड़ितों की वकालत को स्मरण करके मन गद्‌गद हो गया और परमात्मा से प्रार्थना की कि—'परमात्मन्! भारतवर्ष के उद्धार के लिए श्रीकृष्ण के सदृश शूरवीर हमारे देश में उत्पन्न हों।'

पृष्ठ उलटते ही दूसरे पृष्ठ के ऊपर 'ओम्' नाम को देखते ही सहसा मुँह से निकल गया—'सत्य सनातन वैदिक धर्म की विजय', बोलो—ऋषि दयानन्द की जय! जो सनातनधर्मी पुस्तकों के आरम्भ में 'ओम्' नाम लिखने पर टीका-टिप्पणी किया करते थे और **'श्रीगणेशाय नम:'** के बिना दम नहीं लिया करते थे, उनसे पुस्तकों के आरम्भ में 'ओम्' लिखवाने का गौरव वैदिक धर्म और महर्षि दयानन्दजी को ही प्राप्त है और यही वैदिक धर्म की आज्ञा है। इससे आगे पोप-अवतार कुञ्जलालजी का चित्र देखकर मेरा माथा ठनका, क्योंकि मैं पोपजी को अच्छी प्रकार से जानता हूँ। ये वही पोपजी हैं, जिन्होंने डेरागाजीखाँ में सनातनधर्म के मञ्च से पं० श्री लोकनाथजी की शान में अशिष्ट बकवास की और पण्डित लोकनाथजी के मानहानि का दावा करने पर पोपजी को लिखित क्षमा माँगकर अपनी अशिष्ट बकवास के लिए खेद प्रकट करना पड़ा। इस चित्र को देखकर चाहता था कि मैं इस पुस्तक के सम्बन्ध में अपनी धारणा को बदल लूँ कि पृष्ठ के

---

१. स्वीकार।

उलटने पर पुस्तक के ऊपर एक शैर दृष्टिगोचर हुआ, जो इस प्रकार है--

लाख बरसाते हो पत्थर हमें मक़बूल हैं। यह सनातनधर्म है जिसकी तरफ़ से फूल हैं॥

इस शैर को पढ़कर सबसे पहले तो मैंने इस बात पर विचार किया कि क्या मैंने अपनी पुस्तक में सनातनधर्म पर पत्थर बरसाये हैं? आत्मा ने उत्तर दिया कि बिल्कुल असत्य, अनर्गल बकवास है। मैंने व्यक्तिगतरूप से किसी भी सनातनधर्मी की शान में सभ्यता से गिरे हुए शब्दों का प्रयोग नहीं किया। रहा पुराणों की गन्दी, मिथ्या, अश्लील व असम्भव कहानियों का शब्दशः लिखना और पौराणिक धर्म का सही चित्र खेंचना--वह इसलिए पत्थर बरसाना नहीं कहा जा सकता कि इसी पुस्तक के पृष्ठ १४ पंक्ति पाँच से ११ तक एक सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि--'जो कुछ किसी धर्म के सम्बन्ध में इस धर्म की पुस्तकों में लिखा हुआ हो उसका वर्णन करना भावनाओं का भड़काना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका उत्तरदायित्व वर्णन करनेवाले पर नहीं होता, अपितु उसका उत्तरदायित्व पुस्तक लिखनेवाले पर होता है। उस धर्म को माननेवालों का यह कर्त्तव्य है कि वे सचाई के सुनने और ग्रहण करने से घबराएँ नहीं।"

इस सिद्धान्त के अनुसार पत्थर बरसाने के अपराध से तो हम बिल्कुल मुक्त हैं। अब रहा सनातनधर्म की ओर से हमपर फूलों की वर्षा का वर्णन। इसे पढ़कर हमारे आश्चर्य की सीमा नहीं रही। हृदय ने प्रश्न किया कि क्या सनातनधर्म की ओर से यह आशा की जा सकती है कि वे सभ्यता और अमृतरूप प्रेमभरी वाणी से फूल बरसाएँ? उत्तर मिला--प्रथम तो पौराणिक सनातनधर्म से यह आशा ही व्यर्थ है, क्योंकि जिन लोगों ने अपने ऋषि-मुनि, देवता और अवतारों को बदनाम करने में कोई कसर उठा न रक्खी हो, उनसे हम उत्तम व्यवहार की आशा कैसे कर सकते हैं? फिर जिस पुस्तक की तैयारी में पोपावतार कुञ्जलाजी और बाबू काशीराम प्रधान सनातनधर्म सभा जाखल मण्डी, जिला हिसार जैसे मुँहफट, बकवासी, डबल पोपों का हाथ हो उस पुस्तक में सभ्यता और प्रेम के फूलों की आशा करना बालू रेत में से तेल प्राप्त करने की आशा के समान है, परन्तु फिर विचार आया कि परिवर्तन का युग है, सम्भव है सनातनधर्म ने भी अपनी पुरानी शैली को बदल लिया हो। यदि इस बात पर भी विश्वास न हो तो तीन सज्जन मुकुन्दराज अराधे, लालचन्द धुन्ना और जगन्नाथ हाँडाजी श्रीकृष्ण को प्रत्येक स्थान पर व्यापक समझकर गवाही दे रहे हैं कि इस पुस्तक में हमारी पुस्तक का उत्तर "अत्यन्त सभ्यता एवं शिष्टतापूर्ण तथा शान्ति और प्रेमभरे शब्दों में देकर सभ्य संसार में प्यारे सनातनधर्म की शानदार विजय दिखलाई है।" इनकी सज्जनतापूर्ण गवाही पर विश्वास करना चाहिए। इस विचार ने हृदय पर प्रभाव डाला और मैंने सारी पुस्तक का अध्ययन कर डाला, परन्तु पुस्तक समाप्त करते ही सहसा यह शैर मुँह से निकल पड़ा--

बहुत शोर सुनते थे पहलू में दिल का। जो चीरा तो इक क़तरये-खूँ न निकला॥

सन्देह दूर हो गया और सनातनधर्म की नंगी तस्वीर आँखों के समक्ष आ गयी। आत्मा ने आवाज़ दी कि तुम धोखे में थे। यह सत्यसनातन वैदिक धर्म की विजय नहीं। यह तो जोगी का वेश धारण करके रावण संसार को धोखा दे रहा है। श्रीकृष्णजी का चित्र और मङ्गलाचरण में 'ओम्' नाम केवल लोगों की आँखों में धूल झोंकने के लिए डाल दिये गये हैं। पौराणिक सनातनधर्म की लेखन-शैली में कोई परिवर्तन नहीं आया और तुमने जो तीन सज्जनों के कहने पर विश्वास कर लिया वह धोखा खाया। सच समझो लङ्का में सभी

बावन गज के होते हैं। मैंने आत्मा की आवाज़ सुनकर अपने धोखा खाने पर खेद प्रकट **किया और इस** विचार से कि मेरी भाँति दूसरे लोगों को भी कहीं इसका जोगी-वेश देखकर धोखा न लग जाए, रावण को वास्तविक रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का निर्णय कर लिया और सनातनधर्म के फूलों को चुनकर एक थैली में इकट्ठा करना अपना कर्त्तव्य समझा। अब यह सनातनधर्म के फूलों की थैली पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। तनिक पक्षपात की पट्टी आँखों से हटाकर इसके दर्शन करें—

पुष्प संख्या	पृष्ठ	पंक्ति	फूल के दर्शन
१.	२	३	आर्यसमाजियों के **सरासर झूठे, भड़कानेवाले** और **असभ्य आचरण** के उत्तर में।
२.	६	१०	यह **गन्दा चिथड़ा** किसी तनिक-सी भी मानवता रखनेवाले मनुष्य के मस्तिष्क का परिणाम नहीं हो सकता।
३.	६	१३	बनावटी **बकवास** से पूजनीय हिन्दू महापुरुषों को अपमानित किया गया है।
४.	६	१८	इसकी लेखन-शैली पर **लानत** भेजे बिना नहीं रह सकता।
५.	७	१	पता नहीं आप सनातनधर्म के कई जन्मों के शिशुपाल थे।
६.	७	१३	इस बेहूदा पुस्तक को पाँव तले **रौंदकर बूट की ठोकर से गन्दी नाली में** फेंक देते।
७.	११	१४	जिनका अस्तित्व धार्मिक संसार में अब **नाममात्र रह गया है।**
८.	१४	१५	और **दयानन्दी महाशय** ने जो कहा वह क्यों ठीक है?
९.	१५	२०	जिनके लिए **गुमनामी के कोने** से निकलने का इसके सिवा कोई अवसर नहीं था।
१०.	१६	२	क्या आपके **अन्तःकपट को** प्रदर्शित नहीं करता।
११.	२१	१०	तो आर्य विधवा-आश्रमों में विधवाओं के साथ दुर्व्यवहार क्यों किया जाता है, क्यों **उनके गर्भ गिराये जाते हैं।**
१२.	२४	१	बाबू सन्तरामजी रिलीविंग स्टेशन मास्टर को जो **शास्त्र के ज्ञान से बिल्कुल शून्य हैं।**
१३.	२४	२२	पण्डित लोकनाथजी को बड़ी दूर से एक **विशेष शुल्क देकर** तार द्वारा बुलवाया।
१४.	३०	१	जबकि स्वामीजी ने झूठे प्रमाण देकर जनता को धोखा देने का ठेका ले-रक्खा है तो चेले कम क्यों? कहावत है—'**गुरु जिन्हाँ दे टप्पणे, चेले जान शड़प्प।**
१५.	३२	१	तो इन्हें नूतन मानना **नास्तिकता** है।
१६.	३५	१	आजकल के **अश्रद्धालु, विषयी** लोग कैसे समझ सकते हैं।
१७.	३५	४	**अधर्मी और ईर्ष्या** से मदमस्त लोगों को क्या ज्ञान हो सकता है?
१८.	३६	११	**अज्ञानी महाशय** इसे गप्प कहेंगे।

१९.	३९	२०	ऐसी उत्तम कथा को गप्प कहना कितनी **मूर्खता** है।
२०.	४३	७	आर्यसमाजी जीवित पति की विद्यमानता में स्त्री को दूसरे पति के पास जाकर सन्तान उत्पन्न कराना **वैध** मानते हैं।
२१.	४६	६	**लाला मनसारामजी** ने कई **बेहूदा आक्षेप** कर डाले।
२२.	६१	१	महाशयजी चारदीवारी के अन्दर ही धुरन्धर विद्वान् हैं, बाहर तो **खाली विद्वान्** भी सिद्ध नहीं हुए।
२३.	६१	२३	आर्यसमाजी पण्डित लोकनाथ साहब तो हर स्थान से ही सनातनधर्मी विद्वानों से **हार खाकर भी** सिर आगे ही रखने के अभ्यस्त हैं।
२४.	६६	२३	स्वामी दयानन्दजी बिना योग के ही जो कुछ मनघड़न्त ही लिख दें वह वेदानुकूल क्यों न हो, **कलियुग के ऋषि जो हुए।**
२५.	८९	२०	ऋषियों के पवित्र जीवन पर मज़ाक उड़ाना **पशुता है।**
२६.	९८	२०	जिसका उत्तर आर्यसमाज के उपदेशक तो क्या यदि **इनके गुरु स्वामी दयानन्द भी जन्म लेकर आएँ तो** नहीं दे सकते।
२७.	१००	२२	धोखा देना सनातनधर्म का कर्त्तव्य नहीं, यह काम आर्यसमाज का ही रजिस्टर्ड है।
२८.	१०२	४	यह सनातनधर्मियों की बेहूदगी नहीं, अपितु वैदिक धर्म की डींग मारनेवालों की **बेहूदगी** है जो जनता को वेदों के नाम पर **झूठे मन्त्र** लिखकर **मार्ग-भ्रष्ट** करने का **बेहूदा** प्रयत्न कर रहे हैं। लालाजी! सनातनधर्मी आर्यसमाजियों की भाँति **बेहूदा** आलोचना करना नहीं जानते। यह आदत (स्वभाव) भी आपको ही शोभा देती है, जिन्होंने प्रसंग को छोड़कर पुराणों की कई कथाएँ अधूरी ही प्रस्तुत करके **जनता को धोखा दिया है।**
२९.	१०३	१८	और केवल शास्त्रार्थ में **धोखा देकर** सत्यार्थप्रकाश के सफ़ेद काग़ज़ पर स्याह (काला) लिखे हुए मत के विरुद्ध लालाजी जानवरों को अन्न देना इन मन्त्रों का आधारभूत सिद्धान्त बता रहे हैं।
३०.	१०४	५	वेद ही की आज्ञाओं का **ढोंग रचनेवाले स्वामी दयानन्दजी** का कोई अधिकार नहीं।
३१.	११०	१५	उधर विधवाओं के गर्भधारण करने की चिन्ता में आप वेदों के विरुद्ध दुराचार करने के लिए सभी आर्यसमाजियों को शिक्षा देते हैं, परन्तु **कन्या महाविद्यालयों और पाठशालाओं** की जवान-जवान **लड़कियों की ऐसी चेष्टाओं** का लाला साहब ने क्या प्रबन्ध किया है? आये दिन हमें ऐसे

			उदाहरण सुनने से दु:ख होता है, परन्तु इसका कोई **प्रबन्ध** नहीं किया गया। आजकल की सभ्यता ने घर-घर **व्यभिचार को प्रधानता** दे रक्खी है, इसका क्या प्रबन्ध करोगे?
३२.	११३	५	स्वामीजी ने इन दुराचारी लोगों के लिए बड़ा उपकार किया है कि **पतिव्रतधर्म का नाश करके** समस्त स्त्रियों को **व्यभिचार करने** के लिए उद्यत किया है।
३३.	११३	२०	यदि कोई **मूर्ख मनुष्य** केवल प्रश्न को लेकर अपने स्वार्थ से अपने प्रयोजन ही को सिद्ध कर ले।
३४.	११४	१८	**जंगली मनुष्य** की समझ में यदि बेतार से तार भेजने का सिद्धान्त समझ में न आये।
३५.	११४	२०	डॉक्टर साहब की जर्राही किसी **मूर्ख की** समझ में न आये।
३६.	११६	१०	प्रत्येक जाति के मनुष्य के लिए ही नियोग की आज्ञा मनु भगवान् ने दी है, यह **मूर्खता** है।
३७.	११६	१८	नियोग भी विवाह की भाँति प्रसिद्धि से किया जाए। प्रसिद्धि करने के लिए **विज्ञापन-पत्र लगाये जाएँ, मुनादी की जाए अथवा मिठाई बाँटी जाए** कि अब मुझसे नहीं रहा जाता, अत: नियोग करूँगा और स्त्री से भी न रहा जाने पर उसी प्रकार प्रसिद्धि करे।
३८.	११८	४	फिर बलात् ही नियोग मान लेना आर्यसमाजियों की **चालबाज़ी** नहीं तो और क्या है?
३९.	११९	२	ऐसी अवस्था में तो बाबू लोगों का दिवाला निकल जाएगा। यदि कोई महाशय विद्या के लिए विलायत चला जाए और छह वर्ष न आये तो **स्त्री से छुट्टी**। यदि किसी अन्य स्थान में नौकर हो जाए तो घर की **स्त्री से हाथ धो बैठे।**
४०.	१२०	३	नियोग स्पष्ट व्यभिचार की शिक्षा है।
४१.	१२१	१०	क्या कोई अपनी स्त्री को किसी दूसरे **पुरुष की शय्या पर सोने** की आज्ञा दे सकता **है?**
४२.	१२६	१	आप लोगों ने **झूठ लिखना और बोलना** समाज की उन्नति का कारण समझ रक्खा है, कितनी **धोखेबाजी** है।
४३.	१२८	६	किसी आप-जैसे **उलटी समझवाले** के लिए ही नियोग की रीति सिद्ध करनी होगी।
४४.	१२८	९	आपने तो मिस मेयो को भी मात कर दिया! क्यों न हो, **एक गन्दगी के कीड़े को सिवाय दुर्गन्ध ग्रहण करने** के और क्या आ सकता है?
४५.	१२८	१७	आपकी जिह्वा क्यों न कट गई।
४६.	१२८	२०	विधवा-विवाह सिद्ध करना **मूर्खता** है।

४७.	१२९	१६	**अधसीखी डायन** अपने घरवालों को ही खाती है।
४८.	१३०	४	प्रथम श्रेणी की **अदूरदर्शिता** है।
४९.	१३१	३	आर्यसमाज में नियोग से आज तक कितने बच्चे पैदा हुए?
५०.	१३१	८	दस बच्चे पैदा करने के लिए लगभग बीस वर्ष **आपकी नियोगी स्त्रियों को दूसरे भोगी पुरुषों से सम्भोग करना पड़ेगा।**
५१.	१३१	१३	आर्यसमाज ऐसे कुछ युवकों को नियुक्त कर रक्खे जिनके भोजन का उत्तम प्रबन्ध आर्यसमाज की ओर से किया जाया करे **ताकि वे सरलता से बच्चा पैदा करने में लाभदायक सिद्ध हों और वे इच्छुक सामाजिक स्त्रियों की इच्छा को समय-समय पर पूरा कर सकें।**
५२.	१३७	१६	मुर्दा घोड़े के साथ मैथुन का विचार करना **वेदों के विरोधी नियोगी और कामी पुरुषों का ही काम** हो सकता है।
५३.	१४४	५	ओह! अब खूब समझे। दयानन्दियों के जवान-जवान स्त्री और पुरुषों के जोड़े सर्गारम्भ के समय जो तिब्बत, हिमालय पर गिरे होंगे तभी से **हिमालय सबसे ऊँचा हो गया होगा।** आश्चर्य है कि आकाश से जोड़े गिरे और उनकी हड्डियाँ चूर-चूर नहीं हुई। क्यों उस समय हिमालय पर्वत **रबड़ का बना हुआ था** अथवा उसमें स्प्रिंग लगे हुए थे अथवा उन जोड़ों के शरीर लोहे के थे जो इतनी दूर से गिरे और न टूटे?
५४.	१४५	१९	लाला साहब को **नटोंवाली मर्ज** है कि जैसे वे कहा करते हैं-'मैं न मानूँ, मैं न मानूँ।'
५५.	१५१	१२	जिन मुसलमानों को आपने शुद्ध करके चोटियाँ रखवाकर आर्यसमाजी बनाया था, वे सारे-के-सारे आर्यसमाज में विवाह करके **भोगविलास भोगकर** फिर मुसलमान बन गये। जब आपने इन्हें हिन्दू बनाकर **पूरा लाभ उठा** लिया है, तो अब इन्हें हिन्दू बनाने की कौन-सी आवश्यकता शेष रही है।
५६.	१५७	४	क्या आर्यसमाज ने कोई ऐसी **दुराचारिणी स्त्रियाँ नौकर रक्खी हुई हैं,** जिन्होंने हर नवीन विवाहिता स्त्री के पास जाकर, अपना अपमान करवाकर वापस आने का प्रतिज्ञा-पत्र लिख दिया हो?
५७.	१५७	१२	इन्हें जहाँ शिश्न या लिंग आदि शब्द दृष्टिगोचर होते हैं, वहाँ ये अपने स्वभाव के अनुसार मूत्रेन्द्रिय का ही ग्रहण कर लेने में बड़े चतुर हैं।
५८.	१५८	२	तो क्या आपके निराकार ईश्वर ने **आपके लिए वीर्य का हौज (कुण्ड) बना रक्खा है?**

५९.	१५८	९	**यह पुस्तक अश्लील है और इसमें दुराचार फैलानेवाली शिक्षा दी हुई है, जिसकी चर्चा नियोग प्रकरण में की जा चुकी है। जब तक संसार में सत्यार्थप्रकाश है और गुदा-इन्द्रिय से साँप पकड़नेवाला स्वामीजी का भाष्य विद्यमान है, तब तक आर्यसमाज अपना सिर ऊँचा नहीं कर सकता।**
६०.	१६१	७	**आपने लज्जा छोड़कर, झूठे प्रमाण देकर धोखा देने का** ठेका ले-रक्खा है?
६१.	१६१	१०	**क्या सभी स्वामी दयानन्दजी की भाँति आचरण करनेवाले हैं?** पुराण आपके झूठा बदनाम करने से **सत्यार्थप्रकाश की भाँति** अश्लील ग्रन्थ नहीं माने जा सकते।
६२.	१६४	२१	वे समाजी लेखक नहीं थे कि **स्वामी दयानन्दजी एक रण्डी के विष देने से मर जाएँ,** परन्तु इस सचाई पर पर्दा डाला जाए या 'दयानन्द छल-कपट दर्पण' के **अनुसार** स्वामी दयानन्दजी बाल-अवस्था में एक जाट के लड़के के साथ घर से निकल जाएँ और समाजी लेखक इस सचाई को छुपाने का प्रयत्न करें।
६३.	१६५	७	यह आर्यसमाज के ही धर्मशास्त्र को शोभा देता है कि वह गर्भवती को खुले शब्दों में आज्ञा दे चुका है कि **हे गर्भवती, यदि तुमसे न रहा जाता हो तो जाओ, किसी अन्य पुरुष से आनन्द लूटो।**
६४.	१६६	६	**ब्रह्मा कोई आर्यसमाजी नहीं था जिसकी स्त्री को देखते ही ऐसी अवस्था हो जाती।**
६५.	१६७	२	अब तो आर्यसमाजियों के निराकार ईश्वर का भी वीर्य पारा बहने लगा।
६६.	१६९	११	**अपितु बकरी की योनि में और बैल की गुदा में ही लिंग डालने की स्वामीजी की आज्ञा से स्पष्ट** ज्ञात होता है कि आर्यसमाज में इस मन्त्र के अनुसार नर और मादा दोनों के साथ भोग करने का **वैदिक** विधान है।
६७.	१६९	१७	ऐसे उपदेश स्वामीजी के वेदभाष्य में ही पर्याप्त हैं। वहाँ ही देखकर आचरण करने का प्रयत्न करें तभी वैदिक धर्मी कहला सकोगे, परन्तु **कहीं गुदा से साँप पकड़ने का प्रयत्न न कर बैठना।**
६८.	१७०	१६	स्वामीजी का यह लेख **हूबहू ईसाइयों के धर्म के** अनुसार है।
६९.	१७२	१८	**कौन मूर्ख मनुष्य** माँ का बन्द करके दाई का दूध पिलाना उचित समझ सकता है?
७०.	१७५	१७	स्वामी दयानन्दजी रमाबाई पर मस्त होकर उसे अपने व्यय

			से कलकत्ता से बुलाएँ और अपने पास रक्खें, अपितु उसके **धर्म को बलात् भ्रष्ट करें।**
७१.	१७६	१	**किसी ऋषि ने भी आपके स्वामी की भाँति किसी विधवा का धर्म भ्रष्ट नहीं किया था।**
७२.	१७६	८	क्या आक्षेप करनेवाले साहब ने काम से मस्त हुए बिना अपना विवाह किया था?
७३.	१७८	४	व्यर्थ आलोचना करना **सरासर अविद्या और स्वार्थपन है।**
७४.	१७९	२१	विवाह करने की **हुज्जत (तर्क) करना सरासर मूर्खता ही नहीं अपितु अयोग्यता, मूर्खता और अविद्या है।**
७५.	१९५	२	आर्यसमाज मन्दिरों में **रण्डियों का नाच, शराब व गोमांस**-भक्षण तथा स्वामी दयानन्दजी के **मांस खाने की** आज्ञा देने पर आप उसे छुपाने के लिए जब तक दूसरों को कलंक न लगाएँ **तो समाजियों की काली करतूतें कैसे छिपें?**
७६.	१९६	१८	व्यभिचार की खुली छुट्टी आर्यसमाज में ही पायी जाती है।
७७.	१९९	३	यदि आप गन्दी और व्यभिचार की शिक्षा देखना चाहते हैं तो कृपा करके स्वामीजी का वेदभाष्य देखिए।
७८.	१९९	६	सत्यार्थप्रकाश तो निरा व्यभिचार की शिक्षा देनेवाला सिद्ध हो चुका है।
७९.	१९९	१२	**सत्यार्थप्रकाश सम्भोग की शिक्षा देने और दुराचार सिखाने में पूरा कोकशास्त्र है।**
८०.	२०१	४	आपके जवान-जवान जोड़ों ने भी सर्ग-आरम्भ में अपनी बहिन आदि से विवाह करके सन्तान पैदा की थी।
८१.	२०१	२०	स्वामीजी ने **लड़कियों को अपने वालिदैन (माता-पिता) से गर्भाधान कराने की** प्रार्थना करने की आज्ञा बतलाई है। **पिता का अपनी पुत्री में गर्भधारण करना आर्यसमाज में वैध है।**
८२.	२०३	६	चार पाये बर ओ किताबे चन्द न मुहकिक शुद न दानिशमन्द[१]।
८३.	२०८	१३	क्या आर्यसमाजियों के पितर भूमि में धँसे रहते हैं?
८४.	२११	१	किसी प्रकार आर्यसमाज की डफ़ली भी बजानी ही पड़ती है, अन्यथा **पेट-पूजा का साधन** ही बन्द हो जाने का डर होता है। वे तो केवल संसार में हुल्लड़ मचाने के लिए पैदा हुए हैं।

१. कुछ पुस्तकें पढ़कर चौपाये ही रहे, न तो दार्शनिक ही बने और न बुद्धिमान्। —सम्पादक

८५.	२१३	६	ये लोग अपने इस जाल को फैलाकर **अपना उल्लू सीधा करते हैं।**
८६.	२१३	१३	क्योंकि इनके गुरु बाबा भी इस शिवलिंग से ही **डरकर अपने पैतृक धर्म से चौपट हुए थे।**

पाठकवृन्द! ये हैं वे फूल जो सनातनधर्म की ओर से आर्यसमाज को प्रस्तुत किये गये हैं और जिनके आधार पर सभ्यता की डींग मारी जा रही है। मैं मुकुन्दराज अराधे, लालचन्द धुन्ना और जगन्नाथ हाँडा से पूछना चाहता हूँ कि आप लोगों ने पुस्तक को पढ़कर अपनी सम्मति दी थी अथवा वैसे ही अपनी मोहर लगा दी थी? यदि पढ़कर सम्मति दी थी तो क्या यही सनातनधर्मियों की सभ्यता और अमृतरूपी प्रेमभरी वाणी से फूल बरसाना है? यदि इसी का नाम फूल बरसाना है तो गाली-प्रदान, अश्लील लेखन, कुभाषण, फक्कड़बाजी और गुण्डापन किस जानवर का नाम है? यदि मुझसे पूछो तो मैं कहूँगा कि सनातनधर्म के फूलों (Fools) ने इकट्ठे होकर आर्यसमाज के वैदिक सिद्धान्तों के मुक़ाबले में अपने गाली-गलौच से सनातनधर्म का दाह-संस्कार कर दिया है और ये मुर्दा सनातनधर्म के फूल हैं। मैं अराधेजी, धुन्नाजी और हाँडाजी को मैत्रीपूर्ण सम्मति देता हूँ कि वे इस मृतक सनातनधर्म के फूलों को थैलियों में बन्द करके सनातनधर्म के फ़ूलों (Fools) के गले में लटका दें, जिससे वे अपने सिद्धान्तों के अनुसार इनको गङ्गा में बहाकर सनातनधर्म का क्रियाकर्म कर सकें—

इन सनातनधर्म के फूलों को चुन लो जंग[1] में।
निज उसूलों[2] के मुताबिक जा बहाओ गंग में॥
और सनातनधर्म मुर्दा को बहा दो संग में।
मर चुका वैदिक उसूलों के मुताबिक़ जंग में॥
गर सुगन्धित पुष्प हों तब तो हमें मक़बूल[3] हैं।
वरना गंगा में बहाओ सनातनधर्म के ये फूल हैं॥

शास्त्रार्थ

सत्य के प्रेमी प्रिय भाइयो! यह बात जनता को भली-भाँति ज्ञात थी कि शास्त्रार्थ का विषय यह निश्चय हुआ है कि 'स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध है या अष्टादश पुराण'। यद्यपि सनातनधर्मियों ने पत्र-व्यवहार में इस विषय से दूर भागने का पूर्ण प्रयत्न किया और कहा कि शास्त्रार्थ केवल इसी विषय पर होना चाहिए कि 'स्वामी दयानन्द के ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं', परन्तु आर्यसमाज ने कहा कि एकपक्षीय विषय पर शास्त्रार्थ करना न्याय-विरुद्ध और वितण्डावाद है, क्योंकि चारों वेदों को तो आर्यसमाज और सनातनधर्म समानरूप से धर्मपुस्तक स्वीकार करता है, यदि मतभेद है तो इस बात पर है कि आर्यसमाज तो मानता है कि स्वामी दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश आदि की शिक्षा वेदों के अनुसार है और सनातनधर्म कहता है कि अष्टादश पुराणों की शिक्षा वेदानुकूल है। अब चूँकि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों की और अष्टादश पुराणों की शिक्षा में बड़ा भारी विरोध और भिन्नता है तथा सचाई के अन्वेषक आर्यसमाजी और सनातनधर्मी लोग धर्म का निर्णय चाहते हैं। यह निर्णय तभी हो सकता है जब दोनों पक्षों की पुस्तकों की वेदों की शिक्षा

१. युद्ध। २. सिद्धान्तों। ३. स्वीकार।

के साथ तुलना की जाए। इसलिए विषय यही उचित और न्यायशास्त्र के अनुकूल है कि 'स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं या अष्टादश पुराण'। विषय दोनों पक्षों की सम्मति से निश्चित हो चुका था, परन्तु सनातनधर्म के पण्डित पुराणों के बारे में अपनी दुर्बलता को अनुभव करते थे, अतः वे पुराणों पर शास्त्रार्थ करने से कतराते थे। इसलिए जब पण्डित लोकनाथजी ने पुराणों पर बोलना आरम्भ किया तो सनातनधर्म के पण्डितों ने शोर मचाकर पुराणों के शास्त्रार्थ से भागना चाहा, परन्तु अध्यक्ष महोदय पूज्यपाद स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज ने ठीक शास्त्रार्थ के मध्य में दोनों पक्षों का पत्र-व्यवहार सुनाकर निर्णय दिया कि विषय यही स्वीकृत हुआ है कि 'स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं या अष्टादश पुराण'। जिसपर पत्र-व्यवहार के अनुसार सनातनधर्मियों को यह निर्णय स्वीकार करना पड़ा और शास्त्रार्थ पुनः आरम्भ होकर समाप्त हुआ।

यदि पत्र-व्यवहार में विषय निर्धारित न हुआ होता तो सनातनधर्मी किसी अवस्था में भी इस विषय को स्वीकार करने के लिए तैयार न होते। मैं इस शास्त्रार्थ में स्वयं उपस्थित था और मैंने शास्त्रार्थ में दोनों पक्षों के प्रत्येक शब्द को अपनी लेखनी से अङ्कित किया और हूबहू, बिना किसी घटा-बढ़ी के और बिना किसी टीका-टिप्पणी के पुस्तक में लिख दिया। पोपजी कहते हैं कि मैंने पं० श्रीकृष्ण शास्त्री के प्रश्नों को संक्षिप्त करके लिखा है और पं० लोकनाथजी के उत्तरों में अत्युक्ति से काम लिया है, परन्तु पोपजी ने अपने लेख में यह सिद्ध नहीं किया कि मैंने पं० लोकनाथजी के उत्तरों में कौन-सा अतिरञ्जन किया है—किस बात को बढ़ा-चढ़ाकर लिखा है। भला! बताएँ भी क्या जब कोई अतिरञ्जन हुआ ही नहीं! परन्तु मैं सिद्ध करूँगा कि पोपजी ने शास्त्रार्थ में अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए पर्याप्त काट-छाँट की है और कई-एक ऐसी प्रसिद्ध घटनाओं को पोपजी ने पचा लिया है जो जनता को अबतक स्मरण होंगी। मैं पोपजी की मिथ्या बातों को यहाँ विस्तार से लिखता हूँ जिससे पाठकों को पोपजी की काट-छाँट का ज्ञान हो जाए।

१. पण्डित श्रीकृष्णजी ने शास्त्रार्थ के आरम्भ में ही यह कहा था कि मेरे आर्यसमाज पर नौ प्रश्न हैं, सात तो सत्यार्थप्रकाश पर और दो संस्कारविधि पर। सारांश यह कि पण्डितजी ने आरम्भ में नौ ही प्रश्न किये थे। दसवाँ प्रश्न यह था कि 'बच्चे को छह दिन माता दूध पिलाए, इसके पश्चात् धायी पिलाए—यह किस वेद के अनुसार है?' यह शास्त्रार्थ में बहुत देर पश्चात् किया गया था। **इस प्रश्न को दूसरे नम्बर पर देना पोपजी का प्रथम झूठ है।**

२. पं० श्रीकृष्णजी ने अपने सम्पूर्ण प्रश्नों में से किसी प्रश्न में भी वेद का मन्त्र देकर उसके साथ स्वामीजी के ग्रन्थों का विरोध नहीं दिखलाया था। यदि श्रीकृष्णजी वेदमन्त्र देकर उनके साथ स्वामीजी के ग्रन्थों का विरोध दिखलाते तो पं० लोकनाथजी को यह कहने की आवश्यकता ही न पड़ती कि वेदमन्त्र देकर विरोध सिद्ध करो। जब तुम्हारा दावा है कि स्वामीजीकृत ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं तो दावे का सिद्ध करना मुद्दई (वादी) का कर्त्तव्य है। चूँकि यह तर्क यथार्थ था और पोपजी को भी पं० श्रीकृष्णजी के प्रश्नों में यह कमी प्रतीत हुई, इसलिए पोपजी ने पहले चार प्रश्नों के साथ वेद के मन्त्र देकर अपने ज्ञान में स्वामीजी के ग्रन्थों का वेद से विरोध दिखलाया, परन्तु पिछले छह प्रश्नों का फिर भी वेद से विरोध दिखलाने में सफल नहीं हुए। श्रीकृष्ण शास्त्री के चार प्रश्नों के साथ **अपनी ओर से वेदमन्त्र लगाना पोपजी का दूसरा झूठ है।**

३. प्रश्न संख्या ८ में जिसको पोपजी ने ९ पर दिया है, श्रीकृष्णजी ने केवल इतना पूछा था कि जातकर्म-संस्कार में स्वामीजी ने बालक को शहद और घी बराबर मिलाकर चटाना लिखा है; चूँकि शहद और घी बराबर मिलाने से विष बन जाता है, इससे बच्चे मर जाएँगे और जिह्वा पर 'ओम्' लिखना भी वेद के विरुद्ध है, परन्तु पोपजी ने इसमें यह वृद्धि कर दी कि मनु आदि तमाम शास्त्र कहते हैं कि नाल काटने से पहले जातकर्म-संस्कार करना चाहिए, स्वामीजी ने नाल काटने के पश्चात् जातकर्म-संस्कार क्यों लिखा? इस प्रश्न में इतनी **वृद्धि करना पोपजी का तीसरा झूठ है।**

४. पं० लोकनाथजी ने प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था कि "पण्डितजी का पक्ष यह था कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं, परन्तु वेद का एक मन्त्र भी प्रस्तुत नहीं किया कि कौन-से वेदमन्त्र से कौन-सी बात विरुद्ध है।" भाषण के इन वाक्यों से चूँकि स्पष्ट पता लगता था कि पं० श्रीकृष्णजी ने कोई वेदमन्त्र प्रस्तुत नहीं किया और पोपजी ने चूँकि वेदमन्त्रों की वृद्धि कर दी है, इसलिए पोपजी ने पं० लोकनाथजी के भाषण में यह परिवर्तन कर दिया कि "पण्डितजी का पक्ष यह था कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं, वेद का एक मन्त्र भी पूरा प्रस्तुत नहीं किया।" पोपजी ने इस वाक्य में 'पूरा' शब्द बढ़ाकर पं० लोकनाथजी के भाषण से जनता को यह धोखा देना चाहा कि चूँकि पं० लोकनाथजी कहते हैं कि एक मन्त्र भी पूरा प्रस्तुत नहीं किया, इसलिए श्रीकृष्ण ने मन्त्र तो अवश्य प्रस्तुत किये थे, परन्तु पं० लोकनाथजी के दृष्टिकोण से वे पूरे नहीं थे। यह सब-कुछ झूठ और धोखा देना है। इसलिए पोपजी का **पं० लोकनाथजी के भाषण को अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए परिवर्तित करना पोपजी का चौथा झूठ है।**

५. चूँकि पं० श्रीकृष्णजी ने आरम्भ में नौ ही प्रश्न किये थे, अतः पं० लोकनाथजी ने उत्तर देते हुए अपने प्रथम भाषण में कहा था—"पण्डितजी ने लगातार नौ प्रश्न तो कर दिये", परन्तु क्योंकि पोपजी ने आरम्भ के प्रश्नों में एक बढ़ाकर प्रश्न दस बना दिये हैं, अतः पोपजी ने यहाँ भी पं० लोकनाथजी के प्रवचन में परिवर्तन कर दिया और लिख दिया कि पण्डित श्रीकृष्णजी ने आरम्भ में दस ही प्रश्न किये थे जो बिल्कुल ग़लत है। **पोपजी का इसमें यह परिवर्तन करना पाँचवाँ झूठ है।**

६. यह बात सर्वसाधारण को स्मरण है कि जब पं० लोकनाथजी ने बार-बार ललकारा कि वेदमन्त्र प्रस्तुत करके स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों को वेदविरुद्ध सिद्ध करो तो अन्ततः श्रीकृष्णजी ने तंग आकर चोटी कटाने को वेदविरुद्ध सिद्ध करने के लिए—

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखाऽइव। —यजुः० अ० १७, मं० ४८

इस मन्त्र को चोटी रखने के लिए प्रमाणरूप में अपनी तीसरी वक्तृता में प्रस्तुत किया। इसके उत्तर में पं० लोकनाथजी ने अपने तीसरे भाषण में यही सिद्ध किया कि "यह मन्त्र तो चोटी कटाने को सिद्ध करता है और आपने अब तक एक ही मन्त्र प्रस्तुत किया और वह भी तड़ाक से आपके सिर पर पड़ा।"

पोपजी की चालाकी देखिए कि पोपजी ने यह मन्त्र न तो पं० श्रीकृष्णजी की तीसरी वक्तृता में उनकी ओर से प्रस्तुत करना लिखा और न ही पं० लोकनाथजी के उत्तर में उपर्युक्त शब्दों को लिखा, अपितु इस मन्त्र को पं० लोकनाथजी की ओर से प्रस्तुत करना लिख दिया। इस प्रकार **सारे ही प्रश्न और उपर्युक्त उत्तर को हड़प कर जाना पोपजी का छठा झूठ है।**

७. सारी जनता को पता है कि पं० श्रीकृष्ण शास्त्री ने अपनी तीसरी वक्तृता में यह कहा कि—"देखो, सरदार दिलीपसिंह हाईकोर्ट के जज हैं, वे बालों को रखने के कारण कितने बुद्धिमान् हैं!" उनका तात्पर्य स्वामीजी के उस लेख की ओर संकेत करना था जहाँ स्वामीजी ने लिखा है कि "बालों के रखने से बुद्धि भी मारी जाती है।" इसके उत्तर में पं० लोकनाथजी ने तीसरे भाषण में कहा कि "सरदार दिलीपसिंहजी की भी एक ही कही! अजी वे सिख नहीं हैं। वे तो ईसाई हैं और उनके सिर पर केश भी नहीं हैं। आपने यह बात सिखों को भड़काने के लिए कही, परन्तु सफल सिद्ध न हुई।" परन्तु पोपजी ने इस प्रश्न और उत्तर को श्राद्ध के लड्डू की भाँति हड़प करके डकार भी नहीं ली। **इस प्रश्न और उत्तर को न लिखना पोपजी का सातवाँ झूठ है।**

८. जब पं० लोकनाथजी ने पुराणों पर प्रश्न करने आरम्भ किये तो सनातनधर्मवालों ने शोर मचाया कि पुराणों पर प्रश्न करने का पण्डितजी को कोई अधिकार नहीं है। इसपर प्रधानजी ने दोनों ओर के पत्र-व्यवहार को सुनकर निर्णय दिया कि पत्र-व्यवहार से सिद्ध है कि पण्डितजी पुराणों पर प्रश्न कर सकते है। इसपर पौराणिक निरुत्तर हो गये और पण्डितजी ने पुराणों पर प्रश्न करने आरम्भ किये। इस निर्णय में पत्र-व्यवहार को सुनते हुए लगभग आधा घण्टा लग गया। इसीलिए दोनों पक्षों की पाँच-पाँच वक्तृताएँ ही हो सकीं, परन्तु पोपजी ने प्रधानजी पर दोष लगाया है कि उन्होंने सनातनधर्मियों के आग्रह करने पर भी पुराणों पर आलोचना करने की आज्ञा दे दी। **यह पोपजी का आठवाँ झूठ है।**

९. पं० लोकनाथजी के तीसरे जवाबी भाषण में जो भविष्यपुराण की कथा संज्ञा और सूर्य की दी गयी है, इसमें से अन्तिम श्लोक का अनुवाद बिल्कुल ही छोड़ दिया जो इस प्रकार है—"इस वेदानुकूल वाणी को सुनकर सूर्य ने भी भतीजी से विवाह करके श्रेष्ठ गति को प्राप्त किया।" इस वाक्य के बिना यह कथा अधूरी ही रह जाती है, परन्तु पोपजी ने यह अनुवाद नहीं दिया। **यह पोपजी का नवाँ झूठ है।**

१०. पं० लोकनाथजी ने अपने चौथे जवाबी भाषण में श्रीकृष्णजी का चीरहरण-लीला का चित्र दिखाया था, जिसे देखकर सनातनधर्मी चीख उठे थे और सनातनी जनता में हाहाकार मच गया था; परन्तु पोपजी ने इस बात का शास्त्रार्थ में उल्लेख नहीं किया, केवल इतना लिखकर छोड़ दिया कि "इस अवसर पर पं० लोकनाथजी ने कृष्ण-चीरलीला की कथा सुनाई।" चूँकि पं० श्रीकृष्ण शास्त्री ने अपनी चौथी वक्तृता में स्वामीजी पर नाचने का आरोप लगाया था, इसलिए पण्डितजी को यह चित्र जनता में दिखाना पड़ा था, परन्तु पोपजी ने श्रीकृष्ण की वक्तृता से स्वामी दयानन्द पर नाचने के दोष को और पं० लोकनाथजी के भाषण से चित्र दिखाने को पूर्णरूप से पचा लिया है। **यह पोपजी का दसवाँ झूठ है।**

११. पं० श्रीकृष्णजी ने अपनी पाँचवीं वक्तृता में यह आक्षेप किया था कि "स्वामीजी ने वेदभाष्य करते हुए लिखा था कि लिंग को योनि में प्रविष्ट करो।" इसका उत्तर पं० लोकनाथजी ने अपने भाषण में यह दिया था कि "यदि स्वामीजी ने वेदभाष्य में लिखा है कि लिंग को योनि में प्रवेश करे तो इसमें बुराई क्या है? यह तो वेद ने गर्भाधान की शिक्षा दी है। यदि यह ग़लत है तो क्या पण्डितजी और दूसरे सनातनधर्मी लिंग को मुख में प्रविष्ट करते हैं?" पोपजी ने प्रश्न और उत्तर दोनों को हड़प लिया है। **यह पोपजी का ग्यारहवाँ झूठ है।**

१२. श्रीकृष्ण शास्त्री ने अपनी पाँचवीं वक्तृता में स्वामीजी पर दोषारोपण करते हुए कहा कि "स्वामी दयानन्द का जीवन भी तो ऐसा ही था! जब वे छोटे थे तो उनपर जमींदार का लड़का आशिक़ था, वह स्वामी दयानन्द को लेकर भाग गया।" इस सम्बन्ध में जब प्रधान ने प्रमाण पूछा तो पण्डितजी ने उत्तर दिया कि "यह पुस्तक जियालाल जैनी की बनाई हुई है।" क्योंकि पं० श्रीकृष्ण शास्त्री का यह पक्ष निर्बल था, इसलिए पोपजी ने इस घटना को नहीं लिखा। **यह पोपजी का बारहवाँ झूठ है।**

परिणाम—ये कुछेक मोटी-मोटी बातें हैं, जिनका जनता को ठीक-ठीक ज्ञान है और पोपजी ने इसमें काट-छाँट से काम लिया है, अतः हमने लिख दी हैं। सारे ही शास्त्रार्थ में पोपजी ने जो बार-बार पं० श्रीकृष्ण शास्त्री के मुख से वेदों के मन्त्र प्रस्तुत करके यह कहलवाया है कि "मैंने वेदों के मन्त्र प्रस्तुत करके स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों को वेदविरुद्ध सिद्ध कर दिया है, इनका उत्तर अभी तक भी पं० लोकनाथजी ने नहीं दिया"—यह सफ़ेद झूठ है। वास्तविक बात यह है कि पं० श्रीकृष्ण शास्त्री ने प्रश्न करते हुए एक भी वेदमन्त्र प्रस्तुत करके उसके साथ स्वामीजी के ग्रन्थों का विरोध नहीं दिखाया, अन्यथा यह कैसे सम्भव था कि पण्डितजी इतने मन्त्रों में से एक मन्त्र पर भी न बोलते! हाँ, पं० लोकनाथजी के इस उचित पक्ष पर कि "जब विषय यह निश्चित है कि 'स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं, या अष्टादश पुराण', तो स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों को वेदविरुद्ध सिद्ध करने के लिए सनातनधर्म के पण्डित का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वह वेद का मन्त्र प्रस्तुत करके इसके साथ स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों का विरोध दिखलाए, क्योंकि दावे का सिद्ध करना वादी का कर्तव्य होता है। जब तक सनातनधर्म का पण्डित वेदमन्त्र प्रस्तुत करके उनके साथ स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों का विरोध नहीं दिखाता, तब तक यह शास्त्रार्थ आगे नहीं चल सकता।" श्रीकृष्ण शास्त्री ने अपने पक्ष में यजुर्वेद अध्याय १७, मन्त्र ४८—**यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखाऽइव**—का स्वामीजी का अर्थ प्रस्तुत करते हुए बताया कि इस मन्त्र में अनेक चोटियोंवाले बालकों का वर्णन है, इसलिए चोटी रखना वेदानुकूल है और स्वामी दयानन्द ने चोटी को काटना लिखा है, इसलिए स्वामी दयानन्द के ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं। इसपर पं० लोकनाथजी ने कहा—"हाँ, अब आप रास्ते पर आये, क्योंकि आपने अपने इस प्रश्न को न्याय के अनुसार वेदमन्त्र देकर प्रस्तुत किया है, इसलिए मैं इसका उत्तर देता हूँ।

पं० लोकनाथजी ने कहा कि जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले। जिस मन्त्र को आप चोटी रखने के पक्ष में प्रस्तुत कर रहे हैं, वही मन्त्र आपके प्रश्न का खण्डन करता है, अर्थात् चोटी काटने की आज्ञा देता है। स्वामीजी ने इसके दो अर्थ किये हैं कि "जैसे बिना चोटियोंवाले और अनेक चोटियोंवाले बालक।" आपने एक अर्थ तो ले-लिया और दूसरा छोड़ दिया। फिर पण्डितजी ने इसी मन्त्र का महीधर और उव्वट का अर्थ प्रस्तुत किया जिसमें "सारे मुँडे हुए और शिखा से रहित—बिल्कुल मुँडे हुए" अर्थ लिखा है, क्योंकि स्वामी दयानन्दजी यह मानते हैं कि यदि देश बहुत अधिक गर्म हो तो चोटीसहित मुँडवा दे और यदि देश अधिक गर्म न हो तो चोटी न मुँडवाए, क्योंकि स्वामीजी चोटी का रखना विकल्परूप से मानते हैं, इसलिए यह मन्त्र स्वामीजी के अनुकूल और आपके प्रतिकूल पड़ता है। आपने एक ही मन्त्र प्रस्तुत किया और वह भी तड़ाक से आपके ही सिर पर पड़ा। बस, इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण शास्त्री ने एक भी वेदमन्त्र अपने दावे को सिद्ध करने

के लिए प्रस्तुत नहीं किया। इस बात को पोपजी ने भी आगे चलकर स्वयं स्वीकार कर लिया है। देखिए, पोपजी लिखते हैं कि--"समाजियों के धुरन्धर विद्वान् की बहादुरी तो तब मानते यदि वे खुले दिल से घोषणा करते कि लो भाई! सनातनधर्मी पण्डित वेद-प्रमाणों से अपने पक्ष का स्थापन तो नहीं कर सके, परन्तु हम उत्तर दिये देते हैं।"

इससे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण शास्त्री ने अपने प्रश्नों के साथ वेदमन्त्र प्रस्तुत नहीं किये। ये सब वेदमन्त्र पोपजी ने ही अपनी ओर से शास्त्रार्थ में मिला दिये हैं जोकि पराकाष्ठा की चारित्रिक गिरावट है। हम उनके सम्बन्ध में आगे चलकर ही लिखेंगे, क्योंकि ये मन्त्र वास्तविक शास्त्रार्थ का अंश नहीं हैं। इस सारे लेख का तात्पर्य यह है कि शास्त्रार्थ शब्दशः वही ठीक है, जो हमने अपनी पुस्तक में लिखा है। इसलिए यदि पाठकवृन्द को शास्त्रार्थ पढ़ने की इच्छा हो तो हमारी पुस्तक 'शास्त्रार्थ जाखल' का अवलोकन करें, जोकि महाशय रामदासजी, प्रबन्धक, आर्यपुस्तकालय, पश्मवाला बाजार, अमृतसर से मिल सकती है। इस पुस्तक में शास्त्रार्थ को पुनः लिखने की आवश्यकता नहीं समझी गयी।

शास्त्रार्थ के पढ़ने से यह परिणाम स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि पं० लोकनाथजी ने ऐसी भीषण पकड़ पकड़ी कि श्रीकृष्ण शास्त्री की चौकड़ी भूल गई, क्योंकि साधारणरूप से प्रश्न कर देना सरल है, परन्तु अपने दावे को वेदमन्त्रों और तर्क के साथ स्थापन करना खालाजी का घर नहीं है [सरल नहीं है], क्योंकि जितनी देर में बिना तर्क व प्रमाण के बीसियों प्रश्न किये जा सकते हैं, उतनी ही देर में वेदमन्त्र प्रस्तुत करके तर्क व न्यायानुसार एक प्रश्न की स्थापना भी कठिन होती है, अतः पं० लोकनाथजी के यह कहने पर कि "वेदमन्त्र प्रस्तुत करके इसके साथ स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों का विरोध सिद्ध करके अपने पक्ष का स्थापन करो", पं० श्रीकृष्ण शास्त्री को दिन में तारे दिखाई देने लगे और लगे इधर-उधर बगलें झाँकने। बौखलाहट की अवस्था में एक ही मन्त्र प्रस्तुत कर पाये थे, परन्तु दुर्भाग्य से वह भी दावे को सिद्ध करने के स्थान पर दावे का खण्डन करनेवाला ही निकला। इसपर अग्नि में घी का काम यह हो गया कि पं० लोकनाथजी ने निर्धारित विषय के अनुसार पुराणों पर प्रश्न करने आरम्भ कर दिये। इन प्रश्नों ने श्रीकृष्ण शास्त्री का रहा-सहा दम भी निकाल दिया। किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की अवस्था में इधर-उधर स्टेज पर बैठे हुए सनातनधर्मियों के मुँह की ओर ताकने लगे। सनातनी ताड़ गये कि पण्डितजी अन्तिम श्वासों पर हैं। उन्हें पण्डितजी की अवस्था पर दया आ गयी और उन्होंने कोलाहल मचाकर 'सनातनधर्म की जय' का गंगाजल पण्डितजी के मुख में डालकर आर्यसमाज के मेधावी पं० लोकनाथ से उनकी जान छुड़वाई और पं० श्रीकृष्णजी इस कोलाहल में जान छुड़ाकर वायुमण्डल में ऐसे विलीन हुए कि फिर कभी सनातनधर्म सभा जाखल में पुनरागमन का साहस ही नहीं किया और विधवा स्त्री की भाँति बेचारी सनातनधर्म सभा जाखल भी कभी-कभी इनका श्राद्ध करके सन्तोष करने पर विवश हो गयी।

प्रामाणिक और अप्रामाणिक ग्रन्थ

इससे पूर्व कि हम प्रश्नों के उत्तर लिखना आरम्भ करें, इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि आर्यसमाज किन-किन ग्रन्थों को प्रमाण मानता है और किन-किन ग्रन्थों को प्रमाण नहीं मानता। परमात्मा ने सृष्टि के आदि में मनुष्यों को धर्म और अधर्म का ज्ञान देने के लिए चार वेदों का प्रकाश किया; क्योंकि परमात्मा पूर्ण ज्ञानी है और उनका ज्ञान

त्रुटिरहित है, यह ईश्वर का ज्ञान है, अतः चारों वेद-संहिता स्वतःप्रमाण हैं, इनके प्रमाण के लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर का ज्ञान होने से वे त्रुटिरहित हैं, इसलिए धर्म और अधर्म का निर्णय करने में वे ही अन्तिम कसौटी हैं, शेष सब ऋषिकृत ग्रन्थ जो ब्रह्मा से लेकर ऋषि दयानन्द तक बनाये हुए हैं, वे सब परतःप्रमाण हैं, अर्थात् यदि वे वेद के अनुसार हों तो प्रमाण हैं। यदि इनमें कोई भी बात वेद के विरुद्ध हो तो वे प्रमाण नहीं है। शेष सब ग्रन्थ जोकि ऋषियों के बनाये हुए नहीं हैं, चाहे तो वे ऋषि दयानन्द से पूर्व के मनीषियों के बनाये हुए हों और चाहे वे ऋषि दयानन्द के पश्चात् के मनीषियों—तुलसीराम स्वामी, स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, पं० राजाराम, पं० आर्यमुनि, पं० सातवलेकर, स्वामी सत्यानन्दजी, पं० नरदेवजी, पं० भगवद्दत्तजी, पं० विश्वबन्धुजी आदि किसी के भी बनाये हुए क्यों न हों, वे सब अनार्ष और अप्रामाणिक हैं। आर्यसमाज उनका उत्तरदायी नहीं है। यदि किसी व्यक्ति ने अपने-आपको आर्यसमाजी कहते हुए कोई लेख आर्यसमाज के सिद्धान्तों के विरुद्ध लिखा है तो हम उसका भी अपने उत्तरों में वैसे ही खण्डन करेंगे, जैसे अन्य अप्रामाणिक ग्रन्थों का।

इस विषय में ऋषि दयानन्द का लेख सत्यार्थप्रकाश में अत्यन्त स्पष्ट है—"[ब्राह्मण, अङ्ग, उपाङ्ग, उपवेद]" इत्यादि सब ऋषि-मुनियों के किये ग्रन्थ हैं। इनमें भी जो-जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो, उस-उसको छोड़ देना, क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त, 'स्वतःप्रमाण' अर्थात् वेद का प्रमाण वेद से ही होता है। ब्राह्मण इत्यादि सब ग्रन्थ 'परतःप्रमाण' हैं, अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है।"

"ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इसलिए पढ़ना चाहिए कि वे बड़े विद्वान्, सर्वशास्त्रवित् और धर्मात्मा थे और अनृषि अर्थात् जो अल्पशास्त्र पढ़े हैं और जिनका आत्मा पक्षपातसहित है, उनके बनाये हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं"। —सत्यार्थ० तीसरा समुल्लास

इसी प्रकार से 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में भी लिखा है। निष्कर्ष यह कि आर्यसमाज वेदों को स्वतःप्रमाण, ऋषिकृत ग्रन्थों को परतःप्रमाण और अनार्ष, मनुष्यकृत ग्रन्थों को अप्रमाण मानता है। आर्यसमाज का यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है, अतः सनातनधर्मियों को चाहिए कि वे प्रमाण देते हुए तनिक सोच लिया करें कि जिस ग्रन्थ का वे प्रमाण दे रहे है, वह आर्यसमाज को मान्य है भी या नहीं। यूँ ही इधर-उधर की मासिक पत्रिकाओं, समाचार-पत्रों और अनार्ष ग्रन्थों तथा अनुवादों को प्रस्तुत करके अपना और हमारा समय नष्ट न करें।

सनातनधर्म से सम्बोधन

हिन्दुओ आर्यों से लड़के बतलाओ मिला क्या है, तुम्हें मालूम है दोनों के मजहब की बिना[१] क्या है?
स्वतःप्रमाण वेदों ही को हम तुम मानते आये, यह झगड़ा क्या है कजियः[२] क्या है फिर यह तफ्रिकः[३] क्या है।
जरूरत हमको सालिस[४] की न हाजत[५] हमको मुन्सिफ[६] की, हमारा वेद ही जज है, हमारा वेद ही राही।
जिसे तुम फ़ख्र[७] से कहते पञ्चम वेद ब्रह्मा का, खिलाफे-अक्ल[८] और अननेच्युरल[९]गप के सिवा क्या है?
उपनिषद् और गीता चारों वेदों में नमस्ते है, न जाने कृष्ण और जयरामजी का मुद्दआ[१०] क्या है?
बुजुर्गों पर तुम्हारे पारसल अनपेड[११] जाते हैं, वेद में श्राद्ध बतला दो हमारा फैसला क्या है?

---

१. नींव। २. झगड़ा। ३. शत्रुता। ४. पञ्च।
५. आवश्यकता। ६. जज। ७. गर्व। ८. बुद्धिविरुद्ध।
९. प्रकृति-विरुद्ध। १०. तात्पर्य। ११. un-paid.

बताते हो अगर मूरत को तुम भगवान् की सूरत, वह ईश्वर जब अकायम्[1] किसका फ़ोटो माजरा[2] क्या है?
अगर गंगा के नहाने से कटे हैं पाप जन्मों के, ग़लत मसला[3] कर्मफल का सज़ा[4] क्या है जजा[5] क्या है?
गवारा तो नहीं विधवाओं की शादी पर यह बतला दो, ईसाई, मुस्लिमों का ससुरा बनने में मज़ा क्या है?
करें नापाक हमला जो ऋषि के पुण्य जीवन पर, बजुज[6] नापाकी के उनकी जुबाँ पर ही धरा क्या है?
भिड़ाना चाहते हो पुराण को सत्यार्थ से साहब, अजी उस तोप के आगे यह खसखाना[7] भला क्या है?
भला अब दो और दो को पाँच कैसे कोई मानेगा, जरा इतना तो सोचो अब जमाने की हवा क्या है?
पशेमाँ[8] होंगे पौराणिक अगर आर्यों से अटकेंगे।
करो बातें 'उदयसिंह' से तुम्हारा हौसला क्या है?

कवित्त

पुत्री का भोगी गुरुपत्नी संयोगी कोई बहिन का प्रयोगी ऐसे देवता तुम्हारे हैं।
वृन्दा को देख कोई अहल्या को पेख कोई मोहिनी के भेख पर तन मन बिसारे हैं।
अनुचित वशकर्मी कोई कन्या कुकर्मी कोई महा-अधर्मी पर-वामा[9] हरनहारे है।
झूठे लबार कोई महाचोर जार भला उनके अगार क्या दयानन्द बेचारे हैं।।

ग़ज़ल

इन्हीं पुरणों पै सच बताओं क्या हिन्दू बीबी उछल रही है।
कि जिसको पढ़के शरम के मारे शरम भी तो हाथ मल रही है।
मिलेगा तहजीब[10] का नमूना सुनाऊँ उतथ्य का गर फ़साना[11]।
गुरु बृहस्पति खुद देव-योनियों के न उनको बिल्कुल अक्ल रही है।
जनाना बाना बनाके विष्णु दिये जो दर्शन केलासपति को।
न पूछो यारो कुछ हाल उनका लंगोटी शंकर की खुल रही है।
सरस्वती के हुस्न[12] पर आशिक हुआ था ब्रह्मा जमाना जाने।
दुख्तर[13] अपनी पै हाय वालिद[14] की आज नीयत फिसल रही है।
वो विष्णु करने हरामकारी गया था वृन्दा के घर पै इक दिन।
शराप देके बनाया पत्थर कि जिसकी पूजा यह चल रही है।
लगे यूँ मोहन से कहने अर्जुन मजा वसल[15] का चखाओ हमको।
चखाया वसलत का वो मज़ा था न इगलाम[16] की कुछ असल रही है।
कभी अहल्या से जालसाजी कहीं हैं कुन्ती के यार कैई।
थे पाँच खाविन्द द्रौपदी के कि जिसपै जंगो-जदल[17] रही है।
अड़े हैं जिद पै पौराणिक ऐसे कि जैसे टट्टू हो कोई अड़ियल।
नहीं है इतनी भी होश इनको कि दुनिया करवट बदल रही है।
ईसाइयों से जुबान बन्द है मुसलमाँ आया तो खेंचा घूँघट।
मगर 'उदयसिंह' के आगे इनकी जबान कैंची-सी चल रही है।।

---

१. शरीर-रहित। २. कौतुक। ३. सिद्धान्त। ४. दण्ड। ५. प्रत्युकार, पुण्य।
६. अतिरिक्त। ७. झोंपड़ा। ८. लज्जित। ९. स्त्री। १०. सभ्यता।
११. कथा। १२. हुस्न, सौन्दर्य। १३. पुत्री। १४. पिता। १५. मिलन।
१६. गुदामैथुन। १७. युद्ध।

पौराणिक पोप पर वैदिक तोप
अर्थात्
सनातनधर्म की मौत

पोपजी—सनातनधर्म विजय!

तोपजी—अपने मुँह मियाँ मिट्ठू। सनातनधर्म और उसकी विजय! यह मुँह और मसूर की दाल? हाँ, यह तो ठीक है कि पुस्तक को पढ़ने से वैदिक सिद्धान्तों के मुक़ाबले में सनातनधर्म की मौत का अनुमान होता है—

मुर्दा सनातनधर्म के फूलों को डालो गङ्ग में।
वैदिक उसूलों के मुताबिक़ मर चुका है जङ्ग में॥

पोपजी—श्रीकृष्णचन्द्रजी की तस्वीर!

तोपजी—कृपा करके यह तो लिख दिया होता कि यह चित्र गीता का उपदेश करते हुए योगिराज महात्मा कृष्ण का है या भागवत के दशम स्कन्ध में गोपियों के साथ चीरहरण आदि लीलाओं में रंगरलियाँ मनानेवाले सनातनधर्म के रंगीले अवतार कृष्ण का है।

पोपजी—ओम्।

तोपजी—पोपजी! धर्म से सच बतलाना कि आपने पुस्तक के आरम्भ में 'ओम्' नाम से मंगलाचरण करने के वैदिक सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है या रावण की भाँति जोगी का वेश बनाकर लोगों को धोखा देना ही प्रयोजन है?

पोपजी—तस्वीर धर्मभूषण पं० श्री कुञ्जलालजी भारद्वाज।

तोपजी—क्या यह उन्हीं पोपजी का चित्र तो नहीं, जिन्होंने अपने अश्लील भाषण के कारण पं० श्री लोकनाथजी की शान में डेरागाजीखाँ में बेहूदा बकवास करके अदालत में मानहानि का दावा होने पर अपनी करतूत पर खेद प्रकट किया और गिड़गिड़ाकर लिखित क्षमा माँगी?

पोपजी— सनातनधर्म की जयजय मना ले जिसका जी चाहे।
[1]इल्म बहसे-मुदल्लल[1] है उठा ले जिसका जी चाहे॥

तोपजी— फ़ल्सफ़ा[2] और मन्तक[3] से सनातन को त'आल्लुक़[4] क्या?
दिमाग़ और अक़्ल पर ताला लगा ले जिसका जी चाहे॥

पोपजी— नुक्ता[5] यहाँ न कोई बगैर-अज-दलील[6] है।
तिश्ना-लबों[7] के वास्ते जारी सबील[8] है॥

तोपजी— क्यों घटते-घटते रह गया बाकी कलील[9] है।
अपनों को धक्के देने की आदत ज़लील[10] है॥

पोपजी— लाख बरसाते रहो पत्थर हमें मक़बूल[11] हैं।
यह सनातनधर्म है जिसकी तरफ़ से फूल हैं॥

तोपजी— गर सुगन्धित पुष्प हों तब तो हमें क़बूल हैं।
वरना गङ्गा में बहाओ सनातनधर्म के ये फूल हैं॥

१-१. ज्ञान (एक) तर्कपूर्ण परिसंवाद है। २. दर्शन। ३. तर्क। ४. सम्बन्ध। ५. तर्क-बिन्दु। ६. बिना तर्क। ७. प्यासे होंठ। ८. प्याऊ। ९. थोड़ा। १०. नीच। ११. स्वीकार।

झूठी शहादत

शहादत नाम गवाही का है। जब धर्म का युग था, उस समय गवाही को एक आवश्यक कर्त्तव्य समझा जाता था, जिसे गवाही देनेवाला धर्म को सन्मुख रखकर बड़ी ईमानदारी के साथ पूर्ण करता था। मानव-धर्मशास्त्र गवाही के विषय में कहता है-"या तो सभा में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए, प्रविष्ट होने पर ठीक-ठीक, सच्ची गवाही देनी चाहिए। जो व्यक्ति सभा में प्रविष्ट होकर चुप रहता है या झूठ बोलता है, वह पापी है।" मानव-धर्मशास्त्र ने तो झूठे गवाहों के लिए दण्ड का भी विधान किया है, परन्तु युग में परिवर्तन आया-लोगों ने धर्म को तिलाञ्जलि देकर झूठी गवाही देना आरम्भ कर दिया और वर्त्तमान शासन ने भी झूठे गवाहों के लिए कोई विशेष दण्ड निर्धारित नहीं किया। परिणाम यह निकला कि गवाही देनेवाला एक सम्प्रदाय पैदा हो गया जो बिना देखे, बिना सुने ही तेल की पूरी-कचौरियों के बदले में झूठी गवाही देकर अपना पेट पालने लगा। इस सम्प्रदाय ने इतनी उन्नति की कि धार्मिक ग्रन्थों पर अपनी सम्मति देनेवाले भी इस सभा के सभासद् बन गये, और ग्रन्थ का अध्ययन किये बिना ही ग्रन्थ के सम्बन्ध में गवाही देने लग गये। उन गवाहों के दल में मुकुन्दराज अराधे, लालचन्द धुन्ना और जगन्नाथ हाँडा भी सम्मिलित हैं, जिन्होंने 'सनातनधर्म विजय' पुस्तक को पढ़े बिना ही यह व्यवस्था दे दी की पुस्तक लेखन शिष्टता और सभ्यतापूर्ण है, जबकि इस पुस्तक की लेखन-पद्धति से शिष्टता और सभ्यता इतनी ही दूर है जितने गधे के सिर से सींग, जैसाकि हम इस ग्रन्थ के आरम्भ में 'सनातनधर्म के फूल' नामक शीर्षक में सिद्ध कर चुके हैं। अब हम तीनों गवाहों की गवाही पर संक्षिप्त जिरह (तर्क-वितर्क) करके पाठकों को वास्तविकता से परिचित कराते हैं।

अराधेजी की आराधना

पोपजी-आर्यसमाजियों के सरासर झूठे, उत्तेजनापूर्ण और अशिष्ट व्यवहार के उत्तर में।

तोपजी-वाह-वाह! मुख से क्या फूलों की वर्षा हो रही है। औरों को नसीहत (सीख) और खुद मियाँ फ़जीहत (अपयश) इसी का नाम है!

पोपजी-सनातनधर्मियों का सभ्यता और अमृतरूप प्रेमभरी वाणी से फूल बरसाना।

तोपजी-'वादी सुस्त और गवाह चुस्त' लोकोक्ति ऐसे अवसरों के लिए ही उचित प्रतीत होती है। अजी अराधेजी! ये गुलाब, गैंदा आदि के सुगन्धित फूल नहीं। हमारे विचार में तो ये मुर्दा सनातनधर्म के फूल हैं, अतः हमें इनकी आवश्यकता नहीं है। आप अपने विश्वास के अनुसार इन्हें गंगाजी में बहा दीजिए, ताकि सनातनधर्म सद्गति को प्राप्त हो जाए।

धुन्नाजी का निवेदन

पोपजी-ला० मनसाराम आर्योपदेशक ने पाप किया कि अकारण सनातनधर्मियों के हृदय को छलनी किया।

तोपजी-यह पाप मनसाराम ने नहीं किया, अपितु यह पाप तो पुराणों के बनानेवाले स्वार्थी वाममार्गियों ने किया है, जिन्होंने ब्रह्मा से लेकर व्यास मुनिपर्यन्त ऋषि-मुनियों और मर्यादा पुरुषोत्तम राम तथा योगिराज कृष्ण को भी मद्य, मांस और व्यभिचार आदि के दोष

लगाकर आर्यजाति के इतिहास को कलंकित कर दिया है।

पोपजी—और अपने दिल दु:खानेवाले लेख से हिन्दू-पूर्वजों पर सरासर झूठे और आधारहीन आरोप लगाये।

तोपजी—कुफ़्र की नक़ल करना कुफ़्र नहीं होता। हमने जो कुछ पुराणों में देखा नक़ल कर (लिख) दिया। हाँ, यदि आपकी उपर्युक्त सम्मति पुराणों को बनानेवालों के सम्बन्ध में हो तो इसका मैं भी ज़ोरदार शब्दों में समर्थन करता हूँ।

पोपजी—कि जिनकी कहीं चर्चा (वर्णन) तक भी न मिली।

तोपजी—यदि उल्लू को दिन में दिखाई न दे तो इसमें सूर्य का क्या दोष है? वरना पुराणों में शब्दश: विद्यमान हैं।

पोपजी—आर्यसमाज और सनातनधर्मियों का लगभग पाँच सौ रुपया व्यर्थ नष्ट हुआ।

तोपजी—सनातनधर्म का रुपया व्यर्थ नष्ट हुआ होगा, आर्यसमाज की तो एक पाई भी व्यय नहीं हुई। महाशय रामदासजी पुस्तक विक्रेता, पशम बाजार, अमृतसर ने 'शास्त्रार्थ जाखल' पुस्तक प्रकाशित कराई और पुस्तक हाथोंहाथ बिक गई। जनता ने पुस्तक को इतना पसन्द किया कि सिन्धी-भाषा में भी इसका अनुवाद करा दिया और अफ़्रीका तक में आर्यसमाजों ने पुस्तकें प्रचार के लिए मँगवाई। लोग पुराणों की शिक्षा से सावधान होकर पुराणों से घृणा करने लगे।

पोपजी—और अन्य मतावलम्बियों की दृष्टि में हिन्दू-पूर्वज अपमानित हुए। मेरे आर्यसमाजी भाइयों को विचार करना चाहिए कि क्या सनातनधर्मियों के पूर्वज कोई और हैं और तुम्हारे और।

तोपजी—यह सब आपके पुराणों की कृपा है। यदि आप भी हिन्दू-पूर्वजों को अपमानित करनेवाले अठारह पुराणों को हमारी भाँति दूर से ही नमस्कार कर दें तो न हिन्दुओं के पूर्वज अपमानित हों और न अन्य मतावलम्बियों को हमारे पूर्वजों की हँसी उड़ाने का अवसर मिले।

पोपजी—प्यारे! गालियाँ देने और दूसरों को भड़काने से अपने मत का प्रचार नहीं होता।

तोपजी—बिल्कुल ठीक है, मैं आपसे सहमत हूँ। तभी तो मैंने अपनी पुस्तक में अपनी ओर से इस प्रकार का कोई शब्द नहीं लिखा। हाँ, आप बतलाइए कि संसार के कोश में वह कौन-सी गाली है जो आपने 'सनातनधर्म विजय' पुस्तक में आर्यसमाज की शान के विरुद्ध न निकाली हो? इतना होने पर भी आपने इस पुस्तक की प्रशंसा में आकाश-पाताल एक कर दिया। कृपया यह बताइए कि आपने सनातनधर्म के प्रचार के लिए ऐसा किया है अथवा इसमें कोई और स्वर्णिम स्वार्थ छुपा हुआ है?

पोपजी—काश! यही पाँच सौ रुपया जो दोनों भाइयों की ओर से व्यर्थ नष्ट हुआ कहीं यतीमों और विधवाओं के पालन-पोषण में काम आता तो क्या ही उपकार होता!

तोपजी—परमात्मा का लाख-लाख धन्यवाद है कि सनातनधर्मियों के हृदयों में भी अनाथों और विधवाओं के पालन-पोषण का विचार आने लगा है; परन्तु खेद है तो यह कि कोई भी मनुष्य सनातनधर्म की सीमा में रहते हुए अनाथों और विधवाओं की सहायता नहीं कर सकता, क्योंकि अनाथालयों में प्रत्येक वर्ण और मत, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय,

वैश्य, शूद्र, भंगी, चमार, धानक, मुसलमान, ईसाई आदि के बच्चों के प्रविष्ट होने के कारण आपका सनातनधर्म रसातल को चला जाता है। रहा विधवाओं का प्रश्न, उसका समाधान तब तक नहीं हो सकता जब तक पुरुषों की भाँति उन्हें दूसरा विवाह करने की आज्ञा न दी जाए; और उसकी आज्ञा देना सनातनधर्म के लिए कठिन है, क्योंकि दूसरे विवाह की आज्ञा देने से सनातनधर्म के साधुओं और पण्डितों के भोगविलास और आय में विघ्न पड़ जाने का भय है। इसलिए धुन्नाजी! यदि आपके हृदय में वस्तुत: अनाथों और विधवाओं के लिए सहानुभूति है तो छुआछूत के भूत और सनातनधर्म के अवधूत से छुटकारा प्राप्त करके वैदिक धर्म की शरण में आइए और अपने हृदय को अनाथों और विधवाओं के उपकार में लगाकर शान्ति प्राप्त कीजिए।

सभा का निवेदन

पोपजी—एक मित्र ने 'जाखल शास्त्रार्थ' की पुस्तक मेरे हाथ में देकर कहा कि—"लो, आर्यसमाज ने हिन्दूजाति पर एक और नया उपकार किया है।"

तोपजी—पुराणों के खण्डन को आर्यसमाज का नया उपाकार कहना आर्यसमाज के ग्रन्थों से अनभिज्ञता का प्रमाण है, अन्यथा आर्यसमाज तो जन्मदिन से पुकार-पुकारकर कह रहा है कि पुराण अनार्ष ग्रन्थ हैं। इनमें वेद-शास्त्रों और ऋषि-मुनियों की निन्दा कूट-कूटकर भरी हुई है। जब तक हिन्दूजाति इन्हें तिलाञ्जलि नहीं देगी तब तक इनका उद्धार होना असम्भव है।

पोपजी—इस पुस्तक का आदि से अन्त तक अध्ययन किया गया और अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि यह गन्दा चिथड़ा किसी तनिक-सी भी मानवता रखनेवाले मनुष्य के मस्तिष्क की लेखनी से नहीं लिखा जा सकता, क्योंकि इसमें मानवता से गिरी हुई ऐसी गन्दी और सभ्यता व शिष्टता से कोसों दूर, सरासर झूठी और तोड़-मरोड़कर बनाई बकवास से परम आदरणीय हिन्दू-पूर्वजों को इतना अपमानित किया गया है कि पढ़ते-पढ़ते ही शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं, आँखों से आँसू बह निकलते हैं और हृदय पूर्वजों के अपमान के कारण अग्नि उगलने लगता है।

तोपजी—तोड़-मरोड़ करना आर्यसमाज का काम नहीं, यह काम सनातनधर्म का है। हाँ, जिस पुस्तक को देखकर आप आपे से बाहर हो रहे हैं, वह तो पुराणों के सहस्रांश की भी नक़ल नहीं है। इस थोड़े-से अंश की नक़ल से यह पता लग सकता है कि पुराणों में कैसी सभ्यता है? मैं अपने परिश्रम को सफल समझता हूँ कि आपने इस प्रकार की सभ्यता से घृणा तो प्रकट की! आपका यह कहना उचित है कि ऐसी सभ्यता और शिष्टतावाली पुस्तकें किसी मानवता रखनेवाले मनुष्य के मस्तिष्क की उपज नहीं हो सकतीं! फिर क्या आश्चर्य कि इनको वेदव्यास की रचना कहा जाए? क्या मैं आशा करूँ कि अब आप पूर्वजों का अपमान करके रोंगटे खड़े करनेवाली और आँखों से आँसू लानेवाली इन पुस्तकों से कोई सम्बन्ध नहीं रक्खेंगे और आर्यसमाज की भाँति इनको तिलाञ्जलि देकर हिन्दूजाति को विनाश के गढ़े में गिरने से बचाएँगे।

पोपजी—लाला मनसारामजी, पता नहीं आप सनातनधर्म के किस युग के शिशुपाल थे?

तोपजी—हाँडाजी! आपको तो गालियाँ देने का अच्छा अभ्यास है, परन्तु आपको बहुत बड़ी भ्रान्ति हुई है। शिशुपाल तो श्रीकृष्ण का सम्बन्धी और रुक्मिणी का प्रेमी था। मुझसे

तो सनातनधर्म की शान में ऐसी कोई कुचेष्टा होना सर्वथा असम्भव है। हाँ, मैं तो सनातनधर्म का हनुमान् हूँ। चूँकि सनातनधर्मरूप जोगी के वेश में रावण भारतवर्षरूपी राम की सभ्यतारूपी सीता को हरकर अष्टादश पुराणरूपी लङ्का में जा छुपा है। इसलिए मेरा यह धर्म है कि मैं पौराणिक लङ्का को आग लगाकर और सनातनधर्मरूप रावण को नष्ट करके भारत की सभ्यतारूप सीता को मुक्त करवा दूँ और भारत की सेवा में अपना जीवन अर्पित कर दूँ।

पोपजी—हम इस बेहूदा पुस्तक को पाँव तले रौंदकर बूट की ठोकर से गन्दी नाली में फेंक देते।

तोपजी—वस्तुतः इस प्रकार की पुस्तकें "जिनके कुछ अंश का अनुवाद यह पुस्तक है," बूट की ठोकर से गन्दी नाली में ही फेंकने योग्य होती हैं। हम प्रतीक्षा में हैं कि सनातनधर्म कब पुराणों-जैसी बेहूदा पुस्तकों के साथ उपर्युक्त व्यवहार करता है।

पोपजी—उस अशिष्ट, भड़कानेवाली और आदि से अन्त तक अश्लील पुस्तक का उत्तर अत्यन्त सभ्य व शिष्ट, शान्ति व प्रेमभरे शब्दों में देकर सभ्य संसार में प्यारे सनातनधर्म की शानदार विजय कर दिखाई।

तोपजी—यदि इसी का नाम सभ्यता, शिष्टता, प्रेम और शान्ति हैं जोकि इस पुस्तक में प्रकट की गयी है, तो पता नहीं गुण्डापन किस जानवर का नाम है। परमात्मा इस प्रकार की सभ्यता और शिष्टता, प्रेम और शान्ति सनातनधर्म को ही प्रदान करे।

सत्य का प्रकाश

पोपजी—शराबी, वेश्यागामी और लौंडेबाज आर्यसमाज का सदस्य हो सकता है, परन्तु मूर्त्तिपूजक और श्राद्ध पर विश्वास रखनेवाला नहीं हो सकता।

—स्वामी दर्शनानन्दकृत 'चाण्डाल चौकड़ी'

तोपजी—प्रमाण प्रस्तुत करते हुए लज्जा तो नहीं आई? 'चाण्डाल चौकड़ी' आर्यसमाज की कोई धार्मिक पुस्तक नहीं, अपितु एक काल्पनिक उपन्यास है जो स्वामीजी ने इस प्रकार के लोगों के विरुद्ध लिखा है जो शराबी, मांसाहारी, वेश्यागामी और लौंडेबाज होते हुए अपने दुर्गुणों को छिपाने के लिए आर्यसमाज के सदस्य बन जाते हैं। उनमें से एक कलाल के मुख से इस उपन्यास में उपर्युक्त शब्द कहलवाये गये हैं, जिनका उत्तर पहले अध्याय के अन्त में इस प्रकार दिया गया है—"बस भगतजी! रहने दीजिए। आप लोगों ने तो आर्य नाम को भी कलङ्कित कर दिया। आप लोग ऐसे आर्य हैं जैसे पञ्जाब के नाई राजा हैं। मैं आपकी बातों को सुनकर चकित हूँ। पता नहीं परमेश्वर को भारत का दुर्भाग्य मिटाना स्वीकार है या नहीं, क्योंकि जब कोई आचार्य उत्पन्न होकर देश का सुधार और धर्म का प्रचार करना चाहता है तभी कुछ-न-कुछ विश्वासघाती व्यक्ति उसे विश्वास दिलाकर, उसके साथी होकर देश में अपना मान-सम्मान प्राप्त कर लेते हैं और उसके मरते ही अपनी पूजा कराने लगते हैं। आप लोगों ने तो आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द की शिक्षा को ऐसा घृणित बना दिया कि जिसे कोई भी भला मनुष्य स्वीकार नहीं कर सकता। जैसे दही-जैसी अमृत वस्तु तांबे के बर्तन में पड़ने पर विष बन जाती है और उसे कोई भी खाना पसन्द नहीं करता, ऐसे ही स्वामी दयानन्द के धर्म से भरे हुए उपदेश आप लोगों के कारण विषभरे हो गये हैं, जिन्हें कोई भी पसन्द नहीं करेगा। यदि आप लोग

आर्यसमाज में न आते तो भारतमाता का दुखड़ा बहुत शीघ्र दूर हो जाता।"

—चाण्डाल चौकड़ी, पृ० १३

अब बताइए, इस सम्पूर्ण लेख को देने से आर्यसमाज का मण्डन होता है या खण्डन? शराबी, वेश्यागामी और लौंडेबाजों का निर्वाह सनातनधर्म में ही यज्ञ, रामलीला और कृष्णलीला के बहाने से हो सकता है। आर्यसमाज में ऐसे व्यक्तियों की दाल गलनी कठिन है, जो सिद्धान्तविरोधी हों। उदाहरण के रूप में राजनारायण अरमान, अखिलानन्द, भीमसेन आदि अनेक व्यक्तियों के नाम बतलाये जा सकते हैं, जिनको आर्यसमाज ने सिद्धान्त-विरोधी ज्ञात होने पर दूध से मक्खी की भाँति निकालकर बाहर फेंक दिया है।

पोपजी—आर्यसमाज मन्दिरों में वेश्या का नाच, मद्यपान और गो-मांस...........भक्षण।

—'आर्यमित्र' का शताब्दी अंक, पृ० १२२

तोपजी—आर्यमित्र के इस लेख में भी जो लोग आर्यसमाज पर अधिकार करके अपनी लज्जाजनक करतूतों से आर्यसमाज को बदनाम करते हैं ऐसे लोगों की करतूतों से सावधान रहने का ही उपदेश किया गया है, और इस बात का परामर्श दिया गया है कि आर्यसमाज को उचित है कि वह शीघ्रातिशीघ्र सावधान होकर इन बुराइयों को जड़ से उखाड़ फेंके, जिससे किसी धूर्त को आर्यसमाज में रहकर आर्यसमाज को कलङ्कित करने का अवसर न मिले। देखिए, इसी लेख के अन्त में लेखक महाशय क्या लिखते हैं—

"मुझे क्षमा किया जाए यदि मैं यह कहूँ कि हमारे अन्दर जो त्रुटियाँ हैं, वे हमारे अस्तित्व को मिटाने के लिए बहुत अधिक हैं। यदि यही अवस्था कुछ दिनों और रही तो विश्वास रखिए कि हिन्दूधर्म के सहस्त्रों सम्प्रदायों में ही हमारी गणना रह जाने के अतिरिक्त और हमारा कुछ भी नाम नहीं रहेगा। यह अजगर बौद्ध और जैन-जैसे सम्प्रदायों को निगल चुका है फिर हमारी तो गणना ही क्या है? हमने अब तक इस विषय में जो दण्डनीय भूल की है, वह कभी भी क्षमा करने योग्य नहीं है। इसका फल तो अवश्य मिलेगा ही, परन्तु भविष्य के लिए भी हम चेत जाएँ, तो भी बिगड़ी बन सकती है। यह समय है, कि हम अपनी त्रुटियों पर दृष्टि डालें और इनसे बचने का दृढ़ निश्चय कर लें। यदि इस शताब्दी पर हम इतना भी कर सके तो उत्सव सार्थक होगा, हमारा धर्म और संसार सुधरेगा और संसार का उपकार होगा। —'आर्यमित्र' का शताब्दी अंक, पृ० १२४

पोपजी! अब इस लेख को मिलाकर देखें कि क्या इससे आपका उद्देश्य पूरा होता है? कदापि नहीं। यह आर्यसमाज की ही शक्ति है कि जब उसे ज्ञात हो जाए कि आर्यसमाज के किसी अधिकारी में अमुक दोष है तो वह तुरन्त उसके विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाता है और अगर वह अधिकारी अपनी उस कमी को दूर न करे तो उसके बड़े-से-बड़े पद और मान-सम्मान को भी दृष्टि से ओझल करके उसे कूड़े-करकट की भाँति आर्यसमाज से निकालकर बाहर फेंक दिया जाता है। इस सम्बन्ध में स्वामी सत्यानन्दजी का उदाहरण आपके सामने हैं। वे आर्यजगत् में एक उच्च कोटि के संन्यासी थे, परन्तु जब उन्होंने वेद के विरुद्ध अपनी पुस्तक 'भक्तिप्रकाश' लोगों में वितरित करके ओम् नाम के स्थान पर 'राम' नाम का उपदेश करना आरम्भ किया और स्त्रियों को भी चेलियाँ बनाने लगे तथा कण्ठी-माला का उपदेश करने लगे और अपने उपनिषद्-भाष्य में मांस खाने का विधान भी कर दिया तो आर्यसमाजों की शिरोमणि सभा 'आर्य सार्वदेशिक सभा' ने इनके विरुद्ध तुरन्त घोषणा कर दी और प्रतिनिधि सभाओं ने भी इनके लिए अपनी वेदि बन्द कर दी।

यह गोलमाल सनातनधर्म में ही चल सकता है कि जिनकी पुस्तकों में वेश्या-गमन, मद्य-पान और गोमांसभक्षण की आज्ञा विद्यमान हो और वह टस-से-मस न हो।

पोपजी—मांस पकाने की विधि। —जोधपुर आर्यसमाजकृत 'भोजन-विचार'।

तोपजी—हम लोग इन पुस्तकों को आर्यसमाज के लिए इसी प्रकार कलङ्क समझते हैं, जिस प्रकार वेदव्यासजी के नाम पर अष्टादश पुराणों को। हाँ, इतना अन्तर है कि आर्यसमाज ने इन पुस्तकों को बूट की ठोकर मारकर गन्दी नाली में फेंक दिया है और सनातनधर्म अभी अष्टादश पुराणों के सम्बन्ध में सोच-विचार कर रहा है। आपका पुराणों में आये हुए मांस-भक्षण, मद्यपान, वेश्यागमन, लौंडेबाजी और गोमांस-भक्षण को 'चाण्डाल चौकड़ी', 'आर्यमित्र का शताब्दी अंक' और 'मांस-भोजन-विचार' आदि पुस्तकों से सिद्ध करने का प्रयत्न व्यर्थ है, क्योंकि इस प्रकार की पुस्तकों का आर्यसमाज पर कोई उत्तरदायित्व नहीं है। आर्यसमाज वेदों को स्वतःप्रमाण मानता है और ब्रह्मा से लेकर ऋषि दयानन्द तक के ऋषिकृत ग्रन्थों को परतःप्रमाण स्वीकार करता है और ऋषि दयानन्द के पश्चात् बनाये हुए ग्रन्थों को, चाहे वे किसी के भी द्वारा लिखे हुए क्यों न हों, अनार्ष और अप्रामाणिक मानता है। इसलिए पं० राजाराम, पं० आर्यमुनि, पं० तुलसीराम, पं० भगवद्दत्त, पं० सातवलेकर, स्वामी दर्शनानन्दजी आदि किसी की भी लिखी हुई पुस्तकों का आर्यसमाज उत्तरदायी नहीं है, क्योंकि ये सब अनार्ष और अप्रामाणिक ग्रन्थ हैं। यदि आपमें साहस हो तो आर्यसमाज की प्रामाणिक पुस्तकों के प्रमाण प्रस्तुत करें।

पोपजी—मनुष्य को मनुष्य का मांस खाने की शिक्षा।

—सत्यार्थप्रकाश, सप्तम संस्करण, पृ० २८७

तोपजी—क्योंजी! सत्यार्थप्रकाश का पूरा पाठ क्यों नहीं लिखा, केवल संकेत करके ही क्यों रह गये? इसलिए न कि पोल न खुल जाए? तो क्या धोखा देना ही आप लोगों का काम रह गया है? इन्हीं बातों के कारण तो आपने पोप-पदवी प्राप्त की है। लीजिए, हम पुस्तक के वास्तविक शब्द सम्पूर्ण रूप में लिख देते हैं—

"देखो! जब आर्यों का राज्य था तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे, तभी आर्यावर्त्त व अन्य भूगोलस्थ देशों में बड़े आनन्द में मनुष्य आदि प्राणी वर्तते थे, क्योंकि दूध-घी, बैल आदि पशुओं की अधिकता होने से अन्न-रस पुष्कल प्राप्त होते थे, जबसे विदेशी मांसाहारी इस देश में आके गो-आदि पशुओं को मारनेवाले मद्यपायी राज्याधिकारी हुए हैं, तबसे क्रमशः आर्यों के दुःख की वृद्धि होती जाती है, क्योंकि जब वृक्ष की जड़ ही काट दी जाए तो फल-फूल कहाँ से हों?

प्रश्न—जो सभी अहिंसक हो जाएँ तो सिंहादि पशु इतने बढ़ जाएँ कि सब गाय आदि पशुओं को मार खाएँ, तुम्हारा पुरुषार्थ ही व्यर्थ हो जाए।

उत्तर—यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु या मनुष्य हों उनको दण्ड दें और प्राणों से भी वियुक्त कर दें।

प्रश्न—फिर क्या इनका मांस फेंक दें?

उत्तर—चाहे फेंक दें, चाहे कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें वा जला देवें अथवा कोई मांसाहारी खावे तो भी संसार की कोई हानि नहीं होती, परन्तु इस व्यक्ति का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो जाएगा। जितना हिंसा और चोरी व विश्वासघात, छल-कपट आदि से वस्तुओं को प्राप्त करके व्यवहार करना है वह अभक्ष्य और अहिंसा, धर्म आदि

कर्मों से प्राप्त करके भोजन आदि करना भक्ष्य है।"

अब कहिए पोपजी महाराज! आप झूठ बोलकर कौन-से नरक के योग्य हुए? क्योंकि उपर्युक्त लेख में तो मांस खाने का भीषण खण्डन किया गया है।

पोपजी—बकरे, मेंढे और बैल से भोग करना। —स्वामी दयाननन्दकृत 'यजुर्वेदभाष्य'

तोपजी—वाहजी वाह! तोड़-मरोड़कर स्वार्थ सिद्ध करना इसी का नाम है। यदि आपको पशुओं से भोग करने का शौक था तो पुराणों में कन्दम ऋषि का हिरनी से भोग करना, सूर्य का घोड़ी से मैथुन करना आदि-आदि अनेक उदाहरण मिल सकते थे, फिर वेदों को कलङ्कित करने की क्या आवश्यकता थी? और यदि वेदों को भी पुराणों की भाँति कलङ्कित करने से सनातनधर्म का प्रचार होता है तो फिर तनिक सन्दर्भ भी लिख दिया होता कि स्वामी दयानन्द ने यह शिक्षा कहाँ दी है; परन्तु सन्दर्भ लिखने से तो आपकी सारी पोपलीला का जाल खुल जाता है, इसलिए जनता की आँखों में धूल झोंकने के लिए बिना सन्दर्भ के ही लम्बी गप्प मारी, परन्तु यहाँ भी कम नहीं हैं, आपकी पोल खोलकर ही दम लेंगे। लीजिए, यजुर्वेद अध्याय २१, मन्त्र ६० के भाष्य में यह लेख इस प्रकार है—

"प्राण और अपान के लिए दुःख-विनाश करनेवाले छेरी आदि पशु से, वाणी के लिए मेंढा से और परमैश्वर्य के लिए बैल से भोग करें—**उपयोग लें।**"

इसके आगे इसी मन्त्र का भावार्थ ऋषि दयानन्द इस प्रकार लिखते हैं—

"जो मनुष्य छेरी आदि पशुओं के दूध आदि से प्राणापान की रक्षा के लिए चिकने और पके हुए पदार्थों का भोजन कर, उत्तम रसों को पीके वृद्धि को पाते हैं, वे अच्छे सुख को प्राप्त होते हैं।"

अब बतलाइए, इस मन्त्र में आपके पुराणों का समर्थन कहाँ से मिलेगा? **भोग करें** का अर्थ स्पष्ट रूप से भाष्य में लिखा हुआ विद्यमान है कि **उपयोग लें**, अर्थात् उचित प्रयोग करें। इस मन्त्र के भावार्थ में बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य बकरी आदि पशुओं से दूध आदि का उचित काम लें। इतने स्पष्ट भाष्य की विद्यमानता में वेदमन्त्रों से पशुओं के साथ मैथुन का तात्पर्य लिखना अप्राकृतिक रूप से पशुओं के साथ मैथुन करनेवालों का ही कार्य हो सकता है।

पोपजी—मांस-हवन और भक्षण।—स्वामी दयानन्दकृत 'यजुर्वेदभाष्य'

तोपजी—आपने सन्दर्भ (पता) फिर नहीं लिखा कि स्वामीजी ने किस वेद-मन्त्र के भाष्य में मांस से हवन करना और मांस खाना लिखा है। क्या सनातनधर्म ने झूठ बोलने का ठेका ले-लिया है? और क्या इस प्रकार के झूठ और धोखे से पुराणों में लिखे हुए अजामेध, अश्वमेध और नरमेध सिद्ध हो जाएँगे, जिनमें कि बकरी, घोड़ा, गाय और मनुष्य को मारकर उनके मांस से हवन करना और खाना लिखा है? लीजिए, हम यजुर्वेद के वे शब्द संस्कृत-भाष्यसहित याथातथ्य लिख देते हैं, जिससे जनता आपके अपवित्र और मिथ्या भाषण से धोखे में न रहे।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। योऽत्र बहुपशुर्हविर्भुग्वेदवित् सत्क्रियो मनुष्यो भवेत् स प्रशंसामाप्नोति।

—यजुः० अ० १९। मन्त्र २०

भाषार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है। जो इस संसार में बहुत पशुवाला, होम करके हुतशेष का भोक्ता, वेदवित् और सत्य-क्रिया का कर्त्ता मनुष्य होवे, सो प्रशंसा को प्राप्त होता है।

अब आप इस लेख को ध्यानपूर्वक पढ़ें। इसमें 'मनुष्य' विशेष है और बहुत पशुवाला, होम करके होम से बचा हुआ खानेवाला, वेदों का जाननेवाला और सत्कर्मों का करनेवाला—ये चार विशेषण हैं। संस्कृत में भी चारों विशेषण बिल्कुल अलग-अलग प्रथमा विभक्ति के साथ स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे है अर्थात् बहुपशुः, हविर्भुक्, सत्क्रियः, और वेदवित्। ये चारों पद 'मनुष्य' शब्द के विशेषण हैं। अब इसमें बतलाइए कि पोपजी की बात किन शब्दों से निकलती है? इस भाष्य से मांस हवन करना और मांस खाना किसी भी प्रकार से नहीं लिया जा सकता, क्योंकि इसमें मांस शब्द भी विद्यमान नहीं हैं। इसमें पोपजी ने अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए संस्कृतभाष्य को दृष्टि से ओझल करके भाषा में दो विशेषणों को मिलाकर एक कर दिया है, अर्थात् **बहुत पशुवाला होम करके हुतशेष का भोक्ता**—इन दोनों को एक बनाकर **बहुत पशुवाला होम** समझकर यह अर्थ निकाला है कि **जिस होम में बहुत पशु प्रयुक्त किये गये हों, उस हवन का बचा हुआ खानेवाला।**

अब आप विचार करें कि इस प्रकार के स्पष्ट भाष्य में से इस प्रकार तोड़-मरोड़कर स्वार्थ सिद्ध करना कितना धोखा देना है। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपनी दुकान पर बोर्ड लगाता है कि—'यहाँ पर देसी कपड़ा बिकता है'; दूसरा व्यक्ति 'पर' शब्द को 'देसी' के साथ मिलाकर इसका यह अर्थ निकाले कि 'यहाँ परदेसी कपड़ा बिकता है' तो बतलाइए, कितनी बड़ी और भयानक चालाकी है! यही चालाकी यहाँ प्रयुक्त की गयी है, परन्तु एक और बात भी पाठकों की सेवा में निवेदन करना आवश्यक है कि इतनी चालाकी करने पर भी पोपजी का स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'बहुत पशुओंवाले होम' से यही तात्पर्य लिया जा सकता है कि जिस हवन में बहुत-से पशुओं का प्रयोग किया गया हो, अर्थात् जिसमें बहुत-से पशुओं को घी प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त किया गया हो, न कि मारकर मांस का प्रयोग करने के लिए। इसलिए पोपजी का यह सारा परिश्रम व्यर्थ है।

पोपजी—यदि भगवान् कृष्णचन्द्र महाराज राजसभा और विद्यासभा के द्वारा द्रोणाचार्य आदि को ब्राह्मण से क्षत्रिय और भीष्मपितामह और धर्मराज युधिष्ठिर को क्षत्रियर से ब्राह्मण बना देते!

तोपजी—आपने वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त को समझे बिना ही यह बात लिख मारी है। वर्ण-व्यवस्था कर्मों के अनुसार होती है—यह सत्य है, परन्तु कर्म भी दो प्रकार के होते हैं—एक मुख्य और दूसरे गौण। मुख्य कर्म वे होते हैं जिनके आधार पर कर्मकर्त्ता की जीवनवृत्ति निर्भर होती है, अर्थात् जिन कर्मों को करके मनुष्य अपनी आजीविका कमाता है, वे कर्म मुख्य हैं; और जो कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर करने पड़ते हैं, वे गौण होते हैं। कर्मों के अनुसार वर्ण-व्यवस्था का आधार मुख्य कर्मों पर है। उदाहरण के रूप में धोबी वही कहाता है जो कपड़े धोने से अपनी आजीविका कमाता है। आवश्यकता पड़ने पर बिना मज़दूरी अपने या किसी के कपड़े धोने से धोबी नहीं बन सकता। जो पखाना उठानो का काम आजीविका के लिए करता है, वह भंगी; परन्तु आवश्यकता पड़ने पर बिना मज़दूरी अपना अथवा अपने बच्चों का पाखाना उठाने से कोई भंगी नहीं बनता। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लीजिए।

द्रोणाचार्य का मुख्य कार्य विद्या पढ़ाना था; युद्ध उन्होंने आवश्यकता पड़ने पर किया, इसलिए वे क्षत्रिय नहीं बने। भीष्मपितामह और युधिष्ठिर का मुख्य काम राजप्रबन्ध था;

उपदेश वे आवश्यकता पड़ने पर देते थे, अतः वे ब्राह्मण नहीं बने। इसी कारण श्रीकृष्ण ने द्रोणाचार्य को क्षत्रिय और भीष्मपितामह तथा युधिष्ठिर को ब्राह्मण नहीं बनाया, अन्यथा श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज तो स्वयं कर्मों से ही वर्ण-व्यवस्था मानते थे, जैसाकि वे गीता (४।३) में कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

मैंने चारों वर्णों को गुण-कर्म के अनुसार बनाया है।

पोपजी—विधवाओं का विवाह कर देते।

तोपजी—तो क्या आपके विचार में कृष्णजी विधवा-विवाह और नियोग के विरुद्ध थे? कदापि नहीं। यदि वे विधवा-विवाह के विरुद्ध होते तो अपने बहनोई अर्जुन का तुरन्त बहिष्कार कर देते, क्योंकि अर्जुन ने नागराज की विधवा पुत्री से विवाह किया था, जिससे इरावान नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ; और कृष्ण की बुआ कुन्ती ने एक-एक करके तीन से नियोग किया, परन्तु कृष्ण ने कभी कुन्ती का बहिष्कार नहीं किया। पुनः श्रीकृष्ण के विशेष प्रिय पाँचों पाण्डवों के साथ द्रौपदी का पाँच दिन में विवाह हुआ। श्रीकृष्ण ने इसपर कोई अप्रसन्नता प्रकट नहीं की। इन सब बातों के अतिरिक्त कृष्ण ने स्वयं रायाण गोप की स्त्री राधा से पुनर्विवाह किया।[१] इन सब बातों की विद्यमानता में श्रीकृष्ण को विधवा-विवाह, नियोग और पुनर्विवाह के विरुद्ध बताना कितनी निडरता है?

पोपजी—और चूहड़े-चमारों के गले में यज्ञोपवीत डालकर उनके नाम के आगे शर्मा और वर्मा लगा देते।

तोपजी—वाह-जी-वाह पोपजी! बड़े पते की बात कही। क्या आपके विचार में श्रीकृष्णचन्द्र के समय में भी छूत-छात का रोग भारतवर्ष में था, जिसे दूर करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को यज्ञोपवीत देना नुस्खे के रूप में प्रयुक्त किया जाता? क्या आपके विचार में उस समय भी कहारों की भाँति पानी भरनेवाले, भोजनशालाओं में रोटी बनानेवाले और गधों की भाँति यजमानों का बोझ ढोनेवाले, मारवाड़ियों की धोती धोने और उनके बच्चों की टट्टी उठानेवाले, जन्माभिमानी, निरक्षर भट्टाचार्य ब्राह्मण केवल यज्ञोपवीत पहनने के कारण लोगों के गुरु बने हुए थे, जिनके जन्माभिमान को मिटाने के लिए प्रत्येक योग्य और अयोग्य व्यक्ति को यज्ञोपवीत देने की आवश्यकता पड़ती? कदापि नहीं। चूँकि श्रीकृष्णचन्द्रजी के समय में गुण-कर्म से वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त पर पूर्णरूप से आचरण किया जाता था—जो ब्राह्मण दोनों समय सन्ध्या नहीं करता था, उससे बलात् शूद्र का काम लिया जाता था; छूत-छात का चिह्न भी नहीं था, अतः उपर्युक्त साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

पोपजी—यदि हम भंगी और धानक आदि से छूत-छात न रक्खेंगे और इनसे घृणा न करेंगे तो उनकी जवान लड़कियाँ जो हमारे घरों मे आती हैं, उनको देखकर हमारे नवयुवक सदाचार खो बैठेंगे और दुराचारी हो जाएँगे।

तोपजी—बलिहारी है! छूत-छात को स्थिर रखने का कैसा उचित तर्क है? इसका अर्थ

---

१. ये दोनों मान्यताएँ सनातनधर्म के अनुसार हैं। आर्यसमाज द्रौपदी का एक ही पति स्वीकार करता है और श्रीकृष्ण की भी एक ही पत्नी थी, रुक्मिणी। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण के राधा के साथ मामी, बहिन, पत्नी आदि के अनेक सम्बन्ध थे। —जगदीश्वरानन्द

यह है कि जिन ब्राह्मण आदि वर्णों से छूत-छात नहीं की जाती और जिनकी युवति लड़कियाँ प्रायः हमारे घरों में आती-जाती रहती हैं, उनको देखकर हमारे नवयुवक अवश्य सदाचार खो बैठते होंगे और उनसे दुराचार भी करते होंगे। इसलिए उनसे बचाने का भी उपाय हो सकता है कि ब्राह्मण आदि वर्णों को अछूत घोषित किया जाए जिससे उनकी युवति लड़कियों और हमारे नवयुवकों का सदाचार सुरक्षित रह सके। अजी पोपजी! तनिक होश की दवा करो! सदाचार के सुरक्षित रखने का उपाय छूत-छात नहीं, अपितु धर्म-शिक्षा है, जिससे पर-स्त्री को माता के समान समझते हुए मनुष्य दुराचार से बच सकता है, अन्यथा दुराचारियों को छूत-छात भी दुराचार से नहीं रोक सकती। यदि आवश्यकता हो तो इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं कि जिनमें सनातनधर्म के ठेकेदार ब्राह्मण और बनियों ने भंगनों, चमारियों और धानकियों से मुँह काला करके न्यायालय से दण्ड पाया हो।

पोपजी—यदि पर-स्त्री को माता के समान जानकर दुराचार से बचना सत्य है तो आर्य विधवा-आश्रमों में विधवाओं के साथ दुर्व्यवहार क्यों किया जाता है; क्यों उनके गर्भ गिरवाये जाते हैं?

तोपजी—आर्य विधवा-आश्रमों में प्रायः वे विधवा प्रविष्ट होती हैं, जिनका सनातनधर्मी विवाह नहीं करते और वे घरों में दुराचार में फँसी रहती हैं और गर्भ रह जाने पर अवसर पाकर ईसाई, मुसलमान, भंगी, चमारों के साथ भाग निकलती हैं, जिनको आर्यवीर ढूँढकर विधवा-आश्रम में प्रविष्ट करा देते हैं और इनके विवाह की सुव्यवस्था कर देते हैं। इनके साथ कोई दुर्व्यवहार नहीं किया जाता और विवाह हो जाने के कारण गर्भ गिराने की आवश्यकता ही नहीं हो सकती। हाँ, ये दोनों कार्य सनातनधर्म के ठेकेदारों के घरों में अवश्य होते हैं। घरों में विधवाओं को असहाय समझकर उनके साथ दुर्व्यवहार करते हैं और गर्भ रह जाने पर तीर्थ के बहाने से बाहर ले-जाकर गर्भपात कराया जाता है। यदि आवश्यकता हो तो सनातनधर्म के इस कृत्य का प्रतिवेदन (Report) प्रस्तुत किया जा सकता है।

पोपजी—क्या आर्यसमाज ने इस प्रकार का कोई विभाग खोला हुआ है जहाँ इस बात की जाँच-पड़ताल की जाती अथवा इस प्रकार के प्रतिवेदन प्राप्त होते हों कि घरों से रोटी लेनेवाली ब्राह्मणी के साथ गृहस्वामी के नौजवान लड़के दुराचार नहीं करते?

तोपजी—निःसन्देह! हमारा तो आज तक यही विचार था कि घरों से रोटी लानेवाली युवति ब्राह्मण लड़कियों के साथ गृहस्वामी के नौजवान लड़के दुराचार नहीं करते, परन्तु मनुष्य ग़लती का पुतला है और हम भी मनुष्य हैं, अतः हमसे भी ग़लती हो जाना कोई बड़ी बात नहीं हैं। दूसरी बात यह है हम तो अपनी आत्मा के अनुसार अनुमान ही कर सकते हैं, वास्तविक अवस्था तो आप लोग ही जान सकते हैं, जिनके साथ बीतती है, अतः हम अपना विचार वापस ले-लेते हैं। क्षमा करना हमने ग़लत अनुमान लगाया। आपका विचार ठीक है। अवश्य ही रोटी लानेवाली ब्राह्मण युवति लड़कियों के साथ गृहस्वामी के नौजवान लड़के दुराचार कर बैठते होंगे, अतः उनके चाल-चलन को ठीक रखने के लिए ब्राह्मणों को शीघ्र जी अछूतों में सम्मिलित हो जाना चाहिए।

पोपजी—ब्राह्मणी रोटी लेने के लिए केवल उन्हीं घरों में जाती हैं जहाँ स्त्रियाँ होती हैं, जिनकी उपस्थिति में गृहस्वामी के नौजवान लड़कों को दुराचार करने का अवसर ही

नहीं मिल सकता।

तोपजी—ठीक है, अब बुद्धि ठिकाने आई। भला, यह तो बतलाएँ कि यदि भंगी, चमार और धानकों से छूत-छात न रक्खी जाए और उनकी नौजवान लड़कियाँ भी ब्राह्मणों की युवति लड़कियों की भाँति उन्हीं के घरों में जाया करें जिन घरों में स्त्रियाँ हों, जिनकी उपस्थिति में गृहस्वामी के नौजवान लड़कों को दुराचार करने का अवसर ही न मिल सकेगा, फिर तो आपको अछूतोद्धार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी।

पोपजी—इनका उद्धार छूत-छात के दूर करने से नहीं होता, अपितु इनका उद्धार तो इनकी आर्थिक स्थिति को सुधारने में है।

तोपजी—तो फिर सनातनधर्म ने अछूतोद्धार का विभाग क्यों रक्खा है? क्या केवल जनता से धन बटोरने के लिए? और पं० मदनमोहनजी मालवीय प्रयाग और वाराणसी में गङ्गा के किनारे पर भंगियों को स्नान करवाकर, शुद्ध वस्त्र पहिनाकर, माला देकर और मन्त्र-उपदेश करके दीक्षा क्यों देते हैं तथा जनता में भंगी और चमारों के लड़कों को गोद में उठाकर छाती से क्यों लगाते हैं? आप इनके विरुद्ध बहिष्कार का प्रस्ताव पास क्यों नहीं करते और आपने तथा मालवीयजी ने इनकी आर्थिक अवस्था का क्या सुधार किया है, तनिक इसकी सूचना समाचार-पत्रों में दे दीजिए।

पोपजी—प्रसिद्ध आर्यसमाजी श्री भल्ला ने बूटों का व्यापार स्वयं हाथ में लेकर चमारों को व्यवसायहीन बना दिया है।

तोपजी—क्या आपने अमृतसर के बाजार में ब्राह्मणों की बूटों की दुकान नहीं देखी, जिसपर यह बोर्ड लगा हुआ है—'पण्डिताँ दी हट्टी।' इसके अतिरिक्त सिखों, खत्रियों और बनियों की भी बूटों की दुकानें हैं। जब सनातनधर्मियों की भी दुकानें विद्यमान हैं, तब केवल भल्लाजी पर आक्षेप करना मूर्खता नहीं तो क्या है?

पोपजी—यदि चमारों के हाथों में व्यापार होता तो इसमें सन्देह नहीं कि इनकी आर्थिक अवस्था बहुत उन्नत होती, परन्तु आर्यसमाज की कृपा से इनका बहुत बड़ा भाग बासी रोटी के लिए भी परावलम्बी हो गया है।

तोपजी—पण्डितों, खत्रियों, सिखों और भल्लाजी के बूटों के व्यापार होने के कारण चमारों को कोई हानि नहीं पहुँची है। हाँ, मुसलमानों को अवश्य हानि हुई है, क्योंकि पहले मुसलमान ही बूटों का व्यापार करते थे और चमार लोग उन्हें अपने बूट बेचते थे और मुसलमान उनसे लाभ उठाते थे। अब मुसलमानों के स्थान पर हिन्दू लाभ उठाते हैं। हाँ, चमारों को भी अवश्य लाभ हुआ है, क्योंकि पहले मुसलमान हिन्दू चमारों से मनमाने भाव पर जूते खरीदते थे, अब हिन्दुओं के साथ मुकाबला हो जाने से चमारों के जूते अच्छे दामों पर बिकते हैं और यदि कोई पूँजीपति चमार जूतों का व्यापार करे तो उसके लिए कोई रुकावट नहीं है। रहा बासी रोटी से भी वञ्चित होने का प्रश्न, वह इनपर सनातनधर्म की ही कृपा थी, क्योंकि ये लोग जूता बनाने के अतिरिक्त और कोई कर्म न कर पाते थे। न ये सोडावाटर और भल्ले-पकौड़ी की दुकान खोल सकते थे, न हलवाई और सब्जी बेचने का व्यापार कर सकते थे, न ही दूध आदि बेच सकते थे और न ही इनको घरों में नौकर रक्खा जाता था, क्योंकि इन दीन-हीनों पर छूत-छात का आदेश लगाकर सनातनधर्म ने इनकी आजीविका के सब द्वार बन्द करके इनको दैनिक रोटी की प्राप्ति से भी वञ्चित कर दिया था। भला हो आर्यसमाज का, जिसने सनातनधर्म के सम्पूर्ण आदेशों के विरुद्ध

आवाज़ उठाकर इनके लिए व्यापार के द्वार खोल दिये और छूत-छात के उड़ जाने से उपर्युक्त सभी कार्यों को इन लोगों ने अपने हाथ में ले-लिया और अपने पैरों पर खड़े होने योग्य हो गये। यह सब आर्यसमाज की कृपा है कि आज ये लोग मनुष्य कहलाने के योग्य बन गये हैं और किसी ने सोडावाटर की दुकान में उन्नति करके लाखों रुपया कमाया है तो किसी ने हलवाई और सब्जी की दुकान में हाथ दिखाया है। किसी ने दूध बेचकर परिवार का पालन किया तो किसी ने बर्फ और भल्ला-पकौड़ी बेचकर बच्चों का पेट पाला और कुओं, मन्दिरों, पाठशालाओं और उत्सवों के द्वार खुलने से सामाजिक अवस्था में सुधार हुआ। तात्पर्य यह कि आर्यसमाज की कृपा से उन्होंने प्रत्येक दिशा में भारी उन्नति कर दिखाई है। पोपजी को धनीराम भल्ला तो तुरन्त याद आ गया, परन्तु केसरी की दुकान स्मरण नहीं आई, जिसके पानी की बोतल गटागट पेट में जाकर पोपजी की आत्मा को प्रसन्न कर देती है और पोपजी पर अछूतोद्धार की मोहर लगा देती है।

पोपजी—मालवीयजी ने सनातनधर्म कान्फ्रेंस लाहौर में कहा—"आर्यसमाजी सनातनधर्मियों को चैलैञ्ज देते हैं, मुझे क्यों नहीं देते? मैं उनका चैलैञ्ज स्वीकार करता हूँ।" पण्डितजी के इस भाषण से आर्यसमाजी शिविर में खलबली मच गयी, परन्तु किसी को उनके साथ शास्त्रार्थ करने का साहस न हुआ।

तोपजी—मालवीयजी की भी खूब सुनाई! अजी पोपजी! वैसे तो हम वृद्ध होने के कारण मालवीयजी का आदर करते हैं, परन्तु धार्मिक विषय में तो मालवीयजी बिना पैंदे के मुरादाबादी लोटे हैं। 'गङ्गा गये गङ्गादास और जमना गये जमनादास' की कहावत उनपर चरितार्थ होती है। कहीं पर विदेश जाते हैं तो कहीं प्रायश्चित्त करते हैं। कहीं सचैल (वस्त्रों-सहित) स्नान करते हैं तो कहीं भंगी लड़कों को गोद में उठा लेते हैं। कहीं सनातनधर्मियों को प्रसन्न करने के लिए पुराणों की प्रशंसा करके उनकी आँखों में धूल झोंक देते हैं तो कहीं वेदों में मूर्त्तिपूजा का निषेध करके आर्यसमाजियों से वाह-वाह करवा लेते हैं। बस, यही बात उपर्युक्त चैलैञ्ज में भी हुई। पहले तो उन्होंने सनातनधर्म कान्फ्रेंस लाहौर में आर्यसमाजियों को चैलैञ्ज देकर सनातनधर्मियों को प्रसन्न कर लिया, परन्तु जब आर्यसमाज के धुरन्धर विद्वान्, गुरुकुल काँगड़ी के अमूल्य रत्न, वेदों के समुद्र, शास्त्रार्थों के महारथी पण्डित बुद्धदेवजी विद्यालङ्कार ने चैलैञ्ज को स्वीकार करके समय निर्धारित करने के लिए पत्र भेजा और लिखित स्वीकृति माँगी तो चुप्पी साध गये। जब कोई उत्तर नहीं आया तो आर्यसमाज बच्छोवाली, लाहौर आर्यसमाज के प्रधान रायसाहब ला० रोशनलालजी बैरिस्टर पं० मालवीयजी के निवास-स्थान पर गये और शास्त्रार्थ के लिए लिखित स्वीकृति माँगी तो मालवीयजी ने अपना भागवत उठाकर प्रधानजी के आगे रख दिया, जिसमें सैकड़ों स्थानों पर लाल पैंसिल से गन्दी कथाओं को काटा हुआ था, और कहा—"मैं तो इस प्रकार के पुराणों को मानता हूँ। जिस किसी को शास्त्रार्थ करना हो वह मेरे इस भागवत पर आक्षेप करे।" यह कहकर शास्त्रार्थ से स्पष्ट इन्कार कर दिया। यह हैं आपके चैलैञ्ज और मालवीयजी की वास्तविकता, जिसको स्मरण करके आप फूले नहीं समाते।

पोपजी—मालवीयजी ने यह भी कहा था कि स्वामी दयानन्द ने पुराणों को समझा नहीं था। यदि वे जीवित रहते तो मैं उन्हें अपने विचारों का बना लेता।

तोपजी—जी हाँ, ठीक है मालवीयजी स्वामीजी को अपने विचार का बना लेते या

सनातनधर्म से त्याग-पत्र दे देते। इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि **मालवीयजी ने आर्यसमाज की शिक्षा से प्रभावित** होकर सनातनधर्म के कितने ही सिद्धान्तों **पर पानी फेर रक्खा है। भागवत पर सैकड़ों स्थानों** पर लाल पैंसिल फेर रक्खी है, समुद्र-यात्रा करते हैं, भंगियों को मन्त्रोपदेश करते हैं; अछूतोद्धार और शुद्धि के प्रबल समर्थक हैं, ऋषि दयानन्द के श्रद्धालु भक्त हैं। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर पूर्णरूप से यह अनुमान किया जा सकता है कि यदि स्वामी दयानन्दजी जीवित होते और उनका मालवीयजी के साथ विचार-विनिमय हो जाता तो मालवीयजी श्रीमद्‌भागवतसहित अष्टादश पुराणों को यमुना में बहाकर वैदिक धर्म की शरण में आ जाते, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

पोपजी की भूमिका

पोपजी—जनता की हार्दिक इच्छा थी कि शास्त्रार्थ का प्रधान पं० माधवाचार्यजी शास्त्री को बनाया जाए।

तोपजी—बिल्कुल सफ़ेद झूठ है। जनता को तो यह पता ही नहीं था कि माधवाचार्य किस चिड़िया का नाम है। हाँ, कुछ सनातनधर्मियों ने शोर अवश्य मचाया जोकि अनधिकार चेष्टा समझी गयी।

पोपजी—परन्तु आर्यसमाज ने स्वीकार नहीं किया।

तोपजी—नियम और व्यवस्था की बात है। जब उत्सव आर्यसमाज का था और शान्ति का उत्तरदायित्व भी आर्यसमाज पर था तो फिर माधवाचार्य-जैसे दायित्वहीन व्यक्ति को, जिसका कार्य ही शान्तिभंग करना हो, प्रधान कैसे बनाया जा सकता था?

पोपजी—क्योंकि आज तक आर्यसमाज ने कभी सनातनधर्मी प्रधान की विद्यमानता में शास्त्रार्थ स्वीकार नहीं किया।

तोपजी—सत्य को झुठलाना इसी का नाम है। कम-से-कम बीस स्थानों पर तो सनातनधर्म के उत्सवों में मैंने सनातनधर्म के प्रधानों की विद्यमानता में शास्त्रार्थ किये हैं, क्योंकि साधारणत: नियम यही है कि जिसका उत्सव हो और जिसका उत्तरदायित्व और प्रबन्ध हो, प्रधान उसी का होता है।

पोपजी—अन्ततोगत्वा आर्यसमाज को प्रथम विषय अर्थात् 'स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदानुकूल हैं' पर विवश होकर शास्त्रार्थ करना पड़ा।

तोपजी—यह बिल्कुल असत्य है। शास्त्रार्थ आरम्भ करते समय विषय के सम्बन्ध में कोई चर्चा ही नहीं हुई, क्योंकि शास्त्रार्थ का विषय 'स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं या अष्टादश पुराण' पहले से ही पत्र-व्यवहार के द्वारा निश्चित हो गया था।

पोपजी—महाशयजी ने उत्तर देने की बजाय पुराणों पर टीका-टिप्पणी आरम्भ कर दी।

तोपजी—जब मुक़ाबिले का विषय निर्धारित था तो फिर पुराणों पर प्रश्न करना आवश्यक था। उत्तरों ने आपकी जो दुर्दशा की वह आप अनुभव कर ही चुके हैं।

पोपजी—जनता के आग्रह करने पर कि शास्त्रार्थ के वास्तविक विषय को छोड़कर पुराणों पर टीका-टिप्पणी करना शास्त्रार्थ के नियमों के विरुद्ध है, और कहाँ की बुद्धिमानी है, परन्तु प्रधान स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी ने यूँ ही टाल दिया।

तोपजी—निर्णीत विषय के अनुसार पुराणों पर प्रश्न करने से सनातनधर्मियों का शोर

मचाना केवल शरारत थी। प्रधानजी ने यूँ ही नहीं टाला, अपितु आध घण्टा में दोनों ओर के पत्र-व्यवहार को सुनकर निर्णय दिया कि विषय यही निर्धारित हुआ है कि 'स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं या अष्टादश पुराण'। पत्र-व्यवहार के अनुसार सनातनधर्मियों को मुँह की खानी पड़ी और उपर्युक्त विषय पर ही शास्त्रार्थ पुनः आरम्भ हुआ।

पोपजी—आर्यसमाज को इस शास्त्रार्थ में बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी।

तोपजी—मुँह की आर्यसमाज को खानी पड़ी या सनातनधर्म को—यह आपके रोने-चिल्लाने से ही प्रकट हो रहा है।

पोपजी—आर्यसमाज जाखल ने मनमाना शास्त्रार्थ तैयार करवाने के लिए लाला मनसारामजी को विवश किया।

तोपजी—मनमाना शास्त्रार्थ तैयार करवाने के लिए तो आपको सनातनधर्म सभा जाखल ने विवश किया है और आपने ऐसा कर भी दिखाया है। जहाँ पर पं० श्रीकृष्ण शास्त्री ने एक भी वेदमन्त्र अपने प्रश्नों की पुष्टि में प्रस्तुत नहीं किया था, वहाँ आपने मनमाने ढंग से प्रश्नों के साथ वेदमन्त्र जड़ दिये हैं और श्रीकृष्ण के मुख से भी प्रत्येक टर्न (Turn, बारी) में मनमाने ढंग से कहलवा दिया है कि 'मैंने वेदमन्त्र प्रस्तुत करके स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों को वेदविरुद्ध सिद्ध कर दिया है, जबकि शास्त्रार्थ में ऐसा नहीं हुआ था, अतः शास्त्रार्थ का मनमाना मसौदा[१] [प्रारूप] तैयार कराना सनातनधर्म का ही काम है। आर्यसमाज ने तो याथातथ्य, शब्दशः जो कुछ हुआ था वही तैयार करवाकर प्रकाशित किया है।

पोपजी—पुस्तक 'शास्त्रार्थ जाखल मण्डी' आर्यसमाज की ओर से प्रकाशित कराई गयी।

तोपजी—निःसन्देह, क्योंकि सचाई का प्रचार करना आर्यसमाज का मुख्य कर्त्तव्य है, इसलिए इसे प्रकाशित करना आवश्यक था।

पोपजी—भूमिका में स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी स्वयं स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि पं० मनसारामजी ने शास्त्रार्थ में जो बातें नहीं भी हुई थी, वे भी लिख दी हैं। इनका यही तात्पर्य है कि लोगों को यह विषय भली-भाँति समझ में आ जाए।

तोपजी—स्वामीजी के उस लेख का यह तात्पर्य नहीं है कि हमने दोनों पक्षों के भाषणों में कोई वृद्धि की है, अपितु स्वामीजी का संकेत हमारे उस लेख की ओर है जोकि हमने शास्त्रार्थ के पश्चात् प्रश्न और उत्तर के रूप में और पुराणों पर आठ प्रश्नों के रूप में लिखा है और उसके विषय में उनका लिखना उचित भी है। स्वामीजी के लेख को समझने के लिए उनके उन दो वाक्यों को और जोड़िए जिनको आपने जान-बूझकर जनता को धोखे में रखने के लिए छोड़ दिया है। वे दो वाक्य हैं—"और इसपर अच्छी प्रकार विचार किया गया है और उत्तर विस्तार से दिये गये हैं।" इन दो वाक्यों को जोड़कर स्वामीजी के लेख को पढ़ें और बतलाएँ कि अच्छी प्रकार से विचार किये जाने और विस्तारपूर्वक उत्तर दिये जाने का काम शास्त्रार्थ में दोनों पक्षों के भाषणों में विद्यमान है अथवा शास्त्रार्थ के पश्चात् प्रश्न और उत्तर के रूप में तथा पुराणों पर आठ प्रश्नों के रूप में हमारे लेख में विद्यमान है।

१. लेख का वह पूर्व-रूप जिसमें काट-छाँट तथा सुधार किया जाता हो। —जगदीश्वरानन्द

पोपजी--लाला मनसारामजी ने पुराणों की आदर्श कथाओं को तोड़-मरोड़कर अशिष्ट शब्दों में पुराणों पर बेहूदा दोष आरोपित किये हैं।

तोपजी--जैसे को वैसा वर्णन करना सचाई है। हमने तो पुराणों की कथाओं को शब्दश: लिख दिया है। यदि इनमें कोई अश्लीलता या असभ्यता दिखाई देती है तो वह पुराणों की अपनी सम्पत्ति है, हमारा इसमें कोई दोष नहीं है।

पोपजी--स्वामी दयानन्दजी ने जबकि अपने धर्मग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में कई-एक झूठे प्रमाण और मनमानी कथाएँ लिखकर ऋषि-मुनियों को गालियाँ दीं और वेदमन्त्रों को कतरकर मनमाना अर्थ करके जनता को धोखा देना अपना परमधर्म बना रक्खा था तो उनके चेलों की तो बात ही क्या है? उदाहरण के रूप में स्वामीजी के कुछ झूठे प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं।

तोपजी--ऋषि दयानन्दजी महाराज ने न तो कोई झूठा प्रमाण दिया है और न ही वेदमन्त्रों की कतर-ब्योंत करके मनमाने अर्थ किये हैं, मनमानी कथाएँ घड़कर ऋषि-मुनियों को गाली देना--यह तो पुराणों का ही रजिस्टर्ड पेशा है। हाँ, यह ठीक है कि आचार्य लोग भावप्रधान होते हैं। वे सहस्रों पुस्तकों का अध्ययन करने के पश्चात् जब पुस्तक लिखने बैठते हैं तो सारे ग्रन्थों को अपने चारों ओर रखकर नहीं बैठते। अनेक स्थानों पर वे ग्रन्थ के भाव को अपनी संस्कृत में लिख देते हैं। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने झूठा प्रमाण दिया है, क्योंकि उस अर्थ को बतानेवाला पाठ उस ग्रन्थ में विद्यमान होता है; और दूसरी बात यह है कि प्राय: पुस्तकों में भी पाठभेद होता है। पाठभेद का अर्थ है कि श्लोकों के शब्दों में अन्तर होता है, परन्तु उनका तात्पर्य एक ही होता है। तीसरे, पुस्तकें पास न होने के कारण एक पुस्तक का पाठ दूसरी पुस्तक के नाम से लिख दिया जाता है। इससे आचार्य की नीयत पर सन्देह नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह पाठ किसी-न-किसी ग्रन्थ में विद्यमान है और इससे सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं आता। तात्पर्य यह कि किसी ग्रन्थ के प्रमाणों के भाव को अपनी संस्कृत में लिखने से और ग्रन्थों में पाठभेद होने के कारण अथवा एक पुस्तक का पाठ दूसरे ग्रन्थ के नाम से लिखे जाने के कारण किसी आचार्य की नीयत पर सन्देह नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा होने से सिद्धान्त में कोई भेद नहीं पड़ता। इसलिए ये बातें जैसे अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में पाई जाती हैं, वैसे ही ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में भी विद्यमान हैं। इससे ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों पर कोई दोष नहीं आता। फिर भी आगे चलकर इन बातों का उदाहरण देकर और भी स्पष्टरूप से वर्णन करेंगे। पाठक ध्यान से पढ़कर ठीक-ठीक परिणाम पर पहुँचने का प्रयत्न करें।

पोपजी--सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ८, पृष्ठ २३७ में लिखते हैं--

मनुष्या ऋषयश्च ये। ततो मनुष्या अजायन्त। --यजुर्वेद

यह मन्त्र सत्यार्थप्रकाश के ११ संस्करणों तक यजुर्वेद का ही लिखा जाता रहा, परन्तु बारहवें संस्करण में यजुर्वेद और शतपथब्राह्मण का मन्त्र लिखा गया, परन्तु यह मन्त्र किसी वेद में नहीं। स्वामीजी ने सरासर झूठा प्रमाण देकर धोखा दिया है।

तोपजी--उपर्युक्त संस्कृत-लेख में दो वाक्य हैं। पहले को यजुर्वेद के नाम से और दूसरे को उसके ब्राह्मण अर्थात् शतपथ के नाम से सत्यार्थप्रकाश में दिया गया है। इन दोनों में से दूसरे के सम्बन्ध में तो कोई विवाद नहीं क्योंकि **'ततो मनुष्या अजायन्त'**--यह पाठ

इसी रूप में शतपथ में १४।४।२।५ पर विद्यमान है। रह गया **प्रथम** वाक्य। यह स्वामीजी ने यजुर्वेद के इकतीसवें अध्याय का भाव लेकर लिख दिया है। स्वामीजी का उद्देश्य यह बताना था कि सृष्टि के आरम्भ में अनेक मनुष्य उत्पन्न हुए और यजुर्वेद के इकतीसवें अध्याय में सृष्ट्युत्पत्ति का और सब जीवधारियों की उत्पत्ति का वर्णन है। इसलिए बहुत-से मन्त्र लिखने के स्थान पर इस अध्याय के भाव को लिख दिया। देखिए यजुर्वेद (३१।९) में यह पाठ विद्यमान है—**साध्या ऋषयश्च ये।** अब उपर्युक्त वाक्य १ और इस पाठ में केवल इतना अन्तर है कि इसमें **'मनुष्याः'** पद है और उसमें **'साध्याः'** और इन दोनों शब्दों के अर्थ एक ही हैं। देखिए, महीधर इसका अर्थ यूँ करते हैं—

ये साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः।

अर्थ—जो सन्तान उत्पन्न करने के योग्य प्रजापति आदि थे वे उत्पन्न हुए।

बस, यह सिद्ध है कि इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है। इसलिए ऋषि दयानन्द का 'साध्याः' के स्थान पर 'मनुष्याः' लिखना उनकी नीयत पर सन्देह करने का अवसर नहीं देता, क्योंकि इससे सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं आता और ऐसा प्रायः ऋषियों के ग्रन्थों में हो जाता है। ऋषि दयानन्द के लेख में तो केवल शब्दों का ही अन्तर है, अर्थों का नहीं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय को ईशोपनिषद् कहा गया है और इसे पृथक् करके उपनिषदों के गुटके में सम्मिलित कर दिया गया है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय और गुटके में सम्मिलित उपनिषद् के पाठ में बहुत भारी अन्तर है। इस समय हमारे सामने निर्णयसागर द्वारा प्रकाशित अड़तीस उपनिषदों का गुटका है। इसमें और यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में जो अन्तर है, उसे हम विस्तार से नीचे लिख रहे हैं। पाठक उसे ध्यानपूर्वक पढ़कर आनन्द लें।

१. यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में सत्रह मन्त्र हैं, परन्तु ईशोपनिषद् में अठारह मन्त्र हैं। इस प्रकार एक मन्त्र अधिक है।

२. यजुर्वेद में **'हिरण्मयेन पात्रेण'** इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध में—**'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म'**—पाठ है, परन्तु ईशोपनिषद् में **'तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये'** पाठ है।

३. **पूषन्नेकर्षे यम इति**—यह मन्त्र यजुर्वेद में है ही नहीं, परन्तु ईशोपनिषद् में है।

४. यजुर्वेद में **'वायुरनिलम्'**—इत्यादि मन्त्र में **'क्लिबे स्मर'**—यह पाठ है, परन्तु ईशोपनिषद् में यह पाठ बिल्कुल नहीं है, इसके स्थान पर **'कृतꣳ स्मर'** पाठ है और 'क्रतो स्मर' भी दो बार दिया है।

५. **ओ३म् खं ब्रह्म**—यजुर्वेद में है, परन्तु ईशोपनिषद् में बिल्कुल नहीं है।[1]

इसका नाम अन्तर है। स्वामी दयानन्दजी की भाँति और ग्रन्थों में भी पाठभेद विद्यमान हैं। उपर्युक्त यजुर्वेद और ईशोपनिषद् के तो अर्थ में भी अन्तर है। अब हम आपको स्वामीजी के प्रकार का ही व्यासजी का प्रमाण देते हैं। देखिए, महाभारत आदिपर्व अध्याय १०४ श्लोक ६ में नियोग का वर्णन करते हुए लिखा है—

पाणिग्राहस्य तनय इति वेदेषु निश्चितम्।

---

१. इनके अतिरिक्त भी अन्य भेद हैं। क्रम में भी अन्तर है, मन्त्र आगे पीछे हैं; ध्यानपूर्वक देखने से पाठकों को स्वयं पता चल जाएगा। —सम्पादक

परन्तु वेद में **'हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदम्'** (अथर्व० १८।३।२) यह पाठ मिलता है। इन दोनों में पाठभेद तो है। महाभारत में व्यासजी ने **'पाणिग्राहस्य'** लिखा है और वेद में **'हस्तग्राभस्य'** है, परन्तु दोनों का अर्थ एक ही है। इससे व्यासजी की नीयत पर शक नहीं किया जा सकता, क्योंकि व्यासजी ने वेद का भाव लेकर उसे अपने शब्दों में लिख दिया है। इसी प्रकार स्वामीजी ने भी **'साध्याः'** के स्थान पर **'मनुष्याः'** लिख दिया है, परन्तु अर्थ दोनों का एक ही है।

स्वामीजी का काम झूठा मन्त्र बनाकर लोगों को धोखा देना नहीं, प्रत्युत यह काम तो पुराणों ने रजिस्टर्ड करवा रक्खा है, क्योंकि पुराणों में कई स्थानों में वेद के नाम से ऐसे मन्त्र दिये गये हैं, जिनका वेद में चिह्न भी नहीं है। उदाहरण के रूप में ब्रह्मवैवर्तपुराण ख० ४, अ० २७, श्लो० ८ में लिखा है—

मन्त्रस्तु सामवेदोक्तोऽ यातयामः सबीजकः।
ओं श्रीदुर्गायै सर्वविघ्नविनाशिन्यै नम इति॥

फिर इसी पुराण में ४।७८।३७-३८ में लिखा है—

ओं सर्वेश्वरेश्वराय सर्वविघ्नविनाशिने मधुसूदनाय स्वाहेति॥३७॥
अयं मन्त्रो महागूढः सर्वेषां कल्पपादपः।
सामवेदे च कथितः सिद्धानां सर्वसिद्धिदः॥३८॥

ये दोनों मन्त्र सामवेद के नाम से ब्रह्मवैवर्तपुराण में लिखे गये हैं। कोई पौराणिक पण्डित इन दोनों मन्त्रों को सामवेद में से निकालकर दिखलाए। इसलिए हमने बताया कि झूठे वेदमन्त्र बनाकर लोगों को धोखा देना पुराणों का काम है, स्वामीजी का नहीं।

रहा यह प्रश्न कि "यह मन्त्र 'सत्यार्थप्रकाश' के ग्यारह संस्करणों तक यजुर्वेद का ही लिखा जाता रहा, परन्तु बारहवें संस्करण में यजुर्वेद और शतपथब्राह्मण का लिखा गया।" इसका उत्तर यह है कि यदि इस सारे पाठ को यजुर्वेद का लिखा जाए तो भी कोई दोष नहीं आता, क्योंकि स्वामीजी ने यह सब यजुर्वेद के इकतीसवें अध्याय का भाव लेकर लिखा है और इस अध्याय में इस भाव के मन्त्र विद्यमान हैं, परन्तु आर्यसमाज का सचाई से प्रेम है। जब आर्यसमाज को पता लगा कि वाक्य संख्या २ शब्दशः शतपथ में है तो कोष्ठक में ब्राह्मण का नाम भी लिख दिया गया। इससे आर्यसमाज पर कोई आक्षेप नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ कि यदि शतपथ के पाठ को यजुर्वेद का पाठ लिखा भी गया तो भी सनातनधर्म तो आपत्ति नहीं कर सकता, क्योंकि सनातनधर्म ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेद ही मानता है। इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी का जो लेख है, वह किसी प्रकार आपत्तियोग्य नहीं है।

पोपजी—भागवत के नाम से स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि हिरण्याक्ष पृथिवी को चटाई की भाँति लपेटकर सिर के नीचे रखकर सो गया।

तोपजी—स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में वराह की कथा लिखकर दो आक्षेप किये हैं—एक तो यह कि जब पृथिवी गोल है तो उसे चटाई की भाँति लपेटना लिखना भूगोलविद्या से शत्रुता करना है, दूसरा यह कि जब पृथिवी को सिरहाने या दाँत पर रख लिया तो सोये किसपर और लड़े किसपर? इन दोनों बातों से स्वामीजी ने असम्भव होने की शंका की है। इन दोनों बातों में से दूसरी बात का मामला तो भागवत में विद्यमान है। भागवत तृतीय स्कन्ध अध्याय १७ से १९ के अन्त तक पढ़ जाएँ। इसमें लिखा है कि दिति

के कश्यप से दो पुत्र हुए—हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यपु। इनमें से हिरण्याक्ष सम्पूर्ण विश्व को जीतता हुआ समुद्र में चला गया और वरुण के घर पहुँचा। वहाँ वरुण से कहा—"मुझे युद्ध प्रदान करो।" वरुण ने कहा—"मैंने लड़ाई करना छोड़ रक्खा है। तुम विष्णु से युद्ध करो। वे तुम्हारे साथ लड़कर तुम्हें प्रसन्न करेंगे।" हिरण्याक्ष यह सुनकर और नारद से विष्णु का पता पूछकर पाताल को चला गया। वहाँ उसने देखा कि विष्णु भगवान् वराह का रूप धारण किये पृथिवी को अपने दाँत की नोक पर रक्खे हुए आ रहे हैं। तब हिरण्याक्ष ने उन्हें युद्ध के लिए ललकारा। उस समय वराह भगवान् ने देखा कि दाँत पर रक्खी हुई पृथिवी भयभीत हो रही है। तब वराह ने पृथिवी को एक ओर रखकर हिरण्याक्ष से युद्ध करना आरम्भ किया, यहाँ तक कि हिरण्याक्ष को वराह ने मार दिया।

अब इस कथा को पढ़कर विचार करें कि स्वामीजी की दूसरी शंका बिल्कुल ठीक है कि जब वराह ने पृथिवी को दाँत की नोक पर रक्खा हुआ था तो वराह और हिरण्याक्ष खड़े किसपर थे, और दौड़ किसपर रहे थे और जब पृथिवी को एक ओर रख दिया तो युद्ध किसपर लड़ा?

अब रह गयी पहली शंका—पृथिवी को लपेटने की, तो इसके बारे में पहली बात तो यह है कि स्वामीजी ने यह शंका केवल भागवत पर ही नहीं अपितु स्वामीजी ने लिखा है कि—"पृथिवी को तो वराहजी ने मुख में रक्खा, फिर दोनों किसपर खड़े होकर लड़े? वहाँ तो और कोई ठहरने का स्थान न था; किन्तु **भागवत आदि पुराण बनानेवाले** पोपजी की छाती पर खड़े होकर लड़े होंगे।" इस लेख से सिद्ध है कि स्वामीजी की दृष्टि में भागवत ही नहीं था अपितु भागवत आदि सारे पुराणों को दृष्टि में रखकर स्वामीजी ने यह कथा लिखी है, और यह निश्चित बात है कि पुराणों में कोई कथा एक प्रकार से नहीं आती, अपितु एक ही घटना विभिन्न पुराणों में परिवर्तन के साथ और कभी बिल्कुल ही भिन्न प्रकार से लिखी हुई पाई जाती है। उदाहरण के रूप में भागवत दशम स्कन्ध, अध्याय चार, श्लोक आठ में तो लिखा है कि कंस ने कृष्ण के बदले में आई हुई नन्द की कन्या को पत्थर पर पटककर जान से मार दिया और ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड चार अध्याय सात श्लोक १२६ तक लिखा है कि कंस ने वसुदेव के कहने से लड़की को छोड़ दिया। इसका नाम एकानंशा रक्खा गया और इस कन्या का विवाह वसुदेव ने दुर्वासा ऋषि के साथ कर दिया। शिवपुराण रुद्रसंहिता दो, कुमारखण्ड चार, अध्याय तेरह, श्लोक बीस में लिखा है कि गणेशजी को पार्वती ने अपने मैल से बनाया और अध्याय सोलह में गणेश की मृत्यु महादेवजी के त्रिशूल से हुई, अर्थात् महादेव ने त्रिशूल से गणेशजी का सिर काट दिया। इसी बात को ब्रह्मवैवर्तपुराण गणेशखण्ड, अध्याय आठ तथा नौ में लिखा है कि महादेव और पार्वती दोनों सुन्दर पलंग पर गर्भाधान-क्रिया कर रहे थे कि जब वीर्य के योनि में प्रविष्ट होने का समय आया तो विष्णुजी ब्राह्मण का रूप धारण करके इसी घर में आ गये। उसकी आवाज़ सुनकर महादेवजी उठे तो उनका वीर्य पार्वती की योनि में नहीं गिरा अपितु पलँग पर गिर पड़ा। पार्वती भी महीन वस्त्र पहनकर महादेव के साथ घर के द्वार पर इस ब्राह्मण को देखने आई। इतने में कृष्णजी गणेश का रूप धारण करके पलँग पर पड़े हुए उस शिव के वीर्य में लतपत होकर पड़ रहे। जब पार्वती वापस आई तो उसने बालक को पलंग पर देखा और प्रेम से स्तन दिया और महादेव ने बालक को गोद में उठा लिया। यह तो हुई गणेश की उत्पत्ति। आगे अध्याय बारह में लिखा है कि इस बालक को देखने के

लिए शनिश्चर देवता आया। शनिश्चर के देखनेमात्र से गणेश का मस्तक कटकर गिर पड़ा।

अब देखिए, पुराणों में एक ही घटना को कितने अन्तर के साथ लिखा गया है। इसी प्रकार से वराह भगवान् की कथा को भी यदि विभिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न प्रकार से लिखा गया तो क्या आश्चर्य है!

रह गई पृथिवी को लपेटने की बात। पुराणों में इसका भी वर्णन विद्यमान है। देखिए, गरुड़ पुराण, ब्रह्मकाण्ड, उत्तरखण्ड अध्याय २६, श्लोक २० में वर्णन है कि—

चतुर्मुखं प्रीणयित्वैव भक्त्या ह्यवध्यत्वं प्राप तस्मान्महात्मा।
ततो भूमिं करवद्वेष्टयित्वा निन्ये तदा दैत्यवर्यो महात्मा॥२०॥

इस पाठ को ध्यानपूर्वक पढ़ें तो पता लगेगा कि संस्कृत में 'र' और 'ट' में बहुत साधारण-सा अन्तर होता है। इस पाठ को दोनों प्रकार से पढ़ा जा सकता है—**'करवद्वेष्टयित्वा'** भी और **'कटवद्वेष्टयित्वा'** भी। हम दोनों पाठों को दृष्टि में रखकर अनुवाद कर देते हैं—

अर्थ—वह महात्मा हिरण्याक्ष अपनी भक्ति से ब्रह्मा को प्रसन्न करके उससे यह वर प्राप्त करने में सफल हो गया कि तू मरेगा नहीं। तब वह महात्मा दैत्य हिरण्याक्ष पृथिवी को हाथ की भाँति या चटाई की भाँति लपेटकर ले-गया।"

प्रतीत होता है कि इस पाठ में 'कट' के स्थान पर गलती से 'कर' छप गया है, क्योंकि हाथ की भाँति लपेटना—यह लोकोक्ति संसार में प्रसिद्ध नहीं है, अपितु चटाई की भाँति लपेटने की लोकोक्ति ही ठीक है; तथापि लपेटना दोनों रूपों में ही विद्यमान है, अतः स्वामीजी का आक्षेप कि 'जब पृथिवी गोल है तो इसको लपेटना लिखना ही भूगोलविद्या से शत्रुता करना है', वज्रलेप के समान है। स्वामीजी ने जो कुछ लिखा है वह पुराणों के आधार पर ठीक लिखा है, क्योंकि समालोचना करते हुए स्वामीजी की दृष्टि के समक्ष केवल भागवत ही न था, परन्तु अठारहों पुराण उनके समक्ष थे, तभी तो उन्होंने समालोचना में **'भागवत आदि** बनानेवाले पोप ही छाती पर लड़े होंगे' ऐसा लिखा है। स्वामीजी को इस लेख से संसार में धोखा देना इष्ट नहीं था, अपितु पुराणों की यथार्थता को जनता के समक्ष प्रकट करना था। परमात्मा हमारे भाइयों को सन्मार्ग दिखाएँ कि वे पुराणों की ऐसी असम्भव शिक्षा को छोड़कर वैदिक धर्म की शरण में आ जाएँ।

पोपजी—भगवान् ने प्रह्लाद के लिए गर्म खम्बे पर चींटी चढ़ा दी।

तोपजी—पौराणिक जगत् में यह बात प्रायः पाई जाती है कि पुराणों में लिखी हुई कथाओं के अतिरिक्त कुछ हस्तियों [महापुरुषों] के सम्बन्ध में ऐसी कथाएँ प्रायः प्रसिद्ध हैं जिनका मूलग्रन्थों में नाममात्र भी वर्णन नहीं है, परन्तु पीछे लिखे हुए ग्रन्थों में बहुत-सी कथाओं को लिख भी दिया गया है। पौराणिक जगत् इन सर्वत्र प्रचलित कथाओं को बड़ी रुचि के साथ सुनता भी है और ठीक भी मानता है तथा पुराणों में लिखी हुई और लोक में प्रचलित कथाओं में कोई भेद भी नहीं करता। उदाहरण के रूप में सबसे पहले आप रामायण के सम्बन्ध में प्रचलित कथाओं को लीजिए। यह बात मानी हुई है कि श्री रामचन्द्रजी के जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण है, परन्तु राम के जीवन से सम्बन्धित ऐसी अनेक गाथाएँ मिलती हैं जिनका वाल्मीकि रामायण में उल्लेख भी नहीं है, परन्तु पीछे लिखी गयी पुस्तकों में उनका समावेश कर दिया गया है। जैसे सुलोचना का अपने पति मेघनाद का सिर युद्धभूमि से

लाकर उसके साथ सती होना, अङ्गद का रावण के दरबार में पैर जमाकर खड़ा होना, रावण का सीता के स्वयंवर में जाना, हनुमान् का संजीवनी बूटी लेकर लौटते हुए अयोध्या में भरत के तीर से गिर पड़ना और भरत का उसे बाण पर बैठाकर लङ्का की युद्धभूमि में राम के पास पहुँचाना, भीलनी के जूठे बेरों का खाना और वन में राम के द्वारा दशरथ का श्राद्ध करने पर सीता को ऋषियों के मध्य में दशरथ का दिखाई देना और सीता का उन्हें देखकर छुप जाना, राम के वनवास के पश्चात् भरत का गोमूत्र में जौ का दलिया पकाकर खाना [भागवत स्कन्ध ९, अध्याय १०, श्लोक ३४] आदि ऐसी कथाएँ हैं जिनका वाल्मीकि रामायण में उल्लेख तक नहीं है, परन्तु इनमें से कई का वर्णन पीछे लिखी हुई पुस्तकों—गरुड़पुराण, भागवत और तुलसीकृत रामायण आदि में आता है और पौराणिक लोग उपर्युक्त कथाओं पर उतना ही विश्वास रखते हैं जितना वाल्मीकि रामायण पर।

महाभारत के सम्बन्ध में भी सैकड़ों गाथाएँ प्रचलित हैं, जो महाभारत में नहीं हैं, परन्तु बाद में लिखे ग्रन्थों में कुछ घटनाएँ लिख दी गयी हैं, जैसे—अम्बिका, अम्बालिका और दासी का व्यास के सामने से निकल जाना और उनके गर्भ ठहर जाना, युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सभाभवन को देखते हुए दुर्योधन को द्रौपदी का ताना देना कि अन्धों के अन्धे ही पैदा होते हैं, युद्ध में मरणासन्न कर्ण के पास अर्जुन और कृष्ण का ब्राह्मण का रूप धारण करके भिक्षा माँगने के लिए जाना—आदि अनेक गाथाएँ हैं जिनका महाभारत में कोई उल्लेख नहीं है, परन्तु उपर्युक्त कथाएँ महाभारत के नाम से प्रसिद्ध हैं और इनमें से कुछ को बाद में लिखे हुए भाषा-ग्रन्थों में लिख भी दिया गया है।

इसी प्रकार भक्त प्रह्लाद के सम्बन्ध में उन घटनाओं के अतिरिक्त, जो भागवत में विद्यमान हैं, बहुत-सी कथाएँ पौराणिक जगत् में प्रसिद्ध हैं। भागवत में प्रह्लाद के सम्बन्ध में जो कथा आती है, वह इस प्रकार है—

"हिरण्यकश्यपु के चार पुत्र थे। इनमें सबसे छोटा प्रह्लाद था। वह बड़ा ही धर्मात्मा और कृष्ण का बड़ा भक्त था, क्योंकि राक्षसों ने शुक्राचार्यजी को गुरु बनाया हुआ था और गुरु के दो पुत्र शण्ड और अमर्क हिरण्यकश्यपु के भवन के पास ही रहते थे, इसलिए हिरण्यकश्यपु ने प्रह्लाद को शिक्षा-प्राप्ति के लिए उनके पास भेज दिया। प्रह्लाद ने यद्यपि अन्य बालकों के साथ राजनीति की शिक्षा प्राप्त की, परन्तु उसे अच्छा नहीं माना। एक दिन हिरण्यकश्यपु ने प्रह्लाद को अपनी गोद में बिठाकर पूछा—'तुझे क्या अच्छा लगता है?' प्रह्लाद ने उत्तर दिया—'मुझे यह अच्छा लगता है कि मैं वन में जाकर श्रीहरि का भजन करूँ।' यह सुनकर हिरण्यकश्यपु ने शण्ड और अमर्क को ध्यान दिलाया कि इस बालक पर विशेष ध्यान रक्खो, कहीं लोग इसकी बुद्धि को भ्रष्ट न कर दें। घर ले-जाकर उन्होंने प्रह्लाद से पूछा—'हे बालक! यह बताओ कि तुम्हारी बुद्धि में यह क्या फेर पड़ गया? तुम्हें किसी ने बहका तो नहीं दिया?' प्रह्लाद ने उत्तर दिया कि 'परमात्मा ही मेरी बुद्धि को फेर रहे हैं।' यह सुनकर गुरु ने बहुत धमकाया और शास्त्र पढ़ाने आरम्भ किये और प्रह्लाद को स्नान आदि करवाकर पुनः हिरण्यकश्यपु के पास ले-गये। वह पुत्र को देखकर अति प्रसन्न हुआ और प्रह्लाद से कहा कि अपना पढ़ा हुआ कुछ हमें भी सुनाओ। प्रह्लाद ने कहा—'पिताजी! मैं विष्णु की भक्ति को सर्वोत्तम समझता हूँ।' यह सुनकर हिरण्यकश्यपु उन गुरुपुत्रों पर क्रुद्ध हुआ कि तुमने मेरे पुत्र को यह क्या सिखा दिया? तब गुरुपुत्रों ने कहा कि यह हमने नहीं सिखाया। तब तो हिरण्यकश्यपु ने क्रुद्ध होकर प्रह्लाद को भूमि

पर पटक दिया और राक्षसों को आज्ञा दी कि इसको मार डालो, क्योंकि यह लड़का मेरे भाई हिरण्याक्ष को मारनेवाले विष्णु से प्रेम करता है। यह सुनकर राक्षसों ने प्रह्लाद पर एकदम अपने हथियारों से आक्रमण कर दिया, परन्तु इनके हथियारों से प्रह्लाद को कोई हानि नहीं पहुँची। यह देखकर हिरण्कश्यपु अत्यन्त दुःखी हुआ और उसने प्रह्लाद को मारने के अनेक उपाय किये। हाथियों के पैरों से कुचलवाना, बड़े-बड़े साँपों से डसवाना, पुरश्चरण करवाकर मरवाना, पर्वत की चोटी आदि से नीचे गिरवाना, भाँति-भाँति की चालाकियों से मरवाना, अँधेरी कोठड़ियों में बन्द कर देना, विष दिलवाना, भोजन न देना, सर्दी में रखना, आँधी में बैठाना, अग्नि में डालना, जल में डुबोना और उसपर पत्थर फेंकना आदि अनेक बार किये हुए उपायों से जब वह अपने पुत्र को न मार सका और कोई अन्य उपाय उसे न सूझा तो गहन चिन्ता में पड़ गया। यह देखकर शण्ड और अमर्क ने कहा कि आप बालक की बातों का विचार न करें। शुक्राचार्यजी तप करने गये हैं। उनके आने तक आप ठहरें, सम्भव है इसकी बुद्धि सुधर जाए। यह सुनकर हिरण्यकश्यपु ने कहा—'ठीक है। हे गुरुपुत्रो! आप इसे गृहस्थ की शिक्षा दीजिए।' तब वे प्रह्लाद को शिक्षा देने लगे। एक दिन गुरु-पुत्र तो गृहकार्य में लग गये और लड़कों को खेलने का अवकाश मिल गया। तब प्रह्लाद ने सब लड़कों को एकत्र करके उपदेश करना आरम्भ किया और उन्हें परमात्मा की भक्ति करना सिखाया। प्रह्लाद के उपदेश ने बालकों को प्रभावित किया, अतः जो कुछ गुरुपुत्रों ने सिखाया था, वह सब भुला दिया। यह देखकर गुरुपुत्र डर गये और हिरण्यकश्यपु के पास जाकर उन्हें सारी बात बता दी। यह सुनकर हिरण्यकश्यपु क्रोध से थर-थर काँपने लगा और क्रुद्ध होकर प्रह्लाद से बोला—'हे मूर्ख! तू मेरे आदेश का पालन नहीं करता, अतः आज मैं तेरा वध करूँगा। देखता हूँ तुझे कौन बचाता है और बता कि मेरे बिना जो तूने दूसरा जगत् का ईश्वर माना है वह कहाँ है?' प्रह्लाद ने कहा—'वह सर्वत्र है, वही मेरी रक्षा करेगा।' हिरण्यकश्यपु ने कहा—'तो फिर इस खम्भे में भी है क्या?' इसके पश्चात् प्रह्लादजी ने उस खम्भे की ओर देखकर और उसे नमस्कार करके कहा—'हाँ, मुझे इसमें भी दीखता है।' जब हिरण्यकश्यपु को कुछ दिखाई नहीं दिया तब वह कहने लगा—'अरे! तू अब भी उल्टी बातें कर रहा है। इसलिए मैं तेरे सिर को अभी धड़ से अलग कर देता हूँ। जो हरि तुझे प्रिय लगता है, वह आज तेरी रक्षा करे।' यह कहकर हिरण्यकश्यपु हाथ में तलवार लेकर तख्त (मञ्च) से नीचे उतरा और प्रह्लाद की ओर वार करते हुए उस खम्भे को काटने लगा। इतनें में ही उस खम्भे से एक भयानक ध्वनि निकली, जिससे सब डर गये। इतने में श्रीहरि अपने भक्त की बात को सच करने के लिए उस खम्भे में से नृसिंहरूप धारण करके प्रकट हुए। हिरण्यकश्यपु अपनी गदा लेकर उससे लड़ने लगा, परन्तु नृसिंह भगवान् ने उसे उठाकर सायंकाल, देहली के ऊपर जाँघों पर रखकर चीर दिया, और भी सैकड़ों राक्षसों को मार डाला और नृसिंह भगवान् तख्त पर बैठ गये। तब सब देवताओं ने नृसिंहजी की स्तुति की। फिर प्रह्लाद ने भी उनकी स्तुति की। जब भगवान् ने कहा—'हम तुझपर प्रसन्न हैं, वर माँगो।' प्रह्लाद ने अपने पिता की सद्गति माँगी। भगवान् ने कहा कि तेरा पिता अपने इक्कीस पूर्वजोंसहित पवित्र हो गया है।"

यह कथा भागवत के सातवें स्कन्ध में अध्याय ४ के श्लोक ३० से लेकर अध्याय १० के श्लोक १८ तक है। अब यदि आप इस कथा को ध्यानपूर्वक पढ़ेंगे तो पता चलेगा कि इसमें प्रह्लाद के सम्बन्ध में पौराणिक जगत् में प्रसिद्ध कई घटनाएँ नहीं हैं,

यथा--बिल्ली के बच्चों को घड़े-समेत भट्टी में रखकर आग लगानेवाली और याद आने पर राम-राम करनेवाली और प्रह्लाद को जीवित बच्चे निकलते हुए दिखाकर राम की भक्ति का उपदेश करनेवाली कुम्हारी का भागवत में कोई वर्णन नहीं है; और प्रह्लाद को गोद में लेकर बैठनेवाली कंस की बहिन होलिका की, जिसके नाम से पौराणिक लोग होली मनाते हैं, और होलिका को जलाकर प्रसन्न होते हैं, भागवत में चर्चा भी नहीं है; और भागवत में तो लोहे के खम्भे को तपा और लाल कर उसके साथ प्रह्लाद को बाँधने के प्रस्ताव का भी कोई वर्णन नहीं है; और स्वामी दयानन्दजी महाराज ने जो प्रह्लाद की पट्टी पर अध्यापकों से राम-राम लिखवाने की प्रह्लाद की माँग लिखी है, वह भी भागवत में नहीं है; **खम्भे का तपाना** और उसपर भगवान् का चींटियों को चलाने का वर्णन भी भागवत में नहीं है; और स्वामीजी ने लिखा है कि नृसिंह प्रह्लाद को चाटने लगा यह भी भागवत में नहीं है; और स्वामीजी ने जो पर्वत से गिरना, कुएँ में डालना और खम्भे से नृसिंह का प्रकट होना और प्रह्लाद के पिता का पेट फाड़ डालना और नृसिंह का प्रह्लाद को वर माँगने के लिए कहना, प्रह्लाद का पिता की सद्गति माँगना और नृसिंह का यह कहना कि तेरा पिता अपने इक्कीस पूर्वजोंसहित सद्गति को गया--ये बातें भागवत में है।

यदि कोई व्यक्ति यह आक्षेप करे कि स्वामीजी ने भागवत को पढ़ा ही नहीं था तो यह कहना बिल्कुल ग़लत है, क्योंकि स्वामीजी ने जहाँ चार बातें पौराणिक जगत् में प्रह्लाद के सम्बन्ध में प्रसिद्ध गाथाओं में वहाँ दी हैं, तो सात बातें वे दी हैं जो भागवत में विद्यमान हैं, और स्वामीजी ने जो प्रचलित गाथाओं और भागवत में लिखित बातों का असम्भव दोष दिखाकर खण्डन किया है, उसका पौराणिक पण्डित कोई भी समाधान नहीं कर सके। इक्कीस पुरुषों की सद्गति पर स्वामीजी ने जो आक्षेप किया है इसपर तो पौराणिक पण्डित चौकड़ी ही भूल गये और ऋषिकुमार रामस्वरूपजी शर्मा को भी भागवत की भाषा-टीका करते हुए भागवत स्कन्ध ७, अध्याय १०, श्लोक १८ पर यह टिप्पणी लिखनी पड़ी--"यद्यपि हिरण्यकश्यपु के ब्रह्माजी, मरीचि और कश्यप--ये तीन ही पूर्वपुरुष थे तथापि पूर्वकल्पों में होनेवाले पितरों के अभिप्राय से यह कथन है।" अब बतलाइए, स्वामीजी के इस आक्षेप का कि "प्रह्लाद के इक्कीस पूर्वपुरुष थे ही नहीं तो इक्कीस की सद्गति का वरदान देना विडम्बना ही है।" पौराणिक पण्डित ने क्या उत्तर दिया है? यह भी कोई उत्तर है कि पूर्वकल्पों के पितरों से तात्पर्य है? क्या पूर्वकल्पों के पूर्वजों के साथ प्रह्लाद का पीढ़ी-दर-पीढ़ी का सम्बन्ध था? कदापि नहीं, क्योंकि ब्रह्मा का भी किसी के साथ पैतृक सम्बन्ध नहीं था। इसलिए यह कहना तो बिल्कुल गलत है कि स्वामीजी ने भागवत को पढ़ा ही नहीं था। हाँ, यह ठीक है कि स्वामीजी सुधारक थे। वे संसार को पौराणिक गढे से निकालकर संसार का कल्याण करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने यह आवश्यक समझा कि पुराणों के खण्डन के साथ-साथ पौराणिक जगत् में जो पौराणिक कथाओं के साथ सम्बन्ध रखनेवाली प्रचलित पौराणिक गाथाएँ हैं, उनका भी अवश्य खण्डन करना चाहिए, इसलिए उन्होंने प्रह्लाद के सम्बन्ध में प्रचलित पौराणिक घटनाओं में से चार घटनाएँ लिखकर उनका भी खण्डन कर दिया।

पौराणिक पण्डितों की चालाकी देखिए कि उन्होंने यह आक्षेप तो कर दिया कि चींटियों का चलना भागवत में नहीं है, स्वामीजी ने ग़लत लिख दिया, परन्तु स्वामीजी की तीन बातों को जो भागवत में नहीं हैं, माता के दूध की भाँति पचा गये। जैसे चींटियों का

चलना भागवत में नहीं है, वैसे ही प्रह्लाद की पट्टी पर राम-राम लिखने का आग्रह, खम्भे को अग्नि में तपाकर लाल करना और नृसिंह का प्रह्लाद को चाटना भी भागवत में नहीं लिखा है। इन तीनों बातों के सम्बन्ध में चुप रहने का कारण यह प्रतीत होता है कि प्रथम तो इन तीन बातों को न मानने से प्रह्लाद की कथा का बहुत-सा गौरव उड़ जाता है, क्योंकि यदि इन लोगों को यह पता लग जाए कि भागवत में राम नाम का चिह्न ही नहीं है और खम्भा तपाया ही नहीं गया और नृसिंह ने प्रह्लाद को चाटा ही नहीं तो लोगों की श्रद्धा इस कथा से उड़ जाएगी और दूसरा कारण यह है कि पौराणिक पण्डित अपने हृदय में यह सोचते हैं कि इन तीन बातों के सम्बन्ध में तो दूसरे स्थानों पर प्रमाण मिल सकते हैं, परन्तु चींटियों के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिल सकता; परन्तु इनका यह विचार ग़लत है। जैसे उपर्युक्त तीनों बातों के सम्बन्ध में आपको दूसरे भाषा-ग्रन्थों में प्रमाण मिल जाते हैं, वैसे ही खम्भे पर चींटियों के चलने की गाथा भी पौराणिक जगत् में बड़ी प्रसिद्ध है और इसके सम्बन्ध में आपके भाषा-ग्रन्थों में प्रमाण विद्यमान हैं और इस पौराणिक गाथा बनानेवालों ने भी आधार भागवत से ही लिया है। देखिए, जब प्रह्लाद ने कहा कि हरि सर्वत्र है, तो हिरण्यकश्यपु ने पूछा-"क्या इस खम्भे में भी है?" प्रह्लाद ने खम्भे की ओर देखकर उत्तर दिया-"हाँ, मुझे दिखाई देता है।" इसपर पौराणिकों ने कल्पना की है कि इस समय प्रह्लाद को भगवान् चींटियों के रूप में दिखाई दिया।

१. सनातनधर्म के प्रसिद्ध नाटककार ला० किशनचन्दजी 'ज़ेबा' ने एक पुस्तक 'बाल भक्त प्रह्लाद' लिखी है। इस पुस्तक के मुखपृष्ठ पर खम्भे का चित्र देकर इसपर कीड़ी चलती हुई भी दिखाई गयी हैं और पुस्तक के अन्त में वही चित्र देकर उसके नीचे लिखा हुआ है-"प्रह्लाद और जलता हुआ लौहस्तम्भ।" हैं, हैं, यह क्या देख रहा हूँ कि एक छोटी-सी कीड़ी उस गर्म और जला देनेवाले स्तम्भ पर चलती है और नहीं जलती"-दृश्य ४, अङ्क ३। फिर पुस्तक में यह विषय अङ्क तीन, दृश्य ४, पृष्ठ १४२ पर इस प्रकार लिखा है-प्रह्लाद-(स्तम्भ पर एक कीड़ी को देखकर) हैं, मैं यह क्या देख रहा हूँ एक छोटी-सी कीड़ी इस गर्म और जला देनेवाले स्तम्भ पर चलती है और नहीं जलती। आह! ईश्वर की लीला अपार है! सचमुच यह ईश्वरीय चमत्कार है! यह निश्चय ही मेरे चलायमान होनेवाले विश्वास को बचाने आयी है।

नहीं कीड़ी को भी खटका है जब इस आग से जाँ का।
दया से उसकी हो सकता है मेरा बाल कब बाँका।।

-प्रकाशक, नेशनल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली, भाषा, तीसरी बार

२. बम्बई से एक गुजराती-पत्र गुजरातीभाषा में ही निकलता है, इसके ३ अक्तूबर १९२३ के साप्ताहिक अङ्क, पृष्ठ १४८५ पर प्रह्लाद की कथा देते हुए यूँ लिखा है-"प्रह्लाद के लिए खम्भे में कीड़ियों में ईश्वर का दर्शन" प्रह्लाद के लिए खम्भे पर कीड़ियाँ छोड़ी। इनको देखकर प्रह्लाद की ईश्वर में पूरी श्रद्धा हो गयी। कीड़ियाँ उस खम्भे पर चलती रहीं। प्रह्लाद ने अपने मन में कहा-'परमात्मा ने खम्भे पर कीड़ियाँ चलाई हैं।' इस बात को देखकर प्रह्लाद को साहस हो गया कि जिस ईश्वर ने खम्भे पर कीड़ियाँ चलाई हैं, वह खम्भे में भी विद्यमान है।

३. एक ट्रैक्ट लाहौर से प्रकाशित हुआ है जिसका नाम है-सिलसिला धर्मप्रचार ट्रैक्ट संख्या २"। "निराकार अर्थात् क्या ईश्वर निराकार है, साकार नहीं" जिसे स्वामी

बलिनाथजी योगेश्वर टल्ला, गुरुगोरखनाथ हाल निलय, जिला जेहलम ने लिखा और जिसे भाई ताराचन्द के आदेशानुसार छब्बर बुकसेलर, लाहौरी गेट, लाहौर ने जनसाधारण के लिए प्रकाशित कराया। प्रथम मघर, संवत् १९८२ विक्रमी, अमृतसर प्रेस लाहौर में ला० दुर्गादास के प्रबन्ध में छपा। इस ट्रैक्ट के पृष्ठ ३ पर यूँ लिखा है—

"कभी तू नर-नारायण होकर वन में योगाभ्यास करता है और कभी चींटी का रूप रखकर आग के समान लाल लोहे के खम्भे पर चलता हुआ दिखाई देता है और नृसिंह [सिर शेर का और शरीर मनुष्य का] रूप रखकर हिरण्यकश्यपु को मार रहा है।"

अब बतलाइए, उपर्युक्त लोगों ने खम्भे पर कीड़ियों का चलना लिखा है, क्या इनको भी स्वामीजी सिखा गये? यदि सनातनधर्म में यह गाथा प्रसिद्ध न होती तो ये लोग कैसे लिखते? अतः यह सिद्ध है कि पौराणिक जगत् में यह गाथा प्रसिद्ध और लोगों के लिए रुचिपूर्ण है। जहाँ-जहाँ भी लोहे के खम्भे को गर्म करके इसके साथ प्रह्लाद को लगाने का वर्णन है, वहाँ-वहाँ कीड़ियों का भी अवश्य वर्णन है, इसलिए स्वामीजी ने जो कुछ लिखा है, वह सत्य और यथार्थ है।

अब इस विषय पर हम एक अन्य दृष्टिकोण से विचार करना चाहते हैं कि क्या कीड़ियों की इस गाथा को लिखने से स्वामीजी का कोई विशेष उद्देश्य सिद्ध होता था? कदापि नहीं, क्योंकि स्वामीजी ने इस सारी कथा में असम्भव दोष दिखाया है। इसे दिखाने के लिए पर्वत से गिराना, आग से तपे हुए लाल खम्भे से लगाना, नृसिंह का खम्भे से निकलना आदि अनेक घटनाएँ विद्यमान हैं, जिनसे सनातनधर्म की असम्भव गाथाओं और सिद्धान्तों का अच्छी प्रकार खण्डन हो सकता है, अतः स्वामीजी ने इस घटना को किसी स्वार्थ से नहीं, अपितु असत्य के खण्डन के लिए ही लिखा है।

एक और भी प्रश्न है कि सनातनधर्म के पण्डितों को इस बात पर आपत्ति क्यों है? क्या सनातनधर्म में इस प्रकार की बातें असम्भव हैं? कदापि नहीं। जिस सनातनधर्म में प्रह्लाद का जलती अग्नि से जीवित निकलना, विष पीकर न मरना, साँपों के काटने से न मरना, पर्वत से गिराने पर न मरना और नृसिंह का खम्भा चीरकर निकलना सम्भव हो सकता है, उस सनातनधर्म में आग से लाल किये लोहे के खम्भे पर चींटियों का चलना असम्भव कैसे हो सकता है? और जब सनातनधर्म के ग्रन्थों में इसके प्रमाण भी विद्यमान हैं तो फिर आपत्ति करने का अवकाश ही नहीं रहता। फिर बात क्या है? वास्तविक बात यह है कि अब सनातनधर्म के उपदेशक शास्त्रार्थ की युद्धभूमि से तो पीठ दिखा चुके हैं और किसी भी निश्चित किये हुए विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार नहीं हैं; बस केवल इधर-उधर की बातों में ही अपनी जान बचाते फिरते हैं। ये पहले तो किसी बात को स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु जब आर्यसमाज इनपर टीका-टिप्पणी करने लगता है तो फिर उलटा आर्यसमाज ही से पूछने लगते हैं कि बताओ, यह हमारे ग्रन्थों में कहाँ लिखा है?

१. देखिए, कल तक सनातनधर्म के पण्डित मानते थे कि राम ने भीलनी के जूठे बेर खाये और झूम-झूमकर यह शैर पढ़ा करते थे—

भिलनी के बेर सुदामा के तण्डुल रुचि-रुचि भोग लगाये।
दुर्योधन के मेवा त्यागे, साग विदुर घर खाये।।

जब आर्यसमाज ने इससे अछूतोद्धार में सहायता लेनी आरम्भ की तो उलटा

आर्यसमाज से ही पूछने लगे कि बताओ, हमारे किस ग्रन्थ में लिखा है कि राम ने भीलनी के झूठे बेर खाये थे?

२. सारे सनातनधर्मी लोग भङ्ग को शिवजी की बूटी कह-कहकर प्यार करते थे और जङ्गम लोग तो अब भी शिवजी के भंग रगड़ने का गाना गाते हैं—

भङ्ग गङ्ग दो बहिन हैं रहती शिव के सङ्ग।
तरनतारनी गङ्ग है तो लड्डू खानी भङ्ग॥

जब आर्यसमाज ने आक्षेप किया तो हमसे ही पूछने लगे कि बताओ, 'शिवाजी ने भंग पी' यह हमारे किस ग्रन्थ में लिखा है?

३. राजा कर्ण का परलोक से पन्द्रह दिन की छुट्टी लेकर संसार में आना और श्राद्ध करना— यह कथा पौराणिकों में खूब प्रचलित थी और इसी घटना के आधार पर श्राद्धों को अब भी पौराणिक लोग 'कर्णागत' कहते हैं, परन्तु जब आर्यसमाज ने धज्जियाँ उड़ाई तो इस कथा को भी अस्वीकार कर दिया और हमसे ही पूछने लगे कि कर्ण की यह गाथा हमारे किस ग्रन्थ में लिखी है?

४. इसी प्रकार यह लोहे के लाल खम्भे पर कीड़ियों के चलने की कथा है। सनातनधर्मी इसे मानते हैं। इनकी भाषा की पुस्तकों में यह विद्यमान है और सारे नाटकों और सिनेमाओं में यह दृश्य दिखाया भी जाता है, परन्तु जब स्वामी दयानन्दजी ने भागवत की प्रह्लाद की कथा के साथ इस पाखण्ड का भी खण्डन कर दिया तो अब पौराणिक लोग इसे मानने से इन्कार करने लगे हैं और कहते हैं कि यह घटना हमारी पुस्तकों में दिखाओ।

वस्तुतः हम लोग इस बात से अत्यन्त प्रसन्न हैं कि ज्यूँ-ज्यूँ आर्यसमाज पौराणिक पाखण्ड का खण्डन करता है, त्यूँ-त्यूँ पौराणिक लोग पाखण्ड को तिलाञ्जलि दे रहे हैं। जिस-जिस बात से सर्वथा इन्कार करना सम्भव हो सकता है, उससे ते सर्वथा मुकर जाते हैं और जिससे मुकरना कठिन हो जाता है, उसे अलङ्कार बनाने का प्रयत्न करते हैं। बस, हमारा यह उद्देश्य था कि लोग पाखण्ड को छोड़ दें और स्वामीजी ने अपना सारा जीवन इसी में समाप्त कर दिया। उनके लेखों में जो खण्डन है वह भी पाखण्ड को छुड़वाने के लिए ही है। स्वामीजी ने जिन-जिन बातों का खण्डन किया है, यदि सनातनधर्मी उन सब बातों को छोड़कर पृथक् हो जाएँ तो स्वामीजी का खण्डन भी उसी के साथ समाप्त हो जाता है। परमात्मा करे कि पौराणिक लोग स्वामीजी के खण्डन से शिक्षा ग्रहण करके इन अठारह पुराणों से भी स्पष्ट इन्कार कर दें तो स्वामीजी का उद्देश्य पूर्ण हो जाए और हमारा खण्डन करने का कार्य भी उसी के साथ समाप्त हो जाए।

पोपजी—अक्रूर वायु के समान चलनेवाले घोड़ों के रथ पर चढ़कर प्रातः से सायं तक मथुरा से गोकुल तक पहुँचा, जबकि अन्तर केवल चार कोस का था, आदि, परन्तु भागवत में उपर्युक्त लेख सर्वथा नहीं है।

तोपजी—आपने भागवत को पढ़कर यह बात लिखी है अथवा ऐसे ही लिख मारा कि भागवत में उपर्युक्त घटना कदापि नहीं है? देखिए, कंस की आज्ञा से अक्रूरजी कृष्ण और बलराम को लाने के लिए मथुरा से प्रातः चले और सायं सूर्यास्त पर गोकुल में पहुँचे और वे इन दोनों को साथ लेकर दूसरे दिन मथुरा आये। इन बातों का वर्णन भावगत दशम स्कन्ध अध्याय ३८-३९ में विस्तार से है। स्वामीजी ने संक्षेप से दोनों अध्यायों में से दो वाक्य सार-रूप से लिखकर आक्षेप किया है कि जब मथुरा से गोकुल केवल एक योजन

अर्थात् चार कोस था और रथ वायु के समान वेगवाला था तो सारे दिन वह रथ कहाँ रहा और इतने विलम्ब से क्यों पहुँचा? अब हम भागवत से प्रमाण लिख देते हैं—

रथेन वायुवेगेन कालिन्दीमघनाशिनीम्। —भा० १०।३९।३८

अर्थ—हे राजन्! इधर अक्रूरजी बलराम और कृष्णसहित वायु के समान वेगवाले रथ के द्वारा पापों का नाश करनेवाली यमुना के तट पर पहुँचे।

इस श्लोक से रथ की तीव्रता दिखाना अभिप्रेत है।

रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं नृप। —भा० १०।३८।२४

अर्थ—रथ में बैठकर गोकुल में पहुँचे। इसी समय सूर्य भी अस्त हो गया।

इस श्लोक से सूर्यास्त के समय पहुँचे—यह दिखाना उद्देश्य है।

उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम्॥ —भा० १०।३८।१

अर्थ—रात्रि में मथुरा में विश्राम करके प्रातः रथ पर बैठकर नन्द के गोकुल को चल पड़े।

इससे प्रातः प्रस्थित हुए थे—यह बताना अभिप्रेत है।

अब बताइए कि स्वामीजी ने ग़लत क्या लिखा है? **'रथेन वायुवेगेन'** यह शब्द तो शब्दशः ३८वें श्लोक में विद्यमान है और **'जगाम गोकुलं प्रति'** के स्थान में **'रथेन गोकुलं प्राप्तः'** और **'प्रययौ नन्दगोकुलम्'** विद्यमान है। इन दोनों वाक्यों में **'जगाम'** के स्थान में **'प्राप्तः'** और **'प्रययौ'** पड़े हुए हैं, जिनके एक ही अर्थ हैं।

स्वामीजी का तात्पर्य हूबहू पुस्तक में होने पर भी उससे इन्कार करना जनता को धोखा देना नहीं तो और क्या है?

पोपजी—सत्यार्थप्रकाश के चौथे समुल्लास पृष्ठ ९० पर दो प्रमाण आपस्तम्बसूत्र के लिखे हैं, परन्तु ये दोनों सूत्र आपस्तम्ब के नहीं।

तोपजी—क्या झूठ बोलने का ठेका आपने ही ले-रक्खा है? पुस्तक को उठाकर भी देखा था या यूँही किसी से सुन-सुनाकर लिख दिया? पुस्तक खोलकर देखें, ये दोनो सूत्र आपस्तम्बगृह्यसूत्र में विद्यमान हैं। वे सूत्र ये हैं—

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥१०॥
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥११॥

—आपस्तम्ब० २।५।११।१०-११

अब कहिए, झूठ बोलना आप लोगों का काम है अथवा स्वामीजी का? हाथ कङ्गन को आरसी क्या? पुस्तक खोलकर अवलोन कीजिए। इन दोनों सूत्रों के अर्थ निम्न हैं—

१. धर्म का आचरण करने से नीचे-नीचेवाला वर्ण अपने से पहले-पहले वर्ण को प्राप्त हो जाता है, जाति के बदलने से।

२. पाप का आचरण करने से पहले-पहले वर्ण अपने से नीचे-नीचे वर्ण को प्राप्त हो जाता है, जाति के बदलने से।

जैसे कबूतर बिल्ली को देखकर आँखें बन्द कर लेता है कि बिल्ली है ही नहीं, इसी प्रकार जन्म से वर्ण-व्यवस्था माननेवाले पौराणिक पोप भी आँखें बन्द करके समझ लेते हैं कि जन्म की वर्ण-व्यवस्था का नाश करनेवाले प्रमाण शास्त्रों में हैं ही नहीं, परन्तु जैसे आँखें बन्द करने से कबूतर की जान नहीं बचती, अपितु इस भोलेपन से वह बिल्ली का

ग्रास बन जाता है, इसी प्रकार से प्रमाणों की ओर से आँखें बन्द करके भी जन्माभिमानी पौराणिक पोपों की जान बचनी भी कठिन है। इनको एक-न-एक दिन गुण-कर्ण-स्वभावनुसार वैदिक वर्ण-व्यवस्था का ग्रास बनना ही पड़ेगा।

पोपजी--सत्यार्थप्रकाश समुल्लास सात, पृष्ठ २०७ पर एक मन्त्र बृहदारण्यक उपनिषद् के नाम से लिखा है, परन्तु वह मन्त्र इस उपनिषद् में नहीं है। यह शतपथब्राह्मण का वचन है।

तोपजी--बतलाइए, इसमें स्वामीजी का झूठ क्या हुआ? जब आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि वह मन्त्र बृहदारण्यक में तो नहीं है, परन्तु शतपथ में वही मन्त्र विद्यमान है। केवल इतना ही हुआ न कि शतपथ का पाठ बृहदारण्यक के नाम से लिखा गया। इसमें सिद्धान्त का क्या भेद हुआ और आर्यसमाज पर क्या आक्षेप आया और आपकी क्या प्रयोजन-सिद्धि हुई? प्रथम तो आपके लेख के अनुसार कोई हर्ज की बात नहीं है। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार का पाठ दोनों ग्रन्थों में आता है, जिनमें केवल एक शब्द का अन्तर है और इसपर भी अर्थ दोनों का एक ही है, अतः चाहे किसी ग्रन्थ के नाम से लिखा जाए कोई हर्ज नहीं है। देखिए, बृहदारण्यक में यह पाठ है--

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानꣳशरीरं विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ --बृहदा० ३।७।२२

शतपथ में यही पाठ इस प्रकार है--

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽ यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।
आत्मनोन्तरा यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥

अब आप इन दोनों पाठों को ध्यानपूर्वक पढ़ें तो पता लगेगा कि बृहदारण्यक के पाठ में विज्ञान शब्द है और शतपथ में आत्मा पाठ है। इसके अतिरिक्त सब पाठ समान ही है और स्वामी शंकराचार्यजी अपने वेदान्तभाष्य में लिखते हैं कि विज्ञान और आत्मा शब्द का अर्थ एक ही है--

शरीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते॥ --वे० भा० १।२।२०

काण्व और माध्यन्दिन दोनों ही शाखावाले अन्तर्यामी-भेद से इस जीव को समानरूप से ही पढ़ते हैं। काण्व शाखावाले **'यो विज्ञाने तिष्ठन्'** ऐसा पाठ पढ़ते हैं और माध्यन्दिनवाले **'य आत्मनि तिष्ठन्'** ऐसा पाठ पढ़ते हैं, परन्तु दोनों में 'आत्मा' भी जीव का ही बोधक है और 'विज्ञान' भी। दोनों का एक ही अर्थ है, केवल आत्मा और विज्ञान दो शब्दों का भेद है, अर्थ का नहीं।

अब कहिए, जब दोनों ही पाठों का एक ही अर्थ है और इस बात को स्वामी शंकराचार्यजी ने स्पष्ट कर दिया है तो इसमें आक्षेप-योग्य कोई बात शेष नहीं रहनी चाहिए। कोई पाठ किसी पुस्तक के नाम से लिखा जाए, अर्थ एक ही है तो पुस्तक के नाम-भेद से कोई दोष नहीं आता।

पोपजी--कतरे हुए वेदमन्त्र नियोग-प्रकरण में दिखाये जाएँगे।

तोपजी--हम भी आपके झूठ की पोल वहीं पर खोलकर दिखाएँगे।

पोपजी--ठीक ही लाला मनसारामजी ने स्वामीजी के मिशन के अनुसार काम करके अपनी गुरुभक्ति और आर्यसमाज की शिक्षा का पूरा-पूरा प्रमाण दिया है।

तोपजी--इसमें क्या सन्देह है! जैसे ऋषि दयानन्दजी महाराज सत्यप्रेमी और सत्यवक्ता थे, वैसे ही प्रत्येक आर्यसमाजी को होना चाहिए और पुराणों के अन्धकार को मिटाकर वैदिक धर्म का मार्ग बताना प्रत्येक आर्य का धर्म है।

पोपजी--पुराण वेदों के व्याख्या-ग्रन्थ होने से वेदों के अनुसार हैं।

तोपजी--वेदों पर दया करो और पुराणों को वेदों की व्याख्या बताकर उन्हें (वेदों को) कलङ्कित मत करो। पहले पौराणिक भाष्यकार महीधर और सायणाचार्य ने ही वेदों को पर्याप्त बदनाम कर दिया है। कुछ परमात्मा से भय करो, क्यों झूठ बोलने पर कमर बाँध रक्खी है? भला! कोई भी बुद्धिमान् पुराणों को वेदों की व्याख्या स्वीकार कर सकता है? वेदों के व्याख्या-ग्रन्थ तो ११२७ शाखा-ग्रन्थ हैं, जिनमें वेदमन्त्रों की प्रतीकें देकर उनकी व्याख्या की गयी है। क्या आप ऐसा कोई प्रमाण दे सकते हैं कि भागवत आदि अष्टादश पुराण भी ११२७ शाखाओं में सम्मिलित हैं? अथवा आप बता सकते हैं कि पुराणों में वेद के मन्त्रों की कौन-सी प्रतीकें देकर व्याख्या की गयी है? और क्या आप बतला सकते हैं कि चीरहरण-लीला, कुब्जा-समागम, गोमांस-भक्षण, मद्यपान, पोती को देखकर ब्रह्मा का वीर्यपात होना, महादेव का लिंग हाथ में लेकर ऋषि-पत्नियों में जाना, महादेव का वेश्यागमन, ब्रह्मा का पुत्री से, विष्णु का माँ से, महादेव का बहिन से, सूर्य का भतीजी से विवाह आदि पौराणिक लेख वेद के किन मन्त्रों की व्याख्या हैं? फिर यूँ ही जनता को धोखा देने के लिए पुराणों को वेदों के व्याख्या-ग्रन्थ बतलाना जनता की अज्ञानता से अनुचित लाभ उठाना नहीं तो क्या है?

पोपजी--पुराण वेदों की भाँति भगवान् के ही निःश्वास हैं और इन्हें वेदों के साथ ही ईश्वर ने प्रकट किया था।

तोपजी--आपकी अवस्था भी विचित्र और दया करने योग्य है। आप अभी तो बता रहे थे कि "पुराण वेदों के व्याख्या-ग्रन्थ हैं और वेदों में जो कठिन विषय समाधि द्वारा जानने योग्य थे, उन्हें ही भगवान् वेदव्यास ने पृथक्-पृथक् भागों में और पृथक्-पृथक् भाषाओं में कई प्रकार की कथाओं और अलङ्कारों के द्वारा विस्तार से पुराणों में लिखा है। संक्षेप में वेदों में बीजरूप से कही हुई बातों को विस्तारपूर्वक वर्णन करनेवाले यदि कोई ग्रन्थ हैं तो वे पुराण हैं।" और अब आप ये बता रहे हैं कि पुराण भी वेदों की भाँति स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं और वे भी भगवान् के निःश्वास हैं और वे भी वेदों के साथ ही ईश्वर ने प्रकट किये हैं--इन दोनों बातों में से कौन-सी ठीक और कौन-सी ग़लत है? कृपा करके चित्त को एकाग्र करके एक सिद्धान्त निश्चित करें, अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि 'दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम।'

पोपजी--अथर्ववेद काण्ड ११, मन्त्र २४ से स्पष्ट प्रकट होता है कि सबके अन्त में शेष रहनेवाले ईश्वर से ऋग्वेद, छन्द और पुराण यजुर्वेद के साथ ही प्रकट हुए।

तोपजी--प्रमाण तो आपने अथर्ववेद का दे दिया, परन्तु कभी अथर्ववेद को खोलकर देखा भी है? हमारे विचार से तो आपने किसी से सुन-सुनाके लिख मारा, अन्यथा क्या अथर्ववेद का प्रमाण इस प्रकार से लिखा जाता है, जैसे आपने लिखा है? अथर्ववेद के काण्ड ११ में पाँच अनुवाक हैं और दस सूक्त हैं। आपने केवल काण्ड और मन्त्र लिख दिया। यह तो बताया होता कि कौन-से अनुवाक और कौन-से सूक्त का यह मन्त्र है। लीजिए, हम आपको पूरा प्रमाण लिखना बताते हैं। अथर्ववेद काण्ड ११, अनुवाक ४, सूक्त

७, मन्त्र २४—पूरा पता लिखने की विधि यह है। अच्छा! भला, यह तो बतलाइए इस वेदमन्त्र को प्रस्तुत करने से आपका अभिप्राय क्या है? कदाचित् पुराण शब्द को देखकर आपके मुख में पानी भर आया होगा और भागवत आदि अष्टादश पुराणों को वेदोक्त सिद्ध करने की सूझी होगी, जोकि असम्भव बात है।

यदि कोई शराबी अपना नाम राम रख ले और अपने मांसाहारी साथी का नाम लक्ष्मण रख ले और वे दोनों व्यक्ति एक रण्डी को घर में रखकर उसका नाम सीता रखकर लोगों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न करें कि वाल्मीकि रामायण में महर्षि वाल्मीकि ने हमारा ही वर्णन किया है—जैसे यह प्रयत्न करना अज्ञानता और धोखा देना है, ऐसे ही वेदों में पुराण शब्द देकर नवीन कपोलकल्पित भागवत आदि को वेदोक्त सिद्ध करने का प्रयत्न करना मूर्खता और जनता को धोखा देना है।

पोपजी! सुनिए और कान खोलकर सुनिए। पुराण शब्द जहाँ कहीं भी वेदों में आता है, वहाँ विशेषण के रूप में आता है, विशेष्य के रूप में नहीं। देखिए, निरुक्त अध्याय ३, पाद ४, खण्ड १९ में पुराण शब्द का अर्थ पुराना लिखा है। इसी प्रकार अथर्ववेद (१८।३।१) में **'धर्मं पुराणमनु पालयन्ति'**—'पुराने धर्म का पालन करती हुई' यहाँ पर पुराण शब्द धर्म का विशेषण है। अमरकोश तृतीय काण्ड, वर्ग १ श्लोक ७७ में पुराण का अर्थ पुराना लिखा है और १।६।५ में भी पुराण भागवत आदि का नाम नहीं है। गीता अध्याय २, श्लोक २० में **'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः'**—'यह जीव अजन्मा, सदा रहनेवाला और पुराना है'—यहाँ भी पुराण शब्द जीव का विशेषण है। तात्पर्य यह कि पुराण विशेषण है। जब तक इसे किसी विशेष्य के साथ न लगाया जाए तब तक यह अकेला कोई अर्थ नहीं रखता।

वेदमन्त्र में भी पुराण शब्द छन्द शब्द के विशेषण के रूप में आया है, अतः इस वेदमन्त्र का अर्थ यह हुआ कि "सबके अन्त में शेष रहनेवाले परमात्मा से ज्ञान, उपासना और पुराण अर्थात् संसार की उत्पत्ति का वर्णन करनेवाले मन्त्र कर्मकाण्ड के मन्त्रों के साथ ही प्रकट हुए।" इस मन्त्र का भावार्थ यह है कि चारों वेदों में जहाँ ज्ञान, कर्म और उपासना का वर्णन करनेवाले मन्त्र हैं, वहाँ पुरानी अवस्था अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करनेवाले मन्त्र भी हैं। इसलिए इस वेदमन्त्र में आये हुए पुराण शब्द से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करनेवाले वेदमन्त्रों का ग्रहण होता है, न कि कपोलकल्पित नवीन भागवत आदि अष्टादश पुराणों का।

पोपजी—अथर्ववेद काण्ड १५, मन्त्र १२ में इतिहास, पुराण और नाराशंसी आदि नामों का वर्णन है।

तोपजी—मन्त्र का पूरा पता फिर नहीं दिया। अथर्ववेद के पन्द्रहवें काण्ड में दो अनुवाक हैं और अठारह सूक्त हैं। आपको यह लिखना चाहिए था कि यह मन्त्र पन्द्रहवें काण्ड के कौन-से अनुवाक और कौन-से सूक्त का है। प्रतीत होता है या तो आपने अथर्ववेद के दर्शन ही नहीं किये अथवा लोगों को धोखा देना ही परमधर्म मान रक्खा है। देखिए, यह मन्त्र अथर्ववेद काण्ड पन्द्रह, अनुवाक प्रथम, सूक्त छह का बारहवाँ मन्त्र है, जिसका अर्थ है—"पुराने इतिहास, गाथा और नाराशंसी आदि विद्याओं का भी वही परमात्मा धाम अर्थात् आश्रय है।" इस मन्त्र में भी पुराण शब्द इतिहास शब्द का विशेषण है और इस वेदमन्त्र में यह कहा गया है कि पुराने इतिहास अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन

करनेवाले वेदमन्त्रों का आश्रय भी परमात्मा ही है। बताइए, इस वेदमन्त्र में भागवत आदि अष्टादश पुराणों का वर्णन कहाँ है? आपके सिर पर विचित्र पागलपन सवार हुआ है, जो आप वेदमन्त्रों में आये हुए विशेषण शब्द पुराण से कपोलकल्पित नवीन भागवत आदि अष्टादश पुराणों के अस्तित्व को प्राचीन सिद्ध करने के पीछे पड़े हुए हैं। परमात्मा आपको सद्बुद्धि प्रदान करे!

पोपजी--बृहदारण्यक उपनिषद् अध्याय ४, खण्ड ९ में चारों वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, इतिहास, पुराणों को ईश्वर का निःश्वास माना है।

तोपजी--हम चकित हैं कि सनातनधर्म के पण्डित इतना दायित्वहीन कार्य क्यों करते हैं? उपर्युक्त दोनों अथर्ववेद के मन्त्रों के पते देने में ग़लती खाई। अब बृहदारण्यक का पता भी अत्यन्त अशुद्ध दिया है। ऊपर का पाठ प्रथम तो चौथे की बजाय दूसरे अध्याय में है। दूसरे, बृहदारण्यक उपनिषद् के अध्यायों में खण्डों का नाम भी नहीं, अपितु ब्राह्मण हैं और वह भी नौ की बजाय चौथे ब्राह्मण में यह पाठ है, और फिर मन्त्र की संख्या भी पोपजी ने नहीं दी। मूलपाठ का पता इस प्रकार है--बृहदारण्यक उपनिषद् अध्याय २, ब्राह्मण ४, मन्त्र १०। अब पता ठीक बताया तो पाठ में भी पोपजी ने 'ब्राह्मणग्रन्थ' शब्द तो अपनी ओर से जोड़ दिया और 'विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र और व्याख्यान'--इतने शब्दों को पाठ में से हड़प ही कर गये। भला! इतनी बेईमानी से काम लिया जाए वहाँ धर्म कहाँ? लीजिए, हम मूल पाठ देते हैं--"परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र और व्याख्यान प्रकाशित अर्थात् प्रकट हुए हैं।" इस पाठ में विद्या शब्द स्पष्ट पड़ा हुआ है जिससे स्पष्ट प्रकट होता है कि उपनिषद् ने इस बात का वर्णन किया है कि इन सारी विद्याओं का प्रकाश परमात्मा ने चारों वेदों के द्वारा किया है। इस प्रमाण में भी पुराण शब्द इतिहास का विशेषण है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि परमात्मा ने जहाँ और विद्याओं का प्रकाश किया है, वहाँ पुराने इतिहास अर्थात् संसार की उत्पत्ति के इतिहास का भी विस्तार से वर्णन किया है। अब भला बताइए, इस पाठ में से कपोलकल्पित भागवत आदि अष्टादश पुराणों की सिद्धि कैसे हो सकती है?

पोपजी--गोपथब्राह्मण में लिखा है कि ईश्वर ने वेदों के मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग, उपनिषद्, निरुक्त, कल्प, इतिहास और पुराण आदि को एक-साथ ही प्रकट किया।

तोपजी--या बेईमानी तेरा ही आश्रय! प्रथम तीनों प्रमाणों में तो आपने पते अशुद्ध लिखे और कुछ शब्द भी अपनी ओर से मिलाये। चौथे प्रमाण में पता ही लुप्त है, केवल ग्रन्थ का नाम लिखकर ही प्रमाण दे दिया गया है। अब न जाने पोपजी ने इस प्रमाण में कितनी हेरा-फेरी की होगी, परन्तु फिर भी पोपजी का प्रयोजन सिद्ध होता दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य यह स्वीकार नहीं कर सकता कि वेदों के साथ ईश्वर ने ब्राह्मणभाग, अर्थात् शतपथ, गोपथ, सामविधान और ऐतरेय तथा वर्त्तमान गुटके में विद्यमान १०८ उपनिषद् और वर्त्तमान यास्कमुनिकृत निरुक्त तथा कल्प अर्थात् पराशर, गोभिल, आश्वलायन आदि गृह्यसूत्र और इतिहास--रामायण, महाभारत आदि तथा पुराण--भागवत आदि ये सब चारों वेदों के साथ ही प्रकट हुए। वस्तुतः यही मानना ठीक है कि परमात्मा ने चारों वेदों के साथ ब्राह्मण, उपनिषद, निरुक्त, कल्प, इतिहास, पुराण आदि विद्याओं के सिद्धान्तों को प्रकट किया। इस प्रमाण में भी पुराण शब्द इतिहास शब्द के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है जिसके अर्थ स्पष्ट हैं--पुराण-इतिहास, अर्थात् सृष्टि

की उत्पत्ति का वर्णन करनेवाले मन्त्र। इस प्रमाण से भी कपोलकल्पित भागवत आदि अष्टादश पुराणों का अस्तित्व प्राचीन सिद्ध नहीं हो सकता।

पोपजी--जब वेद पुराणों को नित्य और अनादि ईश्वर-निर्मित बतलाते हैं तो इन्हें नये और अप्रामाणिक मानना वेद के आदेश से ही इन्कार करना है।

तोपजी--प्रथम तो ऊपर के चारों प्रमाणों को वेद का बताना जनता को धोखा देना है, क्योंकि इनमें से पहले दो तो अथर्ववेद के हैं, तीसरा बृहदारण्यक उपनिषद् का है और चौथा गोपथ के नाम से दिया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् और गोपथ को वेद बतलाना सचमुच वीरता है। रहा इन प्रमाणों से भागवत आदि अष्टादश पुराणों को ईश्वरकृत सिद्ध करना, वह ऐसा ही असम्भव है जैसाकि पुराणों की शिक्षा का विद्या, बुद्धि और सदाचार के अनुकूल सिद्ध होना, क्योंकि उपर्युक्त मन्त्रों का आशय यह है कि "परमेश्वर ने चारों वेदों के साथ ही छन्द, पुराण, इतिहास, गाथा, नाराशंसी, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र और व्याख्यान, निरुक्त, कल्प आदि को प्रकट किया।" अब यदि इनसे पुस्तकें ग्रहण की जाएँ तो इसके अर्थ ये होंगे कि संस्कृत की एक भी पुस्तक ऐसी नहीं जो मनुष्यकृत हो, अपितु सारी ही पुस्तकें ईश्वरकृत हैं, क्योंकि जो भी पुस्तक श्लोकों, सूत्रों, मन्त्रों, व्याख्यान अर्थात् गद्य में हो वे सब-की-सब ईश्वरकृत हैं। इसलिए उल्लिखित सन्दर्भ से पुस्तकों का तात्पर्य नहीं है, अपितु इस प्रमाण में ही विद्या शब्द पड़ा हुआ है, इसलिए इस लेख का तात्पर्य स्पष्ट है कि परमात्मा से उल्लिखित विद्याएँ वेदों के द्वारा प्रकट हुईं। इस प्रमाण में पुराण शब्द इतिहास का विशेषण है, अर्थात् पुराने इतिहास का ज्ञान भी परमात्मा से प्रकट हुआ। वेदों के प्रकट होने के समय पुरातन इतिहास वही हो सकता है। इसलिए पुराण, इतिहास का स्पष्ट तात्पर्य यही है कि और विद्याओं के साथ-साथ, परमेश्वर ने पुराण इतिहास अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करने की विद्या भी प्रकट की, न कि मांस-भक्षण, मद्यपान, व्यभिचार, जुआ-बाजी आदि की शिक्षा देनेवाले कपोलकल्पित भागवत आदि अष्टादश पुराणों को प्रकट किया। पुराण न ईश्वर-निर्मित हैं और न ही नित्य हैं, अपितु वेदविरुद्ध, पोप-निर्मित अप्रामाणिक पुस्तकें हैं।

पोपजी--महर्षि वेदव्यासजी ने जिस प्रकार वेदों के काण्ड, सूक्त, अध्याय, मन्त्र आदि के विभाग किये, उसी प्रकार महर्षि वेदव्यासजी ने ईश्वर-निर्मित अनादि पुराणों को सूक्ष्म रूप से बिखरे हुए जानकर विस्तार से अठारह पुस्तकों के रूप में विभक्त किया था।

तोपजी--वेदव्यासजी ने न तो वेदों के काण्ड, सूक्त, अध्याय, मन्त्र आदि विभागों को बनाया है और न ही भागवत आदि अष्टादश पुराणों को सूक्ष्म रूप से विस्तारपूर्वक बनाया है, अपितु पोपजी ने यह अपने घर का गपोड़ा बनाया है, क्योंकि ऋग्यजुः, साम और अथर्व-चारों वेद जिस रूप में सृष्टि के आरम्भ में विद्यमान थे, ठीक उसी रूप में आज भी विद्यमान हैं। इनके काण्ड, सूक्त, अध्याय, मण्डल आदि सब विभाग भी ईश्वरकृत ही हैं और वेदव्यासजी से पूर्व भी इनके काण्ड, सूक्त, मण्डल, अध्याय आदि विभाग विद्यमान थे। रहा पुराणों का प्रश्न? वेदव्यासजी के बनाये हुए वेदान्तदर्शन और योगदर्शन के भाष्य को देखकर पता लगता है कि व्यासजी महाराज विद्वान्, सत्यप्रेमी, सदाचारी और योगी थे। मद्यपान, मांसभक्षण और दुराचार की शिक्षा देनेवाले भागवत आदि अष्टादश पुराण व्यासजी के बनाये हुए नहीं हो सकते, अपितु ये तो किन्हीं वाममार्गी, बदमाश, धूर्त, दुराचारी और पामर लोगों के बनाये हुए प्रतीत होते हैं।

पोपजी—महाभूतों की सृष्टि, चराचर की सृष्टि, वंशावली, मन्वन्तरों का वर्णन, महापुरुषों का वर्णन करना—ये पाँच पुराणों के लक्षण हैं।

तोपजी—इन लक्षणों को मानकर भी भागवत आदि अष्टादश पुराण इन लक्षणों के अनुसार ठीक नहीं उतरते। महाभूतों की सृष्टि में पुराणों का बड़ा भारी मतभेद है। कहीं शिव से सृष्टि को माना है, कहीं कृष्ण से, कहीं देवी से तो कहीं ब्रह्मा से और आपस में एक-दूसरे की निन्दा भी की गयी है। चराचर की सृष्टि तो पुराणों में अद्भुत एवं विचित्र है। कहीं पशुओं से मनुष्यों की उत्पत्ति और कहीं मनुष्यों से पशुओं की उत्पत्ति कथन की है। कहीं वृक्षों से मनुष्यों की और कहीं मनुष्यों से धातुओं की उत्पत्ति का वर्णन है। तात्पर्य यह कि पुराणें में चराचर की सृष्टि का वर्णन सृष्टि-नियम के विरुद्ध, असम्भव और बेहूदा ढंग से किया गया है। वंशावलियों का तो कहना की क्या है? वे ऐसे बेढंगे रूप से लिखी गयी हैं कि पढ़नेवाला किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँच सकता। मन्वन्तरों का तो कहीं पता ही नहीं लगता। रह गया महापुरुषों के इतिहास का वर्णन, इसमें तो इतनी गन्दगी बिखेरी गयी है कि कोई ऋषि, कोई मुनि और कोई देवता, यहाँ तक कि राम और कृष्ण को भी मांसभक्षण, मद्यपान और दुराचार आदि के दोष लगाये बिना नहीं छोड़ा गया, अतः उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार भागवत आदि अठारह पुस्तकें पुराण कहलाने योग्य नहीं ठहराई जा सकतीं। इन लक्षणों के अनुसार यदि किन्हीं पुस्तकों को पुराण का स्थान दिया जा सकता है तो वे शतपथ, गोपथ, सामविधान और ऐतरेय—चार ब्राह्मणग्रन्थ हैं और बस।

पोपजी—इन पाँचों लक्षणों का ज्ञान हम पुराण के बिना किसी भी ग्रन्थ से प्राप्त नहीं कर सकते। संसार का कोई मत सृष्टि की उत्पत्ति का पूर्ण उत्तर नहीं दे सकता। आर्यसमाजी भी इन विषयों के सम्बन्ध में मौन धारण कर लेते हैं।

तोपजी—हमने यह सिद्ध कर दिया है कि इन पाँचों लक्षणों के अनुसार भागवत आदि अष्टादश पुस्तकें किसी भी रूप में पुराण कहलाने के योग्य नहीं हैं। इन पाँचों बातों का ठीक ढंग से प्रतिपादन यदि कहीं मिल सकता है तो ब्राह्मणग्रन्थों में ही मिल सकता है और वे ही पुराण कहलाने के योग्य हैं। संसार के अन्य मतों के सम्बन्ध में सम्भव है पोपजी की सम्मति ठीक हो। हमारे विचार में तो सृष्टि की उत्पत्ति का पूर्ण वर्णन भागवत आदि पुराण भी नहीं कर सकते। सृष्टि-उत्पत्ति का पूर्ण उत्तर यदि कोई दे सकता है तो वह वैदिक धर्म है। वेदों में सृष्ट्युत्पत्ति का पूर्ण उत्तर मिल जाता है। आवश्यकता हो तो सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का सृष्ट्युत्पत्तिप्रकरण ध्यानपूर्वक पढ़ें।

पोपजी—जो सज्जन पुराणों में महात्मा बुद्धदेव, विष्णु सम्प्रदाय और सेतुबन्ध रामेश्वर आदि इतिहासों को देखकर पुराणों को इनके पश्चात् बने हुए जानते हैं, यह उनकी भूल है।

तोपजी—यह उनकी भूल नहीं है, अपितु उनका विचार सत्य है, क्योंकि किसी व्यक्ति की जीवन-घटनाएँ उसी पुस्तक में लिखी जा सकती हैं, जो पुस्तक उस व्यक्ति के जन्म के पश्चात् लिखी गयी हो।

पोपजी—त्रिकालदर्शी महर्षि व्यासजी ने तीनों कालों की बातों का पहले वर्णन कर दिया है जैसाकि भविष्यपुराण और कल्किपुराण में आगे होनेवाली बातों का वर्णन मिलता है।

तोपजी—क्योंकि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है और किसी कार्य को करने या न

करने के सम्बन्ध में अपने विचार को बदल सकता है, इसलिए उसे अपने जीवन में जो कार्य करने हैं वे निश्चित नहीं है। इसलिए जिन कार्यों को करने का अभी व्यक्ति के हृदय में विचार भी उत्पन्न नहीं हुआ, उसे तो ईश्वर भी नहीं जान सकता, मनुष्य की तो हस्ती ही क्या है? इसलिए भविष्यपुराण और कल्किपुराण में जो हजरत आदम, नूह, मूसा, ईसा और मुहम्मद साहब को ही नहीं, अपितु अकबर और औरंगजेब तक को भी अवतार माना गया है और गदर (स्वतन्त्रता-संग्राम) तक की घटनाएँ हैं तथा महारानी विक्टोरिया और कलकत्ते के डिप्टी कमिश्नर तक के जीवन-वृत्तान्त मिलते हैं, यह व्यासजी के योगबल का परिणाम नहीं अपितु पोपजी की माया है कि दक्षिणा के बदले में आवश्यकता के अनुसार श्लोक बना-बनाकर पुस्तकों में प्रविष्ट किये जाते रहे। यदि यह बात नहीं तो व्यासजी ने पुराणों में स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज का वर्णन क्यों नहीं किया? महात्मा गांधी, कांग्रेस और नॉन-कोऑपरेशन (असहयोग आन्दोलन) आदि का उल्लेख क्यों नहीं किया? लॉर्ड हार्डिंग पर बम्बकेस और साण्डर्स का वध, जलियाँवाला बाग, गुरु का बाग और कश्मीर का गदर आदि प्रसिद्ध घटनाओं का पुराणों में वर्णन क्यों नहीं है? इसलिए किसी के जन्म से पूर्व उसके द्वारा होनेवाले कार्यों का ज्ञान होना विद्या, बुद्धि और घटनाओं के विरुद्ध होने से स्वीकार करने के योग्य ही नहीं है।

पोपजी—जबकि वेदों में भी यम-यमी, देवाली, और इन्द्र-वृत्रासुर-संग्राम का इतिहास आर्यसमाज के योग्य विद्वान् भी मानते हैं, तो फिर वेदों को भी उनके बाद का बनाया हुआ मानना पड़ेगा।

तोपजी—'वेदों में किन्हीं भी मनुष्यों का इतिहास नहीं है'—आर्यसमाज का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है। आर्यसमाज में रहते हुए भी यदि कोई वेदों में इतिहास मानता है तो वह भी विश्वासघाती, पामर और पोप है। वे आर्यसमाज के योग्य विद्वान् कहलाने योग्य नहीं। हाँ, वेद में प्रकृति के दृश्यों का वर्णन तो विद्यमान है जिनको यदि इतिहास कहा जाए तो कोई आपत्तिजनक बात नहीं है, और आपने जो यम-यमी की बात लिखी है वहाँ 'यम' नाम धर्मशास्त्र के अनुकूल आचरण करनेवाले पुरुष का है और 'यमी' नाम वेद के अनुसार आचरण करनेवाली स्त्री का है। यदि इनके सम्बन्ध में वेद में कोई वर्णन है तो वह सैद्धान्तिक बात का वर्णन करने के लिए है, किसी विशेष पुरुष या स्त्री के जीवन का वृत्तान्त नहीं है। 'देवाली' चारों वेदों में कोई शब्द ही नहीं है। आपने पता नहीं कहाँ से लिख दिया। हाँ, यदि आपका तात्पर्य 'देवापि' से हो तो दूसरी बात है। वेदों में 'अहि' और वृत्रासुर नाम बादलों का है और इनका देव या इन्द्र अर्थात् सूर्य के साथ युद्ध एक प्राकृतिक दृश्य है, जिसका वेद में वर्णन है। यहाँ पर किन्हीं विशेष मनुष्यों के युद्ध का वर्णन नहीं है। आवश्यकता हो तो निरुक्त उठाकर देख लीजिए। इस प्रकार वेदों में न तो किन्हीं मनुष्यों का इतिहास है, न ही वेदों को उनके पश्चात् बना हुआ मानने की आवश्यकता है।

पोपजी—यदि बुद्ध आदि का पुराण में वर्णन होने से पुराण बुद्ध आदि के बाद के बनाये हुए माने जाएँ, तो चूँकि वेदों में भी पुराणों, श्रीकृष्ण, भगवान् राम, रावण, वामन, कंस आदि का वर्णन होने से वेदों को भी रावण आदि के बाद में बने हुए मानना पड़ेगा।

तोपजी—वेदों में न तो भागवत आदि पुराणों का वर्णन है और न ही वसुदेव के पुत्र कृष्ण तथा दशरथ के पुत्र राम तथा सीता का हरण करनेवाले रावण और पौराणिकों के अवतार वामन तथा कृष्ण के मामा कंस का वर्णन है। वेद में सारे शब्द यौगिक हैं, जिनके

अर्थ धातुओं के अनुसार लिखे जाते हैं। वेद में उपर्युक्त व्यक्तियों का वर्णन नहीं है, अपितु वेदों में से शब्द लेकर उन व्यक्तियों के नाम रक्खे गये हैं। यदि आज मैं वेदों को देखकर अपनु पुत्रों के नाम इन्द्र, शिव और ब्रह्मा आदि रख लूँ तो इसका यह अर्थ नहीं कि वेद मेरे पुत्रों के पश्चात् बने, अपितु इसका अर्थ यह है कि मैंने अपने पुत्रों के नाम वेदों को देखकर रक्खे हैं। इसी प्रकार उपर्युक्त नामों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

देखिए, वेदों में पुराण नाम पुराने का है। भागवत आदि पुराणों के बनानेवालों ने अपनी पुस्तकों को प्राचीन सिद्ध करने के लिए अपनी पुस्तकों का नाम पुराण रख लिया। वेदों में कृष्ण नाम काले पदार्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है। वसुदेव ने अपने पुत्र का रंग काला देखकर उसका नाम कृष्ण रख दिया। वेदों में राम नाम अन्धकार के अर्थ में आया है, क्योंकि राम का रंग भी अन्धकार की भाँति साँवला ही था, इसलिए दशरथ ने अपने पुत्र का नाम राम रख दिया। वेदों में रावण नाम डरावने अर्थों में आता है। रावण के पिता ने अपने पुत्र की डरावनी आकृति देखकर उसका नाम रावण रख दिया। वामन नाम वेदों में प्रत्येक प्रकार से छोटे अर्थात् ठिँगने का आता है, अतः लोगों ने जिनको ठिगना देखा, उन्हें वामन कहना आरम्भ कर दिया। वेदों में 'कंस' शब्द तो कहीं भी नहीं है। हाँ, बहुवचन में 'कंसाः' आता है, जिसका अर्थ है—'कड़ा शासन करनेवाले'। उग्रसेन के पुत्र की शासन में कठोरता देखकर लोगों ने उसे कंस कहना आरम्भ कर दिया।

हमारे इस सारे लेख का तात्पर्य यह है कि ये सब नाम लोगों ने वेदों में से देखकर रख लिये हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वेद इनके पश्चात् बने, अपितु वेदों में से देखकर इन लोगों ने उचित नाम रख लिये हैं। इसलिए वेदों में न तो किसी व्यक्ति का इतिहास है और न ही वेदों को किसी के जन्म के पश्चात् बना हुआ मानने की आवश्यकता है। हाँ, पुराणों के सम्बन्ध में क्योंकि आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि इनमें महात्मा बुद्धदेव आदि का इतिहास लिखा हुआ है, अतः इनके सम्बन्ध में प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भागवत आदि पुराण महात्मा बुद्धदेव आदि के जन्म के पश्चात् ही बनाये गये हैं।

पोपजी—जबकि हम एक वर्ष पूर्व ही आगे होनेवाले सूर्य और चन्द्रग्रहण का वर्णन तिथि-पत्रे में देखकर तथा विज्ञान और तर्क-शास्त्र के द्वारा आगे होनेवाली घटनाओं का ज्ञान कर लेते हैं तो त्रिकालदर्शी महर्षि व्यासजी के सम्बन्ध में आशंका करना सरासर अन्याय है।

तोपजी—जो बातें व्यवस्था के अनुसार नियमपूर्वक होनेवाली हैं, उनका एक वर्ष क्या सौ वर्ष पूर्व जान लेना भी ठीक है। उदाहरण के रूप में चाँद, सूर्य, पृथिवी और सितारों की नियमित गति से दिन-रात, तिथि, वार और सूर्य-चन्द्रग्रहण आदि घटित होते हैं, अतः इनके सम्बन्ध में सौ वर्ष पूर्व भी ज्ञान हो सकता है और कारण को जानकर कार्य का ज्ञान होना ठीक भी है। विज्ञान और तर्कशास्त्र किन्हीं कारणों के आधार पर आगे होनेवाली घटनाओं का अनुमान करते हैं जो प्रायः सत्य होती हैं, परन्तु आज से आठवें दिन बारह बजकर एक मिनट पर मैं क्या करूँगा, इसे तो ईश्वर भी नहीं जानता, क्योंकि मैं कर्म करने में स्वतन्त्र हूँ। जिस कार्य को करने का विचार भी मेरे हृदय में उत्पन्न नहीं हुआ, उसके सम्बन्ध में ईश्वर भी वैसा ही जानता है; और जब किसी कार्य को करने का विचार मेरे हृदय में उत्पन्न होता है, तो ईश्वर को उसका तुरन्त ज्ञान हो जाता है, परन्तु मैं आज से

आठवें दिन बारह बजकर एक मिनट पर क्या करूँगा, इसका ज्ञान ईश्वर को भी नहीं। हाँ, ईश्वर मौलिक रूप से यह जानता है कि मनुष्य क्या-कुछ कर सकता है। जीव जैसा कर्म करता है ईश्वर वैसा फल देता है। यदि आप यह मान लें कि 'आज से आठवें दिन बारह बजकर एक मिनट पर मैं क्या करूँगा' इसे ईश्वर जानता है तो फिर यह बताएँ कि यदि मैं चाहूँ तो इस कार्य को करने के सम्बन्ध में अपने विचार को बदल सकता हूँ अथवा नहीं? यदि कहो कि मैं कर्म करने में स्वतन्त्र होने के कारण इस काम को करने के विचार को बदल सकता हूँ तो फिर ईश्वर का ज्ञान ग़लत हो जाएगा और वह ईश्वर ईश्वर कहलाने के योग्य नहीं रहेगा। यदि आप कहो कि मैं अपने विचार को बदल नहीं सकता तो मैं इस काम को करने में विवश हो गया, और जो काम विवशता से किया जाएगा उसके फल का उत्तरदायी मैं क्यों? इस कर्म का फल ईश्वर को ही भुगतना चाहिए, क्योंकि मैं ईश्वर के ज्ञान को ठीक सिद्ध करने के लिए अपने विचार को बदल नहीं सकता। इस प्रकार 'मैं आज से आठवें दिन बारह बजकर एक मिनट पर क्या करूँगा' जब इस बात का ईश्वर को पता नहीं है तो फिर 'सारे संसार के इतिहास को सहस्रों वर्ष पूर्व व्यासजी ने लिखकर रख दिया' इसे कैसे माना जा सकता है?

देखिए 'भोज-प्रबन्ध' में क्या लिखा है? जब राजा मुञ्ज ने एक ज्योतिषी को बहाना बनाकर वत्सराज को आज्ञा दी कि भोज को पाठशाला से बाहर ले-जाकर उसका वध कर दो तो बुद्धिमान् मन्त्री ने इन ज्योतिषियों की भविष्यवाणी के सम्बन्ध में क्या युक्तियुक्त सम्मति दी है—

त्रैलोक्यनाथो रामोऽ स्ति वसिष्ठो ब्रह्मपुत्रकः। तेन राज्याभिषेके तु मुहूर्तः कथितोऽभवत्॥२०॥
तन्मुहूर्तेन रामोऽ पि वनं नीतोऽ वनिं विना। सीतापहारोऽ प्यभवद्विरञ्चिवचनं वृथा॥२१॥
जातः कोऽ यं नृपश्रेष्ठ किञ्चिज्ज उदरम्भरिः। यदुक्त्या मन्मथाकारं कुमारं हन्तुमिच्छसि॥२२॥

अर्थ—श्रीराम त्रिलोकी के स्वामी थे और वसिष्ठजी ब्रह्मा के पुत्र थे। उस ब्रह्मा के पुत्र वसिष्ठ ने त्रिलोकीनाथ राम के राजगद्दी पर बैठने का मुहूर्त निकाला। इसी मुहूर्त में राम पृथिवी का राज्य छोड़कर वन में चले गये। आगे चलकर सीता का हरण हुआ। वसिष्ठजी का कथन व्यर्थ ही गया। हे राजन्! जब ब्रह्मा के पुत्र वसिष्ठ को कल का भी पता न लगा तो इस मूर्ख तथा पेटू की बात मानने योग्य कैसे हो सकती है, जिसके कहने से आप कामदेव के समान सुन्दर कुमार को मारने के लिए तैयार हुए हो?

देखिए, क्या उत्तम तर्क है! यह निश्चित सिद्धान्त है कि जीवों द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक किये जानेवाले कार्यों का जब ईश्वर को भी ज्ञान नहीं हो सकता तो मनुष्यों की तो हस्ती ही क्या है? इसलिए पुराणों में जिन व्यक्तियों का वर्णन है, निश्चितरूप से पुराण उन लोगों के जन्म के पश्चात् ही बनाये गये हैं।

पोपजी—वास्तव में पुराण हिन्दूजाति के प्राण हैं।

तोपजी—ये भागवत आदि अष्टादश पुराण हिन्दूजाति के प्राण नहीं अपितु ये तो हिन्दूजाति की गर्दन पर तीव्र कुल्हाड़े हैं, जिनसे मौत के घाट उतारे जाकर जाति के नीलकण्ठ और खड्गसिंह जैसे लाखों लाल ईसाइयों और मुसलमानों में जाकर सम्मिलित हो गये।

पापेजी—मेरा यह दावा (घोषणा) है कि वेदों का पूर्ण ज्ञान हम पुराणों के बिना प्राप्त नहीं कर सकते।

तोपजी—वेदों के ज्ञान के लिए वेदों के छह अङ्ग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष; तथा छह उपांग हैं—न्याय, सांख्य, वैशेषिक, योग, वेदान्त और मीमांसा। इन्हीं से वेदों का ज्ञान होता है। भागवत आदि अष्टादश पुराणों से वेदों का ज्ञान होना ऐसे ही असम्भव है जैसे वन्ध्या के पुत्र के विवाह में मिठाई का खाना।

पोपजी—महर्षि व्यासजी ने पुराणों में वेदों की समस्त आज्ञाओं को दार्शनिक रूप में सिद्ध करके हिन्दुओं को इस ओर आकर्षित किया है।

तोपजी—व्यासजी का तो व्यर्थ में नाम बदनाम है। हाँ, यह ठीक है कि वाममार्गी, पामर लोगों ने अपने दोषों को उचित सिद्ध करने के लिए भागवत आदि अठारह पुराणों को रचा है, जिनमें वेदों के विरुद्ध मद्यपान, मांसाहार और व्यभिचार का भरपेट समर्थन किया गया है। अच्छा पोपजी! कृपा करके यह तो बतलाएँ कि ब्रह्मा का पोती को देखकर वीर्यपात होना और बृहस्पति का अपने भाई की गर्भवती स्त्री ममता के साथ बलात् मैथुन करते समय लड़के का बोलना—इनमें वेद की कौन-सी आज्ञाओं को दार्शनिक रूप से सिद्ध करके हिन्दुओं को इस ओर प्रवृत्त किया है?

पोपजी—हिन्दुओं की वीरता, न्याय-प्रियता, प्रभुता, शासन-पद्धति, कला-कौशल, दान और भक्ति की महिमा तथा पूर्वजों के चरित्रों का ज्ञान हम सिवाय पुराणों के कहीं से प्राप्त नहीं कर सकते।

तोपजी—भागवत आदि अठारह पुराणों से पूर्वजों के चरित्रों का जो ज्ञान और उनकी वीरता तथा न्यायप्रियता आदि गुणों का जो वर्णन इन पुराणों में मिलता है, उसे पढ़कर हिन्दूजाति दूसरों के समक्ष सिर ऊँचा करने के योग्य भी नहीं है, क्योंकि इस हिन्दूजाति को रसातल में ले-जाने का ठेका इन पुराणों ने ही ले-रक्खा है। हिन्दूजाति के लाखों लाल पुराणों की कुशिक्षा के कारण ईसाई और मुसलमान हो गये। अब जो बच रहे हैं उनपर दया करो। अपनी हठधर्मी छोड़ो और इस हिन्दूजाति को पुराणों के गढ़े से निकालकर जीवन का मार्ग दिखाओ। क्या मैं आशा करूँ कि आप सन्मार्ग पर आएँगे? कार्य कठिन है, विश्वास नहीं आता। क्योंकि—

है बीमार तो लेकिन बचने के क़ाबिल जो अपनी खता को खता मानता है।
वले ऐसे नादान का क्या ठिकाना कि जो मर्ज़ को ही दवा जानता है॥

पोपजी—पुराणों में समाधि भाषा जिसे आध्यात्मिक भाषा कहते हैं, दूसरी लोकभाषा और तीसरी परकीय भाषा का प्रयोग हुआ है।

तोपजी—आर्यसमाज के जन्मदिन से ही सनातनधर्म ने यह प्रयत्न किया है कि पुराणों के गन्दे और अशिष्ट वर्णन को अलङ्कार सिद्ध करके पुराणों को निष्कलंक सिद्ध किया जाए, परन्तु सनातनधर्म इसमें सफल नहीं हो सका। इसका प्रमाण यह है कि अठारह पुराणों में से एक पुराण की भी सनातनधर्म अपनी कल्पना के अनुसार टीका नहीं कर सका और कर भी कैसे सकता है जबकि पुराण इस दृष्टिकोण से लिखे ही नहीं गये? जिस दृष्टिकोण को सनातनधर्म प्रस्तुत करता है, यदि आपकी यह कल्पना भी पुराणों को निष्कलंक सिद्ध कर सके तो बधाई है, परन्तु हमें यह बेल सिरे चढ़ती दिखाई नहीं देती।

पोपजी—जिस भाषा के द्वारा महर्षि व्यासजी ने वेदों के तत्त्वों को समाधि के द्वारा शारीरक (जीवात्मा-सम्बन्धी या आध्यात्मिक) कथा को सांसारिक इतिहास बनाकर समझाया है, उसे समाधि-भाषा अथवा आध्यात्मिक भाषा कहते हैं।

तोपजी—आपकी यह कल्पना बिल्कुल निर्मूल है। चाहिए तो यह था कि वेद के गूढ़ तत्त्वों को समाधि के द्वारा जानकर उन्हें सरल भाषा में लिखकर लोगों के समझने योग्य बनाया जाता। इसके विपरीत आप लिख यह रहे हैं कि इन तत्त्वों को समाधि के द्वारा जानकर भी फिर अलङ्कारों के जाल में फँसा दिया गया तो भला! यह तो बताइए कि इससे व्यासजी ने उपकार क्या किया? कुएँ में से निकाला और गढ़े में गिरा दिया! और आपकी पूर्व-प्रतिज्ञा भी—"व्यासजी ने बीजरूप वेद की आज्ञाओं को पुराणों के द्वारा समझाकर हिन्दुओं को इस ओर आकर्षित किया है", सर्वथा झूठ सिद्ध होती है और आपके ग्रन्थ भी यही कह रहे हैं कि जिनकी समझ में वेद और शास्त्र न आ सकते थे, उनके लिए पुराण बनाये गये। देखिए अत्रिस्मृति श्लोक ३८१ में लिखा है—

"जो वेदों को नहीं समझ सकते वे शास्त्रों को पढ़ते हैं, और जो शास्त्रों को नहीं पढ़ सकते उनके लिए पुराण पढ़ने के योग्य हैं। जो पुराण भी नहीं पढ़ सकते वे खेती करने के योग्य हैं, और जो खेती करने के योग्य भी बुद्धि नहीं रखते, अपितु उनसे भी गिरे हुए हैं वे भागवत पढ़ते हैं।"[१]

इस लेख से पता लगता है कि भागवत आदि पुराण अत्यन्त अल्प बुद्धिवाले लोगों के लिए बनाये गये हैं। देखिए, इस बात की पुष्टि भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व अध्याय १, श्लोक ५४ तथा ५५ में की गयी है—

"मुनियों ने अठारह पुराण और रामचन्द्रजी का जीवन विशेषकर शूद्रों को पवित्र करने के लिए बनाये हैं।"[२]

अब बताइए कि पुराणों की सर्वसाधारण को समझ में आनेवाली कथाओं को फिर से अलङ्कारों के जाल में फँसाकर कठिन बनाना पोपलीला नहीं तो क्या है? परन्तु ध्यान रक्खो, इससे भी जान बचानी कठिन है।

पोपजी—समाधिभाषा अर्थात् आध्यात्मिक भाषा को समझाने के लिए श्रीमद्भागवत के चौथे स्कन्ध की एक कथा लिखी जाती है—

तोपजी—आपने स्कन्ध तो लिख दिया, परन्तु यह तो बताया होता कि यह कौन-से अध्याय की कथा है, जिससे आपकी चालाकी का लोगों को पता तो लग जाता कि ये लोग विशेष्य के गुणों (विशेषणों) को हड़प कर और कथा को तोड़-मरोड़कर जनता की आँखों में धूल झोंकते हैं। अस्तु, आप न लिखें, हम लिख देते हैं कि यह कथा भागवत के चौथे स्कन्ध में पच्चीसवें अध्याय के श्लोक नौ से आरम्भ होकर अध्याय अट्ठाइस के श्लोक-संख्या ६५ पर समाप्त होती है। वहाँ से कथा को पूरे रूप में पढ़कर पोपजी की कतर-ब्योंत का अवलोकन कीजिए।

---

१. मूल श्लोक इस प्रकार है—
वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं, शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठः।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति, भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥ —अत्रिसंहिता ३८४
—अष्टादश स्मृतयः, सस्ता साहित्य मण्डल, शामली (उ० प्र०)

२. पुराण का मूल पाठ निम्न है—
धर्मशास्त्राणि राजेन्द्र शृणु तानि नृपोत्तम। विशेषतश्च शूद्राणां पावनानि मनीषिभिः॥५४॥
अष्टादश पुराणानि चरितं राघवस्य च॥५५॥ —जगदीश्वरानन्द

पोपजी—पुरञ्जन से तात्पर्य जीवात्मा है।

तोपजी—वह कैसे? कोई कसौटी तो बताई होती? अथवा कथा में ही कोई संकेत बताया होता कि पुरञ्जन से जीवात्मा क्यों अभिप्रेत है? तनिक प्रकरण तो देखा होता! यहाँ तो नारदजी राजा प्राचीनबर्हि को उपदेश करते हैं कि—हे राजन्! तुमने दयाहीन होकर यज्ञ में सहस्त्रों पशुओं का वध किया है, वे सब आकाश में तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे कि कब तू मरे और कब वे अपने तीक्ष्ण सींगों से तेरी खबर लेवें (तुझे पाठ पढ़ाएँ), अतः इस कष्ट से बचने के लिए मैं तुझे राजा पुरञ्जन का प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ। देखिए भागवत (४।२५।९) क्या कहता है—

अत्र ते कथयिष्येऽ मुमितिहासं पुरातनम्। पुरञ्जनस्य चरितं निबोध गदतो मया॥

अर्थ—आपके लिए मैं पुरञ्जन राजा का वृत्तान्त, अर्थात् पुराना इतिहास कहूँगा। आप मेरे द्वारा कहे उस इतिहास को सावधान होकर सुनो।

अब बताइए, पुस्तक में तो राजा पुरञ्जन का पुराना इतिहास सुनाना लिखा है और आप अपनी मनमानी कल्पना से जीवात्मा अभिप्राय ले रहे हैं। यह जनता की अज्ञानता से अनुचित लाभ उठाना नहीं तो क्या है? और अलङ्कार मान लेने से इतिहास का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

पोपजी—वही जीवात्मा नौ द्वारोंवाले मनुष्य-शरीर में रहता है।

तोपजी—यदि पुस्तक में केवल 'नौ द्वारोंवाली नगरी' ही लिखा होता तो भी कदाचित् मानवशरीर की कल्पना सम्भव हो जाती, परन्तु वहाँ तो लिखा है कि "जिसके चारों ओर उद्यान लगे हुए थे, चारों ओर खाई खुदी हुई थी और जिसमें चौबारे और झरोखे बन्दनवारों से सजे हुए थे और जो नगरी सोने और चाँदी की चोटियोंवाले भव्य भवनों से ठसाठस भरी हुई थी तथा हीरे, मोती, जवाहर और लालों से जिसके फर्श बने हुए थे। इस नगरी में बैठक, चौक, सड़कें, खेल के मैदान, बाजार, विश्राम-स्थल और मूँगों से बनी हुई वेदियाँ विद्यमान थी।"

अब बताइए कि उपर्युक्त विशेषणों की विद्यमानता में इस लेख से मानव-शरीर का अभिप्राय लेना स्पष्ट धोखा देना है या नहीं, क्योंकि मानव-शरीर में उपर्युक्त खाई आदि का अस्तित्व नहीं है।

पोपजी—अज्ञात मित्र जो सबको जानता है, वह ईश्वर है।

तोपजी—पुस्तक को तनिक आँख खोलकर पढ़ें कि क्या लिखा है? जब पुरञ्जन राजा स्त्री के रूप में अपने पति की चिता पर बैठकर जलने को तैयार हुआ तो "इतने में वहाँ उसका कोई पुरातन आत्मज्ञानी मित्र आया और हृदय को चीर देनेवाले उपदेश से रोनेवाली उस वैदर्भी नाम की स्त्री को धैर्य प्रदान करके कहने लगा—मैं तेरा पुराना और अज्ञात नाम का पुत्र हूँ, तू क्या स्मरण नहीं करता?" अब तनिक बतलाएँ तो सही कि इस लेख में उपदेश करनेवाले ब्राह्मण से क्या अभिप्राय है। आपकी निर्मूल कल्पना के अनुसार यहाँ ईश्वर अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि परमात्मा होना भिन्न है और आत्मज्ञानी होना और बात है। यहाँ आत्मज्ञानी का वर्णन है, न कि परमात्मा का।

पोपजी—सुन्दरी स्त्री जो पुरञ्जन को मिली थी, वह बुद्धि है।

तोपजी—सुन्दरी नारी से बुद्धि का ग्रहण कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ पर लिखा है कि—वह स्त्री "सोलह वर्ष की अवस्थावाली थी, अनेक प्रकार के आभूषणों को

धारण किये हुए थी, वह बहुत सुन्दरी थी, इसकी नाक, दाँत, कपोल और मुख अत्यन्त सुन्दर था। इसके दोनों कानों की बनावट एक-सी थी। इनमें उसने कुण्डल पहन रक्खे थे। वह पीली साड़ी पहने हुए थी। उसका रंग साँवला था और सोने की तगड़ी पहने हुए थी। वह सुन्दर चाल चलती थी और यौवन के कारण यौवन को प्रकट करनेवाले एकसार, गोल जुड़े हुए अपने स्तनों को लज्जा के कारण बार-बार आँचल से ढक रही थी।"

कहिए पोपजी महाराज! इस लेख की विद्यमानता में आप सुन्दरी नारी से बुद्धि का अर्थ कैसे ले-सकते हैं, क्योंकि बुद्धि में उपर्युक्त विशेषताएँ नहीं हो सकतीं।

पोपजी—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ दस सेवक और रथ के दस घोड़े हैं।

तोपजी—वहाँ के लेख को तो देखिए! वह स्त्री ऐसे दस सेवकों के साथ वहाँ आयी थी, जिनमें से "प्रत्येक सेवक सौ-सौ नायिकाओं का पति था।" अब यहाँ सेवकों को इन्द्रियों पर घटाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय के साथ सौ सेवकों का अस्तित्व नहीं है।

पोपजी—सेवकों के साथ जो सैकड़ों स्त्रियाँ आयी थीं, वे इन्द्रियों की वृत्तियाँ हैं।

तोपजी—पुस्तक में तो सेवकों के साथ जानेवाली स्त्रियों का चिह्न भी नहीं है। आप अलङ्कार की धुन में यूँ ही कपोलकल्पित कथाएँ घड़ रहे हैं।

पोपजी—प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—पाँच सिरोंवाला साँप है।

तोपजी—प्रथम तो प्राण दस होते हैं—पाँच प्राण और पाँच उपप्राण; तथापि इस लेख को पुस्तक में पढ़कर संगति तो लगाएँ—"जिसकी शक्तियों का गन्धर्वों ने हरण कर लिया है, जिसके अङ्ग ढीले पड़ गये हैं, ऐसा वह नाग नगर में से निकलकर जाने लगा। उस समय यवन शत्रुओं ने उसे वहीं रोक दिया, अत: वह विलाप करने लगा।" भला! इस लेख की विद्यमानता में पाँच सिरवाले सर्प से पाँच प्राणों की कल्पना करना धोखा देना नहीं तो क्या है? पुराणों में उपर्युक्त बातों की संगति नहीं बैठती।

पोपजी—ग्यारह सौ पुत्रों से अभिप्राय इन्द्रियों की वासनाएँ हैं और पुत्रियों से तात्पर्य बुद्धि की वृत्तियों से है।

तोपजी—ठीक है, बनावट इसे कहते हैं, परन्तु पुस्तक में तो राजा ने पुत्र और पुत्रियों का विवाह भी कर दिया है और उनसे सन्तानें भी उत्पन्न हुईं। तनिक पुस्तक को पढ़ें—

"इसके पश्चात् इस पञ्जाब के राजा पुरञ्जन ने पिता के वंश को चलानेवाले अपने पुत्रों का योग्य कन्याओं के साथ और पुत्रियों का योग्य वरों के साथ विवाह कर दिया। उन पुत्रों से भी प्रत्येक के सौ-सौ पुत्र हुए, जिससे राजा पुरञ्जन का वंश सम्पूर्ण पञ्जाब में फैल गया।"

भला! इस लेख को साथ जोड़कर तनिक अपने अलङ्कार का रूपक तो बनाकर दिखलाएँ कि वासनाओं और वृत्तियों का विवाह होकर उनकी सन्तान पाञ्चाल (पञ्जाब) देश की राजा कैसे बनेगी?

पोपजी—कुमारी कन्या मृत्यु है, जिसने राजा को चोटी से पकड़ा था।

तोपजी—आपको झूठ बोलने का कितना अभ्यास है? भला! पुस्तक में कहीं चोटी से पकड़ने का नाम भी है? यदि नहीं है तो यूँ ही घर से घड़ लेने का क्या अर्थ है? यही न कि अलङ्कार बन जाए, चाहे सौ गप्प मारने पड़ें।

पोपजी–और पुरञ्जन की नगरी को आग लगा दी, अर्थात् मृत्यु के पश्चात् शरीररूपी नगरी को जला दिया जाता है।

तोपजी–पुस्तक में नगरी के जलाने का कहीं भी वर्णन नहीं है, पता नहीं आपको कहाँ से आकाशवाणी हो गयी?

पोपजी–अब तनिक बताएँ कि कथा सच्ची है या नहीं?

तोपजी–देख लीजिए, आपके बिछाये हुए पोप-जाल का तार-तार बिखेर दिया है या नहीं? रहा कथा का प्रश्न! जैसे अन्य पुराण में असम्भव कथाएँ भरी पड़ी हैं, वैसे ही यह भी है, परन्तु यह अलङ्कार कदापि नहीं है।

पोपजी–अस्तु! इस प्रकार के वर्णन को समाधिभाषा अर्थात् आध्यात्मिक भाषा कहते हैं।

तोपजी–आप कृपा करके तनिक इस कथा को भी शरीर पर घटाते जाएँ। ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्राह्मपर्व, अध्याय ७१ में एक कथा आती है–

"श्रीकृष्ण की एक स्त्री थी, जिसका नाम जाम्बवती था। उसके उदर से कृष्ण के एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम साम्ब था। वह अत्यन्त सुन्दर था। नारदजी जब कभी द्वारका में आते थे तो सब राजकुमार नारदजी को प्रणाम करते थे, परन्तु अपने सौन्दर्य के अभिमान में चूर साम्ब प्रणाम न करता था। नारदजी अवसर की खोज में थे कि इसे दण्ड दिया जाए। एक बार की बात है कि श्रीकृष्णजी जलक्रीड़ा करके उद्यान में अपनी स्त्रियों के साथ मद्यपान कर रहे थे। इस समय नारदजी ने साम्ब के पास जाकर कहा कि श्रीकृष्णजी तुम्हें उद्यान में बुला रहे हैं। नारद के कथन के अनुसार साम्ब वहाँ चला गया। साम्ब के पहुँचते ही कृष्ण की सब स्त्रियाँ उसके सौन्दर्य के कारण उसपर लट्टू हो गयीं और साम्ब को देखकर उन सबका वीर्यपात हो गया। इतने में नारदजी भी वहाँ पहुँच गये। जब सब स्त्रियों ने खड़े होकर उन्हें प्रणाम किया तो उनका वह वीर्य वस्त्रों में से छन-छनकर घास पर गिर पड़ा। यह देखकर कृष्णजी अत्यन्त क्रुद्ध हुए। उन्होंने साम्ब को शाप दिया–"तू कोढ़ी हो जा!" और स्त्रियों को शाप दिया कि "तुम डाकुओं से भगाई जाकर दुःख उठाओगी।"

कृपा करके तनिक इस सांसारिक इतिहास को भी समाधि भाषा के द्वारा शारीरक कथा में प्रस्तुत करें और यह भी बताने की कृपा करें कि व्यासजी ने इसमें वेद के कौन-से तत्त्व का दार्शनिक रूप में वर्णन करके हिन्दुओं को इस ओर प्रवृत्त किया है।

पोपजी–और जिसमें लौकिक रीति और लौकिक भावों की सहायता से विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों को समझाने के लिए कई प्रकार के अलङ्कारों के साथ सरल भाषा में भाव बतलाये गये हैं, उसे लौकिक भाषा कहते हैं।

तोपजी–यह कल्पना सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि अलङ्कार बनाने से भाषा सरल नहीं बनती अपितु कठिन हो जाती है और भाव भी सरलता से समझ में नहीं आ सकते, अपितु साधारणजन अलङ्कारों के चक्कर में पड़कर अनेक ग़लत धारणाओं के कारण मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं और अलङ्कारों को ही सच्ची घटना स्वीकार करके वास्तविकता से कोसों दूर रहते हैं।

पोपजी–दूसरी लौकिक भाषा को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हुए हम महाभारत की एक कथा प्रस्तुत करते हैं।

तोपजी–आपने महाभारत का नाम लिखकर ही कथा लिख दी। यह नहीं बतलाया कि

यह कथा कौन-से पर्व में, किस अध्याय की है। यदि आप इस कथा का पूरा पता लिख देते तो इस कथा की भी वही दुर्गति होती जो पुरञ्जनवाली कथा की हो चुकी है। यह कथा स्वीकार करने के योग्य नहीं है। प्रतीत होता है कि आपने महाभारत के नाम से झूठी कथा बनाकर अपने स्वार्थ के अनुसार कथानक घड़कर यहाँ लिख दी है। कथा में अलङ्कार नहीं अपितु अलङ्कार के अनुसार कथा की कल्पना की गयी है। दूसरी चालाकी आपने यह की है कि पुराणों को सत्य सिद्ध करते-करते कथा महाभारत की दे दी, तो क्या महाभारत भी पुराणों में सम्मिलित है? अस्तु। क्योंकि आपको पुराणों को निष्कलंक बनाने के लिए अलङ्कारों का भूत सवार हो रहा है, अतः हम एक ऐसी प्रसिद्ध कथा प्रस्तुत करते हैं जो महाभारत के आदिपर्व अध्याय १०४ में और भागवत के स्कन्ध नौ में राजा भरत की वंशावली में दी गयी है। कथा इस प्रकार है—

"उतथ्य नाम का एक ऋषि था। उसकी स्त्री का नाम ममता था। वह गर्भवती थी। उतथ्य ऋषि तप करने के लिए वन में चला गया। तब उतथ्य का छोटा भाई जिसका नाम बृहस्पति था और देवताओं का गुरु माना जाता था, उसकी ममता पर कुदृष्टि हो गयी और वह ममता के साथ मैथुन करने के लिए तैयार हो गया। यह देखकर ममता ने बृहस्पति से प्रार्थना की कि तेरे भाई का गर्भ मेरे उदर में वेद पढ़ता है और तेरा वीर्य भी अमोघ है और दो के लिए पेट में अवकाश नहीं है, इसलिए कृपा कर इस काम से दूर रहो; परन्तु बृहस्पति ने जब ममता की प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया तो अन्दर से पुत्र बोला कि चाचाजी! कृपा करो। गर्भ में स्थान कम है और मैं पहले ही तंगी में हूँ; परन्तु बृहस्पति ने उसकी भी एक न सुनी और लगा सनातनधर्म करने। जब वीर्य का गर्भ में प्रविष्ट होने का समय आया तो लड़के ने अन्दर से पैरों की दोनों एड़ियाँ जोड़कर मार्ग बन्द कर लिया और वीर्य अन्दर जाने की बजाय पृथिवी पर गिर पड़ा। जब बृहस्पति ने अपने वीर्य को नीचे गिरा हुआ देखा तो लड़के को शाप दिया कि तू अन्धा पैदा होगा, अतः दीर्घतमा ऋषि अन्धा पैदा हुआ और उससे राजा बलि ने अपनी स्त्री सुदेष्णा के द्वारा अपना वंश चलाया, और जो वीर्य नीचे गिर पड़ा था उससे ऋषि भरद्वाज उत्पन्न हुए जोकि आपके दादा गुरु थे और जिनसे आप-जैसे अनेक लोगों के वंश चले।"

अब कृपा करके अपनी कल्पित लौकिक भाषा के द्वारा बतलाएँ कि इस कथा में वेद के कौन-से तत्त्व को सरल भाषा में समझाने का प्रयत्न किया गया है और कथा को तिलाञ्जलि देकर किस परिणाम को ग्रहण करने का उद्देश्य यहाँ निहित है?

पोपजी—तीसरी भाषा परकीय है, जिससे पुराणों के इतिहास के द्वारा धर्म की वास्तविकता समझाई गयी है। उदाहरणार्थ—सच बोलो, धर्म का पालन करो। यदि ऐसे उपदेशों को उदाहरणों के द्वारा समझाया जाए तो लोगों पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। जैसाकि विद्यार्थियों को पाठ कण्ठस्थ कराने के लिए उदाहरण पाठ की आत्मा होते हैं। इस भाषा के ज्ञान के लिए हम एक कथा प्रस्तुत करते हैं— "एक त्रिपुरसुर राक्षस था" आदि-आदि।

तोपजी—आपने इस कथा का कोई पता नहीं लिखा कि यह कथा कौन-से पुराण में कहाँ है? पहली पुरञ्जनवाली कथा में भागवत का चौथा स्कन्ध लिखकर अध्याय आदि हड़प कर गये। दूसरी ब्राह्मणवाली कथा में केवल महाभारत का नाम लिखकर पर्व, अध्याय कुछ भी नहीं दिया, अब तीसरी कथा में पुस्तक का नाम भी लुप्त है, जिससे प्रतीत होता है कि यह कथा सर्वथा बनावटी है। क्या सनातनधर्म का सारा काम इसी प्रकार

की सट्टेबाजियों से चलता है? इस प्रकार काम कब तक चलेगा? पुराणों के नाम से अपने स्वार्थ के अनुसार कथाएँ घड़कर और उनमें अलङ्कार दिखाकर आप जनता को कब तक धोखा दे सकेंगे?

गर हमीं मक़तब अस्त वो हमीं मुल्ला। कारे-तिफलाँ तमाम ख्वाहिद शुद॥[1]

यह काठ की हाँडी चूल्हे पर कब तक सुरक्षित रहेगी? यदि कथा के नक़लीपन को भी दृष्टि से ओझल कर दिया जाए, तो भी यह कथा आपके दावे का समर्थन नहीं करती। इसमें दावा गन्दुम (गेहूँ) है तो उदाहरण चीना (वे अन्न जिन्हें पक्षी खाते है) है। आप दावा तो यह करते हैं कि परकीय भाषा में पुराणों के इतिहास के द्वारा धर्म की वास्तविकता समझाई जाती है, जैसे विद्यार्थियों को उदाहरण देकर पाठ-समझाया जाता है, परन्तु आप त्रिपुरासुर की कथा देकर उसका अलङ्कार घड़ रहे हैं, जो आपके दावे के सर्वथा विरुद्ध है। आपको चाहिए तो यह था कि आप 'सच बोलो, धर्म का आचरण करो' की शिक्षाओं को अपने दावे के अनुसार किसी सच्चे धर्मात्मा का इतिहास पुराणों में से उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करके समझाते और लोगों पर प्रभाव डालते, परन्तु लग पड़े बनावटी कथा देकर अलङ्कार छाँटने, परन्तु इसमें आपका भी क्या अपराध है! आपके बस की बात नहीं। पुराणों को निष्कलंक सिद्ध करने की धुन में आपने अपनी बुद्धि और हृदय को भी पौराणिक गढ़े में गिराकर चकनाचूर कर दिया है।

आपने कई प्रकार की भाषाओं की कल्पना की और कई कथाओं को तोड़-मरोड़कर और जाली घड़कर प्रस्तुत किया, परन्तु रहे कोल्हू के बैल की भाँति वहीं-के-वहीं और अभी तक भी **'हुनूज़ दिल्ली दूरअस्त'**[2] वाली बात यथापूर्व आपके समक्ष है। पुराणों को निष्कलंक सिद्ध करने में आप बुरी तरह असफल हुए हैं। मैंने पहले ही कहा था कि यह बेल सिरे चढ़ती दिखाई नहीं देती। वही हुआ। बेल मँढे नहीं चढ़ी। अब कोई और चाल चलिए।

पोपजी—पुराणों में यथार्थ, रोचक, भयानक, आलङ्कारिक और ऐतिहासिक—इन पाँच रूपों से भाषाओं का वर्णन हुआ है।

तोपजी—आपकी कल्पित तीन भाषाएँ तो परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो चुकी हैं, अब इन भाषाओं के पाँच रूपों की भी परीक्षा हो जाती है। तनिक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करें।

पोपजी—यथार्थ शब्द से पता चलता है कि जो बात जैसी हो उसका वैसा ही वर्णन यथार्थ रूप कहलाता है, जैसाकि पुराणों में राजवंशों और महापुरुषों का वर्णन किया गया है।

तोपजी—इस बात से स्पष्ट हो गया कि यथार्थ के अतिरिक्त रोचक और भयानक आदि में जो बात जैसी है उसका वैसा ही वर्णन नहीं किया गया है, अपितु लोगों को पुचकारने और धमकाने के लिए सर्वथा झूठे और व्यर्थ के कथानक घड़े गये हैं, जिनमें लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए एक झूठ-जैसा महापाप पुराणों के द्वारा लोगों के गले में बाँध दिया गया है तथा लोगों को पुचकारने और डराने के लिए एक-दूसरे से बढ़कर गप्प मारी गयी हैं, जिनके कारण लोग वास्तविकता से अनभिज्ञ रहते हुए गप्पों को

---

१. यदि यही विद्यालय है और यही अध्यापक हैं तो बच्चों का काम तो समाप्त ही समझो। —जगदीश्वरानन्द
—जगदीश्वरानन्द
२. अभी दिल्ली दूर है।

ठीक जानकर दु:ख उठा रहे हैं। अच्छा, अब आपने पाँच भागों में से चार को तो स्वयं ही गप्प स्वीकार कर लिया। अब केवल पुराणों का एक भाग शेष रह गया, जिसे आप यथार्थ कहते हैं। इसके लिए आपकी प्रतिज्ञा है कि इस भाग में जैसा लिखा है गया है जो वास्तव में सत्य है, और इसमें आपने राजवंशों और महापुरुषों के वर्णन को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। यदि पुराणों का अध्ययन किया जाए तो आपका उपर्युक्त दावा भी सर्वथा झूठ सिद्ध होता है।

सबसे पूर्व राजवंशों को ले-लीजिए, क्या आपके विचार में यह यथार्थ है कि चन्द्रमा ने अपने गुरु बृहस्पति की स्त्री तारा को बलात् पकड़कर उससे सम्भोग किया और उससे बुध नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ? क्या बुद्ध ने इला नाम की स्त्री, जोकि एक मास पुरुष और एक मास स्त्री रहती थी, से भोग करके सन्तान उत्पन्न की, जिससे चन्द्रवंश चला? क्या आपके विचार में यह यथार्थ है कि सूर्य ने अपनी सगी भतीजी संगीता के साथ विवाह करके सूर्यवंश की नींव डाली? और क्या यह यथार्थ है कि बृहस्पति ने अपने भाई उतथ्य की गर्भवती स्त्री ममता से बलात् मैथुन किया और जो वीर्य पृथिवी पर गिरा उससे भरद्वाज ऋषि उत्पन्न हुआ, भरत के कोई सन्तान न होने से उसने भरद्वाज को गोद लिया, जिससे राजा भरत का वंश चला?

यह तो रही वंशों की संक्षिप्त कथा, अब महापुरुषों की कथा भी सुन लीजिए। क्या यह यथार्थ है कि ब्रह्मा ने अपनी पुत्री से, विष्णु ने अपनी माँ और महादेव ने अपनी बहिन से विवाह किया? क्या यह यथार्थ है कि ब्रह्मा, विष्णु और महादेव तीनों सर्वथा नंगे, लिंग हाथ में लेकर मैथुन करने के लिए अनसूया पर टूट पड़े? क्या यह यथार्थ है कि राजा दशरथ के यज्ञ में तीन सौ पशु और घोड़े मारे गये और कौसल्या का घोड़े से समागम कराया गया और घोड़े की चर्बी से ब्राह्मणों ने हवन किया? क्या यह यथार्थ है कि राम ने हिरनों को मारकर उनके मांस से यज्ञ किया? क्या यह यथार्थ है कि योगिराज श्रीकृष्णजी ने अपनी मामी राधा से विवाह किया, गोपियों से सम्भोग किया और कुब्जा के साथ रातभर इतना मैथुन किया कि प्रात:काल तक वह मर ही गयी? क्यों हिन्दूधर्म और हिन्दूजाति की जड़ों पर आप लोग अपने स्वार्थ में पड़कर कुल्हाड़ा चला रहे हैं और मद्यपान, मांस-भक्षण, दुराचार, चोरी, झूठ, जुआ आदि महापापों की शिक्षा देनेवाले उपर्युक्त दोषों से ऋषि-मुनियों और देवताओं को कलङ्कित करनेवाले इन पुराणों की वकालत कर रहे हैं?

पोपजी—रोचक वह रूप है, जिससे मनुष्य का ध्यान आकर्षित किया जाए। पुराणों में रोचक रूप का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। स्थान-स्थान पर अनेक मनोहर कथाओं के द्वारा उपदेश किया गया है, जिससे मनुष्य का ध्यान बरबस उस ओर जाकर उत्कृष्ट चाल-चलन की शिक्षा मिलती है।

तोपजी—किसी धर्म के सिद्धान्तों को रोचक बनाकर वर्णित करना और इसमें रोचक दृष्टान्त देकर जनसाधारण को उपेदश करना तो उचित ही है, परन्तु वे दृष्टान्त और उदाहरण असम्भव और चरित्रहीनता की शिक्षा देनेवाले न हों। दु:ख से कहना पड़ता है कि पुराणों में इस शैली का प्रयोग नहीं किया गया। पुराणों में इस प्रकार की कथाएँ वर्णित की गयी हैं कि उनसे उत्तम चाल-चलन की शिक्षा तो क्या धूल मिलनी थी, उलटी दुराचार की शिक्षा मिलती है। उदाहरण के रूप में शिवपुराण, रुद्रसंहिता, सतीखण्ड, अध्याय १९

में एक कथा आती है—

"ब्रह्मा के एक पुत्र का नाम दक्ष था। उसके एक पुत्री थी, जिसका नाम सती था। उस सती का विवाह महादेवजी के साथ निश्चित हुआ। जब विवाह का समय आया तो दक्ष ने अपने पिता ब्रह्मा से प्रार्थना की कि महाराज! विवाह-संस्कार आप ही कराएँ। अन्ततः ब्रह्माजी अपनी पोती सती का विवाह-संस्कार महादेवजी के साथ कराने लगे। जिस समय परिक्रमा होने लगी तो सती के दोनों पैर नंगे हो गये। ब्रह्माजी इनको देखकर काम में मस्त हो गये और इसके शरीर के अन्य अङ्गों को देखने की अभिलाषा करने लगे। ज्यूँ-ज्यूँ ब्रह्माजी सती के अङ्गों को देखते जाते थे त्यूँ-त्यूँ उनका कामदेव बढ़ता जाता था। अन्ततः ब्रह्माजी ने काम से विवश होकर सती का मुख देखना चाहा। इसके लिए उपाय यह किया कि हवनकुण्ड में गीली लकड़ियाँ डाल दीं और घी थोड़ा डाला, जिससे सारी वेदी में धुआँ-ही-धुआँ हो गया। धुँए के कारण जिस समय महादेवजी आँखें मलने लगे तो झट कपड़ा उठाकर ब्रह्माजी ने सती का मुख देख लिया। जब ब्रह्माजी बार-बार सती का मुख देखने लगे तो उनका अपनी इन्द्रियों पर अधिकार नहीं रहा और ब्रह्माजी का वीर्य धोती में निकल गया और इससे वृष्टि करनेवाले चार प्रकार के बादल उत्पन्न हुए।"

इसमें सन्देह नहीं कि कथा में आपके सिद्धान्त के अनुसार बादलों की उत्पत्ति को पौराणिक दार्शनिकता के साथ रोचक बनाकर वर्णित किया गया है, परन्तु आप बतलाएँ कि क्या इस कथा से उत्तम चाल-चलन की शिक्षा मिलती है? वस्तुतः पुराण सदाचार की शिक्षा देनेवाले ग्रन्थ नहीं है।

पोपजी—किसी उपदेश को डरावना बनाकर वर्णित करना भयानक रूप होता है। जैसाकि पुराणों को पढ़ने से प्रतीत होता है कि किन कथाओं व शिक्षाओं में डरावने दृश्य दिखाकर दण्डों का वर्णन किया गया है, वह भयानक रूप है।

तोपजी—किसी उपदेश को डरावना बनाकर और दृष्टान्त देकर सुनाया जा सकता है, परन्तु वे दृष्टान्त असम्भव और ऋषि-मुनियों को कलङ्कित करनेवाले न हों और धर्मशास्त्र तथा वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध न हों। जब वेद और शास्त्र यह वर्णन करते हैं कि मरने के पश्चात् कर्मानुसार दूसरा जन्म मिलता है तो फिर बलात्कार करनेवाले स्त्री वा पुरुष का गर्म सलाइयों से मारा जाना और गर्म खम्भों के साथ लगाना वेद और शास्त्र के विरुद्ध दृष्टान्त है और लड़की के रुपये लेनेवाले का सूई के नाके से निकाला जाना सर्वथा असम्भव दृष्टान्त है। मानव धर्मशास्त्र में लिखा है कि दुराचारी पुरुष को लोहे के पलङ्ग पर लिटाकर नीचे आग जलाकर मारना चाहिए और दुराचारिणी स्त्री को भूमि में गड़वाकर कुत्तों से नुचवाकर मरवा डालना चाहिए। धर्मशास्त्र में वर्णित इन दण्डों के सम्बन्ध में इस प्रकार के भयानक दृष्टान्त दिये जा सकते हैं, जिनमें इस प्रकार के स्त्री-पुरुषों को दण्ड दिया गया हो।

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि पुराणों ने इस शैली पर भयानक रूप में उपदेश नहीं किया, अपितु जहाँ लोगों को बुरे कार्यों से भय दिलाया है वहाँ दूसरी ओर ऋषियों को बदनाम कर छोड़ा है। उदाहरण के रूप में वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४८ में कथा आती है-

"गौतम मुनि अपने आश्रम में अपनी पत्नी अहल्यासहित तप करते थे। एक दिन वे नदी पर स्नान करने गये तो आश्रम को खाली देखकर और अवसर पाकर इन्द्र गौतम का

रूप धारण करके उसकी पत्नी अहल्या के पास गया और बोला कि—हे प्रिय! प्रेमी ऋतुकाल की प्रतीक्षा नहीं करते। हे पतली कमरवाली! मैं तेरे साथ समागम करना चाहता हूँ।" अहल्या ने समझ लिया कि यह इन्द्र ही गौतम का रूप धारण करके आया है, अत: उसने इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए उसकी इच्छानुसार कार्य कर दिया और बोली 'हे इन्द्र! मैं तो कृतार्थ हो गयी, परन्तु तू शीघ्र चलता बन और गौतम से अपनी और मेरी रक्षा कर।' इन्द्र प्रसन्न होकर बोला—'हे प्रिये! तूने मुझे प्रसन्न कर दिया। अब मैं जिधर से आया हूँ उधर जाता हूँ।" यह कहकर इन्द्र कुटि से निकला ही था कि आगे से गौतम मिल गया। उसे देखकर इन्द्र के मुखमण्डल का रंग उड़ गया। ऐसी अवस्था में गौतम ने उसे शाप दिया 'क्योंकि तून मेरा रूप धारण करके यह पाप किया है, अत: तू आज से निष्फल हो जाएगा।' गौतम के क्रुद्ध होकर यह कहते ही इन्द्र के दोनों अण्डकोश उसी समय पृथिवी पर गिर पड़े और अहल्या को शाप दिया कि तू सहस्र वर्ष तक भूखी-प्यासी राख पर लोटती हुई सब प्राणियों से छिपकर रहेगी। जब इन्द्र ने देवताओं के समक्ष दुहाई दी तो देवताओं ने एक मेंढे के अण्डकोश काटकर इन्द्र को लगा दिये और अहल्या का राम ने उद्धार किया तो उसे गौतम ने फिर से ग्रहण किया।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह कथा दुराचारियों को शिक्षा देनेवाली और भयानक है, परन्तु इसमें अहल्या, गौतम और इन्द्र को कलङ्क लगाकर यह दृष्टान्त बनाया गया है, अत: पुराणों से सदाचार की शिक्षा मिलना असम्भव कार्य है।

पोपजी—इसी प्रकार एक ही तत्त्व को कहीं आध्यात्मिक भाव में और किसी पुराण में आधिदैविक भाव में और किसी में आधिभौतिक भाव में वर्णित किया हुआ है।

तोपजी—तीन भाषाओं की कल्पना तो आपकी पुराणों को निष्कलङ्क सिद्ध करने में असफल रही, और पाँच रूपों ने भी आपका साथ नहीं दिया। अब रह गये तीन भाव, उनका भी पता लग जाता यदि आप उनका लक्षण लिख देते और कोई उदाहरण भी पुराणों से दे देते, परन्तु रेत की दीवार खड़ी करके कभी क़िला (दुर्ग) बन सकता है?

पोपजी—पुराणों का एक बहुत बड़ा भाग ऐतिहासिक है। इतिहास में प्रत्येक प्रकार के मनुष्यों का वर्णन होता है। जो व्यक्ति चरित्रवान् था तो पुराणों में उसका सुचरित्र ही लिखा गया और दुराचारी का दुराचार लिखकर ही सत्य को प्रकट किया गया है।

तोपजी—पूर्वजों का इतिहास लिखने का तात्पर्य यह होता है कि हमारी आगे आनेवाली सन्तति हमारे पूर्वजों के धार्मिक और वीरता के कार्यों को पढ़कर धार्मिक और वीर बनें, परन्तु पुराणों को ऐतिहासिक लेख इसलिए नहीं माना जा सकता, क्योंकि इनमें हमारे पूर्वजों, ऋषियों, वीरों, ब्रह्मा, शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, नारद, अत्रि आदि पर मद्यपान, मांसभक्षण, दुराचार, चोरी, असत्य-भाषण आदि अनेक लाञ्छन लगाये गये हैं, जिनसे हमारे बच्चों को बजाय शिष्टाचार के दुराचार की शिक्षा मिलती है। पुराणों में बुद्धि और ज्ञान से शून्य अनेक असम्भव बातें लिखी गयी हैं।

पोपजी—पुराणों के लेखक का उद्देश्य यह कदापि नहीं था कि पुराणों में जो कुछ भी इतिहास अंश भला या बुरा लिखा गया है, उस सबको ही धर्म समझा जाए, अपितु उत्तम इतिहास को ग्रहण करके पालन करना और बुरे चरित्र से बचने का प्रयत्न करना उचित है।

तोपजी—परमात्मा आपका भला करे! बड़ी भागा-दौड़ी और झूठी कल्पनाओं के

पश्चात् अन्ततोगत्वा आप सन्मार्ग पर आ ही गये, परन्तु यह तो बतलाइए कि धर्म और अधर्म की कसौटी सिवाय वेद के और क्या हो सकती है? अत: वेद को कसौटी मानकर पुराणों में वर्णन किये गये इतिहासों की परख की जाए तो पुराणों के इतिहासों का वेदानुकूल धार्मिक सिद्ध होना असम्भव है।

पोपजी–शिक्षा के ग्रहण और त्याग के लिए दो उपाय लिखे गये हैं, एक तो यह कि पुराण-लेखक ने अच्छे और बुरे चरित्रों का फल भी साथ-साथ लिखा है।

तोपजी–प्रथम तो आपने दो उपायों में से एक लिखा है, दूसरे को हड़प ही गये। दूसरे, जो लिखा है वह भी पुराणों पर लागू नहीं होता, क्योंकि पुराणों में इस प्रकार के इतिहास भी आते हैं, जिनमें १. पापकर्म करनेवाले को उत्तम फल, २. उत्तम कर्म करनेवाले को बुरा फल, ३. निरपराध को दण्ड और ४. अपराधी को छोड़ देना, लिखा है।

१. पापकर्म करनेवालों को अच्छा फल मिलने में आप भविष्यपुराण प्रतिसर्ग पर्व ३, खण्ड ४, अध्याय १७ की कथा को ले-लीजिए। इसमें लिखा है कि–

"किसी समय भगवान् अत्रि अपनी पत्नी अनसूयासहित गंगा-किनारे तप करते हुए परमात्मा के ध्यान में मग्न थे। तब ब्रह्मा, विष्णु और शिव उसके पास आकर कहने लगे–वर माँगो। जब अत्रि न बोला तो तीनों देवता उसकी पत्नी के पास गये। महादेव हाथ में लिंग पकड़े हुए, विष्णु इसके रस को बढ़ाते हुए और ब्रह्मा वेद का ज्ञान लोप करते हुए बोले–"हे मस्त आँखोंवाली! हमें यौवन का दान दे, अन्यथा हम मर जाएँगे।" पतिव्रता अनसूया क्रोध से काँपती हुई कुछ न बोली। तब इन तीनों ने अनसूया को मैथुन करने के लिए बलात् पकड़ लिया। तब उस मुनि-पत्नी अनसूया ने क्रुद्ध होकर उन्हें शाप दिया कि "तुम तीनों मेरे पुत्र बनोगे और संसार के लोग महादेव के लिङ्ग की, ब्रह्मा के सिर की और विष्णु के चरणों की पूजा किया करेंगे।"

अब देखिए, इस कथा में महादेव, विष्णु और ब्रह्मा का अनसूया के पास नंगे जाने और उसे बलात् समागम के लिए पकड़ने के अपराध में दण्डनीय थे, परन्तु उन्हें दण्ड की बजाय यह उत्तम फल मिला कि इनके लिंग, सिर और चरणों की पूजा आरम्भ कर दी गयी। बताइए, क्या यह न्याय है? और पढ़नेवालों को इससे क्या शिक्षा मिल सकती है?

२. उत्तम=पुण्य कार्य करनेवाले को बुरा फल मिलने में आप ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्ण-जन्मखण्ड, अध्याय ३१, श्लोक ५९, से अध्याय ३३, श्लोक ५८ तक की कथा को ले-लीजिए। इसमें लिखा है कि–

"ब्रह्माजी वन में तप कर रहे थे कि मोहिनी नाम की वेश्या ने ब्रह्मा को मोहित करने के लिए उसके समक्ष नृत्य किया, राग गाया और उससे प्रार्थना की कि आप मेरे साथ सम्भोग करें। ब्रह्मा ने कहा–तू मेरी माता के समान है। मैं यह कार्य करने को तैयार नहीं। अन्ततोगत्वा मोहिनी ने ब्रह्मा को बलात् पकड़ लिया। अस्तु, ब्रह्मा ने किसी-न-किसी प्रकार अपने को बचाया और सम्भोग करने से सर्वथा मना कर दिया। इसपर मोहिनी ने उसे शाप दिया कि 'चूँकि तुमने मेरा अपमान किया है, अत: दीर्घकाल तक संसार में तुम्हारी पूजा नहीं होगी।' जब ब्रह्माजी ने नारायण के पास आकर शिकायत की तो नारायण ने भी मोहिनी का समर्थन किया कि सचमुच तुम अपराधी हो।"

यहाँ पर-स्त्री त्याग के कारण ब्रह्माजी को अच्छा फल मिलना चाहिए था, परन्तु उसे दण्ड मिला कि संसार में दीर्घकाल तक तुम्हारी पूजा नहीं होगी। इस कथा को पढ़कर

किसी को इससे कोई उत्तम उपदेश मिल सकता है?

३. **निरपराधी को दण्ड**—जब साम्ब को देखकर श्रीकृष्ण की स्त्रियों का वीर्यपात हो गया तो बताओ इसमें साम्ब का क्या अपराध था? परन्तु फिर भी श्रीकृष्ण ने उसे शाप दिया कि तू कोढ़ी हो जाएगा और वह कोढ़ी हो गया। इस कथा से कोई क्या शिक्षा ग्रहण कर सकता है?

४. **अपराधी को छोड़ देना**—जब बृहस्पति ने उतथ्य की गर्भवती स्त्री से बलात् मैथुन किया और लड़के ने अन्दर से पैर अड़ा दिये तथा बृहस्पति का वीर्य पृथिवी पर गिर पड़ा तो लड़के को तो बृहस्पति ने शाप दे दिया कि तू अन्धा पैदा होगा, परन्तु बृहस्पति को बलात्कार के अपराध में कोई दण्ड नहीं मिला, अपितु वह वैसे-के-वैसे ही देवताओं के गुरु बने हुए दनदनाते रहे।

इस प्रकार पुराणों के इतिहास मिथ्या हैं। वे इतिहास कहलाने योग्य नहीं हैं और न ही इस प्रकार की कथाओं को पढ़कर कोई व्यक्ति दुराचार को छोड़कर सदाचारी बन सकता है।

पोपजी—कुछ समय पूर्व आर्यसमाजी वायुयानों, वरुणास्त्र और वायव्यास्त्र आदि के वर्णन को असम्भव कहकर कटु आलोचना किया करते थे।

तोपजी—क्यों आप झूठ बोलने पर उधार खाये बैठे हैं? वैज्ञानिकों ने वायुयान को लगभग जर्मन के युद्ध के दिनों में ही आविष्कृत कर प्रसिद्ध किया है और आपके कथनानुसार ही वरुणास्त्र आदि का आविष्कार भी जर्मनी के युद्ध में ही हुआ है, परन्तु आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्दजी ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में वेदमन्त्रों के साथ आज से पचास वर्ष पूर्व लिखा था कि विमान आदि विद्याओं का मूल वेदों में विद्यमान है और सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास के आरम्भ में ही ऋषिजी ने आग्नेयास्त्र, वरुणास्त्र, नाग-पाश, मोहनास्त्र, पाशुपतास्त्र, शतघ्नी (तोप), भुषुण्डी (बन्दूक) आदि सभी अस्त्र-शस्त्रों का भारतवर्ष में होना स्वीकार किया है। फिर भला! आर्यसमाजी इनकी आलोचना क्यों करता? आर्यसमाज तो पुराणों की असम्भव गप्पों का ही खण्डन करता है।

पोपजी—और चन्द्रलोक, मङ्गललोक आदि के वर्णन को बड़ी गप्प समझते थे।

तोपजी—सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध आदि के सम्बन्ध में जो गणितज्योतिष से सिद्ध भूगोलविद्या है, आर्यसमाज ने कभी इन्कार नहीं किया, और जो इन ग्रहों के साथ कर्मों के फल का सम्बन्ध बतानेवाला फलितज्योतिष है उसका आर्यसमाज सदा से खण्डन करता है तथा सूर्य का घोड़ी से सम्भोग, चन्द्रमा का बृहस्पति की स्त्री तारा से बलात्कार और उससे बुध की उत्पत्ति आदि पौराणिक कथाओं को मिथ्या मानता है।

पोपजी—और दो या चार सिर या टाँगवाली हस्तियों की कथाओं को प्रकृति-नियम के विरुद्ध कहकर चिल्लाया करते थे।

तोपजी—वैद्यक शास्त्र के अनुसार इस प्रकार की सन्तानें विकृत होती हैं। प्रथम तो वे जीवित ही नहीं रहती और यदि रहती भी हैं तो आपके लेखानुसार नुमाइशों की ही शोभा बनने के योग्य होती हैं, सांसारिक कार्यकलाप के योग्य नहीं होतीं, अतः चार मुख का ब्रह्मा, पूँछवाला हनुमान् या सूँडवाला गणेश सिद्ध नहीं हो सकता।

पोपजी—वर्त्तमान युग में एक ऐसे यन्त्र का आविष्कार हुआ है जिससे विभिन्न स्थानों पर आत्माओं को बुलाकर उनसे वार्त्तालाप किया जाता है। इससे सिद्ध हो गया है कि पितरों

अर्थात् मृतक पूर्वजों की आत्माओं को प्रसन्न करने के लिए ब्राह्मणों को भोजन कराना और दान-पुण्य करना उचित है।

तोपजी--यदि यन्त्र के आविष्कार पर ही मृतकश्राद्ध का होना निर्भर है तो फिर मृतकश्राद्ध का प्रभु ही रक्षक है। यदि वह आज भारत से विदा न हुआ तो कल अवश्य हो जाएगा, क्योंकि आत्माएँ न बुलाई जा सकती हैं और न ही वे आकर बातचीत कर सकती हैं। यदि आत्माओं का आना और वार्त्तालाप करना सम्भव होता तो सरकार साण्डर्स की हत्या की छान-बीन में लगभग दो लाख रुपया क्यों व्यय करती? साण्डर्स की आत्मा को उस यन्त्र के द्वारा न्यायालय में बुला लिया जाता और पूछ लिया जाता कि तुम्हारी हत्या किसने की थी? बस, उसी को फाँसी दे दी जाती। पोपजी महाराज! पराई छाछ पर मूँछें न मुँडवाइए। पुनर्जन्म हो जाने के कारण आत्माओं का आना असम्भव है। वे केवल बुलानेवाले के मानसिक भाव ही होते हैं जो इस यन्त्र के द्वारा प्रकट होते हैं। इससे मृतकश्राद्ध सिद्ध करना मूर्खता है।

पोपजी--सबसे बड़ा आक्षेप पुराणों पर यह किया जाता है कि पुराणों में शिष्टाचार, सभ्यता और सदाचार से गिरी हुई बातें पायी जाती हैं।

तोपजी--इसमें क्या सन्देह है? श्रीकृष्ण पर मद्यपान, राम पर मांसभक्षण, ब्रह्मा, विष्णु और शिव पर पुत्री, माँ और बहिन से सम्भोग, शिव, ब्रह्मा और विष्णु का अनसूया को बलात् मैथुन के लिए पकड़ना, कृष्ण की स्त्रियों का अपने पुत्र को देखकर वीर्यपात होना, ब्रह्मा का पोती को देखकर वीर्यपात, कृष्ण का मैथुन से कुब्जा को मार देना, वेश्याओं का बिना फीस रविवार के दिन ब्राह्मणों के लिए द्वार खुले रखना आदि बातों का वर्णन करना क्या सदाचार, सभ्यता और शिष्टाचार में सम्मिलित किया जा सकता है?

पोपजी--पाठकगण! जो बात एक जाति में सभ्यता समझी जाती है, वही दूसरी जाति में असभ्यता समझी जाती है। एक समय में जिसको शिष्टता समझा जाता है, दूसरे युग में वही अशिष्टता समझी जाती हैं

तोपजी--आपके कथन से ही सिद्ध हो गया कि शिष्टता और सभ्यता काल्पनिक है। वह क्षण-प्रतिक्षण, देश-प्रतिदेश और युग-युग में बदलनेवाली है। इसलिए सभ्यता और शिष्टता को धर्म और अधर्म का निर्णय करने के लिए कसौटी नहीं माना जा सकता, क्योंकि धर्म अपरिवर्तनशील है, अतः धर्म और अधर्म के निर्णय में कसौटी ईश्वरीय ज्ञान वेद ही हो सकती है, क्योंकि इसकी आज्ञा, जिसका नाम धर्म है, परिवर्तनरहित है और सब कार्यों, सब जातियों और सब देशों के लिए समान है।

पोपजी--जैसाकि नियोग की आज्ञा, जिसके अनुसार आर्यसमाजी जीवित पति की विद्यमानता में स्त्री को दूसरे व्यक्ति के पास जाकर सन्तानोत्पत्ति को वैध मानते हैं।

तोपजी--वेद भगवान् की आज्ञा है कि नपुंसक मनुष्य की स्त्री आपत्काल में वंश चलाने के लिए अथवा अपनी प्राकृतिक कामवासना की इच्छा को वश में रखने के योग्य न होने पर पति की और जातिवालों की आज्ञा के अनुसार दूसरे व्यक्ति से नियोग करके सन्तान प्राप्त कर सकती है। मनुजी महाराज इस प्रकार के पुत्र को क्षेत्रज पुत्र कहते हैं और वह सम्पत्ति का अधिकारी होने से वैध सन्तान स्वीकार किया गया है। इस नियम के अनुसार ही अञ्जना ने अपने पति केसरी के जीवित रहते हुए ही पवन से क्षेत्रज पुत्र हनुमान् को प्राप्त किया, इसी नियमानुसार पाण्डु के जीते हुए कुन्ती और माद्री ने धर्म से

नियोग करके युधिष्ठिर, वायु से भीम, इन्द्र से अर्जुन और अश्विनीकुमारों से नकुल और सहदेव को प्राप्त किया। नियोग की आज्ञा वेद के अनुसार होने से वैध और धर्म है, इसलिए आर्यसमाजी इसे मानते हैं।

पोपजी–परन्तु यही बात सनातन धर्मवालों के लिए असभ्यता है।

तोपजी–हाँ जी! वेद–स्मृति के अनुकूल और सनातनधर्म के अठारह पुराणों के कर्त्ता व्यासजी की प्रयुक्त नियोग की आज्ञा तो असभ्यता है, परन्तु दुराचार करना, गर्भ गिरवाना, वेश्या बनकर बाजारों में पेशा करना, ईसाई और मुसलमानों के घरों को बसाकर गोघातक सन्तान उत्पन्न करना और गुपचुप साधु–महन्तों और क़ब्रों के सेवादारों से सन्तान पैदा करना, यह सनातनधर्म में सभ्यता में सम्मिलित है। बलिहारी जाएँ ऐसी सभ्यता के!

पोपजी–छोटा बच्चा स्त्रियों में नग्न रह सकता है, परन्तु नवयुवकों के लिए यह लज्जा की बात है।

तोपजी–इसीलिए तो हम कहते है कि महादेव, विष्णु और ब्रह्मा का बिल्कुल नग्न होकर और लिंग हाथ में पकड़कर अनसूया के पास जाना और महादेव का सर्वथा नग्न होकर लिंग हाथ में लेकर दारु वन में ऋषि–पत्नियों में जाना आपके निश्चित किये हुए सिद्धान्त के अनुसार ही लज्जा की बात थी और इसका पुराणों में वर्णन करना भी असभ्यता, अशिष्टता और अनुचित था।

पोपजी–एक समय में एक पुरुष के लिए दो या अधिक स्त्रियों से विवाह करना जैसाकि राजाओं की रानियाँ होती हैं, असभ्यता नहीं मानी जाती।

तोपजी–सनातनधर्म में नहीं मानी जाती होगी, अन्यथा सारे सभ्य देशों और भारतवर्ष में यह कार्य असभ्य समझा जाता है, वेदविरुद्ध होने से पाप और दशरथ ने उसका दुष्परिणाम भी भोगा था।

पोपजी–परन्तु एक स्त्री का कई पुरुषों के साथ समागम करके सन्तान उत्पन्न करना असभ्यता समझा जाता हैं।

तोपजी–पति की मृत्यु आदि संकटों के समय एक के पश्चात् दूसरे कई पतियों से सन्तान उत्पन्न करना वेदानुकूल होने से असभ्यता नहीं है, परन्तु द्रौपदी का एक ही समय पर पाँच पतियों से, जटला का एक ही समय में सात पतियों से तथा वार्क्षी का एक ही समय में दस पतियों से सन्तान उत्पन्न करना निःसन्देह असभ्यता समझी जानी चाहिए।

पोपजी–आजकल भाई–बहिन और पिता–पुत्री का विवाह सभ्यता के विरुद्ध है, परन्तु अमैथुनी सृष्टि में इसे सभ्यता और सदाचार के अनुकूल समझा जाता था।

तोपजी–शाबाश सनातनधर्म के सपूतो, शाबाश! माँ और पुत्र के विवाह को क्यों छोड़ दिया? इससे तो बेचारे विष्णुजी पर संकट आ जाएगा। भला! यह तो बता दीजिए कि अमैथुनी सृष्टि में कोई किसी के माता–पिता, पुत्र–पुत्री और भाई–बहिन होते हैं? कदापि नहीं, क्योंकि अमैथुनी सृष्टि में कोई किसी के रज–वीर्य से उत्पन्न ही नहीं होता, अपितु सहस्त्रों पुरुष और स्त्रियाँ बिना किसी माता–पिता के यौवनावस्था में उत्पन्न होते हैं। उनमें से किसी का किसी के साथ वंशगत सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए सृष्ट्यारम्भ में भाई–बहिन, पिता–पुत्री और माता एवं पुत्र के रिश्ते को सदाचार के अनुकूल बताना सनातनधर्म के दुराचार को सिद्ध करता है, क्योंकि वेद और शास्त्र इस प्रकार के विवाह का सर्वथा निषेध करके ऐसे रिश्तों को पाप बतलाते हैं।

पोपजी--और वस्तुतः इसमें (भाई-बहिन आदि के विवाह में) उस समय सदाचार से भ्रष्ट होने का विचार करना भी अनुचित था, क्योंकि अमैथुनी सृष्टि में स्त्री और पुरुष का वर्त्तमान युग-सा समागम भी सन्तानोपत्ति के लिए आवश्यक नहीं था, अपितु केवल विचार की तीव्र तरंग से ही बिना मैथुन के सन्तान उत्पन्न कर ली जाती थी।

तोपजी--अमैथुनी सृष्टि की आवश्यकता तभी पड़ती है, जब मानवीय वंश संसार में विद्यमान न हो और वह समय सर्गारम्भ ही होता है। सृष्ट्यारम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति के पश्चात् फिर स्त्री और पुरुषों के परस्पर विवाह होने से मैथुनी सृष्टि चल पड़ती है। जब तक स्त्री-पुरुष का रज-वीर्य इकट्ठा न हो, तब तक पुरुष बिना स्त्री और स्त्री बिना पुरुष के सन्तानोपत्ति कर ही नहीं सकते। विचारों की तरंग से मनुष्यों ने न कभी सन्तान उत्पन्न की और न उत्पन्न हो सकती है। यह काम ईश्वर का है कि सर्गारम्भ में बिना माता-पिता के मनुष्यों को उत्पन्न करे, परन्तु मनुष्यों में पुरुष के बिना स्त्री के उदर से और स्त्री के बिना पुरुष का केवल अपने वीर्य से सन्तान उत्पन्न कर लेना सर्वथा असम्भव है। इस बात को यजुर्वेद अध्याय १९ मन्त्र ७६ में कहा है।[1] इसकी व्याख्या मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक ३३ तथा अध्याय १० श्लोक ७०-७१ में की गयी है[2] कि--

"स्त्री क्षेत्ररूप हैं और पुरुष बीजरूप है। खेत और बीज दोनों के मिलने से ही सब शरीरधारियों का उत्पन्न होना सम्भव है। अयोग्य क्षेत्र में डाला हुआ बीज वैसे ही नष्ट हो जाता है और बिना बीज के खेत भी कल्लर [ऊसर, बञ्जर] है।"

इस सिद्धान्त की विद्यमानता में आपका स्थिर किया हुआ बिना मैथुन के सन्तानोत्पत्ति का सिद्धान्त ग़लत और असम्भव है।

पोपजी--दूर क्यों जाते हो, मुसलमानों में निकट के रिश्तेदारों की लड़कियाँ ही ब्याही जाती हैं, परन्तु हिन्दुओं में ऐसा नहीं, अपितु इसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। ऐसी अवस्था में पुराणों की किसी कथा को अन्य स्थितियों को देखे बिना असभ्यता ठहराना अत्यन्त अनुचित और गलत है।

तोपजी--मुसलमानों की भी एक ही कही! क्या मुसलमानों की सभ्यता आपके धर्माधर्म का निर्णय करने में कसौटी मानी जा सकती है? मुसलमान तो गोमांस भी खाते हैं, तो क्या इससे पुराणों में वर्णित गोमांस-भक्षण उचित सिद्ध हो जाएगा? यदि नहीं तो फिर पुराणों में वर्णित माता, बहिन, पुत्री, भतीजी, मामी आदि से विवाह मुसलमानों का उदाहरण देकर उचित कैसे सिद्ध किये जा सकते हैं? और फिर सगी माँ, बहिन, बेटी से विवाह करना इस्लाम भी वैध नहीं मानता। अब अपने ब्रह्मा, विष्णु और महादेव की करतूत को कैसे उचित सिद्ध करोगे, जिन्होंने सगी पुत्री, माँ और बहिन से विवाह कर लिया? इसलिए इन कल्पनाओं और इधर-उधर भागने-दौड़ने से पुराणों की शिक्षा को आप धर्म और सभ्यता के अनुकूल सिद्ध नहीं कर सकते। धर्म और अधर्म का निर्णय करने के लिए, अन्तिम कसौटी वेद है जो इस प्रकार के निकट-सम्बन्धों को पाप बताता है, अतः निकट के रिश्ते प्रत्येक अवस्था में पाप हैं, चाहे पुराणों में उनका उल्लेख हो अथवा मुसलमानों

---

१. रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्। गर्भो जरायुनावृतऽ उल्वं जहाति जन्मना।।

२. बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः। बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितः।।७०।।
अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति। अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत्।।७१।। --सं०

में क्रियात्मक रूप में प्रचलित हो चुके हों। हिन्दू भी निकट-सम्बन्धों से इसलिए घृणा करते हैं कि निकट रिश्ते में विवाह वेद और शास्त्र-विरुद्ध होने से पाप है।

पोपजी—सृष्टि दो प्रकार ही होती है—एक अमैथुनी और दूसरी मैथुनी, अर्थात् एक मानसी और दूसरी स्त्री-पुरुष के मिलाप से।

तोपजी—अमैथुनी का मानसी अर्थ आपने कहाँ से निकाल लिया? अमैथुनी का सीधा अर्थ यह है कि जो स्त्री-पुरुष के मिलाप से उत्पन्न न हुई हो और मैथुनी जो स्त्री-पुरुष के मिलाप से उत्पन्न हुई हो।

पोपजी—ब्रह्मा की प्रथम देव और ऋषि-सृष्टि मानसी थी।

तोपजी—सर्गारम्भ में परमात्मा की ओर से मनुष्यों की उत्पत्ति होती है और चार ऋषियों के द्वारा वेदों का प्रकाश परमात्मा की ओर से होता है। जो लोग वेदों का ज्ञान प्राप्त करके उसपर आचरण करते हैं उन्हीं का नाम देव और ऋषि होता है। यदि ब्रह्मा से आपका तात्पर्य परमात्मा हो तो हमें कोई आपत्ति नहीं, परन्तु इस सृष्टि का नाम मानसी नहीं अपितु अमैथुनी होगा, क्योंकि परमात्मा के मन नहीं होता। यदि ब्रह्मा से आपका तात्पर्य किसी देहधारी मनुष्य से है तो वह बिना स्त्री से मैथुन किये सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकता।

पोपजी—सत्ययुग में सब ऋषि मानसिक शक्ति के धनी होने से मानस-सृष्टि उत्पन्न करने की शक्ति रखते थे।

तोपजी—यह बिल्कुल ग़लत है। सब ऋषियों की स्त्रियों का वर्णन पुराणों में आता है। पुराणों में तो ऋषि और देवताओं के सम्बन्ध में यह भी वर्णन आता है कि वे दूसरों की स्त्रियों से बलात् भोग कर लेते थे और बिना स्त्री से सम्भोग किये सन्तान उत्पन्न करना पौराणिक गप्प है।

पोपजी—परन्तु जब मानसिक शक्ति की कमी होती गयी, उस समय यज्ञादि करके दैवी शक्ति को अपने वश में करके घृत या चरु आदि से देवताओं की शक्ति से सन्तान उत्पन्न की जाती थी।

तोपजी—जिस प्रकार मानसिक सृष्टि पौराणिक गप्प है, उसी प्रकार देवसृष्टि भी पौराणिक गप्प ही है। हाँ, यह तो माना जा सकता है कि यदि किसी स्त्री के सन्तान न होती हो तो उसके इस रोग को दूर करने के लिए पुत्रेष्टियज्ञ अथवा अन्य किसी यज्ञविशेष का चरु खिलाया जाए, परन्तु गर्भधारण फिर भी पुरुष-सम्भोग से ही होता था जैसे दशरथ के यहाँ पुत्रेष्टियज्ञ करके बची हुई खीर रानियों को खिलाई गयी। उनका रोग दूर हो गया तो दशरथ से रानियों में सन्तान उत्पन्न हुई। पुरुष-संयोग के बिना केवल घी या चरु खाने से किसी स्त्री के गर्भ ठहर जाना असम्भव और ग़लत है।

पोपजी—पश्चात् विद्या की कमी होने से जब यह शक्ति भी नष्ट हो गयी तब केवल मैथुनी सृष्टि पर ही सब-कुछ निर्भर हो गया।

तोपजी—सर्गारम्भ में परमात्मा के द्वारा मनुष्यों की उत्पत्ति के पश्चात् से आज तक बिना स्त्री-पुरुष के संयोग के न सन्तान हुई, न होती है और न होगी और न ही हो सकती है।

पोपजी—देवता और मनुष्य में बहुत भारी अन्तर है।

तोपजी—बस इतना ही अन्तर है कि साधारण व्यक्ति को मनुष्य कहते हैं और विद्वान्,

धर्मात्मा व्यक्ति को देव या देवता कहते है। रामायण में स्थान-स्थान पर सीता के लिए देवी और राम तथा दशरथ के लिए देव शब्द आता है। उदाहरण के रूप में एक श्लोक देना पर्याप्त होगा। जब दशरथ से कैकेयी ने वर माँगे तो राजा दशरथ ने राम को बुलाया उस समय पिता के पास जाते हुए राम ने सीता से कहा—

देवि देवश्च देवी च समागम्य मदन्तरे।
मन्त्रयेते ध्रुवं किञ्चिदभिषेचनसंहितम्॥ —वा० रा० अयो० १६।१५

अर्थ—हे देवि (सीता)! देव (दशरथ) और देवी (कैकेयी) इकट्ठे होकर निश्चय ही मेरे राज्यतिलक के सम्बन्ध में कुछ परामर्श कर रहे हैं।

इस श्लोक में देव शब्द स्पष्ट रूप से मनुष्यों के लिए प्रयुक्त हुआ है। नाटकों में भी स्थान-स्थान पर मनुष्यों के लिए देव शब्द आया है। आपका यह कहना कि देवताओं को भूख-प्यास आदि नहीं सताती, सर्वथा ग़लत है। देखिए, शिवपुराण, रुद्रसंहिता, पार्वतीखण्ड अध्याय ५२ में लिखा है कि "महादेव के विवाह में सब ऋषि-देवता आदि गये और हिमाचल के यहाँ खूब भोजन किया।" यह तो आपकी और भी विचित्र बात है कि देवता का जन्म उसके पुत्र से भी हो सकता है। कोई उदाहरण तो दे दिया होता ताकि आपकी योग्यता का पता लग जाता! निष्कर्ष यह कि देवताओं के सम्बन्ध में कल्पित बातें बनाना व्यर्थ और गलत है। विद्वान् और धर्मात्मा मनुष्यों को ही देव और ऋषि कहते हैं।

पोपजी—देवताओं की योनि भोगयोनि है।

तोपजी—भोगयोनि तो पशु-पक्षी की होती है तो क्या देवता भी पशु ही होते हैं? क्या वे स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं होते, केवल पशुओं की भाँति फल ही भोगते हैं? तनिक होश सँभालो और अपने स्वार्थ के लिए देवताओं को पशु मत बनाओ।

पोपजी—देवयोनि से किये हुए किसी प्रकार के भी कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता। सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र, बृहस्पति, अग्नि, वायु आदि देवताओं ने जो भी कर्म किये, उन्हें किसी कर्म का फल नहीं मिल सकता।

तोपजी—पुराणों के अध्ययन से पता लगता है कि सब पौराणिक देवताओं को कर्मों का फल मिलता है। ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड अध्याय ७९ में लिखा है—

"जमदग्नि अपनी स्त्री रेणुका के साथ भोग कर रहा था कि सूर्य ने विघ्न डाल दिया। इसपर जमदग्नि ने कहा—'क्योंकि तून आज मेरे रस में भंग डाल दिया, अतः तू मेरे शाप से पापी और राहू से ग्रसा हुआ होगा।' उस शाप के कारण ही आज तक सूर्य को ग्रहण लगता है।"

ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड अध्याय ८० में लिखा है—

"जब चन्द्रमा ने बृहस्पति की स्त्री तारा को बलात् पकड़कर भोग लिया तब तारा ने चन्द्रमा को शाप दिय कि तू पापी, कलंकी और राहू[1] से ग्रसा हुआ होगा। इससे चन्द्रमा को ग्रहण लगने लगा।"

ब्रह्मा अपनी पुत्री शारदा के पीछे भागा तो उसके शाप से ब्रह्मा का पाँचवाँ सिर नष्ट

---

१. राहु सूर्य को ग्रसता है, परन्तु यहाँ चन्द्रमा को भी राहू से ग्रसा जाना कहा है। अन्य पुराणों में राहू और केतू क्रमशः सूर्य और चन्द्रमा को ग्रसते हैं। इस प्रकार पुराणों में वदतोव्याघात-दोष बहुत है।
—जगदीश्वरानन्द

हो गया। विष्णु ने जालन्धर की स्त्री से भोग किया तो उसके शाप से पत्थर बन गया।

शिवपुराण में जब सब देवता दु:खी होकर महादेव के पास गये तब वे पार्वती से भोग कर रहे थे। देवताओं के कहने से जब वे भोग करना छोड़कर खड़े हुए तो पार्वती ने देवताओं को शाप दिया— 'हे देवता लोगो! क्योंकि तुमने मेरे भोग में विघ्न डालकर मुझे वन्ध्या कर दिया, अत: आज से तुम्हारी सब स्त्रियाँ वन्ध्या हो जाएँगी।'

एक और सुनो! इन्द्र ने अहल्या से भोग किया तो गौतम के शाप से इन्द्र के अण्डकोश गिर गये। तात्पर्य यह कि पुराण इस बात से भरे पड़े हैं कि देवताओं को भी उनके कर्मों का फल मिलता है, अत: पोपजी का दावा उनके अपने ही पुराणों के विरुद्ध है।

पोपजी—मनुष्ययोनि में शरीर स्थूल होते हैं, देवयोनि में शरीर केवल मानसिक और आत्मिक।

तोपजी—परमात्मा ऐसी दुर्दशा किसी की न करे जैसीकि आजकल सनातनधर्म के पण्डितों की हो रही है। बेचारे पुराणों के झूठ को सच सिद्ध करने की धुन में सैकड़ों झूठ बोलकर भी सफल नहीं होते। कभी कहते हैं कि देवताओं को भूख-प्यास नहीं लगती तो कभी कहते हैं कि ये भोग-योनियाँ हैं, सब प्रकार के भोग भोगते हैं। भला! जब भूख-प्यास आदि इच्छाएँ होती ही नहीं तो सब प्रकार के कौन-से भोग भोगते हैं? कभी कहते हैं कि देवों को कर्मों का फल नहीं मिलता, कभी कहते हैं कि इनका शरीर आत्मिक होता है। भला! जब शरीर आत्मिक ही है तो शारीरिक कर्म कैसे करते हैं? तात्पर्य यह कि जो मुँह और जी में आता है कहते हैं, आगे-पीछे का पता ही नहीं रहता। परमात्मा इनको बुद्धि प्रदान करें कि वे पुराणों की गप्पों को सत्य सिद्ध करने के व्यर्थ प्रयत्नों को छोड़कर वेदों के स्वाध्याय में लगें और उनके अनुसार चलकर अपने जीवन को सफल बनाएँ।

पोपजी—वे नियम जो स्थूल शरीर पर घटित हों, स्वभावत: उन नियमों से भिन्न होने चाहिएँ, जो आत्मा या मन पर लागू हो सकें।

तोपजी—परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों को उत्पन्न करने के पश्चात् उन्हें धर्म और अधर्म का उपदेश करने के लिए चारों वेदों का प्रकाश किया। यह विधान सब मनुष्यों पर लागू है। देवयोनि कोई पृथक् योनि नहीं जैसीकि आप कल्पना कर रहे हैं, अपितु मनुष्यों में ही जो विद्वान्, धर्मात्मा और योगी लोग होते हैं, उन्हें देव कहते हैं। प्रमाण के लिए यजुर्वेद अध्याय ३१, मन्त्र १६ में देव शब्द का अर्थ योगी ही हो सकता है। महीधर ने भी यही अर्थ किया है—**एवं योगिनोऽपि दीपनाद्देवा:।** इस प्रकार योगी भी प्रकाशमान होने से देव हैं, अत: सब मनुष्यों के लिए चाहे वे देव अर्थात् विद्वान् योगी हों और चाहे वे पितर अर्थात् ज्ञान-बल से हमारी रक्षा करनेवाले हों, परमात्मा ने एक ही विधान बनाया है, जो सबपर लागू है।

जब आप भी अपनी मिथ्या कल्पना में यह स्वीकार करते हैं कि देव अपनी इच्छानुसार कई शरीर और रूप धारण कर सकते हैं, तो आपके सिद्धान्त के अनुसार भी वे जब-जब मनुष्य का शरीर धारण करके संसार में कोई भी काम करेंगे तो निश्चय ही उनपर भी वही विधान लागू होगा, क्योंकि वे मानस या आत्मिक शरीरों से तो संसार में कोई स्थूल कर्म कर ही नहीं सकते, अत: प्रत्येक अवस्था में देवों और मनुष्यों के लिए

एक ही विधान, एक-जैसे नियम लागू हैं।

पोपजी—मनुष्यों का अपनी बहिन आदि से विवाह करना धर्म के विरुद्ध है, परन्तु सर्गारम्भ के स्वामी दयानन्द के भी जवान-जवान जोड़ों ने आपस में विवाह करके सन्तान पैदा की थी।

तोपजी—जब तक कोई किसी के शरीर के अंश से उत्पन्न न हो तब तक किसी का किसी के साथ माता-पिता, पुत्र-पुत्री, बहिन-भाई आदि का रिश्ता माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि सर्गारम्भ में सहस्रों स्त्री-पुरुषों में से कोई किसी के अंश से आपस में पैदा ही नहीं हुए थे, अतः उनके परस्पर माता-पिता, पुत्र-पुत्री, बहिन-भाई के सम्बन्ध थे ही नहीं, फिर इस दृष्टान्त से बहिन-भाई आदि का विवाह सिद्ध नहीं हो सकता।

पोपजी—मानना पड़ेगा कि हमारा और सृष्टि के ऋषियों का मुक़ाबला कभी भी नहीं हो सकता।

तोपजी—हम सिद्ध कर आये हैं कि मानसी कोई सृष्टि होती ही नहीं, यह केवल पोपजी की कल्पना हैं; परन्तु इसकी परीक्षा भी कर लें। हाँ तो पोपजी! यह बतलाने की कृपा करें कि जिसे आप अपनी मिथ्या कल्पना के अनुसार मानसी सृष्टि कहते हैं, इसमें ऋषि या देवता लोग अपने शरीर का कोई अंश सम्मिलित करते हैं या नहीं? और जिन स्त्रियों से मानस सृष्टि उत्पन्न करते हैं उन स्त्रियों के शरीर का अंश इस मानस सृष्टि में सम्मिलित होता है या नहीं? यदि यह मानो कि इस मानस सृष्टि में ऋषि, देवता और स्त्रियों के शरीर का किसी प्रकार का कोई अंश सम्मिलित नहीं होता तो फिर इस प्रकार तो इस मानसी सृष्टि में कोई माता-पिता, पुत्र-पुत्री और बहिन-भाई होता ही नहीं; और यदि यह कहो कि मानसी सृष्टि में भी दोनों पक्षों में से दोनों का या एक का शारीरिक अंश अवश्य सम्मिलित होता है तो फिर इनमें माता-पिता, पुत्र-पुत्री, बहिन-भाई का रिश्ता पक्का हो गया और वह सृष्टि भी मानसी नहीं रही, क्योंकि उसमें शारीरिक अंश सम्मिलित हो गया, इसलिए आपके कथानुसार भी ऐसा विवाह करनेवालों को पाप अवश्य लगेगा, अतः आपकी कल्पना से भी बहिन-भाई आदि का विवाह वैध सिद्ध नहीं होता।

पोपजी—देवसृष्टि अथवा ऋषिसृष्टि के सम्बन्ध में जो टीका-टिप्पणी की जाती है, वह अज्ञानता है।

तोपजी—हम सिद्ध कर चुके हैं कि सृष्टि के आरम्भ में जो अमैथुनी सृष्टि परमात्मा की ओर से उत्पन्न होती है, उसके सिवाय कोई भी मनुष्य, देवता और ऋषि बिना स्त्री से मैथुन के सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकता, तथा मनुष्यों में से ही जो वेदों के विद्वान्, धर्मात्मा और योगी बन जाते हैं उन्हीं का नाम देवता और ऋषि होता है। इनका अस्तित्व मनुष्यों की अपेक्षा भिन्न प्रकार का नहीं होता, अतः परमेश्वर का विधान वेद सबपर एक-सा लागू होता है, अतः पुराणों के ऋषि और देवताओं के आचरण पर हमारा टीका-टिप्पणी करना सर्वथा सत्य और उचित है।

पोपजी—इस पुस्तक में पहला भाग शास्त्रार्थ का होगा जिसमें केवल दोनों पक्षों के उपदेशकों के कथन को ही रक्खा जाएगा। अपनी ओर से हम इसमें एक शब्द भी नहीं रक्खेंगे।

तोपजी—इस प्रतिज्ञा का आपने पालन नहीं किया, क्योंकि पण्डित श्रीकृष्ण शास्त्री ने अपने प्रश्नों के साथ एक भी वेदमन्त्र देकर अपने दावे को सिद्ध नहीं किया था, परन्तु

आपने प्रश्नों के साथ वेदमन्त्र अपनी ओर से जोड़ दिये हैं और स्थान-स्थान पर श्रीकृष्ण के मुख से कहला दिया कि "मैंने अपने प्रश्नों को वेदमन्त्रों के साथ स्थापित कर दिया है, आप उनका उत्तर क्यों नहीं देते?" वस्तुतः ऐसा श्रीकृष्ण ने कहा ही नहीं था। कई घटनाओं को आप छोड़ ही गये हैं, अतः आपने यह झूठी प्रतिज्ञा लिखकर जनता को धोखा दिया है, जिसकी हम अच्छी प्रकार से पोल खोलकर जनता के समक्ष रक्खेंगे।

शास्त्रार्थ पर समालोचना

पोपजी—शास्त्रार्थ का विषय यह था—'स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं', परन्तु आर्यसमाजियों ने 'या अष्टादश पुराण' का दुमछल्ला अपनी ओर से जोड़कर अपने मन की भड़ास निकालने और अपनी दुर्बलताओं को छुपाने के लिए एक आड़ बना ली।

तोपजी—अष्टादश पुराण का दुमछल्ला जोड़ा नहीं गया अपितु आरम्भिक पत्र-व्यवहार में निर्णीत विषय यही था, जैसाकि प्रधानजी ने अवसर पड़ने पर जनता के समक्ष पत्र-व्यवहार सुनाकर निर्णय दिया और सनातनियों ने भी सचाई के समक्ष सिर झुका दिया।

पोपजी—शास्त्रार्थ के प्रश्नों को सम्पूर्ण रूप से लिखने की बजाय अपने स्वार्थ के लिए उन्हें संक्षिप्त बनाकर लिखा जिससे पं० श्रीकृष्ण शास्त्री के विचारों की वास्तविक शान और सत्यता में निर्बलता प्रकट हो।

तोपजी—श्रीकृष्ण शास्त्री के प्रश्न स्वभावतः निर्बल थे, क्योंकि वे अपने दावे को सिद्ध करने के लिए वेदमन्त्र प्रस्तुत नहीं कर सके। आपने अपनी ओर से कुछ प्रश्नों में वेदमन्त्र लगा दिये, शेष में मन्त्र लगाने से आप भी विवश रहे, परन्तु आपकी इस वृद्धि से जनता की दृष्टि में श्रीकृष्ण के प्रश्नों में कोई प्रबलता नहीं आई, अपितु निर्बलता का प्रमाण प्रकट हो गया।

पोपजी—और उधर अपनी ओर के पण्डित लोकनाथजी के उत्तरों की बढ़ोत्तरी करके आर्यसमाज की प्रथम शानदार पराजय प्राप्त की।

तोपजी—तनिक निकालकर बताया तो होता कि कौन-सी वृद्धि की है? हाँ, आपने दोनों ओर के भाषणों में कतरब्योंत करके सनातनधर्म का मुँह काला किया है। वह कलई खोलकर हमने जनता के समक्ष रख दी है।

पोपजी—सिवाय इधर-उधर की टालमटोल और व्यर्थ बातों के आर्यसमाजी पण्डित लोकनाथजी ने एक प्रश्न का भी उत्तर नहीं दिया कि जो बुद्धिमानों की दृष्टि में उत्तर कहा जा सके।

तोपजी—सभी न्यायालयों का यह साधारण नियम है कि वादी जिस दावे का प्रमाण न्यायलय में प्रस्तुत न करे वह प्रतिवादी के उत्तर के बिना ही समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार से पं० श्रीकृष्णजी ने जिस प्रश्न को न्याय के अनुसार वेदमन्त्र देकर स्थापित किया उसका मुँहतोड़ उत्तर दिया गया और बाकी प्रश्नों को प्रमाण न होने के कारण बिना उत्तर दिये रद्दी की टोकरी में फेंक दिया गया और यही उचित भी था।

पोपजी—समाजियों के धुरन्धर विद्वानों की वीरता तो हम तब मानते जब वे विशाल हृदय से घोषणा करते कि लो भाई! सनातनधर्मी वेदप्रमाणों से अपने पक्ष को स्थापित तो नहीं कर सके, परन्तु हम उत्तर दे ही देते हैं।

तोपजी—जादू वह जो सिर चढ़कर बोले! सचाई अन्ततः सात पर्दे फाड़कर बाहर

निकल आती है। अन्ततः आपने मान ही लिया कि सनातनधर्मी पण्डित ने वेदमन्त्र देकर अपना पक्ष स्थापित नहीं किया। जब वादी अपने दावे को सिद्ध ही नहीं कर सका तो फिर आर्यसमाजी पण्डित उत्तर देने का नियम-विरुद्ध कार्य करके सुशिक्षित जनता की दृष्टि में अपने-आपको हास्य का पात्र क्यों बनाता?

पोपजी—जब प्रश्न पूछा जाए कि **'ओं सानुगायेन्द्राय नमः'** वाला मन्त्र जो आपके स्वामी दयानन्दजी वेद के नाम से सत्यार्थप्रकाश में लिखकर संसार को धोखा दे गये हैं, किस वेद में है? तो उत्तर मिलेगा कि पहले तुम वेदमन्त्र बताओ, फिर हम बताएँगे।

तोपजी—जब स्वामीजी ने इस मन्त्र को वेद के नाम से सत्यार्थप्रकाश में लिखा ही नहीं तो फिर आपका यह प्रश्न करना कि 'वेद में से दिखाओ' दुराग्रह, अज्ञानता, स्वार्थ और धोखा देना नहीं तो क्या है? रहा आपका यह प्रश्न करना कि यह वेद के विरुद्ध है, इसके लिए आपको वेद का मन्त्र देकर उसके साथ इस मन्त्र का विरोध दिखलाना पड़ेगा, अन्यथा आपका प्रश्न बिना प्रमाण का दावा होने से बिना उत्तर दिये ही रद्द करने के योग्य है।

पोपजी—वाह! शुद्ध चाँदी का बोर्ड तुम अपनी दुकान पर लगाओ और खरीदनेवाले का दायित्व लगाओ कि वह सिद्ध करे कि हमारी दुकान की चाँदी शुद्ध नहीं, क्या बुद्धि से कोरा उत्तर है?

तोपजी—बुद्धि से कोरा उत्तर नहीं है अपितु उत्तर सुननेवाला बुद्धि और मस्तिष्क से कोरा है। जब हमने अपनी दुकान पर कसौटी के अनुसार परीक्षा करके शुद्ध चाँदी रक्खी हुई है और खरीदनेवाला व्यर्थ आकर कहे कि तुम्हारी चाँदी खोटी है तो हमें कहना पड़ेगा कि यह कसौटी पड़ी है और यह चाँदी पड़ी है। इसे कसौटी पर घिसकर यह सिद्ध करो कि हमारी चाँदी खोटी है, अन्यथा हमने तो पहले ही परखकर रक्खी हुई है। प्रमाण का दायित्व खरी चाँदी को खोटी कहनेवाले पर ही होता है।

पोपजी—जब समाज और उसके संस्थापक का दावा है कि आर्यसमाज वेदानुकूल है तो फिर वेद के नाम से लिखी गयी बात को भी वेद से सिद्ध न करना कितना बड़ा धोखा देना है।

तोपजी—जिस व्यक्ति की बुद्धि इतनी मोटी हो कि वह वेद और वेदानुकूल में भी विवेक न कर सकता हो, वह आर्यसमाज के सम्मुख आने का साहस करे यह सचमुच वीरता नहीं तो क्या है? अजी पोपजी! वेद होना और बात है और वेद के अनुकूल होना और बात है। यदि कोई मूर्ख ख़रीदार सर्राफ़ की दुकान पर जाकर कहे कि क्योंकि आपकी दुकान पर लिखा हुआ है कि "हमारी चाँदी कसौटी के अनुसार होने से खरी है," इसलिए वह डली जोकि सामने पेटी में पड़ी है, उसे सिद्ध करो कि वह कसौटी का टुकड़ा है, तो आप विचार कर सकते हैं कि सर्राफ उस खरीदार के साथ क्या व्यवहार करेगा? यही न कि उसे धक्के देकर दुकान के चबूतरे से नीचे उतार देगा और कहेगा कि "तू कैसा पागल है! हमने अपनी दुकान पर यह लिखा है कि हमारी चाँदी कसौटी के अनुसार खरी है, न कि यह लिखा है कि हमारी चाँदी कसौटी है। और खरीदार चिल्लाने लगे कि देखो कसौटी के भी टुकड़े होते हैं और चाँदी का भी टुकड़ा है, अतः टुकड़ा शब्द की समानता से चाँदी कसौटी का टुकड़ा ही होना चाहिए। जैसे उपर्युक्त ख़रीदार की बातों में सिवाय मूर्खता के और कुछ नहीं, वैसे ही आपकी बातों में कोरी मूर्खता ही भरी पड़ी है। यदि

आर्यसमाज की पुस्तकों पर लिखा हुआ है कि ये वेदानुकूल हैं तो इसका यह अर्थ कहाँ निकल आया कि इनमें जो कुछ लिखा है, वे वेद के मन्त्र ही हैं? सत्यार्थप्रकाश आदि पुस्तकों में शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों के मन्त्र, गृह्यसूत्रों और दर्शनों के सूत्र तथा मनुस्मृति, रामायण, महाभारत आदि के श्लोक भी दिये हुए हैं। इसी प्रकार से **'सानुगायेन्द्राय नमः'** आदि मन्त्र भी स्वामीजी ने मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ८५ से ९० तक के अनुसार लिखे हैं और इन्हें मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक १२१ में मन्त्र भी स्वीकार किया है। इन्हें स्वामीजी ने कहीं भी वेदमन्त्र नहीं लिखा। मन्त्र संस्कृत की एक प्रकार की शैली का नाम है। यह विचार ग़लत है कि मन्त्र सिवाय वेदों के और होते ही नहीं और जिसे मन्त्र कहा जाए उसका वेद में होना आवश्यक समझा जाए, क्योंकि ब्राह्मण, उपनिषद् और गृह्यसूत्रों में भी मन्त्र विद्यमान हैं और पुराणों में सैकड़ों संस्कृत के पाठ मन्त्र के नाम से विद्यमान हैं, परन्तु उनका वेदों में चिह्न तक भी नहीं है। उदाहरण के रूप में हम दो मन्त्र पुराणों में से देते हैं—

ओं श्रीदुर्गायै सर्वविघ्नविनाशिन्यै नमः। —ब्रह्म० ख० ४ अ० २७ श्लो० ८

ओं सर्वेश्वराय सर्वविघ्नविनाशिने मधुसूदनाय स्वाहा। —ब्रह्म० ४।७८।३७

निष्कर्ष यह कि केवल मन्त्र शब्द की समानता से प्रत्येक मन्त्र को वेदों में से दिखाओ, यह कहना और लिखना उपर्युक्त खरीदार का-सा ही पागलपन है, अतः जिस प्रकार सत्यार्थप्रकाश में वेदों के अतिरिक्त और पुस्तकों के प्रमाण भी विद्यमान हैं और वे वेदानुकूल होने से प्रमाण हैं, उसी प्रकार **'सानुगाय'** आदि मन्त्र भी मनुस्मृति के आदेश के अनुसार सत्यार्थप्रकाश में लिखे गये हैं और वेदानुकूल होने से प्रमाण हैं। जिस प्रकार यदि कोई शतपथ आदि ब्राह्मण, उपनिषद् या सूत्र अथवा मनुस्मृति, रामायण, महाभारत का प्रमाण सत्यार्थप्रकाश से पढ़कर कहे कि इसे वेद में दिखलाओ, जैसे उसकी चेष्टा को बेहूदा स्वीकार किया जाएगा, वैसे ही जो व्यक्ति **'सानुगायेन्द्राय नमः'** को पढ़कर कहता है कि वेद में से दिखलाओ, उसकी चेष्टा को भी बेहूदा, पागलपन और जनता को धोखा देना ही कहा जाएगा।

पोपजी—शास्त्रार्थ में महाशय लोकनाथजी की बारी में एक स्थान पर समाजी मित्रों ने शब्दों को रंगत दी है कि महाशयजी के चीरलीलावाली तस्वीर दिखाने पर जनता में हाहाकार मच गया। समाजियों की इस वीरता पर हम कोई सम्मति स्थिर नहीं करते, क्योंकि यह लीला भगवान् ने केवल चार वर्ष की अवस्था में की थी।

तोपजी—इस लेख में शब्दों को रंगत नहीं दी गयी है, वस्तुतः ही जनता में हाहाकार मच गया था। आर्यसमाजियों की इस वीरता पर आप सम्मति स्थिर कर भी कैसे सकते हैं, जबकि इस तस्वीर को दिखाते ही सम्पूर्ण सनातनधर्मी जनता लज्जा के कारण पानी-पानी हो गयी थी और लज्जा के कारण मुँह छिपाने को स्थान नहीं मिला था। रहा आपका यह कहना कि भगवान् ने यह लीला चार वर्ष की अवस्था में की थी, यह सर्वथा असत्य और सनातनधर्मी जनता को धोखा देना है। प्रथम तो कोई बुद्धिमान् व्यक्ति यह स्वीकार नहीं कर सकता कि इतनी गोपियों के कपड़ों को उठकार कोई चार वर्ष का बच्चा वृक्ष पर चढ़ सकता है। दूसरे, आप अपने इस लेख को स्वयं झुठलाते हुए इसी पुस्तक के पृष्ठ १८२ पर लिखते हैं कि—"चीरहरण करने के समय भगवान् श्रीकृष्ण की अवस्था छह वर्ष की थी।" इससे पता लगता है कि आप बैठे हुए झूठी थ्यूरियाँ घड़ते रहते हैं और

'दरोगगो रा हाफ्ज़ा न बाशद'[१] के अनुसार अपनी पिछली बातों को आगे चलकर भूल जाते हैं, अन्यथा पुराणों में श्रीकृष्ण की जो कामक्रीड़ा लिखी है, वह उनकी छोटी अवस्था को सिद्ध नहीं करती और फिर आप तो यह मानते हैं कि श्रीकृष्णजी आवश्यकता और इच्छा के अनुसार शरीर धारण कर सकते थे, अतः चीरहरणलीला से भी बहुत पूर्व ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४ अध्याय १५ में आता है–

"एक दिन नन्द कृष्ण को गोद में लेकर गौएँ चराने गया। सहसा आकाश बादलों से **आच्छादित हो गया** और तीव्र वृष्टि होने लगी। इतने में राधा आयी और कृष्ण को लेकर चली गयी। थोड़ी देर में राधा ने देखा कि एक अत्यन्त सुन्दर मण्डप बना हुआ है और इसमें युवावस्थावाले कृष्णजी लेटे हुए हैं। राधा ने कृष्ण से भोग करना चाहा तो कृष्ण ने कहा–"तनिक ठहरो।" इतने में ही ब्रह्माजी आ अये और उन्होंने राधाकृष्ण का विवाह करवा दिया। इसके पश्चात् दोनों ने जी भरकर एक-दूसरे के वस्त्र उतारकर भोग किया और भोग से निवृत्त होकर जब राधा कृष्ण का शृङ्गार करने लगी तो तुरन्त कृष्णजी फिर बालक बन गये और भूख से रोने लगे, तब राधा कृष्ण को उठाकर यशोदा को दे आई।"

होनहार बिरवान के चिकने-चिकने पात। जब चीरहरणलीला से बहुत पूर्व कृष्णजी की यह अवस्था थी कि उन्होंने जवान बनकर राधा से विवाह करके जी भरकर भोग भी कर लिया था तो फिर चीरहरण के समय उन्हें छोटी अवस्था का सिद्ध करने से आपका क्या स्वार्थ सिद्ध होगा, अतः इस दार्शनिकता को लपेटकर रख दीजिए। भला! यदि छोटी अवस्था के कारण कृष्ण में विषय-वासना की योग्यता न थी तो फिर छोटी अवस्था में गोपियों को नंगा होकर नहाने से पाप लगने का उपदेश देने की योग्यता कैसे सिद्ध हो सकती है?

पोपजी–हाँ, न्यायालय के उस निर्णय की नक़ल पाठकों के मनोरञ्जन के लिए यहाँ लिखते हैं, जो चीरहरणलील के सम्बन्ध में दिया गया था।

तोपजी–आप इस प्रकार के न्यायालय के निर्णय दिखाकर सम्भव है मूर्ख सनातनधर्मी लोगों की आँखों में धूल झोंक सकें, परन्तु बुद्धिमान् लोगों की दृष्टि में ये निर्णय क्या मूल्य रखते है? क्योंकि सारी शिक्षित जनता जानती है कि अंग्रेज सरकार की यह प्रसिद्ध घोषणा है कि वह किसी के धार्मिक विषय में हस्तक्षेप नहीं करेगी। यद्यपि सरकार का यह कानून है कि वह जनता में अश्लील तस्वीरों और अश्लील लेखों का प्रचार करनेवालों को दुराचार को रोकने के कानून के अन्तर्गत दण्ड देती है, परन्तु जिन चित्रों और लेखों का धर्म के साथ सम्बन्ध है, उन चित्रों और लेखों के अश्लील, दुराचार को बढ़ावा देनेवाले होने पर भी दृष्टि से ओझल कर देती है। इसका प्रकट प्रमाण यह है कि सरकार ने आज तक भी जगन्नाथपुरी के मन्दिर की दीवारों पर खुदी हुई सर्वथा नग्न और मनुष्य के माप की स्त्री और पुरुषों की भोग-विलास करती हुई तस्वीरों को कि "जिनको देखकर लाला जमनालाल बजाज लज्जा के कारण पानी-पानी हो गये और इस विचार से कि कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर इन चित्रों की विद्यमानता में हम लोगों को क्या मुँह दिखाएँगे, उनको दूर करने के लिए सत्याग्रह के लिए तैयार हो गये थे" आज तक भी सरकार ने अवैध बताकर उनपर रोक नहीं लगाई और शिवलिङ्ग की पार्वती की योनि में गाड़ी हुई दुराचार को बढ़ावा देनेवाली तस्वीर पर जो सभी शिवालयों में अपनी विद्यमानता से स्त्रियों

१. झूठ बोलनेवाले की स्मरणशक्ति नहीं होती। –सं०

में व्यभिचार का प्रचार कर रही है, आज तक रोक नहीं लगायी। कृष्णजी से सम्बन्धित गोपियों से रासक्रीड़ा करते हुए अनेक प्रकार के चित्रों को भी बन्द नहीं किया। सबसे अधिक दुराचार की शिक्षा देनेवाले अठारह पुराणों के लेख को भी सरकार ने रोक लगाने योग्य नहीं समझा। इन सब बातों का कारण यही है कि इन सबका धर्म के साथ सम्बन्ध है और सरकार धर्म के विषय में हस्तक्षेप करना नहीं चाहती। यदि सरकार के एक अभिज्ञ प्रतिनिधि ने चीरहरण के चित्र को अश्लील और दुराचार को बढ़ानेवाला समझकर इसके मुद्रण और विक्रय करनेवाले को दण्ड दे दिया और सनातनधर्म की ओर से कोलाहल होने पर सैशनजज के यहाँ अपील करके वकील के यह सिद्ध करने पर कि "इस चित्र का पुराणों के पवित्र लेख के साथ सम्बन्ध है और यह धार्मिक चित्र है" सैशनजज ने अपील स्वीकार करके दण्ड का निषेध कर दिया, तो क्या इससे यह सिद्ध हो गया कि सरकार इसे अश्लील और दुराचार को बढ़ानेवाला नहीं समझती और नग्न स्त्रियों का वह चित्र जनता के लिए दुराचार की शिक्षा देने की बजाय सभ्यता की शिक्षा देनेवाला बन गया, कदापि नहीं। जज के निर्णय में ये शब्द विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं कि "इसका प्रभाव देखनेवालों के हृदयों पर बुरा या अशिष्टतापूर्ण नहीं है, विशेषकर उसका सम्बोधन हिन्दुओं से है।"

ये शब्द स्पष्ट प्रकट कर रहे हैं कि जज महोदय इस बात को अनुभव कर रहे हैं कि इस चित्र का हिन्दुओं को छोड़कर शेष सब सम्प्रदाय के लोगों पर बुरा या असभ्यतापूर्ण प्रभाव अवश्य पड़ता है, तभी तो उन्होंने कह दिया कि 'विशेषरूप से इससे पहले वाक्य का सम्बोधन हिन्दुओं से है' और फिर देखिए दण्ड से मुक्त करने में कारण क्या देते हैं "और हिन्दू पुराणों से एक दृश्य को प्रकट करता है जिसके साथ ऐसे विचारों का सम्बन्ध है।" ये वाक्य स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि यद्यपि जज महोदय इस चित्र को अश्लील और असभ्यतापूर्ण समझते थे, परन्तु "क्योंकि हिन्दू उसे बुरा और अशिष्टतापूर्ण नहीं समझते और इस चित्र का हिन्दुओं की धार्मिक पुस्तक पुराणों के एक दृश्य से सम्बन्ध था," इसलिए न्यायालय ने इसे एक धार्मिक विषय समझकर अपील स्वीकार कर ली। इस निर्णय से इस तस्वीर को सभ्यतापूर्ण सिद्ध करने का प्रयत्न करना मूर्ख सनातनधर्मियों को उल्लू बनाने के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

हमारी भूमिका पर पोपजी की बौखलाहट

पोपजी—लाला मनसारामजी ने अपनी भूमिका में पं० लोकनाथजी की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि वे एक प्रसिद्ध शास्त्रार्थों के महारथी हैं और न्याय के धुरन्धर विद्वान् हैं।

तोपजी—इसमें क्या सन्देह है! पं० लोकनाथजी संस्कृत और न्याय के अद्वितीय पण्डित हैं। इस कोटि के पण्डित सनातनधर्म में बहुत कम हैं। आपके कविरत्न, युक्तिविशारद और व्याख्यानवाचस्पति तो पण्डितजी के पैरों की धूलि के बराबर भी अस्तित्व नहीं रखते और पण्डितजी उन्हें वर्षों पढ़ा सकते हैं, तथा शास्त्रार्थों में तो पं० लोकनाथजी ने उन्हें सैकड़ों बार नाकों चने चबवाये हैं और वे जहाँ पर पं० लोकनाथजी का नाम सुन पाते हैं, वहाँ आपके कविरत्न, युक्तिविशारद और व्याख्यानवाचस्पति गीदड़ों की भाँति छुपने के लिए बिल ढूँढते फिरते हैं। यह तो आपके गुरुओं की अवस्था है, रही आप-जैसों की अवस्था, वह तो आपको ज्ञात ही है कि जबसे आपने उनकी शान में

कुवाच्य बोलकर गिड़गिड़ाकर न्यायालय में लिखित क्षमा माँगी हैं, तब से डेरागाजीखाँ की ओर मुँह करके सोने से कदाचित् स्वप्न में भी पं० लोकनाथजी को देखकर चौंक पड़ते होंगे और आपके कलियुग के सनातनधर्म के उद्धारक योगिराजजी पं० लोकनाथजी के भगाये हुए आज अपनी स्त्री की दासता में हल जोड़कर निर्वाह कर रहे हैं तथा पं० लोकनाथजी के विरुद्ध झूठे समाचार छापनेवाले समाचार-पत्रों के कार्यालयों की कुर्सियाँ नीलाम हो रही हैं। इतनी पराजयों के पश्चात् फिर भी निर्लज्जों की भाँति उनकी हार बताने में आपकी ढिठाई प्रशंसनीय है।

पोपजी—लालाजी को इस मुलम्मा करने की क्या आवश्यकता थी?

तोपजी—यह मुलम्मा नहीं, अपितु सोने पर सुहागा है कि पं० लोकनाथजी-जैसे न्याय के विद्वान् की शान के यह योग्य ही न था कि वे इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देकर हास्य के पात्र बनते कि जिन प्रश्नों का न्याय के अनुकूल स्थापन ही नहीं किया गया था, अतः उन्होंने जो कुछ किया न्यायशास्त्र के अनुसार ठीक ही किया।

पोपजी—पं० श्रीकृष्णजी ने प्रथम पारी में दस प्रश्न किये थे, उनमें से प्रथम चार प्रश्नों के पक्ष को वेदमन्त्रों से स्थापित करते हुए स्पष्ट सिद्ध किया था कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदों के अमुक-अमुक मन्त्रों के विरुद्ध होने से वेदों के विरुद्ध हैं।

तोपजी—जैसे नौ प्रश्नों को दस बताना आपका धोखा देना है वैसे ही चार प्रश्नों के साथ वेदमन्त्र लगा देना भी आपकी चालाकी है, अन्यथा जनता में यह बात सभी को स्पष्ट विदित है कि पण्डितजी ने एक भी वेदमन्त्र देकर उसके साथ दयानन्दकृत ग्रन्थों का विरोध नहीं दिखाया। एक मन्त्र चोटी कटाने के विरुद्ध तीसरी पारी में प्रस्तुत किया था, दुर्भाग्य से वह भी चोटी कटाने के पक्ष में निकल पड़ा और पं० श्रीकृष्णजी अपना-सा मुँह लेकर रह गये।

पोपजी—और शेष प्रश्नों को उचित ढंग से स्वामीजी के ग्रन्थों में से प्रश्नों के रूप में प्रस्तुत किया था कि आर्यसमाज यह बतलाये कि यह किन वेदमन्त्रों के आधार पर स्वामीजी ने लिखा है?

तोपजी—जब पं० श्रीकृष्णजी का दावा यह था कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं तो उनका यह कर्त्तव्य था कि वे वेदमन्त्र प्रस्तुत करके यह सिद्ध करते कि स्वामीजी का अमुक लेख अमुक वेदमन्त्र के विरुद्ध है। अपने दावे को प्रमाणित किये बिना उनका एक प्रश्न भी करना अवैध था। उन्होंने एक प्रश्न के साथ भी वेदमन्त्र देकर अपने दावे को सिद्ध नहीं किया। हाँ, चार प्रश्नों के साथ वेदमन्त्र आपने लगा दिये, शेष प्रश्नों के साथ वेदमन्त्र लगाने में आप भी असफल रहे।

पोपजी—इस शास्त्रार्थ में दावा प्रस्तुत करने के दो ही प्रकार हो सकते थे—एक, वेदमन्त्र देकर; दूसरे, स्वामीजी के लेख को प्रस्तुत करके उनके प्रमाणों के लिए आर्यसमाज से वेदमन्त्र माँगना।

तोपजी—इस शास्त्रार्थ में जब दावा यह था कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं तो ऐसी स्थिति में इस दावे को एक ही प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता था कि वेदमन्त्र देकर यह सिद्ध किया जाए कि स्वामीजी का अमुक लेख अमुक वेदमन्त्र के विरुद्ध है, अतः स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं। दूसरा प्रकार तब प्रयोग में लाया जा सकता है जब विषय यह निर्धारित हो कि 'स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदों के अनुकूल हैं'। यह

विषय निश्चित होने की स्थिति में चूँकि वादी आर्यसमाज हुआ, अत: पहली पारी भी आर्यसमाज की ओर से ही होती, तब आर्यसमाज स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों को वेदानुकूल सिद्ध करने के लिए वेदमन्त्र प्रस्तुत करके अपने दावे को सिद्ध करता। विरोधी पक्ष का दूसरे प्रकार का प्रयोग करना न्याय के विरुद्ध और अवैध था, इसलिए उसे स्वीकार करना न्यायदर्शन का अपमान था।

पोपजी—जब स्वयं स्वामी दयानन्दजी सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'आर्यवर्त्तियों के विषय में जो कुछ लिखा गया है, वह वेदानुकूल है और सर्वथा वेदोक्त होने के कारण मुझे मान्य है', हमें समझ में नहीं आता कि फिर इसपर प्रश्न करना कौन-सी बुराई है? आर्यसमाज का कर्त्तव्य है कि सब बातों को वेद से दिखाए, अन्यथा यह दावा करना छोड़ दे कि हमारा मत वेदानुकूल है।

तोपजी—स्वामजी दयानन्दजी ने जो कुछ भूमिका में लिखा है, वह सर्वथा सत्य है और ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थ सर्वथा वेदानुकूल हैं; परन्तु वेदानुकूल शब्द को समझने के लिए बुद्धि की आवश्यकता है, परन्तु इसके पीछे आप-जैसे सनातनधर्मी लोग लट्ठ लेकर पड़े हुए हैं, अन्यथा तो लेख को वेदानुकूल जानने का वही प्रकार है जिसे हमने मनुस्मृति के अनुसार अपनी चार कसौटियों में वर्णित किया है। प्रश्न करने को कौन बुरा बताता है? परन्तु प्रश्न करने के प्रकार से भिज्ञ होना बहुत आवश्यक है। यदि दावा यह हो कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं तो प्रश्न करने का प्रकार यह है कि प्रत्येक प्रश्न के साथ वेदमन्त्र देकर यह सिद्ध किया जाए कि स्वामी दयानन्द का लेख इस वेदमन्त्र के विरुद्ध है, अन्यथा आर्यसमाज का डंके की चोट यह दावा है कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ मनुस्मृति में वर्णित शैली के अनुसार सर्वथा वेदानुकूल हैं और इसीलिए वे आर्यसमाज को मान्य हैं। यदि आपमें दम-खम हो तो मैदान में आकर उन्हें वेदों के विरुद्ध सिद्ध करके दिखाएँ।

पोपजी—लालाजी लिखते हैं कि अब सनातनधर्मी पण्डित मूर्त्तिपूजा, श्राद्ध, वर्ण-व्यवस्था, नियोग और विधवा-विवाह पर शास्त्रार्थ नहीं करते, अपितु 'स्वामीजी के ग्रन्थ वेदों के विरुद्ध हैं' इसी विषय पर शास्त्रार्थ करने का प्रयत्न करते हैं।

तोपजी—यह बात शत-प्रतिशत सत्य है कि सनातनधर्म के पण्डित आजकल मूर्त्तिपूजा, श्राद्ध, वर्ण-व्यवस्था, नियोग, विधवा-विवाह आदि विषयों पर शास्त्रार्थ करने से प्रत्येक स्थान पर मना कर देते हैं। इसका कारण यह है कि विषय निश्चित होने पर प्रथम तो दोनों पक्षों को तैयारी करने का समय मिल जाता है। दूसरे, निर्धारित किये हुए एक ही विषय पर शास्त्रार्थ होने से दो घण्टे में परिणाम स्पष्ट रूप से जनता के समक्ष आ जाता है और सनातनधर्म के पण्डितों को व्यर्थ कोलाहल करके, सनातनधर्म की जय बुलाकर भागने का अवसर नहीं मिल सकता, परन्तु 'स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं' इसमें प्रथम तो आर्यसमाज के पण्डितों को तैयारी का अवसर ही नहीं मिल सकता, क्योंकि इन्हें पता ही नहीं होता कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों में किन-किन विषयों पर शास्त्रार्थ होगा। दूसरे, दो घण्टे में स्पष्ट परिणाम जनता के समक्ष नहीं आ सकता, क्योंकि सनातनधर्म के पण्डित दस मिनट में झटाझट दस प्रश्न कर डालते हैं और उत्तर देनेवाला इतने प्रश्नों का उत्तर दस मिनट में नहीं दे सकता, तब सनातनी कोलाहल करते हैं कि हमारे प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया गया और कोलाहल मचाकर जनता को धोखा देने के लिए सनातनधर्म की

जय बुलाते हुए भाग खड़े होते हैं। उपर्युक्त कारणों से सनातनधर्म के पण्डित प्रत्येक स्थान पर यही माँग करते हैं कि हम तो इस विषय पर शास्त्रार्थ करेंगे कि 'स्वामीजी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं।' आर्यसामज डंके की चोट पर यह बात बतला रहा है कि यह हमारा कोई शास्त्रार्थ का विषय नहीं है, क्योंकि आर्यसमाज जैसे मनु से लेकर व्यास तक ऋषियों के बनाये हुए ग्रन्थों को परत:प्रमाण मानता है, वैसे ही ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों को भी परत:प्रमाण मानता है, परन्तु सनातनधर्म के पण्डित एक नहीं सुनते और अपने दुराग्रह पर अड़े रहते हैं।

पोपजी—लालाजी! कदाचित आपको सन् १९२९ के डलहौजीवाले दो शास्त्रार्थ की बात भूल गयी होगी, वहाँ तो मूर्त्तिपूजा और गृहस्थधर्म पर आपसे शास्त्रार्थ हुए थे।

तोपजी—भूल क्यों जाती, अच्छी प्रकार स्मरण है, क्योंकि डलहौजी के दोनों शास्त्रार्थ में विषय निर्धारित थे, अत: इन दोनों में ही आपके माधवाचार्य की वह गत बनी थी कि फिर कभी उन्होंने निर्धारित विषय पर शास्त्रार्थ करने का साहस ही नहीं किया। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ भी सनातनधर्म के पण्डितों ने निश्चित किये हुए विषयों पर शास्त्रार्थ किये हैं, वहाँ-वहाँ पर ही इन्हें मुँह की खानी पड़ी है। अन्तत: इन लोगों ने शास्त्रार्थ के मैदान से दूर रहने के लिए अथवा यदि शास्त्रार्थ करना भी पड़े तो इसमें कोलाहल करके भाग जाने के लिए यह बहाना ढूँढा है कि वे निर्धारित विषय पर शास्त्रार्थ करने से स्पष्ट मना कर देते हैं और इसी दुराग्रह पर अड़े रहते हैं कि हम तो इसी विषय पर शास्त्रार्थ करेंगे कि 'दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं।' हमें इस बात का सैकड़ों स्थानों का अनुभव है कि कहाँ-कहाँ पर सनातनधर्म के पण्डितों ने इस प्रकार का दुराग्रह करके शास्त्रार्थ से अपनी जान बचाई। उदाहरण के रूप में आपने डेरागाजीखाँ में इसी दुराग्रह में एक मास बिता दिया, परन्तु निर्धारित विषय पर शास्त्रार्थ करने का नाम तक भी नहीं लिया। अभी-अभी ८ मई सन् १९३२ को तिलागंग में सनातनधर्म के उत्सव पर आपके पण्डित भीमसेनजी, पं० यदुकुलभूषणजी आदि पण्डितों ने स्थानीय तहसीलदार के समक्ष निर्धारित विषय पर शास्त्रार्थ करने से इन्कार करके सनातनधर्म की हार को क्रियात्मक रूप से अपने आचरण से सिद्ध कर दिया और तहसीलदार महोदय को विवश होकर ये शब्द कहने पड़े कि "यद्यपि मैं सनातनधर्मी हूँ, परन्तु मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि हमारे पण्डित आर्यसमाज के पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार नहीं हैं और इधर-उधर की बातों में समय नष्ट कर रहे हैं।"

पोपजी—श्राद्ध, वर्णव्यवस्था आदि विषयों पर कई लिखित शास्त्रार्थ हो चुके हैं और दूसरे लोगों द्वारा आर्यसमाज के विरुद्ध निर्णय दिये जा चुके हैं, जिनके कुछ नमूने अन्त में दिये जाएँगे।

तोपजी—हमें आपके उन लिखित शास्त्रार्थों और उनके निर्णयों की वास्तविकता भी अच्छी प्रकार ज्ञात है। हम भी इनकी वास्तविकता पुस्तक के अन्त में प्रकट करके आपकी सारी मुलम्मा चढ़ाने की पोल खोलकर दिखा देंगे।

पोपजी—समय मिलने पर आप अपनी इच्छानुसार विषय निर्धारित करके भाग्य की पुन: परीक्षा कर सकते हैं। सनातनधर्मी तो सदा, प्रत्येक विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार हैं।

तोपजी—सनातनधर्म के पण्डित निर्धारित विषयों पर शास्त्रार्थ करके पराजित होकर

युद्धभूमि, से भाग चुके हैं और आवश्यकता से अधिक पिट चुके हैं। अब वे 'स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं' की आड़ का बहाना लेकर शास्त्रार्थ से जान छुपाते फिरते हैं। अब उनका यह साहस ही नहीं होता कि वे निर्धारित विषय पर शास्त्रार्थ करके पुनः अपने भाग्य की परीक्षा कर सकें, अन्यथा आर्यसमाज तो सदा, प्रत्येक विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिए उद्यत है।

पोपजी—धन्य है कि लालाजी को भी सचाई की आवश्यकता पड़ी।

तोपजी—आर्यसमाज का तो यह सिद्धान्त है कि 'सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए', अतः इस नियमानुसार हम सदा सचाई की खोज में रहते हैं। सचाई पर पर्दा डालकर जनता को धर्म से दूर रखना आप लोगों का काम है। परमात्मा आपको सुबुद्धि प्रदान करें कि आप भी स्वार्थ को छोड़कर सचाई को स्वीकार करें।

पोपजी—लालाजी की बताई हुई धर्म और अधर्म को परखने की चार कसौटियों पर भी दृष्टि दौड़ा लें।

तोपजी—अजी पोपजी! ये कसौटियाँ मेरी निर्धारित की हुई नहीं हैं, अपितु ये तो मनुजी महाराज की बताई हुई हैं, परन्तु आप तो इनकी समालोचना में सनातनधर्म को ही भूल गये और आपके होश ऐसे उड़ गये कि समालोचना करते हुए सुध-बुध ही भूल गयी और जो कुछ ऊटपटाँग चाहा बिना सोचे-समझे लिख मारा और इस बौखलाहट की अवस्था में चौथी कसौटी के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिख सके। प्रमाण के लिए देखिए मनु महाराज क्या कहते हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ —मनु० २।१२

अर्थ—वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा को प्रिय लगना—यह चार प्रकार का साक्षात् धर्म का लक्षण कहा जाता है।

पोपजी—पहली कसौटी में यह स्वीकार किया गया कि "वेद बीजरूप है, जिसमें इसकी व्याख्या भी विद्यमान होती है, जैसे बीज के अन्दर ही वृक्ष का होना, परन्तु इस व्याख्या को केवल ऋषि लोग ही समाधि द्वार जान सकते हैं।"

तोपजी—सर्वथा सत्य है। वेद में यह तो मिल जाएगा कि मनुष्यों को अन्न खाना चाहिए, परन्तु यह न मिलेगा कि गेहूँ को इस प्रकार पीसकर, आटा गूँधकर रोटी यूँ तवे पर बनाई जाती है और दाल में नमक कितना डालना चाहिए आदि-आदि, अतः किसी आधारभूत सिद्धान्त की व्याख्या को वेद के अन्दर से दिखाने का प्रश्न करना केवल मूर्खता ही है।

पोपजी—इसे सनातनधर्मी भी मानते हैं, परन्तु खेद है कि त्रिकालदर्शी महर्षि वेदव्यासजी समाधि और योग द्वारा वेदों के बीजरूप की व्याख्या पुराणों के रूप में लिखें तो वह वेद-विरुद्ध और इनके स्वामी दयानन्द बिना योग के ही जो कुछ मनघड़न्त ही लिख दें वह वेदानुकूल! क्यों न हो, कलियुग के ऋषि जो हुए।

तोपजी—धन्यवाद है। आपने इस सिद्धान्त को तो स्वीकार कर लिया कि वेदों में आधारभूत सिद्धान्त बीज-रूप में विद्यमान हैं, परन्तु उनकी व्याख्या वेदों में नहीं होती, अपितु उनकी व्याख्या, वेदों के जाननेवाले ऋषि अपने ग्रन्थों में करते हैं। रह गया पुराणों

का वेदों के बीजरूप की व्याख्या होना, यह इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि पुराणों की मद्यपान, मांसभक्षण, व्यभिचार आदि की शिक्षा स्पष्टरूप से वेदों के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध है और ऋषि दयानन्द की शिक्षा वेदों के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध नहीं, अतः पुराणों की शिक्षा वेदों के विरुद्ध और ऋषि दयानन्द के लेख वेदों के अनुकूल हैं। रह गया कलियुगी ऋषि होने का ताना, वह स्वामी दयानन्दजी का इन सत्ययुगी पौराणिक ऋषियों की अपेक्षा कलियुगी होना ही उत्तम है कि जिन पौराणिक ऋषियों ने पुराणों के लेख के अनुसार पुत्री, माँ, बहिन और भतीजी से विवाह करके अपने ऋषिपन को कलंकित कर लिया हो।

पोपजी—आप दूसरी कसौटी में लिखते हैं कि "जिस नियम और सिद्धान्त के सम्बन्ध में वेद में चाहे कोई आज्ञा न हो, परन्तु उसके विरुद्ध भी कोई प्रमाण न हो, तो वे वेद के अनुसार ही स्वीकार किये जाते हैं।"

तोपजी—आपने धोखा देने के लिए दूसरी कसौटी में स्मृति का नाम तक नहीं लिखा। यदि आप अपने उपर्युक्त लेख के आरम्भ में हमारी पुस्तक का यह लेख भी लिख देते कि "यदि कोई भी नियम या सिद्धान्त स्मृति में वेद के आधारभूत सिद्धान्त के विरुद्ध हो तो यह स्वीकार नहीं किया जा सकता", तो पुस्तक पढ़नेवाला यह समझ जाता कि ऋषि और मुनियों की बनाई हुई स्मृतियों में लिखित जिस नियम और सिद्धान्त के सम्बन्ध में वेद में चाहे कोई आज्ञा स्पष्ट न हो, परन्तु उसके विरुद्ध भी कोई प्रमाण न हो, तो वे वेद के अनुसार ही स्वीकार किये जाते हैं।" निष्कर्ष यह कि स्मृतियों के जो लेख वेद के विरुद्ध न हों वे वेदानुकूल ही माने जाएँगे।

पोपजी—वाह! लालाजी ने वेद की अनुकूलता खूब कही! लालाजी! इस अवस्था में तो आर्यसमाजी मित्रों को रोज़ा रखना, नमाज़ पढ़ना आदि भी वेद के अनुकूल ही हो गया, क्योंकि इनके विरुद्ध वेद में कोई स्पष्ट आज्ञा नहीं है।

तोपजी—वाहजी पोपजी! बलिहारी जाएँ आपकी बुद्धि पर! हमारी दूसरी कसौटी को आपने खूब समझा! क्या इसी बुद्धि के स्वामी बनकर हमारी पुस्तक का उत्तर लिखने बैठे थे? कृपा करके यह तो लिख दिया होता कि कौन-से ऋषि और मुनि की स्मृति में रोज़ा रखने और नमाज़ पढ़ने का नियम और सिद्धान्त वर्णित है, जिसके विरुद्ध वेद में कोई स्पष्ट आज्ञा न होने के कारण वे हमारे लिए आचरण करने योग्य हैं। इस बौखलाहट को छोड़िए और सन्मार्ग पर आइए। मुसलमानों का अनुकरण करना और उनके सन्देशवाहकों को अवतार मानना पुराणों का ही कार्य है, ऋषिकृत वेदानुकूल स्मृतियों का नहीं।

पोपजी—अब तीसरी कसौटी में सदाचार के लक्षणों का वर्णन करते हैं।

तोपजी—बिलकुल ठीक है। ऋषि और महर्षियों का वह चाल-चलन जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध न हो वह भी धर्म और अधर्म का निर्णय करने में तीसरी कसौटी माना जाता है।

पोपजी—लालाजी के कथन का सार यह है कि यदि किसी ऋषि ने किसी अवसर पर किसी विधवा स्त्री से विवाह किया अथवा अन्य वर्ण की स्त्री से विवाह किया तो वह सदाचार-सिद्ध धर्म माना जाएगा।

तोपजी—न जाने आप भंग पीकर हमारी पुस्तक का उत्तर लिखने बैठे हैं अथवा पुराणों के पक्षपात ने आपको इतना अन्धा बना दिया कि आपको सरल और स्पष्ट लिखी हुई बातें

भी दिखाई नहीं देतीं। आपको हमारी तृतीय कसौटी के ये वाक्य तो पढ़ लेने थे कि "ऋषि-मुनियों का चाल-चलन उसी सीमा तक प्रमाण हो सकता है कि जिस सीमा तक वह वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के अनुसार हो, परन्तु जहाँ वह वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध हो, वहाँ वह कदापि प्रमाण न होगा।" अब विचार करें कि यदि किसी ऋषि ने किसी अवसर पर किसी विधवा स्त्री से विवाह किया हो अथवा अन्य वर्ण की स्त्री से विवाह किया हो तो उसका यह काम यदि वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के अनुसार होगा तो वह सदाचारसिद्ध धर्म माना जाएगा, और यदि उसका उपर्युक्त कार्य वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध होगा तो वह कदापि सदाचारसिद्ध धर्म नहीं माना जाएगा।

पोपजी—लालाजी द्वारा लिखित लक्षण मनुजी के लक्षण से सर्वथा विरुद्ध है। देखिए, मनुजी इसकी व्याख्या करते हुए क्या कहते हैं—"इस देश में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों और वर्णसंकरों का परम्परा से क्रमबद्ध जो आचार चला आता है, वह सदाचार कहलाता है।"

—मनु० २।१८

तोपजी—हमारा लक्षण मनु के तात्पर्य के विरुद्ध नहीं है। आपका उपर्युक्त श्लोक भी हमारे किये हुए लक्षण का खण्डन नहीं करता, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों और वर्णसंकरो का परम्परा से क्रमबद्ध चला आया हुआ आचार भी उसी समय सदाचार कहलाएगा जब वह वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के अनुसार होगा। यदि वह वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध होगा तो वह क्रमबद्ध आया हुआ आचार भी सदाचार न कहा सकेगा, क्योंकि सदाचार शब्द का अर्थ ही 'सच्चा आचार' है और सच उसे कहते हैं जो वेदानुकूल हो, अतः प्रत्येक अवस्था में सदाचार वही कहा जा सकता है जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के अनुसार हो। देखिए, मनु (२।१) में भी स्पष्ट लिखा है कि धर्म उसे कहते हैं कि जो वेद के जाननेवाले विद्वानों का सदाचार हो। अब यहाँ भी वेद की अनुकूलता ही प्रमाण है; और आपने भी यहाँ तो हमारे लक्षण से इन्कार कर दिया, परन्तु अपनी इसी पुस्तक के पृष्ठ ७९, पंक्ति ७ में इस हमारे श्लोक को ही सदाचार में प्रमाण मानकर अक्षमाला और शारङ्गी—नीच कुल की स्त्रियों के विवाह को ब्राह्मणों के साथ सदाचारसिद्ध धर्म मान लिया। वहाँ पर आपने परम्परा को छोड़ दिया?

पोपजी—लालाजी ने परम्परा शब्द को बिल्कुल उड़ा दिया और अपनी ओर से एक मनघड़न्त लक्षण जनता की आँखों में धूल झोंकने के लिए लिख मारा।

तोपजी—हमारा काम लोगों की आँखों में धूल डालना नहीं है। यह कार्य तो आप लोगों का है जो परम्परा को लेकर आकाश में चढ़ रहे हैं। मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि एक व्यक्ति मांस खाता है, उसका पिता भी मांसभक्षण करता था, उसका नाना भी मांस खाता था और लकड़नाना भी मांसभक्षण करता था और उस व्यक्ति के लकड़नाना का ससुर भी मांस खाता था। इसी प्रकार आगे को बढ़ते-बढ़ते सृष्टि-रचना पर पहुँच जाएँगे। सृष्टिरचना से लेकर इस व्यक्ति तक यदि मांसभक्षण करते चले आये हों तो क्या मांसभक्षण-परम्परा सदाचारसिद्ध धर्म माना जा सकता है? कदापि नहीं, क्योंकि मांस-भक्षण वेद-विरुद्ध है, अतः परम्परा से चला आया हुआ आचार भी तब तक सदाचार नहीं कहा जा सकता जब तक कि वह वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के अनुसार न हो। वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध परम्परा से चला आया हुआ आचार भी धर्म का लक्षण नहीं माना जा सकता।

भला! यह तो बताइए कि पृष्ठ ७९ पर आपने अक्षमाला और शारङ्गी के वसिष्ठ और मन्दपाल के सथ जात-पात-तोड़क विवाह को इस कसौटी पर क्यों नहीं परखा? क्या इनकी माँ, नानी, लकड़नानी और लकड़नानी की सास ने ऐसा विवाह किया था? यदि नहीं तो इन विवाहों को सदाचार धर्म क्यों मान लिया?

पोपजी--इतिहास में किसी मनुष्य का किया हुआ आचरण धर्म नहीं हो जाता। किसी भी धर्मशास्त्र ने धर्म की यह कसौटी नहीं बताई है कि पूर्वकाल के मनुष्य जो बुरा-भला कर बैठें, वह आगे के मनुष्यों के लिए धर्म बन जाए।

तोपजी--आपकी बुद्धि भी विचित्र ही है! यह किसने कहा है कि इतिहास में किसी मनुष्य का किया हुआ आचरण धर्म हो जाता है? हमने तो यह लिखा है कि जिस कार्य के सम्बन्ध में वेद कोई स्पष्ट आज्ञा नहीं देता और वेदज्ञ ऋषियों ने भी इस कार्य के सम्बन्ध में स्मृतियों में कोई स्पष्ट विधि-विधान नहीं लिखा, ऐसी स्थिति में वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के जाननेवाले ऋषियों का इस कार्य के सम्बन्ध में क्या आचरण है। वह आचरण धर्म और अधर्म के निर्णय में कसौटी बन सकता है, यदि वह आचरण वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध न हो। हम यह बता चुके हैं कि यह कसौटी मनु ने बताई है। अब हम इस विषय में आपको गीता का प्रमाण देते हैं। देखिए, योगिराज कृष्णजी क्या कहते हैं--

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ --गीता ३।२१

अर्थ--श्रेष्ठ अर्थात् वेदों के जाननेवाले लोग जिस-जिस काम का आचरण करते हैं, उसी-उसी काम का दूसरे मनुष्य आचरण करते हैं, वह श्रेष्ठ पुरुष जिस कार्य को प्रमाण मान ले, लोग उसके पीछे-पीछे चलते हैं।

हाँ, यह ठीक है कि पूर्वकाल के मनुष्य का वही कार्य हमारे लिए धर्म-मार्ग में नेतृत्व कर सकता है जो वेदानुकूल हो; वेद के विरुद्ध कार्य नहीं, क्योंकि धर्म-अधर्म के निर्णय में अन्तिम कसौटी वेद है।

पोपजी--इतिहास से धर्म के निर्णय करने का अभिप्राय नहीं रक्खा। जिस मनुष्य ने धर्माचरण किया उसका धर्माचरण लिखा, जिसने पापाचरण किया उसका पापाचरण लिखा। जिसने पाप-पुण्य-मिश्रित आचरण रक्खा, उसका मिश्रित चरित्र लिखा। इतिहास लिखने का प्रयोजन पूर्वपुरुषों के चरित्र का ज्ञान है।

तोपजी--इतिहास लिखने का इतना ही प्रयोजन नहीं होता कि पूर्वपुरुषों के चरित्रों का ज्ञान हो जाए, अपितु इतिहास लिखने का मुख्य प्रयोजन यह होता है कि भविष्य में आनेवाली सन्ततियाँ अपने प्राचीन पुरुषों के इतिहास को पढ़कर उससे शिक्षा ग्रहण करके श्रेष्ठ, धर्मात्मा, विद्वान् और वीर बनें और सारी जाति के पुरुष और स्त्रियों पर प्रभाव पड़कर हमारी सन्ततियाँ सुधर जाएँ। इसलिए वाल्मीकि रामायण के अन्त में लिखा है कि इस कथा को ऋतुमती नारियाँ विशेषरूप से सुनें और इसी प्रकार महाभारत के अन्त में लिखा है कि गर्भवती स्त्रियाँ इस कथा को अवश्य सुनें। इसी बात को आपने भी पुस्तक के पृष्ठ ३४ पंक्ति २ से ८ तक ऐसे ही स्वीकार किया है कि--"इतिहास के द्वारा धर्म की वास्तविकता समझाई गयी है जैसे सच बोलो, धर्म का पालन करो। इस प्रकार के शुष्क उपदेश से बहुत थोड़े ही लोग सच बोलनेवाले और धर्मात्मा होते हैं। यदि ऐसी शिक्षाओं

को उदाहरणों के द्वारा समझाया जाए तो मनुष्यों पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है, जैसेकि विद्यार्थियों को पाठ याद कराने के लिए उदाहरण पाठ की आत्मा होते हैं, अथवा जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति उदाहरण के द्वारा बताई हुई बातों को भली-भाँति समझ लेता है।" इसलिए मनुस्मृति अध्याय ४ श्लोक १७८ में इस प्रकार लिखा है-

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥

अर्थ--जिस मार्ग से इसका पिता चला हो, जिस मार्ग से इसके दादा-परदादा चले हों, उस मार्ग से चलना चाहिए, क्योंकि उस मार्ग से चलता हुआ धर्म से पतित नहीं होता, शर्त यह है कि वह मार्ग सत्पुरुषों का हो, अर्थात् वेदानुकूल हो।

अब बताइए, आप स्वयं ही अपना खण्डन कर रहे हैं या नहीं? अतः इतिहास भी धर्म-अधर्म के निर्णय में किसी सीमा तक कसौटी है।

पोपजी--कल्पना करो द्वापर में बुद्धू नाई की अम्मा ने अपनी जवानी में ढाई सौ पति किये तो क्या इस आचरण से आजकल की प्रत्येक स्त्री का ढाई सौ पति कर लेना धर्म है? संसार का कोई भी मनुष्य मनुष्य-आचरण से धर्म-अधर्म का निर्णय नहीं कर सकता।

तोपजी--आपकी तो वह अवस्था है कि न्यायालय ने किसी अपराधी को दण्ड किया कि चाहे सौ प्याज़ खा ले चाहे सौ जूते। इसने पहले सौ प्याज़ खाना स्वीकार किया। जब दस प्याज़ खाये और वे कड़वे लगे तो कहा जूते मार लो। जब दस जूते लगे और सिर पिलपिलाने लगा तो कहा प्याज़ खाता हूँ। तात्पर्य यह कि बार-बार विचार बदलते-बदलते सौ प्याज़ भी खा लिये और सौ जूते भी खाने पड़े। ठीक वही अवस्था आपकी है। पहले तो पुराणों की सिद्धि में इतिहास को उपयोगी प्रमाणित करते हुए पुराणों के अश्लील कथारूप प्याज खाने में आकाश-पाताल एक कर दिया, परन्तु जब पुराणों के मद्यपान, मांस-भक्षण और व्यभिचार सिखानेवाले इतिहास कड़वे लगे तो अब इतिहास से सर्वथा इन्कार करके तड़ातड़ प्रमाणरूपी जूते खा रहे हैं। भले मनुष्य! संसार में किसी सिद्धान्त को माने बिना निर्वाह नहीं होता और वह सिद्धान्त यह है कि इतिहास वही प्रमाण हो सकता है जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के अनुसार हो। जो इतिहास वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध हो वह धर्म और अधर्म के निर्णय में कसौटी नहीं माना जा सकता। अब देखिए, सत्य सिद्धान्त को न मानने के कारण आपकी स्थिति कैसी विडम्बनामय हो रही है! यहाँ तो आप इतिहास से कोई धार्मिक परिणाम स्वीकार करने से इन्कार कर रहे हैं और इसी पुस्तक के पृष्ठ ४० पर आप इस प्रकार लिखते हैं कि--

"पुराणों में रोचक रूप का बहुत अधिक प्रयोग किया गया है। स्थान-स्थान पर कई मनोहर कथाओं के द्वारा उपदेश दिया गया है, जिससे मनुष्यों का ध्यान बरबस इस ओर जाकर उत्तम चाल-चलन की शिक्षा मिलती है।" आगे जाकर फिर लिखते हैं--

"इस प्रकार की सब कथाएँ भयानक रूप में ही लिखी गयी हैं जिससे कोई भी स्त्री-पुरुष भूलकर भी दुष्कर्म न करे और विवाहिता स्त्री कभी भूलकर भी अपने घर की कोई वस्तु अपने पिता के घर न लाये। कैसी उत्तम शिक्षाएँ पुराणों से प्राप्त होती हैं।"

अब बताइए आपका पहला दावा ठीक है या अब का? आपको अपनी जिह्वा का भी कुछ ध्यान है? बुद्धू नाई की माँ का उदाहरण भी खूब दिया। क्या बुद्धू नाई की माँ का आचार वेद और वेदानुकूल स्मृतियों की कसौटी पर नहीं परखा जा सकता? ढाई सौ पति

करना वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के अनुसार है तो धर्म है, और यदि उनके विरुद्ध है तो पाप है। ऋषि लोगों ने धर्म-अधर्म के निर्णय के लिए वेद और और वेदानुकूल स्मृतियों को जाननेवाले विद्वानों के आचरण को यदि वह वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध न हो, किसी सीमा तक कसौटी स्वीकार किया है। आपके न मानने में आपने कोई प्रमाण नहीं दिया। देखिए, मानव-धर्मशास्त्र के प्रमाणों को मैं पुनः दोहरा देता हूँ–

वेदः स्मृतिः सदाचारः। –मनु० २।१२, वेद स्मृति और सदाचार धर्म का लक्षण है।

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः। –मनु० २।१, वेदज्ञ विद्वानों का आचार ही धर्म है।

स्मृतिशीले च तद्विदाम्। –मनु० २।६, वेद और स्मृति जाननेवालों का आचार धर्म है।

येनास्य पितरो याताः। –मनु० २।१७८, जिस मार्ग से पूर्वज गये हों, वह धर्म है।

इसलिए ऋषि-मुनियों का आचरण भी यदि वह वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध न हो तो धर्म-अधर्म के निर्णय में कसौटी है।

पोपजी–दुर्योधन स्वार्थी था और युधिष्ठिर परोपकारी, तो स्वार्थ धर्म हुआ या परोपकार? राजा वेन व्यभिचारी था और उसका पुत्र पृथु एकपत्नीव्रत-धर्म का पालन करता था। अब निर्णय कीजिए कि व्यभिचार धर्म हुआ या एकपत्नीव्रत-धर्मपालन? उग्रसेन वेद, ब्राह्मण, गौ और ऋषियों का भक्त था। उसके पुत्र कंस ने आज्ञा दे दी कि ब्राह्मण, गौ और बालकों को मार डालो, वेदों को फूँक दो। इन भिन्न-भिन्न प्रकार के आचरणों में से कौन धर्म और कौन अधर्म है?

तोपजी–अक्ल बड़ी या भैंस[१]? प्रतीत होता है कि आप सौगन्ध ही खाकर बैठे हैं कि सत्य को मानना ही नहीं, अन्यथा उपर्युक्त बातों में से धर्म-अधर्म का निर्णय करना क्या कठिन है? क्योंकि परोपकार, एकपत्नीव्रत-धर्म; वेद, ब्राह्मण, गौ और ऋषियों की भक्ति आदि, युधिष्ठिर, पृथु और उग्रसेन के कर्म वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के अनुसार हैं, अतः वे आचरण करने योग्य हैं तथा स्वार्थ, व्यभिचार, गौ, ब्राह्मण और बालकों का मारना, वेदों को जलाना, मद्यपान और दूसरे की स्त्री को हर ले-जाना आदि दुर्योधन, वेन, कंस, यादवों और रावण के कर्म वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध होने से आचरण के योग्य नहीं है। इस बात को इसी पुस्तक के पृष्ठ ४१, पंक्ति १५ में आपने स्वयं भी स्वीकार किया है कि "उत्तम इतिहास को ग्रहण करके धर्म का पालन करना और बुरे चरित्रों से बचने का प्रयत्न करना ही उचित है।" फिर पृष्ठ ४१ पर ही आपने बतलाया है कि पुराणों में बुरे कर्मों के फल दिखाये हैं, जैसे पर-स्त्री को चुराने का फल अपने कुटुम्ब की आहुति देकर रावण का दुर्गति से मरना आदि। इसका परिणाम आप इस प्रकार से निकालते हैं कि "महर्षि व्यासदेवजी इन कर्मों का त्यागना ही बतलाते हैं। मानना पड़ेगा कि इन फलों को दिखाने से हम दुराचार को छोड़ सकते हैं, परन्तु पुराणों में किसी के दुराचार की बात पढ़कर दुराचारी होना उचित नहीं।" अब आप ही निर्णय दें कि ये दो प्रकार की बातें क्या प्रकट कर रही हैं? हाँ, यह ठीक है कि अच्छे और बुरे इतिहास का निर्णय वेद और वेदानुकूल स्मृतियों को कसौटी माने बिना नहीं हो सकता। हमारी उपर्युक्त बात का समर्थन ऋषि भी कर रहे हैं–

---

१. यह लोकोक्ति पोपजी के दृष्टिकोण से लिखी गयी है। इस लोकोक्ति का शुद्ध रूप है–बुद्धि बड़ी या वयस् (अवस्था)? वयस् बिगड़कर भैंस बन गया। –जगदीश्वरानन्द

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि।
यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।।

—तैत्तिरीयोप० ब्रह्मा० ११।२

अर्थ—हमारे जो पापरहित कर्म हैं, वे तुम्हें सेवन करने चाहिएँ, दूसरे नहीं और हमारे जो चरित्र शुभ हैं, अर्थात् वेदानुकूल हैं, उनका तुम्हें आचरण करना चाहिए, दूसरों का नहीं।

इस प्रमाण से यह पूर्णरूप से स्पष्ट हो गया कि इतिहास भी धर्म-अधर्म के निर्णय में किसी सीमा तक कसौटी है, शर्त यह है कि वह वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध न हो।

पोपजी—जहाँ-जहाँ इतिहास-लेखक अपनी लेखनी से धर्म का वर्णन करता है, उसी-उसी स्थान से धर्म का ग्रहण होता है।

तोपजी—यह वर्णन भी धर्म के ग्रहण में कसौटी हो, हमें कोई आपत्ति नहीं, परन्तु हम सिद्ध कर चुके हैं कि इतिहास भी धर्म के ग्रहण में कसौटी है, किन्तु उपर्युक्त दोनों बातें अर्थात् धर्म का वर्णन और इतिहास तभी कसौटी माने जा सकते हैं जबकि वे वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध न हों।

पोपजी—सदा स्मरण रक्खो कि ऋषियों आदि के उपदेश ही ग्रहण करने योग्य हैं, उनके कर्म नहीं।

तोपजी—बोलो सनातनधर्म की जय! बस, इसी परिणाम के लिए पुस्तक लिखने बैठे थे कि पुराणों की आवश्यकता से ही इन्कार कर दिया? भला, यह तो बताइए कि यदि ऋषियों के उपदेश ही ग्रहण करने योग्य होते हैं, उनके कर्म नहीं तो फिर इतिहास लिखने की आवश्यकता ही क्या है? उपदेश के लिए तो वेद, स्मृतियाँ, गृह्यसूत्र और उपनिषद् आदि सैकड़ों ग्रन्थ विद्यमान हैं ही। श्रीमन्! आप तो सनातनधर्म के सिद्धान्त से ही इन्कार कर बैठे। आर्यसमाज तो इतना ही मानता है कि ऋषियों के कर्म उस सीमा तक ही आचरण करने योग्य और धर्म-अधर्म में कसौटी माने जा सकते हैं जहाँ तक वे वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध न हों, परन्तु सनातनधर्म का तो यह सिद्धान्त है कि ऋषियों के कर्म ही धर्म-अधर्म के निर्णय में कसौटी हैं, देखिए—

तर्केऽप्रतिष्ठा श्रुतयो विभिन्ना नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ।।

—गरुडपु० पू० आचार० १०९।५१

अर्थ—तर्क में कोई श्रद्धा नहीं हो सकती, वेद के मन्त्रों में विरोध है, कोई ऐसा ऋषि भी नहीं जिसका मत पृथक् न हो, धर्म का तत्त्व गुफा में छिपा हुआ है, इसलिए महापुरुष जिस मार्ग से चले हों वही मार्ग ठीक है।

कहिए पोपजी! अब क्या कहते हैं? यह तो घर में से आपका खण्डन निकल आया। अब दोनों हाथ सिर पर रखकर इस प्रकार से अपने भाग्य को रोइए—

दिल के फफोले जल उठे सीने के दाग़ से।
इस घर को आग लग गयी घर के चिराग़ से।

पोपजी—अस्तु, अब लालाजी के उत्तरों को सचाई की कसौटी पर परखा जाता है।

तोपजी—आपकी बौखलाहट की भी हद हो गयी! समालोचना करते-करते हमारी चौथी कसौटी को सर्वथा ही छोड़ गये। बस, इसी ज्ञान पर इतरा रहे थे कि चौथी कसौटी पर एक शब्द भी लिखने का साहस नहीं हुआ? हम संक्षेप में इसे दोहरा देते हैं कि—"चौथी कसौटी धर्म-अधर्म को पहचानने की आत्मा की अनुकूलता, बुद्धि और तर्क है, शर्त यह है कि वह आत्मा की अनुकूलता, बुद्धि और तर्क, वेद और वेदों के अनुकूल स्मृतियों की आज्ञा के तथा वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के जाननेवाले ऋषि-मुनियों के आचरण के विरुद्ध न हो।" हमारी चारों कसौटियाँ पूर्ण दृढ़ता के साथ स्थिर हैं। हम मनुस्मृति से चारों कसौटियों के श्लोक उद्धृत कर देते हैं और इन्हीं के प्रकाश में आपके लेखों का उत्तर भी देंगे—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः। हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥
वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते। धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

—मनु० २।१, ६, १०, १२, १३

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः। तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥

—मनु० ४।१७८

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्चकाश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

—मनु० १२।९०, १०६

अर्थ—सदा राग और द्वेष से दूर रहनेवाले, वेदानुकूल आचरणवाले विद्वानों से सेवन किया हुआ अपनी आत्मा के अनुकूल जो काम है; उसे ही धर्म मानना चाहिए।

सब वेद धर्म का मूल हैं और धर्मशास्त्र का नाम स्मृति है। वे सब कार्यों में टीका-टिप्पणी से परे हैं, क्योंकि उनसे ही धर्म का वर्णन किया जाता है।

वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा की अनुकूलता—यह चार प्रकार का ही साक्षात् धर्म का लक्षण माना जाता है।

जो लोग अर्थ और काम में फँसे हुए न हों उनके लिए धर्म का ज्ञान वर्णन किया जाता है। धर्म की जिज्ञासा करनेवालों के लिए वेद ही परम प्रमाण हैं।

जिस मार्ग से उसके पिता, दादा और परदादा गये हों, मनुष्य उसी मार्ग से चले, उस मार्ग से चलता हुआ मनुष्य पतित नहीं होता, शर्त यह है कि वह मार्ग सत्पुरुषों अर्थात् वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के अनुसार आचरण रखनेवालों का हो।

जो स्मृतियाँ वेद के विरुद्ध हों और जो तर्क से रहित हों, वे सब-की-सब निष्फल हैं और इस लोक और परलोक में अज्ञान को प्राप्त करानेवाली हैं।

जो मनुष्य ऋषियों के धर्मोपदेश को तर्क से परखता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं, शर्त यह है कि वह तर्क वेद और शास्त्र के विरुद्ध न हो।

इन श्लोकों को पढ़ने से आपको विश्वास हो जाएगा कि हमारी चारों कसौटियाँ शत-प्रतिशत ठीक हैं।

परिणाम—शास्त्रों ने किसी सिद्धान्त के ठीक या ग़लत होने की परीक्षा करने के लिए चार कसौटियाँ निश्चित की हैं, अर्थात् ये धर्म और अधर्म के परखने की चार कसौटियाँ हैं। इन चार कसौटियों से ही मनुष्य किसी बात के सम्बन्ध में यह निर्णय कर सकता है कि वह धर्म है या अधर्म। इन चारों को समझने के पश्चात् मनुष्य किसी बात के विषय में धोखे में नहीं रह सकता। ये कसौटियाँ इतनी दृढ़ हैं कि इनकी समालोचना में पोपजी के होश उड़ गये। पहली को स्वीकार कर लिया, चौथी को सर्वथा छोड़ दिया। दूसरी और तीसरी के सम्बन्ध में कुछ लिखा, परन्तु इतना निरर्थक कि जिसे कोई भी समझदार व्यक्ति समालोचना का नाम भी नहीं दे सकता, क्योंकि ये सारी कसौटियाँ पुस्तक की आत्मा हैं और इनके प्रकाश में ही सब प्रश्नों के उत्तर लिखे जाएँगे, अतः हम इन्हें विस्तार से यहाँ लिख देते हैं—

१. वेद—इसमें कोई सन्देह नहीं कि वेद ईश्वर का ज्ञान हैं, अतः वे त्रुटि, दोष और अज्ञान से सर्वथा रहित हैं। ईश्वर का ज्ञान और दोषरहित होने से वे स्वतःप्रमाण हैं। इनके प्रमाण के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। ईश्वर के सर्वज्ञ होने के कारण उसका ज्ञान—चारों वेद सब विद्याओं के भण्डार हैं; परन्तु वेद में प्रत्येक विद्या का बीज मिलता है, व्याख्या या विस्तार नहीं मिलता। जिस प्रकार बड़ का बीज इतना छोटा होता है कि उसे कीड़ी भी उठाकर चल देती है, परन्तु वृक्ष इतना बड़ा होता है कि उसे हाथी भी नहीं उखाड़ सकता। यह ठीक है कि वह वृक्ष इस बीज के अन्दर पहले से ही विद्यमान होता है, परन्तु वह इतना सूक्ष्म होता है कि उसे प्रत्येक मनुष्य देख और जान नहीं सकता। इसी प्रकार वेद में प्रत्येक विद्या का बीज विद्यमान है, उसका विस्तार नहीं। यद्यपि उसका विस्तार भी इस बीज के अन्दर ही होता है, परन्तु इसे प्रत्येक व्यक्ति नहीं जान सकता, ऋषि लोग ही समाधि द्वारा जान सकते हैं। वेद में वे आधारभूत सिद्धान्त हैं जो तीनों काल में स्थिर रहते हैं और कभी भी परिवर्तित नहीं होते। वेदों में जिस कार्य को करने की आज्ञा दी गयी है वह धर्म है और जिस कार्य का निषेध किया गया है वह अधर्म है। धर्म और अधर्म को जानने की यह प्रथम कसौटी है।

२. स्मृति—वेदज्ञ विद्वानों, ऋषि और मुनियों के बनाये हुए ग्रन्थों का नाम स्मृति है। वे जीवकृत होने के कारण परतःप्रमाण हैं, अर्थात् वे वहीं तक प्रमाण हैं जहाँ तक वेद के अनुकूल हों। जहाँ वे वेद के विरुद्ध होंगी वहाँ वेद के मुक़ाबले में उनका प्रमाण न माना जाएगा। स्मृति में वेद के आधारभूत सिद्धान्तों को विस्तार के साथ व्याख्या करके लिखा जाता है और जिन बातों की वेदों में स्पष्ट आज्ञा नहीं मिलती उनके सम्बन्ध में समय और स्थान के अनुसार नियम बनाये जाते हैं, शर्त यही है कि वे नियम वेद के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध न हों। यदि स्मृति में कोई भी नियम वेद के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध हो तो उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। हाँ, जिन नियमों और सिद्धान्तों के विषय में वेद में चाहे कोई स्पष्ट आज्ञा न हो, परन्तु उनके विरुद्ध भी कोई वेद का प्रमाण न हो, वे वेद के अनुसार ही स्वीकार किये जाते हैं। इस प्रकार के नियम समय और स्थान की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। जिन कार्यों के सम्बन्ध में वेदों में तो कोई स्पष्ट आज्ञा न मिले, परन्तु वेदज्ञ ऋषियों की बनाई हुई स्मृतियों में उनका वर्णन हो तो ऐसी अवस्था में वे स्मृतियाँ जिस कार्य की आज्ञा दें वह धर्म और जिसका निषेध करें वह अधर्म है। यह धर्म और अधर्म को पहचानने की दूसरी कसौटी है। स्वामी दयानन्द

चूँकि वेदों के विद्वान् और ऋषि थे, इसलिए उनके बनाये हुए ग्रन्थ स्मृति का स्थान रखते हैं। उनके ग्रन्थ भी वहीं तक प्रमाण हैं जहाँ तक वे वेद के अनुकूल हों; जहाँ पर वे वेद के विरुद्ध होंगे, वहाँ वेद के मुक़ाबले में उनका प्रमाण नहीं माना जाएगा। स्वामी दयानन्दजी के ग्रन्थों में वेद के आधारभूत सिद्धान्तों को विस्तार के साथ व्याख्या करके लिखा गया है। हाँ, स्वामीजी के ग्रन्थों में भी कई एक ऐसी बातों के सम्बन्ध में कि जिनके सम्बन्ध में वेद में कोई स्पष्ट आज्ञा नहीं मिलती, समय और स्थानीय आवश्यकता के अनुसार नियम बनाये गये हैं। इन नियमों को भी वेद के अनुसार ही स्वीकार किया जाएगा, जब तक कि इनके विरुद्ध वेद का प्रमाण देकर यह सिद्ध न कर दिया जाए कि अमुक नियम वेद के अमुक मन्त्र के विरुद्ध होने से वेद के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

३. सदाचार--सदाचार का अर्थ वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के जाननेवाले ऋषि-महर्षियों के चालचलन से है। यह धर्म और अधर्म को जानने की तीसरी कसौटी है। ऋषि और मुनियों का चालचलन भी उसी सीमा तक प्रमाण हो सकता है कि जहाँ तक वह वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के अनुकूल हो, परन्तु जहाँ वह वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध हो वहाँ वह कदापि प्रमाण न होगा। हाँ, जिन कार्यों के सम्बन्ध में न तो वेद की कोई स्पष्ट आज्ञा मिले और न ही वेद के जाननेवाले ऋषियों और मुनियों ने अपनी स्मृतियों में इनके विषय में कोई नियम बनाया हो, ऐसी अवस्था में यह देखना चाहिए कि वेद और वेदों के अनुकूल स्मृतियों को जाननेवाले ऋषियों और मुनियों ने ऐसे अवसर पर क्या आचरण किया है। वह आचरण भी वेद के अनुसार ही स्वीकार किया जाएगा। ऐसी अवस्था में जो कार्य ऋषि-मुनियों के आचरण के अनुकूल होगा वह धर्म, और जो विरुद्ध होगा वह अधर्म स्वीकार किया जाएगा।

स्वामी दयानन्दजी महाराज चूँकि वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के जाननेवाले महर्षि थे, इसलिए उनका चालचलन भी उसी सीमा तक प्रमाण होगा, जहाँ तक वह वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध न होगा। यदि स्वामी दयानन्द के चरित्र में भी कोई ऐसी घटना होगी जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध हो तो वह कदापि प्रमाण न मानी जाएगी। हाँ, जिस कार्य के सम्बन्ध में न तो वेद की कोई स्पष्ट आज्ञा मिलती हो और न ही वेद और वेदानुकूल स्मृतियों ने इस कार्य के सम्बन्ध में कोई विधि-विधान बनाया हो, ऐसे कार्य के सम्बन्ध में हमें यह देखना होगा कि ऋषि दयानन्दजी का इस सम्बन्ध में क्या आचरण है? वह आचरण भी वेद के अनुकूल ही माना जाएगा, जब तक कि उस आचरण के सम्बन्ध में वेद या वेदानुकूल स्मृतियों का प्रमाण देकर यह सिद्ध न कर दिया जाए कि स्वामी दयानन्दजी का अमुक आचरण अमुक वेद या वेदानुकूल स्मृति के विरुद्ध है।

४. अपनी आत्मा की अनुकूलता--धर्म और अधर्म को पहचानने की चौथी कसौटी आत्मा की अनुकूलता, बुद्धि और तर्क है। शर्त यह है कि वह आत्मा की अनुकूलता बुद्धि और तर्क, वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध न हो तथा वेद और वेदानुकूल स्मृतियों को जाननेवाले ऋषि और मुनियों के आचरण के विरुद्ध भी न हो। यदि आत्मा की अनुकुलता, बुद्धि और तर्क, वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध होगी तो वह कदापि प्रमाण न मानी जाएगी। हाँ, जिन कार्यों के सम्बन्ध में वेद में कोई स्पष्ट आज्ञा न मिलती

हो और वेदानुकूल स्मृतियों ने भी विधि-विधान न बनाया हो तथा वेद और वेदानुकूल स्मृतियों को जाननवाले ऋषि-मुनियों के आचरण से भी कोई पता न चले तो ऐसी अवस्था में इन कार्यों के सम्बन्ध में बुद्धि, तर्क और आत्मा की अनुकूलता से ही निर्णय करना चाहिए। वह भी वेद के अनुकूल ही माना जाएगा। ऐसी अवस्था में जो कार्य बुद्धि, तर्क और आत्मा के अनुकूल हो वह धर्म, तथा जो कार्य बुद्धि, तर्क और आत्मा के विरुद्ध हो, वह अधर्म माना जाएगा।

अब इन चारों कसौटियों को दृष्टि में रखते हुए हम आर्यसमाज पर किये गये प्रश्नों की पड़ताल करेंगे।

पाठकवृन्द! उपर्युक्त चारों कसौटियों को मस्तिष्क में रखकर हमारी ओर से दिये गये प्रश्नों के उत्तरों को ध्यानपूर्वक पढ़कर आनन्द लीजिए और सत्य तथा असत्य का निर्णय करके सत्य को स्वीकार कीजिए।

आर्यसमाज का बोलबाला

१. वर्ण-व्यवस्था

सिद्धान्त—[प्रश्न] क्या जिनके माता-पिता ब्राह्मण हों वह ब्राह्मणी-ब्राह्मण होता है और जिसके माता-पिता अन्य वर्णस्थ हों उनका सन्तान भी ब्राह्मण हो सकता है?

[उत्तर] हाँ, बहुत-से हो गये, होते हैं और होंगे भी, जैसे छान्दोग्य-उपनिषद् में जाबाल ऋषि अज्ञात-कुल, महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रिय-वर्ण और मतंग ऋषि चाण्डाल-कुल से ब्राह्मण हो गये थे। अब भी जो उत्तम विद्या, स्वभाववाला है, वही ब्राह्मण के योग्य और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है और वैसा ही आगे भी होगा।—सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थसमुल्लास

[प्रश्न] जो किसी के एक ही पुत्र हो, वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाए तो उसके माँ-बाप की सेवा कौन करेगा और वंशछेदन भी हो जाएगा। इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिए?

[उत्तर] न किसी की सेवा का भंग और न वंशछेदन होगा, क्योंकि उनको अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्यासभा और राज्यसभा की व्यवस्था से मिलेंगे, इसलिए कुछ भी अव्यवस्था न होगी। यह गुण-कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुष की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिए। —सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थसमुल्लास

वर्णाश्रम—गुण-कर्मों की योग्यता से मानता हूँ। —स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, १६

वर्ण—जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया जाता है, वर्ण शब्दार्थ से लिया जाता है। —आर्योद्देश्यरत्नमाला, ४३

*

पोपजी—सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने लिखा है कि वर्ण के परिवर्तन होने पर पुत्र और पुत्रियों का परिवर्तन किया जाए, यह ऋग्वेद के मण्डल ५ सूक्त २, मन्त्र[१] के विरुद्ध है।

तोपजी—ऋग्वेद में उपर्युक्त पते पर ऐसा कोई वेदमन्त्र नहीं है, जिसके विरुद्ध

१. ऋग्वेद ५।२।८ मन्त्र निम्न है, जिसका पुत्र-परिवर्तन से कोई सम्बन्ध नहीं है—
हृणीयमानो अप हि मदैयेः प्र मे देवानां व्रतपा उवाच।
इन्द्रो विद्वाँ अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहमग्ने अनुशिष्ट आगाम्॥

स्वामीजी का लेख हो। आपने बिना देखे ऐसे ही लिख दिया है। स्वामीजी का लेख अथर्ववेद काण्ड ४, सूक्त ३० मन्त्र ३[1] के अनुकूल है।

पोपजी—वास्तव में लाला मनसारामजी ने पण्डितजी के प्रश्न को ही नहीं समझा। पण्डितजी ने बतलाया कि लड़के-लड़कियों का परस्पर बदलना वेदविरुद्ध है।

तोपजी—पण्डितजी का प्रश्न ही क्या था जिसे समझने में कठिनाई होती! हमने यह सिद्ध कर दिया है कि स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदों के अनुकूल है। हाँ, यह हो सकता है कि आपने और पण्डितजी ने हमारे उत्तर को ही न समझा हो।

पोपजी—जैसाकि ऋग्वेद मण्डल ५, सूक्त २, मन्त्र ८ का अर्थ निरुक्त में पं० राजाराम शास्त्री, प्रोफेसर डी० ए० वी० कालेज, लाहौर लिखते हैं कि—

"पराया लड़का कभी अपना पुत्र नहीं मानना चाहिए, वह बड़ा सुखदेनेवाला ही क्यों न हो। दूसरे की स्त्री के उदर से उत्पन्न हुआ-हुआ लड़का मन से भी अपना पुत्र नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह फिर भी अपने घर चला जाता है। अपनी स्त्री के उदर से उत्पन्न हुआ लड़का अपना पुत्र मानना चाहिए।"

तोपजी—प्रथम तो जिस मन्त्र का अर्थ आपने दिया है वह उपर्युक्त पते पर नहीं है, पता नहीं आपको अशुद्ध पता लिखने का स्थिर रोग क्यों हो गया? यह मन्त्र ऋग्वेद मण्डल ७, सूक्त ४ का आठवाँ मन्त्र है। दूसरे, निरुक्त का पता भी आपने नहीं लिखा, जैसेकि निरुक्त अध्याय ३, खण्ड ३ में यह मन्त्र है। तीसरे, यद्यपि पं० राजारामजी का अनुवाद हमारे लिए प्रमाण नहीं है, तो भी आपने वह ठीक रूप में नहीं लिखा। भला! ये शब्द पण्डितजी के अनुवाद में कहाँ हैं कि—"अपनी स्त्री के उदर से उत्पन्न हुआ लड़का अपना पुत्र मानना चाहिए।" अपितु वहाँ तो यह अनुवाद है "सो हमें भय देनेवाला, दबानेवाला, नया पैदा हुआ प्राप्त हो।" दूसरे के नाम से ग़लत अनुवाद देना प्रथम कोटि की बेईमानी और मक्कारी है। लीजिए, हम इस मन्त्र का ठीक-ठीक अनुवाद लिखते हैं—

हे मनुष्यो! जो प्रसन्न न करता हो, सुन्दर सुख से युक्त दूसरे के उदर से उत्पन्न हुआ हो, वह मन से भी ग्रहण करने के लिए मानने योग्य नहीं है। और भी, फिर वही घर को नहीं प्राप्त होता। इसके पश्चात् जो नया, उत्तम, सहनशील, विज्ञानवाला हमें प्राप्त हो।" मन्त्र के शब्द स्पष्ट हैं "जो हमें सुखी करके प्रसन्न न करता हो, स्वयं चाहे सुखी ही हो, ऐसा जो दूसरे के उदर से उत्पन्न हुआ पुत्र है, उसे मन से भी पुत्र नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह घर का उत्तराधिकारी नहीं बन सकता। हाँ, जो नया अर्थात् नवयुवक, उत्तम, सहनशील और विज्ञानवाला हो वह हमें प्राप्त हो, अर्थात् वह पुत्र मानने के योग्य है।" इससे स्पष्ट प्रकट है कि जिसके गुण-कर्म-स्वभाव हमारे साथ न मिलते हों, ऐसा दूसरे से उत्पन्न हुआ लड़का हमारा पुत्र नहीं बन सकता, अपितु जिसके गुण-कर्म-स्वभाव हमसे मिलते हों, वही हमारा पुत्र बन सकता है और वही घर का उत्तराधिकारी हो सकता है।

अब बतलाइए, यह मन्त्र स्वामीजी के लेख का समर्थन करता है या खण्डन? आपके सिर पर पक्षपात का ऐसा भूत सवार हो रहा है कि आप स्वामीजी के लेख को पुष्ट करनेवाले मन्त्रों को भी खण्डन में प्रस्तुत करके अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं।

---

१. **अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम्।**
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥　　—अथर्व० ४।३०।३

पक्षपात के चश्मे को आँखों से उतारकर देखें, स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है।

पोपजी—लालाजी ने 'सवाल गन्दुम (गेहूँ) जवाब चीना' वाली बात की है। इसका वर्ण-व्यवस्था से क्या सम्बन्ध?

तोपजी—**'बरी अक़लो दानिश बबायद ग्रीस्त'**—आपकी इस समझ और बुद्धि पर रोना चाहिए जो आप यह कह रहे हैं कि इसका वर्ण-व्यवस्था से क्या सम्बन्ध? भला! जब प्रश्न में स्पष्ट लिखा है कि 'वर्ण का परिवर्तन होने पर लड़के-लड़कियों का परिवर्तन वेद के विरुद्ध है' तो आधारभूत सिद्धान्त तो वर्ण-व्यवस्था ही हुआ। हाँ, यदि आपको वर्ण-व्यवस्था पर विचार-विनिमय भयदायक प्रतीत होता है तो दूसरी बात है, अन्यथा हमने तो उत्तर ठीक ही लिखा है।

पोपजी—महाशयजी! कृपा करके किसी वेदमन्त्र का प्रमाण बतलाएँ, जिसमें लड़के-लड़कियों के परिवर्तन की आज्ञा हो।

तोपजी—हमने तो अपनी पुस्तक में युक्ति और तर्कों से यह सिद्ध कर दिखाया है कि स्वामीजी के इस लेख को वेदानुकूल सिद्ध करने के लिए यजुर्वेद अध्याय ३१ का मन्त्र ११[१] ही पर्याप्त है, परन्तु आप उन सब युक्तियों का कोई उत्तर न देकर फिर भी और मन्त्र माँगते हैं, तो आपने जो मन्त्र हमारे विरोध में दिया है, वह हमारे ही सिद्धान्त की पुष्टि करता है। यदि फिर भी आप प्रमाण-प्रमाण की रट लगाये ही जाते हैं तो लीजिए हम आपके लिए एक और मन्त्र प्रस्तुत करते हैं। अथर्ववेद काण्ड ४ सूक्त ३० मन्त्र ३ में विद्यासभा स्पष्ट कहती है—"मैं स्वयं यह घोषणा करती हूँ कि देवों और मनुष्यों में से जिसे चाहूँ उसे क्षत्रिय बनाती हूँ और जिसे चाहूँ उसे ब्राह्मण और ऋषि-मुनि बनाती हूँ।"[२] कहिए, अब तो सन्तुष्टि हो गयी? इस मन्त्र में विद्यासभा ने स्पष्ट घोषणा कर दी है कि मैं जिसे चाहती हूँ उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि बनाती हूँ। बस, गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार मनुष्यों के वर्ण निश्चित करके विद्यासभा राज्यसभा की सहायता से जो लड़का-लड़की जिस-जिसके गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल हो, उसे देकर वर्ण-व्यवस्था की मर्यादा को स्थिर रखती है।

पोपजी—ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ पुत्र ब्राह्मण बन सकता है, यह इनकी समझ की त्रुटि है। ब्राह्मण नहीं बनता अपितु उत्तम ब्राह्मण वही होता है।

तोपजी—आपके इस लेख के अनुसार व्यासजी और विश्वामित्र, वसिष्ठ, पराशर, ऋष्यशृङ्ग, कनाद, मन्दपाल आदि कोई भी उत्तम ब्राह्मण न थे, क्योंकि भविष्यपुराण, ब्राह्मखण्ड, अध्याय ४२ के अनुसार इनमें से किसी की भी माँ ब्राह्मणी नहीं थी। अपने स्वार्थ में पड़कर ऋषियों को बदनाम मत करो! गुण-कर्म से ही वर्ण-व्यवस्था मानने से आपका कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं!

पोपजी—विद्या आदि ब्राह्मण के उत्तम कर्म करने पर भी शूद्र शूद्रों में ही रहता है, दूसरे वर्ण में परिवर्तित नहीं हो सकता। सनातनधर्म का यह सिद्धान्त वेदादि शास्त्रों के अनुकूल है।

---

१. **ब्राह्मणो अस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।**
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रो अजायत॥ —यजुः० ३१।११

२. मन्त्र देखिए पृ० १०० पर।

तोपजी—सनातनधर्म का यह सिद्धान्त कि 'शूद्र विद्या आदि ब्राह्मण के उत्तम कर्म करने पर भी शूद्र ही रहता है, ब्राह्मण नहीं बन सकता', वेदादि शास्त्रों के सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि यजुर्वेद (३१।११) कर्मों के अनुसार वर्णव्यवस्था का प्रतिपादन करता है। मनुस्मृति (१०।६५) में भी लिखा है कि उत्तम कर्म करने से शूद्र ब्राह्मण बन सकता है। इसके अतिरिक्त आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में लिखा है कि "धर्म का आचरण करने से नीच वर्ण अपने से ऊँचे-ऊँचे वर्ण को प्राप्त हो जाता है।" वेद-शास्त्रों के अतिरिक्त पुराण भी तो आपका साथ नहीं देते। देखिए, भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व, अध्याय ४० श्लोक ४७ में लिखा है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियो याति विप्रत्वं विद्याद्वैश्यं तथैव च॥ —भवि० ब्राह्म० ४०।४७

अर्थ—शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है, क्षत्रिय ब्राह्मण बन जाता है और वैसे ही वैश्य को भी समझ लेना चाहिए।

अब कहिए महाराज! आपकी दुर्गति का कुछ ठिकाना है! वेद-शास्त्र तो दूर की बात है आपके घर के पुराण भी आपका समर्थन नहीं करते।

पोपजी—लालाजी ने आर्यसमाज का सिद्धान्त बतलाते हुए वर्ण-व्यवस्था में कर्म ही मुख्य माना है। वह वेदों के सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि वेदों में कहीं भी कर्म के अनुसार वर्ण या जाति का परिवर्तन होना नहीं लिखा।

तोपजी—कोई मन्त्र तो प्रस्तुत किया होता जिससे पता लग जाता कि कर्मों के अनुसार वर्ण-व्यवस्था अमुक वेदमन्त्र के विरुद्ध है। रही यह बात कि कर्मों से वर्ण-व्यवस्था किस वेदमन्त्र के अनुकूल है, वह हम कितनी बार लिख चुके हैं कि यजुर्वेद (३१।११) में प्रतिपादन किया गया है कि कर्मों के अनुसार वर्ण परिवर्तित हो जाता है और इसी मन्त्र से वर्ण परिवर्तित होने पर लड़के-लड़कियों का परिवर्तन भी सिद्ध है। हमने अथर्ववेद (४।२०।३) का मन्त्र भी पीछे प्रस्तुत कर दिया है, जिसमें विद्यासभा की घोषणा है कि "मैं जिस-जिसको भी चाहती हूँ ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि बनाती हूँ। इन वेदमन्त्रों से यह पता लगता है कि स्वामी दयानन्दजी महाराज का लेख शत-प्रतिशत वेदों के अनुकूल है और सनातनधर्म का सिद्धान्त वेदों के सर्वथा विरुद्ध है।

पोपजी—'विद्या आदि शुभ कर्म करने से शूद्र ब्राह्मण बन जाता है और सेवा आदि कर्म करने से ब्राह्मण शूद्र बन जाता है' यह कहना सर्वथा ग़लत है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो एक मनुष्य का वर्ण एक ही दिन में कई बार परिवर्तित हुआ करेगा।

तोपजी—आपकी यह कल्पना सर्वथा निर्मूल है। कर्म दो प्रकार के होते हैं—एक मुख्य और दूसरे गौण। मुख्य कर्म वे होते हैं जिनके आधार पर किसी की जीवन-यात्रा चलती है, अर्थात् जिनके द्वारा वह अपना जीवन-यापन करता है, आजीविका कमाता है। गौण धर्म वे कहाते हैं जिनपर किसी मनुष्य की आजीविका निर्भर नहीं होती, अपितु वह अपने जीवन को सुविधापूर्वक व्यतीत करने के लिए करता है। उदाहरण के लिए यदि मैं कपड़े धोता हूँ तो लोग मुझे धोबी नहीं कहेंगे, परन्तु यदि मैं आजीविका के लिए पारिश्रमिक लेकर लोगों के कपड़े धोने लगूँ तो लोग मुझे धोबी कहने लग जाएँगे। इसी प्रकार अन्य कार्यों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। इसलिए चाहे कोई महाशय अपने घर में पचासों कार्य भी करता हो, परन्तु उसका वर्ण उस कर्म के अनुसार माना जाएगा जिस कर्म से वह आजीविका कमाकर जीवन-यापन करता है, अतः हमारे सिद्धान्त के अनुसार कोई

वर्णसंकर नहीं हो सकता। हाँ, सनातनधर्म के सिद्धान्त के अनुसार इस समय वर्णसंकरता विद्यमान है, क्योंकि एक व्यक्ति जन्म से तो ब्राह्मण है, परन्तु वह गुड़-शक्कर की दुकान करता है। लोग कहते हैं–"लालाजी! दो पैसे का गुड़ दीजिए।" एक जन्म का ब्राह्मण स्टेशन पर कुली का काम करता है। लोग कहते हैं–"अबे कुली! बोझ उठा," आदि। इसका नाम वर्णसंकरता है, जो सारे सनातनधर्म में विद्यमान है।

पोपजी–इसके अतिरिक्त आर्यसमाज में अब भी बिना पढ़े-लिखे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि व्यक्ति हैं, क्या इनकी गणना आर्यसमाज ने शूद्रों में की है?

तोपजी–निःसन्देह! आर्यसमाज में जो बिना पढ़े-लिखे हैं, चाहे वे जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही क्यों न हों, यदि वे पैरो की भाँति केवल बोझ उठाने आदि सेवा का काम ही आजीविका के लिए करते हैं तो आर्यसमाज के सिद्धान्त के अनुसार शूद्र हैं।

पोपजी–भला, महाशयजी! यह तो बतलाएँ कि संस्कृतविद्या पढ़ने से शूद्र ब्राह्मण बनता है अथवा अंग्रेज़ी, फ़ारसी या और कोई विद्या पढ़ने से ब्राह्मण वर्ण मिलता है?

तोपजी–वेद के अनुसार आचार का पालन करना चारों वर्णों का धर्म है, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों के लिए यह बात आवश्यक है कि वे मद्यपान, मांसभक्षण, दुराचार, झूठ, छल-कपट आदि सब दोषों से बचें। यदि कोई व्यक्ति उपर्युक्त दोषों में फँसा हुआ होगा तो वह चारों वर्णों से बहिष्कृत होकर रावण की भाँति राक्षस की पदवी को प्राप्त हो जाएगा। वेद के अनुसार गुण-कर्म और स्वभाव रखनेवाला व्यक्ति चाहे किसी भी भाषा का विद्वान् क्यों न हो, यदि वह मुख के समान दूसरों की अपेक्षा पाँचगुणा ज्ञानवाला है और जनता को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर चलाता है, विद्या पढ़ाने और उपदेश देने का काम करता है तो वह ब्राह्मण है। जो भुजा के समान अपने को संकट में डालकर भी जनता की रक्षा करता है तो वह क्षत्रिय है, और जो पेट के समान कच्चे माल को पक्का बनाकर उसकी आय से जनता को लाभ पहुँचाता है और जाँघों की भाँति देश-देशान्तरों में घूमकर व्यापार करता है वह वैश्य है। जो मूर्ख रहकर उपर्युक्त तीनों कामों में से किसी भी कार्य को करने के योग्य नहीं अपितु पैरों की भाँति बोझ उठाने आदि सेवा का कार्य करता है, वह शूद्र है। उपर्युक्त गुण-कर्म-स्वभाव में से जो व्यक्ति जिस वर्ण के अनुकूल कार्य करेगा, वह उस वर्ण में गिना जाएगा।

पोपजी–गुरुकुल के स्नातक लाला हरिश्चन्द्रजी व ला० इन्द्रजी आदि संस्कृत के विद्वान् होने पर भी किसी ब्राह्मण को नहीं दिये गये और न ही उनके पिता लाला मुंशीरामजी प्रसिद्ध स्वामी श्रद्धानन्दजी को किसी और के पुत्र परिवर्तित करके दिये गये।

तोपजी–क्योंकि महात्मा मुंशीरामजी स्वयं गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार ब्राह्मण थे और उनके दोनों पुत्र भी गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार ब्राह्मण ही बने, अतः परिवर्तन की आवश्यकता नहीं पड़ी। परन्तु, अब तनिक जन्म से वर्णव्यवस्था माननेवाले सनातनधर्म की दुर्दशा का अवलोकन कीजिए–

एक ब्राह्मण के घर उत्पन्न हुआ व्यक्ति मुसलमान बन जाता है, वह गोमांस की दुकान करता है और ऊँची आवाज में कहता है–'मुस्लिम गोश्त रोटी गर्मागर्म!' परन्तु सनातनधर्म से पूछने प्रर पता लगा कि वह ब्राह्मण है। एक व्यक्ति ईसाई होकर गिरजाघर में उपदेश करता है और पादरियों की क्लब में मद्यपान और मांसभक्षण में रत है, वेदों और राम-कृष्ण की निन्दा करता है, परन्तु पोपजी से पता लगा कि वह ब्राह्मण है। एक व्यक्ति आठ आने

(५० पैसे) प्रति घड़ा मासिक के हिसाब से पानी भरता है और दिन-भर उसी काम से आजीविका कमाता है, पता लगा वह ब्राह्मण है। एक व्यक्ति रेलगाड़ी के ठहरते ही 'कुली, कुली' की आवाज़ लगाता है और मनों (३७.५ किलो का एक मन) बोझ ढोकर एक आना (६ पैसे) पारिश्रमिक पाता है, पता लगा वह भी ब्राह्मण है। एक व्यक्ति एक मारवाड़ी के यहाँ नौकर है, पानी भरता है, रोटी बनाता है, धोती धोता है, लड़के खिलाता है, उनकी टट्टी साफ़ करता है, बर्तन साफ़ करता है, परन्तु पता लगा वह भी ब्राह्मण है। एक व्यक्ति जनाना वस्त्र पहनकर सोरठ का स्वांग भरता है और मुसलमान तथा डोम का लड़का जोकि बंजारा बना हुआ है, उसकी स्त्री बन जाता है और हाव-भाव से नृत्य और कटाक्ष करता है, पता लगा वह भी ब्राह्मण है। एक विधवा बाजार में बैठकर पेशा करती है, मुसलमान हो जाती है, दिन में सैकड़ों का ईमान बिगाड़ती है, सनातनधर्म से पता लगा कि वह भी ब्राह्मणी है। निष्कर्ष यह कि उपर्युक्त व्यक्ति चूँकि जन्म से ब्राह्मण हैं, इसलिए प्रत्येक अवैध काम करते हुए भी ब्राह्मण हैं।

कहिए पोपजी! यही बात है न? धिक्कार है ऐसे ब्राह्मणपन पर और जन्म की वर्ण-व्यवस्था पर! लज्जा तो नहीं आती? मुँह काला करके कुँए में डूब मरो! यही तो कारण है कि आज शिक्षित सज्जन अपने-आपको ब्राह्मण बताने से घबराते हैं और यह समझकर कि सनातनधर्म में सब वस्तुएँ टके सेर ही बिकती हैं, सनातनधर्मसभा को दूर से ही 'रामजी की जय' कहकर उससे पृथक् हो जाते हैं। इसलिए होश करो! ब्राह्मणपन को कलंकित मत करो। ब्राह्मण वही है जो गुण-कर्म-स्वभाव से ब्राह्मणपन के कार्य करता है। उपर्युक्त व्यक्ति ब्राह्मण नहीं हैं।

पोपजी—पाठको! वर्णव्यवस्था जन्म से है। गुण-कर्म-स्वभाव से कभी वर्ण या जाति परिवर्तित नहीं हो सकती, क्योंकि जिस वस्तु के जो स्वाभाविक गुण हैं, वे उस वस्तु के साथ सदा रहते हैं, परिवर्तित नहीं होते।

तोपजी—पाठक महाशय! उपर्युक्त लेख में पोपजी ने वर्ण और जाति शब्द को पर्यायवाची बताकर जनता को बड़ा भारी धोखा दिया है, क्योंकि वर्ण और जाति दोनों भिन्न-भिन्न हैं। जाति उसे कहते हैं जो रंग-रूप देखकर दूसरों की अपेक्षा पृथक् पहचानी जाए, जैसे—गाय, भैंस, बकरी, घोड़ा, ऊँट, हाथी, मनुष्य। इनमें से प्रत्येक को उसकी आकृति देखकर दूसरों की अपेक्षा पृथक्-पृथक् पहचाना जा सकता है। इसलिए जैसे पशुओं में गाय-भैंस आदि की अपनी-अपनी जातियाँ हैं, इसी प्रकार सब मनुष्यों की एक ही जाति है, क्योंकि मनुष्य दूसरे प्राणियों में से मनुष्य के रूप में पहचाना जा सकता है, परन्तु वर्ण जाति नहीं है। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को एक-सी हजामत बनवाकर और एक-से वस्त्र पहनाकर खड़ा कर दिया जाए तो मनुष्य उनकी आकृति देखकर उन्हें पृथक्-पृथक् नहीं पहचान सकता, क्योंकि जन्म से उनकी आकृतियों में कोई अन्तर नहीं है। यदि परमात्मा को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को भी जन्म से जाति बनाना स्वीकार होता तो परमात्मा उनकी आकृतियों में जन्म से ही अन्तर रख देता। ब्राह्मणों के सींग लगा देता, क्षत्रियों के पूँछ लगा देता, वैश्यों के हाथी की भाँति सूँड लगा देता और शूद्रों को एक टाँगवाला बना देता, परन्तु परमात्मा ने ऐसा नहीं किया, इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये जातियाँ नहीं हैं, अपितु वर्ण हैं।

जाति का दूसरा लक्षण यह है कि जो नर और मादा मिलकर एक-जैसी सन्तान उत्पन्न

कर सकें वे दोनों एक ही जाति में होते हैं, जैसे गाय और बैल, भैंस और भैंसा, घोड़ा और घोड़ी, गधा और गधी आदि नर और मादा मिलकर अपने-जैसी ही सन्तान उत्पन्न कर लेते हैं, अतः उनमें से प्रत्येक नर और मादा दोनों एक ही जाति में गिने जाएँगे, परन्तु घोड़ी और गधा मिलकर अपने-जैसी सन्तान पैदा नहीं कर सकते, उनकी सन्तति खच्चर दोनों की अपेक्षा भिन्न होती है। इसलिए घोड़ा और गधा एक जाति में नहीं गिने जा सकते। अब आप इसी सिद्धान्त को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पर घटाएँ। यदि किसी ब्राह्मण की शूद्रा से या शूद्र का ब्राह्मणी से विवाह कर दिया जाए तो दोनों मिलकर जो सन्तान उत्पन्न करेंगे, वह स्त्री और पुरुष की अपेक्षा खच्चर की भाँति भिन्न नहीं होगी अपितु स्त्री और पुरुष के अपने अनुकूल ही होगी। इससे पता लगा कि ब्राह्मण और शूद्र दोनों एक ही जाति में है। यदि इनकी जाति भिन्न होती तो वे भी अपनी-जैसी सन्तान उत्पन्न न कर सकते, अपितु उनकी सन्तान उनसे भिन्न होती, अतः ब्राह्मण और शूद्र दोनों एक ही जाति हैं और वह मनुष्य-जाति है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियाँ नहीं हैं, अपितु वर्ण हैं और वर्ण नाम काम का है। प्रत्येक वर्ण का पृथक्-पृथक् कार्य निश्चित है। जो व्यक्ति जिस प्रकार का काम करेगा वह उसी वर्ण में गिना जाएगा, जैसाकि हम मनुष्य के शरीर का उदाहरण देकर पीछे लिख आये हैं। इस प्रकार वर्ण और जाति एक नहीं हैं, अपितु भिन्न-भिन्न हैं। इन दोनों को पर्यायवाची बताना जनता को धोखा देना है। जाति जन्म से मरणपर्यन्त परिवर्तित नहीं हो सकती, परन्तु वर्ण गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार बदलता रहता है। मनुष्यजाति जन्म से मरण तक स्थिर रहती है, परन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण कर्मों के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। इससे पता लगा कि वर्ण जन्म से नहीं है, अपितु कर्म से है, अतः परिवर्तित होनेवाला है।

अब विचारणीय बात यह है कि क्या ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व और शूद्रत्व जल में शीतलता की भाँति किसी वस्तु का स्वाभाविक गुण है? यदि है तो क्या आत्मा का स्वाभाविक गुण है अथवा शरीर का? यदि कहो कि ब्राह्मणत्व आदि आत्मा का स्वाभाविक गुण है और वह आत्मा के साथ सदा विद्यमान रहता है तो पुनर्जन्म की अवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का आत्मा किसी कुत्ते, गधे, उल्लू और सूअर के जन्म में चला जाए तो उस कुत्ते, गधे, उल्लू और सूअर को भी क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मानना पड़ेगा। इसलिए ब्राह्मणत्व आदि आत्मा का तो स्वाभाविक गुण नहीं है। तो क्या ब्राह्मणत्व आदि शरीरों का स्वाभाविक गुण है? ऐसा मानना भी कठिन है, क्योंकि ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सबके शरीर पञ्चतत्त्वों से बने हुए हैं और उनमें परस्पर रंग, रूप, आकृति, बनावट, शैशव, यौवन और वार्धक्य, जन्म-मरण आदि में कोई अन्तर नहीं है, अतः यह सिद्ध है कि ब्राह्मणत्व आदि शरीरों का भी स्वाभाविक गुण नहीं है। तो फिर यह क्या वस्तु हैं, वह हम बतलाते हैं—ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, और शूद्रत्व जल में गर्मी की भाँति आत्मा के नैमित्तिक गुण हैं। आत्मा मनुष्य-शरीर धारण करके जिस-जिस वर्ण के गुण-कर्म और स्वभाव को ग्रहण कर लेता है, उसी-उसी वर्ण में वह गिना जाता है और जिस-जिस वर्ण के गुण-कर्म और स्वभाव को छोड़ देता है उस-उस वर्ण से वह बहिष्कृत समझा जाता है। इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का किसी के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं है, इसलिए एक ही जन्म में गुण-कर्म और स्वभाव के परिवर्तित हो जाने के कारण वर्ण भी परिवर्तित हो जाता है।

पोपजी—पहले जन्मों के कर्मों के अनुसार जब हमें कोई वर्ण मिला है तो उन कर्मों का शरीर से नित्य सम्बन्ध है, फिर उसी शरीर में कर्मों के द्वारा परिवर्तन मानना उचित नहीं।

तोपजी—आप प्रारब्ध और कर्मों को एक ही बताकर धोखा देने का प्रयत्न न करें। प्रारब्ध पिछले जन्म के कर्मों के फल का नाम है और कर्म या पुरुषार्थ इस जन्म में स्वतन्त्रता से किये जानेवाले कर्मों का नाम है। प्रारब्ध के अनुसार वर्ण नहीं मिलता, अपितु प्रारब्ध के अनुसार अच्छे या बुरे माता-पिता के द्वारा जन्म मिलता है। पिछले जन्म में किये हुए कर्मों का दुःख और सुखरूप में फल मिलता है, परन्तु आगे के लिए स्वतन्त्रता से किये जानेवाले कर्मों में प्रारब्ध का कोई प्रभाव नहीं होता। बस, प्रारब्ध का इतना ही काम है कि उसके अनुसार आपको अच्छे या बुरे माता-पिता के द्वारा शरीर मिल गया और भविष्य में भी प्रारब्धवश सुख-दुःखरूप में फल मिलता रहेगा, परन्तु भविष्य में स्वतन्त्रता से अच्छे या बुरे कर्म करके उन्नति करना या अवनत होना यह आपकी इच्छा पर निर्भर है। प्रारब्धवश आपको वर्ण नहीं मिलता अपितु शरीर मिलता है और प्रारब्ध का शरीर के साथ यही सम्बन्ध है कि जन्म से मरणपर्यन्त आपका मनुष्य-शरीर परिवर्तित न हो, परन्तु अपने जीवन में आप हीन कर्म करके शूद्र ही नहीं, अपितु राक्षस बन जाएँ या उत्तम कर्म करके ब्राह्मण ही नहीं अपितु ऋषि-मुनि बन जाएँ, यह आपके स्वतन्त्रतापूर्वक निकृष्ट और श्रेष्ठ कर्म करने पर निर्भर है।

पोपजी—उत्तम कर्म करनेवाला अपनी जाति में उत्तम माना जाता है और बुरे कर्म करनेवाला उस जाति में पतित समझा जाता है।

तोपजी—हम पहले बता चुके हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति नहीं, अपितु वर्ण हैं। सब इन्सानों की जाति मनुष्य है। हाँ, यह ठीक है कि अपनी मनुष्य-जाति में उत्तम कर्म करनेवाला ब्राह्मण आदि बन सकता है और बुरे कर्म करनेवाला शूद्र ही नहीं राक्षस भी बन सकता है।

पोपजी—स्वामी दयानन्दजी ने 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' पुस्तक में लिखा है कि जिस वस्तु का जो स्वाभाविक गुण है, जैसे अग्नि में प्रकाश और जलाना, जब तक अग्नि रहेगी तब तक उसका वह गुण उससे पृथक् नहीं हो सकता। स्वामीजी के लेख से जब गुण का शरीर से नित्य सम्बन्ध है, तो शूद्र ब्राह्मण कैसे बन सकता है?

तोपजी—हम यह बात पहले सिद्ध कर चुके हैं कि ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व और शूद्रत्व न जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है और न ही शरीर का स्वाभाविक गुण है अपितु आत्मा का नैमित्तिक गुण है। जीवात्मा मनुष्य-शरीर में रहकर ब्राह्मणत्व आदि के गुणों में से जिन गुणों को नैमित्तिक रूप से ग्रहण कर लेता है, वह व्यक्ति उन्हीं गुणोंवाला होने के कारण ब्राह्मण आदि कहाता है। ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि मनुष्य में अग्नि में प्रकाश की भाँति स्वाभाविक नहीं, अपितु विभिन्न रंगवाले शीशों के योग से अग्नि का लाल, हरा, नीला आदि होने के समान नैमित्तिक है। इसलिए अपने कर्मों के अनुसार किसी मनुष्य का ब्राह्मण से शूद्र और शूद्र से ब्राह्मण बन जाना सर्वथा ठीक और युक्तियुक्त है।

पोपजी—जन्मजात चिह्न ही स्वभाव होता है, वह कभी परिवर्तित नहीं हो सकता।

तोपजी—यहाँ वर्णव्यवस्था में जो गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था मानी जाती है उसमें स्वभाव नाम जन्मजात चिह्न का नहीं है, अपितु यहाँ तो स्वभाव नाम आदत का है,

जो समय-समय पर परिवर्तित होती रहती है, इसलिए वर्ण भी गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं।

पोपजी—आर्यसमाज के प्रमुख पण्डित नरदेव शास्त्री वेदतीर्थजी 'आर्यसमाज का इतिहास' नाम पुस्तक के पृष्ठ ६७ पर लिखते हैं कि "जन्मजात चिह्न का ही नाम स्वभाव है। जन्म से स्वभाव का घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वभाव जन्मभर नहीं बदलता, मरने तक रहता है।"

तोपजी—ख्वाजा (हिजड़े) का गवाह मेंढक! सनातनधर्म के साक्षी नरदेव शास्त्री के क्या कहने! आर्यसमाज के प्रमुख पण्डित वह कब से? अपने ही घर में स्वनिर्मित प्रमुख पण्डित होंगे। हमारे लिए तो यदि आप पोप हैं तो नरदेव शास्त्री डबल पोप हैं। इनके इतिहास को शहद लगाकर चाटा करो। हमारे समक्ष इसका क्या मूल्य है? हम तो इस प्रकार के पोपनिर्मित ग्रन्थों को दियासलाई लगाने के योग्य समझते हैं। रहा उनका यह कहना कि स्वभाव नाम जन्मजात चिह्न का है, वह सर्वथा ग़लत है। इस स्थान पर स्वभाव नाम आदत का ही है, और जहाँ स्वभाव नाम आदत का हो वहाँ उसका जन्म के साथ घनिष्ठ नहीं अति क्षणिक सम्बन्ध होता है और स्वभाव जन्म से लेकर मरने तक सहस्रों बार बदलते रहते हैं। हाँ, यदि उनका स्वभाव से तात्पर्य मनुष्य-शरीर से हो तो दूसरी बात है। देखिए, स्वभाव नाम आदत का है और वह बदलनेवाली है। इस विषय में हमने ऋषि से प्रश्न किया कि यदि सब लोग ही अहिंसक हो जाएँ तो व्याघ्र आदि पशु सब उपकारी पशुओं को मार खाएँ। इसके उत्तर में ऋषि ने कहा कि "यह राजपुरुषों का काम है कि वे इस प्रकार के हानिकारक पशुओं को मार डालें।" इसपर किसी ने प्रश्न किया—फिर उनके मांस का क्या करें? इसपर ऋषि ने उतर दिया कि "चाहे फेंक दें, चाहे कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें या जला देवें अथवा कोई मांसाहारी खावे तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती, किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है। जितना हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छल-कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है वह अभक्ष्य और अहिंसा आदि कर्मों से प्राप्त होकर भोजन आदि करना भक्ष्य है। इस लेख से स्पष्ट है कि यहाँ स्वभाव नाम आदत का है और वह बदलनेवाली है। इसलिए वर्ण-व्यवस्था के विषय में भी जहाँ पर लिखा है कि वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल होती है, वहाँ स्वभाव नाम आदत का है और वह समय-समय पर बदलनेवाली है।

पोपजी—शास्त्रों में भी जन्मजात चिह्न का निषेध नहीं किया, जैसे मनुस्मृति अध्याय २, श्लोक १५७ में लिखा है कि "जिस प्रकार काठ के हाथी और चमड़े के मृग को लोग हाथी और मृग ही कहते हैं, वैसे ही अनपढ़ ब्राह्मण नाममात्र से भी ब्राह्मण ही माना जाता है।

तोपजी—प्रथम तो इस श्लोक का अर्थ ही आपने गलत किया है। यहाँ मनु महाराज का उद्देश्य यह दिखलाना नहीं है कि अनपढ़ ब्राह्मण भी ब्राह्मण माना जाता है, अपितु उनका उद्देश्य तो यह दिखलाना है कि अनपढ़ ब्राह्मण निकृष्ट होता है। देखिए, हम इस और इससे अगले श्लोक का ठीक अनुवाद कर देते हैं, जिससे आपकी भ्रान्ति दूर हो जाए।

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः। यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति।
यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला। यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥

—मनु० २।१५७,१५८

अर्थ—जैसे काठ का बना हुआ हाथी, जैसे चमड़े का बना हुआ मृग और बिना पढ़ा ब्राह्मण ये तीनों नाममात्र के होते हैं।

जैसे नपुंसक पुरुष स्त्रियों में निष्फल होता है और जैसे गौ गौओं में निष्फल होती है और जैसे मूर्ख को दिया दान निष्फल होता है, वैसे ही ब्राह्मण भी वेदों की शिक्षा के बिना निष्फल होता है।

अब बतलाइए, मनुजी ने ये दोनों श्लोक अनपढ़ को भी ब्राह्मण सिद्ध करने के लिए दिये हैं या अनपढ़ ब्राह्मण की निन्दा करते हुए उसे नपुसंक, नाममात्र, निकम्मा और व्यर्थ सिद्ध किया है? आपने स्वयं अपनी पुस्तक पृष्ठ ८१, पंक्ति १३ में स्वीकार किया है कि "जिससे उपमा दी जाती है, उससे तद्रूप होना आवश्यक नहीं, क्योंकि हम किसी राजा के दान के सम्बन्ध में प्रशंसा करते हुए कह देते हैं कि आप कर्ण हैं, इस उपमा से वह राजा कर्ण नहीं बन जाता, अपितु कर्ण की भाँति दानी समझा जाता है।" बस इसी सिद्धान्त के अनुसार यहाँ भी ब्राह्मण के शिक्षित न होने पर उसकी काठ के हाथी, चमड़े के मृग, स्त्रियों में नपुंसक, गौओं में गौ और मूर्खों में दान की उपमा देकर उसे नाममात्र और व्यर्थ बतलाकर उससे घृणा दिलाना अभीष्ट है, न कि उसे तद्रूप मानकर अशिक्षित को भी ब्राह्मण सिद्ध करना अभीष्ट है। मनुजी तो अध्याय ४, श्लोक ३० में कहते हैं कि—"ऐसे व्यक्तियों का वाणीमात्र से भी सत्कार नहीं करना चाहिए।"[१] और मनु महाराज का तो यह निश्चित सिद्धान्त है—

> **योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।**
> **स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥** —मनु० २।१६८

अर्थ—जो ब्राह्मण वेदों को न पढ़कर अन्यत्र परिश्रम करता है, वह जीते हुए ही अपने कुलसहित बहुत शीघ्र शूद्रपन को प्राप्त हो जाता है।

जिसमें शूद्रपन हो उसी को शूद्र कहते हैं; और मनुस्मृति अध्याय १०, श्लोक ६५ के अनुसार शूद्र ब्राह्मण बन जाता है और ब्राह्मण शूद्र बन जाता है।[२] इसलिए आर्यसमाज का सिद्धान्त कि वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार है, सर्वथा सत्य है।

पोपजी—वेद का जानना और ईश्वर का पहचानना एक क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र को ब्राह्मण नहीं बना सकता जब तक वह ब्राह्मणकुल में उत्पन्न न हुआ हो।

तोपजी—यदि आप आर्यसमाज के सिद्धान्त को समझ लेते तो आपको उपर्युक्त लेख लिखने की आवश्यकता न पड़ती, क्योंकि आर्यसमाज गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल वर्ण-व्यवस्था मानता है। कोई व्यक्ति केवल गुणों से किसी वर्ण में नहीं गिना जा सकता जब तक कि वह किसी वर्ण के अनुसार कर्म न करता हो और उन कर्मों को अपनी आजीविका का साधन न बनाए, और कोई व्यक्ति किसी वर्ण के योग्य गुण और कर्म रखते हुए भी उस वर्ण में गणना करने योग्य नहीं समझा जा सकता, जब तक कि उस व्यक्ति का स्वभाव उस वर्ण के अनुसार न हो, अतः किसी व्यक्ति को किसी वर्ण में

---

१. **पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान् शठान्। हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥**
वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध कर्म करनेवाले, बिडाल-वृत्तिवाले, हठी, कुतर्की और बगुले की वृत्तिवाले धूर्तों का वाणीमात्र से भी सत्कार न करे।

२. **शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥**
शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है, वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना।

प्रविष्ट होने के लिए उस वर्ण के गुण-कर्म-स्वभाव को अपनाना अत्यन्त आवश्यक है। ब्राह्मण बनने के लिए व्यक्ति का ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि विश्वमित्र ब्राह्मणकुल में उत्पन्न न होकर भी ब्राह्मणों के योग्य गुण-कर्म-स्वभाव होने के कारण ब्राह्मण बन गया और रावण ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होने पर भी मद्यपान, मांसभक्षण और दुराचार आदि ब्राह्मणों के गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध आचरण करने से राक्षस बन गया, इसलिए किसी वर्ण में प्रविष्ट होने के लिए वर्ण के कुल में उत्पन्न होना आवश्यक नहीं, अपितु उस वर्ण के अनुसार गुण-कर्म-स्वभाव का होना आवश्यक है।

पोपजी—क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी और मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रजी महाराज भी वेदज्ञ और स्वयं अवतार होने पर भी ब्राह्मण नहीं कहलाये। राजर्षि योगेश्वर भर्तृहरिजी और विदेह जनक वेदों को जाननेवाले और ईश्वर को पहचाननेवाले होने पर भी ब्राह्मण नहीं बन सके, क्षत्रिय ही रहे।

तोपजी—ब्राह्मण नहीं बन सके यह बात नहीं, अपितु उन्होंने ब्राह्मण बनने की इच्छा नहीं की। यदि वे ब्राह्मण बनने की इच्छा करते तो वे ब्राह्मणों के गुणों को रखते हुए ब्राह्मणों के कर्म वेद का पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना आरम्भ कर देते तो वे अवश्य ही ब्राह्मण बन जाते। जैसे गाधि के पुत्र विश्वामित्र ने क्षत्रिय होते हुए वसिष्ठ के तपोबल को देखकर ब्राह्मण बनने की इच्छा की और अपना राज्य अपने पुत्र को सौंपकर वन में जाकर वेद पढ़ाने, यज्ञ कराने और दान-दक्षिणा लेने का काम करने लगे, अतः वे ब्राह्मण बन गये। श्रीकृष्ण, राम, भर्तृहरि और जनक ने वेदों का ज्ञान रखते हुए भी चूँकि ब्राह्मण के कर्मों को अपनी आजीविका का साधन नहीं बनाया, अपितु क्षत्रिय के कर्मों को ही आजीविका का साधन बनाया, अतः वे ब्राह्मण नहीं कहाये।

पोपजी—प्रभु परशुरामजी, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि युद्धविद्या में निपुण होने पर भी क्षत्रिय न हो सके।

तोपजी—ब्राह्मणों का तो क्षत्रिय और वैश्य के गुणों में निपुण होना आवश्यक है, क्योंकि उन्हें शिक्षा देनी पड़ती है। चूँकि परशुराम, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ने क्षत्रिय के कर्मों को अपनी आजीविका का साधन नहीं बनाया, अपितु उन्होंने ब्राह्मण के कर्मों—वेद पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान-दक्षिणा लेना आदि को ही अपनी आजीविका का साधन बनाये रक्खा, अतः वे क्षत्रिय नहीं बने, ब्राह्मण ही रहे।

पोपजी—केवल बल का होना क्षत्रियपन का कारण नहीं हो सकता, जब तक वह क्षत्रियकुल में उत्पन्न न हुआ हो। बल क्षत्रिय और मुसलमानों में बराबर हो सकता है, परन्तु ये दोनों एक नहीं माने जाते।

तोपजी—किसी व्यक्ति का क्षत्रिय बनने के लिए क्षत्रियकुल में उत्पन्न होना आवश्यक नहीं, अपितु क्षत्रियों के गुण-कर्म-स्वभाव से युक्त होना आवश्यक है। देखो, महाभारत आदिपर्व, अध्याय १३९, श्लोक ११ से १६ में जब भीमसेन ने कर्ण के क्षत्रिय होने पर शंका की, तब दुर्योधन ने कहा—

'ओ भीमसेन! तुझे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। क्षत्रियों का तो बल श्रेष्ठ गिना जाता है। क्षत्रबन्धु के साथ युद्ध करना चाहिए। शूरवीर पुरुषों की और नदियों की उत्पत्ति का जानना कठिन है। क्षत्रियों में से जो-जो ब्राह्मण हो गये हैं, उन्हें तुम जानते ही हो, विश्वामित्र आदि क्षत्रिय होने पर भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो गये और शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ

द्रोणाचार्य कलश से उत्पन्न हुए हैं। गौतमवंशी कृपाचार्य सरकण्डों के झुण्ड में से हुए हैं और तुम्हारा जन्म भी जिस प्रकार हुआ है, उसे भी मैं जानता हूँ, आदि।"

इसका तात्पर्य यह है कि क्षत्रिय और ब्राह्मण बनने के लिए क्षत्रिय या ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होना आवश्यक नहीं, अपितु क्षत्रिय और ब्राह्मण के गुण-कर्म-स्वभाव का होना आवश्यक है। क्षत्रिय और मुसलमान बल की समानता होने पर भी इसलिए बराबर नहीं माने जा सकते, क्योंकि मुसलमान यद्यपि गुण अर्थात् बल क्षत्रिय का रखता है, परन्तु उसके कर्म और स्वभाव क्षत्रिय वर्ण के अनुसार नहीं हैं, और सदाचार जोकि चारों वर्णों में होना आवश्यक है, वह भी उसमें नहीं है, अतः मुसलमान क्षत्रिय नहीं, अपितु मांसभक्षण के कारण राक्षसी पदवी का अधिकारी है, परन्तु यदि वह भी अपने आचार को वेदानुकूल बनाकर अपने गुण-कर्म-स्वभाव को क्षत्रिय वर्ण के योग्य बना ले तो वह क्षत्रिय ही नहीं, अपितु ब्राह्मण भी बन सकता है। देखिए भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय २०, श्लोक ७२-७३ में क्या लिखा है-

मिस्रदेशोद्भवा म्लेच्छाः काश्यपेनैव शासिताः। संस्कृताः शूद्रवर्णेन ब्रह्मवर्णमुपागताः ॥७२॥
शिखासूत्रं समाधाय पठित्वा वेदमुत्तमम्। यज्ञैश्च पूजयामासुर्देवदेवं शचीपतिम् ॥७३॥

अर्थ-मिस्र देश में उत्पन्न हुए मुसलमानों पर कश्यप के पुत्र कण्व ने शासन किया। उनका संस्कार करते-करते वे शूद्रों से ब्राह्मणवर्ण को प्राप्त हो गये।

चोटी रख और यज्ञोपवीत पहनकर तथा पवित्र वेदों को पढ़कर उन्होंने यज्ञों के द्वारा शची के पति इन्द्र को प्रसन्न किया।

लोग ब्राह्मणों को मिश्रजी कहते हैं। ये सब कहीं मिस्र से लाकर ही तो शुद्ध करके ब्राह्मण नहीं बनाये गये? अन्यथा इनका नाम मिश्रजी क्यों है और आज के सुशिक्षित ब्राह्मण मिश्रजी कहने से चिढ़ते क्यों हैं?

कहिए पोपजी! यह तो मुसलमानों ने क्षत्रिय बनते-बनते ब्राह्मणत्व पर भी हाथ साफ़ कर दिया। अब और क्या शंका शेष है?

पोपजी-केवल धन का होना और व्यापार करना वैश्यपन का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि धन वैश्य की भाँति बाज़ारी औरत और चमार आदि के पास बराबर का होता है, परन्तु वे वैश्य नहीं माने जा सकते।

तोपजी-वैश्यकुल में उत्पन्न होना वैश्यपन का कारण नहीं, अपितु वैश्यवर्ण के अनुकूल गुण-कर्म-स्वभाव होना ही वैश्यपन में कारण है। यदि बाज़ारी औरत और चमार भी वेदानुकूल आचरण से युक्त हैं और पेट की भाँति अपने देश के कच्चे माल, रुई, लोहा, तांबा, चमड़ा, सोना, चाँदी आदि को कला-कौशल के द्वारा पक्का माल बनाकर जाँघों की भाँति देश-देशान्तरों में व्यापार करके उसके लाभ से देश को समृद्ध बनाते हैं तो वे अवश्य ही वैश्य माने जाएँगे। हाँ, यदि बाज़ारी स्त्री से आपका तात्पर्य शरीर का व्यापार करनेवाली वेश्या से है तो वैदिक धर्म के अनुसार वह सदाचार का पालन न करने के कारण वैश्य वर्ण में नहीं गिनी जा सकती, परन्तु सनातनधर्म में तो उसके लिए अपना उपर्युक्त पेशा करते हुए ही वैश्यपन की तो बात ही क्या विष्णुलोक की प्राप्ति भी हो सकती है, परन्तु होगी तब यदि वह भविष्यपुराण उत्तरपर्व, अध्याय १११ के अनुसार रविवार को बिना शुल्क लिये ब्राह्मणों के लिए खुली छूट कर दिया करे। रह गयी चमार की बात, इसे पता नहीं क्यों आप घृणा की दृष्टि से देखते हैं, जबकि आपको जूतियों की

हर समय आवश्यकता पड़ती है और वह बेचारा आपकी आवश्यकता को पूरा करता है। प्रभु आपको सुमति दें।

पोपजी—इसी प्रकार सेवा करने से शूद्र नहीं हो सकता। ऐसा मानने पर अपने कुल और देश की सेवा करनेवाले सभी नेता और महाशय शूद्र हो जाएँगे।

तोपजी—नि:सन्देह जो पाँव के समान बोझ उठाने आदि सेवा का काम करेगा, वह शूद्र ही कहाएगा। यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि शूद्र वही होगा जो शूद्र के कर्मों को अपनी आजीविका का साधन बनाएगा। इसलिए अपने कुल में अपने लिए पानी भरने, रोटी पकाने, कपड़े धोने, झाड़ू देने, यहाँ तक कि बच्चों और रोगियों की टट्टी उठानेवाला भी शूद्र नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह कार्य उसकी आजीविका का साधन नहीं है। हाँ, यदि कोई व्यक्ति उपर्युक्त कामों को अपनी आजीविका का साधन बना ले तो वह अवश्य शूद्रों में सम्मिलित किया जाएगा। अब रह गयी देशसेवा करनेवाले नेताओं और महाशयों की बात, तो सबसे पूर्व यह देखना होगा कि वे किस प्रकार की देशसेवा करते हैं। यदि वे मुख की भाँति जनता को पढ़ाने और उपदेश का कार्य करते हैं, तो वे ब्राह्मण होंगे। यदि वे भुजा की भाँति अपने-आपको संकट में डालकर जनता की रक्षा का कार्य करते हैं तो वे क्षत्रिय हैं, और यदि वे पेट की भाँति कच्चे माल को पक्का बनाने में और जाँघों की भाँति व्यापार में जनता को सहायता देते हैं तो वे वैश्य हैं। यदि वे नेता और महाशय पाँवों की भाँति बोझ उठाने आदि सेवा के कार्य में जनता की सहायता करते हैं तो यह देखना होगा कि वे इस प्रकार की सेवा का काम सेवासमिति में प्रविष्ट होकर परोपकार के लिए नि:शुल्क करते हैं अथवा इस कार्य को उन्होंने आजीविका का साधन बनाया हुआ है। यदि वे यह काम सेवा-भावना से बिना पारिश्रमिक के करते हैं और उनकी आजीविका का साधन अन्य कार्य हैं तो उनकी वर्ण-व्यवस्था उन कामों के अनुसार ही निश्चित की जाएगी जिन कार्यों के द्वारा वे अपनी आजीविका कमाते हैं, और यदि यही काम (सेवा) उनकी आजीविका का साधन है तो वे भी शूद्रों में ही गिने जाएँगे, इसलिए गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार ही वर्णव्यवस्था ठीक है, जन्म से नहीं।

पोपजी—लाला मनसारामजी ने स्वामीजी का आश्रय लेते हुए यजुर्वेद अध्याय ३१, मन्त्र ११ का प्रमाण दिया है।

तोपजी—नि:सन्देह स्वामीजी द्वारा उद्धृत यह मन्त्र उत्तमता के साथ चारों वर्णों के कर्म बतलाकर चारों वर्णों को गुण-कर्म-स्वभावानुसार सिद्ध करता है और चारों वर्णों के परस्पर सम्बन्ध बताकर अछूतोद्धार, शुद्धि और संगठन का वर्णन करता है। इससे ईश्वरीय ज्ञान का गौरव भी द्विगुणित होकर चमक उठता है।

पोपजी—लाला मनसारामजी ने यजुर्वेद के मन्त्र का मनमाना अर्थ करके हिन्दू जनता को धोखा देने का प्रयत्न किया है। इस मन्त्र में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है, न कि गुण-कर्म का।

तोपजी—हमारे अर्थ को मनमाना लिखकर तनिक सिद्ध तो करते कि यह कैसे मनमाना है, तब आपकी योग्यता का पता लगता। हमने जो अर्थ किया है वह सर्वथा ठीक है और सनातनधर्म का कोई उपदेशक उसे सात जन्म तक भी गलत सिद्ध नहीं कर सकता। सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए ही भगवान् ने चारों वर्णों का कर्मानुसार होना वर्णन किया है। यद्यपि हमारे किये हुए अर्थ पर पोपजी एक शब्द भी नहीं लिख सके, तो भी

चूँकि यह मन्त्र वैदिक वर्ण-व्यवस्था की नींव है, अतः हम तनिक विस्तार से इसका अर्थ पाठकों के लाभार्थ लिख देते हैं-

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्यासीत्किं बाहू किमूरू पादाऽउच्येते॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याथं शूद्रो अजायत॥

--यजुर्वेद ३१।१०-११

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

—यजुः० ४०।८

हमारे सनातनधर्मी भाई ग्याहरवें मन्त्र का अर्थ करते हैं कि ब्राह्मण परमात्मा के मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय परमात्मा की भुजा से उत्पन्न हुए, वैश्य परमात्मा की जाँघों से पैदा हुए और शूद्र परमात्मा के पाँव से पैदा हुए। चूँकि मुख पाँव नहीं बन सकता और पाँव मुख नहीं बन सकता, इसलिए न ब्राह्मण शूद्र बन सकता है और न शूद्र ब्राह्मण बन सकता है।

आर्यसमाज कहता है कि यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र ८ कहता है कि परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, वह शुद्धस्वरूप है, वह शरीररहित है, उसके कोई फोड़ा नहीं हो सकता, वह नस-नाड़ी के बन्धन से मुक्त है, सदा शुद्ध और पापों से रहित है। वह सम्पूर्ण विद्याओं का प्रकाश करनेवाला, मन की बात को जाननेवाला और उत्पन्न न होनेवाला है। उस परमात्मा ने अपनी अनादि प्रजाओं के लिए अनेक प्रकार के पदार्थों को बनाया है।

इस मन्त्र के अर्थों पर आर्यसमाज और सनातनधर्म दोनों सहमत हैं। अब आर्यसमाज कहता है कि इस मन्त्र में जब परमात्मा को शरीररहित लिखा हुआ है, तो फिर जब परमात्मा के शरीर ही नहीं है तो उसके मुख, भुजा, जंघा और पाँव से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहाँ से पैदा हो गये? यदि दोनों मन्त्रों के अर्थों को इसी रूप में ठीक मानोगे तो न्यायदर्शन कहता है कि जिस पुस्तक में परस्पर विरोध हो, वह प्रमाण के योग्य नहीं होती। जब एक स्थान पर तो वेद कहता है कि परमात्मा शरीररहित है और दूसरे स्थान पर कहता है कि परमात्मा के मुख आदि से ब्राह्मण आदि उत्पन्न हुए, इस प्रकार वेद में बिरोध होने से वेद प्रमाण के योग्य ग्रन्थ नहीं रहेंगे, अतः हमारे सनातनधर्मी भाइयों का अर्थ ठीक नहीं है। इस मन्त्र (११वें मन्त्र) का अर्थ जानने के लिए इससे पहले मन्त्र को देखिए। इस मन्त्र का अर्थ यह है--

"जिस परमात्मा को कई प्रकार की कल्पना करके पुरुष वर्णन करते हैं, उसका मुख क्या है, भुजा कौन है? जंघा क्या है और पाँव कौन-से कहे जाते हैं?"

इस मन्त्र में ये शब्द विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं कि-"जिस परमात्मा को कई प्रकार की कल्पना करके पुरुष वर्णन करते हैं।" यह कल्पना क्या वस्तु है? वास्तविक बात यह है, कि प्रत्येक भाषा में किसी बात को सुन्दर रूप में वर्णन करने के लिए कई प्रकार होते हैं, जिन्हें अलङ्कार कहते हैं। जैसे एक स्थान पर दो शैर आते हैं कि एक बार सोने ने सुनार से कहा—

सोना कहे सुनार से उत्तम मेरी जात। यह काले मुँह की लालड़ी क्यों तुले हमारे साथ॥

तब रत्ती बोली—

लालों की मैं लालड़ी लाल हमारा रंग। काला मुँह तब से भया जब तुली नीच के संग॥

अब तनिक विचार कीजिए कि सोना और रत्ती जड़ वस्तुएँ हैं। वे कभी परस्पर बातें नहीं करतीं और न ही वे सुनार को सम्बोधित कर सकती हैं। कवि यह समझाना चाहता है कि भाई! जो किसी को गाली देगा वह निश्चय ही दूसरे से गाली खाएगा। यह बात समझाने के लिए ही कवि ने सोने और रत्ती का अलङ्कार बनाकर समझाया कि देखो! सोने ने रत्ती को तुच्छ समझकर काले मुँहवाली होने की गाली दी तो रत्ती ने भी नीच कहकर उसका अनादर किया। यदि तुम भी किसी से आदर-सम्मान कराना चाहते हो तो किसी को तुच्छ समझकर उसका अपमान मत करो। इसी प्रकार संस्कृत में भी अलङ्कार होते हैं–जैसे–

उष्णीषो भाषते जिह्वे सत्यं वद प्रियं चर। तव कुत्सितवाक्येन पतामि धरणीतले॥

अर्थ–पगड़ी ने एक बार जिह्वा से कहा कि "हे जिह्वे! तू मीठा सत्य बोला कर। तेरे कड़वे बोलने पर मैं भूमि पर गिराई जाती हूँ।"

अब यह स्पष्ट है कि यद्यपि पगड़ी बोलती नहीं, परन्तु कवि इस अलङ्कार से समझाता है कि मीठा सच बोला करो, अन्यथा संसार में तुम्हारा अपमान हो जाएगा। ये अलङ्कार प्रत्येक भाषा में अनेक प्रकार के होते हैं। इन अलङ्कारों में से एक उपमालङ्कार है। जैसे एक व्यक्ति दूसरे को कहता है कि "यह देवदत्त सिंह के समान वीर है" अथवा "लीलावती का मुख चन्द्रमा की भाँति सुन्दर है।" संस्कृत में उपमालङ्कार बहुत हैं। जैसे विराटनगर के निकट युधिष्ठिर ने द्रौपदी की ओर संकेत करके कहा–

इयं नः प्रिया भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।
मातेव परिपाल्या च पूज्या ज्येष्ठेव च स्वसा॥ –महा० विराट० ३।१४

अर्थ–यह हमारी प्रिय स्त्री जोकि प्राणों से भी प्यारी है, जो माता के समान पालन करने योग्य और बड़ी बहिन के समान पूजनीय है।

उपमालङ्कार में चार बातें होती हैं–एक **उपमेय**–जिसकी दूसरी वस्तुओं से उपमा दी जाए जैसे उपर्युक्त उदाहरणों में देवदत्त, लीलावती और द्रौपदी हैं, दूसरी **उपमान**–जिसके साथ किसी की उपमा की जाए, जैसे उपर्युक्त उदाहरणों में, सिंह, चन्द्रमा तथा माता और बहिन हैं। तीसरी **साधारणधर्म**–जो समानता हो, जैसे उपर्युक्त उदाहरणों में वीरता, सौन्दर्य, पालन और पूजा करना, चौथी **उपमावाची शब्द** अर्थात् उपमा का वर्णन करनेवाले शब्द, जैसे उपर्युक्त उदाहरणों में भाँति, समान, इव हैं।

यह उपमालङ्कार कई प्रकार का होता है। उनमें से एक वाचकधर्मलुप्तोपमालङ्कार होता है, अर्थात् उसमें साधारण धर्म और उपमावाची शब्द दोनों ही लुप्त हो जाते हैं, केवल उपमेय और उपमान रह जाते हैं, जैसे **देवदत्त सिंह है, लीलावती चन्द्रमुखी** है। अब इन दोनों उदाहरणों में देवदत्त और सिंह, लीलावती और चन्द्रमुखी ही शेष रह गये, वीरता, सौन्दर्य और समान या भाँति–ये सब लुप्त हो गये; परन्तु इससे वास्तविक तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि उपमालङ्कार में उतना ही अंश लिया जाता है जितने से तात्पर्य हो। जैसे यदि कोई कहे कि देवदत्त सिंह है तो ऐसा कहनेवाले का तात्पर्य यह कदापि नहीं होता कि वह सिंह के समान पशु या मांसभक्षी है, अपितु इसका यह तात्पर्य होता है कि वह सिंह के समान वीर है। एक लड़का एक स्त्री को कहता है–"माताजी! नमस्ते" तो वह स्त्री अत्यन्त प्रसन्न होती है, क्योंकि वह सोचती है कि यह लड़का माता की भाँति मेरा

सम्मान कर रहा है, परन्तु यदि वह उसका दूसरा तात्पर्य समझ ले कि यह मुझे अपने पिता की स्त्री कह रहा है तो प्रसन्न होने की बजाय उसे क्रुद्ध हो जाना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि दूसरा तात्पर्य न कहनेवाले का होता है और न ही समझनेवाला दूसरा तात्पर्य समझता है। निष्कर्ष यह है कि उपमालङ्कार में उतना ही अंश लिया जाता है जितना कि उचित होता है। दोनों वस्तुओं को सर्वथा एक ही रूप में नहीं माना जा सकता।

उपमालङ्कार में एक ही वस्तु को कई प्रकार की उपमा देकर विभिन्न प्रकार से भी वर्णित किया जाता है। उदाहरण के रूप में आप मनुष्य के शरीर को देख लें कि कवियों ने कितनी प्रकार की उपमा देकर इसका वर्णन किया है—

१. मनुष्य का शरीर मानो जेब की घड़ी है।
चलती रहे तो चलती रहे, नहीं तो यह खड़ी है।। मनुष्य का शरीर०

२. यह काया की रेल रेल से अजब निराली है।
पुण्य-पाप दो पहिए लगाकर, सत्य का लट्ठा खूब चढ़ाकर
ज्ञान कमानी लई खेंच, रेल अब चलनेवाली है। यह काया की रेल०

३. चादर राम नाम रस भीनी, साधो चादर राम नाम रस भीनी।
अष्ट कमल का चरखा कीना, पाँच तत्त्व की पूनी
नौ-दस मास बुनदिआँ हो गये तब यह चादर दीनी।। चादर राम नाम०

४. काया का पिंजरा डोले, बीच साँस दा पञ्छी बोले।

मैंने संक्षेप में केवल चार उदाहरण दिये हैं, अन्यथा कवियों ने न जाने शरीर को कितनी उपमाएँ दी हैं। अब देखिए, शरीर वास्तव में न घड़ी है, न रेल, न चादर है और न पिंजरा है, परन्तु कवियों ने इस शरीर को घड़ी, रेल, चादर और पिंजरा कल्पित करके उनके साथ शरीर की उपमा दी है और उपर्युक्त वस्तुओं के प्रत्येक अङ्ग के साथ ही शरीर के अङ्गों की उपमा दी गयी है, जिसे मैंने विस्तार-भय से पूरा-पूरा नहीं लिखा है, बुद्धिमानों को स्वयं ही समझ लेना चाहिए। इसी प्रकार संस्कृत में भी यह उपमा आती है। देखिए, गीता को दूध कल्पित करके कवि उसके साथ क्या उपमा देता है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता गीता दुग्धामृतं महत्।।

अर्थ—सब उपनिषदें गौएँ हैं, दूहनेवाले कृष्ण हैं, पीनेवाला बुद्धिमान् अर्जुन बछड़ा है और गीता महा-अमृत दूध है।

अब यहाँ गीता को दूध कल्पित करके उसके अङ्गों को गौ, दूहनेवाले और बछड़े के साथ भी गीता के अङ्गों उपनिषद्, कृष्ण और अर्जुन की उपमा दी है। अब यदि कोई इस अलङ्कार को सच मानकर और गीता को कटोरे में डालकर किसी को पीने के लिए दे कि लो दूध पी लो, तो यह उसकी मूर्खता होगी।

अब देखिए, आत्मा को शास्त्रों ने कितनी प्रकार से कल्पित करके उपमालङ्कार के साथ उसका वर्णन किया है—

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं करु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा।।

अर्थ—आत्मा नदी है जोकि संयमरूपी पुण्यतीर्थ-(घाट)-वाली है, जिसमें सत्यरूपी जल है, शील इसके किनारे हैं और इसमें दया की तरगें हैं। हे युधिष्ठिर! तू इसमें स्नान

कर, पानी से आत्मा शुद्ध नहीं होता।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्षमुच्यते। अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

अर्थ—ओम् नामरूपी धनुष है, आत्मा बाण है और परमात्मा ही उसका निशाना है। सावधान होकर इस लक्ष्य का वेधन करना चाहिए। बाण की भाँति ही उसमें तन्मय हो जाना चाहिए।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विष्यॉंस्तेषु गोचरान्। आत्मबुद्धिमनोयुक्तं कर्त्तेति उच्यते बुधैः॥

अर्थ—आत्मा को रथी और शरीर को रथ जान, बुद्धि को सारथि और मन को लगाम जान, इन्द्रियों को घोड़े और विषयों को उनका भोग कहते हैं। बुद्धि और मन से युक्त आत्मा को बुद्धिमान् लोग कर्त्ता कहते हैं।

यहाँ पर आत्मा को तीन प्रकार से नदी, बाण और रथी कल्पित करके उपमालङ्कार से वर्णित किया गया है और परस्पर एक-दूसरे के अङ्गों की भी उपमा दी गयी है, यद्यपि आत्मा न नदी है, न बाण और न रथी। इसी प्रकार वेदों में परमात्मा को भी कई प्रकार से कल्पित करके उपमालङ्कार से वर्णित किया गया है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

—ऋ० १।१६४।२०

दो पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हुए हैं, दोनों परस्पर मिले हुए हैं और मित्र हैं। इन दोनों में से एक तो वृक्ष के फलों को खाता है, दूसरा खाता नहीं केवल देखता है।

इस मन्त्र में प्रकृति को वृक्ष और जीव तथा परमेश्वर को दो पक्षियों की उपमा देकर ईश्वर, जीव, और प्रकृति के अनादि होने का वर्णन किया है।

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम्।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रो कुक्षी॥
सत्यं चर्तं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः।
एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः॥

—अथर्व० ९।५।२०-२१

अर्थ—यह बकरा आगे आया। उसकी छाती यह भूमि, द्युलोक उसकी पीठ, अन्तरिक्ष हुआ उसके शरीर का मध्य भाग, दिशाएँ हुई उसकी दो पसलियाँ और दो समुद्र बगलें, ज्ञान और सत्य दोनों आँखें, सम्पूर्ण सत्य और श्रद्धा प्राण और ब्रह्माण्ड सिर है। यह वह अपरिमित यज्ञ है, जिसे पञ्चौदन अज कहते हैं।

इस मन्त्र में परमात्मा को बकरा कल्पित करके उपमालङ्कार द्वारा वर्णित किया गया है। इसी प्रकार यजुर्वेद अध्याय ३१, मन्त्र १०-११ में भी परमात्मा को पुरुष कल्पित करके उपमालङ्कार से वर्णित किया गया है। देखिए, मन्त्र दस में प्रश्न किये गये हैं कि—"जिस परमात्मा को कई प्रकार से कल्पित करके पुरुष वर्णन करते हैं, उस पुरुष का मुख क्या है, भुजा कौन हैं, जंघा क्या हैं और पाँव कौन कहाते हैं? अगले मन्त्र में इन्हीं प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं कि—"ब्राह्मण इस पुरुष का मुख है, क्षत्रिय भुजाएँ हैं, वैश्य उसकी जंघाएँ हैं और पाँवों के लिए शूद्र हुए।"

इस मन्त्र में परमात्मा को पुरुष कल्पित करके उसके अङ्गों की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से उपमा दी गयी है; यह बात स्पष्ट है कि जैसे गीता दूध नहीं, परन्तु इसे दूध की उपमा देकर वर्णित किया गया है; जीवात्मा नदी, बाण और रथी नहीं है, परन्तु उसे नदी, बाण और रथी की उपमा से वर्णित किया गया है; इसी प्रकार परमात्मा पक्षी, बकरा और पुरुष नहीं है, परन्तु परमात्मा को पक्षी, बकरा और पुरुष मानकर उपमालङ्कार से वर्णित किया गया है।

अब सोचना यह है कि किसी वस्तु को यदि अलङ्कार बनाकर वर्णित किया जाता है तो उससे कोई शिक्षा ग्रहण करना अभीष्ट होता है अथवा व्यर्थ ही ऐसा किया जाता है? इसपर गम्भीरता से विचारने पर ज्ञात होता है कि अलङ्कार बनाकर वर्णन करने का उद्देश्य मनुष्यों के हृदयों पर किसी शिक्षा को अङ्कित करना ही होता है, व्यर्थ नहीं। जैसे पगड़ी और जिह्वा के संवाद का अभिप्राय स्पष्ट है कि मीठा सच बोलना चाहिए। गीता को दूध कल्पित करने का उद्देश्य यह है कि गीता उपनिषदों का सार है, आत्मा को नदीरूप में वर्णन करने का उद्देश्य यह है कि अपनी आत्मा में ही परमात्मा को ढूँढो। आत्मा को बाण के रूप में वर्णन करने का तात्पर्य यह है कि लक्ष्य पर बाण की भाँति आत्मा को परमात्मा में लगाओ। आत्मा को रथीरूप में वर्णन करने का उद्देश्य यह है कि इन्द्रियरूपी घोड़ों को मनरूपी लगाम से बुद्धिरूपी सारथि यदि वश में नहीं करेगा तो रथ गढ़े में गिर जाएगा और रथी आत्मा अभीष्ट लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकेगा। परमात्मा और जीवात्मा को पक्षी और प्रकृति को वृक्षरूप में वर्णन करने का उद्देश्य यह है कि ये तीनों अनादि हैं, परमात्मा साक्षी है और जीवात्मा कर्मों के फलों का भोक्ता है। परमात्मा को बकरे के रूप में वर्णन करने का उद्देश्य यह है कि परमात्मा की उपासना ही अपरिमित अजामेध यज्ञ है।

इसी प्रकार परमात्मा को पुरुष कल्पित करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उसके मुख, भुजा, जंघा और पाँवरूप में वर्णन का उद्देश्य भी चारों वर्णों की योग्यता, उनके गुण–कर्म और स्वभाव की परीक्षा करने का मापक लोगों के हृदयों में अङ्कित करना है। इस मन्त्र में परमात्मा ने चारों वर्णों के निर्धारण का मापक निश्चित करके बता दिया है कि हे मनुष्यो! तुम ब्राह्मण उसे मानो जो उपर्युक्त पुरुष का मुख कहलाने योग्य हो, अर्थात् जिसमें मुख के समान योग्यता हो। जैसे मुख में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, शेष सारे शरीर में एक ही ज्ञानेन्द्रिय है, अर्थात् मुख में शेष शरीर की अपेक्षा पाँच गुणा ज्ञान है। बस, ब्राह्मण उसी का नाम है जो दूसरों की अपेक्षा पाँच गुणा ज्ञान रखता हो। जिस प्रकार मुख आँखों के द्वारा मनुष्य को भीषण मार्ग से रोककरकर ठीक मार्ग पर चलाता है, इसी प्रकार ब्राह्मण उसी का नाम है जो जनता को पतन के गढ़े से निकालकर सन्मार्ग पर चलाए। जैसे मुख अपने पढ़े हुए ज्ञान का उच्चारण करके उसे दूसरों तक पहुँचाता है, वैसे ही ब्राह्मण भी उसी का नाम है जो अपनी पढ़ी हुई विद्या को अन्यों को पढ़ाए और जनता में उपदेश का कार्य करे। इसी प्रकार क्षत्रिय उसे मानना चाहिए जो उपर्युक्त पुरुष की भुजा कहलाने योग्य हो, अर्थात् जिसमें भुजा के अनुसार योग्यता हो। जैसे यदि कोई हमारे शरीर के किसी भी अङ्ग पर लाठी या तलवार से वार करे तो भुजाएँ तुरन्त हमारे शरीर की रक्षा के लिए आगे बढ़ती हैं। बस, क्षत्रिय भी उसी को कहते हैं जो भुजा के समान अपने–आपको संकट में डालकर भी जनता की रक्षा करता है। वैश्य उसे मानना चाहिए जो उपर्युक्त पुरुष का उदर और जंघा कहलाने योग्य हो, अर्थात् जिसमें उदर और जंघा

के समान काम करने की योग्यता हो। जैसे उदर (पेट) भोजन के द्वारा प्राप्त हुई समस्त कच्ची वस्तुओं को पकाता है और इनका रस बनाकर सम्पूर्ण शरीर को पहुँचाता है तथा जैसे जाँघों के द्वारा मनुष्य सर्वत्र घूमता-फिरता है, इसी प्रकार जो मनुष्य अपने देश के कच्चे माल रुई, लकड़ी, चमड़ा, लोहा, तांबा, चाँदी, सोना, घी, अन्न आदि को कला-कौशल और उद्योग-धन्धों के द्वारा पक्का बनाकर, अर्थात् उनसे अनेक प्रकार के वस्त्र और विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाकर देश-देशान्तरों में व्यापार करता है और उसके लाभ से देश का पालन-पोषण करता है, वह वैश्य है। शूद्र उसे मानना चाहिए जो उपर्युक्त पुरुष के पाँव कहलाने की योग्यता रखता हो, अर्थात् पाँवों के अनुरूप ही कार्य कर सकता हो। जैसे पाँव सारे शरीर का बोझ उठाते हैं, उसी प्रकार जो मनुष्य पढ़ने-पढ़ाने, रक्षा करने और व्यापार करने की योग्यता न रखता हो, अपितु बोझ ढोने, पानी भरने, वस्त्र धोने, बर्तन माँजने, झाड़ू देने, टट्टी साफ करने आदि जनता की सेवा का बोझ उठाने के ही योग्य हो, उसे शूद्र कहते हैं।

परमात्मा ने सम्पूर्ण मनुष्य-जाति को उत्पन्न किया और परमात्मा को पुरुष मानकर उसके मुख, भुजा, जंघा और पाँवों के समान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को वर्णित करके उनकी योग्यता और गुण-कर्म-स्वभाव से उनकी परीक्षा करने का मापक हमें प्रदान कर दिया। अब यह हमारा कार्य है कि हम मनुष्य-जाति में से उपर्युक्त रीति से परीक्षा करके मनुष्यों की योग्यता के अनुसार उनमें से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का निर्धारण करें तथा प्रत्येक मनुष्य को उसकी योग्यता के अनुसार राष्ट्र की व्यवस्था में लगाएँ, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को योग्यता प्राप्त करके उन्नति का अवसर प्राप्त हो।

इस मन्त्र में परमात्मा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को पुरुष के अङ्गों के समान वर्णन करके हमें संगठन का भी उपदेश दिया है कि हे मनुष्यो! जैसे शरीर के सब अङ्ग एक-दूसरे की सहायता करते हैं, एक-दूसरे के दुःख और सुख में दुःख और सुख मानते हैं, वैसे ही तुम चारों वर्ण भी शरीर के अङ्गों की भाँति परस्पर एक-दूसरे की सहायता करो, एक-दूसरे के सुख-दुःख में सम्मिलित होओ, तभी संसार में जीवित कहलाने के योग्य बनोगे। देखो!, जिस प्रकार सारा शरीर भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाने में संलग्न रहता है और जो वस्तु जिस अङ्ग के योग्य होती है, वह उसे अर्पित कर देता है और उत्पन्न हुई सन्तान को सारा ही शरीर अपनी सन्तान मानकर उसका पालन-पोषण करता है, और यदि वह सन्तान के किसी एक अङ्ग की सेवा करे तो दूसरे अङ्ग बुरा नहीं मानते अपितु उसे अपना ही कार्य समझते हैं, इसी प्रकार हे मनुष्यो! तुम सब अपने राष्ट्र की उन्नति के लिए प्रयत्न करो और जो वस्तु जिसके योग्य हो उसे दे दो तथा सारी समाज की सन्तान को अपनी सन्तान समझते हुए उसे योग्य बनाने का प्रयत्न करो। इसके पश्चात् जो सन्तान जिसके पास रहने के योग्य हो उसके पास रहने की आज्ञा दे दो।

इसके अतिरिक्त चारों वर्णों को पुरुष के अङ्गों की उपमा देकर परमात्मा ने हमें शिक्षा दी है कि गन्दगी से घृणा करो, परन्तु समाज के किसी अङ्ग से घृणा मत करो। जैसे शरीर के किसी अङ्ग में यदि गन्दगी भरी हुई हो, परन्तु स्वच्छ होने के पश्चात् हम इस अङ्ग से कोई घृणा नहीं करते, बस इसी प्रकार तुम भी यदि कोई मनुष्य गन्दा रहे तो उससे तब तक घृणा करो जब तक वह स्वच्छ न हो जाए। स्वच्छ-पवित्र होने के पश्चात् उससे कोई घृणा मत करो! निष्कर्ष यह कि इस मन्त्र पर जितना भी चिन्तन-मनन करते हैं, उतना ही

अधिक-से-अधिक मानव-समाज के लिए शिक्षाएँ हमें प्राप्त होती हैं। इसलिए परमात्मा ने चारों वर्णों को पुरुष के अङ्गों के समान वर्णित करके चारों वर्णों का गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार निर्धारण करने, चारों वर्णों को मिल-जुलकर रहने और परस्पर घृणा न करने आदि का उपदेश इतनी उत्तमता के साथ दिया है कि यदि हम इस मन्त्र में बतलाये हुए उपदेश पर आचरण करने लग जाएँ तो आर्यजाति और आर्यावर्त्त का कल्याण हो जाए, परन्तु देश के शत्रु, जाति के घातक, स्वार्थी लोग अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए योग्यता के अनुसार देश की व्यवस्था में भाग लेने के सिद्धान्त का विरोध करके जन्मानुसार देश की व्यवस्था में भाग लेने के सिद्धान्तों का प्रचार करके इस आर्यजाति और आर्यावर्त्त को नष्ट करने पर तुले हुए हैं। परमात्मा इनको सुमति प्रदान करें कि वे स्वार्थ को छोड़कर वेद की शिक्षा के अनुसार योग्यता को मापक मानकर देश और जाति के कल्याण में सहायता करें।

पोपजी—देखिए, इससे पूर्व-मन्त्र में प्रश्न के रूप में लिखा है कि जिस परमात्मा का हम जप करते हैं उसका मुख, भुजा, घुटने और चरण कौन-से हैं? उसके उत्तर में लालाजी द्वारा प्रस्तुत किया यजुर्वेद का मन्त्र है। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि ब्राह्मण उस परमात्मा का मुख हुआ, क्षत्रिय भुजारूप में उत्पन्न हुए, परमेश्वर के घुटनों से वैश्य पैदा हुए और चरणों से शूद्र पैदा हुए।

तोपजी—क्योंजी! इससे पूर्व-मन्त्रों में 'जिस परमात्मा का हम जप करते हैं' ये कौन-से शब्दों का अर्थ है? क्या इस मन्त्र में जो **'यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्'** पाठ आता है, क्या उसी का आपने यह अर्थ किया है? धन्य हो महाराज! संस्कृत की उपाधियों (डिगरियों) की जो इतनी लम्बी दुम (पूँछ) अपने नाम के साथ लगा रक्खी है, क्या ये इसी योग्यता पर मिली हैं अथवा कल्पित लगा रक्खी हैं? मन्त्र के शब्द स्पष्ट हैं जिनका अर्थ है—"जिस परमात्मा को कई प्रकार से कल्पना करके पुरुष वर्णन करते हैं।" हाँ, यह अर्थ करने से अगले मन्त्र में कल्पना सिद्ध हो जाती तो आपका सारा ताना-बाना बिगड़ जाता, यह ठीक है। फिर आगे चलकर 'ऊरू' शब्द का अर्थ घुटने कर मारा। यह अर्थ कौन-से व्याकरण और कोश के अनुकूल है? तनिक अमरकोश मनुष्य वर्ग ६, श्लोक ७३ के दर्शन करें, उसमें क्या लिखा है कि 'सक्थि और ऊरू' ये दो नाम घुटने के उपरि भाग के हैं।

जब अमरकोश में स्पष्ट लिखा है कि 'ऊरू' नाम घुटने के उपरि भाग अर्थात् जाँघों का है तो आपका उसका अर्थ केवल घुटना ही करना कितनी बड़ी भूल है! आपने प्रस्तुत मन्त्र का जो अर्थ किया है वह भी महा अशुद्ध है। जो उत्तर हैं वे प्रश्नों के अनुसार होने चाहिएँ, न कि 'सवाल गन्दुम, जवाब चीना'। अब नीचे प्रश्नोत्तर के रूप में मन्त्र का वास्तविक अर्थ हम लिखते हैं और आपकी अशुद्धियाँ भी दिखाते हैं—

प्रश्न पूर्व-मन्त्र में	**ठीक उत्तर दूसरे मन्त्र में**	**सनातनधर्म के अशुद्ध उत्तर**
उसका मुख कौन है?	ब्राह्मण उसका मुख है।	ब्राह्मण उस परमात्मा का मुख हुआ।
उसकी भुजा कौन है?	क्षत्रिय भुजा किये गये।	क्षत्रिय भुजारूप में पैदा हुआ।
उसकी जाँघ कौन है?	वैश्य उसकी जाँघ हैं।	परमेश्वर के घुटनों से वैश्य पैदा हुआ।
उसके पैर कौन है?	पाँव के लिए शूद्र हुए।	चरणों से शूद्र पैदा हुए।

अब देखिए, पूर्वमन्त्र में यह प्रश्न किया गया है कि उसके मुख, भुजा, जाँघ और पाँव

कौन है? इसका ठीक उत्तर यही हो सकता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उसके मुख, भुजा, जाँघ और चरण हैं, नकि यह कि परमात्मा के मुख, भुजा, जाँघ और चरण से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पैदा हुए। पूछनेवाला पूछता है कि उसका मुख, भुजा जाँध और चरण कौन हैं और उत्तर मिलता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र परमात्मा के मुख, भुजा, जाँघ और चरणों से उत्पन्न हुए। कैसा मूर्खतापूर्ण उत्तर है? इसे कहते हैं–'सवाल गन्दुम (गेहूँ), जवाब चीना'। पोपजी महाराज! जब यजुर्वेद अध्याय ४०, मन्त्र ८ में लिखा है कि परमात्मा शरीररहित है और नस–नाड़ी के बन्धन से मुक्त है तो फिर उसके शरीर से ब्राह्मण आदि कहाँ से उत्पन्न हो गये? इसलिए आपका अर्थ सर्वथा अशुद्ध और हमारा अर्थ सर्वथा सत्य और ठीक है।

पोपजी–इस मन्त्र में आर्यसमाज के सिद्धान्त 'कर्मों से वर्ण–व्यवस्था' की गन्ध तक भी नहीं हैं।

तोपजी–गन्ध आती उसको है जिसके नाक हो, परन्तु जो नाक कटवाकर नकटा बन चुका हो, उसे गन्ध कहाँ से आये? अन्यथा हम सिद्ध कर चुके हैं कि यह मन्त्र गुण–कर्म–स्वभाव से ही वर्ण–व्यवस्था के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है; जन्मना वर्ण–व्यवस्था के सिद्धान्त का इसमें लवलेश भी नहीं हैं।

पोपजी–देखो! इस अर्थ की पुष्टि में मनुस्मृति अध्याय १, श्लोक ३१ में लिखा है कि सृष्टि की उन्नति के लिए ईश्वर ने मुख, भुजा, घुटने और चरणों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को बनाया।

तोपजी–चूँकि यजुर्वेद (४०।८) में स्पष्ट लिखा है कि परमात्मा शरीररहित है और मनुस्मृति (१।७) में भी कहा गया है कि वह परमात्मा स्थूल इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं, अपितु योग से ग्रहण करने योग्य है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः आपके द्वारा प्रस्तुत श्लोक का यही अर्थ वेदानुकूल और युक्तियुक्त हो सकता है कि 'परमेश्वर ने सृष्टि की उन्नति के लिए, मुख, भुजा, जंघा और चरणों के गुणों से युक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को उत्पन्न किया।' आपका अर्थ अशुद्ध, वेदविरुद्ध और मूर्खतापूर्ण है।

पोपजी–हारीतस्मृति अध्याय १, श्लोक १२–१३ में लिखा है कि यज्ञ की सिद्धि के लिए ईश्वर ने मुख से ब्राह्मणों को, भुजाओं से क्षत्रियों को, घुटनों से वैश्यों को उत्पन्न किया और चरणों से शूद्रों को पैदा करके ब्रह्माजी बोले.........।

तोपजी–क्योंकि परमात्मा शरीररहित है, अतः इस श्लोक के भी यही अर्थ हैं कि "परमात्मा ने मुख के गुणों के अनुसार ब्राह्मणों को, भुजाओं के गुणों के अनुसार क्षत्रियों को, जंघा के गुणों के अनुसार वैश्यों को और चरणों के गुणों के अनुसार शूद्रों को उत्पन्न किया।" जैसे 'गङ्गा में घर है' का तात्पर्य गङ्गा के किनारे घर है और 'सारा गाँव इस नम्बरदार के सिर पर है' का अभिप्राय सारा गाँव इसके आश्रित है। 'देवदत्त यज्ञदत्त की बग़ल में है' का अर्थ है कि देवदत्त यज्ञदत्त का घनिष्ठ मित्र है आदि–आदि। जैसे इन वाक्यों में पहले अर्थ असम्भव होने से दूसरे अर्थ ही ठीक हैं, वैसे ही परमात्मा के शरीररहित होने के कारण उसके मुख, भुजा, जाँघ और चरणों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों का उत्पन्न होना असम्भव होने के कारण यही अर्थ ठीक है कि परमात्मा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को मुख, भुजा, जाँघ और चरणों के गुणों के अनुसार उत्पन्न किया।

पोपजी--वेद में लिखा है कि ब्राह्मण चारों वर्णों में मुख्य हैं, अतः परमात्मा ने ब्राह्मणों को मुख से उत्पन्न किया।

तोपजी--तनिक वेद का सन्दर्भ (पता) तो लिख दिया होता कि यह कौन-से वेद का कौन-सा मन्त्र है? अथवा **'पोपवाक्यं प्रमाणम्'**--पोप के मुख से जो निकल जाए, वही स्वीकार कर लिया जाए? बतलाइए, आपकी इसमें क्या सम्मति है? वेदों में तो इस प्रकार का कोई मन्त्र नहीं है। हाँ, शतपथ आदि ग्रन्थों में ऐसे वचन तो मिलते हैं कि 'चूँकि ये मुख्य हैं, इसलिए मुख के गुणों के अनुसार उत्पन्न हुए'।

पोपजी--लालाजी! यह प्रमाण तो जन्म से ही वर्ण व्यवस्था को सिद्ध करता है।

तोपजी--मिश्रजी! हमने सव्याख्या सिद्ध कर दिया है कि इस प्रमाण से गुण-कर्म-स्वभाव से ही वर्ण-व्यवस्था सिद्ध होती है और जन्म से किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती।

पोपजी--स्वामी दयानन्दजी ने भी इस अर्थ के खण्डन में एक युक्ति लिखी है कि यदि ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुए होते तो ब्राह्मणों की आकृति मुख की भाँति गोल होनी चाहिए। स्वामीजी की ऐसी बुद्धि का क्या कहना है? यह लिखते हुए स्वामीजी ने बुद्धि से तनिक भी काम नहीं लिया कि मनुष्य की उत्पत्ति का स्थान कौन-सा है और कैसा है? क्या किसी महाशय की वैसी आकृति देखने में आती है? जब किसी महाशय की आकृति वैसी नहीं देखी जाती तो ब्राह्मणों के मुख से उत्पन्न होने के कारण उन्हें गोल होना लिखना--स्वामीजी की कमसमझी के सिवाय और कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

तोपजी--यह स्वामीजी की कमसमझी नहीं है, अपितु आपकी आँखों पर पक्षपात, स्वार्थ और बेईमानी का चश्मा लगा हुआ है जिसके कारण आप स्वामीजी की भाषा न लिखकर स्वामीजी के नाम से अपनी मनघड़न्त भाषा लिख रहे हैं। देखिए, स्वामीजी महाराज क्या लिखते हैं--"और जो मुख आदि अङ्गों से ब्राह्मण आदि उत्पन्न होते तो उपादानकारण के सदृश ब्राह्मण की आकृति अवश्य होती। जैसे मुख का आकार गोलमाल है, वैसे ही इनके शरीर का भी गोलमाल मुख-आकृति के समान होना चाहिए। क्षत्रियों के शरीर भुजा के सदृश, वैश्यों के जाँघ के सदृश और शूद्रों के शरीर पग के समान आकारवाले होने चाहिएँ; ऐसा नहीं होता।"

आपने स्वामीजी की युक्ति को सर्वथा हड़प लिया है। स्वामीजी लिखते हैं कि उपादानकारण के सदृश ब्राह्मण आदि की आकृति अवश्य वैसी होनी चाहिए। प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति में तीन कारण होते हैं--प्रथम उपादानकारण उसे कहते हैं जिससे जो वस्तु बनती है, जैसे घड़े के बनने में मिट्टी उपादानकारण है। दूसरा निमित्तकारण उसे कहते हैं जिसके बनाने से कोई वस्तु बनती है, जैसे घड़े के बनने में कुम्हार निमित्तकारण है। तीसरा साधारणकारण उसे कहते हैं जो साधारण सहायक कारण हों, जैसे घड़े के बनने में चाक, दण्डा, धागा आदि साधारणकारण हैं। अब इन तीनों कारणों को मनुष्य-शरीर की उत्पत्ति में घटाएँ।

मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति में उपादानकारण माता-पिता का शरीर है, क्योंकि जिस माता-पिता के रज और वीर्य से मनुष्य का शरीर बनता है वह रज और वीर्य माता और पिता के शरीर के अङ्ग-अङ्ग से निकलकर इकट्ठा होकर आता है, जैसाकि निरुक्त (३।४।२) में लिखा है--'हे पुत्र! तू अङ्ग-अङ्ग से उत्पन्न हुए वीर्य से और हृदय से उत्पन्न होता है।' निमित्तकारण माता-पिता और जीव है तथा साधारणकारण लिंग, योनि, गर्भाशय

आदि हैं। अब तनिक बुद्धि को ठिकाने लगाकर सोचें कि हमपर तो यह आक्षेप इसलिए नहीं होता कि हम तो योनि को उपादानकारण नहीं मानते, अपितु माता-पिता के शरीर को उपादानकारण मानते हैं, अतः महाशय लोगों का शरीर माता और पिता के सदृश होता है। अब आप बतलाएँ कि ब्राह्मण की उत्पत्ति में आप मुख को उपादानकारण मानते हैं या सारे शरीर को उपदानकारण मानकर मुख को योनि की भाँति मात्र साधारणकारण मानते हैं? यदि आप यह मानें कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति में मुख, भुजा, जंघा और चरण तो मात्र योनि की भाँति साधारणकारण हैं, अन्यथा सबका उपादानकारण सारा शरीर है तो फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में केवल बाहर निकलने के मार्गों में ही अन्तर हुआ, इससे ब्राह्मण और शूद्रों में कोई अन्तर नहीं रहता; और यदि आप यह मानें कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति में मुख, भुजा, जंघा और चरण पृथक्-पृथक् उपादानकारण हैं तो फिर स्वामीजी का उपर्युक्त आक्षेप सर्वथा उचित है। आपकी बुद्धि में दोष है जो आपकी समझ में नहीं आता।

हाँ, एक बात और भी बताते जाएँ, यदि मुख से उत्पन्न होने से कोई ब्राह्मण बन जाता है तो वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि ब्रह्माजी ने बताया—

पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवानृक्षपुंगवः।
जृम्भमानस्य सहसा मम वक्त्रादजायत॥ —वा० बा० १७।७

अर्थ—सर्वप्रथम मैंने जाम्बवान् नाम के रीछ को बनाया। मेरे जम्हाई लेते हुए वह सहसा मेरे मुख में से कूदकर दूर जा पड़ा।

अब बतलाइए, यदि मुख से उत्पन्न होने से ब्राह्मण होता है तो समस्त रीछ ब्राह्मण हैं, क्योंकि उनका पूर्वज जाम्बवान् ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ था। भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व (११७।२३।३५) में लिखा है कि सूर्य के शरीर से ब्राह्मण उत्पन्न हुए, जिनमें से—

चरणाभ्यां तथा द्वौ तु पादाभ्यां द्वौ तथा खग॥२६॥
य एते मत्सुता राजन्नर्घ्या ब्राह्मणसत्तमाः॥३१॥

अर्थ—चरणों से दो और पाँवों से दो पैदा हुए। हे राजन्! ये जो मेरे पुत्र हैं ये श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं।

अब बतलाइए, आपका क्या सिद्धान्त रहा? यहाँ पाँव से उत्पन्न हुए ब्रह्मण श्रेष्ठ माने गये हैं, अतः इन व्यर्थ की बातों को छोड़िए और वैदिक धर्म की शरण में आकर ज्ञान और बुद्धि के अनुकूल सिद्धान्त को स्वीकार कीजिए।

पोपजी—स्वामी दयानन्दजी ने ग्यारहवें समुल्लास के पृष्ठ ३९८ पर स्पष्ट लिखा है कि 'जाति-विभाग ईश्वरकृत है, जैसे पशुओं में गौ, घोड़ा, हाथी आदि जातिभेद और वृक्षों में पीपल, बड़, आम आदि जातिभेद और पक्षियों में हंस, कौआ आदि जातिभेद, जल-जन्तुओं में मगरमच्छ, मछली आदि जातिभेद, मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डाल आदि जातिभेद ईश्वरकृत है, **अतः ईश्वरकृत होने से यह नित्य है।**, जब स्वामीजी ब्राह्मण आदि जातिभेद को ईश्वरकृत और नित्य मानते हैं तो कर्मानुसार एक ही जन्म में शूद्र आदि वर्णों का दूसरे वर्णों में परिवर्तित हो जाना कैसे माना जा सकता है?

तोपजी—या बेईमानी तेरा आश्रय! अथवा छल-कपट-झूठ तेरा सहारा! **'चे दलावर अस्त दुज़दे के बकफ़ चिराग़ दारद'**[1]। श्रीमन्! आपने तो पोप नाम को सर्वथा सार्थक

१. कितना वीर है कि चोर होकर भी हाथ में दीपक रखता है! —सम्पादक

कर दिखाया। स्वामीजी के लेख में कुछ लेख अपना मिला दिया और स्वामीजी के लेख का कुछ भाग छोड़ दिया। इस प्रकार आधा तीतर और आधा बटेर बनाकर स्वामीजी के लेख को अपना समर्थन करनेवाला बना लिया। यदि इसी प्रकार सनातनधर्म के सिद्धान्तों की रक्षा होनी है तो चोर की माँ कब तक खैर[१] मनाएगी? सनातनधर्म का दिवाला यदि आज नहीं तो कल अवश्य निकल जाएगा, क्योंकि काठ की हाँडी अग्नि पर कब तक सुरक्षित रहेगी! इसे तो प्रत्येक स्थिति में जल ही जाना है। इसी प्रकार सनातनधर्म की 'राम नाम सत् है' शीघ्र ही बुलनेवाली है, क्योंकि उसके लक्षणों से दिखाई दे रहा है कि इसकी मृत्यु निकट है। किसी व्यक्ति को कुछ समय के लिए धोखे में रक्खा जा सकता है, परन्तु सारी जनता को सदा के लिए धोखे में नहीं रक्खा जा सकता। क्या कोई व्यक्ति इस बात को स्वीकार कर सकता है कि स्वामी दयानन्दजी महाराज ने चौथे समुल्लास में वर्णित अपने ही सिद्धान्त का ग्यारहवें समुल्लास में खण्डन कर दिया हो? यह झूठ, आलस्य और प्रमाद पौराणिकों में तो हो सकता है, जैसाकि आपकी इस पुस्तक में ही परस्पर-विरोध बीसियों स्थानों पर विद्यमान है; ऋषिकृत ग्रन्थों में यह बात असम्भव है। देखिए, स्वामीजी महाराज ने यहाँ पर अपने सिद्धान्त को और अधिक दृढ़ता के साथ वर्णित किया है। हम स्वामीजी का सारा लेख शब्दशः उद्धृत कर देते हैं—

"(प्रश्न) जातिभेद ईश्वरकृत है या मनुष्यकृत?

(उत्तर) ईश्वर और मनुष्यकृत भी जातिभेद है।

(प्रश्न) कौन-से ईश्वरकृत और कौन-से मनुष्यकृत?

(उत्तर) मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, जलजन्तु आदि जातियाँ परमेश्वरकृत हैं, जैसे पशुओं में गौ, अश्व, हस्ति आदि जातियाँ; वृक्षों में पीपल, वट, आम्र आदि; पक्षियों में हंस, काक, बकादि; जल-जन्तुओं में मत्स्य, मकरादि जातिभेद ईश्वरकृत हैं, वैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज जातिभेद तो हैं, परन्तु मनुष्यों में ब्राह्मण आदि को सामान्य जाति में नहीं किन्तु सामान्य-विशेषात्मक जाति में गिनते हैं। जैसे पूर्ववर्णाश्रम-व्यवस्था में लिख आये, वैसे ही गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था माननी अवश्य है। इसमें मनुष्यकृतत्व उनके गुण-कर्म-स्वभाव से पूर्वोक्तानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि वर्णों की परीक्षापूर्वक व्यवस्था करनी राजा और विद्वानों का काम है।"

पोपजी महाराज! अब बतलावें कि स्वामीजी के इस लेख से आपके सिद्धान्त का समर्थन होता है या खण्डन? स्वामीजी ने जो दो प्रकार का जातिभेद लिखना आरम्भ किया था—एक तो ईश्वरकृत, और दूसरे मनुष्यकृत, इनमें से ईश्वरकृत जातिभेद तो आपने लिख दिया, परन्तु स्वामीजी ने जो मनुष्यकृत जातिभेद गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था वर्णित की है, वह पाठ आपने सर्वथा छोड़ दिया और यह वाक्य अपनी ओर से मिला दिया—"इसलिए ईश्वरकृत होने से यह नित्य है।" भला! बताइए तो सही, यह वाक्य स्वामीजी के लेख में कहाँ है? इस प्रकार मिथ्या लिखने पर आपको शर्म आनी चाहिए, परन्तु आपके लिए तो यही कहना उचित है कि, "शर्म क्या कुत्ती है जो मर्दों के सामने आये?" हमने आपकी धोखाधड़ी का भेद जनता के सामने प्रकट कर दिया है। स्वामीजी महाराज का उपर्युक्त लेख बड़ी दृढ़ता के साथ गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार ही वर्ण-व्यवस्था

---

१. कुशल। —सम्पादक

की पुष्टि करता है, अतः एक ही जन्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार परिवर्तित हो जाने का सिद्धान्त सर्वथा सत्य है।

पोपजी—अब रहा प्रश्न यह कि मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक २२ से २४ में नीच कुल की स्त्रियों का योग्य ब्राह्मण आदि से विवाह करके उत्तम गति प्राप्त करने का उत्तर, तो लाला मनसारामजी! आपने स्वयं ही दिया हुआ है कि मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक १३ में ब्राह्मण को चारों वर्णों की स्त्रियों से विवाह करने का अधिकार प्राप्त है, फिर स्वयं ही लिखकर उलट हो जाना कितनी वीरता का काम है?

तोपजी—आपने हमारे प्रश्न को समझने का प्रयत्न ही नहीं किया, अन्यथा इस प्रकार अण्ड-बण्ड लिखकर पीछा छुड़ाने का प्रयत्न न करते। हमारे लेख का तात्पर्य यह है कि मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक १३ में उल्लेख है कि ब्राह्मण चारों वर्णों की स्त्रियों अर्थात् ब्राह्मणी, क्षत्राणी, वैश्या और शूद्रा से विवाह कर सकता है और क्षत्रिय तीन वर्ण की स्त्रियों क्षत्राणी, वैश्या और शूद्रा से विवाह कर सकता है, वैश्य दो वर्णों की स्त्रियों अर्थात् वैश्या और शूद्रा से विवाह कर सकता है और शूद्र केवल अपने वर्ण की स्त्री शूद्रा से विवाह कर सकता है। अब चूँकि प्रश्न यह पैदा होता था कि विवाह करने के पश्चात् इनकी स्त्रियाँ उसी वर्ण में गिनी जाएँगी जिस वर्ण में इनका जन्म हुआ है अथवा उनका वर्ण उनके पति के वर्ण के अनुसार परिवर्तित हो जाएगा? इसी बात का उत्तर मनुस्मृति (९।२२-२४) में दिया गया है कि—

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्यते यथाविधि। तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा॥
अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा। शारंगी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥
एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः। उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः॥

अर्थ—जिस प्रकार के गुणोंवाले पति के साथ स्त्री विधिवत् विवाहित होती है, उसी प्रकार के गुणोंवाली वह हो जाती है, जैसे समुद्र से मिलकर नदियाँ उसी गुणवाली हो जाती हैं॥२२॥

अधम योनि में उत्पन्न हुई अक्षमाला वसिष्ठ से और शारंगी मन्दपाल से विवाहित होकर पूज्यता को प्राप्त हो गयीं॥२३॥

इस संसार में ये और दूसरी बहुत-सी नारियाँ (सत्यवती आदि-कुल्लूकभट्ट) नीच कुलों में उत्पन्न होकर अपने पतियों के शुभ गुणों से उच्चता को प्राप्त हो गयीं॥२४॥

ये श्लोक स्पष्ट बता रहे हैं कि विवाह के पश्चात् स्त्रियों का वह वर्ण नहीं रहता जिसमें वे उत्पन्न हुई हैं, अपितु उनका वर्ण उनके पतियों के वर्ण के अनुसार परिवर्तित हो जाता है। मनुस्मृति का यह लेख आर्यसमाज के सिद्धान्त गुण-कर्म-स्वभाव-अनुसार वर्ण-व्यवस्था की पुष्टि करता है, क्योंकि इसमें स्पष्ट लिखा है कि नीच वर्णों में उत्पन्न हुई स्त्रियाँ भी अपने पतियों के गुणों के कारण उच्च वर्णों को प्राप्त हो जाती हैं, अतः आर्यसमाज का सिद्धान्त कि वर्णव्यवस्था गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार होती है, न कि जन्म से, सर्वथा ठीक है।

पोपजी—सनातनधर्म वीर्य की प्रधानता मानता है, न कि क्षेत्र की। ब्राह्मण का किसी अन्य वर्ण की स्त्री से किसी विशेष कारण से विवाह करना धर्मशास्त्र के अनुकूल ही माना जाता है, परन्तु ऐसा विवाह श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता।

तोपजी—आपके लेखों से तो यह सिद्ध होता है कि सनातनधर्म में वीर्य नहीं, अपितु

वह निरा हिजड़ा है, क्योंकि जहाँ कहीं वीर्य से किसी की उत्पत्ति का वर्णन आता है तो आप तुरन्त वरदान और चरू को ले-दौड़ते हैं और आपको सदा यह भय लगा रहता है कि कहीं वीर्यदान से किसी की उत्पत्ति सिद्ध होकर सनातनधर्म के हिजड़ापन में अन्तर न आ जाए। जैसाकि आपने इसी पुस्तक के पृष्ठ ८३ पर विश्वामित्र की उत्पत्ति चरू से मानकर और पृ० ८८ पर व्यासजी से धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर की उत्पत्ति में वीर्यदान से इन्कार करके अपने आचरण से हिजड़ापन का प्रमाण दिया है और फिर डींग यह भी मारते जाते हैं कि सनातनधर्म वीर्य को प्रधान मानता है। क्यों श्रीमन्! यदि सनातनधर्म वीर्य को ही प्रधान मानता है तो आपने उसी पुस्तक के पृ० ७२, पंक्ति दो में यह क्यों लिखा कि "उत्तम ब्राह्मण वही होता है कि जो ब्राह्मण से ब्राह्मणी में पैदा हुआ हो।" यदि आप वीर्य को ही प्रधान मानते हैं तो बताने की कृपा करें कि व्याधकर्मा कैसे ब्राह्मण बन गया?

भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड १, अध्याय ३३, श्लोक ३ से २४ तक में लिखा है कि—"त्रिपाठी नाम का एक ब्राह्मण था। उसकी स्त्री का नाम कामिनी था। एक बार वह ब्राह्मण किसी दूसरे ग्राम में कथा करने गया और एक मास तक अपने घर वापस नहीं आया। तब कामिनी ने कामातुर होकर एक निषाद लकड़हारे को, जो लकड़ियाँ बेचता फिरता था, पाँच रुपये देकर भोग किया। इसके गर्भ ठहर गया। दस मास पश्चात् पुत्र उत्पन्न हुआ। पिता ने जातकर्म-संस्कार किया और वही व्याधकर्मा अन्त में राजा विक्रमादित्य के यज्ञ का आचार्य बना। देखिए—

विक्रमादित्यराज्ये तु द्विजः कश्चिदभवद् भुवि।
व्याधकर्मेति विख्यातो ब्राह्मणां शूद्रतोऽभवत्॥३॥
विक्रमादित्यभूपस्य यज्ञाचार्यो बभूव ह ॥२४॥

अर्थ—विक्रमादित्य के राज्य में कोई ब्राह्मण हुआ जिसका नाम व्याधकर्मा प्रसिद्ध था, जोकि ब्राह्मणी में शूद्र से उत्पन्न हुआ था और विक्रमादित्य के यज्ञ में आचार्य बना।

इसमें स्पष्ट लिखा है कि 'व्याधकर्मा शूद्र से ब्राह्मणी में पैदा हुआ था और वह ब्राह्मण बन गया और विक्रमादित्य के यज्ञ का आचार्य बना।' महाभारत आदिपर्व अध्याय १०४, श्लोक १-८ तक में लिखा है कि जब परशुरामजी ने इक्कीस बार पृथिवी को क्षत्रियों से शून्य कर दिया, तब ब्राह्मणों ने क्षत्राणियों में सन्तान पैदा की और उससे क्षत्रियों के वंश चले—

एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महर्षिणा॥५॥ उत्पादितान्यपत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः॥६॥
धर्मं मनसि संस्थाप्य ब्राह्मणस्ताः समभ्ययुः॥७॥ ततः पुनः समुदितं क्षत्रं समभवत्तदा॥८॥

जब इस प्रकार उस महर्षि परशुराम ने संसार को क्षत्रियों से शून्य कर दिया तब सब क्षत्राणियों ने एकत्र होकर वेदों के पारङ्गत ब्राह्मणों के साथ समागम करके पुत्र उत्पन्न किये। इस प्रकार विषय-वासना से नहीं किन्तु धर्म के लिए क्षत्राणियों ने ब्राह्मणों से जो पुत्र उत्पन्न किये, वे सब क्षत्रिय हुए। इसके पश्चात पुनः क्षत्रियों का पूरा-पूरा उदय हुआ।
—टीका पं० रामस्वरूपजी मुरादाबादी

अब कहिए, आपके वीर्य की प्रधानता कहाँ गयी, जबकि ब्राह्मणों से पैदा की गयी सन्तान क्षत्रिय बन गयी? सनातनधर्म का सिद्धान्त मनुस्मृति (९।३४) में यूँ लिखा है—

विशिष्टं कुत्रचिद् बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित्। उभयं तु समं तत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते॥

अर्थ—कहीं पर बीज (वीर्य) की प्रधानता होती है, जैसे बृहस्पति की स्त्री तारा में चन्द्रमा

ने बुध को उत्पन्न किया तो वह बीजवाले का ही पुत्र कहाया और व्यास और ऋष्यशृङ्ग आदि माता के नाविक (मल्लाह) की पुत्री और हिरनी होने पर भी बीजवाले ब्राह्मण जो पराशर और विभाण्डक थे, उन्हीं के पुत्र कहाये (कुल्लूकभट्टः)। कहीं पर क्षेत्र की प्रधानता होती है, जैसे विचित्रवीर्य के क्षेत्र अम्बिका, अम्बालिका और दासी में अर्थात् क्षत्राणियों में ब्राह्मण व्यास से पैदा किये हुए भी धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुरजी—क्षत्रिय लोग क्षेत्रवाले के ही पुत्र हुए (कुल्लूकभट्टः)। जहाँ पर बीज और क्षेत्र बराबर हों, वह सन्तान प्रशंसा के योग्य होती है।।३४।।

परन्तु बीज और क्षेत्र के समान होने पर भी यह आवश्यक नहीं कि सन्तान बीज और क्षेत्र पर ही जाए, क्योंकि रावण के माता-पिता दोनों ब्राह्मण होने पर भी, वह राक्षस बन गया और विश्वामित्र के माता-पिता दोनों के क्षत्रिय होने पर भी वह ब्राह्मण बन गया, अतः न बीज प्रधान है और न क्षेत्र प्रधान है, और न ही दोनों समानरूप से प्रधान हैं, अपितु वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में तो गुण-कर्म-स्वभाव ही प्रधान हैं और यही सिद्धान्त शत-प्रतिशत ठीक है।

अब रह गया आपका यह कहना कि "ब्राह्मण का किसी अन्य वर्ण की स्त्री से किसी विशेष कारण से विवाह करना धर्मशास्त्र के अनुकूल ही है।" परन्तु आपने वे विशेष कारण नहीं बताये कि किन कारणों से ब्राह्मण दूसरे वर्ण की स्त्री से विवाह करते थे और वसिष्ठ तथा मन्दपाल ने किन कारणों को ध्यान में रखकर नीच वर्ण की स्त्रियों से विवाह किया था। यदि आप इन कारणों का वर्णन कर देते तो हम उनपर भी विचार कर लेते, परन्तु आपने उनका वर्णन न करने में ही अपना कल्याण समझा, अतः हम भी उनकी समालोचना नहीं करते।

रहा आपका यह कथन कि "परन्तु ऐसे विवाह श्रेष्ठ नहीं गिने जा सकते।" क्योंजी! जब आप इसे शास्त्र के अनुकूल मानते हैं और आगे चलकर आपने ऐसे विवाहों को धर्मशास्त्र और सदाचार के अनुकूल माना है तो फिर इनकी श्रेष्ठता में क्या कमी रह गयी? यदि ये विवाह उत्तम नहीं समझे जाते थे तो ऐसे विवाह करनेवालों को उच्चपदवी क्यों दी जाती थी। देखिए, वसिष्ठजी ऐसा विवाह करने पर भी श्रीरामचन्द्रजी के गुरु बने और ऋष्यशृंग राजा रोमपाद की पुत्री शान्ता से विवाह करने पर भी राजा दशरथ के पुत्रेष्टियज्ञ के प्रधानाचार्य बने और व्यासजी अम्बिका, अम्बालिका और दासी में सन्तान उत्पन्न करके भी उसी प्रकार दनदनाते रहे। इससे यह स्पष्ट प्रकट है कि आपका उपर्युक्त कथन सर्वथा असत्य और व्यर्थ है। वास्तविक बात तो यह है कि प्राचीन काल में वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार मानी जाती थी और विद्वान् लोग विवाह के सम्बन्ध में जिस स्त्री को भी अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल समझते थे, उसकी उत्पत्ति चाहे किसी वर्ण में हुई हो, उसके जन्म का विचार न करके उस स्त्री के गुण-कर्म-स्वभाव को अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल पाकर उससे विवाह कर लेते थे जैसेकि, मनुस्मृति (२।२४०) में आज्ञा है—

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्। विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥

अर्थ—स्त्रियाँ, रत्न, विद्या, धर्म, शौच (सदाचार), मधुर-वचन और अनेक प्रकार के कला-कौशल सबसे ही ले-लेने चाहिएँ।

इसलिए आर्यसमाज का सिद्धान्त—गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था वेद, मनुस्मृति

और सदाचार के सर्वथा अनुकूल तथा युक्तियुक्त है।

पोपजी—अच्छे गुणवाले व्यक्ति की संगति से स्त्रियों का उत्तम होना कोई पाप नहीं और न ही अधर्म में सम्मिलित है।

तोपजी—यदि यह बात है कि उत्तम गुणवाले व्यक्ति के साथ किसी भी वर्ण की स्त्रियों के साथ विवाह होने पर इन स्त्रियों का उत्तम गुणवाली बन जाना कोई पाप और अधर्म नहीं तो फिर आप गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल वर्ण-व्यवस्था पर कोलाहल क्यों कर रहे हैं? और यदि कोई दूसरे वर्ण की स्त्री से विवाह कर लेता है तो सनातनधर्म में भूचाल क्यों आ जाता है? क्यों नहीं साँप की भाँति सीधे होकर बिल में प्रविष्ट होते? स्मरण रक्खो! सत्य को छोड़कर जितना इधर-उधर भागोगे उतने ही अधिक डण्डे खाओगे और अन्ततः सचाई पर तो आना ही पड़ेगा, फिर व्यर्थ में अपमानित होने की क्या आवश्यकता है? वैदिक सिद्धान्त को मानकर सुख का जीवन व्यतीत करो।

पोपजी—मनु भगवान् ने अपनी स्मृति अध्याय २, श्लोक १२ में धर्म के लक्षणों में सदाचार को भी धर्म में ही गिना है। हम संसार में यह शिष्टाचार देखते हैं कि स्त्री जैसे पति से ब्याही जाती है, वह उसी के अनुकूल गुणोंवाली मानी जाती है। इसे लोग और धर्मशास्त्र बुरा नहीं समझते, अतः अक्षमाला और शारंगी आदि स्त्रियों का विवाह ब्राह्मणों से होना धर्म और सदाचार के अनुकूल है।

तोपजी—क्योंजी! आपने अक्षमाला और शारंगी नाम की नीच वर्ण में उत्पन्न हुई स्त्रियों का विवाह वसिष्ठ और मन्दपाल ब्राह्मण के साथ होना धर्मशास्त्र और सदाचार के अनुकूल माना है, तो क्या आपने पृष्ठ ६८ पर वर्णित अपनी सदाचार-सिद्ध धर्म की कसौटी पर इन विवाहों को परख लिया है और क्या आपने इस बात की जाँच कर ली है कि इस प्रकार के जातपात-तोड़क विवाहों का परम्परा से क्रमबद्ध सदाचार चला आता है? क्या आपने अपनी कसौटी के अनुसार पता लगाया कि अक्षमाला और शारंगी की माता, नानी, लकड़नानी और उनकी लकड़नानी की सास ने भी इसी प्रकार के जातपात-तोड़क विवाह किये थे या नहीं? और क्या आपने छानबीन की कि वसिष्ठ और मन्दपाल के पिता, नाना, लकड़नाना और लकड़नाना के ससुर ने भी इसी प्रकार के जातपात-तोड़क विवाह किये थे या नहीं? और क्या आपने इस क्रम को आगे बढ़ाते-बढ़ाते सृष्टि की रचना तक पहुँचने का निश्चय कर लिया है कि सृष्टि की रचना से लेकर वसिष्ठ, मन्दपाल, अक्षमाला और शारंगी तक इस प्रकार के जातपात-तोड़क विवाह क्रमपूर्वक इनके वंश में होते आये हैं? यदि नहीं तो फिर आपने अपनी ही कसौटी के विरुद्ध इस प्रकार के दूसरे वर्णों की स्त्रियों के साथ विवाहों को सदाचार-सिद्ध धर्म कैसे मान लिया? जब हमने यह सिद्ध किया कि 'मनुस्मृति (२।१२) में सदाचार को भी धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिए कसौटी माना है, शर्त यह है कि वह सदाचार वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध न हो' तब तक तो आपने मनुस्मृति अध्याय २, श्लोक १८ का मनमाना अर्थ करके यह सिद्ध किया कि सदाचार उसे कहते हैं कि जो परम्परा से क्रमबद्ध सृष्टि की रचना से लेकर अब तक चला आया हो और उपर्युक्त रीति से यदि कोई कार्य किसी की माता, नानी, लकड़नानी और लकड़नानी की सास ने भी किया हो, तब सदाचारसिद्ध धर्म माना जाएगा, परन्तु जब अक्षमाला, शारंगी, वसिष्ठ और मन्दपाल का जात-पात तोड़क विवाह सामने आया तो तुरन्त अपने बनाये हुए पहले लक्षण को तिलाञ्जलि देकर झट मनुस्मृति

(२।१२) को ही प्रमाण मानकर और परम्परा को एक ओर रखकर उपर्युक्त विवाहों को सदाचारसिद्ध धर्म मान लिया। क्यों न हो? किसी ने सच कहा है–**'भीड़ पड़ी भगवान् चिता रे!'** श्रीमन्! इस भागा-दौड़ी से जान बचनी कठिन है। यह मानना ही पड़ेगा कि दोनों श्लोकों का अर्थ एक ही है। परम्परा का यह तात्पर्य नहीं कि किसी जातपात-तोड़क अथवा विधवा-विवाह करनेवाले के ही कुल में पिता, नाना, लकड़नाना और लकड़नाना के ससुर आदि का जातपात-तोड़क विवाह हुआ हो, तभी उसे सदाचारसिद्ध धर्म माना जाएगा, अपितु परम्परा का तात्पर्य यह है कि सृष्टि के आरम्भ से वेद और स्मृतियों के जाननेवाले ऋषि जिस काम को करते आये हों और वह काम वेदानुकूल स्मृतियों के विरुद्ध न हो वही सदाचारसिद्ध धर्म माना जाएगा। मैं आशा करता हूँ कि आप पिछली कर्तूत पर अवश्य ही लज्जित होंगे।

पोपजी–ऐसे इतिहासों से सनातनधर्म के सिद्धान्तों की कोई हानि नहीं और न ही उनसे आर्यसमाज के सिद्धान्तों की पुष्टि होती है।

तोपजी–इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन वैदिक सनातनधर्म के सिद्धान्तों में तो ऐसे इतिहासों से कोई हानि नहीं होती, क्योंकि प्राचीन वैदिक सनातनधर्म में इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं कि चारों वर्णों के मनुष्य दूसरे वर्णों में उत्पन्न हुई स्त्रियों के साथ अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार विवाह कर लेते थे और वह स्त्री जिस वर्ण के पति के साथ ब्याही जाती थी, उसी वर्ण में मानी जाती थी, चाहे उसका जन्म किसी भी वर्ण में क्यों न हुआ हो, परन्तु इस सिद्धान्त को मानकर आपने वर्त्तमान सनातनधर्म की तो जड़ों पर ही कुल्हाड़ा रख दिया, क्योंकि नीच वर्ण की स्त्री से विवाह करना और उस स्त्री का पति के ही वर्ण में गिना जाना अछूतोद्धार, शुद्धि और गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था को सिद्ध करता है और इन बातों को स्वीकार करने के बाद वर्त्तमान सनातनधर्म की नौका गहरे समुद्र में डूब जाती है।

अब रहा आर्यसमाज के सिद्धान्तों की पुष्टि का प्रश्न, तो उपर्युक्त उदाहरणों से आर्यसमाज के सिद्धान्तों की तो पुष्टि-ही-पुष्टि है। नीच वर्णों की स्त्रियों का ब्राह्मण आदि वर्णस्थ पुरुषों के साथ विवाह होकर उन स्त्रियों का पतियों के वर्ण में गिना जाना सन्तान का वर्ण-परिवर्तन होकर दूसरे वर्ण के कुल का सदस्य बनने को सिद्ध करता है और इसके साथ ही वर्ण-व्यवस्था भी गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल डंके की चोट सिद्ध हो जाती है; इससे अधिक आर्यसमाज के सिद्धान्त की और क्या पुष्टि होगी? इसलिए उपर्युक्त उदाहरणों से सनातनधर्म के जन्म से वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त का खण्डन और आर्यसमाज के गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्ण-व्यवस्था और वर्ण-परिवर्तन होने पर सन्तान का दूसरे वर्ण के कुल का सदस्य बनने के सिद्धान्त का मण्डन होता है।

पोपजी–लाला मनसारामजी ने मनुस्मृति अध्याय १०, श्लोक ६५ का प्रमाण देकर वर्ण-व्यवस्था को कर्म से बतलाया है कि ब्राह्मण शूद्र बन सकता है और शूद्र ब्राह्मण बन सकता है और क्षत्रिय, वैश्य भी शूद्र और ब्राह्मण बन सकते हैं।

तोपजी–निःसन्देह मनुस्मृति में कर्मानुसार वर्ण-परिवर्तन का वर्णन है, देखिए–

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते। अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद् युगात्॥६४॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥६५॥

अर्थ–ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न हुआ पुत्र यदि श्रेष्ठ हो जाए तो सातवें वर्ष में हीन

जाति से उच्च जाति को प्राप्त हो जाता है। शूद्र ब्राह्मणपन को प्राप्त हो जाता है और ब्राह्मण शूद्रपन को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य से पैदा हुए भी ब्राह्मण और शूद्र बन जाते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

ये श्लोक स्पष्ट बतला रहे हैं कि वर्णों का गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार परिवर्तन हो जाता है।

पोपजी—इस श्लोक को प्रस्तुत करने में लालाजी ने छल से काम लिया है। इस श्लोक का पूर्वश्लोक से सम्बन्ध है। श्लोक ६४ को छोड़कर अपने प्रयोजन का श्लोक ६५ प्रमाण में प्रस्तुत करना अन्याय है।

तोपजी—पहले श्लोक के विषय का दूसरे श्लोक के विषय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि यही श्लोक अकेला ही भविष्यपुराण में विद्यमान है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियो याति विप्रत्वं विद्याद्वैश्यं तथैव च ॥

—भवि० ब्रह्म० १, अ० ४०, श्लोक ४७

यदि पहले श्लोक का दूसरे श्लोक के अर्थों के साथ सम्बन्ध होता तो भविष्यपुराण में भी दोनों श्लोक साथ ही आते। इस अकेले श्लोक का भविष्यपुराण में आना सिद्ध करता है कि पहले श्लोक का दूसरे श्लोक के अर्थों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी पहला श्लोक दूसरे श्लोक के अर्थों के विरुद्ध नहीं है, इसलिए पहले श्लोक का दूसरे श्लोक के अर्थों के साथ सम्बन्ध बतलाना छल और अन्याय है, और यह कहना कि पहले श्लोक के बिना दूसरे श्लोक के अर्थ ही नहीं हो सकते सनातनधर्मियों को काठ का उल्लू बनाकर फंदे में फँसाये रखने का प्रयत्न है।

पोपजी—न्याय-प्रिय लोगों के ज्ञान के लिए मनुस्मृति के दोनों श्लोकों को मिलाकर शब्दशः वही अर्थ लिखा जाता है जो कि आर्यसमाज के मान्य पं० कृपारामजी 'जगरानवी' ने मनुस्मृति का उर्दू अर्थ करते हुए लिखा है।

तोपजी—यद्यपि हम पहले लिख चुके हैं कि इस प्रकार के अनार्ष अनुवाद हमारे लिए कोई प्रमाण नहीं हैं और आर्यसमाज उनके लिए उत्तरदायी नहीं है, फिर भी अर्थ को किसी का नाम लेकर भी पूरा-पूरा लिखना आप-जैसे सनातनधर्मियों का काम है ही नहीं। आप लोगों ने तो यही धर्म मान रक्खा है कि जिस प्रकार भी हो सके धोखे से, छल से, कपट से जनता को सचाई से दूर रक्खा जाए, अन्यथा जब आपने प्रतिज्ञा की है कि दोनों श्लोकों को मिलाकर हूबहू पं० कृपारामजी का अर्थ लिखा जाता है, तो फिर प्रतिज्ञा के अनुसार आपने दूसरे श्लोक का अर्थ क्यों नहीं लिखा और इन दोनों के नीचे पण्डितजी ने जो पाद-टिप्पणी दी है वह क्यों नहीं लिखी? इसलिए न कि इसके लिखने से आपके सारे छल-कपट का भाँडा बीच बाजार में फूट जाता? लीजिए, हम जनता के ज्ञान के लिए पण्डितजी के किये हुए दोनों श्लोकों के अर्थ और उनके नीचे लिखी हुई पाद-टिप्पणी शब्दशः लिख देते हैं—"शूद्र स्त्री में ब्राह्मण के वीर्य से कन्या उत्पन्न हो तो वह 'पारशवी' कहाती है, फिर इस कन्या से ब्राह्मण विवाह करके कन्या उत्पन्न करे। जब इसी प्रकार छह बार कन्या उत्पन्न हो और वह ब्राह्मण से विवाह कर ले तो अन्तिम सन्तान ब्राह्मण हो जाती है।।६४।।

शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र बन जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य भी ब्राह्मण और शूद्र हो सकते हैं। अपने वर्ण से गिरकर दूसरे वर्णों में चले जाते हैं।।६५।।

पाद-टिप्पणी--वर्ण का अधिकार गृहस्थाश्रम में होता है। यदि ब्राह्मण का लड़का उपनयन-संस्कार न करे अथवा क्षत्रिय या वैश्य का लड़का वेदानुकूल उपनयन और वेदारम्भ संस्कार न करे तो वे द्विज नहीं हो सकते, और जब द्विज न हुए तो शूद्र कहलाएँगे और शूद्र के लड़के के सब संस्कार विधिवत् वैदिक रीति से होकर उपनयन और वेदारम्भ-संस्कार हो जाए तो वह द्विज होकर गुण-कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पदवी को प्राप्त करेगा।"

पढ़िए पोपजी! पं० कृपारामजी का लेख आपका कैसा भंयकर खण्डन कर रहा है और न्यायप्रिय व्यक्ति भी हृदय में अंकित कर लें कि पोपजी का झूठ लिखने का कैसा भंयकर स्वभाव है।

पोपजी--भाव यह कि ब्राह्मण का वीर्य होते हुए भी केवल स्त्री के ब्राह्मणी न होने पर छह पीढ़ियों में सन्तान पूर्णरूप से इस क्षेत्र के दोष को दूर करके ब्राह्मण बन सकती है, अर्थात् छह पीढ़ियों में क्षेत्र का दोष दूर हो जाता है।

तोपजी--उपर्युक्त श्लोक ६४ का यह अर्थ ठीक नहीं है जोकि पं० कृपारामजी ने किया है जिसके सहारे पर आप बाँसों उछल रहे हैं, श्रीमन्! यदि इस अर्थ को ठीक मान लिया जाए कि ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न हुई सन्तान छह पीढ़ी में जाकर ब्राह्मण बन सकती है, तो यह मनुस्मृति के ही विरुद्ध पड़ता है। देखिए, मनुस्मृति (१०।४२) में क्या लिखा है--

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे। उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः॥

अर्थ--मनुष्यों में कोई तप के प्रभाव से विश्वामित्र की भाँति और कोई बीज के प्रभाव से ऋष्यशृंग की भाँति जन्म से उच्च तथा नीच जाति को प्राप्त करते हैं। ऐसा प्रत्येक युग में होता रहता है।

इस श्लोक में स्पष्ट वर्णन है कि प्रत्येक युग में लोग अपने जन्म के वर्ण की अपेक्षा नीचे और ऊपर के वर्ण में अवनति और उन्नति करते रहते हैं। कोई तप के प्रभाव से और कोई बीज के प्रभाव से उन्नति करते हैं। ऋष्यशृंग की माता ब्राह्मणी न थी, परन्तु वह बीज के प्रभाव से ब्राह्मण बन गया और विश्वमामित्र की माता और पिता दोनों क्षत्रिय थे, परन्तु वह तप के प्रभाव से ब्राह्मण बन गया।

यदि आप श्लोक ६४ के **'सप्तमाद्युगात्'** का अर्थ सातवीं पीढ़ी में ब्राह्मण होना मानेंगे तो ऋष्यशृंग और व्यासजी एक ही जन्म में ब्राह्मण कैसे बन गये? यदि आपके कथनानुसार ब्राह्मण का बीज होते हुए भी माता के ब्राह्मणी न होने पर सात पीढ़ियों में सन्तान ब्राह्मण बन सकती है तो व्यास आदि ऋषि एक ही जन्म में ब्राह्मण कैसे बन गये जबकि इनकी माता भी ब्राह्मणी नहीं थी और व्याधकर्मा एक ही जन्म में विक्रमादित्य के यज्ञ का आचार्य बन गया, विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुए भी एक ही जन्म में ब्राह्मण बन गया। तात्पर्य यह कि ऐसे सैकड़ों उदाहरण विद्यमान हैं कि माता के ब्राह्मणी न होने पर भी केवल तप से एक ही जन्म में ब्राह्मण बन गये; और फिर आपका यह दावा कि बीज ही प्रधान है, क्षेत्र नहीं, सर्वथा निरस्त हो जाता है। इसलिए श्लोक ६४ में 'सप्तम युग' का अर्थ सातवाँ वर्ष ही उचित हो सकता है। इस प्रकार इस श्लोक का अर्थ यह होता है कि शूद्रा में ब्राह्मण से पैदा हुआ बालक यदि श्रेष्ठ हो तो सातवें वर्ष में यज्ञोपवीत आदि संस्कार और वेदारम्भ होने पर वह ब्राह्मण बन जाता है। इस श्लोक में 'सप्तम युग' का

अर्थ सातवीं पीढ़ी करना मनुस्मृति के विरुद्ध तथा इतिहास और युक्ति के भी सर्वथा विरुद्ध है। हमारा किया हुआ अर्थ मनुस्मृति और इतिहास के अनुकूल तथा युक्तियुक्त है। इसलिए इन श्लोकों से जन्मानुसार वर्ण-व्यवस्था का पूर्ण खण्डन और कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था का प्रबल मण्डन होता है।

पोपजी—लालाजी ने कर्म से वर्ण-परिवर्तन होने में मनुस्मृति के दो और श्लोक लिखे हैं, परन्तु उनमें वर्ण-परिवर्तन की चर्चा तक नहीं है।

तोपजी—वर्ण-परिवर्तन की चर्चा है या नहीं यह तो श्लोकों को देखकर ही स्पष्ट हो जाएगा—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः। वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥४३॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः। पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥४४॥
सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च। त्र्यहने शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्॥९२॥
इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः। ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति॥९३॥

—मनु० १०।४३, ४४, ९२, ९३

अर्थ—शनैः-शनैः ये क्षत्रिय जातियाँ कर्म-धर्म के लोप होने से और ब्राह्मणों के दर्शन न होने से शूद्रपन को प्राप्त हो गयीं॥४३॥ पौण्ड्रक, चौड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश [शूद्रत्व को प्राप्त हो गये]॥४४॥ मांस, लाख और नमक बेचने से ब्राह्मण उसी समय पतित हो जाता है, और यदि ब्राह्मण दूध बेचे तो तीन दिन में शूद्र हो जाता है॥९२॥ अपनी इच्छानुसार अन्य वस्तुओं को बेचनवाला ब्राह्मण इस संसार में सात रात्रि में वैश्यपन को प्राप्त हो जाता है॥९३॥

इन श्लोकों को ध्यानपूर्वक पढ़ें और इनका अर्थ करें, तब आपको हमारी सत्यता पर पूर्ण विश्वास हो जाएगा कि इन श्लोकों में स्पष्ट रूप से ब्राह्मण और क्षत्रियों का कर्मानुसार अवनत होना लिखा हुआ है।

पोपजी—हम इन श्लोकों का अपना अर्थ न लिखकर महाशय कृपारामजी का अर्थ प्रस्तुत करते हैं—

अर्थ—पहले श्लोक में इस बात का वर्णन है कि क्षत्रियों की सहस्रों जातियाँ अपने कर्त्तव्यों का पालन न करने और ब्राह्मणों से शिक्षा न मिलने से 'बैरखल' बन गयीं।

इस श्लोक से आर्यसमाज का यह सिद्धान्त कि एक ही जन्म में वर्ण-परिवर्तन होता है, सिद्ध नहीं हो सकता। हाँ, धर्महीन होने से वे पतित होकर हमसे पृथक् हो गये, यही सिद्ध होता है।

तोपजी—हम चाहे प्रमाण न मानें, परन्तु आपको अनुभव से यह पता लग चुका होगा कि पं० कृपारामजी का अर्थ आपको बहुत महँगा पड़ता है, परन्तु न जाने आपको इसमें क्या आनन्द आता है कि तड़ातड़ पड़ने पर भी आप सिर को आगे ही किये जाते हैं। आपने मनुस्मृति (१०।४३) का पं० कृपारामजी का अर्थ ठीक नहीं लिखा। हम उनके दो श्लोंको का किया हुआ अर्थ और उनकी पाद-टिप्पणी शब्दशः लिख देते हैं।

"शनैः-शनैः कर्त्तव्य का पालन न करने से और ब्राह्मणों के दर्शन न होने से निम्न क्षत्रिय संसार में शूद्र हो गये—।।४३॥ पौण्ड्रक, चौड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश॥४४॥ [इन देशों में रहनेवाले] क्षत्रिय यज्ञोपवीत

संस्कार और वेद न पढ़ने के कारण शूद्र हो गये।

पाद-टिप्पणी—श्लोक ४४ स्पष्ट बतला रहा है कि किसी समय सारे संसार में वैदिक धर्म प्रचलित था और आर्य-सन्तान रहती थी, परन्तु धीरे-धीरे लोग पतित हो गये।"

यह है पं० कृपारामजी का हूबहू दोनों श्लोकों का अर्थ और उसपर पाद-टिप्पणी। इसे पढ़कर बतलाएँ कि पण्डितजी के अर्थ से आपका कौन-सा समर्थन होता है? श्लोक-संख्या ४३ में पण्डितजी ने स्पष्ट लिखा है कि निम्नलिखित क्षत्रिय संसार में शूद्र हो गये, परन्तु आपने दुनिया को धोखा देने के लिए उनके नाम से 'बैरखल (वृषल) बन गये' लिख दिया, ताकि जनता धोखे में रह जाए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्लोक में पड़े हुए 'वृषल' शब्द का अर्थ शूद्र है और पोपजी ने इसी को अपने ढंग से 'बैरखल' लिखा है। अर्थ इसका भी शूद्र ही है, परन्तु उर्दूभाषी जनता को शूद्र और बैरखल (वृषल) शब्द में विवेक करना कठिन है। पोपजी ने धोखा देने के लिए 'बैरखल' लिख दिया है। अर्थ चाहे एक ही हो, परन्तु दूसरे के नाम से प्रमाण देते हुए बीच में अपनी ओर से हस्तक्षेप करके जनता को धोखे में डालना प्रथम कोटि की बेईमानी और कमीनापन है। इसमें पण्डितजी ने स्पष्ट लिख दिया है कि उन देशों के लोग उपवीत आदि संस्कार और वेदाध्ययन न करने से शूद्र हो गये। उपर्युक्त अर्थ से स्पष्टरूप से आर्यसमाज का सिद्धान्त, गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था सिद्ध होता है, और पोपजी का यह परिणाम कि धर्म से हीन होने से वे पतित होकर हमसे पृथक् हो गये--वही अर्थ रखता है। इन लेखों से जन्मना वर्ण--व्यवस्था किसी स्थिति में भी सिद्ध नहीं हो सकती, अपितु जब कर्म से हीन हुए तभी शूद्र बन गये, इससे आर्यसमाज का कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त स्पष्ट सिद्ध हो रहा है।

पोपजी--दूसरे श्लोकों का अर्थ करते हुए पण्डितजी कहते हैं--"मांस, लाख और नमक बेचने से ब्राह्मण शीघ्र पतित हो जाता है और दूध बेचने से तीन दिन में शूद्रभाव को प्राप्त हो जाता है।" कहिए महाशयजी! इस श्लोक से तो स्पष्ट सिद्ध होता है कि मांस आदि बेचने से और दूध-विक्रय से ब्राह्मण पतित और शूद्रभाव अर्थात् शूद्र की भाँति हो जाता है। इसका यह तात्पर्य कहाँ है कि ब्राह्मण शूद्र बन जाता है।

तोपजी--कुत्ते की दुम को बारह वर्ष तक नलकी में रक्खो, परन्तु जब निकालो तभी टेढ़ी-की-टेढ़ी! यही अवस्था इन पोपजी महाराज की है। इन्हें कितना ही समझाया जाए, परन्तु जब देखो कोल्हू के बैल की भाँति वहीं दिखाई देंगे। मूल श्लोक में **'शूद्रो भवति'** [मनु० १०।९२] शब्द स्पष्ट पड़े हुए हैं, जिनका सीधा अर्थ यही है कि 'शूद्र बन जाता है', परन्तु श्लोक की ओर न देखते हुए पं० कृपारामजी के अर्थ की ओर दुम उठाये हुए भागे जा रहे हैं। इसलिए कि पण्डितजी ने 'शूद्र हो जाता है' की बजाय 'शूद्रभाव को प्राप्त हो जाता है'--यह अर्थ कर दिया है और पण्डितजी ने जो कोष्ठक में '[अर्थात् अपने वर्ण की श्रेणी से गिर जाता है]' लिखा है उसे छुआ तक नहीं और झट यह अर्थ निकाल लिया कि दूध बेचने से ब्राह्मण पतित और शूद्रभाव अर्थात् शूद्र की भाँति हो जाता है।

पोपजी महाराज! शूद्रभाव को प्राप्त होने का अर्थ 'शूद्र की भाँति हो जाता है' यह कहाँ से निकाल लिया? शूद्रभाव को प्राप्त होने का तो स्पष्ट यह अर्थ है कि शूद्रपन को प्राप्त हो जाता है। 'पन' शब्द प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व को सिद्ध करता है, नकि समानता को। जैसे घड़े को घड़ा इसलिए कहते हैं कि उसमें घड़ापन विद्यमान है। घोड़े को इसलिए घोड़ा कहते हैं कि इसमें घोड़पन विद्यमान है। इसी प्रकार ब्राह्मण उसे कहते हैं जिसमें

ब्राह्मणपन विद्यमान हो और शूद्र उसे कहते हैं जिसमें शूद्रपन विद्यमान हो। किसी व्यक्ति में ब्राह्मणपन या शूद्रपन आ जाने का यह अर्थ होता है कि वह व्यक्ति ब्राह्मण या शूद्र बन गया। समानता दिखलानेवाला प्रत्यय संस्कृत में 'वत्' आता है जैसेकि—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥ —मनु० २।१०३

अर्थ—जो ब्राह्मण न प्रातः सन्ध्या करता है और न सायंकाल, उसे सब ब्राह्मणों के कर्मों से शूद्रवत् अर्थात् शूद्र की भाँति बाहर निकाल देना चाहिए।

इस श्लोक में समानता दिखानेवाला शब्द 'वत्' विद्यमान है, परन्तु 'भाव' शब्द से कभी भी समानता के अर्थ नहीं लिये जा सकते, अपितु 'भाव' शब्द तो किसी वस्तु के अस्तित्व का वर्णन करनेवाला है, जैसाकि हमने मनुस्मृति १०।९३ के अर्थ में लिखा है कि—"अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय करने से ब्राह्मण सात रात्रि में वैश्यभाव अर्थात् वैश्यपन को प्राप्त हो जाता है जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वैश्य बन जाता है। इसलिए 'भाव' शब्द को समानता के अर्थ में प्रयुक्त कर यह अर्थ करना कि 'ब्राह्मण दूध बेचने से शूद्र की भाँति हो जाता है' जनता को नितान्त धोखा देना है। उक्त श्लोक का यही अर्थ ठीक है कि 'ब्राह्मण दूध बेचने से तीन दिन में शूद्रभाव अर्थात् शूद्रपन को प्राप्त हो जाता है अर्थात् शूद्र बन जाता है।'

यह बात हमने पाठकों को समझाने के लिए लिख दी है कि 'शूद्रभाव' और बात है और 'शूद्रवत्' और बात है, अन्यथा श्लोक ९२ में तो स्पष्ट रूप से 'शूद्रो भवति' शब्द पड़े हुए हैं, जिनका स्पष्ट अर्थ यह है कि दूध बेचने से ब्राह्मण तीन दिन में शूद्र हो जाता है।

पोपजी—ब्राह्मण आदि वर्णों का पतित व शूद्रभाव को प्राप्त होना सनातनधर्म भी मानता है, परन्तु पतित होने या शूद्र की भाँति होने से वर्ण का परिवर्तन मानना बड़ी भारी भूल है। जिससे उपमा दी जाती है उससे तद्रूप होना आवश्यक नहीं, क्योंकि हम किसी राजा की दान के सम्बन्ध में प्रशंसा करते हुए कह देते हैं कि आप कर्ण हैं। इस उपमा से वह राजा कर्ण नहीं बन जाता, अपितु कर्ण की भाँति दानी समझा जाता है। इसी प्रकार दूध बेचने से शूद्र नहीं बन जाता, केवल शूद्र की भाँति पतित हो जाता है, परन्तु उसमें ब्राह्मणपन बना रहता है।

तोपजी—हम इस बात को पहले सिद्ध कर आये हैं कि 'शूद्रभाव' और बात है और 'शूद्रवत्' भिन्न बात है। 'भाव' किसी वस्तु के अस्तित्व को प्रकट करता है और 'वत्' किसी वस्तु की समानता को प्रकट करता है। मनुस्मृति के श्लोकों में **शूद्रत्वम्** [२।१६८], **शूद्रताम्** [१०।६५], **वृषलत्वम्** [१०।४३], **वैश्यभावम्** [१०।९३] और **शूद्रो भवति** [१०।९२]—ये सब शब्द पर्यायवाची हैं और ये शब्द शूद्रपन या वैश्यपन को प्रकट करते हैं और 'पन' शब्द किसी वस्तु के अस्तितव को प्रकट करता है। इसलिए जहाँ-जहाँ भी शूद्रपन या ब्राह्मणपन की विद्यमानता प्रकट की जाए, इसका यही तात्पर्य होता है कि शूद्र या ब्राह्मण बन गया। इसमें कोई उच्चकोटि का अलङ्कार नहीं है और न ही कर्ण का उदाहरण यहाँ पर उपयुक्त है। 'पन' शब्द से 'भाँति' अर्थ लेना केवल धोखा देना है। 'पन' शब्द को किसी वस्तु का अस्तित्व प्रकट करने के लिए आपने भी प्रयोग किया है कि—"परन्तु उसमें ब्राह्मणपन बना रहता है"। यह 'ब्राह्मणपन' क्या तत्त्व है? जिस प्रकार

यहाँ पर आपके विचार में ब्राह्मणपन ब्राह्मण होने की विद्यमानता को प्रकट करता है, उसी प्रकार शूद्रभाव या शूद्रपन भी शूद्र होने के अस्तित्व को प्रकट करता है, समानता को नहीं।

अब हम देखना चाहते हैं कि ब्राह्मण में ब्राह्मणपन, क्षत्रिय में क्षत्रियपन, वैश्य में वैश्यपन और शूद्र में शूद्रपन क्या वस्तु [तत्त्व] है जो इन चारों को पृथक्-पृथक् करती है? जिस प्रकार कि घोड़े को घोड़ापन, गाय के गायपन से पृथक् दर्शाता है, इस प्रकार से तो इन चारों वर्णों में कोई शारीरिक अन्तर नहीं है, क्योंकि घोड़े में घोड़ापन और गाय में गायपन तो इनकी विशेष बनावट तथा आकृति है जो इन दोनों में विवेक कराती है। अन्ततः मानना पड़ेगा कि ब्राह्मण में ब्राह्मणपन ब्राह्मण के कर्म हैं और शूद्र में शूद्रपन शूद्र के कर्म हैं। बस, जब कोई ब्राह्मण ब्राह्मणपन के कर्मों को छोड़कर शूद्रपन के कर्मों को करने लग जाता है तो इस ब्राह्मण में शूद्रपन आ जाता है, अर्थात् वह शूद्र बन जाता है; और जब कोई शूद्र शूद्रपन के कर्मों को छोड़कर ब्राह्मणपन के कर्मों को करने लग जाता है तो इस शूद्र में ब्राह्मणपन आ जाता है और वह ब्राह्मण बन जाता है। इसी प्रकार से क्षत्रिय और वैश्य को समझ लीजिए। दो विरोधी गुण एक स्थान पर नहीं ठहर सकते, इसलिए जहाँ शूद्रपन आ जाएगा वहाँ से ब्राह्मणपन भाग जाएगा और जहाँ ब्राह्मणपन आ जाएगा वहाँ से शूद्रपन भाग जाएगा, अतः आपका यह लिखना कि 'शूद्रपन आ जाने के पश्चात् भी उसमें ब्राह्मणपन बना रहता है और वह पतित ब्राह्मण होता है', बिल्कुल व्यर्थ और युक्तिशून्य बात है। उपर्युक्त मनुस्मृति के प्रमाणों से गुण-कर्म-स्वभावनुसार एक ही जन्म में वर्णों का परिवर्तित होना देदीप्यमान भानु की भाँति स्पष्ट सिद्ध है।

पोपजी—लाला मनसारामजी ने मनुस्मृति ११।२३८ का प्रमाण देकर लिखा है—

तोपजी—निःसन्देह यह श्लोक बतलाता है कि जो कार्य कठिन है वह तप से सिद्ध हो सकता है। कुल्लूकभट्ट ने अपनी टीका में लिखा है—'जो दुःख से प्राप्त होने योग्य है वह तप से मिल सकती है, जैसे विश्वामित्र को क्षत्रिय होते हुए इसी शरीर से ब्राह्मणपदवी मिल गयी थी।' देखिए—

यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तत्तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥ —मनु० ११।२३८

यद् दुःखेन प्राप्यते क्षत्रियादिना यथा विश्वामित्रेण तेनैव शरीरेण ब्राह्मण्यादि।
—कुल्लूकभट्टः

अर्थ—जो कठिनता से तरने योग्य, जो कठिनता से प्राप्त करने योग्य, जो कठिनता से यात्रा करने के योग्य और जो कठिनता से करने के योग्य कार्य है, वह सब-कुछ तप से सिद्ध हो जाता है, क्योंकि तप दुर्लंघ्य शक्ति है।

कुल्लूकभट्ट—जो वस्तु दुःख से प्राप्त की जाती है, जैसे क्षत्रिय आदि का विश्वामित्र की भाँति इसी शरीर से ब्राह्मणत्व की प्राप्ति [वह तप से साध्य है]।

पोपजी—इस श्लोक का अर्थ करते हुए महाशय कृपारामजी सुप्रसिद्ध स्वामी दर्शनानन्दजी लिखते हैं—'जो वस्तु कठिनता से तैरने योग्य, और कठिनता से मिलने योग्य और कठिनता से जानने योग्य है, वह तप के द्वारा प्राप्त हो सकती है; कठिनतम कार्यों को पूरा करने का साधन तप ही है।

तोपजी—इस अर्थ से हमारे सिद्धान्त का खण्डन कैसे हुआ? अपितु, इससे तो हमारा समर्थन होता है। जब कठिन कामों को करने का साधन तप ही है तो शूद्र, वैश्य और

क्षत्रिय से ब्राह्मण आदि बनने का साधन तप क्यों नहीं? जब वह वस्तु जो कठिनता से प्राप्त होने योग्य है, तप से प्राप्त हो जाती है तो फिर शूद्र को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य पदवी तप से क्यों न मिले? अतः यह श्लोक तप से अर्थात् गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण के परिवर्तित होने का भरपूर समर्थन करता है।

पोपजी--कुल्लूकभट्टजी का यह आशय नहीं कि विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण बन गया, अपितु उनका भाव यह है कि तप के प्रभाव से क्षेत्रज क्षत्रियदोष को तप के द्वारा दूर किया था।

तोपजी--तनिक कुल्लूकभट्ट की टीका को पढ़ तो लिया होता! वहाँ पर विश्वामित्र को तो केवल उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जो बात उन्होंने सिद्धान्त के रूप में प्रस्तु की है वह यह है कि "क्षत्रिय आदि से इसी शरीर से दुःख से प्राप्त करने योग्य ब्राह्मणपदवी आदि की प्राप्ति।" उदाहरण के रूप में उन्होंने विश्वामित्र को रख दिया कि जैसे विश्वामित्र ने क्षत्रिय होते हुए इसी शरीर से ब्राह्मणपदवी को प्राप्त किया। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि कुल्लूकभट्ट सिद्धान्तरूप से क्षत्रिय आदि का तप से इसी शरीर से ब्राह्मण आदि बनना स्वीकार करते हैं।

अब रह गयी यह बात कि 'कुल्लूकभट्ट का तात्पर्य तप के प्रभाव से क्षेत्रज क्षत्रियदोष को दूर करना है', तो यह बात सर्वथा झूठ है, क्योंकि कुल्लूकभट्ट यह मानते ही न थे कि विश्वामित्रजी बीज से ब्राह्मण थे, अपितु कुल्लूकभट्ट तो यह मानते हैं कि विश्वामित्र का बीज और क्षेत्र दोनों ही क्षत्रिय थे, क्योंकि वे मनुस्मृति अ० १०, श्लोक ४२ की टीका में लिखते हैं--

तपः प्रभावेण विश्वामित्रवत्, बीजप्रभावेण ऋष्यशृंगादिवत्॥

अर्थ--तप के प्रभाव से विश्वामित्र की भाँति और बीज के प्रभाव से ऋष्यशृंग आदि की भाँति कोई तप से और कोई बीज से उन्नति कर गये।

अब तनिक इसपर विचार करें। यहाँ विश्वामित्र को बीज के प्रभाव से उन्नति करनेवाला नहीं माना, अपितु तप के प्रभाव से उन्नति करनेवाला माना है और ऋष्यशृंग आदि को बीज के प्रभाव से उन्नति करनेवाला माना है। यदि कुल्लूकभट्ट विश्वामित्र में भी ब्राह्मण के बीज का होना स्वीकार करता तो विश्वामित्र की उन्नति में भी ऋष्यशृंग आदि की भाँति बीज को कारण लिखता, अतः विश्वामित्र का बीज से नहीं अपितु तप से उन्नति करना और बीज से उन्नति करनेवाले ऋष्यशृंगदि से पृथक् विश्वामित्र का वर्णन करना सिद्ध करता है कि कुल्लूकभट्ट विश्वामित्र के क्षेत्र और बीज दोनों को ही क्षत्रिय मानते थे। इस सम्बन्ध में हम एक और प्रमाण भी अपनी बात की पुष्टि के लिए देते हैं--

पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः॥ --मनु० ७।४२

गाधिपुत्रो विश्वामित्रश्च क्षत्रियः संस्तेनैव देहेन ब्राह्मण्यं प्राप्तवान्। ईदृशोऽयं शास्त्रानुष्ठाननिषिद्धवर्जनरूपो विनयो यदनेन क्षत्रियोऽपि दुर्लभं ब्राह्मण्यं लेभे॥

--कुल्लूकभट्ट

अर्थ--पृथु ने विनय अर्थात् धर्मशास्त्र के अनुसार आचरण करने से राज्य प्राप्त किया और मनु ने भी राज्य प्राप्त किया। कुबेर ने धन और प्रतिष्ठा प्राप्त की तथा गाधि के पुत्र

विश्वामित्र ने धर्म-शास्त्रानुकूल आचरण करके ब्राह्मणपदवी को प्राप्त किया।

कुल्लूकभट्ट—गाधि के पुत्र विश्वामित्र ने क्षत्रिय होते हुए इसी शरीर से ब्राह्मणपन को प्राप्त किया। शास्त्रानुसार आचरण करना और शास्त्र-विरुद्ध कामों को छोड़ देना—इस प्रकार का विनय है कि जिससे क्षत्रिय भी दुर्लभ ब्राह्मणपद को प्राप्त कर लेता है।

इस श्लोक से तो स्पष्ट सिद्ध हो गया कि विश्वामित्र गाधि का पुत्र था तथा उसके माता और पिता दोनों ही क्षत्रिय थे और टीकाकार कुल्लूक भी यही समझते थे। यह तो हुई वास्तविक बात, परन्तु हम आपसे आपके कथनानुसार यह पूछते हैं कि यदि कुल्लूकभट्ट विश्वामित्र को क्षत्राणी माता के कारण क्षत्रिय लिखते हैं तो फिर आपका कहा हुआ सिद्धान्त कि 'बीज ही प्रधान है क्षेत्र नहीं' वह किस नदी में बह गया? और दूसरी बात यह बताइए कि यदि आपके विचार से तप से क्षेत्र अर्थात् माता के दोष को दूर किया जा सकता है तो फिर तप से बीज अर्थात् पिता का दोष दूर क्यों नहीं किया जा सकता? बस, सिद्ध हो गया कि माता और पिता दोनों के बीज और क्षेत्र के प्रभाव को तप से दूर करके गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार प्रत्येक शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय उन्नति करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण को प्राप्त कर सकता है।

पोपजी—विश्वामित्र जन्म से ही ब्राह्मण थे।

तोपजी—यदि विश्वामित्रजी जन्म से ही ब्राह्मण थे तो स्थान-स्थान पर यह क्यों लिखा हुआ है कि वे क्षत्रिय से ब्राह्मण बन गये और वसिष्ठजी ने उन्हें कई बार राजर्षि कहकर वापस क्यों लौटाया और सभी पुस्तकों में विश्वामित्र को गाधि का पुत्र क्यों लिखा हुआ है? अच्छा, यदि हम और किसी की साक्षी को प्रमाण न मानें, तो भी विश्वामित्र की स्वयं की साक्षी तो अत्यन्त विश्वसनीय है कि वे किसके पुत्र थे। देखिए, शिवपुराण, रुद्रसंहिता, कुमारखण्ड अध्याय ३ में लिखा है कि विश्वामित्र भी वहाँ पहुँचे जहाँ पर शिव का पुत्र स्कन्धकुमार पड़ा हुआ था। शिव के पुत्र ने विश्वामित्र से कहा कि हे ज्ञानी! आप यहाँ पर शिवजी की इच्छा से ही आ गये हैं, अतः मेरा संस्कार वेदानुकूल करें। आज से आप मेरे पुरोहित हैं। यह सुनकर विश्वामित्र ने कहा—

शृणु तात न विप्रोऽहं गाधिक्षत्रियबालकः। विश्वामित्रेति विख्यातः क्षत्रियो विप्रसेवकः॥९॥

अर्थ—हे प्रिय! सुन, मैं ब्राह्मण नहीं हूँ। मैं क्षत्रिय गाधि का बालक हूँ। मेरा नाम विश्वामित्र प्रसिद्ध है। मैं क्षत्रिय हूँ और ब्राह्मणों का सेवक हूँ।

इसपर शिव के पुत्र ने कहा कि—हे विश्वामित्र! तू मेरे वर से ब्रह्मर्षि बन गया है और वसिष्ठ आदि सब सदा तेरी प्रशंसा करेंगे। यह बात अत्यन्त गुप्त रखने योग्य है, किसी के कहने के योग्य नहीं। मेरी आज्ञा से तू मेरा संस्कार कर। यह सुनकर विश्वामित्र प्रसन्न हुआ और उसने वेदानुकूल शिव-पुत्र का संस्कार किया।

अब कहिए, कैसा स्पष्ट लेख है! आपकी स्थिति तो अब 'मुद्दई (वादी) सुस्त और गवाह चुस्त' वाली हो गयी। विश्वामित्र स्वयं तो कहता है मैं ब्राह्मण नहीं हूँ क्षत्रिय हूँ, और आप कह रहे हैं कि विश्वामित्र जन्म से ब्राह्मण था। पुराणों को खोलकर देखें कि झूठे साक्षी के लिए कौन-सा नरक तैयार किया गया है? अब अपना बधना-बोरिया वहाँ चलता कर दीजिए।

पोपजी—देखिए, महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय ४० में महर्षि व्यासजी ने लिखा है कि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—तीनों वर्ण इस जन्म में ब्राह्मण नहीं हो सकते, अपितु

जन्म-जन्मान्तरों के पश्चात् ब्राह्मण-जन्म मिलता है।

तोपजी—एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता का प्रकाशित मूल महाभारत इस समय हमारे समक्ष विद्यमान है। इसके अनुशासनपर्व अध्याय ४० में आप द्वारा वर्णित कथा का चिह्न भी नहीं है। अशुद्ध सन्दर्भ लिखने का आपको पुराना रोग है और आप अशुद्ध पता लिखने में अपनी रक्षा समझते हैं, क्योंकि आपको किसी पुस्तक के बहाने से बीसियों मिथ्या-कथन करने होते हैं और शुद्ध पता लिखने से उन सब छल-कपटों का भाँडा फूट जाता है। जैसेकि इस पुस्तक में बीसियों स्थानों पर आपके मूखर्तापूर्ण छल-कपटों की पोल खोली जा चुकी है। आपके प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला लेख कि 'एक ही जन्म में वर्ण परिवर्तित नहीं हो सकता' तो आप द्वारा लिखित सन्दर्भ पर लिखा हुआ नहीं है। हाँ, इसके विरुद्ध एक ही जन्म में वर्ण परिवर्तित होने का उल्लेख तो महाभारत में विद्यमान है। देखिए, शान्तिपर्व अध्याय १८८ में लिखा है—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥१०॥

अर्थ—आदिसृष्टि में सब ब्राह्मण ही थे। वर्णों का कोई विभाग नहीं था। ब्राह्मणवर्ण ही कर्मानुसार क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि वर्णों को प्राप्त हो गया।

आगे चलकर विस्तारपूर्वक वर्णन है कि किन-किन कर्मों के अनुसार ब्राह्मणवर्ण से क्षत्रिय आदि वर्ण बन गये। इसलिए कर्मों के अनुसार वर्णों का एक ही जन्म में परिवर्तन महाभारत में विद्यमान है।

पोपजी—इसपर महाराजा युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से प्रश्न किया कि यदि ऐसा है तो गाधि का पुत्र विश्वामित्र एक ही जन्म में ब्राह्मण कैसे बन गया? इसके उत्तर में भीष्म पितामह ने महर्षि विश्वामित्र का इतिहास इस प्रकार सुनाया—

तोपजी—महाराज युधिष्ठिर का भीष्म पितामह से उक्त प्रश्न करना इस बात को सिद्ध करता है कि युधिष्ठिर जैसा ज्ञानी और विद्वान् भी यही जानता था कि विश्वामित्र गाधि क्षत्रिय का पुत्र है और उसने एक ही जन्म में क्षत्रिय होते हुए भी ब्राह्मणपदवी को प्राप्त किया है, तथा जनसाधारण भी यही जानता था जैसाकि महाभारत आदिपर्व अध्याय १७५, श्लोक ३-४ में लिखा है—

गाधीति विश्रुतो लोके कुशिकस्यात्मसम्भवः॥३॥

तस्य धर्मात्मनः पुत्रः समृद्धबलवाहनः। विश्वामित्र इति ख्यातो बभूव रिपुमर्दनः॥४॥

[गीताप्रेस संस्करण में अध्याय १७४—सं०]

अर्थ—कुशिक का पुत्र गाधि नामवाला एक प्रसिद्ध राजा था। उस धर्मात्मा के विश्वामित्र नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। यह पुत्र शत्रुओं का संहार करनेवाला था। इसलिए उसके पास पर्याप्त सेना और युद्ध की सामग्री थी।

जन्माभिमानी पौराणिक लोगों को यह बात अच्छी नहीं लगी कि कोई अब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर एक ही जन्म में गुण-कर्म-स्वभाव से ब्राह्मण बन जाए, इसलिए उन लोगों ने महाभारत में विश्वामित्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक असम्भव कहानी घड़कर युधिष्ठिर और भीष्म पितामह के नाम से सम्मिलित कर दी। अब तनिक इस कहानी को भी पढ़िए और इसपर हमारी समालोचना को पढ़कर आनन्द लीजिए।

पोपजी—राजा गाधि क्षत्रिय थे। उनके कोई पुत्र न था। केवल सत्यवती एक कन्या

थी, जिसका विवाह उन्होंने महर्षि ऋचीक से किया था। महर्षि ऋचीक ने सत्यवती की सेवा से अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा कि कोई वर माँग लो। सत्यवती ने इस बात की चर्चा अपनी माता से की। माता ने कहा—"पुत्री! तेरे पति सब प्रकार का सामर्थ्य रखते हैं, अतः यह वर माँगो कि मेरी माता के यहाँ पुत्र हो।" सत्यवती ने महर्षि से ऐसा ही कहा तो उन्होंने कहा—"अब जब तुम्हारी माता स्नान कर चुके तो वह पीपल के वृक्ष से जाकर मिले और तुम गूलर के वृक्ष से जाकर मिलना। मैं यह दो प्रकार का चरु [यज्ञ का बचा हुआ भात] तुम दोनों को देता हूँ, जिसमें वेदमन्त्रों के द्वारा पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति डाली हुई है। तुम दोनों अपना-अपना चरु खाओ, तुम्हारे अवश्य ही पुत्र होंगे।" जब सत्यवती ने यह सब वृत्तान्त अपनी माता से कह दिया तो माता ने कहा—"हे पुत्री! जो चरु महर्षि ने तुम्हें दिया है, वह मुझे दे दो और मेरा तुम ले लो और वृक्षों से मिलने का भी परिवर्तन अवश्य कर लो।" बस, सत्यवती ने अपनी माता से चरु परिवर्तित कर लिया और उसी प्रकार वृक्षों के मेल में भी परिवर्तन कर लिया। इस चरु को खाने से दोनों गर्भवती हो गयीं। महर्षि ने जब योगबल से वास्तविक स्थिति को जाना और फिर उन्होंने चरु और वृक्षों के परिवर्तन का वृत्तान्त सत्यवती से पूछा तो सत्यवती के द्वारा वास्तविक वृत्तान्त बताने पर महर्षि को अत्यन्त खेद हुआ। वे बोले—"मैंने तुम्हारे चरु में पूरा ब्रह्मतेज रखा था और तुम्हारी माता के चरु में क्षत्रियतेज रक्खा था। तुम्हारे चरु बदलने से अब उलटी बात हो गयी, अर्थात् तुम्हारी माता के श्रेष्ठ ब्राह्मण और तुम्हारे कठोर कर्म करनेवाला क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न होगा।" चरु के प्रभाव से महारानी गाधि के यहाँ विश्वामित्र उत्पन्न हुए, अर्थात् विश्वामित्र की उत्पत्ति महर्षि ऋचीक के चरु से हुई थी, अतः विश्वामित्र उत्पत्ति से ही ब्राह्मण थे, परन्तु क्षत्राणी के गर्भ से उत्पन्न होने का क्षेत्रज दोष उन्होंने पन्द्रह सहस्र वर्ष तक कठोर तप करने से दूर किया।

तोपजी—आपने इस कथा का ठीक पता नहीं लिखा, अतः हम नहीं कह सकते कि इस कथा में आपने कितनी बातें अपनी ओर से मिलाई हैं और महाभारत की कितनी ही बातें पचा ली हैं, तो भी इस कथा को पढ़ने से पता लग जाता है कि उपर्युक्त कथा असम्भव और युक्ति तथा तर्क से रहित है। अब तनिक इस कथा को परीक्षा की कसौटी पर परखें।

१. सन्तान की आवश्यकता सत्यवती की माता को थी, न कि सत्यवती को, क्योंकि गाधि के कोई पुत्र नहीं था, परन्तु सत्यवती के उदर से महर्षि ऋचीक के पुत्र पुरुष-सन्तान विद्यमान थी, क्योंकि वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड सर्ग ६१ में लिखा है कि महर्षि ऋचीक के शुनःशेप आदि तीन पुत्र थे। फिर भी विश्वामित्र के साथ तो एक ही पैदा हुआ होगा। प्रश्न यह है कि जब सत्यवती को पुत्र न होने की शिकायत ही नहीं थी तो फिर चरु दोनों के लिए क्यों तैयार किया गया? यदि यह कहो कि जो सत्यवती का सबसे बड़ा पुत्र था वह विश्वामित्र के साथ-साथ उत्पन्न हुआ था तो सत्यवती के बाद में जो दो पुत्र उत्पन्न हुए क्या वे भी चरु की सहायता से हुए अथवा वैसे ही हो गये? यदि वे भी चरु की सहायता से उत्पन्न हुए तो उसका सन्दर्भ लिखें, और यदि वे दोनों बिना चरु की सहायता के उत्पन्न हुए तो इसके लिए भी चरु की क्या आवश्यकता थी? क्योंकि सत्यवती को पुत्र-सन्तान उत्पन्न न होने की कोई शिकायत न थी, अतः इन दोनों के लिए चरु बनाने की बात चरु के परिवर्तन से विश्वामित्र को जन्म से ब्राह्मण सिद्ध करने के लिए

जन्माभिमानी ब्राह्मण लोगों ने कल्पित की है।

२. ऋतु-स्नान के पश्चात् स्त्रियों का पीपल और गूलर के वृक्षों के साथ मिलने से सनातनधर्म का क्या प्रयोजन है? क्या इन वृक्षों के साथ मिलने से गर्भ-स्थापन का काम लेना तो अभीष्ट नहीं, और क्या वृक्षों से वीर्य स्त्रियों मे ठहरना सम्भव है? यदि सम्भव है तो वृक्षों के वीर्य से जो सन्तान उत्पन्न होगी, बीज की प्रधानता से उसका क्या वर्ण होगा? और यदि गर्भ-स्थापन अभीष्ट नहीं तो वृक्षों से मिलने की दार्शनिकता क्या है, इसे सनातनधर्म ही जान सकता है।

३. चरु का प्रयोग करने के पश्चात् गाधि और ऋचीक की स्त्रियों ने गाधि और ऋचीक से गर्भाधान संस्कार द्वारा वीर्यदान लिया था या नहीं? यदि लिया था तो फिर माता क्षत्राणी और पिता के क्षत्रिय होने के कारण विश्वामित्र क्षत्रिय हुआ और चरु ने केवल रोग को दूर करने का काम किया।

४. यदि कहो कि वीर्यदान नहीं लिया तो गाधि और ऋचीक की स्त्रियों के गर्भ कैसे ठहरा? क्योंकि मनुस्मृति [९।३३] में लिखा है कि नारी क्षेत्ररूप है और पुरुष बीजरूप है। क्षेत्र और बीज के मिले बिना किसी जीव की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं हो सकती।

५. यदि कहो कि चरु में बीज विद्यमान था, इससे गर्भ ठहर गया तो क्या बीज के खाने से स्त्री के गर्भ ठहरना सम्भव है और क्या मुख की ओर से बीज को प्रविष्ट करने से भी गर्भ ठहर जाता है अथवा चरु को योनि की ओर से ही प्रयुक्त किया गया था?

६. यदि चरु में बीज था तो वह किस प्रकार का बीज था? ऋचीक के शरीर में उत्पन्न वीर्यरूप बीज था अथवा वेदमन्त्रों द्वारा उत्पन्न किया गया विशेष बीज था कि जिसमें ऋचीक के शरीर का भाग सम्मिलित नहीं था?

७. यदि कहो कि ऋचीक के शरीर में उत्पन्न वीर्यरूप बीज था तो वह किस प्रकार से ऋचीक के शरीर से निकाला गया था और ऋचीक के बीज से गाधि की स्त्री में गर्भाधान--जमाई का सास में गर्भाधान किस पुराण की आज्ञानुसार वैध ठहराया जाएगा? और यदि वैध नहीं तो क्या विश्वामित्र को अवैध सन्तान ठहराया जाएगा?

८. एक ही ऋचीक के शरीर से दो प्रकार का वीर्य उत्पन्न होना कैसे सम्भव है, अर्थात् एक क्षत्रिय उत्पन्न करनेवाला और दूसरा ब्राह्मण उत्पन्न करनेवाला?

९. यदि कहो कि ऋचीक के शरीर का कोई भाग इस बीज में विद्यमान नहीं था, अपितु वेदमन्त्रों की शक्ति से ही इस चरु में बीज उत्पन्न किया गया था तो क्या बिना मनुष्य के शरीर के वैसे ही ऐसा बीज तैयार किया जा सकता है जो गर्भ-स्थापन में काम आ सके? और क्या वेदमन्त्रों से किसी वस्तु में ब्राह्मणपन और क्षत्रियपन के गुण उत्पन्न किये जा सकते हैं?

१०. और यदि बिना किसी प्रकार के शारीरिक सम्बन्ध के केवल वेदमन्त्रों से ही ब्राह्मणपन और क्षत्रियपन के गुण उत्पन्न किये जा सकते हैं तो फिर न ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होना आवश्यक रहा और न ही ब्राह्मण का बीज होना आवश्यक रहा और न ही ब्राह्मण का क्षेत्र होना ब्राह्मण बनने के लिए आवश्यक रहा, अपितु जहाँ पर वेदमन्त्रों के द्वारा ब्राह्मणपन और क्षत्रियपन के गुण पैदा कर दिये जाएँ, वही ब्राह्मण और क्षत्रिय है। इससे तो वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार ही सिद्ध हो जाएगी।

११. इन सब बातों की उपेक्षा करके यदि उपर्युक्त कहानी को वैसे ही सच मान लिया

जाए तो भी सनातनधर्म का सिद्धान्त सत्य सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जब कथा में लिखा है कि दोनों ने चरु परिवर्तित कर लिये और वृक्षों के साथ मिलना भी बदल लिया और ऋचीक ने यह भी कह दिया कि तुम्हारी माता के श्रेष्ठ ब्राह्मण पैदा होगा और तुम्हारे कठोर कर्म करनेवाला क्षत्रियपुत्र उत्पन्न होगा, परन्तु इतनी बातों के पश्चात् भी गाधि के घर तो विश्वामित्र ब्राह्मण उत्पन्न हो गया परन्तु ऋचीक के घर कोई भी क्षत्रिय लड़का उत्पन्न नहीं हुआ, यद्यपि ऋचीक की स्त्री गाधि की पुत्री सत्यवती क्षत्राणी थी और परिवर्तन के कारण चरु भी उसने वह प्रयोग किया जो क्षत्रिय-गुणप्रधान था और वृक्ष से मिलना भी परिवर्तित हो चुका था, परन्तु इस सबके पश्चात् भी ऋचीक के जमदग्नि क्षत्रियपुत्र उत्पन्न नहीं हुआ अपितु इसके तीनों ही पुत्र ब्राह्मण उत्पन्न हुए तो उपर्युक्त सारी कथा की बनावट का समझ में आना क्या कठिन है। अतः उक्त कथा सर्वथा असम्भव और मिथ्या है तथा जन्माभिमानी पौराणिक ब्राह्मणों ने विश्वामित्र के क्षत्रिय होते हुए भी इसी शरीर से ब्राह्मण बन जाने की बात पर पर्दा डालने के लिए यह कथा घड़ी है। वास्तविक बात यही है कि गाधि क्षत्रिय था, उसकी स्त्री क्षत्राणी थी और उन दोनों का पुत्र विश्वामित्र भी जन्म से क्षत्रिय था। इसने वर्षों राज्य किया परन्तु बाद में वसिष्ठ के तपोबल को देखकर इसने राज्य छोड़कर ब्राह्मण बनने के लिए तप किया और अन्त में ब्राह्मण के गुण-कर्म-स्वभाव प्राप्त करने पर ब्राह्मण बन गया और वसिष्ठ ने भी इसे अन्त में ब्राह्मण स्वीकार कर लिया। इस सम्बन्ध में ग्रन्थों में प्रमाण भरे पड़े हैं। कई प्रमाण पीछे दिये जा चुके हैं, कुछ प्रमाण और दिये जाते हैं। वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड सर्ग ५१ श्लोक १६ से २० तक में लिखा है—"सुनो, मैं महात्मा विश्वामित्र का चरित्र वर्णन करता हूँ।।१६।। यह विश्वामित्र बहुत समय तक राजा रहा। यह धर्म को जाननेवाला, विद्वान् और प्रजा का पालन करनेवाला था।।१७।। प्रजापति का पुत्र कुश नाम का राजा था और कुश का पुत्र धर्मात्मा और बलवान् कुशनाभ नामवाला था।।१८।।

कुशनाभसुतस्त्वासीद् गाधिरित्येव विश्रुतः। गाधेः पुत्रो महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः।।१९।।
विश्वामित्रो महातेजाः पालयामास मेदिनीम्। बहुवर्षसहस्राणि राजा राज्यमकारयत्।।२०।।

अर्थ—कुशनाभ का पुत्र गाधि प्रसिद्ध था। गाधि का पुत्र महातेजस्वी विश्वामित्र मुनि था।।१९।। महाप्रतापी विश्वामित्र ने पृथिवी की पालना की और कई सहस्र वर्षों तक राज्य किया।

भविष्यपुराण ब्रह्मपर्व १, अध्याय १६ श्लोक ४८ से ६१ तक में लिखा है कि विश्वामित्र ने देवताओं को दुःख देने के उद्देश्य से ब्राह्मण बनने के लिए तप किया, परन्तु इसे ब्राह्मणपन प्राप्त नहीं हुआ, अनेक रुकावटें आ गयीं। अन्ततः उसने तिथियों में अत्युत्तम तिथि प्रतिपदा का व्रत किया, क्योंकि वह ब्रह्मा को प्रिय तिथि थी। तब—

ततो देवो ददौ ब्रह्मा विश्वामित्राय धीमते। इहैव देहेन ब्राह्मणत्वं सुदुर्लभम्।।५८।।
तिथीनां प्रवरा ह्येषा तिथीनामुत्तमा तिथिः।
क्षत्रियो वैश्यशूद्रौ वा ब्राह्मणत्वमवाप्नुयुः।।५९।।

अर्थ—तब देव ब्रह्मा ने बुद्धिमान् विश्वामित्र को यहाँ ही, इसी शरीर से दुर्लभ ब्राह्मणपन दे दिया।।५८।। यह तिथि सब तिथियों में उत्तम है। इसके व्रत से क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सभी ब्राह्मणपन प्राप्त कर लेते हैं।।५९।।

शिवपुराण, उमासंहिता, अध्याय २ श्लोक ३८, तथा अध्याय १२ श्लोक ५३ में एक

ही तात्पर्य के दो श्लोक आते हैं। हम दोनों को नीचे लिखते हैं—

कौशिकश्च समाराध्य शंकरं लोकशंकरम्। ब्राह्मणोऽभूत्क्षत्रियश्च द्वितीयो इव पद्मभूः॥३८॥
विश्वामित्रो गाधिसुतस्तपसैव महामुने। क्षत्रियोऽथाभवद्विप्रः प्रसिद्धं त्रभवे त्विदम्॥५३॥

अर्थ—कौशिक अर्थात् विश्वामित्र जगत् का कल्याण करनेवाले शंकर को प्रसन्न करके क्षत्रिय होते हुए भी दूसरे ब्रह्मा की भाँति ब्राह्मण बन गया॥३८॥ गाधि का पुत्र विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुए भी तप से ही ब्राह्मण बन गया। यह बात तीनों लोकों में प्रसिद्ध है॥५३॥

सारांश यह कि एक नहीं, दो नहीं, सैकड़ों ग्रन्थों के प्रमाण इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किये जा सकते हैं जोकि एक-साथ मिलकर वर्णन कर रहे हैं कि विश्वामित्र क्षत्रिय गाधि का पुत्र था और तप करके ब्राह्मण बन गया। अन्त में हम विश्वामित्र का वचन फिर दोहरा देते हैं जो उसने शिवपुराण में शिवपुत्र के समक्ष कहा था और जिस वचन के मुक़ाबले में अन्यों के झूठे कथन रद्दी की टोकरी में फेंकने के योग्य हैं—

शृणु तात न विप्रोऽहं गाधिक्षत्रियबालकः।
विश्वामित्रेति विख्यातः क्षत्रियो विप्रसेवकः॥ —शिव० रुद्र० कुमार० ३।९

अर्थ—हे प्रिय! सुन, मैं ब्राह्मण नहीं हूँ। मैं गाधिक्षत्रिय का बालक हूँ, विश्वामित्र नाम से प्रसिद्ध हूँ और मैं ब्राह्मणों का सेवक क्षत्रिय हूँ।

अतः उक्त कथा सर्वथा असत्य और आधारहीन है।

पोपजी—यही बात कुल्लूकभट्ट ने टीका में दिखाई है। इन घटनाओं की विद्यमानता में यह कहना कि 'विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये' बहुत भारी भूल है और महाभारत से अनभिज्ञता को प्रकट करता है। लालाजी! इतिहासों को असत्य लिखने से आपकी वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त सिद्ध नहीं होगा। आप वेद का कोई ऐसा मन्त्र बतलाएँ जिसमें कर्म से वर्ण के परिवर्तन का वर्णन हो।

तोपजी—हम इस बात को विस्तारसहित लिख चुके हैं कि कुल्लूकभट्ट विश्वामित्र को जन्म से क्षत्रिय स्वीकार करते थे। उपर्युक्त प्रमाणों की विद्यमानता में यह कहना कि विश्वामित्र जन्म से ब्राह्मण था, जनता की अज्ञानता से लाभ उठाना और विश्वामित्र के गौरव को कम करना है। अब रह गया महाभारत का प्रश्न, सो श्रीमान्‌जी! महाभारत की न पूछिए। वर्त्तमान महाभारत तो मदारी का थैला है, जिसमें प्रत्येक प्रकार की बातों का मिलना सम्भव है, क्योंकि महाभारत भी आप-जैसे पोपों की करतूतों के कारण अनेक बार बालकों की पट्टी बन चुकी है और स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ सिद्ध करने के लिए पता नहीं क्या कुछ कूड़ा-कर्कट घुसेड़ दिया है। इसमें आपका गरुड़पुराण, उत्तराखण्ड, ब्रह्मकाण्ड अध्याय १ श्लोक ६९ प्रमाण है। देखिए, वहाँ पर क्या लिखा है—

दैत्याः सर्वे विप्रकुलेषु भूत्वा कृते युगे भारते षट्सहस्र्याम्।
निष्कास्य कांश्चिन्नवनिर्मितानां निवेशनं तत्र कुर्वन्ति नित्यम्॥

अर्थ—सब राक्षस लोग ब्राह्मणकुलों में उत्पन्न होकर सत्ययुग की छह सहस्र की भारतसंहिता में से कुछ श्लोकों को निकालकर और कुछ नये बनाये हुए श्लोकों को प्रविष्ट करने का कार्य सदा करते रहते हैं।

अब बतलाएँ कि जिस महाभारत से सहस्रों मूल श्लोकों को निकाल दिया गया हो

और सहस्रों नये बनाकर प्रविष्ट कर दिये गये हों तो वह महाभारत प्रमाण के योग्य कैसे माना जा सकता है? हाँ, क्योंकि आप महाभारत को पाँचवाँ वेद मानते हैं, इसलिए आपके लिए वह अक्षरश: प्रमाण हो सकता है। पोपजी महाराज! झूठी और असम्भव गाथाओं को लिखने से आपकी जन्मना वर्ण-व्यवस्था सिद्ध नहीं हो सकती। यदि साहस है तो कर्म से वर्ण-व्यवस्था सिद्ध करनेवाले हमारे द्वारा प्रस्तुत किये गये वेदमन्त्रों के मुक़ाबले में आप कोई एक भी ऐसा वेदमन्त्र प्रस्तुत करें जिससे आपकी जन्मना वर्ण-व्यवस्था सिद्ध हो सके और निरक्षर भट्टाचार्य; पानी पाँडे; अण्डा, मुर्गी और मांस विक्रेता; मद्यपान करनेवाले; मांस-भक्षक, वेश्यागामी; लौंडेबाज तथा मारवाड़ियों की धोती धोनेवाले, बच्चों की टट्टी उठानेवाले, पानी भरने और रोटी पकानेवाले, गधे की भाँति तीजों के सिन्धारे पहुँचानेवाले, नमाज़ पढ़नेवाले, गोमांस खानेवाले, गिरजों में उपदेश करनेवाले, साहब [अंग्रेज़ों] के बूटों को साफ़ करनेवाले, अदालत के चपरासी, बर्तन माँजनेवाले आदि-आदि भी ब्राह्मणकुल में पैदा होने के कारण विश्वामित्र, वसिष्ठ और वाल्मीकि की भाँति ही ब्राह्मण और पूजा के योग्य माने जा सकें।

पोपजी—लाला मनसारामजी ने विश्वामित्र के क्षत्रिय होने का जो प्रमाण दिया था, उसका उत्तर पूर्णरूप से लिखा जा चुका है।

तोपजी—विश्वामित्र के सम्बन्ध में हम पीछे विस्तारपूर्वक लिख आये हैं कि उनका पिता गाधि क्षत्रिय था और उनकी माता क्षत्राणी थी और उनका पुत्र विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय था, बाद में तप करने से ब्राह्मण बन गया। यही बात राजा दशरथ ने कही है—

पूर्वं राजर्षिशब्देन तपसा द्योतितप्रभः॥५४॥

ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि बहुधा मया। तदद्भुतमभूद्विप्र पवित्रं परमं मम॥५५॥

—वा० रा० बाल० १८।५४-५५

अर्थ—आप पहले राजर्षि शब्द से प्रसिद्ध थे, परन्तु तप से आपका तेज बढ़ गया और आप ब्रह्मर्षि पदवी को प्राप्त हो गये, अत: मेरे द्वारा अत्यन्त पूजा के योग्य हैं। हे ब्राह्मण! यह अत्यन्त अद्भुत बात हुई जोकि मुझे परम पवित्र करनेवाली है।

उक्त लेख से पता चलता है कि दशरथ का तात्पर्य स्पष्ट है कि वे विश्वामित्र को जन्म से क्षत्रिय मानते थे, तभी तो उनके ब्राह्मण बनने पर आश्चर्य प्रकट कर रहे हैं। यदि पोपजी के कथनानुसार दशरथ का तात्पर्य माता का दोष दूर करना ही होता तो दशरथ को आश्चर्य करने का कोई अवकाश ही न था, और संस्कृत के शब्दों में भी स्पष्ट लिखा है कि आप राजर्षि थे, तप से ब्रह्मर्षि बन गये, अत: रामायण के उक्त लेख से स्पष्ट सिद्ध है कि रामायणकाल में गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार वर्णों का परिवर्तन माना जाता था।

पोपजी—राजा रोमपाद की पुत्री शान्ता का विवाह ऋष्यशृंग से हुआ। इसके उत्तर में यही लिखना उचित होगा कि मनुस्मृति [३।१३] के अनुसार ब्राह्मणों को चारों वर्णों में विवाह करने का अधिकार प्राप्त है। पूर्वकाल में प्राय: धर्मशास्त्र की आज्ञा के अनुकूल ही राजा लोग अपनी पुत्रियाँ ऋषियों को दे दिया करते थे।

तोपजी—ठीक है, जब राजा लोग अपनी पुत्रियाँ ऋषियों और ब्राह्मणों को दे देते थे तो उन लड़कियों का वर्ण जन्म के अनुसार क्षत्रिय ही रहता था अथवा मनुस्मृति [९।२२] के अनुसार अपने पति के गुणों से पति के अनुकूल ब्राह्मण वर्ण ही हो जाता था? यदि कहो कि उन कन्याओं के जन्म के अनुसार क्षत्रिय वर्ण ही रहता था, तो फिर सनातनधर्म

में सब ऋषि वर्णसंकर ही हो जाते होंगे! अतः मानना पड़ेगा कि कन्याओं का वर्ण ब्राह्मणों के साथ विवाह हो जाने पर ब्राह्मण ही हो जाता था। इसीलिए तो इन लड़कियों की पूजा सब स्थानों पर ब्राह्मणवर्ण के अनुसार ही होती थी। देखो वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग १० श्लोक ३२ में जब राजा रोमपाद ने अपनी पुत्री शान्ता का विवाह ऋष्यशृंग ब्राह्मण से कर दिया तो फिर बालकाण्ड, सर्ग ११ श्लोक १९-२० में लिखा है कि पति-पत्नी-इन दोनों को राजा दशरथ ने पुत्रेष्टियज्ञ करने के लिए बुलाया, और श्लोक ३०-३१ में लिखा है कि शान्ता की खूब पूजा की गयी—

अन्तःपुराणि सर्वाणि शान्तां दृष्ट्वा तथागतम्। सह भर्त्रा विशालाक्षीं प्रीत्यानन्दमुपागमन्॥३०॥
पूज्यमाना तु ताभिः सा राज्ञा चैव विशेषतः। उवास तत्र सुखिना किञ्चित्कालं सह द्विजा॥३१॥

अर्थ—रूपवती शान्ता को अपने पति के साथ आई हुई देखकर महल की सब रानियाँ प्रीति से आनन्द को प्राप्त हो गयीं॥३०॥ इन रानियों से और विशेषकर राजा से पूजा को प्राप्त होती हुई शान्ता कुछ समय तक अपने पति के साथ वहाँ ही रही।

रामायण के इस लेख से स्पष्ट सिद्ध है कि जिन राज-कन्याओं का विवाह ब्राह्मणों के साथ हो जाता था, वे कन्याएँ ब्राह्मण ही बन जाती थीं और ऐसे विवाहों को किसी भी प्रकार की घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था, अन्यथा राजा रोमपाद की पुत्री शान्ता के साथ विवाह होने के पश्चात् ऋष्यशृंग को राजा दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ में प्रधानाचार्य बनाकर उनका आदर-सम्मान न किया जाता, अतः गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार वर्णों के परिवर्तन का सिद्धान्त अटल है और क्षत्राणी शान्ता का ऋष्यशृंग से विवाह होकर ब्राह्मण बनना इसमें पुष्ट प्रमाण है।

पोपजी—वाल्मीकि रामायण में श्रवणकुमार को कहीं ब्राह्मण नहीं लिखा। वे वैश्यकुल के थे। उनके ब्राह्मण होने का रामायण में तो क्या किसी भी ग्रन्थ में चर्चा तक नहीं है। झूठे प्रमाण देकर जनता को धोखा देना महापाप है।

तोपजी—झूठे प्रमाण देना और जनता को धोखे में रखना हमारा काम नहीं, यह काम आपका है कि किसी पुस्तक का नाम लिखकर वैसे ही ऊटपटाँग लिख देना। और दूसरे ग्रन्थों की यहाँ क्या चर्चा है, हम आपको रामायण में से ही श्रवणकुमार का ब्राह्मण होना सिद्ध कर देंगे। यह ठीक है कि वे वैश्यकुल में उत्पन्न हुए और उनकी माता शूद्रा थी, परन्तु श्रवणकुमार गुण-कर्म-स्वभाव से ब्राह्मण ही नहीं अपितु ऋषि-मुनि और महर्षि बन गया था। दशरथ का बाण लगने पर घायल होकर श्रवणकुमार ने सोचा—

ऋषेर्हि न्यस्तदण्डस्य वने वन्येन जीवतः॥२७॥
कथं नु शस्त्रेण वधो मद्विधस्य विधीयते॥२८॥ —वा० रा० अयो० ६३।२७-२८

अर्थ—मेरे जैसे दण्डत्यागी, जंगल में फलों से निर्वाह करनेवाले ऋषि का शस्त्र से कोई कैसे वध कर सकता है?

इस श्लोक में श्रवणकुमार ने अपने-आपको ऋषि कहा है।

इससे आगे राजा दशरथ कहते हैं—

तस्याहं करुणं श्रुत्वा ऋषेर्विलपतो निशि॥३४॥
संभ्रान्तशोकवेगेन भृशमासं विचेतनः॥३५॥
—वा० रा० अयो० सर्ग ६३

अर्थ—रात्रि में उस ऋषि का करुण विलाप सुनकर मैं शीघ्र ही शोक से पागल-सा होकर बेहोश हो गया।

इस श्लोक में राजा दशरथ श्रवणकुमार को ऋषि स्वीकार करते हैं।

वाल्मीकि ऋषि कहते हैं कि राजा दशरथ मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए कौसल्या को यह कथा सुना रहे थे—

वधमप्रतिरूपं तु महर्षेस्तस्य राघवः। विलपन्नेव धर्मात्मा कौसल्यामिदमब्रवीत्॥

—वा० रा० अयो० ६४।१

अर्थ—रघुकुल में उत्पन्न धर्मात्मा राजा दशरथ रोते हुए उस महर्षि के कष्टप्रद वध का वृत्तान्त कौसल्या को सुना रहा है।

इस श्लोक में वाल्मीकि ने स्वयं श्रवणकुमार को महर्षि स्वीकार किया है।

राजा दशरथ ने जब यह वृतान्त श्रवणकुमार के पिता को सुनाया तो वह बोला—

सप्तधा तु भवेन्मूर्धा मुनौ तपसि तिष्ठति। ज्ञानाद्विसृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि॥

—वा० रा० अयो० ६४।२४

अर्थ—तप में बैठे हुए ब्रह्मवादी मुनि पर ज्ञानपूर्वक शस्त्र छोड़नेवाले का मस्तक सात टुकड़े हो जाए।

इस श्लोक में श्रवणकुमार का पिता उसे ब्रह्मवादी, मुनि और तपस्वी स्वीकार करता है।

उपर्युक्त प्रमाणों में श्रवणकुमार के लिए ऋषि, महर्षि, ब्रह्मवादी और मुनि शब्द आये हैं।

ऋषि-महर्षि उसे कहते हैं जो वेद के मन्त्रों का साक्षात्कार करके उपदेश करे।

—निरुक्त अ० १।खं० २०

मुनि—वेद के वास्तविक अर्थ को जाननेवाले का नाम मुनि है।

—सिद्धान्तकौमुदी, आरम्भिक श्लोक की टीका

ब्रह्मवादी—वेद को जानकर उसका उपदेश करनेवाला ब्रह्मवादी कहाता है।

क्योंकि उपर्युक्त सब विशेषण ब्राह्मण के अतिरिक्त और किसी व्यक्ति के साथ प्रयुक्त नहीं हो सकते, अतः श्रवणकुमार ब्राह्मण था।

पोपजी—श्रवण के पिता का दशरथ से ब्रह्महत्या का निषेध करना यह सिद्ध नहीं करता कि श्रवणकुमार वैश्यकुल में उत्पन्न होकर ब्राह्मण बन गया, अपितु उनका कहना यह है कि दशरथ! तुमने अनजानपने में श्रवणकुमार को मारा है, अतः तुम्हें ब्रह्महत्या का पाप नहीं लगेगा, आदि-आदि।

तोपजी—यदि वाल्मीकि रामायण में लिखा होता कि—"हे दशरथ! तुमने अनजानपने में श्रवणकुमार को मारा है, अतः तुम्हें ब्रह्महत्या का पाप नहीं लगेगा" तो हम आपकी बात को स्वीकार कर लेते और आपके गवाह पं० कृपारामजी की गवाही को भी सुन लेते, परन्तु यहाँ तो यह बात ही नहीं है, अपितु यहाँ तो स्पष्ट लिखा है—

अज्ञानात्तु हतो यस्मात्क्षत्रियेण त्वया मुनिः। तस्मात्त्वां नाविशत्याशु ब्रह्महत्या नराधिप॥

—वा० रा० अयो० ६४।५५

अर्थ—हे राजन्! क्योंकि तूने क्षत्रिय होते हुए अज्ञान से इस मुनि को मारा है, अतः

यह ब्रह्महत्या तुझमें शीघ्र प्रवेश नहीं करती।

इस पाठ को पढ़कर बताइए कि यहाँ पर आपका आविष्कार किस काम आ सकता है? यहाँ तो ब्रह्महत्या के पाप की चर्चा नहीं अपितु ब्रह्महत्या का ही वर्णन है और क्षत्रिय शब्द के समक्ष मुनि शब्द रखकर वाल्मीकिजी ने और भी स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ पर क्षत्रिय के हाथ से ब्राह्मण के ही वध का वर्णन है। ब्रह्महत्या केवल इसलिए नहीं लगी कि अनजानपने में ब्राह्मण को मारा था, अन्यथा यदि जानकर मारता तो अवश्य ही ब्रह्महत्या लग जाती। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रवणकुमार के मारने पर ब्रह्महत्या की चर्चा श्रवणकुमार को ब्राह्मण स्वीकार करके ही हुई है, क्योंकि श्रवणकुमार की माता शूद्रा और पिता वैश्य था और श्रवणकुमार गुण-कर्म-स्वभाव से ब्राह्मण बन गया था। इससे गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्ण-परिवर्तन स्पष्ट सिद्ध है।

पोपजी—प्रतीत होता है कि ला० मनसारामजी ने महाभारत को देखा तक नहीं।

तोपजी—'उलटा चोर कोतवाल को डाँटे' वाली कहावत आपपर चरितार्थ होती है। झूठे इतिहास आप लिख दिया करें और महाभारत के न देखने का दोष हमपर लगा दिया करें।

पोपजी—यदि उन्होंने महाभारत पढ़ा होता और भविष्यपुराण के तत्त्वों का मनन किया होता तो ऐसे झूठे इतिहास बनाकर पुराणों को बदनाम करने का प्रयत्न न करते।

तोपजी—किसी ने पूछा कि नाई बाल कितने बड़े? उसने उत्तर दिया—यजमान! तुम्हारे सामने आ जाते हैं। इस उदाहरण के अनुसार अभी पता लग जाता है कि महाभारत का मनन हमने किया है या आपने, और भविष्पुराण को हमने समझा है या आपने, और झूठे इतिहास बनाने का हमारा स्वभाव है अथवा कल्पित कथा घड़कर जान बचाने का स्वभाव आपका है।

पोपजी—हम व्यास आदि की उत्पत्ति के इतिहासों को लिखते हैं।

तोपजी—हम भी इसी प्रतीक्षा में हैं कि आप क्या पैंतरा बदलते हैं।

पोपजी—[1]महाभारत आदिपर्व, अध्याय ९० और देवीभागवत स्कन्ध १२, अध्याय प्रथम।

तोपजी—हमने महाभारत का प्रमाण दिया है। वहीं से लिखें। देवीभागवत से कल्पित कथा घड़कर जान छुड़ाने का प्रयत्न न करें। हम आपकी चालों को अच्छी प्रकार से समझते हैं, इस प्रकार दाव बचाकर भागने न देंगे।

पोपजी—उपरिचर नामक एक देवता स्वर्गलोक से मर्त्यलोक में उत्पन्न हुआ। वह चेदिनगर (अर्थात् चन्देरी) में राज्य करता था। उसकी पुत्री का विवाह मल्लाह के यहाँ हुआ था। इस राजकुमारी से ही महर्षि पराशरजी ने योगशक्ति अर्थात् मानसिक शक्ति से व्यासजी को उत्पन्न किया था।

तोपजी—बस, इसी ईमानदारी पर इतरा रहे थे कि सत्यवती की उत्पत्ति को मछली-सहित ही हड़प कर गये? क्या कहीं मनुस्मृति के अनुसार पितरों को दो मास के लिए तृप्त करने की आवश्यकता पड़ गयी थी? अन्यथा जनता को धोखा देने के लिए इस अधूरी कथा को

१. अध्याय ९० में व्यास की उत्पत्ति का उल्लेख तक नहीं है। हाँ, गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित आदिपर्व के ६३ वें अध्याय में एक असम्भव, अश्लील और गप्पपूर्ण कथा अवश्य है। —जगदीश्वरानन्द

लिखने की क्या आवश्यकता थी?

लीजिए, हम महाभारत से सत्यवती की उत्पत्ति की वास्तविक कथा लिखते हैं। देखिए, महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ६३ [मुरादाबादी टीका]—

उपरिचर नामक एक राजा था। वह धर्मात्मा शिकार खेलने का व्यसनी था। यह राजा वसु के नाम से भी प्रसिद्ध था। इसकी पत्नी का नाम गिरिका था। एक दिन उसकी स्त्री ऋतुस्नान से निवृत्त होकर राजा से कहने लगी—"हे राजन्! आज समागम का अवसर है।" राजा भी स्नान करके गर्भाधानसंस्कार के लिए तैयार हुआ, परन्तु उसी समय पितरों ने उसे विवश किया कि तुम हिंसक पशुओं को मारने के लिए वन में जाओ। पितरों की आज्ञा को स्वीकार करते हुए राजा अपनी स्त्री का चिन्तन करते हुए वन में चला गया और अपनी स्त्री का ध्यान करता हुआ वन में इधर-उधर विचरने लगा। वन के फूलों की सुगन्ध से वह राजा बेबस हो गया और फिरते-फिरते उसका वीर्य स्खलित हो गया। राजा ने झट अपनी मणि [वीर्य] को पत्ते में बन्द करके एक बाज से कहा कि इस वीर्य को मेरे गृह पर मेरी पत्नी के पास पहुँचा दो। बाज उसे चोंच में दबाकर उड़ता हुआ यमुना नदी के ऊपर से जा रहा था कि दूसरे बाज ने उसके मुख में मांस का टुकड़ा समझकर उसके साथ लड़ाई कर ली। चोंचा-चोंची होने में वह बीज यमुना के पानी में गिर पड़ा। उसे एक मछली ने निगल लिया। इससे मछली के गर्भ रह गया। जब दस मास होने को आये तो धीवरों अर्थात् मछलीमारों ने उसे पकड़ लिया और जब उसे चीरा तो उसके पेट से एक कन्या और एक पुरुष निकला। मछलीमारों ने उन दोनों को राजा के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। राजा ने उस पुरुष को रख लिया जो बाद में मत्स्य नाम का प्रतापी राजा हुआ और बदबू के कारण लड़की राजा ने मछलीमार मल्लाह को दे दी कि यह तुम्हारी पुत्री होगी। यह लड़की अत्यन्त सुन्दरी थी। इसके शरीर से मछली की गन्ध आती थी, अतः इसका नाम मत्स्यगन्धा था। इसी का नाम सत्यवती था।

एक बार तीर्थ-यात्रा करते-करते पराशर ऋषि यमुना के किनारे आ पहुँचे और उस युवति, अत्यन्त सुन्दरी, मल्लाह की पुत्री को नौका चलाते हुए ऋषि पराशर ने देखा। वे उस कन्या पर मुग्ध हो गये और उससे इस प्रकार कहने लगे—

सङ्गमं मम कल्याणि कुरुष्वेत्यभ्यभाषत। साब्रवीत् पश्य भगवन् पारावारे स्थितानृषीन् ॥७२॥
आवयोर्दृष्टयोरेभिः कथं तु स्यात् समागमः। एवं तयोक्तो भगवान् नीहारमसृजत् प्रभुः ॥७३॥
येन देशः स सर्वस्तु तमोभूत इवाभवत्। दृष्ट्वा सृष्टं तु नीहारं ततस्तं परमर्षिणा ॥७४॥
विस्मिता साभवत् कन्या व्रीडिता च तपस्विनी ॥७५॥

—महा० आदि० अध्याय ६३, टीका पं० रामस्वरूपजी, मुरादाबादी

अर्थ—हे कल्याणि! तू मेरे साथ समागम कर। ऋषि के ऐसे वचन सुनकर सत्यवती ने उत्तर दिया कि—भगवन्! देखो, इन दोनों किनारों पर बहुत-से मुनि और ऋषि खड़े हैं, इन सबके देखते हुए हमारा संगम कैसे हो सकता है? उसके ऐसे कथन को सुनकर समर्थ भगवान् पराशर ने कुहरा रच दिया। इससे उस स्थान पर अँधेरा हो गया। उस परम ऋषि के उत्पन्न किये हुए कुहरे को देखकर वह कन्या चकित और लज्जित हुई।

पुनः उस लड़की ने कहा—हे महाराज! आपके साथ समागम करने से मेरा कन्यापन नष्ट हो जाएगा, फिर मैं क्या मुँह लेकर घर जाऊँगी? इस बात को सोचकर जो उचित हो सो करो। पराशर ने कहा—तू मेरा काम पूरा करने पर भी फिर कन्या ही बन जाएगी। तब

ऋषि ने कहा--कोई वर माँग। सत्यवती ने कहा कि--मेरा शरीर सुगन्धित हो जाए। ऋषि ने उसकी इच्छा के अनुसार वर दिया और इसके शरीर से चार-चार कोस तक सुगन्ध फैलने लगी। इससे उसका नाम योजनगन्धा हो गया। फिर--

ततो लब्धवरा प्रीता स्त्रीभावगुणभूषिता। जगाम सह संसर्गमृषिणाद्भुतकर्मणा ॥८१॥
पराशरेण संयुक्ता सद्यो गर्भं सुषाव सा। जज्ञे च यमुनाद्वीपे पाराशर्यः स वीर्यवान् ॥८४॥

--महा० आदि० ६३।८१, ८४

अर्थ--इस वर के मिलने पर वह प्रसन्न हुई और स्त्रीभाव के गुण से भूषित हुई, अर्थात् ऋतुमती हो गयी। उसने अद्भुत कर्मवाले मुनि के साथ अत्यन्त आनन्द से समागम किया॥८१॥

इसके पश्चात् पराशर के साथ समागम करने से सत्यवती गर्भवती हुई और यमुना के द्वीप (टापू) में पराशर मुनि के देखते हुए ही उसके सन्तान उत्पन्न हुई और वे महावीर्यवान् व्यासजी उत्पन्न हुए॥८४॥

द्वीप में उत्पन्न होने के कारण व्यासजी का नाम द्वैपायन हुआ और वे अपनी माता को यह कहकर कि यदि कभी कोई कार्य हो तो स्मरण करना, तप करने चला गया।

महाभारत में सत्यवती और व्यासजी की उत्पत्ति की यह कथा लिखी हुई है। इस कथा में न तो किसी देवता के स्वर्गलोक से मर्त्यलोक में आने की चर्चा है और न ही व्यासजी की उत्पत्ति में योगशक्ति के प्रयोग का कोई चिह्न है, प्रत्युत यहाँ तो स्पष्ट ही मैथुन का वर्णन है। तथापि, हम आपकी इन दोनों बातों को सम्मिलित करके इस कथा की समालोचना करते हैं। पाठक ध्यानपूर्वक पढ़कर आनन्द लूटें--

१. यदि राजा उपरिचर मनुष्यशरीर धारण करने से पूर्व स्वर्ग का देवता भी हो तो इससे आपका कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता है? जब मनुष्य-शरीर में आ गया तो वह मनुष्य है और सारा संसार उसे मनुष्य ही समझता था।

२. क्या यह सम्भव है कि वन में घूमते-घूमते ही राजा स्खलित हो गया हो और क्या यह रोग पौराणिक देवताओं, ऋषियों और राजाओं को स्थायी है कि जहाँ अवसर मिला, झट धोती अपवित्र होती हुई दिखाई पड़ी?

३. यदि वह स्खलित हुआ वीर्य राजा के घर पहुँच भी जाता तो क्या उससे रानी को गर्भ होना सम्भव हो सकता था? आपके विचार में उस वीर्य का प्रयोग कैसे किया जाता? इसे भोजन के रूप में प्रयुक्त किया जाता या पिचकारी के द्वारा योनि में प्रविष्ट करने की विधि अपनानी पड़ती?

४. मछली अण्डज है और मनुष्य जरायुज है। क्या जरायुज मनुष्य के बीज से अण्डज मछली में गर्भ स्थापित होना सम्भव हो सकता है? मनु महाराज तो इसका निषेध करते हैं और कहते हैं--

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति। अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत्॥

--मनु० १०।७१

अर्थ--अयोग्य क्षेत्र में बोया हुआ बीज फल देने से पूर्व ही नष्ट हो जाता है और बिना बीज के क्षेत्र भी केवल कल्लर ही रह जाता है।

अतः मनुष्य के बीज के लिए मछली का क्षेत्र अयोग्य है। इससे मनुष्य की उत्पत्ति

होना सर्वथा असम्भव है।

५. मछली के पेट में तो लड़का और लड़की को पूर्ण बनने के लिए दस मास की आवश्यकता पड़ी, परन्तु सत्यवती के पेट से व्यासजी उत्पन्न होते ही तुरन्त ही पूर्ण होकर तप करने के लिए बन को चले गये।

६. राजा के सामने मल्लाहों ने लड़का और लड़की दोनों प्रस्तुत किये। यदि राजा को यह ज्ञान था कि ये दोनों मेरे ही बीज से हैं तो फिर लड़के को रखकर लड़की मछलीमारों को क्यों दे दी? यदि कहो कि पालन-पोषण के लिए, तो जहाँ लड़के का पालन-पोषण राजमहलों में हो सकता था, वहाँ लड़की के पालन-पोषण में क्या रुकावट थी? यदि कहो कि दुर्गन्ध के कारण दे दी तो जब लड़का और लड़की दोनों ही मछली से पैदा हुए थे तब क्या केवल लड़की के शरीर में ही दुर्गन्ध थी, लड़के के शरीर में नहीं थी? और फिर दुर्गन्ध होने के कारण से क्या लड़की को दूसरों को सौंपना उचित हो सकता है?

७. पराशर का ऋषि होते हुए एक लड़की पर आसक्त होना भी ऋषिपन को कलङ्कित करनेवाला ही था।

८. उसी समय कुहरा उत्पन्न करना यह एक और असम्भव बात है। क्या पहले संसार में कुहरा नहीं था?

९. लड़की उसी समय ऋतुमती हुई तो कम-से-कम तीन दिन के पश्चात् गर्भाधान करना चाहिए था, परन्तु पराशर ने उसी समय ही समागम करके मर्यादा भंग की जो दण्डनीय अपराध है।

१०. वेदव्यास का उसी समय पैदा होना, वर देना और तप के लिए चले जाना भी असम्भव बात है।

सारांश यह कि सारी कथा ही प्रकृति-नियम के विरुद्ध होने से असम्भव है। वास्तविक बात यह प्रतीत होती है कि सत्यवती मल्लाह की कन्या थी और पराशर के साथ संयोग होने से व्यासजी उत्पन्न हुए। एक मल्लाह की कन्या से व्यास की उत्पत्ति जन्माभिमानी ब्राह्मणों को उत्तम प्रतीत नहीं हुई, अतः लड़की को उपरिचर की कन्या सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त कथा घड़कर महाभारत में मिलाई गयी। इस बात की पुष्टि भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व, अध्याय ४२, श्लोक २२ में की गयी है–

जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः श्वपाक्याश्च पराशरः॥२२॥

अर्थ–व्यासजी मल्लाह-स्त्री के पेट से और पराशरजी चाण्डालिन के पेट से पैदा हुए। इसमें पिता-पुत्र दोनों की उत्पत्ति का उल्लेख है। कैवर्त किसे कहते हैं, तनिक अमरकोश का अवलोकन कीजिए–

कैवर्ते दाशधीवरौ। –अमर० १।१०।१५

अर्थ–कैवर्त, दाश, धीवर–ये तीन नाम मल्लाह के हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि भविष्यपुराण के कर्त्ता व्यासजी अपने को स्वयं कैवर्त के पेट से उत्पन्न हुआ स्वीकार कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त कुल्लूकभट्टजी मनु० अध्याय ९, श्लोक २४ की टीका में लिखते हैं–

एताश्चान्याश्च सत्यवत्यादयो निकृष्टप्रसूतयः स्वभर्तृगुणैः प्रकृष्टैरस्मिँल्लोके उत्कृष्टतां प्राप्ताः॥

अर्थ–ये भी और सत्यवती आदि नीच कुल में उत्पन्न हुई अन्य स्त्रियाँ भी

अपने-अपने पति के गुणों से उच्चपन को प्राप्त हो गयीं।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि कुल्लूकभट्ट सत्यवती को धीवर की पुत्री मानता था, अन्यथा उसे नीच कुल में उत्पन्न हुई क्यों लिखता।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध है कि सत्यवती धीवर की कन्या थी और उपर्युक्त कथा केवल कपोल-कल्पित ही है।

पोपजी—महर्षि पराशर ने सत्यवती से भोग नहीं किया था, अपितु आध्यात्मिक शक्ति से व्यासजी को उत्पन्न किया था।

तोपजी—आप जितनी कहेंगे बिना सिर-पैर की अनोखी ही कहेंगे। भला! यह तो बताइए, जब महाभारत में स्पष्ट शब्दों में उपर्युक्त कथा में लिखा हुआ विद्यमान है कि पराशर ने सत्यवती से समागम किया तो आपका आध्यात्मिक शक्ति की रट लगाना केवल पागलपन से अधिक कुछ मूल्य नहीं रखता। दूसरे, सत्यवती का दोनों तटों पर ऋषियों की विद्यमानता में समागम असम्भव बताना और पराशर का कुहरा उत्पन्न करके अँधेरा उत्पन्न करना स्पष्ट बताता है कि भोग किया था, अन्यथा आध्यात्मिक शक्ति के लिए अँधेरा उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता थी? तीसरे, सत्यवती का यह कहना कि मेरा कन्यापन नष्ट होने से मैं घर पर जाकर क्या मुँह दिखाऊँगी, स्पष्ट प्रकट करता है कि भोग किया, अन्यथा अध्यात्म शक्ति से कन्यापन कैसे बिगड़ता? चौथे, यदि भोग न करना था तो उसी समय ऋतुमती होने की क्या आवश्यकता थी? क्या आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग करने के लिए ऋतुमती होने की आवश्यकता बनी रहती है? पाँचवें, हम ऊपर दिखा आये हैं कि बिना बीज के खेत कल्लर ही रहता है, कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता, तो फिर सत्यवती को बिना बीज के गर्भ कैसे ठहर गया? यदि कहो कि योग की शक्ति के द्वारा बीज अन्दर पहुँचाया, तो क्या आध्यात्मिक शक्ति से किसी स्त्री के अन्दर बिना भोग वीर्य प्रविष्ट किया जा सकता है? यदि हाँ, तो यह भी भोग ही है। किसी ने लिङ्गेन्द्रिय द्वारा बीज अन्दर पहुँचा दिया तो किसी ने आध्यात्मिक शक्ति से, केवल साधन का अन्तर रह गया, भोग दोनों अवस्थाओं में बराबर है। और छठे, यदि ऋषि को अपनी आध्यात्मिक शक्ति का प्रदर्शन ही करना था तो बेचारी कुमारी कन्या सत्यवती को ही अभ्यास का पात्र क्यों बनाया गया? नौका से, दण्डे से, पानी से, वायु आदि से आध्यात्मिक शक्ति द्वारा व्यासजी को उत्पन्न कर देते। यह बात सर्वथा असत्य है कि पराशर ने योग की आध्यात्मिक शक्ति से व्यास को उत्पन्न किया, अपितु सर्वथा सत्य यह है कि व्यास को भोग द्वारा वीर्यदान से उत्पन्न किया। इसका समर्थन कुल्लूक भट्टजी भी मुनस्मृति अध्याय ९, श्लोक ३४ की टीका में करते हैं कि कहीं बीज प्रधान होता है—

तथा व्यासऋष्यशृंगादयो बीजिनामेव सुताः।

अर्थ—जैसे व्यास और ऋष्यशृंग आदि बीजवाले पराशर और विभाण्डक के ही पुत्र कहलाये।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि कुल्लूकभट्टजी व्यासजी की उत्पत्ति को वीर्यदान से मानते थे। यद्यपि उपर्युक्त कथा में व्यासजी स्वयं ही अपनी उत्पत्ति भोग से मानते हैं; तथापि, हम इस बारे में सत्यवती की साक्षी को अधिक विश्वसनीय मानते हैं और जबकि उस साक्षी को लिखनेवाला भी सत्यवती का पुत्र व्यास ही हो तो वह साक्षी सोने पर सुहागे का काम देगी। देखिए, महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १०५, श्लोक ६ से १५ तक में

सत्यवती भीष्म से कह रही है—"पहले मेरे धर्मात्मा पिता की एक नौका थी। पिता की आज्ञा से इस नौका को मैं यमुना नदी में चलाया करती थी। एक बार पराशर ऋषि यमुना पार करने के लिए मेरी नौका में बैठे। उस समय मेरे यौवन और सौन्दर्य को देखकर ऋषि काम के वशीभूत हो गये। तब ऋषि मेरे समीप आये और अपना कुल–गौत्र मुझे बताने लगे। तब मैंने उनसे कहा कि महाराज! मैं तो मल्लाह की लड़की हूँ। तब उन्होंने वरदान देकर मुझे लोभ में डाल दिया। तब मैं शाप के डर से और पिता के डर से उन्हें मना न कर सकी, तब—

अभिभूय स मां बालां तेजसा वशमानयत्। तमसा लोकमावृत्य नौगतामेव भारत॥

—गीताप्रेस संस्करण, आदि० १०४।११

अर्थ—"हे भारत! संसार को अन्धकार से ढककर ऋषि ने मुझ बालिका को, इच्छा न होने पर भी नौका में ही अपने तेज से अपने वश में कर लिया।

फिर मेरे शरीर से दुर्गन्ध को दूर करके सुगन्धित बना दिया और कहने लगे कि मेरे इस गर्भ को यमुना के उस टापू में छोड़ दे। तेरे सन्तान होने पर भी तेरा कन्यापन नष्ट नहीं होगा। उस मेरी कन्या अवस्था में पराशर मुनि से उत्पन्न हुआ महायोगी पुत्र द्वैपायन व्यास नाम से प्रसिद्ध है।"

अब कहिए, माता और पुत्र दोनों तो यह कह रहे हैं कि पराशर ने सत्यवती के साथ सम्भोग के द्वारा नौका में ही अँधेरा करके वीर्यदान दिया, और आप योग और आध्यात्मिक शक्ति की टाँग तोड़ रहे हैं! संसार आपकी मानेगा या व्यास और उसकी माता की?

पोपजी—व्यासजी महर्षि पराशर के मानसिक पुत्र होने के कारण जन्म से ब्राह्मण थे, तप से या कर्मों से ब्राह्मण नहीं बने। सनातनधर्म धर्मशास्त्रों के अनुसार वीर्य को ही प्रधान मानता है। देखो, मनुस्मृति अध्याय ९, जिसमें वीर्य के प्रभाव से तिर्यक् योनि में उत्पन्न हुए ऋषि अत्यन्त पूज्य और प्रतापी हुए, अतः वीर्य की ही प्रशंसा है क्षेत्र की नहीं।

तोपजी—यह बात तो हम अच्छी प्रकार सिद्ध कर चुके हैं कि पराशर ने सत्यवती से सम्भोग द्वारा ही व्यासजी को उत्पन्न किया, और हम पीछे यह भी अच्छी प्रकार सिद्ध कर आये हैं कि सनातनधर्म में केवल बीज को ही प्रधान नहीं माना जाता, अपितु कहीं क्षेत्र को भी प्रधान माना जाता है, जैसाकि भविष्यपुराण में व्याधकर्मा और महाभारत में ब्राह्मणों से क्षत्रियों के वंश चालू होने के उदाहरण हम दे चुके हैं; परन्तु यहाँ तो वीर्य की प्रधानता का भी प्रश्न नहीं, क्योंकि जब आप मानते हैं कि पराशर ने न तो सत्यवती से भोग किया और न ही वीर्यदान दिया तो फिर वीर्यप्रधान होने से व्यासजी ब्राह्मण कैसे बन गये? और फिर यह तो बताएँ कि यदि व्यासजी बीजप्रधान होने से जन्म से ही ब्राह्मण थे, तप से और कर्म से नहीं बने, तो फिर आप यह कैसे मानते हैं कि जिसका बीज ब्राह्मण का हो वह जन्म से ही ब्राह्मण गिना जाता है, उसे तप और कर्म करके ब्राह्मण बनने की आवश्यकता नहीं? अब ऐसी अवस्था में विश्वामित्रजी भी जन्म से ब्राह्मण क्यों नहीं बन गये, जबकि आपके विचार से वे ब्राह्मण के बीज से ही उत्पन्न हुए थे? उन्हें क्षत्राणी माता के क्षेत्र का दोष दूर करने के लिए पन्द्रह सहस्र वर्ष तप क्यों करना पड़ा, जैसाकि आपने अपनी पुस्तक के पृष्ठ ८३, पंक्ति १७ में लिखा है—"इसलिए विश्वामित्र उत्पत्ति से ही ब्राह्मण थे, परन्तु क्षत्राणी के गर्भ से पैदा होने का क्षेत्रज दोष उन्होंने पन्द्रह सहस्र वर्ष तक कठोर तप करने से दूर किया।"

कहिए, आपके विचार के अनुसार विश्वामित्र की उत्पत्ति में माँ क्षत्राणी और पिता ब्राह्मण था और व्यासजी की उत्पत्ति में भी माता उपरिचर क्षत्रिय की कन्या क्षत्राणी और पिता ब्राह्मण पराशर था। जब दोनों में क्षेत्र क्षत्राणि का और बीज ब्राह्मण का था, तो फिर व्यासजी केवल जन्म से ब्राह्मण बन गये, तप और कर्म से नहीं, और विश्वामित्र को माता के दोष को दूर करने के लिए पन्द्रह सहस्र वर्ष तक तप करना पड़ा, यह अन्तर क्यों?

पुनः आप मनुस्मृति, अध्याय १०, श्लोक ६५ पर समालोचना करते हुए पृष्ठ ८० पर लिखते हैं कि बीज ब्राह्मण होने पर भी सात पीढ़ियों में ब्राह्मण बनता है, जैसाकि पृष्ठ ८०, पंक्ति ६ में आप लिखते हैं--"ब्राह्मण का वीर्य होते हुए भी केवल स्त्री के ब्राह्मण न होने पर छह पीढ़ियों में सन्तान पूर्ण रूप से इस क्षेत्र के दोष को दूर करके ब्राह्मण बन सकती है।" कहिए, इन सब बातों में से कौन-सी सच्ची है? आपने सनातनधर्म को भी विचित्र गोरखधन्धा बना रक्खा है। कहीं कहते हैं--(१) छह पीढ़ियों में क्षेत्रदोष दूर होता है, (२) कहीं कहते हैं विश्वामित्र ने पन्द्रह हजार वर्ष तप करके क्षेत्रज दोष दूर किया था, (३) कहीं कहते हैं कि वीर्य प्रधान है, व्यासजी वीर्यप्रधान होने से जन्म से ही ब्राह्मण बन गये और (४) धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुरजी ब्राह्मण व्यास का वीर्य होते हुए भी क्षत्रिय रहे। व्याधकर्मा ब्राह्मणी के पेट से व्याध का बीज होने पर भी ब्राह्मण बन गया और क्षत्राणियों से ब्राह्मणों ने सन्तान उत्पन्न करके क्षत्रियों के वंशों को चलाया। यहाँ पर भी क्षेत्र प्रधान होने से सन्तति क्षत्रिय बनी, अर्थात् इन सब उदाहरणों में क्षेत्र को प्रधान माना गया। (५) कहीं मनुस्मृति अध्याय १०, श्लोक ७२ में, "जिसका कि आपने पता ग़लत लिखा है, केवल अध्याय ९ लिखकर छोड़ दिया है"; लिखा है कि क्योंकि नीच योनियों में उत्पन्न हुए भी बीज के प्रभाव से ऋषि बन गये, इसलिए बीज प्रधान है, आदि-आदि। यह सारा क्या गोरखधन्धा है? आप क्यों किसी एक सिद्धान्त पर दृढ़ता से स्थिर नहीं रहते? इस भूल-भूलैया के तमाशे पौराणिक सिद्धान्त को छोड़ो और वैदिक धर्म की शरण में आकर, एक दृढ़ सिद्धान्त पर स्थिर होकर इस जंजाल से छुटकारा पाओ कि न बीज प्रधान है और न क्षेत्र प्रधान है, अपितु गुण-कर्म-स्वभाव ही प्रधान है।

वस्तुतः व्यासजी की माता मल्लाह की पुत्री थी तथा पिता ब्राह्मण था और व्यासजी गुण-कर्म-स्वभाव से ब्राह्मण बने।

पोपजी--इसलिए महर्षि पराशर के अलौकिक तेज के मानसिक पुत्र व्यास जन्म से ही ब्राह्मण माने जाते हैं और क्षत्रिय-कुलभूषण महाराजा शन्तनु के औरस पुत्र होने से चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य-- ये क्षत्रिय हुए।

तोपजी--हम सिद्ध कर चुके हैं कि सत्यवती मल्लाह की पुत्री थी। इसी सत्यवती से पराशर ने नौका में सम्भोग किया। इससे व्यासजी उत्पन्न हुए। वे तप से ब्राह्मण बन गये और इसी सत्यवती का फिर राजा शन्तनु से विवाह हुआ। उससे दो पुत्र चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य उत्पन्न हुए। वे क्षत्रिय बन गये। माता एक ही सत्यवती है, परन्तु उससे एक पुत्र ब्राह्मण बन गया और दो क्षत्रिय बन गये, क्योंकि हम सिद्ध कर चुके हैं कि सनातनधर्म में न बीज प्रधान है और न क्षेत्र, अपितु गुण-कर्म-स्वभाव ही प्रधान है। व्यासजी ने ब्राह्मण के कर्म किये, वे ब्राह्मण बन गये और चित्राङ्गद तथा विचित्रवीर्य ने क्षत्रिय के काम किये, अतः वे क्षत्रिय बन गये।

पोपजी--'लालाजी का यह लिखना कि बीज प्रधान मानो तो व्यास से पैदा किये हुए

धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ब्राह्मण क्यों नहीं बने'—यह व्यर्थ की बात है, क्योंकि महाभारत में अम्बिका, अम्बालिका और दासी से व्यासजी के भोग की चर्चा तक नहीं है।

तोपजी—श्रीमन्! यह बात झूठ है, क्योंकि बीज और क्षेत्र दोनों के योग के बिना प्राणियों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'बिना बीज के खेत केवल कल्लर ही रह जाता है, कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकता'—यह मनुस्मृति का सिद्धान्त है, जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं, अतः व्यासजी ने अम्बिका, अम्बालिका और दासी से भोग करके ही वीर्यदान दिया था जिससे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुरजी की उत्पत्ति हुई थी। देखिए, महाभारत आदिपर्व अध्याय १०६ में तीनों के साथ सम्भोग का वर्णन है—

१. अम्बिका— **सम्बभूव तया सार्धं मातुः प्रियचिकीर्षया।**
भयात् काशीसुता तं तु नाशक्नोदभिवीक्षितुम् ॥६॥

[गीताप्रेस संस्करण अध्याय १०५] टीका रामस्वरूप, सनातनधर्म पताका, मुरादाबाद।

अर्थ—तदनन्तर माता का हित करने के लिए व्यासजी ने अम्बिका के साथ समागम किया, तो भी अम्बिका भय के मारे देख नहीं सकी॥६॥

२. अम्बालिका— **ऋषिमावाहयत् सत्या यथापूर्वमरिन्दम।**
ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत ॥१४॥

अर्थ—हे शत्रुओं का दमन करनेवाले जनमेजय! फिर सत्यवती ने व्यासमुनि को पहले के समान बुलाया। व्यासजी पहले के समान इस अम्बालिका को प्राप्त हुए। [नियोग-विधि से, शरीर पर घी चुपड़कर, संयत चित्त, उसके साथ समागम किया।—सं०]

३. दासी— **सा तमृषिमनुप्राप्तं प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च।**
संविवेशाभ्यनुज्ञाता सत्कृत्योपचचार ह ॥२५॥
कामोपभोगेन रहस्तस्यां तुष्टिमगादृषिः।
तया सहोषितो राजन् महर्षिः संशितव्रतः॥२६॥

अर्थ—इस दासी ने व्यासजी को आते हुए देख उनके सामने जाकर अभिवादन किया और भली प्रकार आदर-सत्कार करके उन्हें आसन दिया तथा सत्कार करने के अनन्तर उनकी सेवा करने लगी। इसके पश्चात् व्यासजी ने आज्ञा दी, तब वह उनके साथ चारपाई पर सोई॥२५॥ उस दासी के साथ एकान्त में कामभोग करते हुए मुनि प्रसन्न हुए और अखण्डव्रतवाले महर्षि थोड़ी देर इस दासी के साथ बैठे ॥२६॥

इस लेख को आँखें खोलकर पढ़ें, कितने स्पष्ट शब्दों में व्यासजी का अम्बिका, अम्बालिका और दासी के साथ भोग द्वारा ही वीर्यदान लिखा है। इस सारे ही प्रकरण में कहीं भी वरदान की चर्चा नहीं है, अपितु स्पष्ट शब्दों में भोग करने का ही वर्णन है। इस बात का समर्थन कुल्लूकभट्टजी मनुस्मृति, अध्याय ९, श्लोक ३४ की टीका में करते हैं कि कहीं क्षेत्रप्रधान होता है—

[क्वचित्क्षेत्रस्य प्राधान्यं यथा—] विचित्रवीर्यक्षेत्रे क्षत्रियायां ब्राह्मणोत्पादिता अपि धृतराष्ट्रादयः क्षत्रियाः क्षेत्रिण एव पुत्रा बभूवुः॥

अर्थ—विचित्रवीर्य के क्षेत्र में क्षत्राणियों में ब्राह्मण से पैदा किये हुए भी धृतराष्ट्र आदि क्षत्रिय क्षेत्रवाले के ही पुत्र हुए। इसलिए कहीं पर क्षेत्र प्रधान है।

उपर्युक्त लेख में कुल्लूकभट्ट ने इस विषय को पूर्णरूप से स्पष्ट कर दिया है कि

चूँकि विचित्रवीर्य की स्त्रियों अम्बिका, अम्बालिका और दासी में ब्राह्मण व्यासजी द्वारा उत्पन्न किये हुए पुत्र–धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर क्षत्रिय क्षेत्रवाले, अर्थात् विचित्रवीर्य के ही पुत्र कहाये, अतः कहीं क्षेत्र प्रधान होता है।

उपर्युक्त लेखों से यह भी अत्यन्त स्पष्ट है कि व्यासजी ने अम्बिका, अम्बालिका और दासी से भोग करके ही वीर्यदान दिया था, जिससे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर का जन्म हुआ, अतः हमारा यह लिखना सर्वथा सत्य है कि यदि बीज को प्रधान मानो तो व्यासजी से उत्पन्न हुए धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ब्राह्मण क्यों नहीं बने?

पोपजी–महर्षि व्यासजी ने तो वरदान दिया था, जिससे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर आदि उत्पन्न हुए, अतः वे ब्राह्मण नहीं हो सके। व्यास पराशर के यौगिक तेज से उत्पन्न हुए थे, न कि वरदान से, अतः बीज की प्रधानता से ब्राह्मण हुए।

तोपजी–हम ऊपर युक्ति और प्रमाणों से अच्छी प्रकार सिद्ध कर चुके हैं कि न तो व्यासजी के वरदान से पाण्डु आदि पैदा हुए और न ही पराशर की आध्यात्मिक शक्ति से व्यासजी उत्पन्न हुए, अपितु दोनों ही स्थानों पर सम्भोग द्वारा वीर्य-दान दिया गया, जिससे इनकी उत्पत्ति हुई; परन्तु आपके उपर्युक्त लेख से पता चलता है कि वरदान कुछ और बात है और चरु तथा आध्यात्मिक शक्ति कुछ और बात है, क्योंकि चरु के प्रयोग से तो आपने विश्वामित्र में बीज की प्रधानता दिखाई और आध्यात्मिक शक्ति से आपने व्यास में बीज की प्रधानता दिखाई और वरदान से धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर में बीज की प्रधानता नहीं मानी, अपितु क्षेत्र की प्रधानता मानी। आपके इस लेख से पता चलता है कि आपके विचार में चरु और आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा तो बीज को स्त्री में प्रविष्ट किया जाता है और वरदान के द्वारा बीज को स्त्री में प्रविष्ट नहीं किया जाता, अपितु वरदान से वैसे ही स्त्री में बिना बीज प्रविष्ट किये ही सन्तान उत्पन्न हो सकती है, तो फिर भला! बताएँ कि ऋचीक ने गाधि की स्त्री के लिए क्यों वरदान ही न दे दिया, जिससे उसके क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न हो जाता? अथवा ऋचीक को चरु के द्वारा बीज को स्त्रियों में प्रविष्ट करने का रोग था? और फिर पराशर ने क्यों सत्यवती में बलात् आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा वीर्य प्रविष्ट कर दिया? क्या सत्यवती ने प्रार्थना की थी कि मुझे सन्तान चाहिए? अथवा पराशर को बलात् वीर्य प्रविष्ट करने की लत थी? फिर आपने इस पुस्तक के पृष्ठ ११४ पंक्ति १५ में लिखा है कि "व्यासजी ने दृष्टिमात्र से ही धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर तीनों को उत्पन्न किया।"

अभी ऊपर पाण्डवों की उत्पत्ति वरदान से बताई जा रही थी, अभी दृष्टि से हो गयी! अब सब मिलकर सन्तान-उत्पत्ति के चार पौराणिक प्रकार हुए–चरु, आध्यात्मिक शक्ति, वरदान और दृष्टि; और न जाने क्या-क्या मिथ्या कल्पना आवश्यकता पड़ने पर की जाएगी। वस्तुतः बात यह है कि यह सब वीर्य-दान को गुप्त रखने के लिए ढोंगबाजी है, अन्यथा सन्तानोत्पत्ति का जैवी सृष्टि में एक ही प्रकार है और वह स्त्री और पुरुष के द्वारा सम्भोग द्वारा गर्भाधान है; शेष सभी प्रकार कपोलकल्पनाएँ हैं, जो अनभिज्ञ लोगों को धोखे में रखने के लिए रची जा रही हैं, परन्तु कब तक? अन्ततः लोगों का विवेक जागेगा और लोग झूठी चालाकियों, बहानेबाजियों, कपोलकल्पनाओं और ढोंगों को छोड़कर सन्मार्ग पर आएँगे और वैदिक धर्म से लाभान्वित होंगे, अतः अन्त में पुनः यही कहना उचित है कि वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में न बीजप्रधान है और न क्षेत्र प्रधान है, अपितु गुण-कर्म-स्वभाव

ही प्रधान है। एक ही माता सत्यवती के एक पुत्र व्यास हुआ वह ब्राह्मण बन गया, दो पुत्र विचित्रवीर्य और चित्रांगद हुए वे क्षत्रिय बन गये। जिसने ब्राह्मण का काम किया वह ब्राह्मण बन गया और जिन्होंने क्षत्रिय के काम किये वे क्षत्रिय बन गये, अतः वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म-स्वभाव से ही ठीक है, जन्म से नहीं।

पोपजी—लाला साहब ने भविष्यपुराण का प्रमाण देकर ऋष्यशृंग, पराशर, कणाद और वसिष्ठ आदि की उत्पत्ति की चर्चा करते हुए जो ठट्ठा किया है, यह उनकी बुद्धि का दोष है।

तोपजी—हमने ठट्ठा नहीं किया। ऋषि-मुनियों पर झूठे आरोप लगाना और उनकी हँसी उड़ाना पुराणों का काम है, हमारा नहीं।

हाँ, हमने अपनी पुष्टि में पुराणों का प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि पुराण भी गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार वर्ण-व्यवस्था मानते हैं। भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व, अध्याय चालीस से आरम्भ करके चवालीसवें अध्याय के अन्त तक वर्ण-व्यवस्था का ही वर्णन है। वहाँ पर ऋषियों ने ब्रह्मा से पूछा—

भो ब्रह्मन्नाविकल्पे हि ब्राह्मण्यं ब्रूहि किं भवेत्।
जात्यध्ययन - देहात्मसंस्कारचार - कर्मणाम्॥ —भवि० ब्रा० ४०।८

अर्थ—हे ब्रह्माजी! पूर्वकल्प में ब्राह्मणपन क्या था—जाति, शिक्षा, शरीर, जीवात्मा, संस्कार, चालचलन और कर्म—इनमें से ब्राह्मणपन में क्या कारण माना जाता था, यह बतलाने की कृपा करें।

ठीक यही लेख वज्रसूची उपनिषद् में विद्यमान है, इसमें भी प्रश्न उठाया गया है कि ब्राह्मण कौन है? (१) क्या जीवात्मा ब्राह्मण है? (२) क्या शरीर ब्राह्मण है? (३) क्या जाति ब्राह्मण है? (४) क्या ज्ञान ब्राह्मण है? (५) क्या कर्म ब्राह्मण है? (६) क्या धार्मिक होना ब्राह्मण है?

दोनों ग्रन्थों में बिल्कुल एक ही विषय पर प्रश्न किये गये हैं, अब इनका उत्तर सुनिए—

१. क्या जाति अर्थात् जन्म ब्राह्मण है? कदापि नहीं, क्योंकि चारों वर्णों की एक ही मनुष्यजाति है। जैसे गौओं में गया हुआ घोड़ा जाति, अर्थात् जन्म के रंग-रूप और आकृति से पहचाना जाता है, वैसे शूद्रों में से ब्राह्मण और ब्राह्मणों में से शूद्र नहीं पहचाने जा सकते, अतः गौ-घोड़े की भाँति ब्राह्मण और शूद्रों में कोई जातिभेद नहीं है, अपितु कर्म करने की शक्ति के कारण कृत्रिम चिह्न पृथक्-पृथक् हो सकता है, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की पहचान कर्म से ही हो सकती है; जाति, जन्म, आकृति और बनावट से नहीं (भविष्यपुराण)। यदि जाति को ब्राह्मण मानो तो ठीक नहीं, क्योंकि दूसरी जाति में उत्पन्न हुए भी बहुत-से महर्षि बन गये। देखो ऋष्यशृंग मृगी से, कौशिक कुशा से, जाम्बूक गीदड़ी से, वाल्मीकि बांबी से, व्यास मल्लाह की लड़की से, गौतम खरगोश की पीठ से, वसिष्ठ उर्वशी से और अगस्त्य घड़े से उत्पन्न होकर ऋषि-महर्षि बन गये, अतः जाति ब्राह्मण नहीं है (वज्रसूचिकोपनिषद्)।

२. क्या केवल वेद पढ़ने से ब्राह्मण बन सकता है? कदापि नहीं क्योंकि ब्राह्मण की भाँति क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र और रावण आदि राक्षस भी वेद पढ़ सकते हैं। चाण्डाल, दाश-मल्लाह आदि भी वेदों को पढ़ते हैं और अन्य देशों में जाकर अपने को ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्य प्रकट करते हैं और कथा-उपदेश, सेना में नौकरी तथा व्यापार आदि उपर्युक्त वर्णों के कार्य भी करते हैं तथा ब्राह्मण आदि लड़कियों से विवाह भी कर लेते हैं, अतः केवल वेदों को पढ़ने से ब्राह्मण नहीं बन सकता। दुराचारी को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते चाहे उसने छह अङ्गोंसहित ही वेद पढ़े हों, अतः कर्म ही ब्राह्मण का लक्षण है (भविष्यपुराण)। यदि कहो कि ज्ञान का नाम ब्राह्मण है तो भी ग़लत है, क्योंकि बहुत-से क्षत्रिय आदि पूरे परमार्थ को जाननेवाले ज्ञानी होते हैं, अतः ज्ञान का ही नाम ब्राह्मण नहीं है (वज्रसूचिकोपनिषद्)।

३. क्या शरीर का नाम ब्राह्मण है? कदापि नहीं, क्योंकि प्रयत्नपूर्वक ढूँढने पर भी शरीर में ब्राह्मणपन नहीं मिलता। यदि शरीर को ब्राह्मण मानोगे तो शूद्र, चाण्डाल, राक्षस आदि सब ब्राह्मण बन जाएँगे, क्योंकि सबके शरीर एक-से हैं और शरीर की शक्ति और गुण नष्ट होने से जैसे शरीर जलकर भस्म हो जाता है, ऐसे ही ब्राह्मणपन को भी जलकर भस्म होनेवाला स्वीकार करना पड़ेगा, अतः शरीर ब्राह्मण नहीं है (भविष्यपुराण)। यदि कहो कि शरीर ब्राह्मण है तो ठीक नहीं, क्योंकि चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण तक सबका शरीर पाँच तत्त्वों से बना होने के कारण एक-जैसा है। वृद्धावस्था, जन्म-मरण, धर्म-अधर्म आदि के करने की शक्ति आदि सब गुण भी समान ही हैं। और भी सुनो, कोई ऐसा नियम भी दृष्टिगोचर नहीं होता कि ब्राह्मण केवल श्वेत ही हों, क्षत्रिय रक्तवर्ण के हों, वैश्य पीले ही हों और शूद्र काले ही हों; और यदि शरीर को ब्राह्मण मानोगे तो पुत्र आदि जब पिता के शरीर को जलाएँगे तो इन्हें ब्रह्महत्या का पाप भी लगेगा, अतः शरीर ब्राह्मण नहीं है (वज्रसूचिकोपनिषद्)।

४. क्या जीव ब्राह्मण है? कदापि नहीं, क्योंकि जो मूर्ख लोग जीव को ब्राह्मण मानते हैं वे नहीं सोचते कि कुत्ते, सूअर, चाण्डाल, कीड़े, कछुए आदि शरीरों को धारण करनेवाला और संसार के घोर पापों में फँसनेवाला जीव ब्राह्मण कैसे हो सकता है? अतः जीव ब्राह्मण नहीं है (भविष्यपुराण)। यदि कहो कि जीव ब्राह्मण है तो नहीं हो सकता, क्योंकि जितने इसके जन्म हो चुके हैं और होंगे उन सब शरीरों में जीव तो एक-जैसा ही एकरूप में रहता है और एक जीव कर्मों के वश होकर अनेक शरीरों को धारण करता रहता है और सब शरीरधारियों के जीव में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता, अतः जीव ब्राह्मण नहीं है (वज्रसू०)।

५. क्या केवल आचार ही ब्राह्मण है? कदापि नहीं, क्योंकि मन्त्र का जप, अग्निहोत्र आदि आचार ब्राह्मण होने में कारण नहीं हैं। ये सब कर्म शूद्र भी कर सकते हैं, अतः आचार ही ब्राह्मण नहीं है (भविष्यपुराण)। यदि कहो कि धर्मात्मा होना ब्राह्मण है तो ठीक नहीं, क्योंकि क्षत्रिय आदि भी सोने का दान देनेवाले धर्मात्मा हो सकते हैं, अतः धर्मात्मा होना ही ब्राह्मण बनने में कारण नहीं है (वज्रसूचिकोपनिषद्)।

६. क्या पिछले जन्म के कर्म अर्थात् प्रारब्ध ब्राह्मण बनने में कारण है? कदापि नहीं, क्योंकि प्रारब्ध, सञ्चित और आगे किये जानेवाले कर्म सबके बराबर ही हैं और पिछले जन्म के किये हुए कर्म भविष्य में किये जानेवाले कर्मों में प्रेरणा नहीं करते, अतः प्रारब्ध कर्म भी ब्राह्मण बनने में कारण नहीं हैं।

७. क्या संस्कार ब्राह्मण हैं? कदापि नहीं, क्योंकि व्यास आदि बहुत-से बिना संस्कारों के भी केवल कर्मों से उत्तम ब्राह्मण बन गये, जैसेकि व्यास मल्लाह की लड़की के पेट

से जन्मे, पराशर चाण्डाल के पेट से, शुकदेव शुकी (तोती) के पेट से, कणाद उलूकी के पेट से, ऋष्यशृंग मृगी के पेट से, वसिष्ठ कंजरी के पेट से, मन्दपाल मुनि मल्लाही के पेट से, मुनिराज माण्डव्य मेंढकी के पेट से उत्पन्न होकर ब्राह्मण बन गये, अतः संस्कार ब्राह्मण होने में कारण नहीं है (भविष्यपुराण)

८. फिर ब्राह्मण कौन है? जो ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करता है और छोड़ने योग्य को छोड़ता है। जो अन्याय नहीं करता, इन्द्रियों को वश में करनेवाला, सदाचारी, संसार की भलाई चाहनेवाला, क्रोध न करनेवाला, योगाभ्यासी, वेदपाठी, वेदादि शास्त्रों को जाननेवाला है, वही ब्राह्मण है। रक्षा करनेवाला क्षत्रिय, व्यापार करनेवाला वैश्य और जो श्रुति अर्थात् वेद से दूर रह गया वह शूद्र है (भविष्यपुराण)। जो परमात्मा का साक्षात् करनेवाला, काम-क्रोध, राग-द्वेष से रहित, शम-दम का सेवन करनेवाला, जो अभिमान, लोभ, मोह, छल-कपट आदि से दूर रहनेवाला है, वही ब्राह्मण है, अन्यथा नहीं। यह वेद, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि का तात्पर्य है (वज्रसूचिकोपनिषद्)।

उपर्युक्त प्रमाणों में आपने ध्यानपूर्वक पढ़ा होगा कि भविष्यपुराण में यह प्रकरण आया है कि क्या संस्कारों के होने से ब्राह्मण बन सकता है? इसका उत्तर दिया गया है कि नहीं। ब्राह्मण होने में संस्कार कारण नहीं है, क्योंकि व्यास आदि बहुत-से बिना संस्कारों के ही ब्राह्मण बन गये। वहाँ पर इनकी गिनती की गयी है जो ऊपर भाषा में दे दी है। अब संस्कृत भाषा में भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व, अध्याय ४२, श्लोक २२ से ३२ तक में यूँ लिखा है--

जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः श्वपाक्याश्च पराशरः।
शुक्या शुकः कणादाख्यस्तथोलूक्याः सुतोऽभवत्॥२२॥
मृगीजोऽथर्ष्यशृंगोऽपि वसिष्ठो गणिकात्मजः।
मन्दपालो मुनिश्रेष्ठो नाविकापत्यमुच्यते॥२३॥

माण्डव्यो मुनिराजस्तु मण्डूकीगर्भसंभवः। बहवोऽन्येऽपि विप्रत्वं प्राप्ता ये पूर्ववद् द्विजाः॥२४॥
हरिणीगर्भसम्भूत ऋष्यशृंगो महामुनिः। तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम्॥२६॥
श्वपाकीगर्भसम्भूतः पिता व्यासस्य पार्थिव। तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम्॥२७॥
उलूकीगर्भसम्भूतः कणादाख्यो महामुनिः। तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम्॥२८॥
गणिकागर्भसम्भूतो वसिष्ठश्च महामुनिः। तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम्॥२९॥
नाविकगर्भसम्भूतो मन्दपालो महामुनिः। तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम्॥३०॥
लब्धसंस्कारदेहाश्च महापातकिनो नराः। यस्मान्निवर्तते ब्रह्म तस्मात्सांकेतिकं विदुः॥३२॥

अर्थ--मल्लाही से व्यास पैदा हुआ, चाण्डालिन से पराशर और शुकी (तोती) से शुकदेव पैदा हुआ तथा कणादमुनि उल्लूनी के पुत्र हुए॥२२॥ ऋष्यशृंग मृगी से उत्पन्न हुए और वसिष्ठ गणिका (कंजरी) के पेट से पैदा हुए और महामुनि मन्दपाल को मल्लाही का पुत्र कहते हैं॥२३॥ माण्डव्यमुनि मेंढकी से पैदा हुए, और भी बहुत-से इसी प्रकार से पैदा हुए ब्राह्मणपन को प्राप्त हो गये॥२४॥ मृगी (हिरनी) के पेट से पैदा हुए महामुनि ऋष्यशृंग तप से ब्राह्मण बन गये, इसमें क्या संस्कार कारण है?॥२६॥ हे राजन्! चाण्डालिन के गर्भ से पैदा हुआ व्यास का पिता पराशर तप से ब्राह्मण बन गया, क्या इसमें संस्कार कारण है?॥२७॥ कणाद नाम के महामुनि उल्लूनी के गर्भ से उत्पन्न होकर तप से ब्राह्मण बन गये, क्या इसमें संस्कार कारण है?॥२८॥ महामुनि वसिष्ठजी कंजरी के पेट से पैदा

होकर तप से ब्राह्मण बन गये, क्या इसमें संस्कार कारण है?॥२९॥ महामुनि मन्दपालजी मल्लाही के पेट से पैदा होकर तप से ब्राह्मण बन गये, क्या इसमें संस्कार कारण है?॥३०॥ शरीर में संस्कारों के किये जाने पर भी महापातक का काम करनेवाले मनुष्य चूँकि ब्राह्मणपन से हीन हो जाते हैं, अतः ब्राह्मणपन गुण-कर्म-स्वभाव के संकेत से ही है॥३२॥

अब कहिए, यदि इसका नाम मज़ाक उड़ाना है तो यह परिहास हमने किया है अथवा भविष्यपुराण ने? और इसके कर्त्ता भी आपके विचार में व्यासजी है। इसलिए उक्त दोष व्यासजी का है, नकि हमारा?

पोपजी—क्योंकि ऋषियों की उत्पत्ति प्रायः संकल्प और योग की सिद्धि से हुआ करती है।

तोपजी—सृष्टि दो प्रकार की होती है—ईश्वरी या अमैथुनी और जैवी या मैथुनी। जो ईश्वरीय सृष्टि होती है, वह अमैथुनी होती है, इसमें सब प्राणी बिना माता-पिता के संयोग के उत्पन्न होते हैं, जैसाकि मनुस्मृति के प्रथम अध्याय और यजुर्वेद के इकतीसवें अध्याय में वर्णन किया गया है। दूसरी जैवी अथवा मैथुनी—जो जीवों के सम्बन्ध से उत्पन्न होती है, वह बिना मैथुन के उत्पन्न नहीं हो सकती। वह रज और बीज के मेल से ही उत्पन्न हो सकती है, जैसाकि मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक ३३ तथा अध्याय १०, श्लोक ७१ में स्पष्ट वर्णन किया गया है, और हम पीछे विस्तार से लिख भी आये हैं, अतः कोई भी ऋषि और मुनि बिना मैथुन के सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि ऋषि जीव हैं और जीव जैवी सृष्टि ही उत्पन्न कर सकते हैं जोकि रज और वीर्य के संयोग के बिना होनी सम्भव नहीं। ईश्वरीय सृष्टि ईश्वर ही कर सकता है, जीव नहीं, अतः आपका उपर्युक्त ढोंग कि ऋषि लोगों की उत्पत्ति संकल्प और योगसिद्धि से हुआ करती है, सर्वथा असत्य, असम्भव और लोगों को धोखा देना है।

पोपजी—वेद भी इसका समर्थन करते हैं।

तोपजी—सर्वथा असत्य और सफेद झूठ है, अपितु वेद तो हमारा समर्थन करते हैं। देखो, यजुर्वेद अध्याय इकतीस में ईश्वरीय सृष्टि का वर्णन है जिसमें स्थान-स्थान पर लिखा है कि उस परमात्मा से वृक्ष, घोड़े, भेड़, बकरी, मनुष्य आदि सब प्राणी उत्पन्न हुए। पुनः जैवी सृष्टि का वर्णन वेद ने यजुर्वेद अध्याय १९, मन्त्र ७६ में सम्यग्रूप से बताया है कि 'लिंग योनि में प्रविष्ट होकर वीर्य छोड़ता है और पेशाब को बाहर छोड़ता है, इसके पश्चात् जेर से लिपटा हुआ गर्भ जन्म लेने के पश्चात् जेर को छोड़ देता है।' बस, यही विधान जैवी सृष्टि में जरायुज आदि प्राणियों का है। सारांश यह कि ईश्वरीय सृष्टि को ईश्वर ही उत्पन्न कर सकता है, जीव नहीं। जीव जैवी सृष्टि को ही उत्पन्न कर सकता है जोकि स्त्री और पुरुष के सम्भोग के बिना सम्भव नहीं—यही वेद की आज्ञा है।

पोपजी—योगियों की शक्ति असीम और मन-बुद्धि की कल्पना से परे होती है।

तोपजी—यह बात भी सर्वथा झूठ है, क्योंकि योगी भी जीव ही होते हैं और जीव एकदेशी अर्थात् सीमित होते हैं, अतः इनका ज्ञान असीम कभी नहीं हो सकता; और योगी लोग भी प्रकृति के नियमों को तोड़ने की शक्ति नहीं रखते। हाँ, मानवीय ज्ञान और कार्य की जो अन्तिम सीमा है, उसे वे योग द्वारा प्राप्त कर लेते हैं।

पोपजी—स्वामी दयानन्दजी ने भी यजुर्वेद अध्याय १७ मन्त्र ६८ के भाष्य में लिखा है कि योगी लोग अपनी शक्ति से लोक-लोकान्तरों में इच्छापूर्वक विचर सकते हैं।

तोपजी—लोक-लोकान्तरों से आप क्या अभिप्राय लेते हैं? यदि लोक-लोकान्तरों से आपका यह अभिप्राय हो कि योगी लोग शरीरसहित सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि लोक-लोकान्तरों में चले जाते हैं, तो सवर्था झूठ है, क्योंकि योगी लोग शरीरसहित सूर्यादि लोक-लोकान्तरों में नहीं जा सकते और न ही योगशास्त्र में इनके शरीरसहित सूर्य-चन्द्रमा आदि लोक-लोकान्तरों में जाने का वर्णन है। हाँ, यह ठीक है कि योगी लोग जिस लोक-लोकान्तर, सूर्य-चन्द्रमा आदि का ध्यान करके समाधि द्वारा वहाँ के वृत्तान्त की जानकारी चाहते हैं, उस लोक-लोकान्तर का ज्ञान उन्हें हो जाता है। यदि लोक-लोकान्तर से आपका तात्पर्य यूरोप, अमरीका, अफ्रीका आदि देशों से हो तो इनमें योगी लोग योगविद्या के द्वारा वायुयान आदि आकाश में उड़नेवाले यानों का आविष्कार करके आकाश में भी चढ़ सकते हैं और अमरीका, यूरोप आदि लोक-लोकान्तरों में भी विचर सकते हैं; और यदि लोक-लोकान्तरों से अभिप्राय ब्रह्मलोक आदि लिया जाए तो भी ठीक है, क्योंकि योगी लोग समाधि के द्वारा ब्रह्मलोक अर्थात् ब्रह्म के सुख को प्राप्त होते हैं। पहले आप लोक शब्द के अर्थों को देख लें तब पता लगेगा—

१. **लोकस्तु भुवने जने।** —अमरकोश ३।३।२

लोक—यह नाम स्वर्ग आदि और जन अर्थात् मनुष्यों का है।

२. **त्रिष्वथो जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्।**
लोकोऽयं भारतं वर्षं शरावत्यास्तु योऽवधेः॥ —अमर० २।१।६

अर्थ—जगती, लोक, विष्टप, भुवन, जगत्—ये पाँच नाम जगत् के हैं और जम्बूद्वीप में वर्त्तमान लोक भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध है, इत्यादि।

३. **प्र मे प्रतियानः पन्थाः कल्पतांशिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम्॥** —मन्त्रब्रा० १।१।८

अर्थ—परमपिता परमात्मा मेरे मार्ग को कल्याणकारी बनाये, मैं पतिलोक को प्राप्त होती हूँ।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि लोक नाम स्वर्ग, जनता और जगत् का है। स्वर्ग का अर्थ सुख देनेवाले स्थान के हैं, अतः विवाह के अवसर पर स्त्री कहती है कि पतिलोक अर्थात् पति के सुख को प्राप्त होती हूँ। ब्रह्मलोक को इसलिए ब्रह्मलोक कहते हैं कि जिसमें परमात्मा की प्राप्ति का सुख मिले। सारांश यह कि लोक नाम स्वर्ग, जनता और जगत् का है, केवल सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि का ही नाम नहीं है, इसलिए स्वामीजी का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि कोई योगी शरीरसहित सूर्य-चन्द्रमा आदि में चला जाता है, अपितु उनका तात्पर्य वही है जो हमने ऊपर लिखा है कि योगी लोग समाधि के द्वारा ध्यान लगाकर सूर्य-चन्द्रमा आदि का वृत्तान्त जान लेते हैं और इनमें ज्ञान द्वारा विचरते हैं तथा आकाश और यूरोप आदि लोक-लोकान्तरों में वायुयान आदि यानों के द्वारा विचरते हैं तथा सुख को प्राप्त होते हैं, अतः स्वामीजी ने मन्त्र के तात्पर्य को भावार्थ में अच्छी प्रकार स्पष्ट कर दिया है—"जैसे रथवान् घोड़ों को अच्छे प्रकार सिखा और अपनी इच्छा के अनुसार चलाकर सुख से अपने अभीष्ट स्थान पर शीघ्र चला जाता है, वैसे ही उत्तम विद्वान् योगी लोग जितेन्द्रिय होकर संयम से अपने इष्ट परमात्मा को प्राप्त करके आनन्द का विस्तार करते हैं।"

उपर्युक्त कार्यों में कोई भी कार्य प्रकृति-नियम के विरुद्ध नहीं है, इससे सिद्ध हुआ

कि योगी लोग भी प्रकृति के नियमों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते।

पोपजी--और यजुर्वेद अध्याय ७, मन्त्र ७ के भाष्य में योगी को ईश्वर के समान शक्ति रखनेवाला माना है।

तोपजी--पता नहीं इससे आप क्या सिद्ध करना चाहते हैं और धोखा देने के लिए लोगों में भ्रम फैला रहे हैं कि यजुर्वेद में स्वामीजी ने योगी को ईश्वर के बराबर शक्ति रखनेवाला माना है। इस प्रकार के मिथ्यावाद से पुराणों का पाखण्ड-जाल सच्चा सिद्ध नहीं हो सकता। भला! इस मन्त्र में स्वामीजी ने योगी को ईश्वर के बराबर शक्तिवाला कहाँ लिखा है? देखिए, स्वामीजी क्या लिखते हैं--

भावार्थ--"इस मन्त्र में वाचकलुप्तोमालङ्कार है। जो योगी प्राण के तुल्य सबको भूषित करता है, ईश्वर के तुल्य अच्छे-अच्छे गुणों में व्याप्त होता है और अन्न व जल के सदृश सुख देता है, वही योग में समर्थ होता है।"

इसमें स्पष्ट लिखा है कि वही योग में समर्थ हो सकता है कि जो प्राण की भाँति सबको सुख और जीवन देनेवाला हो तथा अन्न और जल की भाँति लोगों को सुख देनेवाला हो और ईश्वर की भाँति अच्छे-अच्छे गुणों अर्थात् न्याय, दया आदि को धारण करनेवाला हो। यहाँ ईश्वर के समान गुणों को धारण करने के विषय में योगी की उपमा दी है। इससे क्या योगी ईश्वर ही बन गया? आपने स्वयं ही अपनी पुस्तक के पृष्ठ ८१ पंक्ति १३ में लिखा है कि--"उपमा जिससे दी जाती है, उससे तद्रूप होना आवश्यक नहीं।" फिर यहाँ पर आपने आवश्यक क्यों मान लिया? इसी का नाम तो छल-कपट, धोखा देना और स्वार्थपन है, जो आप लोगों में विद्यमान है और जिसके कारण आप पोप कहलाने के अधिकारी हैं। आपका उपुर्यक्त लेख सर्वथा असत्य और धोखा देना ही है। योगी सान्त और जीव होने के कारण कभी भी ईश्वर के समान शक्ति रखनेवाला नहीं हो सकता।

पोपजी--जबकि योगी ईश्वर के समान शक्तिवाले स्वामी दयानन्दजी के लेख के अनुसार माने जाते हैं, तो उनकी अलौकिक शक्ति के द्वारा उत्पत्ति को बुरा मानना उचित नहीं।

तोपजी--यह तो हम आपके छल-कपट की पोल ऊपर खोल चुके हैं कि स्वामीजी ने कहीं भी नहीं लिखा कि योगी ईश्वर के तुल्य शक्ति रखते हैं, अतः इनकी उत्पत्ति अथवा इनके द्वारा किसी की उत्पत्ति इसी प्रकार से माननी ठीक है जैसेकि और प्राणियों की उत्पत्ति जैवी सृष्टि में होती है। ऋषियों के जीव होने से उनकी जैवी सृष्टि मैथुन के द्वारा ही सम्भव है।

पोपजी--जब आपका निराकार ईश्वर जवान-जवान जोड़े आकाश से गिरा सकता है, तो ऋषियों की उत्पत्ति पर मज़ाक उड़ाना [परिहास करना] आपके पक्षपात का जीता-जागता उदाहरण है।

तोपजी--हमने परिहास नहीं किया। हमने तो आपके ऋषियों की उत्पत्ति को आपके पुराणों से ठीक-ठीक लिख दिया है। हाँ, आर्यसमाज के नाम से झूठे लेख लिखकर उनपर मखौल उड़ाने का प्रयत्न आपने अवश्य किया है जोकि आपके पक्षपात, स्वार्थ और छल-कपट का जीता-जागता उदाहरण है। क्योंजी! यह तो बतलाएँ कि आर्यसमाज की कौन-सी पुस्तक में लिखा है कि--"ईश्वर ने जवान-जवान जोड़े आकाश से गिराये? यदि नहीं लिखा तो आपने कहाँ से लिख दिया? भला! इन असत्य कथनों से सनातनधर्म कब

तक अपनी गन्दगी को छिपा सकता है? हाँ, ईश्वर ने सर्ग-आरम्भ में सैकड़ों स्त्री-पुरुषों को यौवन-अवस्था में ईश्वरीय सृष्टि में उत्पन्न किया। वह ईश्वरीय सृष्टि थी, ईश्वर ने ही उत्पन्न की; परन्तु योगी ईश्वर नहीं होते, अपितु जीव होते हैं; इनमें ईश्वर के समान शक्ति का होना ऐसे ही असम्भव है, जैसाकि गधे के सिर पर सींग पैदा होना। योगी जीव होने से जैवी सृष्टि की उत्पत्ति कर सकते हैं जोकि स्त्री-पुरुष के संयोग से गर्भाधान के द्वारा रज और वीर्य के मिलने से ही होनी सम्भव है, किसी और उपाय से सम्भव नहीं।

पोपजी--सभी ऋषियों की उत्पत्ति ऐसी ही आश्चर्यजनक विधियों से होती है। ऋषियों की सृष्टि ही विचित्र है, जिसे साधारण मनुष्य नहीं समझ सकते।

तोपजी--ऋषियों की उत्पत्ति तो इसी प्रकार से हुई और होती है जैसेकि जीवों की जैवी सृष्टि में रज और वीर्य के मेल से होनी सम्भव है। हाँ, पुराणों में पौराणिक ऋषियों की उत्पत्ति आप-जैसे पोपों ने अश्लील और असभ्य ढंग से लिखकर उन्हें कलङ्क अवश्य लगाया है और इसे आश्चर्यजनक प्रणाली बताया है। मनुष्य इसे समझ भी कैसे सकते हैं, जबकि वह बात मानवता से कोसों दूर है? इस प्रकार का व्यवहार करनेवाले मनुष्य कहलाने के अधिकारी नहीं कहे जा सकते। आश्चर्य यह कि इनको ऋषि कहा जाए! किसी ने मेंढकी के गर्भ कर दिया तो किसी ने मृगी को पकड़ लिया, किसी ने तोती से मुँह काला कर लिया तो किसी ने उल्लूनी को धर दबोचा। ऐसे ऋषि यदि आजकल होते तो अप्राकृतिक मैथुन के अपराध में जेल की हवा खाते दिखाई देते। आप लोगों ने ऋषियों की उत्पत्ति में अनोखापन प्रविष्ट करते-करते ऋषियों के जीवन को ही सन्दिग्ध बनाकर दूषित कर दिया। ठीक है--"किसी की जान गयी आपकी अदा ठहरी" वाली उक्ति आप लोगों पर चरितार्थ होती है।

पोपजी--देखिए, ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त ४५, मन्त्र ३ का जो अर्थ यास्काचार्यजी ने निरुक्त में किया है, वही अर्थ आर्यसमाज के वेदों के भाष्यकार और प्रसिद्ध पण्डित राजारामजी, प्रोफेसर डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर ने किया है। इतना ही नहीं, नीचे पाद-टिप्पणी के रूप में इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है।

तोपजी--वेद ईश्वर का ज्ञान और अनादि हैं। जो लोग वेद में इतिहास स्वीकार करते हैं वे वेद के अनादि होने पर कुठाराघात करके वेदों के निन्दक होने से नास्तिक हैं, इसलिए वेद में इतिहास माननेवाले चाहे यास्काचार्य हों और चाहे पं० राजारामजी, हमारे सिद्धान्त के अनुसार वे नास्तिक हैं। आप इनके भाष्य और उनकी पाद-टिप्पणी को शहद लगाकर चाटा करें। यास्काचार्य का कहना वेद के विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं माना जा सकता और पं० राजाराम की समस्त पुस्तकें अनार्ष होने से अप्रामाणिक हैं। इस मन्त्र में इतिहास और ऋषियों की उत्पत्ति का चिह्न भी नहीं है। देखिए, हम इस वेदमन्त्र का ऋषि दयानन्दकृत अर्थ हूबहू लिख देते हैं--

"हे उत्पन्न हुए पदार्थों को जाननेवाले, बड़े व्रतयुक्त विद्वन्! आप प्रिय बुद्धिवाले के तुल्य तीन दु:खों अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दु:खों से रहित के समान, अनेक प्रकार के रूपोंवाले के तुल्य, अङ्गों के रसरूप प्राणके सदृश, उत्तम मेधावी मनुष्य के देने-लेने, पढ़ने-पढ़ाने योग्य व्यवहार को श्रवण किया करें।"

"**भावार्थ**--इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। हे मनुष्यो! जैसे सबका प्रिय करनेवाले, शरीर, वाणी और मन के दोषों से रहित, नाना विद्याओं को प्रत्यक्ष करनेवाले और अपने प्राणों

के समान सबको जानते हुए विद्वान् लोग मनुष्यों के प्रिय कर्मों को सिद्ध करते हैं, वैसे तुम भी किया करो।"

इसमें बतलाइए आपके कल्पित ऋषियों की उत्पत्ति का वर्णन कहाँ है? झूठे पर परमात्मा की धिक्कार।

पोपजी—ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ६२, मन्त्र ५ का अर्थ निरुक्त अध्याय ११, खण्ड १७ में करते हुए यास्कमुनिजी लिखते हैं कि—"नाना रूपोंवाले ऋषि और गम्भीर कर्मोंवाले अङ्गिरा के पुत्र हैं, वे अग्नि से उत्पन्न हुए। इस मन्त्र का यही अर्थ पं० राजाराम ने किया है।

तोपजी—इस मन्त्र का अर्थ निरुक्त ने तो ठीक किया है, परन्तु पं० राजारामजी को भ्रान्ति हुई है और वह यह है कि मन्त्र में जो 'अङ्गिरस' शब्द पड़ा हुआ है, वह प्रथमा विभक्ति का बहुवचन है, जिसे छठी विभक्ति का एकवचन समझ लिया गया है। इस मन्त्र में सृष्टि के आरम्भ का वर्णन है कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने जहाँ सैकड़ों मनुष्यों को उत्पन्न किया है वहाँ चार ऋषियों को पैदा किया, जिनके नाम—अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा ऋषि थे। इन चारों के द्वारा ही परमात्मा ने— ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का प्रकाश किया। सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होनेवाले सब मनुष्य और ऋषि, क्योंकि ईश्वरीय सृष्टि में बिना माता-पिता के उत्पन्न होते हैं, इसलिए उन्हें परमात्मा का अमृतपुत्र कहा गया है। अब इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा कि—"इस सृष्टि के आरम्भ में विशेषरूप से सुन्दर रूपवाले, गम्भीर बुद्धियों के स्वामी परमपिता के अमृतपुत्र अङ्गिरा आदि चार ऋषियों पर वेद प्रकट हुए।

अब कहिए पोपजी! इससे आपका कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हुआ? क्योंकि यहाँ तो जैवी सृष्टि की चर्चा तक भी नहीं है? यहाँ तो ईश्वरीय सृष्टि का ही वर्णन है और ईश्वरीय सृष्टि में कोई प्राणी और ऋषि मैथुन से उत्पन्न ही नहीं होते, प्रत्युत सृष्टि के आरम्भ में सब प्राणी परमात्मा की ओर से बिना माता-पिता के ही उत्पन्न किये जाते हैं, क्योंकि इससे पूर्व प्राणियों की नस्ल ही विद्यमान नहीं होती, फिर कोई किसी का माता-पिता कहाँ से बने? यह उत्पत्ति की व्यवस्था प्रकृति के नियम के अनुकूल ही है। आपके कपोलकल्पित पौराणिक ऋषि कि जिनकी उत्पत्ति मृगी, मेंढकी, उल्लूनी और तोती से पुराणों में बताई गई है, उनकी उत्पत्ति उपर्युक्त मन्त्र से किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती। कोई और जाल बिछाइए, इसके तो बखिये उधेड़कर तार-तार कर दिया गया है।

पोपजी—आजकल न तो ऋषि रहे हैं और न ही उनकी विद्याओं का किसी को पता है। ऋषियों में योगबल की इतनी शक्ति होती थी कि वे केवल सङ्कल्प करके जिस स्थान से चाहते थे वहाँ से सन्तान उत्पन्न कर सकते थे।

तोपजी—हम इस बात को सिद्ध कर चुके हैं कि जैवी सृष्टि में बिना स्त्री और पुरुष के भोग किये सन्तान पैदा नहीं हो सकती। परमात्मा यदि इन पौराणिक ऋषियों की छूत की बीमारी से संसार को बचाए रक्खे तो अधिक उत्तम है, क्योंकि यदि वे विद्यमान होंगे तो इनको मेंढकी, मृगी, उल्लूनी और तोती आदि में गर्भ धारण करके अपनी यौगिक शक्ति और अलौकिक विद्याओं की नुमाइश करनी पड़ेगी और इनके अनुकरण में सहस्रों लोगों को अप्राकृतिक मैथुन के अपराध में जेल की हवा खानी पड़ेगी एवं मानव-समाज का सदाचार भी संकट में पड़ जाएगा, क्योंकि इनके संकल्प की कोई मर्यादा तो है ही

नहीं। माँ से, बहिन से, बेटी से, भाई की गर्भवती स्त्री से, गुरु की स्त्री से, भतीजी से—जिस स्थान से चाहेंगे सन्तान उत्पन्न करने का प्रयत्न करेंगे और फिर हाथ में लिंग लेकर जिसपर चाहेंगे पिल पड़ा करेंगे और जहाँ स्त्रियों का झुण्ड देखा करेंगे, इनमें सर्वथा नंगे होकर, लिंग हाथ में लिये तुरन्त जा धमका करेंगे। किसी का लिंग कटकर आग का गोला बनेगा तो किसी के अण्डकोश झड़ जाया करेंगे और बेचारे मेंढे के अण्डकोश काटकर इनके लगाने के लिए नये चिकित्सालयों की आवश्यकता पड़ेगी। इसके लिए कर अधिक लगाने पड़ेंगे, परिणाम—संसार में कोलाहल मच जाएगा।

पाठक भी और हम भी परमात्मा से नम्रतापूर्वक प्रार्थना करें कि हे दीनबन्धो, करुणासिन्धो! हमारी अवस्था पर दया करो और हमारी प्रार्थना स्वीकार करो कि हमारे देश में पौराणिक ऋषियों का भयंकर रोग फिर कभी प्रकट न हो, जिससे हम लोग सम्मानपूर्वक शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकें।

पोपजी—जैसेकि योगदर्शन अध्याय ५ सूत्र ११ में छह प्रकार की उत्पत्ति बतलाते हुए महर्षि ने संकल्प, मानसिक शक्ति और यज्ञादि की सिद्धि के द्वारा उत्पत्ति का वर्णन किया है।

तोपजी—पोपजी! नमस्ते महाराजजी! कभी योगदर्शन के दर्शन भी किये हैं अथवा काला अक्षर भैंस बराबर ही है? इस छल-कपट और धोखे से जनता को मार्ग-भ्रष्ट करना क्या पशुता नहीं है? सच है, मनुष्य को एक झूठ को सत्य सिद्ध करने के प्रयत्न में पचासों झूठ और घड़ने पड़ते हैं। बस, ऋषियों की मनघड़न्त, कपोलकल्पित पौराणिक, विचित्र उत्पत्ति को सिद्ध करने के लिए पहले वेदमन्त्रों को तोड़-मरोड़कर ग़लत रूप में प्रस्तुत किया। जब देखा कि यह रेत की दीवार खड़ी होना कठिन है, क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति अनादि ईश्वर के ज्ञान अनादि वेद में इतिहास मानने को तैयार नहीं होगा तो फिर यौगिक शक्ति की शरण लेकर योग के द्वारा वीर्य को दूसरों में प्रविष्ट करने में बुद्धि व मस्तिष्क को लगाया और अन्त में योगदर्शन के नाम से एक झूठा पता लिख दिया।

श्रीमन्! योगदर्शन में तो अध्यायों के विभाग ही नहीं है, इसमें तो पाद हैं और वे भी पाँच नहीं हैं; सारे योगदर्शन में चार ही पाद हैं—१. समाधिपाद, २. साधनपाद, ३. विभूतिपाद और ४. कैवल्यपाद। इन चारों पादों के ११ संख्या के सूत्रों में से एक भी सूत्र उत्पत्ति का वर्णन करनेवाला नहीं है। पता नहीं आप पक्षपात में इतने अन्धे क्यों हो गये कि सारी जनता को अन्धा सोचकर योगदर्शन के नाम से झूठा प्रमाण दे मारा। क्या आप लोगों का आत्मा इतना काला हो गया है कि सत्य की सर्वथा उपेक्षा करके अब झूठ को ही सनातनधर्म की रक्षा का हथियार बनाया हुआ है। परमात्मा आपको सन्मार्ग दिखलाए और आपके आत्मा को पवित्र करे, जिससे आप अपनी काली करतूतों से पृथक् रहकर सचाई का मार्ग स्वीकार करें।

पोपजी—अस्तु, हम हिन्दू जनता के समक्ष इन आलङ्कारिक उत्पत्तियों का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। ऋष्यशृंगी का अर्थ प्रधान ऋषि है। हिरनी नाम माया का है जो सबके मनों को हर लेती है। कश्यप उसे कहते हैं जो सबको समान दृष्टि से देखनेवाला हो, अर्थात् जो बिना किसी सन्देह के समस्त जीवों के कर्मों को ठीक-ठाक देखे, उस परमेश्वर का नाम ही कश्यप है, अर्थात् कश्यप ईश्वर ने हिरनीरूप माया से अपने वीर्य अर्थात् बीज के द्वारा शृंगी को उत्पन्न किया।

तोपजी–सारी रात रोई, एक ही मरा, वह भी पड़ोसियों का कुत्ता। सिर पर पाँव रखकर भागे, बड़ी लम्बी दौड़ लगाई और रहे कोल्हू के बैल की भाँति वहीं-के-वहीं। भला! मैं आपसे यह पूछता हूँ कि यदि हिरनी को माया और कश्यप को परमात्मा मानकर परमात्मा से शृंगी अर्थात् प्रधान ऋषि की ही उत्पत्ति आपको सिद्ध करनी थी तो फिर इतना झूठ, पाखण्ड और छल-कपट करने की क्या आवश्यकता थी? क्यों वेदमन्त्रों में इतिहास सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयत्न किया और क्यों योगदर्शन के नाम से झूठा पता लिखा? आपको तो यौगिक शक्ति के द्वारा ऋषियों की विचित्र उत्पत्ति को सत्य सिद्ध करना था परन्तु सिद्ध कर बैठे परमात्मा की ओर से अमैथुनी सृष्टि। इसपर किसको आपत्ति है? हम तो मानते ही हैं कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा अपनी शक्ति से प्रकृति से बिना माता-पिता के मनुष्यों और ऋषियों को उत्पन्न करता है। किसी कवि ने सच कहा है कि–**'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः'**, अर्थात् जब किसी के नाश होने के दिन आते हैं तो उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। इस लोकोक्ति के अनुसार यही अवस्था अब सनातनधर्म की है। अब इसके नष्ट होने के दिन निकट हैं, तभी इसके पण्डितों की बुद्धि नष्ट हो रही है। भलाजी! जब आप अपनी पुस्तक के पृष्ठ ९२ पंक्ति ३ में यह स्वीकार कर रहे हैं कि "यह भी ध्यान रहे कि किसी प्राणी, उदाहरणार्थ उल्लू आदि से मनुष्य को उत्पन्न करना असम्भव नहीं। योगशक्तियाँ विचित्र हुआ करती हैं। ऋषि लोग प्राणियों से तो क्या आकाश से ही सन्तान प्राप्त कर सकते हैं।" पुनः आप इसी पुस्तक के पृष्ठ ८७, पंक्ति १५ में लिखते हैं कि–"मनुस्मृति अध्याय ९, जिस वीर्य के प्रभाव से तिर्यक् योनि में उत्पन्न हुए ऋषि अत्यन्त पूज्य और प्रतापी हुए, इसलिए सब वीर्य की ही प्रशंसा है, क्षेत्र की नहीं।" जब आप पशुओं से मनुष्यों की उत्पत्ति मानते हैं तो फिर आपको ऋष्यशृंग की उत्पत्ति में ही अलङ्कार बनाने की क्या आवश्यकता पड़ गयी? यह भागा-दौड़ी आपकी बौखलाहट को सिद्ध कर रही है और इस बौखलाहट में अलङ्कार के पीछे ऐसे दुम दबाकर भागे कि इतिहास की वास्तविकता को ही समाप्त कर दिया, परन्तु जब तक आप पुराणों को मानते हैं, लाख अलङ्कार बनाएँ आपकी जान बचनी कठिन है, क्योंकि जहाँ आपने हिरनी का अर्थ कपोलकल्पित मनों को हरनेवाली माया बताकर अपना पीछा छुड़ाना चाहा है, वहाँ पुराणों में हिरनी का अर्थ मृगी किया है, जैसाकि भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व अध्याय ४२, श्लोक २३ में लिखा है–**'मृगीजोऽथर्ष्यशृंगोऽपि'**–ऋष्यशृंग मृगी से उत्पन्न हुए। इससे आपका किया हुआ माया अर्थ पुराणों के प्रमाण से ही बिल्कुल व्यर्थ सिद्ध हो गया। दूसरे, ऋष्यशृंग के पिता कश्यप पता नहीं आपने कहाँ से घड़ डाले, जबकि ऋष्यशृंग के पिता विभाण्डक मुनि थे। इसमें ऋष्यशृंग की ही साक्षी उचित है। वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड, सर्ग १०, श्लोक १४ में ऋष्यशृंग कहते हैं–

पिता विभाण्डकोऽस्माकं तस्याहं सुत औरसः।
ऋष्यशृंग इति ख्यातं नाम कर्म च मे भुवि॥

अर्थ–हमारा पिता विभाण्डक है और उसका मैं औरस पुत्र हूँ। मैं ऋष्यशृंग प्रसिद्ध हूँ। मेरा नाम और काम संसार में प्रसिद्ध है।

पोपजी! अब कहिए, आपकी बात स्वीकार की जाए अथवा ऋष्यशृंग की? आपका उपर्युक्त अलङ्कार बनाना सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हुआ, क्योंकि आपके पुराण ही आपका खण्डन जोरदार शब्दों में कर रहे हैं।

पोपजी—लिंगपुराण पूर्वार्द्ध, खण्ड १, अध्याय १३ और भविष्यपुराण के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट लिखा हुआ है।

तोपजी—इस गवर्गण्ड पोपजी की लीला का अवलोकन कीजिए। जहाँ का हमने प्रमाण दिया है कि पराशर चाण्डालनी के गर्भ से पैदा हुए थे, उसे तो छूते नहीं, यूँ ही इधर-उधर की पुस्तकों के नाम लेकर उनके नाम पर झूठी बकवास कर रहे हैं। हमें महर्षि पराशर की वंश-परम्परा से कोई सरोकार नहीं और न ही इस बात से कोई प्रयोजन है कि पुराणों में अन्य स्थानों पर उनके सम्बन्ध में क्या लिखा है। हम तो पूछते हैं कि भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व, अध्याय ४२, श्लोक २२ तथा २७ में यूँ लिखा है—

श्वपाक्याश्च पराशरः॥२२॥ अर्थात् पराशर चाण्डाली से उत्पन्न हुए।

श्वपाकीगर्भसम्भूतः पिता व्यासस्य पार्थिव।
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम्॥२७॥

अर्थ—चाण्डालनी के गर्भ से पैदा हुए व्यास के पिता पराशर तप से ब्राह्मण बन गये, क्या इसमें संस्कार कारण है?

उपर्युक्त दोनों श्लोकों में पराशर की माता को श्वपाकी लिखा है। इस शब्द का अर्थ हम अमरकोश से आपको बतलाते हैं। देखिए, अमरकोश २।१०।२० में लिखा है—

निषादश्वपचावन्तेवासिचाण्डालपुक्कसाः॥

अर्थ—निषाद, श्वपच, अन्तेवासी, चाण्डाल और पुक्कस—ये नाम चाण्डाल के हैं।

इसमें जो श्वपच शब्द पुल्लिंग में आया है, इसी का स्त्रीलिंग में श्वपाकी बनता है, जिसका स्पष्ट अर्थ अमरकोश ने चाण्डाल किया है। अब बतलाइए कि यदि हमने श्लोक का अनुवाद कर दिया कि पराशर की माता चाण्डालनी थी तो हमने पाप किया अथवा भविष्यपुराण के कर्त्ता व्यासजी ने जिन्होंने अपनी दादी को ही चाण्डालनी लिख दिया? प्रत्येक परिस्थिति में आपकी अपेक्षा व्यासजी अधिक प्रामाणिक हैं, क्योंकि उनकी तो सगी दादी थी और आप केवल वकालत कर रहे हैं। वास्तविकता का पता आपको हो सकता है या व्यासजी को। शेष रहा आपका कुल-परम्परा का वर्णन करना, इसकी भविष्यपुराण से तुलना करके जो असत्य हो उसे दियासलाई दिखला दीजिए। बस, फिर आपकी जान इस पाप से छूट जाएगी, अन्यथा पुराणों का क्या विश्वास है? कहीं कुछ लिखा है, कहीं कुछ। इसकी संगति लगाने में अपना समय नष्ट न करें। हमें तो आक्षेप का उत्तर दे दीजिए, इधर-उधर की बातों में समय नष्ट न करें।

भला! यह तो बतलाएँ कि जब आप बीज प्रधान मानते हैं तो क्षेत्र के चाण्डालनी होने से आप पर क्या आपत्ति आ पड़ी? इससे पता लगा कि आप क्षेत्र को भी प्रधान मानते हैं, अन्यथा चाण्डलनी को ब्राह्मणी सिद्ध करने में आकाश-पाताल को एक न कर देते। अच्छा, एक बात और बता दो कि जब ऋष्यशृंग, कणाद और पराशर आदि ब्राह्मण का बीज थे, तो वे व्यास की भाँति जन्म से ही ब्राह्मण थे, फिर उनका तप से ब्राह्मण होना क्यों लिखा? इससे पता लगा कि आप क्षेत्र को प्रधान मानते हैं।

यदि वसिष्ठ के साथ अरुन्धती का विवाह हुआ था तो वसिष्ठ के कितनी स्त्रियाँ थीं, क्योंकि अक्षमाला भी वसिष्ठ की स्त्री मनुस्मृति में लिखी हुई है। यदि सारी कथा को देखा जाए तो पता लगता है कि पराशर की माता भी ब्राह्मणी थी और पिता भी ब्राह्मण था, तो पराशर तो हर प्रकार से ही ब्राह्मण हुआ, फिर भविष्यपुराण में यह क्यों लिखा है कि

पराशर तप से ब्राह्मण बन गया? इसलिए सिद्ध होता है कि वस्तुतः तो पराशर की माता चाण्डालनी ही थी, परन्तु पराशर की माता को ब्राह्मणी सिद्ध करने के लिए उक्त कथा जन्माभिमानी ब्राह्मणों ने घड़ी है, अतः भविष्पुराण का लेख ही ठीक प्रतीत होता है कि पराशर मुनि चाण्डालनी के गर्भ से पैदा होकर तप से ब्राह्मण बन गये।

पोपजी–ऋग्वेद मण्डल ७, सूक्त ३३ के मन्त्र का अर्थ।

तोपजी–आपने मन्त्र की संख्या नहीं दी। उक्त सूक्त में चौदह मन्त्र हैं। आपका कर्त्तव्य था कि आप मन्त्र की संख्या लिखते, परन्तु आपने कभी अपने कर्त्तव्य का अनुभव नहीं किया, अस्तु। हम लिख देते हैं कि मन्त्र-संख्या ११ है, परन्तु आपने इसका जो अर्थ किया है वह सर्वथा अशुद्ध है। वेद में किसी व्यक्तिविशेष का इतिहास नहीं है, फिर भला वसिष्ठ की उत्पत्ति का वर्णन वेदों में कैसे हो सकता है? आपको यह ज्ञात होना चाहिए कि वेदों के शब्द यौगिक हैं, अर्थात् इन शब्दों के धातुओं के अनुकूल जो अर्थ बनते हों, वे ही लिखे जाते हैं। आपको मन्त्रों में जहाँ कहीं वसिष्ठ आदि शब्द दिखाई दे जाते हैं, तो आप तुरन्त पुराणों की असम्भव कथाओं की ओर दुम उठाकर भाग पड़ते हैं और वेदमन्त्रों से इन्हें सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। श्रीमन्! वेदमन्त्रों में वसिष्ठ आदि जो शब्द हैं, वे आपके ऋषियों के नाम नहीं, अपितु ऋषियों ने वेदों में से शब्द देखकर अपने नाम वैसे रख लिये। देखिए, इस बात का समर्थन मनुस्मृति अध्याय १, श्लोक २१ में विद्यमान है–

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥

अर्थ–वेद के शब्दों से ही सबके नाम और पृथक्-पृथक् कर्मों को उसने बनाया और पृथक् संस्थाओं को भी वेद के शब्दों से ही बनाया।

बस, इस विधि के अनुसार ही ऋषि लोग भी अपने बच्चों के नाम वेदों को देखकर उनमें से सुन्दर-सा नाम चुनकर रख लिया करते थे। इसका यह अर्थ नहीं कि वेदों में उनका वर्णन है। भला! वेद में इस प्रकार की असम्भव बातें कैसे हो सकती हैं कि "उर्वशी को देखकर मित्र और वरुण का वीर्य गिर पड़ा और देवताओं ने उसे उठाकर घड़े में और जल में डाल दिया और इससे वसिष्ठ और अगस्त्यमुनिजी उत्पन्न हो गये।" क्यों श्रीमन्! आपके सब ऋषियों को यह दुष्ट रोग दूषित करता है? जिसे देखो उसी की धोती खराब होती दृष्टिगोचर होती है! और फिर देवताओं की भी विचित्र ड्यूटी [Duty] है कि वे हर समय ऋषियों की धोती का ध्यान रक्खें, जहाँ बात बिगड़ती दिखाई दे, झट उसे उठाकर उचित प्रबन्ध कर दें। और घड़े तथा जल से किसी के बीज से सन्तान होना सर्वथा असम्भव बात है। जब तक वीर्य के साथ स्त्री का रज न मिले सन्तान होना सम्भव ही नहीं। पुराणों की उत्पत्ति वस्तुतः ही परिहास के योग्य है–कहीं मेंढकी आधान, कहीं मृगी आधान, कहीं तोती आधान, कहीं उल्लूनी आधान, कहीं घड़ा आधान, कहीं जल आधान आदि-आदि। जब इन ऋषियों को गर्भाधान करना ही होता है, तो फिर क्या इनको स्त्रियाँ न मिलती थीं? गर्भाधान के समय जो मेंढकी आदि को जा पकड़ते थे तो क्या स्त्रियों में

१. मूलमन्त्र यह है–

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽ धि जातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवाः पुष्करे त्वाऽ ददन्त॥ –ऋ० ७।३३।११

नङ्गे लिङ्ग हाथ में लेकर वैसे ही, केवल नुमाईश [दिखावा] ही किया करते थे? और फिर यह कहते हुए भी शर्म नहीं आती कि पुराण वेदों के अनुकूल हैं और साक्षी के लिए पकड़ लिये पण्डित राजारामजी। अजी महाराज! हमारे लिए तो वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध लिखनेवाले सब पोप ही हैं।

परन्तु स्मरण रखना, ये सब लोग टकों के ही यार हैं, इन्हें तो पेटपूजा से प्रयोजन है। इनकी ओर से सचाई जाए भाड़ में। वैदिक सिद्धान्त टकापन्थी पण्डितों के आश्रय पर ठहरा हुआ नहीं है। इसके प्रचारक ऋषि लोग ही सिद्धान्तों के रक्षक होते हैं। देखिए, इस मन्त्र का ऋषि दयानन्दजी महाराज अपने भाष्य में क्या अर्थ करते हैं—

"**पदार्थ**—हे समस्त वेदों को जाननेवाले, पूर्ण विद्यावान् जो प्राण और उदान के समान वेत्ता आप विशेष विद्या से और मन से अधिकतर उत्पन्न हुए, उन आपको समस्त विद्वान् जन बहुत धन से और विद्वानों से किये हुए व्यवहार से अन्तरिक्ष में व्याप्त मनोहर पदार्थ को देवें।

भावार्थ—जो मनुष्य शुद्धान्तःकरण से प्राण और उदान के तुल्य और निरन्तर मनोहर विद्या को ग्रहण करते हैं, वे विद्वानों के समान आनन्दित होते हैं।"

देखिए, कैसा सच्चा, उत्तम और शिक्षादायक अर्थ है! इसमें आपके कल्पित ऋषियों की उत्पत्ति का चिह्न भी नहीं है। तनिक मस्तिष्क को ठीक करके बुद्धि से काम लिया करें।

पोपजी—इतना ही नहीं, अपितु ऋग्वेद मण्डल ७, सूक्त ३३, मन्त्र १० में लिखा है।[१]

तोपजी—इस मन्त्र में भी पहले मन्त्र की भाँति आपके पौराणिक ऋषि वसिष्ठ और अगस्त्य की उत्पत्ति का वर्णन नहीं है। देखिए, ऋषि दयानन्दजी क्या भाष्य करते हैं—

"**पदार्थ**—हे प्रशंसायुक्त विद्वन्! जो निर्दोष जन आपको और प्रजाओं को सब ओर से धारण करता और एक जन्म को सब ओर से धारण करता और आपको सब ओर से धारण करता तथा जिस बिजली के प्रकाश को अधिकार त्याग करते हुए अध्यापक और उपदेशक देखते हैं, आपको इस विद्या की प्राप्ति कराते हैं, उस समस्त विषय को आप ग्रहण करें।

भावार्थ—जिस मनुष्य का विद्या में जन्म=प्रादुर्भाव होता है, उसकी बुद्धि बिजली की ज्योति के समान सकल विद्याओं को धारण करती है।"

यह मन्त्र भी उत्तम विद्याओं के पढ़ने-पढ़ाने का उपदेश करता है, न कि पौराणिक ऋषियों की उत्पत्ति का।

पोपजी—ऋग्वेद के मण्डल ७, सूक्त ३३, मन्त्र १३ में स्पष्ट लिखा है।[२]

तोपजी—इस मन्त्र में भी मित्र और वरुण के यज्ञ में आने, उर्वशी को देखकर उनके वीर्य के गिरने और उसे घड़े और जल में डालने तथा उससे अगस्त्य और वसिष्ठ की उत्पत्ति की चर्चा तक नहीं है। इस प्रकार के बेहूदा और अश्लील लेख पुराणों में ही मिल

---

१. मूलमन्त्र ये हैं—

विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा विश आजभार॥ —ऋ० ७।३३।१०

२. **सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।**
ततो ह मान उदियाय मध्यात्ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥ —ऋ० ७।३३।१३

सकते हैं। वेदों में से इस प्रकार की भौंडी और असम्भव, व्यर्थ बातें निकालने का प्रयत्न करके आप वेदों को भी पुराणों की भाँति दूषित करना चाहते हैं। ऋषि दयानन्द के अर्थ देखिए—

"**पदार्थ**—यदि प्रसिद्ध हुए अध्यापक और उपदेशक अन्नादिकों से दीर्घ काल तक चलनेवाले पढ़ाने-पढ़नेरूप यज्ञ में कलश में जल के समान विज्ञान को सींचे—छोड़ें, उसी से ही जो माननेवाला उदय को प्राप्त होता है, उस मध्य से उत्पन्न हुए उत्तम वेदार्थवेत्ता विद्वान् को कहते हैं।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे स्त्री और पुरुषों से सन्तान उत्पन्न होता है, वैसे अध्यापक और उपदेशकों के पढ़ाने और उपदेश करने से विद्वान् होते हैं।"

देखिए इस मन्त्र में कितना उत्तम उपदेश है! तनिक होश ठिकाने करके और पौराणिक संस्कारों को अन्दर से बाहर निकालकर इस मन्त्र का मनन करें। पुराणों की गन्दगी मस्तिष्क में भरकर वेदों के अर्थ नहीं समझे जा सकते। इन वेदमन्त्रों से तो पुराणों का कलंक धोया नहीं जा सकता। पुराणों की जो बात देखो विचित्र ही दिखाई देगी। आप तो यह सिद्ध करने की धुन में है कि उर्वशी को देखकर मित्र और वरुण का वीर्य गिर पड़ा और देवताओं ने उठाकर घड़े और जल में डाल दिया, इससे अगस्त्य और वसिष्ठ उत्पन्न हुए और भविष्यपुराण कहता है कि—

गणिकगर्भसम्भूतो वसिष्ठश्च महामुनिः॥ —भ० ब्राह्म० ४२।२९

वसिष्ठमुनि कंजरी के गर्भ से पैदा हुए और वज्रसूचिकोपनिषद् कहता है—**वसिष्ठ उर्वश्याम्**—वसिष्ठजी उर्वशी से उत्पन्न हुए। भला! जब उसके तो केवल देखने से ही वीर्य निकल गया था, उसके शरीर के साथ तो छुआ तक भी नहीं, फिर वसिष्ठ को उर्वशी के गर्भ से और उसका पुत्र क्यों लिखा? यदि कहो कि क्योंकि उसके देखने से वीर्यपात हुआ था, इसलिए उसके पुत्र कहाये, तो फिर अगस्त्यमुनि भी उर्वशी के गर्भ से अथवा उसके पुत्र क्यों नहीं कहाये, जबकि दोनों की उत्पत्ति का कारण एक-जैसा उर्वशी को देखकर वीर्य का निकलना है? वज्रसूचिकोपनिषद् में अगस्त्य के सम्बन्ध में यह कहा गया है—**'अगस्त्यः कलशे जातः'**—अगस्त्यमुनि घड़े में से पैदा हुए। सारांश यह कि या तो दोनों को उर्वशी के गर्भ से अथवा उसका पुत्र लिखा जाए, अन्यथा यदि अगस्त्य को घड़े से लिखा तो वसिष्ठ को जल से लिखा जाना चाहिए, क्योंकि उर्वशी का न इसमें कोई दोष है और न ही आपके विचार से उसके शरीर में वीर्य प्रविष्ट हुआ। वास्तविक बात यह है कि उर्वशी नाम की कंजरी के पेट से वसिष्ठ मुनि पैदा हुए और वे तप से ब्राह्मण बन गये। अब इस बात को छुपाने के लिए पुराणों ने अनेक प्रकार की कहानियाँ घड़ी हैं जोकि असम्भव हैं। वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड, सर्ग ५६ तथा ५७ में लिखा है कि—

"वरुण अपने गृह पर बैठा था कि सहसा उर्वशी उधर आ गयी। उसे देखकर वरुण कामी हो उठा। उसने उर्वशी से मैथुन करने के लिए कहा। उसने उत्तर दिया कि मुझे आपसे पहले मित्र ने बुलाया है। तब वरुण ने कहा कि मैं अपने वीर्य को घड़े में डाल दूँगा। मेरा भी प्रयोजन पूर्ण हो जाएगा, यदि मैं तुझमें मन लगाकर वीर्य को घड़े में डालूँगा। उर्वशी ने कहा—बहुत अच्छा, मेरा हृदय तेरा है और शरीर मित्र का हुआ। उर्वशी के यह कहने पर वरुण ने अपना बीज घड़े में डाल दिया। इसके पश्चात् उर्वशी मित्र के पास गयी तो उसने क्रुद्ध होकर कहा कि जब पहले मैंने बुलाया तो तू वरुण के पास क्यों गयी?

तू दुराचारिणी है, क्योंकि पहले मुझे पति बनाकर तू और के पास चली गयी, अतः मैं तुझे शाप देता हूँ कि तू संसार में पुरुरवा की पत्नी बनेगी। इसी उक्त घड़े में पहले मित्र का भी बीज था, दोनों के सम्मिलित बीज से वसिष्ठजी उत्पन्न हुए–

तद्धि तेजस्तु मित्रस्य उर्वश्या पूर्वमाहितम्। तस्मिन्समभवत्कुम्भे तत्तेजो यत्र वारुणम् ॥६॥
कस्यचित्त्वथ कालस्य मित्रवरुणसम्भवः। वसिष्ठस्तेजसा युक्तो जज्ञे इक्ष्वाकुदैवतम् ॥७॥

–वा० रा० उत्तरकाण्ड ५७।६-७

अर्थ–वही मित्र का तेज भी उर्वशी ने पहले घड़े में डाल दिया था, अतः इस घड़े में मित्र और वरुण का तेज इकट्ठा हो गया। किसी समय इस मित्र और वरुण के मिश्रित वीर्य से वसिष्ठजी पैदा हुए जो इक्ष्वाकुकुल के देवता थे।"

इस कथा को पढ़कर कौन बुद्धिमान् यह परिणाम न निकालेगा कि केवल वसिष्ठ की उत्पत्ति पर पर्दा डालने के लिए ही इस प्रकार की बेहूदा और असम्भव कहानियाँ घड़ी गयी हैं, अन्यथा वसिष्ठ की उत्पत्ति कंजरी के पेट से हुई और वे तप से ब्राह्मण और ऋषि बन गये और यहाँ तक कि श्रीराम के गुरु बने।

पोपजी–यह भी ध्यान रहे कि किसी प्राणी–उदाहरणार्थ उल्लू आदि से मनुष्य, उत्पन्न करना असम्भव नहीं। योग-शक्तियाँ विचित्र हुआ करती हैं। ऋषि लोग जीवधारियों से तो क्या, आकाश से ही सन्तान प्राप्त कर सकते हैं; सन्तान तो उन्हें योग से सांकल्पिक रूप से ही प्राप्त करनी होती है।

तोपजी–हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि जैवी सृष्टि में सन्तान बिना स्त्री और पुरुष के सम्भोग के पैदा हो ही नहीं सकती। हम यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि मनुष्यों के बीज के लिए पशुओं का क्षेत्र उपयुक्त नहीं है और न इसके बीज से पशुओं में सन्तति पैदा हो सकती है। हम इस विषय में और प्रमाण प्रस्तुत करना चाहते हैं–

१. क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्। क्षेत्रबीजसमायोगात् सम्भवः सर्वदेहिनाम्॥

–मनु० ९।३३

२. अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति। अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत्॥

–मनु० १०।७१

३. तिर्यग्जातिः स्त्रिया साकं कुर्वाणाऽपि हि मैथुनम्।
न तस्याः कुरुते गर्भं नरो नापि सुखासिकाम् ॥४३॥

४. तिरश्चा सह कुर्वाणा मैथुनं मनुजांगना।
न धत्ते तत्कृतं गर्भं न युक्तं मैथुनं तयोः ॥४४॥

–भविष्यपु० ब्राह्म० ४३।४३-४४

५. आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम्।
ऋषीणामपि का शक्तिः स्त्रष्टुं रामामृते प्रजाम्॥

–महा० आदि० ७४।५५ [गीताप्रे० ५२]

अर्थ–१. स्त्री क्षेत्र होती है और पुरुष बीज होता है। खेत और बीज के मिलने से ही सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है।॥३३॥

२. बिना क्षेत्र अथवा दूषित क्षेत्र में डाला हुआ बीज वैसे ही नष्ट हो जाता है और बीज के बिना खेत भी कल्लर (ऊसर) ही होता है।॥७१॥

३. पशुजाति की नारी के साथ भोग करके भी मनुष्य न उसके गर्भ स्थापित कर सकता है और न ही उसे सुख पहुँचा सकता है।।४३।।

४. मनुष्यजाति की स्त्री पशुओं के साथ भोग करके भी इससे गर्भाधारण नहीं कर सकती और न ही इनका भोग उचित है।।४४।।

५. आत्मा [पति के आत्मा] के पैदा होने का पुण्यक्षेत्र सनातनकाल से स्त्रियाँ ही हैं। ऋषियों की भी क्या शक्ति है कि बिना स्त्री के सन्तान उत्पन्न कर सकें।

परिणाम—इन श्लोकों से स्पष्ट सिद्ध है कि योगी और ऋषि भी बिना स्त्री से भोग के, और पशुओं से सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकते। योग-संकल्प से सन्तान होना **सर्वथा असम्भव है** और क्षेत्र तथा बीज के मिले बिना सन्तान उत्पन्न नहीं हो सकती, अतः पुराणों में जितनी इस प्रकार की प्रकृति-नियम के विरुद्ध उत्पत्तियाँ लिखी हुई हैं, वे सब असम्भव और ग़लत हैं।

पोपजी—लाला साहब! यदि कोई ब्राह्मण नीच कर्म करे तो सनातनधर्म के अनुसार उसे पतित समझा जाता है, परन्तु उसमें ब्राह्मणपन विद्यमान रहता है।

तोपजी—बलिहार जाएँ इस सनातनधर्म और इसकी दार्शनिकता के! यदि आज कोई ब्राह्मण मुसलमान बनकर गोमांस खाए, गौओं को काटकर गोमांस बेचे, चोटी और यज्ञोपवीत छोड़कर नमाज पढ़े, रोजा रक्खे और मुस्लिम स्त्री से विवाह करे तो इसे पतित समझा जाएगा, परन्तु इसमें ब्राह्मणपन भी विद्यमान रहेगा। पता नहीं लगता कि वह ब्राह्मणपन क्या वस्तु है जो इतने कुकर्मों के पश्चात् भी विद्यमान रहता है। क्यों भारत के नाश करने का ठेका लिया है? कुछ शर्म करो! धिक्कार भेजो ऐसे ब्राह्मणपन पर और सनातनधर्म पर जो गोमांस खाने, गौ काटकर मांस बेचने पर भी ब्राह्मण ही रहे! आपका यह सिद्धान्त शास्त्रों के सर्वथा विरुद्ध है। देखिए, महाभारत वनपर्व, अध्याय १८० में सर्पराज और युधिष्ठिर का संवाद इस रूप में है—

सर्प—हे राजन्! ब्राह्मण किसे कहते हैं? [२०]

युधिष्ठिर—सत्य, दान, क्षमा, शील, निरभिमानता, तप, बुराई से घृणा—जिसमें ये गुण विद्यमान हों उसे ब्राह्मण कहते हैं। [२१]

सर्प—हे युधिष्ठिर! उक्त गुण—सत्य, अहिंसा, बुराई से घृणा आदि चारों वर्णों में समान हो सकते हैं और सत्य, दान तथा क्रोध न करना आदि गुण शूद्रों में भी हो सकते हैं।[२३-२४]

युधिष्ठिर— **शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते ।**
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥२५॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्रह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥२६॥

अर्थ—यदि उक्त लक्षण शूद्र में तो हों और ब्राह्मण में न हों तो वह शूद्र शूद्र नहीं और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं हो सकता।।२५।। हे सर्प! जिसमें सत्य आदि लक्षण विद्यमान हों, वह ब्राह्मण है और जिसमें ये न हों उसी का नाम शूद्र है।।२६।।

सर्प—हे राजन्! यदि आपने गुण-कर्म-स्वभाव से ब्राह्मण होना मान लिया तो बिना कर्मों के जाति व्यर्थ हो गयी? [३०]

युधिष्ठिर—हे महासर्प! यहाँ पर जाति मनुष्यपन ही मानी जाती है जोकि चारों वर्णों में समान होने से ब्राह्मण आदि की पृथक्-पृथक् नहीं पहचानी जा सकती, ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है॥३१॥ सब मनुष्य सदा सब स्त्रियों से सन्तान उत्पन्न करते हैं। वाणी, मैथुन तथा जन्म और मरण—ये सब मनुष्यों में एक-से ही हैं॥३२॥

इदमार्षं प्रमाणं च य यजामह इत्यपि। तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः॥३३॥

अर्थ—यह ऋषियों का प्रमाण है कि जो यज्ञ करते है वे ही ब्राह्मण हैं, अतः गुण-कर्म-स्वभाव ही प्रधान माना जाता है। ऐसा, तत्त्व के जाननेवाले लोग कहते हैं॥३३॥

अब कहिए पोपजी महाराज! महाभारत तो स्पष्ट कह रहा है कि यदि ब्राह्मण में ब्राह्मण के गुण-कर्म-स्वभाव न हों और शूद्र के हों तो वह शूद्र बन जाता है। महाभारत ने तो आपका सारा गर्व खर्व [चूर] कर दिया।

मनुस्मृति अध्याय ३ श्लोक १७ में लिखा है कि 'शूद्रा को चारपाई पर सुलाकर [शूद्रा से सम्भोग करके] ब्राह्मण अधोगति को प्राप्त होता है और उसमें सन्तान उत्पन्न करके ब्राह्मणपन से ही हीन हो जाता है।" अतः आपका सर्वथा असत्य और मूर्खता का दावा महाभारत, मनुस्मृति, बुद्धि और तर्क के सर्वथा विरुद्ध है।

तोपजी—जैसेकि यदि लड्डू गन्दी नाली में पड़ जाए, तो सब लोग उसे मलिन समझकर छोड़ देते हैं, प्रयोग में नहीं लाते, परन्तु वह मलिन होने पर भी लड्डू ही कहलाता है, इसे किसी और नाम से नहीं पुकारा जाता, इसी प्रकार यदि कोई ब्राह्मण मुसलमानों का काम करे तो उसे हम अपनी जाति से अलग समझेंगे और रोटी-बेटी का सम्बन्ध नहीं रक्खेंगे—यही सनातनधर्म का अटल सिद्धान्त है।

तोपजी—आपने जो ब्राह्मण का लड्डू के समान होने का उदाहरण दिया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार लड्डू अपनी आकृति व बनावट के कारण दूसरी मिठाइयों—जलेबी, बालूशाही, बर्फी आदि में से अलग पहचाना जा सकता है, इसी प्रकार ब्राह्मण अपनी आकृति, रंग-रूप अथवा बनावट के कारण दूसरे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में से अलग नहीं पहचाना जा सकता, क्योंकि जैसे एक विशेष गोल आकृतिवाली मिठाई का नाम लड्डू है, वैसे ही किसी विशेष आकृतिवाले मनुष्य का नाम ब्राह्मण नहीं है, अतः ब्राह्मण के लड्डू के समान होने का उदाहरण ठीक नहीं है। हाँ, यदि ब्राह्मण के मनुष्यपन की लड्डू से और ब्राह्मणपन की लड्डू की पवित्रता से उपमा दी जाए तो बिल्कुल ठीक बात बन जाती है। जैसे लड्डू अपनी आकृति और बनावट के कारण दूसरे मिठाइयों में से अलग पहचाना जाता है, इसी प्रकार से ब्राह्मण का मनुष्यपन भी आकृति और बनावट के कारण दूसरे प्राणियों से पृथक् पहचाना जाता है। इसी प्रकार से जैसे लड्डू की पवित्रता लड्डू को खाने के योग्य और थाली में रखने योग्य बनाती है, वैसे ही मनुष्य को ब्राह्मणपन भी आदर और सन्मान के योग्य बनाता है। जैसे लड्डू यदि गन्दी नाली में गिर जाए तो वह मलिन होने के कारण खाने के योग्य तो नहीं रहता, परन्तु वह कहलाता लड्डू ही है, इसी प्रकार से यदि ब्राह्मण मुसलमान के काम करे तो वह ब्राह्मण नहीं रहता परन्तु कहलाता मनुष्य ही है।

हम इस बात को अच्छी प्रकार सिद्ध कर चुके हैं कि ब्राह्मण शूद्र के काम करने से शूद्र ही हो जाता है, अतः आपका दृष्टान्त ग़लत और हमारा सर्वथा सत्य=ठीक है। इससे सिद्ध हुआ कि मुसलमान हो जाने के पश्चात् वह ब्राह्मण नहीं रहता, अपितु मुसलमान ही

हो जाता है, अन्यथा यदि मुसलमानों के कर्म करने के पश्चात् भी उसमें ब्राह्मणपन विद्यमान रहता है तो जब तक उसमें ब्राह्मणपन विद्यमान है, वह ब्राह्मण है। आपको उससे जाति से पृथक् करने का अधिकार नहीं है, अतः आपको उसे रोटी-बेटी का व्यवहार करना चाहिए, परन्तु आप नहीं करते, इसलिए पता लगा कि मुसलमानों का काम करनेवाले को आप ब्राह्मण स्वीकार नहीं करते, केवल जनता को धोखा देने के लिए झूठी प्रतिज्ञा करते हैं।

पोपजी—पं० राजनारायण 'अरमान' जी पर जो आपने व्यक्तिगत आक्षेप किया है, वह निराधार और असत्य है। इस प्रकार किसी पर झूठा दोषारोपण ठीक नहीं।

तोपजी—हमने न अरमानजी पर झूठा दोषारोपण किया है और न ही व्यक्तिगत आक्षेप किया है, अपितु हमने तो अपनी पुष्टि में अरमानजी को एक समादरणीय साक्षी के रूप में प्रस्तुत किया है, क्योंकि अरमानजी की धर्मपत्नी जन्म से काश्मीरन मुसलमान थी। इनको रायसाहब लाला रोशनलालजी बैरिस्टर, प्रधान आर्यसमाज बच्छोवाली, लाहौर की कोठी पर शुद्ध किया गया और विधिवत् अरमानजी का विवाह उसके साथ कर दिया गया। बाद में आर्यसमाज ने अरमानजी को सैद्धान्तिक मतभेद के कारण आर्यसमाज से पृथक् कर दिया और वे सनातनधर्म के उपदेशक बन गये और वह स्त्री उनके घर में विद्यमान है और अरमानजी उस स्त्री की विद्यमानता में सनातनधर्म के मञ्चों पर दनदना रहे हैं। मैं चकित हूँ कि आप इससे सिटपिटा क्यों गये? जब आपके यहाँ वीर्य प्रधान माना जाता है तो खेत का तो झगड़ा ही नहीं चाहे कोई भी हो, और फिर सनातनधर्म ने तो सहस्रों मुसलमानों को शुद्ध करके सनातनधर्म में प्रविष्ट किया है।

भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय २१, श्लोक १५ से १९ तक में लिखा है– "सरस्वती की आज्ञा से कण्वमुनि मिस्र देश में गये। तब दस सहस्र मुसलमानों को संस्कृत पढ़ाकर अपने वश में करके उत्तम देश ब्रह्मावर्त में स्वयं ले-आये।।१५।। उन्होंने तप करके सरस्वती देवी की स्तुति की। पाँच वर्ष में देवी सरस्वती प्रकट हुई और इन म्लेच्छों को स्त्रियों-सहित शूद्रवर्ण में प्रविष्ट कर दिया।।१६।। वे सब-के-सब सेवा का कार्य करते हुए बहुत पुत्रोंवाले हो गये तब इनमें से दो सहस्र वैश्य बन गये।।१७।। इनमें से एक पृथु नामक आचार्य कश्यप का सेवक था। उसने बारह वर्ष तक तप करके मुनि की स्तुति की।।१८।। तब कण्वमुनि ने प्रसन्न होकर इसे क्षत्रिय राजा बना दिया और राजपुत्र नामक नगर इन्हें दे दिया।।१९।।

फिर भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय २०, श्लोक ७२-७३ में उल्लेख है कि– "मिस्र देश में उत्पन्न हुए म्लेच्छों को कश्यप के पुत्र कण्व ने अपने वश में किया। इनका संस्कार करके शूद्रों से ब्राह्मण वर्ण तक इनको बनाया। उन्होंने सिर पर चोटी रक्खी, यज्ञोपवीत पहना, वेद पढ़ा और यज्ञों के द्वारा इन्द्र को प्रसन्न किया।"

इसी प्रकार भविष्पुराण प्रतिसर्ग पर्व ३, खण्ड ४, अध्याय २१, श्लोक ५२ से ५८ तक में लिखा है कि "रामानन्द के चेलों ने अयोध्या में मुसलमानों को शुद्ध किया और उनको वैष्णव बनाया।" आदि-आदि अनके प्रमाण हैं कि सनातनधर्म ने मुसलमानों को शुद्ध करके सनातनधर्म में प्रविष्ट किया। रह गया पं० राजनारायण 'अरमान' की भाँति विवाह का प्रश्न, उसका भी भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड १, अध्याय ६, श्लोक ४३ में उल्लेख है कि–

चन्द्रगुप्तस्तस्य सुतः पौरसाधिपतेः सुताम्। सुलूकस्य तथोद्वाह्य यावनीबौद्धतत्परः।।४३।।

अर्थ—चन्द्रगुप्त के पुत्र ने राजा पौरस की कन्या और राजा सैल्यूकस की कन्या—दोनों से विवाह करके यवन और बौद्धमतों को मिला दिया।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि चन्द्रगुप्त के पुत्र ने मुस्लिम कन्या से विवाह किया। जब सनातनधर्म में यह सब-कुछ पच सकता है तो बेचारे अरमानजी तो हैं ही क्या?

पोपजी—आप तनिक अपने उदाहरण को ही दोहराइए, उत्तर स्वयं ही मिल जाएगा।

तोपजी—तनिक मेरे सम्बन्ध में बतला तो दिया होता कि उदाहरण क्या है? आप झिझक क्यों गये? जैसे मैंने पं० राजनारायणजी 'अरमान' के सम्बन्ध में स्पष्टवादिता से काम लिया है, ऐसे ही आपको भी स्पष्ट बतलाना चाहिए था कि मेरा उदाहरण क्या है? परन्तु झूठों में साहस कहाँ? कल्पना करो यदि मेरा कोई उदाहरण भी हो तो उससे सिद्ध क्या होगा? हम तो गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था मानते हैं और सबको शुद्ध कर लेते हैं, सबको मिला लेते हैं, उनसे विवाह भी कर लेते हैं। यह सब हमारे तो सिद्धान्त के अनुकूल है, परन्तु इससे आपकी क्या बात सिद्ध होगी? आप बताएँ कि पं० राजनारायण 'अरमान' के घर शुद्ध हुई मुसलमानी की विद्यमानता में इनका सनातनधर्म के मञ्च पर दनदनाना आर्यसमाज के गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्णव्यवस्था के सिद्धान्त को सिद्ध करता है, या नहीं।

पोपजी—लाला साहब! इस इतिहास से आपका सिद्धान्त **कर्म का वर्ण से परिवर्तित होना** सिद्ध नहीं होता। सनातनधर्म के वीर्यप्रधानता के अटल सिद्धान्त के अनुसार क्षत्रिय-कुलभूषण ययाति से शुक्रपुत्री देवयानी के गर्भ से यदुकुमार क्षत्रिय माने गये।

तोपजी—आर्यसमाज के तड़ातड़ प्रश्नों की मार से प्रतीत होता है कि आपकी खोपड़ी पिलपिली हो गयी है और आप अपना विवेक खो बैठे हैं, तभी तो जो जी में आता है लिख मारते हैं। श्रीमन्! हम वर्ण से कर्म का परिवर्तन होना नहीं मानते, अपितु कर्म से वर्ण का परिवर्तन होना मानते हैं और यह बात इस इतिहास से सम्यक् सिद्ध है; क्योंकि राजा ययाति क्षत्रिय थे और देवयानी ब्राह्मण की लड़की थी तथा शर्मिष्ठा राक्षस की पुत्री थी। देवयानी और शर्मिष्ठा दोनों ही गुण-कर्म-स्वभाव से क्षत्रिय वर्ण के योग्य थीं, अतः उनका राजा ययाति से विवाह हो गया और इन दोनों से यादव और कौरव वंश चला।

यदि सनातनधर्म बीज को प्रधान मानता है तो व्यासजी के बीज से पैदा होकर धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर क्षत्रिय क्यों बन गये? और व्याध के बीज से पैदा होकर व्याधकर्मा ब्राह्मण कैसे बना? दीर्घतमा के बीज से पैदा होकर राजा बलि के लड़के क्षत्रिय क्यों बने? ब्राह्मणों से सन्तान उत्पन्न करके क्षत्राणियों ने क्षत्रिय वंश कैसे चलाये? अतः बीज के प्रधान होने की बात तो केवल सनातनधर्म का ढोंग ही है।

पोपजी—अब प्रश्न यह रहा कि ययाति ने ब्राह्मण-कन्या से विवाह क्यों किया? इसका उत्तर महाभारत आदिपर्व, अध्याय ७६ से ८१ तक पढ़ने से अच्छी प्रकार ज्ञात हो जाता है।

तोपजी—बेईमानी इसी का नाम है कि कथा अधूरी लिख दी और बहुत-सी असम्भव घटनाओं को, जो कथा को झूठा सिद्ध करने में स्वयं प्रमाण हैं, सर्वथा छोड़ दिया, और आश्चर्य यह कि देवयानी के विवाह का तो कुछ वर्णन किया, परन्तु शर्मिष्ठा के विवाह की चर्चा तक नहीं की। कच विद्या पढ़ने क्यों आया? राक्षस लोग इसे मारकर कहाँ डाल आते और शर्मिष्ठा की देवयानी से लड़ाई किसलिए हुई? और राजा ययाति ने कब देवयानी

को कुएँ से निकाला और कब विवाह हुआ आदि-आदि बातों की चर्चा तक भी नहीं की। कारण यह कि इनका वर्णन करने से पोपजी की पोल खुलती थी। राक्षसों के राजा वृषपर्वा को केवल राजा लिखकर धोखा दिया तो कच से यह शाप दिलवा दिया कि 'ब्राह्मण से तुम्हारा विवाह नहीं होगा' आदि-आदि बीसियों झूठ बोले गये हैं। हम महाभारत से वास्तविक कथा हूबहू लिख देते हैं। कथा इस प्रकार है—

"इस संसार का स्वामी बनने के लिए पूर्व समय में देवों और राक्षसों में बड़ा भारी युद्ध हुआ। देवताओं के गुरु बृहस्पति थे और राक्षसों के गुरु शुक्राचार्य थे। युद्ध में जिन राक्षसों को देवताओं ने मारा था, शुक्राचार्य ने **उन्हें जीवित कर दिया**, परन्तु **राक्षसों ने जिन देवताओं को मारा था, बृहस्पति उन्हें जीवित न कर सके।** तब सब देवताओं की प्रार्थना पर बृहस्पति का बड़ा पुत्र कच शुक्राचार्य के पास संजीवनी विद्या सीखने गया। **कच ने नाचकर, गाकर और बजा-बजाकर** शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी को प्रसन्न कर लिया। तब देवयानी भी एकान्त में **खेल-कूद और गाने-बजाने** से कच की सेवा करने लगी। एक बार राक्षसों ने कच को अकेला पाकर शत्रुता के कारण मार डाला और उसके टुकड़े-टुकड़े करके भेड़ियों और गीदड़ों को खिला दिया। सायंकाल देवयानी के विवश करने पर शुक्राचार्य ने संजीवनी विद्या का प्रयोग किया तो कच सब भेड़ियों और गीदड़ों का पेट फाड़कर जीवित होकर आ गया। पुनः राक्षसों ने कच को मारकर और पीसकर समुद्र में मिला दिया, तब फिर शुक्राचार्य ने उसे पूर्व की भाँति जीवित कर लिया। तब राक्षसों ने कच को मार, उसे जला और पीसकर **शराब में मिलाया और शुक्राचार्य को ही वह शराब पिला दी।** तब कच के घर न आने पर देवयानी ने पुनः शुक्राचार्य को विवश किया तो शुक्राचार्य ने बहुत समझाया कि तुझे उसके लिए शोक करना उचित नहीं, परन्तु देवयानी ने कहा कि मैं कच के बिना मर जाऊँगी। तब शुक्राचार्य ने पुनः सञ्जीवनी विद्या का प्रयोग किया तो कच **शुक्राचार्य के पेट में जीवित होकर** बोला। तब शुक्राचार्य ने **इसे पेट में ही संजीवनी विद्या पढ़ाई**, तब कच पेट फाड़कर बाहर आ गया तो शुक्राचार्य मर गया। तब कच ने शुक्राचार्य को जीवित कर लिया। तब शुक्राचार्य ने यह मर्यादा स्थिर की कि आज से जो ब्राह्मण मद्यपान करेगा, **उसके धर्म का नाश** हो जाएगा। धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण के जो धर्म बताये हैं, **उनमें आज मैं यह भी सम्मिलित करता हूँ।** जब कच की विद्या पूरी हुई तो वह जाने लगा। देवयानी ने **उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट की** परन्तु कच ने स्पष्ट इन्कार कर दिया कि तू गुरु की पुत्री होने से मेरी बहिन है। तब देवयानी ने शाप दिया कि **तेरी विद्या निष्फल होगी।** कच ने भी देवयानी को शाप दिया कि कोई ऋषिकुमार तुझसे विवाह न करेगा, जैसाकि लिखा है—

ऋषिपुत्रो न ते कश्चिज्जातु पाणिं ग्रहीष्यति॥ —महा० आदि० ७७।१९

कच स्वर्गलोक चला गया और वह सञ्जीवनी विद्या देवताओं को सिखा दी और इन्द्र से कहा कि अब अवसर है कि राक्षसों पर आक्रमण करके बदला लो। इन्द्र ने आक्रमण कर दिया। मार्ग में देवयानी और राक्षसों के राजा वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा सहेलियों-सहित उद्यान में जल-क्रीड़ा कर रही थी। तब इन्द्र ने वायु का रूप धारण कर इनके **वस्त्र आपस में मिला दिये।** जब वे स्नान करके बाहर आईं तो शर्मिष्ठा ने भूल से देवयानी के वस्त्र पहन लिये। इससे देवयानी क्रुद्ध हुई तो शर्मिष्ठा ने कहा कि तेरा पिता मेरे पिता की स्तुति करता है और हमसे दान लेता है, तू भिखमंगी मुझसे लड़ती है। जब देवयानी के साथ

अधिक कलह हुआ तो शर्मिष्ठा ने देवयानी को कुएँ में धकेल दिया। इधर से राजा ययाति आखेट करता हुआ आ गया। वह प्यास से व्याकुल होकर कुएँ पर गया तो कुएँ में देवयानी को देखकर **उसने हाथ पकड़कर बाहर निकाल दिया** और स्वयं अपने घर चला गया। देवयानी ने नगर से आयी एक दासी के द्वारा अपने पिता को वहाँ बुलवाया और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। तब शुक्राचार्य के कहने पर राक्षसों के राजा वृषपर्वा ने देवयानी को प्रसन्न करने के लिए अपनी पुत्री शर्मिष्ठा को सहस्रों दासियोंसहित देवयानी की दासी बना दिया। इसके पश्चात् पुनः एक बार देवयानी शर्मिष्ठासहित वन में लेटी हुई थी और शर्मिष्ठा उसके चरण दबा रही थी, इतने में राजा ययाति पुनः शिकार खेलता हुआ आ गया और पूछने लगा—**तुम दोनों कौन हो?** देवयानी ने अपना और शर्मिष्ठा का परिचय दिया और राजा से पूछा—तुम कौन हो? राजा ने भी अपना परिचय दिया। तब देवयानी ने कहा—मैं आपसे विवाह करूँगी। राजा ने कहा कि मैं क्षत्रिय हूँ और तू ब्राह्मणी है। तब देवयानी ने कहा कि आप भी ऋषिकुमार और स्वयं ऋषि हैं—

संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं क्षत्रेण ब्रह्म संहितम्। ऋषिश्चाप्यृषिपुत्रश्च नाहुषाङ्ग वहस्व माम्॥

—महा० आदि० ८१।१९

अर्थ—ब्राह्मणों से क्षत्रिय उत्पन्न हुए और क्षत्रियों से ब्राह्मण मिले हुए हैं। **आप स्वयं ऋषि हैं** और ऋषि के पुत्र हैं, अतः आप मेरे साथ विवाह कर लें।

और क्योंकि कुएँ में से निकालते समय आपने ही मेरा हाथ पकड़ा था, अतः मैं आपको छोड़कर और किसी से विवाह नहीं करूँगी। अन्ततः शुक्राचार्य को बुलाया गया और उनकी सम्मति से दोनों का विधिपूर्वक विवाह कर दिया गया तथा वृषपर्वा राक्षस की पुत्री शर्मिष्ठा भी सहस्रों दासियोंसहित देवयानी के साथ ही ययाति के यहाँ चली गयी, आदि-आदि।

अब इस कथा पर तनिक ध्यान दें—

१. क्या मृतक भी जीवित किया जा सकता है? कदापि नहीं। आज तक मृतक न कभी जीवित हुआ और न कभी होगा। यदि मृतक जीवित हो सकते तो आज सहस्रों वर्ष के व्यक्ति हमें जीवित दिखाई देते। राजा दशरथ को वसिष्ठ आदि ऋषि भी जीवित न कर सके। अभिमन्यु के मरने पर अर्जुन, सुभद्रा और श्रीकृष्ण आदि सब रोते हैं, परन्तु कोई भी अभिमन्यु को जीवित नहीं कर सका, अतः मृतक को जीवित करने का विचार बिल्कुल ग़लत और असम्भव है।

२. क्या देवताओं की मृत्यु हो जाती है? आपने अपनी पुस्तक के पृष्ठ ४४, पंक्ति १४ में लिखा है कि "देवता अमर होते हैं।" यहाँ पर स्पष्ट लिखा है कि जिन देवताओं को राक्षसों ने मार दिया, उन्हें बृहस्पति जीवित न कर सके, अतः देवता नाम किसी विशेष हस्ती का नहीं है; धर्मात्मा मनुष्य ही देवता होते हैं।

३. कच का नाचना, गाना, बाजा बजाना और देवयानी का एकान्त में कच के सामने जाना, खेलना और उसकी सेवा करना—दोनों युवाओं का एकान्त में रहना आपत्तिजनक और विद्यार्थी-जीवन के प्रतिकूल है।

४. कच को मारकर टुकड़े-टुकड़े करके भेड़ियों और गीदड़ों को खिलाने के पश्चात् शुक्राचार्य की सञ्जीवनी विद्या के प्रयोग से उन भेड़ियों और गीदड़ों का पेट फाड़कर कच का जीवित हो जाना अत्यन्त हास्यजनक बात है।

५. प्रतीत होता है कि शुक्राचार्य को मद्यपान की लत थी, तभी तो शराब में कच की राख मिलाकर उसे पिलाने में राक्षस सफल हो गये और यह भी ज्ञात होता है कि पहले मद्यपान करना अधर्म नहीं था, क्योंकि लिखा है कि शुक्राचार्य ने कहा कि आज से जो ब्राह्मण शराब पिएगा, उसका धर्म नष्ट हो जाएगा और तब से शराब न पीना ब्राह्मण के धर्म में सम्मिलित किया गया। यह बात बिल्कुल असत्य है, क्योंकि मद्यपान को वेद ने आदिसृष्टि से ही पाप बतलाया है।

६. शुक्राचार्य के पेट में जीवित होकर कच का बोलना और उसे पेट में ही शिक्षा देना तथा पेट फाड़कर उसका बाहर आना और शुक्राचार्य को जीवित करना आदि सभी कुछ प्रेम-कहानियों की गप्पें है।

७. देवयानी का कच से विवाह करने की इच्छा प्रकट करना धर्म और मर्यादा के सर्वथा विरुद्ध था।

८. कच का विवाह से इन्कार करना बिलकुल ठीक और कारणों पर आधारित था।

९. निरपराध कच को शाप देकर उसकी विद्या का व्यर्थ करना सर्वथा अन्याय की बात थी।

१०. कच ने कहा था कि 'तेरा किसी ऋषिकुमार से विवाह न होगा' परन्तु ययाति को ऋषि और ऋषिकुमार ही लिखा है। क्या इससे कच का दिया हुआ शाप व्यर्थ तो नहीं गया?

११. यह इन्द्र की किस सभ्यता को प्रकट करता है कि उसने लड़कियों के कपड़े मिलाकर गडमड कर दिये और उनके लड़ने का सामान इकट्ठा कर दिया?

१२. ययाति ने जब देवयानी को कुएँ से हाथ पकड़कर निकाला, उस समय विवाह की कोई चर्चा नहीं हुई।

१३. कुछ दिनों के पश्चात् ययाति का इनसे पूछना और इनका ययाति का परिचय पूछना ऐसा प्रकट करता है कि जैसे पहले कोई परिचय न हो।

१४. देवयानी का प्रत्येक के गले का हार हो जाना कि मैं तुम्हारे साथ विवाह कराऊँगी, उसके उत्तम चालचलन का प्रमाण नहीं है।

१५. हाथ से पकड़कर कुएँ से निकालना भी विवाह कराने में कारण हो सकता है। यूँ हाथ पकड़ने से यदि विवाह आवश्यक हो जाए तो वैद्य और डॉक्टर आवश्यकता पड़ने पर सदा ही हाथ पकड़ते हैं।

सारांश यह कि यह कथा हर प्रकार से झूठी और अनर्गल प्रलाप से पूर्ण है। वस्तुतः बात यह है कि देवयानी सौन्दर्य-उपासक नारी थी, ययाति पर मुग्ध हो गयी और उससे विवाह कर लिया। चूँकि ब्राह्मणकुल में उत्पन्न लड़की का विवाह क्षत्रिय के साथ होना पोपों को अच्छा न लगा, अतः इसे ठीक सिद्ध करने के लिए झूठी, बनावटी और असम्भव कहानी घड़कर कच के शाप का बहाना बनाया गया है।

यदि इस कथा को एक मिनट के लिए सत्य भी स्वीकार कर लें, तो भी हमारे सिद्धान्त का खण्डन नहीं अपितु समर्थन होता है, क्योंकि देवयानी ब्राह्मणकुलोत्पन्न थी और वह इसी जन्म में इसी शरीर से क्षत्रिय के साथ विवाह कराने योग्य बन गयी, अर्थात् ब्राह्मणी नहीं रही। चाहे किन्हीं कारणों से हो, क्षत्राणी बन गयी। हम भी तो कारणों से ही इसी जन्म में वर्ण का परिवर्तन मानते हैं। यह भी वैसा ही हुआ। यदि मतभेद है तो केवल

कारणों में। हम कहते हैं—इसके गुण-कर्म-स्वभाव क्षत्रिय के हो गये थे। आप कहते हैं—शाप से ऐसा हुआ। परिणाम एक ही है कि वह ब्राह्मणी नहीं रही और इसका क्षत्रिय के साथ विवाह हुआ और उधर राक्षस की पुत्री शर्मिष्ठा उन्नति कर गयी। प्रत्येक अवस्था में इस कथा से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार अपने जन्म के वर्ण से उन्नति और अवनती ही कर सकता है, जैसे देवयानी अवनती करके क्षत्राणी बनी और शर्मिष्ठा उन्नति करके राक्षसी से क्षत्राणी बनी, अतः इस कथा से एक ही जन्म में कर्मानुसार वर्ण परिवर्तन होना पूर्णरूप से सिद्ध है।

पोपजी—वाह! अपनी दुर्गति, दूसरों को उपदेश! महाशयजी! यदि व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त को स्वीकार करने से पूर्व सनातनधर्मियों का विवरणात्मक आक्षेप करना अनुचित है तो फिर आपको बिना आधारभूत सिद्धान्त स्थिर किये पुराणों पर विवरणात्मक प्रश्न करने का क्या अधिकार है?

तोपजी—हम आपकी भाँति सिद्धान्तविहीन नहीं है। हम जब पुराणों पर आक्षेप करते हैं तो पहले आधारभूत सिद्धान्त पर आक्षेप करके बाद में विवरणात्मक प्रश्न किया करते हैं, परन्तु आपका तो प्रश्न करने का कोई सिद्धान्त ही नहीं है। रहा आपका यह कहना कि सनातनधर्म का प्रत्येक विद्वान् प्रत्येक विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार है,—यह बात अनुभव के विरुद्ध है। अभी आपकी पुस्तक प्रकाशित होने के पश्चात् ८ मई को ही तिलागङ्ग में सनानतधर्म के पण्डितों—भीमसेन, यदुकूलभूषण, भागीरथलाल आदि ने किसी निर्धारित विषय पर शास्त्रार्थ करने से स्पष्ट मना कर दिया और इनके बुलाने पर हम जब मण्डप में गये तो शास्त्रार्थ से स्पष्ट इन्कार करके सनातनधर्मियों को कहीं भी मुँह दिखाने के योग्य नहीं छोड़ा, अतः अब यह कोरी डींग काम नहीं दे सकती। यदि साहस है तो मैदान में आइए और विषय निर्धारित करके शास्त्रार्थ कीजिए, फिर आपको पता लग जाएगा कि ऊँट किस करवट बैठता है, परन्तु आपसे भी क्या आशा है! आप स्वयं डेरागाजीखाँ के भगोड़े हैं।

पोपजी—लाला साहब! यजुर्वेद का अध्याय ३१, मन्त्र ११ आपके वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त को बिल्कुल पुष्ट नहीं करता और न ही शरीर की उपमा कार्य सिद्ध कर सकती है, क्योंकि शरीर का कोई अङ्ग भी अपना काम छोड़कर दूसरे का काम नहीं कर सकता और न ही कोई अङ्ग अपनी वास्तविकता को छोड़कर दूसरा अङ्ग बनने का प्रयत्न करता है। तब चारों वर्णों को शरीर के अङ्गों की उपमा देकर राज्यसभा के द्वारा एक-दूसरे के कर्मों से वर्ण-परिवर्तन होना कैसे माना जा सकता है?

तोपजी—हम सिद्ध कर चुके हैं कि यजुर्वेद अध्याय ३१, मन्त्र ११ अत्यन्त विस्तार के साथ गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार वर्ण-व्यवस्था को पुष्ट करता है, क्योंकि उसमें परमात्मा को पुरुष कल्पित करके ब्राह्मणों को उसके सिर से, क्षत्रियों को भुजा से, वैश्यों को पेट और जंघा से तथा शूद्रों को पाँवों से उपमा दी गयी है, मानो परमात्मा ने मनुष्यजाति को उत्पन्न करके हमें चारों वर्णों को नापने का मापक बता दिया कि जो दूसरों की अपेक्षा मुख के समान पाँच गुणा ज्ञानवाले, लोगों को उलटे मार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर चलानेवाले और विद्या पढ़ाने तथा उपदेश का कार्य करें, उन्हें ब्राह्मण समझो। जो भुजा के समान अपने-आपको संकट में डालकर सर्वसाधारण की रक्षा करें, उन्हें क्षत्रिय समझो और जो पेट के समान कच्चे माल को पक्का बनाकर तथा जंघा की भाँति देश-देशान्तरों में व्यापार

करके उसके लाभ से जनता को पुष्ट करें, उन्हें वैश्य समझो। जो पाँवों के समान केवल बोझ उठाना आदि सेवा का ही कार्य कर सकें, उन्हें शूद्र समझो। जैसे शरीर के चारों अङ्ग जीवात्मा के अधीन कार्य करते हैं, इसी प्रकार चारों वर्णों को भी राज्यसभा और विद्वत्सभा के अधीन कार्य करना चाहिए। जैसे शरीर के सारे अङ्ग अपनी सारी सम्पत्ति को सम्मिलित ही जानते हैं और हमारा पुत्र चाहे हमारे शरीर के किसी भी अङ्ग की सेवा करे, सब अङ्ग प्रसन्न होते हैं और इस सेवा को सब अङ्गों की सेवा समझते हैं और शरीर के सारे अङ्ग ही उसे अपना पुत्र मानते हैं, इसी प्रकार से राष्ट्र की सारी सन्तानें सारी ही जाति की सम्मिलित सन्तानें हैं और सारी जाति ही इन्हें योग्य बनाने का प्रयत्न करे और गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार कोई पुत्र चाहे किसी को मिल जाए, इसे सब अपना पुत्र मानें, क्योंकि जाति की सन्तान सबकी सन्तान है और जाति की सन्तान की उन्नति और अवनति में सबको अपनी उन्नति और अवनति समझनी चाहिए।

सारांश यह कि यह मन्त्र अत्यन्त विस्तार के साथ गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था और वर्ण के परिवर्तन पर सन्तान के परिवर्तन को पुष्ट करता है। रहा आपका यह कहना कि 'शरीर का कोई अङ्ग भी अपना कार्य छोड़कर दूसरे अङ्ग के काम नहीं कर सकता और न ही कोई अङ्ग अपनी वास्तविकता को छोड़कर दूसरा अङ्ग बनने का प्रयत्न करता है' सो श्रीमन्! उपमा का एक अङ्ग लिया जाता है। जैसे किसी व्यक्ति को कहें कि 'यह बड़ा शेर है' तो इसका तात्पर्य होता है कि वह सिंह की भाँति वीर है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि वह सिंह के समान चीर-फाड़ डालनेवाला पशु, मांस-भक्षक और पूँछवाला भी है। किसी स्त्री को माता कहने का यही तात्पर्य होता है कि माता के समान उसका आदर किया जाता है; इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह हमारे पिता की धर्मपत्नी है। इस बात को आपने भी इस पुस्तक के पृष्ठ ८१, पंक्ति १३ में स्वीकार किया है कि-'उपमा जिससे दी जाती है उससे तद्रूप होना आवश्यक नहीं।' इसलिए इस मन्त्र से गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार वर्ण-व्यवस्था और वर्ण के परिवर्तित होने पर राज्यसभा और विद्यासभा के द्वारा सन्तान का परिवर्तन अत्यन्त विस्तार और उत्तमता से सिद्ध होता है।

पोपजी--आपकी बताई हुई विद्यासभा और राज्यसभा कभी किसी युग में पाई नहीं गयी। ऐसी स्वतन्त्रता के समय में आपने विद्यासभा का निर्माण करके अपने सिद्धान्त को आज तक लागू क्यों नहीं किया?

तोपजी--पाये तो वह जिसकी आँखें हों, परन्तु जिसे पक्षपात ने अन्धा कर रक्खा हो, उसे कोई वस्तु मिले कैसे? लीजिए, हम आपको विद्यासभा, धर्मसभा और राज्यसभा तीनों दिखलाते हैं--

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि। --ऋ० ३।३८।६

अर्थ--ईश्वर उपदेश करता है कि राजा और प्रजा के मनुष्य मिलकर सुख-प्राप्ति और विज्ञानवृद्धिकारक राजा-प्रजा के सम्बन्ध-रूप व्यवहार में तीन सभा अर्थात् विद्यासभा, धर्मसभा और राज्यसभा नियत करके बहुत प्रकार के समग्र प्रजासम्बन्धी मनुष्य आदि प्राणियों को सब ओर से विद्या, स्वातन्त्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें।

इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से राजा को तीन सभा बनाने की आज्ञा है। इसकी व्याख्या का अवलोकन मनुस्मृति में कीजिए--

१. राजा विद्यासभा किस प्रकार की बनाए--

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद् दशावरा॥ —मनु० १२।१११

अर्थ—तीन काण्ड अर्थात् ज्ञान, कर्म और उपासनाकाण्डवाली वेदविद्या के जाननेवाले, न्यायशास्त्र के विद्वान्, मीमांसा के विद्वान्, निरुक्त के विद्वान्, धर्मशास्त्र के विद्वान् और तीन आश्रमोंवाले अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थवाले इन सबकी मिलकर दशावरा नामवाली सभा हो।

२. धर्मसभा कैसी हो?

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च। त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥
—मनु० १२।११२

अर्थ—ऋग्वेद का जाननेवाला, यजुर्वेद का विद्वान् और सामवेद का जाननेवाला—इन तीनों की सभा त्र्यवरा कहाती है, जो धर्म में सन्देह होने पर निर्णय करती है।

३. राजसभा किस प्रकार की हो?

मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान् कुलोद्भवान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥५४॥
तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥५६॥
—मनु० ७।५४-५६

अर्थ—अपने राज्य में उत्पन्न हुए, शास्त्रों के जाननेवाले, शूरवीर, हथियार चलाने की विद्या जाननेवाले और उत्तम कुल में उत्पन्न हुए, परीक्षित सात वा आठ मन्त्री बनाए॥५४॥ इनके साथ सदा सन्धि, विग्रह, स्थान=समय को देखकर चुप रहना, समुदय=अपनी वृद्धि होने पर दुष्ट शत्रु पर आक्रमण करना, राज्य, सेना आदि की रक्षा और प्राप्त वस्तु की सुरक्षा आदि सब बातों पर विचार करे॥५६॥

सभा की ओर से वर्ण निश्चित करने के विषय में अथर्ववेद [४।३०।३] में लिखा है—

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम्।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

अर्थ—मैं इस बात की स्वयं घोषणा करती हूँ कि देवों और मनुष्यों में से जिसे चाहूँ उसे क्षत्रिय बनाऊँ और जिसे चाहूँ उसे ब्राह्मण, ऋषि और मुनि बनाऊँ।

इस बात की स्पष्ट व्याख्या की गयी है कि आचार्य विद्यार्थियों का वर्ण निश्चित करे—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा॥
—मनु० २।१४८

अर्थ—वेदों का विद्वान् आचार्य इस विद्यार्थी की जिस जाति को उत्पन्न करता है, अर्थात् गायत्री आदि मन्त्रों के द्वारा उत्पन्न करता है, वही सत्य है, वही अजर है, वही अमर है।

इससे स्पष्ट सिद्ध हो गया है कि आचार्य विद्यार्थियों के गुण-कर्म-स्वभावानुसार जिस वर्ण को निश्चित कर देता है वही सच्चा और स्थिर रहनेवाला वर्ण होता है। माता-पिता

से जो जन्मसिद्ध वर्ण होता है वह सच्चा और सदा स्थिर रहनेवाला नहीं होता।

वर्णों को गुण-कर्म-स्वभावनुसार निश्चित करने के पश्चात् राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात का ध्यान रक्खे कि लोग अपने वर्णों के अनुसार कार्य करते हैं या नहीं। देखिए, इस सम्बन्ध में क्या लिखा है—

अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ। वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम्॥

—मनु० ८।२४

अर्थ—लाभ और हानि दोनों को जानकर और केवल धर्म तथा अधर्म को सामने रखकर वर्णों के क्रम से सब काम करनेवालों को राजा देखे, क्योंकि परमात्मा ने—

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः। वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता॥

—मनु० ७।३५

अर्थ—अपने-अपने धर्मों में संलग्न सब वर्णों और आश्रमों की रक्षा करने के लिए राजा को बनाया है।

महाभारत अनुशासनपर्व में भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर को उपदेश किया है—

ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः सन्ध्यां न पश्चिमाम्।
सर्वांस्तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत्॥ —महा० अनु० १०४।१९-२०

अर्थ—जो द्विज [ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य] प्रातः और सायं सन्ध्या न करें, धार्मिक राजा को चाहिए कि उन सबसे शूद्र के कार्य करवाए।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि प्राचीनकाल में तीन सभाएँ होती थीं—राज्यसभा, विद्यासभा और धर्मसभा। विद्यासभा और धर्मसभा की आज्ञा के अनुसार आचार्य विद्यार्थियों के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार वर्ण निश्चित करता था और राज्यसभा इस बात का निरीक्षण करती थी कि प्रत्येक व्यक्ति उस वर्ण के अनुसार कार्य करता है या नहीं। यदि कोई उस वर्ण के अनुसार काम नहीं करता था तो उसे दण्ड भी दिया जाता था। ये सारी बातें शास्त्रों के अनुसार आचरण में आती थीं। यह है विद्यासभा, राज्यसभा और धर्मसभा का शास्त्रों में वर्णन, जो आपको दिखाई नहीं दिया।

रहा आपका यह कहना कि ऐसी स्वतन्त्रता के समय में भी आपने विद्यासभा का निर्माण करके अपने सिद्धान्त को आज तक आरम्भ क्यों नहीं किया।' श्रीमन्! आपको आजकल स्वतन्त्रता का समय दृष्टिगोचर हो रहा है? 'आँखों से अन्धे नाम नयनसुख' की उक्ति आपपर ही चरितार्थ होती है। लगभग एक लाख भारतीय स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए जेलों में सड़ रहे हैं, परन्तु आपको स्वतन्त्रता का युग दिखाई दे रहा है! जब तक राज्यसभा हमारे हाथ में न आ जाए तब तक हम लोगों को विद्यासभा और धर्मसभा के निर्णयों के पालन पर बाध्य नहीं कर सकते। परमात्मा वह समय भी अवश्य लाएँगे जब ये तीनों शक्तियाँ भारतवर्ष के हाथ में होंगी। तब पानी भरनेवाले, रोटी पकानेवाले, बर्तन माँजनेवाले, धोती धोनेवाले, अण्डे और झटका बेचनेवाले, मांसभक्षक, मद्यपान करनेवाले और वेश्या-गामी आदि ब्राह्मण और पण्डित न कहला सकेंगे।

पोपजी—मनुस्मृति अध्याय २, श्लोक १४८ में गुरु के द्वारा वर्णों के परिवर्तन की चर्चा तक भी नहीं है। जिस प्रसंग का यह श्लोक है वहाँ पिता और गुरु से मुक़ाबला करके बताया गया है कि माता-पिता केवल जन्म ही देते हैं, परन्तु वेदों को जाननेवाला

गुरु **जन्म के अनुसार** गायत्री के उपदेश से ही वर्ण निश्चित कर देता है, अर्थात् **संस्कार से ही शिष्य** के वर्णों को निश्चित कर देता है।

तोपजी—पोपजी महाराज! आपका यह प्रत्येक समय का काम ही हो गया है कि अपनी ओर से मिलावट करके जनता को धोखा देने का प्रयत्न करना। भला! इस श्लोक में 'जन्म के अनुसार' ये किस शब्द के अर्थ हैं? और 'संस्कार से ही शिष्य के वर्णों को निश्चित करता है'—यह अर्थ कहाँ से ले-लिया? मनुस्मृति में तो स्पष्ट लिखा है कि पैदा करनेवाले और वेद पढ़ानेवाले इन दोनों में से जो वेद का पढ़ानेवाला है, वही उत्तम पिता है, क्योंकि ब्राह्मण का वेद की शिक्षारूप जो जन्म है वही इस लोक और परलोक में सदा स्थिर रहनेवाला है।।१४६।। माता और पिता आपस में काम के वश में होकर जो इस बालक को पैदा करते हैं, वह तो इसका साधारण पशुओं की भाँति जन्म ही है, जो माता के गर्भ से उत्पन्न होना है।।१४७।। वेदों का विद्वान् आचार्य तो इसकी जिस जाति [वर्ण] को विधि के अनुसार गायत्री से उत्पन्न करता है, अर्थात् निर्माण करता है, वही सत्य है, वही अजर है, वही अमर है।।१४८।।

इन श्लोकों को मिलाकर पढ़ें। इनसे अच्छी प्रकार प्रकट है कि माता-पिता से जो जन्म होता है वह तो केवल पशुओं की भाँति ही है। गुरु गायत्री से जिस वर्ण का निर्माण करता है, वही ठीक है और वही सदा स्थिर रहनेवाला है। इससे स्पष्ट हो गया कि जन्म का वर्ण सत्य और अजर-अमर नहीं है, अपितु गुरु का कर्मानुसार प्रदत्त वर्ण ही सत्य और अजर-अमर है।

पोपजी—सनातनधर्म का यह अटल सिद्धान्त है कि द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जन्म से और जन्म के अनुसार वर्णों के संस्कारों से ही द्विज बनते हैं।

तोपजी—इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि यदि किसी का जन्म तो ब्राह्मण आदि के घर का हो, परन्तु संस्कार ब्राह्मण आदि वर्णों के अनुसार न हुए हों तो वह ब्राह्मण आदि नहीं बन सकेगा। आपका यह लिखना कि 'जन्म के अनुसार वर्णों के संस्कारों से ही द्विज बनते हैं' स्पष्ट सिद्ध करता है कि जन्म एक व्यर्थ वस्तु है, क्योंकि जब तक संस्कार न हों तब तक केवल जन्म से द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नहीं बन सकता।

आपने सनातनधर्म के सिद्धान्त के अटल होने की भी खूब कही। अजी! वह तो कोई और सनातनधर्म होगा जिसके सिद्धान्त अटल हों, अन्यथा पौराणिक सनातनधर्म तो बिना पैंदे का मिर्जापुरी लोटा है, जो मिनट-मिनट में लुढ़ककर इधर-उधर चला जाता है। देखिए, आपका भविष्यपुराण जन्म और जन्मानुकूल संस्कार दोनों पर ही पानी फेर रहा है—

संस्कृतोऽपि दुराचारो नरकं याति मानवः।
निःसंस्कारः सदाचारो भवेद्विप्रोत्तमः सदा ॥१९॥

आचारमनुतिष्ठन्तो व्यासादिमुनिसत्तमाः। गर्भाधानादिसंस्कारकलापरहिताः स्फुटम्॥२०॥
विप्रोत्तमाः श्रियं प्राप्ताः सर्वलोकनमस्कृताः॥२१॥ —भवि० ब्रा० १।४२-१९, २०-२१

अर्थ—संस्कार किया हुआ भी दुराचारी मनुष्य नरक को जाता है और बिना संस्कार किया हुआ भी सदाचारी व्यक्ति उत्तम ब्राह्मण बन जाता है। व्यास आदि श्रेष्ठ मुनिगण गर्भाधान आदि संस्कार से स्पष्ट ही हीन होते हुए भी सदाचारी होकर उत्तम ब्राह्मण बन गये और शोभा को प्राप्त हुए तथा सब लोगों द्वारा नमस्करणीय बन गये।

सारांश यह कि इस अध्याय में श्लोक ७ से लेकर ३२ तक संस्कारों का खूब खण्डन

किया गया है। क्या यही सनातनधर्म का अटल सिद्धान्त है, जिसकी स्वयं पुराण ही धज्जियाँ उड़ा रहे है?

पोपजी—अब रहा मनुस्मृति अध्याय ७, श्लोक १५२ का प्रमाण। इसका अर्थ करते हुए महाशय कृपारामजी, प्रसिद्ध स्वामी दर्शनानन्दजी लिखते हैं कि—'धन-प्राप्ति के लिए ऐसा उपाय सोचे कि जिसमें धर्म, अर्थ और काम—जो परस्पर विरुद्ध हैं, उनके विरुद्ध न हो। अपने कार्य के सिद्ध होने के लिए कन्या का वरण और शास्त्रों के अनुसार पढ़ाने-सिखाने के लिए राजकुमारों की सुरक्षा—इन बातों का भी विचार करें।' महाशय! आर्यसमाजी अर्थ से भी तो राजा का राज्यसभा या विद्यासभा के द्वारा लड़कों का परिवर्तन करना सिद्ध नहीं होता। इसमें अपने लड़के-लड़कियों को ही उत्तम बनाने की राजा को आज्ञा दी गयी है तो आपके मनुस्मृति के झूठे प्रमाण के अर्थ की युक्ति को कौन माने?

तोपजी—हम पहले लिख आये हैं कि हम अनार्ष अनुवादों को प्रामाणिक नहीं मानते। हमारा अर्थ ग़लत नहीं है। आपका और आपके साक्षी का अर्थ ग़लत है कि जिन्होंने कुमारों की बजाय राजकुमारों को लिखकर 'राज' शब्द की वृद्धि कर दी, अन्यथा श्लोक स्पष्ट है—

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम्। कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्॥

—मनु० ७।१५२

अर्थ—इन परस्पर विरुद्ध अर्थों को इकट्ठा करना, कन्याओं का दान और कुमारों का रक्षण—इन सब बातों का भी विचार कर ले।

इसमें यह चर्चा तक भी नहीं है कि राजकुमार अथवा राजकन्याओं का ही प्रबन्ध करे। ऐसा स्वार्थी जो अपने ही लड़के-लड़कियों का प्रबन्ध करे राजा बनने के योग्य नहीं होता, अपितु राजा के लिए सम्पूर्ण प्रजा के पुत्र और पुत्रियाँ अपने ही पुत्र और पुत्रियाँ हैं। राजा का यह कर्त्तव्य है कि समस्त प्रजा के लड़के और लड़कियों के प्रबन्ध के विषय में विचार करे। लड़कियों का विवाह किस अवस्था में कैसे लड़कों के साथ किया जाए और लड़कों को किस प्रकार योग्य बनाया जाए और शिक्षा के पश्चात् गुरु की ओर से लड़कों के गुण-कर्मानुसार वर्ण निश्चित हो जाने पर किस लड़के को कहाँ रक्खा जाए आदि-आदि बातों को सोचना राजा का काम है। राजा के सम्बन्ध में आगे भी प्रजा के प्रति कर्त्तव्यों का वर्णन आता है—

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजाऽनुपालेयत्। यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः॥
बन्ध्याऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च। पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च॥

—मनु० ८।२।७-२८

अर्थ—बालक की पैतृक सम्पत्ति की राजा तब तक रक्षा करे जब तक वह गुरुकुल में शिक्षा पाकर स्नातक बनकर निकले और जब तक वह बालिग़ हो जाए॥२७॥ वन्ध्या, बिना पुत्रवाली और जिनका कुल नष्ट हो गया ऐसी पतिव्रता और विधवा तथा रोगी—इन समस्त प्रकार की स्त्रियों की सुरक्षा का उचित प्रबन्ध राजा पूर्णरूप से करे।

अब यहाँ भी कल्पना कर लीजिए कि अपने ही बालक की सम्पत्ति की रक्षा करे या अपनी ही वन्ध्या, विधवा, रुग्णा आदि स्त्रियों की सुरक्षा का प्रबन्ध करे, कदापि नहीं। राजा समस्त प्रजा का रक्षक है, इसलिए प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति का समुचित प्रबन्ध करना राजा का धर्म है। जैसे उपर्युक्त श्लोक में नाबालिग़ बालक की सम्पत्ति की तब तक रक्षा करना

राजा का धर्म है, जब तक वह स्नातक बनकर न आ जाए वैसे ही प्रजा के लड़के और लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध करना तथा गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार वर्ण के निश्चित हो जाने पर उनके विवाहों और उचित स्थानों पर उन्हें रखने का प्रबन्ध करना भी राजा का धर्म है और वह विद्यासभा, धर्मसभा तथा राज्यसभा के द्वारा ही हो सकता है, अतः उपर्युक्त श्लोक से राज्यसभा, विद्यासभा व धर्मसभा के द्वारा पुत्रों का वर्ण परिवर्तित होने पर उनके परिवर्तन का प्रबन्ध करना राजा का धर्म होना स्पष्ट सिद्ध है। इस प्रकार से हमारा अर्थ बिल्कुल ठीक और आपका अर्थ सर्वथा अशुद्ध है।

पोपजी—पुनः आपका मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक १६६-१६७ तक के प्रमाण से यह सिद्ध करना कि दत्तक आदि पुत्रों का वर्णन स्मृति में पाया जाता है, ये सब दूसरे कुलों के होने पर भी अपने कुल में गिने जाते हैं, ऐसा कहना धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध है, क्योंकि मानव आदि धर्मशास्त्रों में ऐसे पुत्रों की निन्दा की गयी है।

तोपजी—धर्मशास्त्रों में जहाँ-जहाँ ऐसे पुत्रों की निन्दा की है, वहाँ-वहाँ औरस पुत्र की अपेक्षा दूसरों की निन्दा की है, अन्यथा शास्त्रों में शेष ग्यारह को औरस पुत्र का स्थानापत्र वर्णन किया है—

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च। गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट्॥
कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा। स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः॥
औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ। दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः॥

—मनु० ९।१५९, १६०, १६५

अर्थ—औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न और अपविद्ध—ये छह प्रकार के पुत्र पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकारी भाई-बन्धु कहलाने का अधिकार रखते हैं॥१५९॥

कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त और शूद्रा-पुत्र—ये छह सम्पत्ति के अधिकारी नहीं होते, परन्तु भाई-बन्धु अवश्य होते हैं॥१६०॥

औरस और क्षेत्रज—ये दोनों पुत्र पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते हैं और शेष दस क्रमशः गोत्ररूपी सम्पत्ति के भागी होते हैं, अर्थात् गोत्र में गिने जाते हैं॥१६५॥

१. औरस—विवाह-संस्कारपूर्वक लाई हुई अपनी पत्नी=क्षेत्र में स्वयं उत्पन्न किया हुआ पुत्र 'औरस' कहाता है॥१६६॥

२. क्षेत्रज—मरे हुए, नपुंसक, सदा रोगी रहनेवाले पुरुष की स्त्री धर्मपूर्वक दूसरे पुरुष से नियोग करके जो सन्तान उत्पन्न करती है, उसका नाम 'क्षेत्रज' पुत्र है॥१६७॥

३. दत्तक—माता और पिता जिस पुत्र को आपत्ति में किसी दूसरे को प्रेमपूर्वक दे दें, उसका नाम 'दत्तक' पुत्र है॥१६८॥

४. कृत्रिम—गुण-दोष को जाननेवाले, पुत्र के गुणों से युक्त जिस बालक को अपना पुत्र मान लें, उसे कृत्रिम पुत्र कहते हैं॥१६९॥

५. गूढोत्पन्न—किसी के घर में कोई पुत्र उत्पन्न हो जाए, परन्तु यह पता न लगे कि यह किसका है तो वह उसी का होता है जिसकी स्त्री में पैदा हुआ; उसे 'गूढोत्पन्न' पुत्र कहते हैं॥१७०॥

६. अपविद्ध—माता और पिता में से दोनों ने अथवा एक ने जिसे छोड़ दिया हो, ऐसे जिस पुत्र को कोई ग्रहण करे वह उसका 'अपविद्ध' पुत्र कहलाता है॥१७१॥

७. कानीन--पिता के घर में रहती हुई कन्या जिस पुत्र को गुप्तरूप से उत्पन्न करती है, वह उस कन्या के साथ विवाह करनेवाले का 'कानीन' पुत्र कहलाता है॥१७२॥

८. सहोढ--यदि गर्भिणी कन्या का विवाह किया जाए, चाहे उसके गर्भ का पता हो या न हो, उस गर्भ से उत्पन्न पुत्र उस विवाह करनेवाले का होता है। इसे 'सहोढ' [ढोकर लाया हुआ] पुत्र कहते हैं॥१७३॥

९. क्रीतक--जिस लड़के को माता और पिता से पुत्र बनाने के लिए क्रय कर लिया जाए, वह चाहे सवर्ण हो या असवर्ण, वह खरीदनेवाले का 'क्रीतक' पुत्र कहलाता है॥१७४॥

१०. पौनर्भव--पति के द्वारा छोड़ी हुई अथवा विधवा स्त्री अपनी इच्छा से दूसरे को पति बनाकर जिस पुत्र को उत्पन्न करती है, वह उसका 'पौनर्भव' पुत्र कहाता है॥१७५॥

११. स्वयंदत्त--जो माता-पिता से विहीन हो अथवा माता-पिता ने बिना किसी कारण के जिसे छोड़ दिया हो, वह स्वयं को जिसे समर्पित कर दे, वह उसका 'स्वयंदत्त' पुत्र होता है॥१७७॥

१२. शूद्रा-पुत्र--ब्राह्मण कामवश होकर शूद्रा में जिस पुत्र को उत्पन्न करता है, वह उसका 'शूद्रा-पुत्र' कहलाता है।

क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोदितान्। पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः॥

--मनु० ९।१८०

अर्थ--क्षेत्रज्ञ आदि इन ग्यारह पुत्रों को, जिनकी ऊपर चर्चा की गयी है, बुद्धिमान् लोग कर्म के लोप में [वंशचालन आदि क्रियाओं का लोप न हो इसलिए] पुत्र का स्थानापन्न=प्रतिनिधि मानते हैं।

कुल्लूकभट्ट कहता है कि पुत्र पैदा करने की जो आज्ञा है, उसका लोप न हो जाए और श्राद्ध आदि कर्त्तव्य लोप न हो जाए, अतः उपर्युक्त पुत्रों को मुनि लोगों ने पुत्र का स्थानापन्न माना है।

पोपजी महाराज! अब कहिए, इन बारह प्रकार के पुत्रों में से ग्यारह पुत्र--क्षेत्रज आदि ऐसे हैं, जिनका दूसरे कुलों से किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध है, परन्तु वे अपने कुल में गिने जाते हैं, गोत्र के भागी बनते हैं, भाई-बन्धु गिने जाते हैं। पहले पाँच सम्पत्ति के भी अधिकारी होते हैं। पिछले छह सम्पत्ति के अधिकारी तो नहीं, परन्तु गोत्र के अधिकारी हैं और सनातनधर्म में तो ग्यारह-के-ग्यारह पुत्र वास्तविक पुत्र के स्थानापन्न बनकर श्राद्ध आदि करने के भी अधिकारी हैं।

इस स्थिति में स्वामीजी का--वर्ण परिवर्तन होने पर पुत्रों का परिवर्तन मानव-धर्मशास्त्र के सर्वथा अनुकूल है। जब इस प्रकार के अण्ड-बण्ड उत्पन्न हुए पुत्र भी पुत्र के स्थानापन्न बन सकते हैं तो फिर धर्मपूर्वक शिक्षा पाकर गुण-कर्म-स्वभावनुसार वर्ण निश्चित हो जाने पर यदि किसी लड़के को धर्म और विद्यासभा की ओर से परिवर्तित करके किसी को दिया जाए तो वह पुत्र का स्थानापन्न क्यों न बन सकेगा? अवश्य बनेगा, अतः वर्ण का परिवर्तन होने पर सन्तान के परिवर्तन का स्वामीजी का वर्णन किया हुआ सिद्धान्त सर्वथा सत्य और वेद-शास्त्र के अनुसार है।

पोपजी--ऋग्वेद भी ऐसे पुत्रों को अच्छा नहीं बतलाता। श्रीकृष्णजी शास्त्री ने ऋग्वेद

का मन्त्र बतलाकर स्पष्ट किया था कि दूसरी स्त्री के पेट से अथवा दूसरे के वीर्य से पैदा हुए पुत्रों को मन से भी अपना पुत्र नहीं मानना चाहिए। देखो, ऋग्वेद के इसी मन्त्र का अर्थ निरुक्त में पण्डित राजाराम ने भी यही किया है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। जब धर्मशास्त्र और विशेषरूप से वेद दूसरों से उत्पन्न हुए पुत्रों को मन से भी अपना पुत्र न मानने की आज्ञा दे रहे हैं तो आपके या स्वामी दयानन्दजी के मनमाने पुत्र-परिवर्तन को कौन बुद्धिमान् मानेगा?

तोपजी—श्रीकृष्णजी और राजारामजी-जैसे पोप वेदमन्त्रों के भाव को नहीं समझ सकते, अत: वे वेदों के अर्थ भी नहीं कर सकते। वेदों के भाव को ऋषियों का मस्तिष्क ही पहुँचता है।

यदि उपर्युक्त अर्थ जो उन्होंने किया है वही मान लिया जाए, तो भी सिद्धान्त में तो कोई हानि नहीं पड़ती, क्योंकि कोई स्त्री अपने ही बीज से और कोई पुरुष अपने ही उदर से सन्तान पैदा नहीं कर सकता। सन्तान उत्पन्न करने के लिए प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक स्त्री को दूसरे पुरुष के बीज और प्रत्येक पुरुष को दूसरी स्त्री के पेट की आवश्यकता होगी, अत: दूसरे के अर्थ यहाँ दूसरी हस्ती अभिप्रेत नहीं है, अपितु दूसरे का तात्पर्य उस स्त्री और पुरुष से है कि जिसके साथ नियमित रूप से शास्त्र की विधि के अनुसार विवाह अथवा नियोग आदि के द्वारा सम्बन्ध स्थापित न हुआ हो, अत: उपर्युक्त लेख का तात्पर्य यह है कि जो सन्तान व्यभिचार से पैदा की गयी हो, वह पुत्र मानने योग्य नहीं है। इस उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है कि "दूसरे की स्त्री के पेट से [अर्थात् परस्त्री से व्यभिचार करके] अथवा दूसरे के वीर्य से [अर्थात् पर-पुरुष से व्यभिचार करके] पैदा हुए पुत्रों को मन से भी पुत्र न मानना चाहिए।" इसलिए उपर्युक्त लेख से भी व्यभिचार से उत्पन्न हुई सन्तान को पुत्र न मानने की आज्ञा सिद्ध होती है, परन्तु इस मन्त्र का तो यह अर्थ ही अशुद्ध है जो पोपजी ने किया है। देखिए ऋषि दयानन्दजी इस मन्त्र का कैसा उत्तम अर्थ करते हैं—

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नोवाज्यभीषाळेतु नव्यः॥ —ऋ० ७।४।८

पदार्थ—हे मनुष्य! जो (अरण:) रमण न करता हुआ (सुशेव:) सुन्दर सुख से युक्त (अन्योदर्य:) दूसरे के उदर से उत्पन्न हुआ हो (स:) वह (मनसा) अन्त:करण से (ग्रभाय) ग्रहण के लिए (नहि) नहीं (मन्तवै) मानने योग्य है (चित्, उ, पुन:, इत्) और भी, फिर भी वह (ओक:) घर को (नहि) नहीं (एति) प्राप्त होता है (अध) इसके अनन्तर जो (नव्य:) नवीन (अभीषाड्) अच्छा सहनशील (वाजी) विज्ञानवाला (न:) हमको (आ एतु) प्राप्त हो।

ऋषि दयानन्दजी महाराज ने कैसा स्पष्ट और सुन्दर अर्थ किया है कि 'जो दूसरे के पेट से उत्पन्न हुआ बालक स्वयं चाहे सुखी हो, परन्तु यदि वह हमें प्रसन्न करनेवाला नहीं है, अर्थात् उसके गुण-कर्म-स्वभाव हमसे नहीं मिलते तो ऐसे बालक को मन से भी ग्रहण करने के योग्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह घर का स्वामी नहीं बन सकता; अपितु जो नया नवयुवक, उत्तम सहनशील, अर्थात् हमारे गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार विज्ञानवाला हो, वह हमें प्राप्त करना चाहिए। सारांश यह कि जो हमारे गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल हो उसे पुत्र बनाना चाहिए; जो हमारे गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध हो, उसे पुत्र नहीं बनाना

चाहिए।

यह है मन्त्र का वास्तविक अर्थ जोकि हमारे सिद्धान्त का प्रबल समर्थन करता है, अतः स्वामीजी द्वारा वर्णित सिद्धान्त गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्ण के परिवर्तन पर सन्तान का परिवर्तन शतप्रतिशत वेद और शास्त्रों के अनुकूल है, परन्तु आपका सिद्धान्त कि "दूसरे की स्त्री के पेट से या दूसरे के वीर्य से पैदा हुए पुत्रों को मन से भी अपना पुत्र नहीं मानना चाहिए" वेद और मनुस्मृति, अपितु पुराणों के भी सर्वथा विरुद्ध है।

१. उपर्युक्त मन्त्र दूसरे के पेट और वीर्य से पैदा हुए पुत्र को पुत्र का स्थानापन्न बनाने की आज्ञा देता है, शर्त यह है कि वह पुत्र बनानेवाले के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल और उसे प्रसन्न करनेवाला हो। आपका सिद्धान्त इसके विरुद्ध होने से वेद के विरुद्ध है।

२. मनुस्मृति में क्षेत्रज आदि ग्यारह प्रकार के पुत्रों को पुत्र का प्रतिनिधि बनाने की आज्ञा है, जिनका दूसरे के पेट और बीज से सम्बन्ध है। आपका सिद्धान्त इसके विरुद्ध होने से धर्मशास्त्र के विरुद्ध है।

३. **सत्यवती** की माता मछली और पिता राजा उपरिचर था, परन्तु उसे मल्लाह-पुत्री बनाया गया और वह मल्लाह की पुत्री कहाती रही। वह कभी लौटकर उपरिचर के या समुद्र में मछलियों में नहीं गयी।

४. **कर्ण** की माता कुन्ती और पिता सूर्य था, उसे सूत ने अपना पुत्र बनाया। वह अन्त तक सूतपुत्र और राधेय ही कहाता रहा, कभी वापस कुन्ती अथवा सूर्य के कुल में नहीं गया।

५. **शकुन्तला** की माता मेनका और पिता विश्वामित्र था, कण्वमुनि ने उसे अपनी पुत्री बनाया और वह कभी मेनका या विश्वामित्र के घर लौटकर नहीं गयी [महा० आदि०, अध्याय ७१]।

६. **कुन्ती** राजा शूर की पुत्री थी, परन्तु राजा के मित्र कुन्तीभोज के सन्तान न होने से उसने वह लड़की राजा से ले-ली और अपनी पुत्री बनाई। पहले इसका नाम पृथा था, परन्तु कुन्तीभोज की पुत्री होने से इसका नाम कुन्ती हुआ। [महा० आदि०, अध्याय १११]।

७. **भरद्वाज** की माता ममता और पिता बृहस्पति था। जब ममता और बृहस्पति दोनों ही उसे वैसे ही अनाथ छोड़कर चले गये तब मरुत् देवताओं ने उसका पालन किया और भरत-कुल के नष्ट होने पर देवताओं ने वह पुत्र राजा भरत को दे दिया, जिससे राजा भरत का वंश चला, जिसमें कौरव-पाण्डव हुए और भारद्वाज कभी भी ममता या बृहस्पति के घर लौटकर नहीं गया। वह वितथ नामवाला राजा हुआ [भागवत स्कन्ध ९, अध्याय २०]।

८. **एकानंशा** की माता यशोदा और पिता नन्द था और कृष्ण के बदले में वसुदेव के घर गयी और वहीं पालित-पोषित हुई और वसुदेव की पुत्री कहाई। वह देवकी को माता कहती रही। अन्त में दुर्वासा ऋषि से उसका विवाह हुआ। वह कभी नन्द के घर लौटकर नहीं आई [ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, अध्याय ७, श्लोक १३०-१३२]।

९. **कबीरजी** का पिता धनपाल वैश्य था, परन्तु वह उसे जंगल में फेंक आया तो अली नाम के जुलाहे ने उठाकर उसे पाल लिया। वह अन्त तक उसका पुत्र कहाया और कभी भी धनपाल वैश्य के घर में नहीं आया [भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय १७, श्लोक ३८]।

१०. **बुध**—बृहस्पति की स्त्री तारा थी। चन्द्रमा ने दूसरे के पेट से अर्थात् बृहस्पति की स्त्री तारा से बुध को उत्पन्न किया और चन्द्रमा ने इसका पालन किया। वह चन्द्रमा का ही पुत्र कहाया, जिससे चन्द्रवंशी वंश चला। बुध कभी भी तारा या बृहस्पति के घर लौटकर नहीं आया [भविष्यपुराण, उत्तरपर्व, अध्याय ९९, श्लोक ४४ से ४६ तथा प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय १७, श्लोक २८]।

११. कृपा और कृपी का पिता शरद्वान् था, क्योंकि शरद्वान् का बीज उर्वशी को देखकर कुशा में गिर पड़ा था, जिससे एक लड़का और एक लड़की पैदा हो गये, जिनका नाम कृपा और कृपी हुआ। पिता शरद्वान् और माता कुशा थी। इन दोनों बच्चों को राजा शन्तनु उठा लाये और अपना पुत्र बनाकर उनका पालन किया। वे कभी भी अपने पुराने कुल में नहीं गये। कृपा-कृपी का पिता क्षत्रिय, माता कुशा, पालन-पोषण राजा शन्तनु के यहाँ हुआ। कृपी द्रोणाचार्य की पत्नी बनी और कृपाचार्य भी ब्राह्मण बना; सारांश यह कि इनसे ब्राह्मण वंश चला [भागवत स्कन्ध ९, अध्याय २१, श्लोक ३५]।

१२. व्यास के बीज से अम्बिका, अम्बालिका और दासी से धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर पैदा होकर विचित्रवीर्य के पुत्र कहाये और कभी भी व्यास के पुत्र नहीं कहाये।

१३. क्षत्राणियों ने वंश-नाश होने पर ब्राह्मणों के बीज से सन्तान उत्पन्न करके क्षत्रियों के वंश चलाये और वे क्षत्रिय कहलाये।

१४. त्रिपाठी की स्त्री कामिनी ने व्याध को पाँच रुपये देकर उसके बीज से व्याधकर्मा को उत्पन्न किया जो त्रिपाठी और कामिनी का पुत्र कहाया और कभी व्याध के कुल में वापस नहीं गया और राजा विक्रमादित्य के यज्ञ का आचार्य बना।

१५. गाधि की स्त्री ने ऋचीक के बीज से विश्वामित्र को उत्पन्न किया। विश्वामित्र गाधि का पुत्र कहलाया।

१६. कुन्ती और माद्री ने धर्म, इन्द्र, वायु और अश्विनीकुमारों को बुलाकर उनके बीज से युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव को उत्पन्न किया और वे सदा पाण्डु के ही पुत्र कहाए, कभी भी बीज देनेवालों के कुल में नहीं गये।

१७. राजा बलि ने अपनी स्त्री सुदेष्णा में ऋषि दीर्घतमा के बीज से अङ्ग-बङ्ग आदि पुत्र उत्पन्न किये। वे राजा बलि के ही पुत्र बने, कभी भी दीर्घतमा के पुत्र नहीं कहाये।

१८. **व्यास**—पराशर ने दूसरे के पेट अर्थात् सत्यवती से व्यास को पुत्ररूप में प्राप्त किया और वे सदा पराशर के ही पुत्र कहाये।

१९. **शुनःशेप**—ऋचीक के बीज से सत्यवती के पेट से ब्राह्मण-कुल में पैदा हुआ। उसे विश्वामित्र ने अपना पुत्र बना लिया और अपने गोत्र में प्रविष्ट कर लिया। पुनः भृगु-वंश में उत्पन्न होकर कुशिक-वंश में सम्मिलित हो गया [भागवत स्कन्ध ९, अध्याय १६]।

२०. अर्जुन के पुत्र बभ्रुवाहन को उसके नाना ने अपना पुत्र बनाया। वह कभी अर्जुन के कुल में नहीं गया [भागवत स्कन्ध ९, अध्याय १८]।

सारांश यह कि पुराणों में इस प्रकार के सैकड़ों प्रमाण मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि दूसरे के पेट से और दूसरे के बीज से उत्पन्न हुए सन्तान को पुत्र-पुत्री बनाया जा सकता है और उसके साथ औरस पुत्र-पुत्री के समान ही व्यवहार हो सकता है, अतः आपका अर्थ सर्वथा अशुद्ध है और स्वामीजी का अर्थ ठीक और उनका सिद्धान्त

गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार वर्ण के परिर्वतन पर सन्तान का परिर्वन सोलह आने[1] सत्य और वेदशास्त्र के अनुकूल है।

पोपजी—महाशय! ब्रह्मा देश का रिवाज धर्म के सिद्धान्त के लिए प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मा में तो स्त्री और पुरुष के नग्न रहने का भी रिवाज है, परन्तु उसे धर्म नहीं समझा जा सकता।

तोपजी—हमने ब्रह्मा आदि के दृष्टान्त इस उद्देश्य से दिये थे कि आप जो गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार वर्ण का परिवर्तन होने पर सन्तान के परिर्वतन पर आपत्ति करते हैं तो इसमें आपको क्या कठिनाई दृष्टिगोचर हो रही है। यदि आपका यह विचार हो कि दूसरे के द्वारा उत्पन्न किये हुए लड़के-लड़की दूसरे के घर में सदस्य न रह सकेंगे अथवा व्यवस्था में गड़बड़ हो जाएगी तो यह बात ग़लत है, क्योंकि आजकल भी लड़के और लड़कियाँ दूसरों के परिवारों में सदस्य बनकर जीवनयापन करते हैं, परन्तु किसी प्रकार की कोई अव्यवस्था उत्पन्न नहीं होती—

१. भारत में रिवाज है कि विवाह के पश्चात् लड़की लड़के के परिवार की सदस्य बनकर रहती है और बड़े सुख से जीवन-यापन करती है, कोई अव्यवस्था नहीं होती।

२. ब्रह्मा में विवाह के पश्चात् लड़का लड़की के परिवार का सदस्य बनकर रहता है और सुखपूर्वक जीवन बिताता है, किसी प्रकार की कोई अव्यवस्था नहीं होती।

३. सहस्रों उदाहरण विद्यमान हैं कि सन्तान न होने पर लोग दूसरे वर्ण और दूसरे कुल के पुत्र को दत्तक बना लेते हैं और उसका पालन-पोषण करते हैं। वह लड़का उसी कुल का सदस्य बन जाता है और कोई अव्यवस्था नहीं होती।

४. लोग सन्तान न होने पर अपनी पुत्री के पति को पुत्र के रूप में घर का सदस्य बना लेते हैं। उसे घरजवाँई कहते हैं और कोई कुव्यवस्था देखने में नहीं आती।

५. इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण आपको मिल जाएँगे कि अमुक व्यक्ति ने दुष्ट होने के कारण अपने लड़के को घर से बाहर निकाल दिया और सम्पत्ति से भी वञ्चित कर दिया और दूसरे वर्ण और दूसरे कुल के अमुक लड़के को अपना पुत्र स्वीकार कर लिया और सारी सम्पत्ति उसके नाम कर दी, क्योंकि वह योग्य और सेवा करनेवाला था। उदाहरण के रूप में राजा ययाति ने अपने पुत्र यदु को आज्ञा न मानने के कारण राज्य से वञ्चित कर दिया था और अधिकारी न होते हुए भी छोटे पुत्र को आज्ञा मानने के कारण राज्य का स्वामी बना दिया था [महाभारत आदिपर्व, अध्याय ८४], और विश्वामित्र ने अपने लड़कों को आज्ञा न मानने के कारण चाण्डाल बनाकर घर से बाहर निकाल दिया था [वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ६२]।

६. मनुस्मृति में जो बारह प्रकार के पुत्रों का वर्णन है, उनमें से पहले औरस को छोड़कर शेष ग्यारह पुत्रों का दूसरे कुल और दूसरे वर्ण से भी सम्बन्ध है। वे भी परिवार के सदस्य बनकर सम्पत्ति और गोत्र के अधिकारी बनते हैं और कुल के सारे कार्यों को सम्पन्न करते हैं, और कोई अव्यवस्था उत्पन्न नहीं होती।

७. मनुस्मृति में चारों वर्णों में परस्पर विवाह की आज्ञा है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य

१. पहले रुपये में सोलह आने होते थे, अतः किसी बात की सत्यता और प्रामाणिकता पर बल देने के लिए यह लोकोक्ति प्रसिद्ध थी—'यह बात सोलह आने सत्य है'। —जगदीश्वरानन्द

और शूद्रकुल में उत्पन्न हुई लड़कियाँ दूसरे वर्णों के पतियों से विवाहित होकर उनके गुणोंवाली बनकर उनके घर की सदस्य बनकर रहती थीं और कोई कुव्यवस्था उत्पन्न न होती थी। जैसे देवयानी ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होकर क्षत्रिय राजा ययाति से विवाह करके क्षत्राणी बनकर उसके घर में रही। चूँकि आपके विचार में विश्वामित्र जन्म से ब्राह्मण था, इसलिए उसकी पुत्री शकुन्तला ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होकर भी क्षत्रिय राजा दुष्यन्त से विवाह करके क्षत्राणी बनकर उसके घर में रही। व्यासजी के पुत्र शुकदेव की पुत्री कृत्वी ब्राह्मणी क्षत्रिय राजा नीप की स्त्री बनकर क्षत्राणी होकर रही [भागवत स्कन्ध ९, अध्याय २१, श्लोक २५]। और अक्षमाला, शारंगी, सत्यवती, शर्मिष्ठा आदि स्त्रियाँ नीचकुल में उत्पन्न होकर अपने पति के गुणों से ब्राह्मणी और क्षत्राणी बनकर उनके घरों में बसीं और उनके कुल की सदस्य बन गयीं तथा किसी प्रकार की कोई कुव्यवस्था नहीं हुई।

८. प्राचीनकाल में सब वर्णों के लड़के गुरुकुल अर्थात् गुरु के कुल के सदस्य बनकर गुरु को पिता और गुरु की स्त्री को माता मानते हुए २४, ३६, ४८ वर्ष व्यतीत करते थे और कुछ नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहकर सारी आयु ही गुरु के घर के सदस्य बनकर रहते थे और पूर्णरूप से पुत्रों की भाँति सेवा करते थे और किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं होती थी।

जब उपर्युक्त विधियों से विभिन्न वर्णों और विभिन्न कुलों के लड़के-लड़कियाँ विभिन्न वर्णों और विभिन्न कुलों के सदस्य बनकर सुख और आनन्द के साथ अपना जीवन-यापन करते रहे, करते हैं और कर सकते हैं, तो फिर धार्मिक शिक्षा ग्रहण करनेवाले और मनुष्य-समाज को मनुष्य के शरीर की भाँति एक समझनेवाले सारी जाति के वृद्धों को माता-पिता समझनेवाले और समस्त जाति से भिक्षा का अन्न माँगकर खानेवाले ब्रह्मचारियों को उनकी परीक्षा के पश्चात् उनकी योग्यता के अनुसार जाति की सेवा करने के लिए विद्यासभा और राज्यसभा जहाँ भी, जिस कुल में भी इनको सदस्य बनाकर देश, धर्म और जाति की सेवा करने की आज्ञा देगी, वे उसको सिर-आँखों पर स्वीकार करके और अपने जीवन को देश, धर्म और जाति की सेवा में लगाकर देश, धर्म और जाति का उद्धार करेंगे और उनकी ओर से किसी भी प्रकार की अव्यवस्था का होना सर्वथा असम्भव बात है।

आप इस सारे युक्तियुक्त लेख को श्राद्ध के लड्डू की भाँति हड़प कर गये और उत्तर दिया तो यह कि 'ब्रह्मा देश का रिवाज धर्म नहीं माना जा सकता'। श्रीमन्! धर्म तो इसलिए माना जाएगा, क्योंकि वह वेद के अनुकूल है। हमने तो यह उदाहरण इसलिए दिया था कि विभिन्न वर्णों के लड़के-लड़कियों के विभिन्न कुलों में सदस्य बनकर रहने से कोई अव्यवस्था उत्पन्न नहीं होती। आप इसके उत्तर में कोई अव्यवस्था नहीं दिखा सके, अत: स्वामीजी का वर्णित किया हुआ वैदिक सिद्धान्त कि गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार वर्णों के परिवर्तित हो जाने पर सन्तान का परिवर्तन कर लेना सोलह आने सत्य है।

रहा आपका ब्रह्मा देश में नग्न रहने के रिवाज की चर्चा, उसे धर्म इसलिए नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह वेद-शास्त्र और सदाचार के विरुद्ध है, परन्तु पौराणिक लोगों के यहाँ तो कोई बात आपत्तिजनक नहीं है, जबकि प्रत्येक शिवालय में बाबा महादेवजी की नग्न मूत्रेन्द्रिय की नुमाइश की जा रही है और इस अकेले शिवलिङ्ग की नहीं, प्रत्युत पार्वती की भग में गाड़कर सनातनधर्मी संसार को शिक्षा दी जा रही है और जगन्नाथपुरी के मन्दिर की दीवारों पर मानव-माप की नग्न तस्वीरें परस्पर भोग-विलास करती हुई सनातनधर्म की सभ्यता का चित्र प्रस्तुत कर रही हैं; और करें भी क्यों नहीं जब सनातनधर्म

के देवता क्रियात्मक रूप से नंगे होकर, हाथ में लिङ्गेन्द्रिय को पकड़कर अनसूया पर आक्रमण करके और महादेवजी नग्न, हाथ में लिङ्ग पकड़कर ऋषि-पत्नियों में जाकर सनातनधर्म के लिए मार्ग साफ़ कर गये।

और महादेवजी को तो नंगे होकर पार्वती को नंगी करके जाँघ पर बैठाने का विशेष चाव था और इस चाव को पूरा करने के लिए सारे वन को ही शाप दे रक्खा था कि जो इस वन में प्रविष्ट होगा वही स्त्री बन जाएगा। राजा प्रद्युम्न इस झपट में आ गये और सेनासहित पुरुष स्त्रियाँ बन गयीं और घोड़े घोड़ियाँ बन गयीं। बहुत प्रयत्न करने पर महादेवजी के दरबार में यह छूट स्वीकृत हुई कि राजा एक मास पुरुष और एक मास स्त्री रहे। इस हेरा-फेरी में चन्द्रमा के पुत्र बुध से आँख लड़ गयी और एक पुत्र पुरुरवा नामक उत्पन्न कर डाला। देखना हो तो भागवत स्कन्ध ९, अध्याय १ में इस विस्तृत नुस्खे को देखकर सनातनधर्म में आरम्भ करने का प्रस्ताव सनातनधर्म प्रतिनिधि सभा में भिजवा दीजिए, जिससे पास होकर इसका विज्ञापन कर दिया जाए और प्रत्येक सनातनधर्मी इससे लाभ उठा सके।

पोपजी—प्राचीनकाल में गुरु के घर लड़के गुरु के शिष्य बनकर ही रहते थे और उन्हें माता-पिता के समान समझते थे, परन्तु वे उस गुरु के अपने पुत्र नहीं समझे जाते थे, अपितु शिष्य ही समझे जाते थे।

तोपजी—हमने भी तो यही लिखा है कि चारों वर्णों के लड़के गुरु-गृह में गुरु को पिता और गुरु की स्त्री को माता समझते हुए २४, ३६, ४८ वर्ष तक घर के सदस्य बनकर रहते थे और कोई अव्यवस्था उत्पन्न नहीं होती थी। आपको उत्तर में कोई कुव्यवस्था सिद्ध करनी चाहिए थी, अन्यथा हमने तो इस बात को उदाहरण के रूप में लिखा था और वह ठीक है। क्यों श्रीमन्! जब लड़के गुरु और गुरुपत्नी को पिता और माता के समान समझते थे, तो वे लड़कों को पुत्र के समान भी तो समझते ही थे! और आपके यहाँ तो लिखा है कि "यद्यपि जन्म देनेवाले और वेद पढ़ानेवाले दोनों ही पिता हैं, परन्तु इन दोनों में से वेद पढ़ानेवाला पिता बड़ा है, क्योंकि माता-पिता तो कामदेव के वशीभूत होकर पशु की भाँति पैदा ही करते हैं, परन्तु गुरु वेद पढ़ाकर गायत्री के द्वारा उसकी जिस जाति या वर्ण को निर्धारित करता है, वही सत्य है, वही अजर और अमर है [मनुस्मृति अध्याय २, श्लोक १४६ से १४८]।

यहाँ तो बिल्कुल स्पष्ट है कि माता और पिता की अपेक्षा गुरु और गुरुपत्नी ही अधिक सम्माननीय हैं, क्योंकि माता-पिता तो केवल पशु की भाँति कामवश होकर पैदा करते हैं और ये (गुरु) ज्ञान देकर द्विजाति बनाते हैं। इस दूसरे को भी जन्म माना गया है, तभी तो द्विजाति पदवी मिलती है। पहले जन्म से दूसरा जन्म अधिक आवश्यक है, इसलिए गुरुपत्नी और गुरु ही वास्तविक माता-पिता हैं। इससे इन्कार करनेवाला कृतघ्न और पातकी होता है। हाँ, लड़कों को पूर्णरूप से पुत्र मानने में आपके सनातनधर्म में अवश्य रुकावट पड़ती है, इसीलिए आपको उन्हें पुत्र मानने में झिझक है, क्योंकि आपके यहाँ तो कभी-कभी गुरुपत्नी पर भी सनातनधर्म का अनुभव करने की आज्ञा है, जैसाकि महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३४, श्लोक २२ में लिखा है—

गुरुतल्पं हि गुर्वर्थे न दूषयति मानवम्।
उद्दालकः श्वेतकेतुं जनयामास शिष्यतः॥ —महा० आ० ३४।२२

अर्थ—गुरु की स्त्री के साथ भोग भी मनुष्य को कलङ्कित नहीं करता, शर्त यह है कि वह गुरु के उपकार के लिए किया जाए, क्योंकि उद्दालक मुनि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को अपने शिष्य से ही पैदा कराया था।

और चन्द्रमा ने तो अपने गुरु बृहस्पति की स्त्री तारा पर अपने उपकार के लिए हाथ साफ़ कर दिया! तो कदचित् आप ऐसी-ऐसी विशेष आवश्यकताओं के लिए गुरु के पुत्र बनने में रुकावट समझते होंगे, परन्तु यह भी आपकी भूल है और आपका सनातनधर्म की स्वतन्त्र विचारधारा पर कमीना आक्रमण है, क्योंकि बेचारा सनातनधर्म तो असली पुत्रों के लिए भी कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता, क्योंकि भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय १८, श्लोक २६ से २८ में लिखा है कि—"जो ज्ञानवाली स्त्री हो वह चाहे किसी को वर ले, वह चाहे उसका पिता, पुत्र, भाई भी क्यों न लगता हो, उसका पति हो जाता है। ब्रह्मा अपनी पुत्री से, विष्णु अपनी माँ से और महादेव अपनी बहन से विवाह करके श्रेष्ठ पदवी पा गये। इस वेदानुकूल बात को सुनकर सूर्य ने भी भतीजी से विवाह करके श्रेष्ठ पदवी प्राप्त की।"[१]

बस अब आपको झिझकने की आवश्यकता नहीं, सनातनधर्म में इसकी खुली छुट्टी है; परन्तु वैदिक सिद्धान्त यही है कि गुरु और गुरुपत्नी पिता और माता ही हैं। आगे आपकी इच्छा हो तो वैदिक सिद्धान्त पर चलें अन्यथा सनातनधर्म का उपर्युक्त रास्ता खुला ही है।

पोपजी—प्रतीत होता है कि लालासाहब की बुद्धि पर कोई पर्दा छाया हुआ है कि इनको प्रत्येक बात उलटी ही दिखाई देती है। महाशय! तनिक होश करो और तनिक बुद्धि से काम लो। बलराम का गर्भ में परिवर्तन आपके परिवर्तन का परिणाम नहीं हो सकता। हाँ, यदि स्वामी दयानन्दजी ने गर्भ में ही परिवर्तन का उल्लेख किया होता तो यह इतिहास आपके मत की पुष्टि कर सकता था।

तोपजी—पर्दा हमारी बुद्धि पर नहीं, अपितु आपकी अक्ल [बुद्धि] पर पत्थर पड़े हुए हैं कि परिर्वतन शब्द देखकर ही लंगूर की भाँति उछल रहे हैं। आपकी बुद्धि उलटी होने के कारण प्रत्येक सीधी बात भी आपको उलटी दृष्टिगोचर होती है, अन्यथा तनिक बुद्धि और होश को ठीक करके विचार तो कर लिया होता कि हमने बलराम के गर्भ में परिर्वतन की चर्चा क्यों की है। हमारे लेख का प्रयोजन तो यह था कि पौराणिकों को परिर्वतन शब्द से घबराने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि सनातनधर्म में तो विचित्र प्रकार के परिवर्तन विद्यमान हैं, जिनके समक्ष गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण के परिवर्तन पर सन्तान का परिवर्तन एक अत्यन्त साधारण-सी बात है। हम पाठकों के मनोरञ्जनार्थ सनातनधर्म के कुछ परिवर्तनों का उल्लेख करते हैं—

१. जीव का परिवर्तन—कलियुग में राक्षस लोग ब्राह्मणों के घर में जन्म लेंगे, जो परस्पर लड़ेंगे, परमात्मा के धर्म में रुकावट डालनेवाले होंगे, ब्राह्मण के कर्मों से हीन होंगे और परमात्मा के धर्म से रहित होंगे। कलियुग में ब्राह्मण अँगरखा और पगड़ी धारण करने

---

१. मूल श्लोक ये हैं—

या तु ज्ञानमयी नारी वृणेद्यं पुरुषं शुभम्। कोऽपि पुत्रः पिता भ्राता स च तस्याः पतिर्भवेत्॥
स्वकीयां सुतां ब्रह्मा विष्णुदेवः स्वमातरम्। भगिनीं भगवाञ्छम्भुर्गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात्॥
इति श्रुत्वा वेदमयं वाक्यं चादितिःसम्भवः। विवस्वान् भ्रातृजां संज्ञां गृहीत्वा श्रेष्ठवानभूत्॥

में ही ब्राह्मणपन समझेंगे। [वा० रामायण माहात्म्य, अध्याय १, श्लोक १४-१५]।

पोपजी महाराज! ये लक्षण तो आपमें मिलते ही हैं, प्रतीत होता है कि राक्षसों की आत्मा ही परिवर्तित होकर आपमें विराजमान हो रही है।

२. शरीर का पशु से परिवर्तन—मैं एक तपस्वी मुनि हूँ। मेरा नाम कन्दम है। मनुष्यों से शर्म [लज्जा] आने के कारण मैं हिरन का शरीर धारण करके हिरनी के साथ मैथुन कर रहा था। [महाभारत आदिपर्व, अध्याय ११८, श्लोक २८]।

३. पुरुष के शरीर का स्त्री से परिवर्तन—मनु की पुत्री इला लड़का बन गया। इसका नाम प्रद्युम्न रखा गया। वह एक बार शिकार खेलने जंगल में गया तो महादेव के शाप से सेना के सब पुरुष स्त्रियाँ बन गयीं और घोड़े घोड़ियाँ बन गयीं। फिर प्रयत्न करने पर यह निर्णय हो गया कि वह एक मास पुरुष और एक मास स्त्री रहा करेगा। नारद और अर्जुन के भी स्त्री बनने, सन्तान उत्पन्न होने और कृष्ण से सम्भोग करने का पुराणों में वर्णन है।

४. बीज का परिवर्तन—ऋचीक ने गाधि की और अपनी स्त्री के लिए चरु बनाया। गाधि की स्त्री के चरु में क्षत्रिय उत्पन्न करने का बीज रक्खा और अपनी स्त्री के चरु में ब्राह्मण पैदा करने का बीज रक्खा, परन्तु इन दोनों ने परस्पर चरु परिवर्तित कर लिये, जिससे बीज भी बदल गया [सनातनधर्म विजय पृ० ८३]।

५. गर्भ का परिवर्तन—देवकी का सातवाँ गर्भ रोहिणी में परिवर्तित हो गया, जिससे बलरामजी उत्पन्न हुए और लोगों में प्रसिद्ध हो गया कि देवकी का गर्भ गिर गया [ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्मखण्ड, अध्याय ७, श्लोक ३४]।

६. बच्चों का परिवर्तन—देवकी के पुत्र कृष्ण का परिवर्तन यशोदा की पुत्री एकानंशा के साथ हो गया [ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्म खण्ड, अध्याय ७]।

७. नवयुवक का परिवर्तन—ऋचीक ऋषि ने अपना युवा मँझला पुत्र सोने और गौओं के बदले अम्बरीष के हाथ यज्ञ में बलि देने के लिए बेच दिया। इस लड़के का नाम शुनःशेप था [वा० रा० बालकाण्ड, सर्ग ६३, श्लोक २२-२३]। फिर इसे विश्वामित्र ने अपना पुत्र बनाकर अपने गोत्र में प्रविष्ट कर लिया [भागवत स्कन्ध ९, अध्याय १६]।

८. वृद्धावस्था का यौवन से परिवर्तन—जब राजा ययाति वृद्ध हो गया, परन्तु विषयों से इसका मन नहीं भरा तो इसने अपने पुत्र के यौवन के साथ अपनी वृद्धावस्था को बदल लिया। लड़के को गद्दी पर बैठाया और स्वयं स्त्रियों से खूब भोग करता रहा [महा० आदिपर्व, अध्याय ८४]।

९. स्त्री का परिवर्तन—भविष्यपुराण उत्तरपर्व ४, अध्याय १७१, श्लोक १ से १२ तक में लिखा है कि जो अपनी सुन्दरी नवयौवना धर्मपत्नी को अलंकृत करके ब्राह्मण को दान करता है, उसे अनन्त फल प्राप्त होता है।

१०. पानी के बदल जाने पर पुरुष को गर्भ—युवनाश्व राजा था। जब उसकी स्त्रियों में सन्तान न हुई तो उसने ऋषियों से यज्ञ कराया। ऋषियों ने मन्त्रों द्वारा जो पानी सन्तानोत्पत्ति के लिए रानियों को पिलाने के लिए तैयार किया था, रात्रि में प्यास का मारा राजा वह पानी पी गया। परिणामस्वरूप राजा को ही गर्भ हो गया और इसकी कोख को फाड़कर पुत्र उत्पन्न हुआ। इस लड़के का नाम मान्धाता था [भागवत स्कन्ध ९, अध्याय ६, श्लोक २५ से ३०]।

११. गणेश के सिर का हाथी के सिर के साथ परिवर्तन।

१२. इन्द्र के अण्डकोशों का मेंढे के अण्डकोशों के साथ परिवर्तन।

सारांश यह कि इस प्रकार के सैकड़ों परिवर्तन पुराणों में भरे पड़े हैं, अतः हमारे पौराणिक भाइयों को परिवर्तन शब्द से भयभीत होने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। जब इस प्रकार के अनेक परिवर्तन सनातनधर्म में विद्यमान हैं तो गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार वर्ण के परिवर्तन हो जाने पर सन्तान के परिवर्तन में सनातनधर्म को क्या आपत्ति हो सकती है? आशा है आप मेरे आशय को समझ गये होंगे।

पोपजी—भगवान् श्रीकृष्ण के परिवर्तन का परिणाम वही हुआ था जोकि ऋग्वेद मण्डल ५, सूक्त २, मन्त्र ८ में बताया जा चुका है कि दूसरे से उत्पन्न हुआ पुत्र अपना नहीं होता, क्योंकि वह कुछ समय के पश्चात् अपने कुल में वापस चला जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण भी कंस को मारने के पश्चात् अपने पिता वसुदेव के घर चले गये थे।

तोपजी—ऋग्वेद के मन्त्र का ठीक-ठीक पता और अर्थ हम पीछे [पृ० १८३ पर] लिख चुके हैं और यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि आपका सिद्धान्त वेद, धर्मशास्त्र और पुराणों के भी विरुद्ध है। वेद ही आज्ञा देता है कि जो पुत्र तुम्हारे गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल न हो, तुम्हें प्रसन्न न रख सके, उसे पुत्र मत बनाओ; और जो लड़का गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार उत्तम स्वभाव और सेवा करनेवाला हो, उसे पुत्र बनाया जा सकता है। वेद की इस आज्ञा के अनुसार सैकड़ों अयोग्य पुत्र अपने बीज और अपने पेट से उत्पन्न हुए भी घर से निकाल दिये गये और सम्पत्ति से वञ्चित कर दिये गये; और सैकड़ों ही ऐसे पुत्र जोकि अपने बीज और पेट से पैदा नहीं हुए थे, योग्य और सेवक होने के कारण पुत्र बनाये गये और सम्पत्ति उनके नाम कर दी गयी—यह हम सिद्ध कर चुके हैं।

रहा प्रश्न श्रीकृष्णजी महाराज का। वे जिस उद्देश्य के लिए मथुरा से गोकुल ले-जाए गये थे, वह प्रयोजन पूर्ण हो गया। उन्हें केवल कंस से सुरक्षित रखने के लिए ही ले-जाया गया था। जब वह उद्देश्य पूरा हो गया और उन्होंने नौजवान बनकर कंस को मार दिया, तब संकट दूर हो जाने के कारण वापस घर चले गये, परन्तु इनका पिता-पुत्र का सम्बन्ध यथावत् स्थिर रहा। यदि नन्द के सन्तान न होती और श्रीकृष्ण को केवल पुत्र बनाने के लिए परिवर्तित किया जाता तो वे कदापि वापस नहीं जाते, जैसाकि हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि बहुत-से बालक जिनको पुत्र का प्रतिनिधि बनाया गया वे वापस लौटकर अपने कुल में नहीं गये। सबसे बड़ा उदाहरण आपके दादा गुरु भरद्वाजजी का ही है कि वे बृहस्पति के बीज से ममता के पेट से उत्पन्न हुए और देवताओं ने उसे कोई सन्तान न होने के कारण राजा भरत को दे दिया, जिनसे क्षत्रिय-कुल चला; वे कभी भी लौटकर ममता अथवा बृहस्पति के कुल में नहीं आये।

पोपजी—यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण का पालन-पोषण नन्द के घर हुआ और पालन-पोषण की दृष्टि से वे उन्हें पिता मानते रहे, परन्तु वे नन्द के पुत्र नहीं कहलाये और न ही नन्द के गोत्र और जाति के कहलाए गये, आदि।

तोपजी—हमने श्रीकृष्णजी का नन्द की लड़की एकानंशा से परिवर्तन सनातनधर्म में परिवर्तन की रीति को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया था और वह सोलह आने सत्य है।

आप श्रीकृष्ण के कुल-गोत्र के वृत्तान्त को रहने देते तो लाभ में रहते, अन्यथा आपके ब्रह्मवैवर्तपुराण से तो कृष्ण का यादव होना भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ब्रह्मवैवर्त के लेख के अनुसार वसुदेव यादव न था अपितु देवकी यादव थी। सनातनधर्म के लिए यह एक झंझट का विषय है। देखिए, ब्रह्मवैवर्त में क्या लिखा है—

देवमीढान्मारिषायां वसुदेवो महानभूत। यस्योद्भवे देवसंघो वादयामास दुन्दुभिम् ॥५॥
आहुकस्य सुतः श्रीमान् यदुवंशसमुद्भवः। देवको ज्ञानसिन्धुश्च तस्य कन्या च देवकी ॥७॥

—ब्रह्मवै० कृष्ण० ७।५, ७

अर्थ—मारिषा नाम की स्त्री में देवमीढ से महान् वसुदेव की उत्पत्ति हुई, जिसके उत्पन्न होने पर देवताओं ने बाजे बजाये॥५॥ यदुकुलोत्पन्न आहुक का पुत्र देवक नामवाला था। वह ज्ञान का सागर था, उसकी पुत्री देवकी थी।

इस प्रमाण से स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण यादव नहीं था, क्योंकि माता के नाम से वंश नहीं चलता, पिता के नाम से चलता है। जब वसुदेव यदु नहीं थे तो कृष्ण कहाँ से होते? और जनसाधारण में भी कृष्ण के गोत्र आदि के सम्बन्ध में झगड़ा ही था; देखिए, इसी पुराण में क्या लिखा है—

मा राजपुत्रो मा शूरो मा कुलीनश्च मा शुचिः । मा दाता मा धनाढ्यश्च मा योग्यो मा जितेन्द्रियः॥

—ब्रह्मवै० कृष्ण० १०५।५३

जातेश्च निर्णयो नास्ति भैक्ष्यमैथुनयोस्तथा। किं नु राजेन्द्रपुत्रश्च किं नु वा मुनिपुत्रकः॥२१॥

—ब्रह्म० कृ० १०६।२०, २१

पितामहो वासुदेवो मथुरायां च क्षत्रियः। गोकुले वैश्यपुत्रश्च नाम्ना च नन्दनन्दनः॥६०॥

—ब्रह्म० कृ० ११५।६०

द्रोणः प्रजापतिः श्रेष्ठा धरा तस्य प्रिया सती। पुत्रं च तपसा लेभे परमात्मानमीश्वरम्॥८५॥
द्रोणो नन्दो वैश्यराजो यशोदा सा धरा सती ॥८६॥ —ब्रह्मवै० कृ० ११५।८५, ८६
आययुर्ब्रह्मपुत्राश्च नन्दपुत्राज्ञया कथम् ॥२६॥ —ब्रह्मवै० कृ० १०६।२६
सानन्दं गच्छ हे मातर्यशोदे तात सत्वरम्। त्वमेव माता पोष्ट्री त्वं पिता च परमार्थतः॥२६॥

—ब्रह्मवै० कृ० १०१।२६

माता मे पुत्रविरहाद्यशोदा कीदृशी च सा॥५॥
त्वयोक्ता जननी किं वा पुनः सा किमुवाच माम् ॥६॥ —ब्रह्मवै० कृ० ९८।५-६
यथाऽयमावयोः पुत्रस्तथैव भवतो ध्रुवम् ॥७॥ —ब्रह्मवै० कृ० ९१।७

अर्थ—कृष्ण न राजा का पुत्र है, न वीर है, न कुलीन है, न पवित्र है, न दानी है, न धनी है, न योग्य है और न जितेन्द्रिय है॥५६॥

इसकी जाति का कोई निर्णय नहीं है और न ही इसके खाने और मैथुन का निर्णय है॥२०॥ क्या पता राजा का पुत्र है अथवा क्या पता किसी मुनि का पुत्र है॥२१॥

तेरा दादा कृष्ण मथुरा में क्षत्रिय है और गोकुल में वैश्य का पुत्र नन्दनन्दन नाम से प्रसिद्ध है॥६०॥

द्रोण नाम का एक श्रेष्ठ प्रजापति था और उसकी प्रिय स्त्री धरा नामवाली थी, उन्होंने तप से सर्वसमर्थ परमात्मा को पुत्ररूप में प्राप्त किया॥८५॥

द्रोण ही वैश्यों का राजा नन्द हुआ और उसकी पत्नी यशोदा ही धरा थी॥८१॥

ये ब्रह्मा के पुत्र, इस नन्द के पुत्र कृष्ण की आज्ञा से कैसे आ गये?॥२६॥

कृष्ण ने कहा—हे माता यशोदा और हे पिताजी! आप आनन्दपूर्वक जाएँ। तू ही माता है, तू ही पालन करनेवाली है और वस्तुतः पिता भी नन्दजी हैं॥२६॥

कृष्ण ने ऊधव से पूछा कि मेरी माता यशोदा, पुत्र के वियोग में कैसी थी॥५॥

और आपने मेरी जननी यशोदा से क्या कहा और फिर उसने मेरे लिए क्या कहा॥६॥

देवकी ने नन्द से कहा—जैसे यह कृष्ण हम दोनों का पुत्र है, वैसे ही निश्चितरूप से आपका भी पुत्र है॥७॥

उपर्युक्त प्रमाणों से पता लगता है कि कृष्ण के कुल, जाति, माता और पिता के विषय में विभिन्न विचार पौराणिक जगत् में विद्यमान थे—१. कृष्ण राजा का पुत्र नहीं, २. कृष्ण कुलीन नहीं, ३. कृष्ण की जाति का पता नहीं, ४. क्या पता राजा का पुत्र है अथवा किसी मुनि का पुत्र है, ५. मथुरा में क्षत्रिय प्रसिद्ध थे, ६. गोकुल में नन्दवैश्य के पुत्र प्रसिद्ध थे, ७. पिछले तप के कारण कृष्ण नन्द और यशोदा का ही पुत्र था, ८. कृष्ण नन्द का पुत्र था, ९. यशोदा कृष्ण की जननी थी, १०. कृष्ण देवकी का पुत्र था, ११. कृष्ण वसुदेव का पुत्र था, १२. वसुदवे यादव न था, १३. देवकी यादव थी, १४. कृष्ण यादव न था।

यह है उपर्युक्त श्लोकों का सार, जिनसे कृष्ण के सम्बन्ध में इतनी बातें सिद्ध होती हैं और कृष्ण के सम्बन्ध में जनता के इस प्रकार के विचार थे। ऐसी स्थिति में कृष्ण का किसी विशेष कुल या विशेष गोत्र अथवा विशेष माता-पिता से सम्बन्ध सिद्ध करना असम्भव बात है, अतः पोपजी का उपर्युक्त सारा लेख पुराणों से अनभिज्ञ होने का प्रमाण है और हमने जो श्रीकृष्णजी के परिवर्तन के सम्बन्ध में उदाहरण दिया है, वह सोलह आने ठीक है।

अब हम तनिक पोपजी से पूछना चाहते हैं कि आपने कृष्णजी के सम्बन्ध में तो कुछ-न-कुछ झूठ-सच लिखकर अपने मन को प्रसन्न कर लिया, परन्तु एकानंशा जोकि नन्द की पुत्री कृष्ण के परिवर्तन में गयी थी, और जिसे देवकी और वसुदेव ने अपनी पुत्री बनाया था और उसके संस्कार भी नन्द के पुरोहित ने नहीं किये तथा वह वसुदेव और देवकी की पुत्री कहाती रही और कभी लौटकर नन्द के कुल में भी नहीं आई और वह नन्द के वर्ण की नहीं अपितु वसुदेव के वर्ण की कहाई और वसुदेव ने उसका दुर्वासा को कन्यादान दिया—इस सबकी आपने चर्चा तक नहीं की। यदि यह परिवर्तन ग़लत होता तो एकानंशा के संस्कार भी वैश्य-कुल के अनुसार नन्द का पुरोहित कराता और वह नन्द की पुत्री कहाती तथा उसका कन्यादान भी नन्दजी करते, परन्तु ऐसा कदापि नहीं हुआ। चूँकि आपके कल्पित ऋग्वेद के मन्त्र का अर्थ एकानंशा पर चरितार्थ नहीं हुआ, अतः कृष्णजी भी आपके कपोलकल्पित अर्थ के अनुसार मथुरा नहीं गये, अपितु अपना उद्देश्य पूर्ण करने के लिए गये और उन्होंने दुष्टों का नाश करके श्रेष्ठों का पालन तथा धर्म की स्थापना करने के लिए ही गोकुल से मथुरा जाना उचित समझा, अतः उनका गोकुल से मथुरा जाना स्वाभाविक न था, अपितु क्षणिक आवश्यकता थी।

आशा है अब पोपजी की बुद्धि ठिकाने आ गयी होगी और उनको यह बात समझ में आ गयी होगी कि जब पिछले जन्म के तप के कारण कृष्णजी नन्द और यशोदा के पुत्र बने तो सारी आयु उन्हें माता-पिता मानते रहे और प्रत्येक प्रकार के संस्कार में नन्द और

यशोदा का जाना-आना बना रहा और कृष्णजी भी गोकुल में आते-जाते रहे, तो फिर भला! इस स्थिर तप से प्राप्त नन्द के साथ कृष्ण के पुत्र-सम्बन्ध को पोपजी की बेहूदा घबराहट ग़लत कैसे सिद्ध कर सकती है?

पाठक महाशय! हमने पोपजी की सारी बेहूदा और ग़लत दलीलों की पोल खोलकर आपके सामने रख दी है और सत्यार्थप्रकाश में लिखित स्वामीजी के लेख को सोलह आने सत्य और वेदानुकूल सिद्ध कर दिया है। स्वामीजी का सिद्धान्त इतना अकाट्य और युक्तियुक्त है कि कुञ्जलाल की तो हस्ती ही क्या है, यदि देवताओं के गुरु बृहस्पति भी फिर से अपने भाई उतथ्य ऋषि की गर्भवती स्त्री से बलात् समागम करके सनातनधर्म के दादागुरु भरद्वाज को पैदा करके उसे इस कार्य में नियुक्त कर दें, तब भी वे इस सिद्धान्त का खण्डन नहीं कर सकेंगे।

यह बात सन्देहरहित है और बुद्धिमान् लोग सर्वसम्मति से स्वीकार करते हैं कि जिस देश में योग्यता के अनुसार चयन करके योग्य व्यक्तियों के हाथों में कार्य सौंपा जाता है, वह देश सदा उन्नति करता है, और जिस देश में योग्यता को आधार न मानकर जन्मानुसार कार्य सौंपा जाता है वह देश सदा अवनति के गर्त में गिरता है। आज यही झगड़ा सरकार और कांग्रेस में चल रहा है। सरकार यह चाहती है कि भारत में साम्प्रदायिक चुनाव की परम्परा डाली जाए, परन्तु कांग्रेस साम्प्रादियक चुनाव को देश के सर्वनाश का कारण समझकर उसका विरोध कर रही है और यह चाहती है कि देश में योग्यता के आधार पर सामूहिक चुनाव-परम्परा आरम्भ की जाए, जिससे प्रत्येक व्यक्ति योग्य बनने का प्रयत्न करे, देश की उन्नति हो।

जब तक हमारे देश में विद्यासभा और राज्यसभा विद्यमान थीं और योग्यता के आधार पर गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की पदवी परीक्षा लेकर योग्यता के अनुसार निश्चित की जाती थी, उस समय ब्राह्मणों को तो यह भय रहता था कि यदि हमने विद्या पढ़कर ब्राह्मण की योग्यता प्राप्त नहीं की तो हमें गिराकर शूद्र बना दिया जाएगा और हमें विद्या और राज्यसभा की आज्ञानुसार शूद्र माता-पिता के कुल में जीवन-यापन करना पड़ेगा, अतः वे अत्यन्त परिश्रम के साथ विद्या प्राप्त करते थे; और शूद्र आदि को उत्साह होता था कि यदि हम विद्या प्राप्त करके ब्राह्मण की योग्यता को प्राप्त कर लेंगे तो हम ब्राह्मण बन जाएँगे और ब्राह्मण माता-पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होंगे, अतः वे परिश्रमपूर्वक विद्या-अध्ययन करते थे। परिणाम यह कि ब्राह्मण शूद्र बनने के भय से और शूद्र ब्राह्मण बनने के उत्साह से परिश्रम करके विद्या पढ़ते थे। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्यों को भी समझ लीजिए। इस प्रयत्न के कारण सारा देश विद्या का भण्डार बना हुआ था और सैकड़ों व्यक्ति उन्नति करके शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय से ब्राह्मण बनते थे और कितनों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यवर्ण से निकालकर शूद्र आदि बना दिया जाता था, जैसाकि छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ४, खण्ड ४ में अज्ञात कुल में उत्पन्न हुए सत्यकाम को योग्यता के कारण ब्राह्मण बना दिया गया। विश्वामित्र को क्षत्रिय होते हुए भी योग्यता के कारण ब्राह्मण बना दिया गया, जिसका विस्तृत वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। मतंग ऋषि योग्यता के कारण चाण्डाल से ब्राह्मण बन गये। भागवतपुराण स्कन्ध ९, अध्याय २, श्लोक ८-९ के अनुसार मनु के पुत्र पृषध्र को गौ मारने के कारण शूद्र बना दिया। इसी भागवत [९।२।२१-२२] के अनुसार देवदत्त क्षत्रिय का पुत्र अग्निवेश्य हुआ,

जिससे अग्निवेश्यायन गोत्रवाले ब्राह्मणवंश का विस्तार हुआ। श्लोक २३ में दिष्टक्षत्रिय का पुत्र नाभाग नामवाला खेती करने और गो-पालन के कारण वैश्य बन गया। भागवत [९।९।१८] के अनुसार सुदास क्षत्रिय का पुत्र कल्माषपाद बुरे कर्मों के कारण राक्षस बनाकर सम्पत्ति से वञ्चित कर दिया गया। भागवत [९।२०।७] में क्षत्रिय मेधातिथि से उत्पन्न प्रस्कण्व आदि ब्राह्मण बन गये। भागवत [९।२१।१९-२१] के अनुसार क्षत्रिय होते हुए भी गर्ग से ब्राह्मण-वंश चला और दुरितक्षय नामक क्षत्रिय के तीन पुत्र त्र्य्यारुणि, कवि और पुष्करारुणि ब्राह्मण बन गये। अजमीढ क्षत्रिय का पुत्र प्रियमेध ब्राह्मण बन गया। भागवत [९।२१।३३] के अनुसार भर्म्याश्व क्षत्रिय का पुत्र मुद्गल ब्राह्मण बन गया जिससे मौद्गल्य नामक ब्राह्मणगोत्र प्रवृत्त हुआ। एक नहीं, दो नहीं, इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण विद्यमान हैं कि योग्यता के अनुसार लोग उन्नति और अवनति करते थे और इसी कारण हमारा देश विद्या का भण्डार और सब देशों का शिरोमणि बना हुआ था; परन्तु जब से योग्यता के मापदण्ड को छोड़कर केवल जन्म को ही मापक मान लिया गया, तब से ब्राह्मणों में तो निश्चिन्तता हो गयी कि हम तो जन्म से ब्राह्मण और लोगों के गुरु हैं। हम चाहे मद्यपान करें, मांस-भक्षण करें, चाहे वेश्यागमन करें हमसे यह ब्राह्मण-पदवी कोई छीन ही नहीं सकता, फिर विद्या पढ़ने में सिर क्यों खपाएँ और शूद्रादि का उत्साह गिर गया कि जब हम वेदादि शास्त्र पढ़कर भी शूद्र बने रहेंगे, उन्नति नहीं कर सकते तो फिर हमें भी दिमाग़ लड़ाने की क्या आवश्यकता! परिणाम यह हुआ--ब्राह्मण निर्भयता के कारण और क्षत्रिय उत्साह-भंग हो जाने के कारण विद्या को छोड़ बैठे। सारा देश अविद्या-ग्रस्त बन गया और परतन्त्रता में पड़ा हुआ दूसरों की ठोकरें खा रहा है। परमात्मा करे इस देश के सुदिन आएँ और लोग ऋषि दयानन्दजी के वेदानुकूल सिद्धान्त गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार करके योग्यता के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को नियत करके देश को उन्नत बनाने का प्रयत्न करें और यह देश पुनः विद्या का भण्डार बनकर चक्रवर्ती राज्य प्राप्त करे।

हमने अपने लेख में यह सिद्ध कर दिया है कि पण्डित श्रीकृष्णजी के नाम से पोपजी ने ऋग्वेद के मन्त्र का जो अर्थ किया है, वह अर्थ सर्वथा अशुद्ध और वेदों के ही विरुद्ध है। इस मन्त्र का वही अर्थ वेदानुकूल और युक्तियुक्त है जोकि स्वामी दयानन्दजी महाराज ने किया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि दूसरे के पेट से उत्पन्न हुआ ऐसा लड़का मन से भी पुत्र नहीं बनाना चाहिए जो हमें प्रसन्न करनेवाला न हो, अर्थात् जिसके गुण-कर्म-स्वभाव हमसे न मिलते हों और जो सेवा आदि करके हमें प्रसन्न न करे। जो लड़का सहनशील और विद्वान् हो अर्थात् जिसके गुण-कर्म-स्वभाव हमसे मिलते हों, वह पुत्र बनाने योग्य है। यह मन्त्र स्वामीजी के सिद्धान्त का प्रबल समर्थन करता है, खण्डन नहीं।

हमने यह भी भली-भाँति सिद्ध कर दिया है कि पोपजी का यह सिद्धान्त कि "दूसरे के पेट से और दूसरे के बीज से उत्पन्न लड़का मन से भी पुत्र न बनाना चाहिए"--वेद, स्मृति, इतिहास और पुराणों के सर्वथा विरुद्ध है और इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण विद्यमान हैं जिनमें लोगों ने दूसरे के पेट और बीज से पैदा हुए पुत्रों को अपने पुत्र का स्थानापन्न [प्रतिनिधि] बनाया और सारा राजपाट और सम्पत्ति आदि उनको सौंप दी और वे कभी भी अपने वंश में वापस नहीं गये और सैकड़ों ऐसे लड़कों को जोकि अपने पेट और अपने बीज से उत्पन्न हुए थे, अयोग्य होने के कारण शूद्र और चाण्डाल बना दिया।

तथा राजपाट और सम्पत्ति से वञ्चित कर दिया।

हमने इस बात को भी सिद्ध कर दिया है कि पौराणिक जगत् में इस प्रकार के विचित्र परिवर्तनों का वर्णन है कि जिनके समक्ष गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्ण के परिवर्तित हो जाने पर सन्तान का परिवर्तन साधारण-सी बात है, और तथ्यों के आधार पर यह भी सिद्ध कर दिखाया है कि एक कुल की सन्तति का दूसरे कुल का सदस्य बनने से कोई अव्यवस्था उत्पन्न नहीं हो सकती और वर्ण-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार होने को प्रबल युक्तियों से सिद्ध कर दिया है और पोपजी के सारे तर्कों की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। चूँकि सत्यार्थप्रकाश में लिखित सिद्धान्त कि "वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार है, जन्म से नहीं और उसका गौण सिद्धान्त कि वर्ण के परिवर्तित होने पर सन्तान का परिवर्तन विद्यासभा करे"-सोलह आने वेद के अनुकूल है, अतः स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश आदि भी सोलह आने वेद के अनुकूल हैं।

२. बलिवैश्वदेवयज्ञ

सिद्धान्त-चौथा बलिवैश्वदेव अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो तब जो कुछ भोजनार्थ बने, उसमें से खट्टा, लवणान्न और क्षार को छोड़के घृत और मिष्टयुक्त अन्न लेकर चूल्हे से अग्नि अलग धर आहूति और भाग करे-

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्योऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्याद् देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥ -मनु० ३।८४

अर्थ-जो कुछ पाकशाला में भोजनार्थ सिद्ध हो, उसका दिव्य गुण के अर्थ उसी पाकाग्नि में निम्नलिखित मन्त्रों से विधिपूर्वक होम नित्य करे।

होम करने के मन्त्र

ओम् अग्नये स्वाहा। सोमाय स्वामहा। अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा। विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। धन्वन्तरये स्वाहा। कुह्वै स्वाहा। अनुमत्यै स्वाहा। प्रजापतये स्वाहा। सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा। स्विष्टकृते स्वाहा। -[मनुस्मृति ३।८५-८६ के आधार पर]

इन भागों को जो कोई अतिथि हो उसे जिमा देवे अथवा अग्नि में छोड़ देवे। इसके अनन्तर लवणान्न अर्थात् दाल, भात, शाक रोटी आदि लेकर छह भाग भूमि पर धरे। इसमें प्रमाण-

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥ -मनु० ३।९२

इस प्रकार "**श्वभ्यो नमः। पतितेभ्यो नमः। श्वपग्भ्यो नमः। पापरोगिभ्यो नमः। वायसेभ्यो नमः। कृमिभ्यो नमः।**-इन मन्त्रों से भाग धरकर पश्चात् किसी दुःखी, बुभुक्षित प्राणी अथवा कुत्ते-कौवे आदि को दे देवे।

यहाँ 'नमः' शब्द का अर्थ अन्न अर्थात् कुत्ते, पापी, चाण्डाल, पापरोगी, कौए और कृमि अर्थात् चींटी आदि को अन्न देना-यह मनुस्मृति आदि की विधि है। हवन करने का प्रयोजन यह है कि पाकशालास्थ वायु का शुद्ध होना और जो अज्ञात, अदृष्ट जीवों की हत्या होती है, उसका प्रत्युपकार कर देना।

*

पोपजी—लाला मनसारामजी ने इसके उत्तर में जो कुछ भी लिखा है, वह सब आर्यसमाज के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

तोपजी—कदापि नहीं। हमने जो कुछ लिखा है वह सोलह आने आर्यसमाज के सिद्धान्त के अनुकूल है। हाँ, यह काम आपका है कि आर्यसमाज के खण्डन की धुन में सनातनधर्म का ही मलियामेट कर बैठते हैं, जैसाकि इसी बलिवैश्वदेवयज्ञ के सम्बन्ध में देख लीजिए। आपने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि यह सारी विधि मनुस्मृति में विद्यमान है, परन्तु चूँकि इस विधि को स्वामी दयानन्दजी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश में लिख दिया है, और सत्यार्थप्रकाश को वेदविरुद्ध सिद्ध करने के लिए आप इस विधि को ही वेदविरुद्ध सिद्ध करने के लिए एड़ी से चोटी तक ज़ोर लगा रहे हैं, जबकि इस विधि के वेद के विरुद्ध होने पर मनुस्मृति भी वेद के विरुद्ध सिद्ध हो जाती है, जिसमें यह विधि लिखी हुई है और जो सनातनधर्म के लिए परम मान्य है, परन्तु आप पक्षपात में इतने अन्धे हो रहे हैं कि सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध लिखते हुए मनुस्मृति का तनिक-सा भी ध्यान नहीं करते। आपकी तो वह दशा है कि "पड़ौसी की भैंस मर जाए, अपनी चाहे दीवार ही गिरानी पड़े", परन्तु स्मरण रखिए, आप सत्यार्थप्रकाश का तो कुछ बिगाड़ न सकेंगे, परन्तु मनुस्मृति को वेदविरुद्ध सिद्ध करके सनातनधर्म का मलियामेट अवश्य कर लेंगे। सच है—**'दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम।'**

पोपजी—लाला साहब! धोखा देना सनातनधर्म का कर्त्तव्य नहीं, यह आर्यसमाज का ही रजिस्टर्ड कार्य है।

तोपजी—धोखा देना आर्यसमाज का काम नहीं है, अपितु यह सनातनधर्म का ही परम्परा से चला आता कार्य है। विष्णु ने जालन्धर का रूप धारण करके धोखे से वृन्दा का पतिव्रतधर्म नष्ट किया और इन्द्र ने गोतम का रूप धारण करके धोखे से अहल्या का सतीत्व नष्ट किया। एक नहीं, दो नहीं, धोखा देने के ऐसे सैकड़ों उदाहरण सनातनधर्म की प्रामाणिक पुस्तकों में विद्यमान हैं। इसी पौराणिक पद्धति पर चलते हुए आप भी 'मन्त्र' शब्द की आड़ लेकर जनता को धोखा देना चाहते हैं, परन्तु अब जनता पौराणिक हथकण्डों से पूर्णरूप से परिचित हो चुकी है, अतः अब इस प्रकाश के युग में सनातनधर्म की दाल गलनी असम्भव है।

पोपजी—मन्त्र केवल वेद अर्थात् मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग में तथा उपनिषदों और गृह्यसूत्रों में ही होते हैं, शेष समस्त स्मृति आदि धर्मग्रन्थों में संस्कृत के पद्यों को मन्त्र नहीं कहा जाता, अपितु इन्हें श्लोक ही कहा जाता है।

तोपजी—प्रतीत होता है कि अब बुद्धि कुछ ठिकाने आ गयी है, क्योंकि पहले तो आपको यह पागलपन सवार था कि मन्त्र वेद में ही होते हैं, परन्तु अब इतना तो मान लिया कि वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों और गृह्यसूत्रों में भी मन्त्र होते हैं तथापि अभी तक आपका पागलपन पूर्णरूप से दूर नहीं हुआ। श्रीमन्! दूसरे धर्मग्रन्थों में भी जो पद्य मन्त्रों के ढंग के होते है, वे मन्त्र कहलाते हैं और जो पद्य श्लोकों के ढंग के होते हैं, वे श्लोक कहलाते हैं। उदाहरण के रूप में सुश्रुत के शारीरस्थान अध्याय दस में जहाँ दूध पिलाने के लिए धायी रखने की चर्चा है, वहाँ पहली बार दूध पिलाने की विधि इस प्रकार लिखी है—

ततः प्रशस्तायां तिथौ शिरःस्नातमहतवाससमुदङ्मुखं शिशुमुपवेश्य धात्रीं प्राङ्मुखीं चोपवेश्य

दक्षिणं स्तनं धौतमीषत्परिस्रुतमभिमन्त्र्य मन्त्रेणानेने पाययेत्॥

—सुश्रुतसंहिता, शरीरस्थान १०।२९

अर्थ—फिर श्रेष्ठ तिथि में बालक को सिर से स्नान कराके, नये वस्त्र पहनाकर उत्तर की ओर मुख करके बैठाये। धायी को पूर्व की ओर मुख करके बैठाकर उसके दाहिने स्तन को धोकर और उसका थोड़ा-सा दूध निकालकर निम्नलिखित मन्त्र से अभिमन्त्रित करके पिलाये।

आगे सुश्रुत में वह मन्त्र इस प्रकार लिखा है—

चत्वारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिनः। भवन्तु सुभगे नित्यं बालस्य बलवृद्धये॥३०॥

पयोऽमृतरसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने। दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राश्यामृतं यथा॥३१॥

देखिए, वैद्यक के ग्रन्थ सुश्रुत में भी इस प्रकार के मन्त्र लिखे हुए हैं।

इसके अतिरिक्त पुराणों में तो मन्त्रों की इतनी भरमार है कि जिसका ठिकाना ही नहीं है। देखिए, गरुडपुराण, आचारकाण्ड अध्याय ३१ में श्लोक २१ से आगे इस प्रकार के मन्त्र लिखे हुए हैं—

मन्त्राञ्छृणु त्रिनेत्र त्वं कथ्यमानान् मयाऽधुना॥२१॥

अर्थ—हे महादेवजी! आप मेरे द्वारा वर्णन किये जाते मन्त्रों को सुनें।

ओं ह्रां हृदयाय नमः। ओं ह्रीं शिरसे नमः। ओं ह्रूं शिखायै नमः। ओं ह्रैं कवचायै नमः। ओं ह्रौं नेत्रत्रयाय नमः। ओं ह्रः अस्त्राय नमः। ओं श्रियै नमः। ओं शंखाय नमः। ....एभिर्मन्त्रैर्महादेव पूज्या अङ्गादयो नरैः॥२३॥

अर्थ—हे महादेवजी! इन मन्त्रों से मनुष्यों को अङ्ग आदि की पूजा करनी चाहिए।

अतः आपका यह दावा कि दूसरे धर्मग्रन्थों में मन्त्र होते ही नहीं—सर्वथा झूठा और निरर्थक है।

पोपजी—आपका यह कहना कि संस्कृतभाषा की एक विशेष प्रकार की शैली में लिखे पद्य को मन्त्र कहते हैं—पूर्णरूप से अशुद्ध और मनमाना है। किसी पण्डित के कवित्वपूर्ण पद्य को मन्त्र नहीं कहा जाता।

तोपजी—हमारा यह दावा सोलह आने सत्य है कि संस्कृत के एक प्रकार की कवित्वपूर्ण पद्य का नाम मन्त्र है और जब भी कोई ऋषि या पण्डित इस प्रकार की रचना करे तो उसका नाम भी मन्त्र ही होगा। आप कभी अपनी चारपाई के नीचे भी लाठी फेरकर देखा करते है या नहीं, जहाँ पर कि ऐसे पद्य को मन्त्र ही लिखा गया है जिसे पढ़कर कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य अपनी हँसी को रोक ही नहीं सकता। देखिए, गरुडपुराण, आचारकाण्ड, अध्याय १३४ के आरम्भ में महाकौशिक मन्त्र इस प्रकार लिखा है—

महाकौशिकमन्त्रश्च कथ्यतेऽत्र महाफलः॥१॥

अर्थ—यहाँ पर महाफल देनेवाले महाकौशिक मन्त्र का कथन करते हैं—

ओं महाकौशिकाय नमः। ओं हूं हूं प्रस्फुर लल लल कुल्व कुल्व चुल्व चुल्व खल्ल खल्ल मुल्व मुल्व गुल्व गुल्व तुल्व तुल्व पुल्ल पुल्ल धुल्व धुल्व धुम धुम धम धम मारय मारय धक धक वज्ञापय वज्ञापय विदारय विदारय कम्प कम्प कम्पय कम्पय पूरय पूरय आवेशय आवेशय ओं ह्रीं ओं ह्रीं हं वं वं हूं तटतट मदमद ह्रीं ओं हूं नैर्ऋतये दातव्यम्। महाकौशिकमन्त्रेण मन्त्रितं बलिमर्पयेत्॥२॥

अर्थ--इस महाकौशिक मन्त्र से अभिमन्त्रित करके बलि अर्पित करे।

पोपजी! कहिए और गर्दन में मुँह डालकर बताइए कि जब इस प्रकार की बेहुदा तुकबन्दी का नाम भी पुराणों में मन्त्र बताया है तो हमारा दावा मनमाना है या आपका इन्कार करना मूर्खता है।

पोपजी--यदि स्वामीजी को भी ऐसा स्वीकार होता तो स्वामीजी अपनी पुस्तकों में स्मृति आदि धर्मशास्त्रों और इतिहास-पुस्तकों के प्रमाणों को श्लोक नाम से न लिखकर मन्त्र नाम से लिखते, परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता।

तोपजी--बलिहारी जाएँ उस बुद्धिमत्ता पर! भला, स्वामीजी श्लोकों के ढंग की बनावट को मन्त्र क्यों लिखते? हाँ, जहाँ मनुस्मृति में अध्याय ३, श्लोक ८४, से ९२ तक में उन्हें मन्त्रों के उद्धरणों में उनके बनाने की विधि दृष्टिगोचर हुई, वहीं स्वामीजी ने मन्त्र बनाकर मनुस्मृति के अनुसार उनका नाम मन्त्र रख दिया। इसी प्रकार मनुस्मृति की विधि के अनुसार ही कुल्लूकभट्ट ने भी अपनी टीका में मन्त्र बनाये हैं और मनुजी महाराज ने स्वयं भी उन्हें मन्त्र स्वीकार किया है। देखिए, मनुजी महाराज बलिवैश्वदेव की विधि का वर्णन करके अन्त में लिखते हैं--

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत्। वैश्वदेवं हि नामैतत् सायं प्रातर्विधीयते॥

--मनु० ३।१२१

अर्थ--सायंकाल भोजन तैयार होने पर स्त्री बिना मन्त्रों के बलि प्रदान करे। इसका नाम वैश्वदेव है। यह सायं और प्रातः किया जाता है।

सायंकाल बिना मन्त्रों के बलि करने की आज्ञा से स्पष्ट सिद्ध है कि प्रातःकालः मन्त्रों से बलिवैश्वदेवयज्ञ किया जाना चाहिए और वे मन्त्र वही हैं जिनका कि अध्याय ३, मन्त्र ८४ से ९२ तक में वर्णन है। मनुजी ने इन्हें मन्त्र नाम से लिखा है और स्वामीजी ने भी मन्त्र नाम से ही लिखा है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामीजी ने जहाँ श्लोकों के ढंग की बनावट देखी उसे श्लोक नाम से लिखा और जो बनावट मन्त्र के ढंग की देखी उसे मन्त्र नाम से लिख दिया।

पोपजी--निरुक्त अध्याय ७, खण्ड १२ में पं० राजारामजी लिखते हैं कि **'मन्त्रा मननात्'** अर्थात् ऋषियों ने तप करते हुए ईश्वरीय ज्ञान का मनन करके जिनको प्राप्त किया, उन्हें मन्त्र कहते हैं।

तोपजी--आपका यह मनमाना अर्थ न ही निरुक्त में लिखा हुआ है न ही पं० राजाराम ने यह अर्थ किया है और न ही सनातनधर्म के टीकाकार दुर्गाचार्य ही यह अर्थ करते हैं। न जाने आपको दूसरों का नाम लेकर अपना अर्थ करने का असाध्य रोग क्यों हो गया है? देखिए, इसका अर्थ दुर्गाचार्य और राजारामजी दोनों एक स्वर से यह करते हैं--

'मन्त्रा मननात्' तेभ्यो ह्यध्यात्माधिदैवाधियज्ञादिमन्तारो मन्यन्ते।

अर्थ--'मन्त्र मनन से', मन्त्रों से अध्यात्म, अधिदैव और अधियज्ञ विषय समझे जाते हैं।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जो अध्यात्म आदि विषय को समझानेवाले हैं, उन्हें मन्त्र कहते हैं। आपके मनमाने, कपोलकल्पित अर्थ की यहाँ गन्धमात्र भी नहीं है। झूठ बोलते हुए लज्जा भी नहीं आती!

पोपजी—और अमरकोश—संस्कृतकोश में भी वेद के ही मन्त्र 'मन्त्र' माने जाते हैं।

तोपजी—या बेईमानी तेरा ही आश्रय! झूठ बोलने की भी हद हो गयी। पता नहीं सनातनधर्म के ठेकेदारों ने झूठ बोलने का ठेका ही ले-लिया है। भला, अमरकोश में यह कहाँ लिखा है कि मन्त्र वेद के ही होते हैं। देखिए—

वेदभेदे गुह्यवादे मन्त्रः मित्रो रवावपि॥ —अमर० ३।३।१६७

अर्थ—'मन्त्र' यह एक नाम गुप्त बात का, देव आदि को साधने और वेदभेद का है। —बेरी जिला रोहतक-निवासी पं० रविदत्त की टीका, लक्ष्मी वेंकटेश्वर की प्रकाशित।

इस लेख से स्पष्ट प्रकट है कि जिसमें गुप्त बात का वर्णन किया गया हो और जिससे देव आदि की आराधना की जाए, उसका नाम मन्त्र है और वेदभेद का नाम भी मन्त्र है। श्रीमन्! इन लेखों से यह सिद्ध नहीं होता कि मन्त्र वेद में ही होते हैं, अपितु सिद्ध यह होता है कि वेद में मन्त्र ही होते हैं और मन्त्र 'मत्रि गुप्तपरिभाषणे' से सिद्ध होता है, जिसका अर्थ यह है कि जिसमें गूढ सम्मति, गुप्त मन्त्रणा दी गयी हो उसे मन्त्र कहते हैं। इसी कारण राजा के सचिव को भी मन्त्री कहा जाता है, क्योंकि वह राजा के साथ शासन के प्रबन्ध के विषय में गुप्त मन्त्रणा करता है। यही बात स्वामी दयानन्दजी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में लिखी है।

पोपजी—जब वेदों के व्याकरण, निरुक्त, संस्कृतकोश, स्वामी दयानन्दजी का लेख और पं० राजारामजी की व्याख्या स्पष्टरूप से वेदों में ही मन्त्रों का होना सिद्ध करती है और आज तक किसी भी ऋषि-मुनि या विद्वान् ने वैदिक ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत की किसी काव्यमयी रचना को मन्त्र नहीं लिखा तो मन्त्र का मनघड़न्त अर्थ करके लाला साहब ने ही जनता को धोखा देने का प्रयत्न किया है।

तोपजी—हम इस बात को अच्छी प्रकार सिद्ध कर चुके हैं कि पोपजी का यह दावा कि 'मन्त्र वेदों में ही होते हैं' सर्वथा ग़लत और प्रमाणों के विरुद्ध है, क्योंकि मन्त्र वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, गृह्यसूत्रों, सुश्रुत और पुराणों में भी विद्यमान है, जिनके कुछ उदाहरण हम पूर्व लिख चुके हैं और आवश्यकता हो तो पुराणों से सैकड़ों मन्त्र प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वे सब इन ग्रन्थों को बनानेवाले ऋषि-मुनि लोगों ने ही मन्त्रों के ढंग से रचकर इन्हें मन्त्रों के नाम से ही लिखा है। हम यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि पोपजी ने निरुक्त, अमरकोश, पं० राजाराम और स्वामी दयानन्दजी का नाम लिखकर मनमाना झूठा अर्थ करके जनता को धोखा देने का प्रयत्न किया है, अन्यथा इनमें से कोई भी पोपजी के दावे का समर्थन नहीं करता।

हाँ, यह बात ठीक है कि चारों वेदों—ऋग्यजुः, साम और अथर्व—मूल संहिताओं में मन्त्रों के अतिरिक्त और किसी प्रकार की रचना श्लोक आदि नहीं है, अतः उन्हें मन्त्रभाग कहते हैं, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मन्त्र वेदों के अतिरिक्त और ग्रन्थों में हैं ही नहीं, क्योंकि मन्त्र संस्कृत की एक रचनाविशेष का नाम है और प्रत्येक ऋषि-मुनि, विद्वान् को इस प्रकार की रचना करने का अधिकार है। इस अधिकार का प्रयोग करते हुए ही मनु महाराज ने उपर्युक्त श्लोकों में मन्त्र बनाने का प्रकार लिखा और इस अधिकार का प्रयोग करते हुए मनुस्मृति की विधि के अनुसार कुल्लूकभट्ट और स्वामी दयानन्दजी महाराज ने भी अपने ग्रन्थों—सत्यार्थप्रकाश आदि में बलिवैश्वदेवयज्ञ के मन्त्रों को लिखा है, अतः पोपजी का यह दावा कि 'मन्त्र वेद में ही होते हैं' बिलकुल

झूठा और अपने घर के पुराणों से भी अनभिज्ञ होने का स्पष्ट प्रमाण है।

पोपजी—सत्यार्थप्रकाश में इन्हें केवल मन्त्र लिखकर ही तो जनता को धोखा दिया गया है कि हिन्दू इन्हें मानकर और वेद की भी आज्ञा विचारकर इस विधि को काम में लाएँ। वेद का नाम न लिखकर केवल मन्त्र लिखना यह स्वामीजी का धोखा देना नहीं तो और क्या है?

तोपजी—धोखा देना स्वामीजी का काम नहीं, यह तो सनातनधर्म का रजिस्टर्ड काम है, तभी तो आप मन्त्र शब्द का बहाना बनाकर जनता को धोखा देने का प्रयत्न कर रहे हैं। स्वामीजी महाराज ने तो बलिवैश्वदेवयज्ञ की समाप्ति पर स्पष्ट लिख दिया है कि यह विधि मनुस्मृति आदि की है। यदि इस स्पष्ट लेख के पश्चात् भी आप-जैसे बुद्धिहीन लोगों को दिखाई न दे तो इसमें स्वामीजी का क्या दोष है? जब ये मन्त्र वेद के हैं ही नहीं तो स्वामीजी इन्हें वेद का क्यों लिखते और इनके नीचे वेद का नाम क्यों लिखते? और यह बात स्पष्ट सिद्ध हो चुकी है कि मन्त्र कहने से यह बोध नहीं होता कि मन्त्र वेद के ही हैं, जब तक इनके साथ वेद का सन्दर्भ न लिखा जाए। यदि केवल मन्त्र लिख देने से वेद के मन्त्र समझ लिये जाते हैं तो माना जा सकता है कि इस धोखे में सबसे अधिक भाग पुराणों का है, जिनमें सैकड़ों पाठ मन्त्र के नाम से दिये गये हैं, जिनका वेदों में चिह्नमात्र भी नहीं है और यही बात पुराणों के विषय में भी कही जा सकती है कि पुराणों ने इन्हें मन्त्र लिखकर जनता को धोखा दिया है कि हिन्दू इन्हें मन्त्र मानकर और वेद की आज्ञा विचारकर उन विधियों को काम में लाएँ, परन्तु वस्तुतः यह बात नहीं है कि मन्त्र कहने से ही किसी पाठ को वेद का पाठ समझ लिया जाए, क्योंकि मन्त्र वेदों के अतिरिक्त दूसरे ग्रन्थों में भी विद्यमान हैं। हाँ, पुराणों में वेद के नाम से कल्पित मन्त्र लिखकर जनता को अवश्य धोखा दिया गया है। देखिए, ब्रह्मवैवर्तपुराण में ये दोनों मन्त्र सामवेद के नाम से दिये गये हैं—

१. मन्त्रस्तु सामवेदोक्तोऽयातयामः सबीजकः।
ओं श्रीदुर्गायै सर्वविघ्नविनाशिन्यै नम इति॥

—ब्रह्मवै० कृष्ण० ४। अध्याय २७, श्लोक ८

२. ओं सर्वेश्वराय च सर्वविघ्नविनाशिने मधुसूदनाय स्वाहेति। अयं मन्त्रो महागूढः सर्वेषां कल्पपादपः। सामवेदे च कथितः सिद्धानां सर्वसिद्धिदः॥

—वही० ४।७८।३७-३८

परन्तु इन दोनों मन्त्रों का सामवेद में चिह्न तक भी नहीं है। अब बतलाइए, धोखा स्वामीजी ने दिया है अथवा धोखा देना सनातनधर्म का परम्परा से रजिस्टर्ड व्यवसाय है?

पोपजी—महाशयजी! हम जनता को मार्गभ्रष्ट करने के लिए बेहूदगी नहीं करते, क्योंकि एक ओर तो आर्यसमाज का यह दावा है कि हमारा मत वेदानुकूल है, दूसरी ओर स्वामी दयानन्दजी सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में स्पष्ट लिखते हैं कि आर्यावर्त्तियों के विषय में जो कुछ लिखा गया है, वह वेदोक्त होने से मुझे मान्य है, और तीसरे कुछ आप भी वैदिक धर्म की डींग लगा रहे हैं, ऐसी स्थिति में सनातनधर्मियों का आपसे पूछना कि अमुक बात जो सत्यार्थप्रकाश आदि में लिखी गयी है, किस वेदमन्त्र के आधार पर है—सोलह आने ठीक है।

तोपजी—श्रीमन्! जो कुछ लिखा करें, सोच-समझकर लिखा करें जिससे बाद में

लज्जित न होना पड़े। वेदानुकूल होना और बात है और वेद में होना और बात है। स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों में जो भी मनुस्मृति, रामायण, महाभारत, उपनिषद्, ब्राह्मणग्रन्थ, पुराण, बाइबिल, कुराण, गुरुग्रन्थ साहब आदि–आदि पुस्तकों के प्रमाण दिये हैं–उनमें से जो वेद के अनुकूल हैं, वे आर्यसमाज को मान्य हैं और जो वेद के विरुद्ध हैं, वे आर्यसमाज को मान्य नहीं हैं, अतः उनका खण्डन किया गया है। सनातनधर्मी यह बेहूदगी कर देते हैं कि किसी भी पुस्तक का पाठ प्रस्तुत कर देते हैं कि इसे वेद में दिखाओ। यही बेहूदगी इस प्रश्न में की गयी है। जब स्वामीजी ने स्पष्ट लिखा है कि यह विधि मनुस्मृति में लिखी है, फिर इसके सम्बन्ध में यह प्रश्न करना कि इस विधि में लिखित मन्त्रों को वेदों में दिखाओ–सनातनधर्म की बेहूदगी (अशिष्टता) नहीं तो क्या है? क्या इन मन्त्रों के नीचे किसी वेद का पता दिया गया है? यदि नहीं तो इस प्रश्न के बेहूदा होने में क्या सन्देह है और आपको इस अवसर पर यह प्रश्न करने का भी अधिकार नहीं था कि "सत्यार्थप्रकाश में लिखित बलिवैश्वदेव की विधि किस मन्त्र के आधार पर है?" क्योंकि शास्त्रार्थ का विषय यह निर्धारित था कि 'स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं या अष्टादशपुराण।' और पूर्वपक्ष आपका था, अतः सनातनधर्म की ओर से यह सिद्ध करना अत्यन्त आवश्यक था कि स्वामी दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश में लिखित बलिवैश्वदेयज्ञ की विधि अमुक वेदमन्त्र के विरुद्ध है, क्योंकि दावे को सिद्ध करना वादी का ही कर्त्तव्य है, परन्तु इसके विरुद्ध न ही पं० श्रीकृष्णजी ने कोई मन्त्र प्रस्तुत किया और न ही आपने अभी तक कोई मन्त्र प्रस्तुत करने का साहस किया, फिर आप मनुस्मृति में लिखित बलिवैश्वदेवयज्ञ की विधि को वेदविरुद्ध कैसे कह सकते हैं, जब तक कोई वेद का मन्त्र इसके विरुद्ध प्रस्तुत करके इसे वेद के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध सिद्ध न कर दें, अतः आर्यसमाज की ओर से यह प्रश्न करना कि बलिवैश्वदेवयज्ञ की विधि में लिखित मन्त्र कौन–से वेद के हैं, सनातनधर्म की बेहूदगी की मुँह बोलती तस्वीर है।

पोपजी–यह सनातनधर्मियों की बेहूदगी नहीं अपितु वैदिक धर्म की डींग मारनेवालों की बेहूदगी है जो वेदों के नाम पर झूठे मन्त्र लिखकर जनता को बहकाने का बेहूदा प्रयत्न कर रहे हैं।

तोपजी–सत्यार्थप्रकाश में बलिवैश्वदेवयज्ञ के मन्त्र वेदों के नाम से नहीं लिखे गये हैं, अपितु मनुस्मृति का पता देकर लिखे गये हैं। हाँ, वेद के अनुकूल होने से आर्यसमाज के लिए प्रमाण हैं। यह अशिष्टता सनातनधर्म को ही शोभा देती है कि वेदों के नाम से कपोलकल्पित मन्त्रों का उल्लेख पुराणों में विद्यमान है, जैसाकि सामवेद के नाम से दो मन्त्रों का ब्रह्मवैवर्तपुराण में उल्लेख होना हम पूर्व दिखा चुके हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वेदों के नाम पर झूठे मन्त्र लिखकर लोगों को पथ-भ्रष्ट करने का बेहूदा प्रयत्न भी सनातनधर्म के ग्रन्थों में ही किया गया है।

पोपजी–लालाजी! सनातनधर्मी आर्यसमाजियों की भाँति अशिष्टतापूर्ण आलोचना नहीं करते। यह आदत [स्वभाव] भी आपको ही शोभा देती है, जिन्होंने प्रसंग को छोड़कर पुराणों की कई कथाएँ अधूरी ही प्रस्तुत करके जनता को धोखा दिया है।

तोपजी–हमने पुराणों की कोई कथा न अधूरी प्रस्तुत की है और न ही जनता को धोखा देने का प्रयत्न किया है। हाँ, पुराणों की वास्तविकता को जनता के समक्ष प्रस्तुत करना हमारा कर्त्तव्य था, जो हमने पूरा कर दिखाया। हमारी समालोचना के उचित और

सत्य होने का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हमारी छोटी-सी पुस्तक 'शास्त्रार्थ जाखल' ने पौराणिक दुर्ग में बम्ब का काम दिया और सारे सनातनधर्म में भूकम्प आ गया तथा सनातनधर्म के सारे ठेकेदारों के सम्मिलित प्रयत्न भी पुराणों की अशिष्ट और सदाचार से गिरी हुई कथाओं को सत्य सिद्ध करने में सफल नहीं हुए। सनातनधर्मियों की आलोचना की अशिष्टता तो श्रीकृष्ण के प्रश्नों से ही स्पष्ट प्रकट है, अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है।

पोपजी--लाला मनसारामजी का यह लिखना कि यह विषय आर्यसमाज और सनातनधर्म का सम्मिलित होने से इसके सम्बन्ध में प्रश्न करना स्वयं अपने सिद्धान्त पर ही सन्देह करना है। इससे लाला साहब ने जो सनातनधर्मियों का सहारा लेकर अपनी जान बचाने का प्रयत्न किया है, वह व्यर्थ है।

तोपजी--वाह महाराज! खूब समझे! प्रतीत होता है कि आपने अपने नाम के साथ उपाधियों का जो इतना लम्बा दुमछल्ला लगा रक्खा है, वह सब काल्पनिक है, अन्यथा शास्त्र की बात को इस प्रकार टालने का प्रयत्न न करते। श्रीमन्! हमने जान बचाने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु निग्रह-स्थान में लाकर आपकी जान को अपने वश में कर लिया है, जिससे सिवाय पराजय स्वीकार करने के और कोई छुटकारे का उपाय है ही नहीं। न्याय-शास्त्र ने जहाँ विपक्षी को पराजित करने के लिए निग्रह-स्थानों की चर्चा की है, उनमें एक 'स्वमत-अनुज्ञा' निग्रह-स्थान है। जब कोई व्यक्ति अपने स्वीकार किये हुए सिद्धान्त के विषय में ही विपक्षी पर आक्षेप करता है तो वह न्याय के अनुसार 'स्वमत अनुज्ञा' नामक निग्रह-स्थान में आकर पराजित समझा जाता है। बस, इस न्याय के अनुसार आप भी 'स्वमत अनुज्ञा' निग्रह-स्थान में फँसकर पराजित हो चुके हैं, क्योंकि जिस बलिवैश्वदेवयज्ञ का करना आप स्वीकार करते हैं, उसी के सम्बन्ध में आप वेद के विरुद्ध होने का आर्यसमाज पर आक्षेप कर रहे हैं, अतः हमारा यह लेख व्यर्थ नहीं है, अपितु न्याय के जाननेवालों के दृष्टिकोण से हमारी विजय और आपकी पराजय को सिद्ध करने के लिए अत्यन्त लाभदायक है।

पोपजी--क्योंकि आर्यसमाज का सिद्धान्त है कि वेद की आज्ञा के बिना किसी आधारभूत सिद्धान्त को न माना जाए, परन्तु सनातनधर्म वेद की आज्ञा के अतिरिक्त स्मृति आदि समस्त धर्मपुस्तकों की आज्ञाओं को भी स्वीकार करता है।

तोपजी--वाह साहब! आप सनातनधर्म को भी खूब समझते हैं! आप-जैसे मित्रों की विद्यमानता में सनातनधर्म को शत्रुओं की क्या आवश्यकता है? भला! बताइए कि क्या सनातनधर्म स्मृति आदि धर्मशास्त्रों की ऐसी आज्ञाओं को भी स्वीकार करता है जो वेद के विरुद्ध हों? और तनिक यह भी बतलाने की कृपा करें कि मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ७४ से ९२ तक में जो बलिवैश्वदेवयज्ञ की विधि लिखी है, वह वेद के अनुकूल है या विरुद्ध? यदि कहो कि वेद के विरुद्ध है तो आप इसे धर्म मानते हैं या नहीं? यदि कहो कि वेद के विरुद्ध होने से हम इसे धर्म नहीं मानते तो आपकी उपर्युक्त प्रतिज्ञा ग़लत सिद्ध हो गयी कि "वेद की आज्ञा के विरुद्ध होने पर भी सनातनधर्म इसे करना धर्म मानता है" तो भी आप स्मृतिधर्मशास्त्र की आज्ञा के विरुद्ध चलते हैं, क्योंकि मनुस्मृति अध्याय १२, श्लोक ९५ में लिखा है कि जो स्मृतियाँ वेद के विरुद्ध हों वे मानने के योग्य नहीं हैं और मनुस्मृति अध्याय २, श्लोक ७ में लिखा है कि "मनु ने जो कुछ इस स्मृति में लिखा है, वह सब वेद में विद्यमान है", अतः आपके लिए यह मानना तो कठिन है कि मनुस्मृति

में लिखित बलिवैश्वदेवयज्ञ की विधि वेद के विरुद्ध है; और यदि कहो कि मनुस्मृति में लिखित यह बलिवैश्वदेवयज्ञ की विधि वेद के अनुकूल है तो फिर इसके सम्बन्ध में आर्यसमाज पर आक्षेप करना वितण्डावाद और बेहूदापन नहीं तो और क्या है?

पोपजी—स्वामीजी ने वेद की आज्ञा के बिना ही लिखा है कि प्रत्येक गृहस्थ पञ्चमहायज्ञ करे। दूसरा बलिवैश्वदेवयज्ञ का विधान मनुस्मृति का ही प्रमाण मानकर ले-लिया गया है, जबकि पञ्चमहायज्ञ और विशेषकर बलिवैश्वदेवयज्ञ का आधारभूत सिद्धान्त और इस यज्ञ की विधि किसी भी वेद से सिद्ध नहीं कर सके तो इसे अपना धार्मिक सिद्धान्त मानना आर्यसमाज के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

तोपजी—आपका वितण्डावाद के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि आप आर्यसमाज पर आक्षेप करते समय सनातनधर्म के सिद्धान्तों पर भी पानी फेर देते हैं। भला! यह तो बतलाएँ कि जब मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ६८ से ९४ तक में पञ्चमहायज्ञों का विस्तृत वर्णन विद्यमान है और मनुजी स्वयं कहते हैं कि—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ —मनु० २।७

अर्थ—जो कोई किसी का धर्म मनु ने कहा है, वह सब वेदों में कहा हुआ है, क्योंकि वेद सम्पूर्ण ज्ञान की निधि है, सब प्रकार के ज्ञान से युक्त है।

जब पाँच महायज्ञों का विस्तृत वर्णन मनुस्मृति में विद्यमान है और मनुजी ने जो कुछ लिखा है, वह वेद में कहा हुआ है, यह स्वयं मनुजी महाराज का कहना है और मनुस्मृति सनातनधर्म के लिए परम मान्य है, तो फिर आप यह कैसे कह सकते हैं कि "स्वाजीजी ने वेद की आज्ञा के बिना ही लिख दिया कि प्रत्येक गृहस्थ पञ्चमहायज्ञ करे"? और फिर यह भी सर्वमान्य सिद्धान्त है कि "यदि किसी बात के सम्बन्ध में वेद में कोई स्पष्ट आज्ञा न हो, परन्तु स्मृति ने उसके सम्बन्ध में विस्तृत नियम निर्धारित किये हों तो वे नियम व व्यवस्थाएँ भी वेद के अनुकूल ही स्वीकार की जाएँगी, शर्त यह है कि वे नियम और विधान वेद के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध न हों।" इस सिद्धान्त के अनुसार भी जब तक आप वेद का कोई ऐसा मन्त्र प्रस्तुत न करें जिससे यह सिद्ध हो जाए कि मनुस्मृति में वर्णित पञ्चमहायज्ञ वेद के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं, तब तक आपको यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि आप उपर्युक्त विधि को वेद के विरुद्ध कह सकें। इतना होने पर भी यदि आप सारे विधि-विधानों को एक ओर रखकर इसी बात पर आग्रह करें कि पञ्चमहायज्ञों और विशेषरूप से बलिवैश्वदेवयज्ञ के विषय में वेद के प्रमाण दिये जाएँ तो हम इस सेवा के लिए भी सदैव तत्पर हैं। लीजिए, प्रमाण प्रस्तुत हैं—

१. ब्रह्मयज्ञ=सन्ध्या—

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात्पुरोषसः।
यदजः प्रथमं सम्बभूव स ह तत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम्॥
—अथर्व० १०।७।३१

अर्थ—जो जीवात्मा उषाकाल से पूर्व, अर्थात् तारे निकलने से पहले और सूर्यास्त से पूर्व, दोनों समय नमस्कार करने योग्य प्रभु को ओम् नाम से स्मरण करता है, वह जीवात्मा उस स्वराज्य को प्राप्त करता है, जिससे उत्तम और कोई पदार्थ नहीं है और जो स्वराज्य पहले भी प्राप्त था।

२. देवयज्ञ=हवन–

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥३॥ –अथर्व० १९।५५।३

अर्थ–गृह आदि की रक्षा करनेवाला यह अग्नि प्रत्येक सायं और प्रत्येक प्रातः हमें सुख–शान्ति देनेवाला हो, प्रत्येक उत्तम धन का देनेवाला हो। हम सब उस अग्नि को प्रदीप्त करते हुए शरीर का वर्धन करें।

३. पितृयज्ञ–

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्॥ –यजुः० २।३४

अर्थ–बल, अन्न और रस आदि को प्राप्त करानेवाला जल, जीवनप्रदाता उत्तम अन्न, घी और दूध, उत्तम मधुर पदार्थ और स्वयं पककर गिरे हुए फल आदि पदार्थ मेरे माता-पिता, दादा और गुरु आदि को तृप्त करें और उन्हें शक्तिशाली बनाएँ।

४. अतिथियज्ञ–

तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्॥१॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति॥२॥

–अथर्व० १५।११।१-२

अर्थ–जिसके घर में इस प्रकार का विद्वान्–जो सत्यवादी, परोपकारी, गुणों से भरपूर अतिथि महात्मा आ जाए॥१॥ तो गृहस्वामी स्वयं उठकर स्वागत करता हुआ कहे–हे महात्मन्! आप पहले कहाँ रहे? हे भगवन्! लीजिए, यह जल है। हे धर्मात्मन्! मेरे सब पदार्थ आपको तृप्त करें। हे गुरो! जो आपको अच्छा लगे, वैसा हो। हे कृपालो! जैसी आपकी आज्ञा हो, वैसा ही होगा। हे विद्वन्! जैसी आपकी इच्छा हो वैसा ही किया जाए।

५. बलिवैश्वदेवयज्ञ–

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम॥ –अथर्व० १९।५५।७[1]

अर्थ–हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन्! हम आपकी आज्ञा से जिस प्रकार उपकारी घोड़े आदि पशुओं को चाहे वे खड़े हों, चाहे काम पर हों निरन्तर घास आदि देते हैं, इसी प्रकार प्रतिदिन सब प्राणियों के लिए खाने योग्य पदार्थ देते हुए धन की वृद्धि के द्वारा चक्रवर्ती राज्यलक्ष्मी से युक्त और उत्तम ज्ञान से आनन्दित होते हुए, हे सुमार्ग–दर्शक परमेश्वर! तेरे शासन में रहते हुए पड़ोसी लोग एक-दूसरे को कष्ट न दें।

---

१. पं० मनसारामजी ने मन्त्र-संख्या नहीं दी है। वर्तमान उपलब्ध अथर्ववेद की प्रतियों में ऐसा पाठ नहीं है। १९।५५।६ का उत्तरार्द्ध और इसी सूक्त के प्रथम मन्त्र का उत्तरार्द्ध–इन दो मन्त्रों को एक-साथ मिलाकर रॉथ तथा ह्विटनी के द्वारा जर्मनी से प्रकाशित संस्करण में यह मन्त्र सातवें मन्त्र के रूप में माना जाता है। किञ्चित् पाठभेद से यह मन्त्र यजुर्वेद [११।७५] में उपलब्ध है। अर्थ प्रायः दोनों का एक ही है।
–जगदीश्वरानन्द

कृपा करके इन मन्त्रों को ध्यानपूर्वक पढ़ लीजिए। ये मन्त्र पाँच महायज्ञों के आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। वेद में चूँकि प्रत्येक विद्या का बीज होता है और उसकी व्याख्या ऋषि-मुनियों के बनाये हुए स्मृति आदि ग्रन्थों में होती है, अतः वेद के इन पञ्चमहायज्ञों के आधारभूत सिद्धान्तों की व्याख्या भी मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ६८ से ९४ तक में विस्तारपूर्वक की गयी है, जिसे वेदानुकूल होने से ही स्वामीजी ने प्रमाण मानकर अपने ग्रन्थों में लिख दिया है, क्योंकि पाँच महायज्ञों और विशेषकर बलिवैश्वदेवयज्ञ के आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन वेदों में विद्यमान है और उसकी विस्तृत व्याख्या मनुस्मृति में विद्यमान है तथा वह व्याख्या वेद के किसी आधारभूत सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है, अतः इसे अपना धार्मिक सिद्धान्त स्वीकार करना आर्यसमाज के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है।

पोपजी—और **'सानुगाय नमः'** आदि विधिवाले संस्कृत के वाक्यों के आगे मन्त्र लिखकर हिन्दू जनता को पथ-भ्रष्ट करके अपने-आपको पापी बनाना है।

तोपजी—हम इस बात को सिद्ध कर चुके हैं कि मन्त्र नाम संस्कृत की काव्यमयी रचनाविशेष का है और प्रत्येक ऋषि-मुनि-विद्वान् का यह अधिकार है कि वह आवश्यकता पड़ने पर कर्मकाण्ड में प्रयोग करने के लिए मन्त्रों का निर्माण कर सके। इसी अधिकार का प्रयोग करते हुए ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों और गृह्यसूत्रों के बनानेवाले ऋषि और मुनियों ने कर्मकाण्ड में प्रयोग करने के लिए सहस्रों मन्त्रों का निर्माण किया। इसी अधिकार का प्रयोग करते हुए पुराणों के बनानेवालों ने कर्मकाण्ड में प्रयोग करने के लिए सहस्रों मन्त्रों का निर्माण किया। कर्मकाण्ड में श्लोक आदि पद्यमय रचना का प्रयोग किया ही नहीं जा सकता और न ही और किसी प्रकार की रचना के साथ 'स्वाहा' और 'नमः' शब्द लगाकर हवन या पूजा आदि कर्मकाण्ड किया जा सकता है। मन्त्रों के साथ ही 'ओम्', 'स्वाहा' और 'नमः' लगाकर हवन, पूजा, यज्ञ और संस्कारों में उनका प्रयोग किया जा सकता है, श्लोक आदि के साथ नहीं। देखिए, गरुडपुराण, आचारकाण्ड, अध्याय १२ में भी तीन प्रकार के मन्त्रों का उल्लेख किया गया है—

ओं ओं नमः। ओं नं नमः। ओं मों नमः। ओं ओं भं नमः। ओं गं नमः। ओं वं नमः। ओं तें नमः। ओं वां नमः। ओं सु नमः इत्यादि।

ओं कं टं पं शं वैनतेयाय नमः, इत्यादि। —गरुडपु० आचार०, अध्याय ७

ओं अनुकाय नमः इत्यादि। —गरुडपु० आचार०, अध्याय १६

ओं क्षुं नमः। ओं हुं फट् स्वाहा इत्यादि। —गरुडपु० आचार०, अध्याय २०

ओं अघोरामुखि-उत्तरवक्राय नमः इत्यादि। —गरुडपु० आचार०, अध्याय २६

ओं गङ्गायै नमः। ओं यमुनायै नमः। —गरुडपु०, आचार० अध्याय ३१

ओं गीत्यै नमः। ओं प्रीत्यै नमः इत्यादि। —गरुडपु० आचार०, अध्याय ३२

ओं नमो भगवति-चामुण्डे इत्यादि। दुर्गामन्त्र—गरुडपु० आचार०, अध्याय ३८

ओं हां अधर्माय नमः। ओं हां अज्ञानाय नमः इत्यादि।

—गरुडपु० आचार०, अध्याय ४०

ये उदाहरण के रूप में केवल गरुडपुराण के कुछ मन्त्र लिखे हैं। इसी प्रकार सभी पुराणों में सहस्रों मन्त्र विद्यमान हैं। इसी प्रकार स्वामीजी ने भी मनुस्मृति की विधि के अनुसार 'नमः' और 'स्वाहा' शब्द साथ लगाकर मन्त्रों को अपने ग्रन्थों में दिया है और

इसी प्रकार कुल्लूकभट्ट ने भी अपनी टीका में लिखा है। यदि इस प्रकार मन्त्रों का लिखना हिन्दू जनता को धोखा देना और पापी बनने का पर्यायवाचक है तो पुराणों को बनानेवाला सबसे बड़ा धोखेबाज और पापी ठहरता है।

आशा है आप हमारे लेख को पढ़कर अपने लेख पर खेद प्रकट करते हुए उसे वापस लेने का नैतिक साहस दिखाएँगे, परन्तु आपसे नैतिकता तो इतनी दूर है जितनी गधे के सिर से सींग!

पोपजी—और न ही 'सानुगाय नमः' संस्कृत की कोई काव्यमय रचनाविशेष है। ये संस्कृत के छोटे-छोटे वाक्य हैं, जो गद्य में हैं, पद्य नहीं, और न कवितामय विशेष बनावट, अतः आपके कहने के अनुसार भी ये मन्त्र नहीं कहला सकते।

तोपजी—आप आक्षेप करते समय पढ़ा-लिखा सब-कुछ भूल जाते हैं और वास्तविकता की ओर से आँखे बन्द कर लेते हैं और इतना भी विचार नहीं रखते कि इस समय किसके साथ वास्ता पड़ा हुआ है। श्रीमन्! यह आर्यसमाज है, जहाँ इस प्रकार की बोदी (निर्बल, लचर) दलीलें फूँ की भाँति उड़ती हुई दिखाई देती हैं।

लीजिए, यदि यह बात आपकी समझ में नहीं आई तो हम समझाए देते हैं। देखिए, जब मन्त्रों को कर्मकाण्ड में लाया जाता है, तो एक-एक मन्त्र के कई-कई भाग करके कर्मकाण्ड में लगाये जाते हैं। चूँकि जो विशेषता किसी के कुल में होती है, वही विशेषता उसके अंश में विद्यमान रहती है। इस सिद्धान्त के अनुसार मन्त्र के कई भाग (खण्ड, टुकड़े) कर देने पर भी उसके प्रत्येक खण्ड में 'मन्त्र'-संज्ञा यथावत् विद्यमान रहती है, परन्तु बहुत-से मूर्खों को यह विचार होने लगता है कि इन खण्डों में कोई काव्यमयता नहीं है। उन्हें वे संस्कृत के छोटे-छोटे वाक्य प्रतीत होते हैं और इन मूर्खों को इन खण्डों में न तो पद्यबद्धता दृष्टिगोचर होती है और न ही कवित्व दिखाई देता है; परन्तु यथार्थता को जाननेवाले, संस्कृत के विद्वान् जानते हैं कि इन खण्डों में इस मन्त्र की भाँति ही कि जिस मन्त्र के ये खण्ड हैं, मन्त्र के ढंग की काव्यमय बनावट विद्यमान है। उदाहरण के रूप में आप यजुर्वेद, अध्याय ३९ के पहले तीन मन्त्रों को ले-लीजिए, जिन्हें महर्षि दयानन्दजी महाराज ने संस्कार-विधि में दाहकर्म संस्कार में विनियुक्त किया है। ऋषि दयानन्द ने इन तीन मन्त्रों के इक्कीस खण्ड करके इक्कीस मन्त्र आहुति देने के लिए लिखे हैं। इसी प्रकार से यदि आप सत्यार्थप्रकाश में मनुस्मृति के अनुसार लिखित बलिवैश्वदेवयज्ञ के मन्त्रों को इकट्ठा करके पढ़ेंगे तो आपका सारा भ्रम दूर हो जाएगा और आपको उसमें संस्कृत का कवित्व दृष्टिगोचर होने लगेगा।

अब हम आपसे यह पूछना चाहते हैं कि हमने गरुडपुराण में से जो इसी प्रकार के छोटे-छोटे वाक्य प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें गरुडपुराण ने मन्त्रों के नाम से लिखा है, यदि वे मन्त्र कहला सकते हैं, तो सत्यार्थप्रकाश में लिखित बलिवैश्वदेवयज्ञ के मन्त्र 'मन्त्र' क्यों नहीं कहला सकते? हम आशा करते हैं कि आप इस विषय पर सम्यक् विचार करके सच्चाई को स्वीकार करेंगे।

पोपजी—हमारा इस आक्षेप के करने का तात्पर्य ही यह था कि 'सानुगाय नमः' आदि न ही मन्त्र कहला सकते हैं और न ही वेद में लिखे हैं।

तोपजी—इस आक्षेप से आपका तात्पर्य सिवाय वितण्डावाद के और कुछ भी न था, क्योंकि स्वामीजी ने इन्हें कहीं भी वेद का मन्त्र नहीं लिखा, अपितु स्पष्टरूप से लिखा

है कि—यह मनुस्मृति की विधि है और मनुस्मृति ने भी इन्हें मन्त्र ही लिखा है और उसी प्रकार के सैकड़ों ही वाक्यों को पुराणों में मन्त्र के नाम से लिखा गया है।

पोपजी—अपितु आपके कहने के अनुसार भी कि मनुस्मृति की कुल्लूकभट्ट की टीका में लिखित हैं, इन्हें मन्त्र लिखना अथवा वेदमन्त्र कहना सर्वथा ग़लत है, जैसाकि आप स्वयं एक प्रकार से दबी जुबान में स्वीकार कर रहे हैं।

तोपजी—हम दबी जुबान से नहीं, अपितु डंके की चोट से घोषणा करते हैं कि स्वामीजी ने इन्हें [सानुगाय: नम: आदि को] अपने किसी भी ग्रन्थ में वेदमन्त्रों के नाम से नहीं लिखा है, परन्तु इन्हें मन्त्रों के नाम से लिखना सर्वथा सत्य है। ये मन्त्र कुल्लूकभट्ट की टीका में भी मनुस्मृति में उल्लिखित विधि के अनुसार की बनाये गये हैं। देखिए, हम वे श्लोक हुबहू यहाँ लिख देते हैं ताकि न्यायप्रिय लोग सत्य को जानकर आनन्द प्राप्त करें—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्याद् देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥ —मनु० ३।८४

अर्थ—जो कुछ पाकशाला में भोजन के लिए सिद्ध हुआ हो, उसका दिव्य गुणों के लिए उसी पाकशाला की अग्नि में निम्न मन्त्रों से विधिपूर्वक नित्य होम करे—

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः। विश्वेभ्यश्चैव देवभ्यो धन्वन्तराय एव च॥८५॥
कुह्वै चैवानुमत्यै च **प्रजापतय** एव च। **सह द्यावापृथिव्योश्**च तथा **स्विष्टकृते**ऽन्ततः॥८६॥
एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम्। **इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो** बलिं हरेत्॥८७॥
मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्**वद्भ्य** इत्यपि। **वनस्पतिभ्य** इत्येवं **मूसलोलूखले** हरेत्॥८८॥
उच्छीर्षके **श्रियै** कुर्याद् **भद्रकाल्यै** च पादतः। **ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां** तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत्॥८९॥
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत्। **दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य** एव च॥९०॥
पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं **सर्वात्मभूतये। पितृभ्यो** बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्॥९१॥
शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्। वायसानां कृमीणां च शनकैर्निवपेद् भुवि॥९२॥
सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत्। वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातर्विधीयते॥१२१॥

उपर्युक्त श्लोकों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि बलिवैश्वदेवयज्ञ की विधि के मन्त्रों को बनाने की विधि इन श्लोकों में विस्तारपूर्वक बताई गयी है, जिसके अनुसार कुल्लूकभट्ट और स्वामी दयानन्दजी महाराज ने भी 'स्वाहा', 'नम:' और 'स्वधा' शब्द जोड़कर इन मन्त्रों का निर्माण किया है, क्योंकि कर्मकाण्ड में मन्त्रों का प्रयोग ही उचित है, श्लोकों, वाक्यों आदि का नहीं। मनुस्मृति में भी इन्हें अंतिम श्लोक में मन्त्र के नाम से ही लिखा गया है, अतः 'सानुगाय नम:' आदि को मन्त्र नाम से लिखना सर्वथा उचित है।

पोपजी—अथर्ववेद काण्ड १९, सूक्त ५५, मन्त्र ७ के प्रमाण से लाला मनसारामजी ने जो अर्थ लिखा है कि—'परमेश्वर! हम आपकी आज्ञा का पालन करते हुए, प्रतिदिन आपके उत्पन्न किये हुए पशुओं से शत्रुता न करें और इनका उपकार पके हुए अन्न से करें।" इससे समस्त प्राणियों से प्रेम करना या पके हुए अन्न से उनका उपकार करना बलिवैश्वदेवयज्ञ के आधारभूत सिद्धान्त को सिद्ध नहीं करता।

तोपजी—वाह महाराज! शास्त्रों के तात्पर्य को भी आप खूब समझते हैं। इसी बुद्धि के

स्वामी बनकर आर्यसमाज से बात करना चाहते हैं? श्रीमन्! अपने भोजन में से कुछ भाग लेकर इससे सब प्राणियों के उपकार करने को भी बलिवैश्वदेवयज्ञ कहते हैं, इसीलिए इसका नाम भूतयज्ञ भी है। फिर पके हुए अन्न से प्राणियों का उपकार करना बलिवैश्वदेवयज्ञ का आधारभूत सिद्धान्त क्यों नहीं और इस मन्त्र में तो स्पष्ट शब्द पड़े हुए है—**'अहरहर्बलिमित्ते हरन्तः'** इत्यादि, कि हम लोग प्राणियों को इस प्रकार प्रतिदिन बलि अर्थात् अन्न का वह भाग दें जिस प्रकार घोड़ों को घास देते हैं; अतः यह मन्त्र स्पष्टरूप से बलिवैश्वदेवयज्ञ के आधारभूत सिद्धान्त का वर्णन करता है। इससे इन्कार करना चमगादड़ का सूर्य से इन्कार करना है।

पोपजी—और न ही बलिवैश्वदेवयज्ञ की विधि में स्वामीजी ने प्राणियों को अन्न खिलाना ही लिखा है।

तोपजी—यदि उल्लू को दिन में सूर्य दिखाई न दे तो इसमें सूर्य का क्या दोष है? इसी प्रकार यदि आपको सत्यार्थप्रकाश में लिखी हुई बलिवैश्वदेवयज्ञ की विधि में प्राणियों को अन्न खिलाना लिखा हुआ दिखाई न दे तो इसमें स्वामीजी का क्या दोष है? अन्यथा स्वामीजी ने तो मनुस्मृति (३।९२) का उद्धरण देकर कुत्ते, पापी, चाण्डाल, पापरोगी, कौए और कृमि आदि को अन्न देना स्पष्ट लिखा हुआ है।

पोपजी—वहाँ तो (सानुगाय नमः) आदि-आदि मन्त्रों से यम, इन्द्र, वरुण, भद्रकाली, श्री आदि देवताओं को अन्न देना ही लिखा है। अवलोकन कीजिए, सत्यार्थप्रकाश, हिन्दी संस्करण, सं० १९८५।

तोपजी—आपको झूठ बोलने और झूठा प्रमाण लिखने का पुराना रोग है, अन्यथा सत्यार्थप्रकाश में तो आपके कपोलकल्पित देवताओं को अन्न देने की चर्चा तक नहीं है। झूठे पर परमात्मा की सहस्र-सहस्र धिक्कार हो!

पोपजी—इतना ही नहीं, अपितु स्वामीजी के सिद्धान्त के अनुसार तो यम, इन्द्र, भद्रकाली, श्री आदि ईश्वर के नाम होने से पका हुआ अन्न ईश्वर को देना सिद्ध होता है।

तोपजी—आपकी परमेश्पर को अन्न देने की मिथ्या कल्पना की भी सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में चर्चा तक नहीं है। हाँ, यम, इन्द्र, वरुण, भद्रकाली, श्री आदि का ईश्वर अर्थ करने पर यह सिद्ध हो सकता है कि हम लोग ईश्वर की आज्ञा का पालन करते हुए पके अन्न से प्रतिदिन प्राणियों का उपकार करें और यही उचित भी है।

पोपजी—लाला साहब! स्वामीजी की बतलायी हुई विधि में तो किसी प्राणी को अन्न देकर उपकार करने की चर्चा तक नहीं है। ठीक वही बात हुई कि अपने घर का तो पता नहीं और केवल शास्त्रार्थ में धोखेबाजी करके सत्यार्थप्रकाश के सफ़ेद काग़ज़ पर काले अक्षरों में लिखे हुए मत के विरुद्ध लाला साहब प्राणियों को अन्न देना इन मन्त्रों का आधारभूत सिद्धान्त बता रहे हैं।

तोपजी—स्वामीजी द्वारा लिखित विधि में मनुस्मृति के अनुसार प्राणियों को अन्न देने का स्पष्ट उल्लेख विद्यमान है और हम अपने घर से ही नहीं अपितु आपके घर से भी बहुत अच्छी प्रकार परिचित हैं। धोखा देना हमारा काम नहीं, अपितु यह काम आपका है, जोकि सत्यार्थप्रकाश में लिखे प्राणियों को अन्न देकर उपकार करने की विद्यमानता से दिन-दहाड़े स्पष्ट इन्कार कर रहे हैं। सफ़ेद काग़ज़ पर काले अक्षरों का लेख सौन्दर्य को प्रकट करता है जोकि आर्यसमाज की शोभा है, परन्तु आपकी काले काग़ज़ पर सफ़ेद

लिखावट कोढ़ के रोग के चिह्न हैं, जोकि सनातनधर्म की मृत्यु की सूचना दे रहे हैं, अन्यथा अथर्ववेद का उपर्युक्त मन्त्र बलिवैश्वदेवयज्ञ के आधारभूत सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से बता रहा है।

पोपजी—कृपया सत्यार्थप्रकाश को पुनः पढ़िए, आपके स्वामीजी लिखते हैं कि इन मन्त्रों से रक्खा हुआ अन्न या अतिथि को खिला देवे अथवा अग्नि में डाल देवे।

तोपजी—जादू वह जो सिर चढ़कर बोले! कहिए पोपजी महाराज! क्या आपके विचार में 'अतिथि' प्राणियों में सम्मिलित नहीं है? और क्या उसे अन्न खिलाने से दूसरे प्राणियों का उपकार नहीं होता और क्या अग्नि में डालने से प्राणियों को सुख और उनका उपकार नहीं होता? तनिक बुद्धि से काम लीजिए और इन तीनों प्रश्नों पर विचार कीजिए, तब आपको मनुस्मृति और स्वामीजी के लेख की गम्भीरता का पता लगेगा। श्रीमन्! अतिथि का पद समस्त प्राणियों की अपेक्षा ऊँचा है, क्योंकि वह उपदेश के द्वारा सम्पूर्ण संसार को सन्मार्ग पर चलानेवाला होता है और उसे खिलाया हुआ अन्न समस्त प्राणियों को उपकार पहुँचाने का काम देता है, क्योंकि जब वह अतिथि अन्न का सेवन करके सब मनुष्यों को यह उपेदश करेगा कि "सब प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा के समान जानो" तो इस उपदेश से प्रभावित होकर लोग अहिंसाव्रत को धारण करके समस्त प्राणियों को सुख देनेवाले बन जाएँगे। रहा अग्नि में हवन करना, सो हवन-यज्ञ का प्रजापति नाम ही इसलिए है कि इससे समस्त प्रजा को लाभ पहुँचता है। इस विषय में शास्त्रों के प्रमाणों का अवलोकन कीजिए। मनुजी महाराज लिखते हैं—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ —मनु० ३।७६

अर्थ—अग्नि में उत्तम प्रकार से होमे हुए पदार्थ सूर्य को प्राप्त होते हैं, सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से समस्त प्रजा का पालन होता है।

गीता में श्रीकृष्णजी महाराज ने भी इसका समर्थन किया है—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
—गीता ३।१४

अर्थ—अन्न से सब प्राणी तृप्त होते हैं, अन्न बादलों से उत्पन्न होता है और बादल यज्ञ से उत्पन्न होते हैं और यज्ञ कर्म करने से सिद्ध होता है।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अतिथि को खिलाया हुआ और अग्नि में होमा हुआ अन्न समस्त प्राणियों को सुख और उपकार पहुँचानेवाला होता है। आशा है इससे आपकी सन्तुष्टि हो गयी होगी।

पोपजी—आप सनातनधर्मियों की तो आलोचना करें कि ये धोखा देते हैं और आप स्वयं अथर्ववेद का झूठा प्रमाण देकर खेंचातानी से ही बलिवैश्वदेवयज्ञ के आधारभूत सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न करके लोगों को पथ-भ्रष्ट करें। वाह खूब!

तोपजी—हमारा सनातनधर्मियों की आलोचना करना उचित है, क्योंकि वे जनता को धोखा देना चाहते हैं कि मन्त्र सिवाय वेदों के अन्य ग्रन्थों में नहीं होते, जबकि यह सर्वथा असत्य है, क्योंकि मन्त्र ब्राह्मणग्रन्थों, गृह्यसूत्रों, उपनिषदों और पुराणों तक में विद्यमान है; और हमपर पथ-भ्रष्ट करने का दोषारोपण व्यर्थ और निराधार है, क्योंकि हमने अथर्ववेद का मन्त्र प्रस्तुत करके सिद्ध कर दिया है कि बलिवैश्वदेवयज्ञ का आधारभूत सिद्धान्त वेदों

में विद्यमान है, और मनुस्मृति में इसकी विस्तृत व्याख्या स्वामीजी का समर्थन कर रही है।

हम इस बात को विस्तार से सिद्ध कर चुके हैं कि मन्त्र नाम संस्कृतभाषा की एक प्रकार की काव्यमयी रचना का नाम है और प्रत्येक ऋषि को इस बात का अधिकार है कि वह कर्मकाण्ड में प्रयोग करने के लिए मन्त्रों का निर्माण कर सके। यदि सत्यार्थप्रकाश में लिखित बलिवैश्वदेवयज्ञ के मन्त्र स्वामी दयानन्दजी महाराज के बनाये हुए भी होते, तब भी उन्हें कोई व्यक्ति ग़लत सिद्ध नहीं कर सकता जब तक कि वह यह सिद्ध न कर देता कि स्वामी दयानन्दजी के बनाये हुए मन्त्र वेदों के अमुक-अमुक मन्त्र के विरुद्ध हैं; परन्तु ये मन्त्र तो स्वामजी महाराज ने मनुस्मृति की विधि के अनुसार लिखे हैं, चूँकि बलिवैश्वदेवयज्ञ का आधारभूत सिद्धान्त वेदों में विद्यमान है और उसकी व्याख्या विस्तापूर्वक मनुस्मृति में विद्यमान है, उसी के अनुसार ही स्वामी दयानन्दजी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में यह विधि लिखी है। सनातनधर्म के पण्डित इस विधि को वेद के विरुद्ध सिद्ध करने के लिए कोई वेदमन्त्र प्रस्तुत नहीं कर सके, अतः स्वामीजी का लेख सोलह आने वेद के अनुकूल और उनके द्वारा रचित ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश आदि भी सोलह आना वेद के अनुकूल हैं।

३. पत्यन्तर-विधान
अर्थात् स्त्री को दूसरे पति का अधिकार

सिद्धान्त—

प्रश्न—स्त्री और पुरुष का बहु विवाह होना योग्य है वा नहीं?

उत्तर—युगपत् न, अर्थात् एक समय में नहीं।

प्रश्न—क्या समयान्तर में अनेक विवाह होने चाहिएँ?

उत्तर—हाँ, जैसे—

या स्त्री त्वक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा। पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥

—मनु० ९।१०६

जिस स्त्री या पुरुष का पाणिग्रहणमात्र संस्कार हुआ हो और संयोग [न हुआ हो] अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो, उनका अन्य स्त्री या पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए, किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री और क्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिए।

प्रश्न—पुनर्विवाह में क्या दोष है?

उत्तर—(पहिला) स्त्री वा पुरुष में प्रेम न्यून होना, क्योंकि जब चाहे तब पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष छोड़कर दूसरे के साथ सम्बन्ध कर ले। (दूसरा) जब स्त्री वा पुरुष पति वा स्त्री के मरने के पश्चात् दूसरा विवाह करना चाहें तब प्रथम स्त्री के वा पूर्व पति के पदार्थों को उड़ा ले-जाना और उनके कुटुम्बवालों का उनसे झगड़ा करना। (तीसरा) बहुत-से भद्रकुलों का नाम वा चिह्न भी न रहकर उनके पदार्थ छिन्न-भिन्न हो जाना। (चौथा) पतिव्रत और स्त्रीव्रत-धर्म नष्ट होना, इत्यादि दोषों के अर्थ द्विजों में [क्षतयोनि स्त्री वा क्षतवीर्य पुरुष का] पुनर्विवाह वा अनेक विवाह कभी न होना चाहिए।

प्रश्न—जब वंशच्छेदन हो जाए तब भी उसका कुल नष्ट हो जाएगा और स्त्री-पुरुष व्यभिचारादि कर्म करके गर्भपातनादि बहुत दुष्ट कर्म करेंगे, इसलिए पुनर्विवाह होना अच्छा है।

उत्तर—नहीं-नहीं, क्योंकि जो स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य में स्थित रहना चाहें तो कोई भी

उपद्रव न होगा और जो कुल की परम्परा रखने के लिए किसी अपने स्वजाति का लड़का गोद ले लेंगे उससे उनका कुल चलेगा और व्यभिचार भी न होगा। और जो ब्रह्मचर्य न रख सकें तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें।

प्रश्न--पुनर्विवाह और नियोग में क्या भेद है?

उत्तर--(पहिला) जैसे विवाह करने पर कन्या अपने पिता का घर छोड़ पति के घर को प्राप्त होती है और पिता से विशेष सम्बन्ध नहीं रहता, वैसा नियोग में नहीं होता, अपितु विधवा स्त्री उस विवाहित पति के घर में ही रहती है।

(दूसरा) उसी विवाहिता स्त्री के लड़के उसी विवाहित पति के दायभोगी होते हैं और विधवा स्त्री के लड़के वीर्यदाता के न पुत्र कहलाते न उसका गोत्र होता और न उसका स्वत्व उन लड़कों पर रहता, किन्तु वे मृतपति के पुत्र बजते, उसी का गोत्र रहता और उसी के पदार्थों के दायभागी होकर उसी घर में रहते हैं।

(तीसरा) विवाहित स्त्री-पुरुष को परस्पर सेवा और पालन करना आवश्यक है और नियुक्त स्त्री-पुरुष का कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

(चौथा) विवाहित स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध मरणपर्यन्त रहता और नियुक्त स्त्री-पुरुष का कार्य के पश्चात् छूट जाता है।

(पाँचवाँ) विवाहित स्त्री-पुरुष आपस में गृह के कार्यों की सिद्धि करने में यत्न किया करते और नियुक्त स्त्री-पुरुष अपने-अपने घर के काम किया करते हैं।

प्रश्न--विवाह और नियोग एक-से हैं वा पृथक्-पृथक्?

उत्तर--कुछ थोड़ा-सा भेद है, जितने पूर्व कह आये वे और कि विवाहित स्त्री-पुरुष एक पति और एक ही स्त्री मिलके दश सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं और नियुक्त स्त्री-पुरुष दो वा चार से अधिक सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकते, अर्थात् जैसा कुमार-कुमारी ही का विवाह होता है वैसे जिसकी स्त्री वा पुरुष मर जाता है उन्हीं का नियोग होता है, कुमार-कुमारी का नहीं। जैसे विवाहित स्त्री-पुरुष सदा सङ्ग में रहते हैं वैसे नियुक्त स्त्री-पुरुष का व्यवहार नहीं; किन्तु बिना ऋतुदान के समय एकत्र न हों। जो स्त्री अपने लिए नियोग करे तो जब दूसरा गर्भ रहे उसी दिन से स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध छूट जाए। और जो पुरुष अपने लिए करे, तो भी दूसरा गर्भ रहने से सम्बन्ध छूट जाए, परन्तु वही नियुक्त स्त्री दो-तीन वर्षपर्यन्त उन लड़कों का पालन करके नियुक्त पुरुष को दे देवे। ऐसे एक विधवा स्त्री दो अपने लिए और दो-दो अन्य चार नियुक्त पुरुषों के लिए सन्तान उत्पन्न कर सकती और एक मृतस्त्रीक पुरुष भी दो अपने लिए और दो-दो अन्य-अन्य चार विधवाओं के लिए पुत्र उत्पन्न कर सकता है। ऐसे मिलकर दश-दश सन्तानोत्पत्ति की आज्ञा वेद में है। जैसे--

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥

--ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ४५

"हे (मीढ्वः, इन्द्र) वीर्य-सेचन में समर्थ ऐश्वर्ययुक्त पुरुष! तू इस विवाहित स्त्री वा विधवा स्त्रियों को श्रेष्ठपुत्र और सौभाग्ययुक्त कर। इस विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न कर और ग्यारहवीं स्त्री को मान। हे स्त्री! तू भी विवाहित पुरुष वा नियुक्त पुरुषों से दश सन्तान उत्पन्न कर और ग्यारहवें पति को समझ।" इस वेद की आज्ञा से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्णस्थ स्त्री और पुरुष दश-दश सन्तान से अधिक उत्पन्न न करें, क्योंकि अधिक

सन्तान उत्पन्न करने से सन्तान निर्बल, निर्बुद्धि, अल्पायु होते हैं और स्त्री तथा पुरुष भी निर्बल, अल्पायु और रोगी होकर वृद्धावस्था में बहुत-से दुःख पाते हैं।

प्रश्न--यह नियोग की बात व्यभिचार के समान दीखती है।

उत्तर--जैसे बिना विवाहितों का व्यभिचार होता है वैसे बिना नियुक्तों का व्यभिचार कहाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा नियम से विवाह होने पर व्यभिचार नहीं कहाता तो नियर्मपूर्वक नियोग होने से व्यभिचार न कहावेगा। जैसे--दूसरे की कन्या का दूसरे के कुमार के साथ शास्त्रोक्त विधिपूर्वक विवाह होने पर समागम में व्यभिचार वा पाप-लज्जा नहीं होती, वैसे ही वेदशास्त्रोक्त नियोग में व्यभिचार वा पाप-लज्जा न माननी चाहिए।

प्रश्न--है तो ठीक, परन्तु यह वेश्या के सदृश कर्म दीखता है।

उत्तर--नहीं, क्योंकि वेश्या के समागम में किसी निश्चित पुरुष का कोई नियम नहीं है और नियोग में विवाह के समान नियम हैं। जैसे दूसरे को लड़की देने, दूसरे के साथ समागम करने में विवाहपूर्वक लज्जा नहीं होती, वैसे ही नियोग में भी न होनी चाहिए। क्या जो व्यभिचारी पुरुष वा स्त्री होती हैं वे विवाह होने पर भी कुकर्म से बचते हैं?

प्रश्न--हमको नियोग की बात में पाप मालूम पड़ता है।

उत्तर--जो नियोग की बात में पाप मानते हो तो विवाह में पाप क्यों नहीं मानते? पाप तो नियोग के रोकने में है, क्योंकि ईश्वर के सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक व्यवहार रुक ही नहीं सकता, सिवाय वैराग्यवान्, पूर्णविद्वान्, योगियों के। क्या गर्भपातनरूप भ्रूणहत्या और विधवा स्त्री और मृतकस्त्री पुरुषों के महासन्ताप को पाप नहीं गिनते हो? क्योंकि मन में सन्तानोत्पत्ति और विषय की चाहना होनेवालों को जब तक वे युवावस्था में हैं किसी राजव्यवहार वा जातिव्यवहार से रुकावट होने से गुप्त-गुप्त कुकर्म बुरी चाल से होते रहते हैं। इस व्यभिचार और कुकर्म के रोकने का एक यही श्रेष्ठ उपाय है कि जो जितेन्द्रिय रह सकें वे विवाह वा नियोग भी न करें तो ठीक है, परन्तु जो ऐसे नहीं हैं उनका विवाह और आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिए। इससे व्यभिचार का न्यून होना, प्रेम से उत्तम सन्तान होकर मनुष्यों की वृद्धि होना सम्भव है और गर्भहत्या सर्वथा छूट जाती है। नीच पुरुषों से उत्तम स्त्री और वेश्यादि नीच स्त्रियों से उत्तम पुरुषों का व्यभिचाररूप कुकर्म, उत्तम कुल में कलङ्क, वंश का उच्छेद, स्त्री-पुरुषों का सन्ताप और गर्भहत्यादि कुकर्म विवाह और नियोग से निवृत होते हैं, इसलिए नियोग करना चाहिए।

प्रश्न--नियोग में क्या-क्या बात होनी चाहिए?

उत्तर--जैसे प्रसिद्धि से विवाह, वैसे ही प्रसिद्धि से नियोग; जिस प्रकार विवाह में भद्र पुरुषों की अनुमति और कन्या-वर की प्रसन्नता होती है, वैसे नियोग में भी, अर्थात् जब स्त्री-पुरुष का नियोग होना हो तब वे अपने कुटुम्ब में पुरुष-स्त्रियों के सामने [प्रकट करें कि] हम दोनों नियोग सन्तानोत्पत्ति के लिए करते हैं। जब नियोग का नियम पूरा होगा तब हम संयोग न करेंगे। जो अन्यथा करें तो पापी और जाति वा राज्य के दण्डनीय हों। महीने-महीने में एक बार गर्भाधान का काम करेंगे, गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष पर्यन्त पृथक् रहेंगे।

--सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थसमुल्लास

*

पोपजी--स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि एक विधवा स्त्री दो अपने लिए और दो-दो दूसरे चार पुरुषों के लिए--कुल दस सन्तान उत्पन्न कर सकती है, बताओ यह

कौन-से वेद की आज्ञा है?

तोपजी--प्रथम ग्रास में ही मक्खी! श्रीमन्! आप तो प्रारम्भ में ही प्रतिज्ञाहानिनिग्रह-स्थान में फँसकर पराजय स्वीकार कर बैठे, क्योंकि आपकी तो प्रतिज्ञा थी कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदों के विरुद्ध हैं। ऐसी स्थिति में आपका कर्त्तव्य था कि आप वेद का प्रमाण देकर यह सिद्ध करते कि स्वामीजी का उपर्युक्त लेख अमुक वेदमन्त्र के विरुद्ध होने से स्वामीजी के ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं, परन्तु आप अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने में असफल रहे, अतः न्यायशास्त्र के अनुसार आप प्रतिज्ञाहानि-निग्रहस्थान में आ गये और आपको आरम्भ में ही पराजय-प्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

यह तो हुई न्यायशास्त्र के अनुसार आपके पराजय की बात! कृपा करके तनिक यह बात और बतलाइए कि पं० श्रीकृष्ण शास्त्री ने तो प्रश्न करते समय अपने किसी भी प्रश्न के साथ वेदमन्त्र देकर स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों का विरोध नहीं दिखलाया था, जिसके कारण उन्हें अत्यन्त लज्जित होना पड़ा था। उनकी इस कमी को अनुभव करके आपने अपनी ओर से कुछ प्रश्नों के साथ वेदमन्त्र लगा दिये थे। आपने इस प्रश्न के साथ भी एक वेदमन्त्र लगाया था, परन्तु उस वेदमन्त्र को यहाँ प्रस्तुत करने का आपको भी साहस नहीं हुआ। प्रतीत होता है आपको अपनी ग़लती का अनुभव हो गया, क्योंकि वह वेदमन्त्र नियोग का विरोध नहीं करता। चूँकि आपने अपना प्रस्तुत किया हुआ मन्त्र स्वयं ही वापस ले-लिया है, अतः हमें भी इस अवसर पर उसके सम्बन्ध में कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

पोपजी--लाला मनसाराम आर्यप्रतिनिधि सभा के उपदेश होकर स्वामी दयानन्द द्वारा लिखित आधारभूत सिद्धान्तों से सर्वथा अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। इन्हें इतना भी पता नहीं कि 'स्त्री को दूसरा पति करना'—यह आर्यसमाज का तो आधारभूत सिद्धान्त ही नहीं और न ही आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्दजी ने स्त्री को दूसरा पति करने का सिद्धान्त माना है। यह सिद्धान्त लाला मनसाराम का अपना ही बनाया हुआ होगा।

तोपजी--'कितना वीर है कि चोर अपनी हथेली पर दीपक रखता है' लोकोक्ति ऐसे अवसर पर ही चरितार्थ होती है, जबकि सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी का लेख प्रश्न-उत्तर के रूप में स्पष्टरूप से विद्यमान है कि स्त्री और पुरुष विभिन्न समयों मे [एकसाथ अर्थात् एक समय में नहीं] अनेक विवाह कर सकते हैं और आगे चलकर यह व्याख्या विद्यमान है कि यदि कोई विधवा पति के मरने के पश्चात् ब्रह्मचारिणी न रहना चाहे, तो जिस विधवा का पति से संयोग न हुआ हो उसका पुनर्विवाह हो सकता है और जिस विधवा का पति से संयोग हो चुका हो उसका पुनर्विवाह नहीं अपितु नियोग हो सकता है। पुनर्विवाह और नियोग में केवल कुछ शर्तों का अन्तर है, परन्तु दूसरे पति की प्राप्ति दोनों में विद्यमान है, क्योंकि विस्तार वेदों में नहीं होता, अतः हमने वैदिक आधारभूत सिद्धान्त का वर्णन कर दिया कि स्त्री को दूसरे पति का अधिकार है, परन्तु इतनी स्पष्ट बात की विद्यमानता में पोपजी का यह लिखना कि "हम सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हैं, और यह सिद्धान्त हमारा अपना बनाया हुआ है और स्त्री को दूसरे पति का अधिकार आर्यसमाज का आधारभूत सिद्धान्त ही नहीं है," पोपजी की अविद्या, अज्ञान, बेईमानी, धोखा देने और सिद्धान्तों से अनभिज्ञता का प्रकट प्रमाण है। इस प्रकार के मिथ्याभाषी और छली-कपटी मनुष्य को धार्मिक सिद्धान्तों पर पुस्तक लिखने का कोई अधिकार नहीं है।

पोपजी—क्योंकि आर्यसमाज के धर्मपुस्तक सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में स्वामीजी ने लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में पुनर्विवाह अर्थात् विधवा-विवाह नहीं होना चाहिए।

तोपजी—बेईमानी, छल-कपट और धोखा देना इसी का तो नाम है कि पुस्तक के वास्तविक लेख को काट-छाँटकर अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए अधूरा लेख प्रस्तुत करके जनता को धोखा देने का प्रयत्न किया जाता है। हम सत्यार्थप्रकाश का मूलपाठ यहाँ उद्धृत कर देते हैं। देखिए, स्वामीजी क्या कहते हैं—"जिस स्त्री या पुरुष का पाणिग्रहणमात्र संस्कार हुआ हो और संयोग न हुआ हो, अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो, उनका दूसरी स्त्री या पुरुष के साथ पुनर्विवाह नहीं होना चाहिए।" अब इस पूरे पाठ को पढ़कर प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति समझ सकता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में जिस कन्या का केवल विवाह-संस्कार हुआ हो और पति से संयोग न हुआ हो, उसका तो पुनर्विवाह होना चाहिए, परन्तु जिस स्त्री का पति से संयोग हो चुका हो, उसका पुनर्विवाह नहीं होना चाहिए। आगे चलकर लिखा है कि उसका नियोग होना उचित है। किसी पुस्तक में से लेखक का अधूरा पाठ प्रस्तुत करके अपना स्वार्थसिद्ध करना परले सिरे की चालाकी और कमीनापन है।

पोपजी—क्योंकि विधवा-विवाह को वैध ठहराने पर पुरुष स्त्री को और स्त्री पुरुष को छोड़कर किसी दूसरे के साथ सम्बन्ध जोड़ लेंगे और परस्पर प्रेम की कमी हो जाएगी। जब स्त्री को दूसरा विवाह करने का विश्वास हो जाएगा तो वह पहले पति के जीतेजी ही उसकी सम्पत्ति को उड़ाकर पहले ही कहीं रख लिया करेगी। बहुत-से उत्तम कुल नष्ट हो जाएँगे। स्त्रियों का पतिव्रतधर्म नष्ट हो जाएगा, अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में विधवा-विवाह नहीं होना चाहिए।

तोपजी—यदि इनमें विधवा-विवाह नहीं होना चाहिए तो क्या होना चाहिए, इस बात को बतानेवाला पाठ आपने क्यों छोड़ दिया? अधूरा पाठ लिखकर लेखक के तात्पर्य को समाप्त कर देना ईमानदारी नहीं है। देखिए, इसके आगे स्वामीजी प्रश्नोत्तर के रूप में अपने तात्पर्य को यूँ स्पष्ट करते हैं—

"**प्रश्न**—जब वंश-छेदन हो जाए तब भी इसका कुल नष्ट हो जाएगा और स्त्री-पुरुष व्यभिचार आदि कर्म करके गर्भपातन आदि बहुत दुष्ट कर्म करेंगे, अतः पुनर्विवाह होना उत्तम है।

उत्तर—नहीं, नहीं, क्योंकि जो स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य में स्थिर रहना चाहें तो कोई भी उपद्रव न होगा और कुल की परम्परा रखने के लिए किसी अपने स्वजाति का लड़का गोद ले-लेंगे, इससे कुल चलेगा और व्यभिचार भी न होगा, और जो ब्रह्मचर्य न रख सकें तो नियोग करके सन्तान उत्पन्न कर लेवें।"

इस पाठ को साथ में सम्मिलित करके पढ़ें तो स्वामीजी का तात्पर्य स्पष्ट रूप से समझ में आ जाएगा। हमने इस पूरे पाठ को इस प्रश्न के आरम्भ में सिद्धान्त के रूप में उद्धृत कर दिया है। सम्पूर्ण पाठ को आदि से अन्त तक पढ़कर जो परिणाम निकलता है, वह यह है कि पति की मृत्यु के पश्चात् यदि कोई स्त्री ब्रह्मचारिणी रहना चाहे तो बहुत ही उत्तम बात है, और यदि ब्रह्मचारिणी न रह सके तो उसके लिए यह आज्ञा है कि शूद्रों में प्रत्येक प्रकार की विधवा का पुनर्विवाह हो सकता है और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों में जिस विधवा का पति से संयोग न हुआ हो उसका पुनर्विवाह और जिसका संयोग हो चुका हो उसका नियोग हो सकता है। चूँकि पुनर्विवाह और नियोग में केवल कुछ शर्तों

का अन्तर है, किन्तु दूसरे पति की प्राप्ति दोनों में विद्यमान है. अतः स्वामीजी का वेदानुकूल यह सिद्धान्त है कि–"स्त्री को पति की मृत्यु के पश्चात् और पति के जीते हुए भी विशेष अवस्थाओं में दूसरे पति का अधिकार है।" वह अपने अधिकार का प्रयोग करे या न करे यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। आशा है आप स्वामीजी के सिद्धान्त को पूर्णरूप से समझकर सन्मार्ग पर आ जाएँगे।

पोपजी--इतना ही नहीं, स्वामी दयानन्दजी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ २२ पर स्पष्ट लिखा है कि स्त्री और पुरुष का एक ही विवाह होता है, स्त्री का दूसरी बार विवाह नहीं हो सकता।

तोपजी--आपने ऋग्वेदाभिदाष्यभूमिका के कभी दर्शन भी किये हैं अथवा यूँ ही प्रमाण लिख दिया? क्योंकि इसके २२ पृष्ठ पर तो वेदोत्पत्ति का वर्णन है और दस-दस पृष्ठ आगे-पीछे भी कहीं आपका लिखा हुआ पाठ पुस्तक में नहीं है। आप अपने उत्तरदायित्व को समझकर कार्य नहीं करते, अन्यथा अपने उत्तदायित्व को समझनेवाला कोई व्यक्ति इस प्रकार झूठे प्रमाण लिखकर धोखा नहीं दिया करता। लीजिए, हम आपको पुस्तक का ठीक प्रमाण बतलाते हैं। स्वामी दयानन्दजी महाराज ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में नियोगप्रकरण में एक मन्त्र का अर्थ करते हुए लिखते हैं–

'अर्थात् कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात् पुनरेवं नियोगश्च। नैव द्विजेषु द्वितीयवारं विवाहो विधीयते। पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्ण एव विधीयते, तस्य विद्याव्यवहाररहितत्वात्॥

अर्थ--अर्थात् कुमारी-कुमार स्त्री-पुरुष का एक बार ही विवाह हो और पुनः उस प्रकार से नियोग हो। द्विजों में दूसरी बार विवाह का विधान नहीं है। पुनर्विवाह का तो शूद्रवर्ण में ही विधान किया गया है, क्योंकि वे विद्या और व्यवहार से रहित होते हैं।

उपर्युक्त पाठ को यदि सत्यार्थप्रकाश के पाठ को अनदेखा करके भी देखा जाए तो इसका यह अर्थ निकलता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में पुनर्विवाह नहीं होना चाहिए, अपितु नियोग होना चाहिए, जिससे पोपजी का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि नियोग में भी दूसरे पति की प्राप्ति विद्यमान है, जो हमारे आधारभूत सिद्धान्त का समर्थन करती है। वैसे इस पाठ का भी वही तात्पर्य है जोकि सत्यार्थप्रकाश के पाठ का तात्पर्य है, क्योंकि स्वामीजी का प्रयोजन यह है कि जिस स्त्री का विवाह तो हो गया हो, परन्तु पति से संयोग न हुआ हो, वह कुमारी के समान ही है और उसका पुनर्विवाह भी पहले विवाह के समान ही है; परन्तु जिस स्त्री का पति से संयोग हो चुका हो, उसका ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में पुनर्विवाह नहीं अपितु नियोग होना चाहिए और शूद्रों में पुनर्विवाह, क्योंकि शूद्र लोग विद्या और व्यवहार से रहित होने के कारण नियोग के विधि-विधान का पालन नहीं कर सकेंगे। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का लेख हमारे आधारभूत सिद्धान्त दूसरे पति की प्राप्ति के अधिकार का समर्थन करता है।

पोपजी--संस्कारविधि के पृ० १६५ पर भी स्वामीजी ने लिखा है कि स्त्री और पुरुष का एक ही बार विवाह होना चाहिए।

तोपजी--आप लोगों ने झूठ बोलने और जनता को धोखा देने का ठेका ही ले-रक्खा है, अन्यथा संस्कार-विधि में १६५ पृष्ठ पर तो क्या इससे आगे-पीछे भी दस-दस पृष्ठ तक आपका लिखा हुआ पाठ नहीं है; और यदि यह पाठ हो भी तो इससे आपकी कोई प्रयोजन-सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि संस्कार-विधि, विवाह-प्रकरण में पाद-टिप्पणी में एक मन्त्र का अर्थ करते हुए स्वामीजी लिखते हैं–"देवर की कामना करती हुई अर्थात्

नियोग की भी इच्छा करनेहारी सुखयुक्त हो।" सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और संस्कार-विधि के इस पाठ के प्रकाश में आप द्वारा लिखित पाठ का भी यही तात्पर्य हो सकता है कि जिस स्त्री और पुरुष का विवाह होकर संयोग भी हो चुका हो उनका पुनर्विवाह, नहीं अपितु नियोग ही होना चाहिए, अतः संस्कार-विधि का पाठ भी हमारे इस आधारभूत सिद्धान्त का समर्थन करता है कि स्त्री को दूसरे पति का अधिकार है।

पोपजी--लालाजी! यह तो बतलाइए कि स्त्री को दूसरा विवाह करवानेवाला सिद्धान्त आपने आर्यसमाज और स्वामी दयानन्दजी के सिद्धान्त के विरुद्ध कहाँ से स्थिर कर लिया कि जिसकी ओट में आप छिपना चाहते हैं।

तोपजी--पुस्तक के लेखक के पाठ को स्वयं परिवर्तित करके और स्वयं ही उसपर आक्षेप करने का आपको स्थिर रोग हो चुका है, जोकि सभ्य संसार की दृष्टि में धोखेबाजी, बेईमानी और कमीनेपन का पर्यायवाची है। भला! बताइए तो, हमने यह कहाँ लिखा है कि "स्त्री का दूसरा विवाह कराना आर्यसमाज का सिद्धान्त है"? हमने तो यह लिखा है कि "आर्यसमाज का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि स्त्री को भी दूसरे पति का अधिकार है।" चाहे वह अधिकार पुनर्विवाह के द्वारा हो चाहे नियोग के द्वारा हो--प्रत्येक अवस्था में दूसरे पति की प्राप्ति दोनों में विद्यमान है और यही आर्यसमाज और स्वामी दयानन्दजी महाराज का वैदिक सिद्धान्त है। यदि साहस हो तो इस आधारभूत वैदिक सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए वीर बनकर बाहर आइए, अन्यथा स्वामीजी के ग्रन्थों के नाम से झूठ-मूठ कृत्रिम पाठ लिखकर अपनी ही गली में शेर बनकर धोखेबाजी, ठगी और कमीनेपन की ओट में अपनी जान बचाने के प्रयत्न में आपका सफल होना असम्भव है।

पोपजी--स्वामीजी तो स्त्री के दूसरे विवाह के विरुद्ध थे और उन्होंने ऐसी अवैध रीति से होनेवाली हानियों का उल्लेख करके आर्यसमाजियों को स्पष्ट आज्ञा दी है कि स्त्री का दूसरा विवाह नहीं हो सकता, फिर आपका मनमाना आधारभूत सिद्धान्त कि स्त्री दूसरा विवाह कर सकती है, कैसे माना जाए?

तोपजी--यदी यही अवस्था रही तो प्रत्येक स्थिति में आपको पागलखाने की सैर अवश्य करानी पड़ेगी, क्योंकि हमने यह आधारभूत सिद्धान्त लिखा ही नहीं कि स्त्री दूसरा विवाह कर सकती है। हमने तो यह लिखा है कि स्त्री को भी दूसरे पति का अधिकार है और स्वामीजी ने भी यही लिखा है कि जिस विधवा का पति से संयोग न हुआ हो उसका पुनर्विवाह होना चाहिए, और जिसका पति से संयोग हो चुका हो उसका पुनर्विवाह नहीं अपितु नियोग होना चाहिए। ऐसी स्त्री के पुनर्विवाह में ही स्वामीजी ने हानियों का उल्लेख किया है, अतः हमारा आधारभूत सिद्धान्त सर्वथा स्वामीजी के लेख के अनुकूल है कि स्त्री को दूसरे पति का अधिकार है, चाहे वह पुनर्विवाह के द्वारा हो चाहे नियोग के द्वारा हो--दोनों अवस्थाओं में दूसरे पति की प्राप्ति विद्यमान है जोकि आपको आज नहीं तो कल माननी पड़ेगी।

पोपजी--देखिए, आर्यसमाज के प्रधान पण्डित नरदेव शास्त्रीजी 'आर्यसमाज का इतिहास' नामक पुस्तक में पृष्ठ १३१ पर लिखते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि उत्तम कुलों में विधवा विवाह नहीं होना चाहिए, यह शूद्र वर्ण में ही होना चाहिए।

तोपजी--हम पहले लिख चुके हैं कि हमारी दृष्टि में यदि आप पोप हैं तो पं० नरदेवजी डबल पोप हैं। हम इस प्रकार की पुस्तकों को कि जिनमें वेदों के विरुद्ध लिखा गया हो मिट्टी का तेल डालकर दियासलाई दिखाना ही उचित समझते हैं, अतः हमारे समक्ष ऐसी पुस्तकों के प्रमाण प्रस्तुत करना अपनी मूर्खता और अविद्या को स्वीकार करना है।

पोपजी—लालाजी! आपके आधारभूत सिद्धान्तवाली ओट अत्यन्त निर्बल और वहम ही है और यह प्रकट करती है कि आप एक अत्यन्त कठिन प्रश्न और प्रबल आक्रमण की चोट से बचने के लिए आधारभूत सिद्धान्त का ढोंग रच रहे हैं।

तोपजी—हमारे आधारभूत सिद्धान्त का यह ढोंग नहीं अपितु यह आधारभूत सिद्धान्त तो वेद का वह दृढ़ दुर्ग है कि जिसकी दीवारें लोहे की भाँति दृढ़ बनी हुई हैं। इन दीवारों को तोड़ने के कल्पित वहम में सनातनधर्म के सैकड़ों पण्डित सिर पटक-पटककर मर गये और आप भी मृत्यु के निकट पहुँचकर सिसक रहे हैं, और हमारे वैदिक दुर्ग से जो 'शास्त्रार्थ-जाखल' का बम्ब का गोला दैवी विपत्ति की भाँति सनातनधर्म पर गिरा है, उसकी प्रबल चोट से बचने के लिए स्वामी दयानन्दजी के मूल पाठों को तोड़-मरोड़कर और अधूरे रूप में लिखकर उनकी ओट में इस अपवित्र और पापमय जीवन को बचाना चाहते हैं, परन्तु आपके ये सब प्रयत्न व्यर्थ और निकम्मे हैं, क्योंकि अन्ततः आपको भी इस रणभूमि में दुर्योधन की भाँति भीम की गदा के द्वारा अपने पूर्वजों की पितृगति को प्राप्त होना ही पड़ेगा।

पोपजी—लाला साहब! अपनी आत्मा की आवाज़ और न्यायप्रियता को समाने रखकर तनिक स्वयं ही सोचिए कि शास्त्रार्थ का विषय यह हो कि 'स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं' और विपक्षी यह प्रश्न उठाये कि स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि एक विधवा स्त्री दो लड़के अपने लिए और दो-दो लड़के अन्य चार व्यक्तियों के लिए उत्पन्न कर सकती है और आक्षेपकर्त्ता स्वामीजी के इस लेख को वेद के विरुद्ध मानता हो और यह जानता हुआ कि किसी वेद में भी ऐसी आज्ञा नहीं दी गयी, आपसे यह प्रश्न करे कि कृपा करके इस आज्ञा को किसी वेद से दिखाएँ।

तोपजी—निःसन्देह आत्मा की आवाज और न्याय इस बात को स्वीकार करते हैं कि यदि शास्त्रार्थ का विषय यह निश्चित हो कि 'स्वामीदयानन्दकृत ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं' तो आक्षेपकर्त्ता का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि वह वेद का मन्त्र प्रस्तुत करके इस बात को सिद्ध करे कि स्वामीजी का अमुक लेख अमुक वेदमन्त्र के विरुद्ध होने से स्वामीजी के ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं, क्योंकि दावे को प्रमाणित करना वादी का उत्तरदायित्व है। किसी बात को वेद के विरुद्ध सिद्ध करने के लिए यह कहना पर्याप्त नहीं कि चूँकि इस बात की वेद में आज्ञा नहीं, इसलिए वह वेद के विरुद्ध है, क्योंकि वेद में किसी बात के आधारभूत सिद्धान्त की विधि या निषेध मिल सकता है, व्याख्या की विधि या निषेध नहीं मिल सकता। इसलिए आक्षेपकर्त्ता का यह प्रश्न करना कि 'एक विधवा स्त्री दो लड़के अपने लिए और दो-दो लड़के अन्य चार पुरुषों के लिए उत्पन्न कर सकती है', इसकी आज्ञा वेद में दिखाओ, सरासर आत्मा की आवाज़ और न्याय के विरुद्ध, दुराग्रह, अविद्या और स्वार्थ है, क्योंकि उपर्युक्त सिद्धान्त आधारभूत नहीं है, अपितु 'स्त्री को दूसरे पति का अधिकार है' वेद के इस आधारभूत सिद्धान्त की व्याख्या है और व्याख्या को वेद में ढूँढना अथवा वेद में से दिखाने की माँग करना केवल मूर्खता है, इसलिए उपर्युक्त आक्षेप ही आत्मा और न्याय के विरुद्ध है।

पोपजी—तो तनिक अपनी आत्मा से पूछो कि इस प्रश्न का यही उत्तर होना चाहिए जो आपने दिया है कि चूँकि आक्षेपकर्त्ता आधारभूत सिद्धान्त को नहीं मानता, इसलिए उसे प्रश्न करने का अधिकार नहीं है। क्या यही उत्तर देकर आप अपनी मनघड़न्त विजय का डंका बजाना चाहते हैं? क्या इसी बलबूते पर तत्ता पानी? क्यों लोगों को मार्ग-भ्रष्ट करने पर कमर बाँधी है?

तोपजी—निःसन्देह हमारा उत्तर बिल्कुल ठीक है और हमने सोच-समझकर ही लिखा है कि जब आक्षेपकर्त्ता आधारभूत सिद्धान्त को ही स्वीकार नहीं करता तो इसकी व्याख्या के सम्बन्ध में यह प्रश्न करना कि वेद में दिखाओ, सर्वथा व्यर्थ और असभ्यतापूर्ण है, क्योंकि वेद में आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन होता है, उनकी व्याख्या का नहीं। हमारी विजय मनघड़न्त नहीं है अपितु हमारी विजय का तो यह स्पष्ट प्रमाण है कि हमारी छोटी-सी, अपूर्ण पुस्तक 'शास्त्रार्थ-जाखल' ने समस्त सनातनधर्मी संसार के हृदयों पर हमारी विजय की मोहर लगा दी, जिस मोहर को तोड़ने में सारे सनातनधर्मी-संसार के सम्मिलित प्रयत्नों का परिणाम कुख्यात पुस्तक 'सनातनधर्म विजय' बुरी तरह से असफल सिद्ध हुई है और सारे सनातनधर्मी हमारे एक प्रश्न का भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सके। रहा आर्यसमाज का तत्ता पानी, इससे सनातनधर्म सभा को बचकर रहना चाहिए, कहीं इस तत्ते पानी की मार से सनातनधर्म सभा को महामण्डल पैदा करने का कष्ट न उठाना पड़े! हमने लोगों को पथ-भ्रष्ट करने पर कमर नहीं बाँधी, अपितु यह कमर आपने बाँध रक्खी है कि आधारभूत सिद्धान्तों पर शास्त्रार्थ करने का साहस न लाकर व्याख्यारूप प्रश्नों को वेद में दिखाने की माँग करके जनता की आँखों में धूल झोंकना चाहते हैं, परन्तु इसपर भी हमें आपकी असफलता पर आपको बधाई देने का गर्व है।

पोपजी—आप श्राद्ध आदि की भी व्यर्थ में आलोचना कर देते हैं, जबकि आपका इसके साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं होता।

तोपजी—हमारा श्राद्ध के साथ सम्बन्ध क्यों नहीं, जबकि श्राद्ध पितृयज्ञ का ही एक प्रकार है? पितृयज्ञ पञ्चमहायज्ञों में एक यज्ञ है और पञ्चमहायज्ञों का करना प्रत्येक आर्य का नित्य कर्म है, अतः प्रत्येक आर्य का श्राद्ध से विशेष सम्बन्ध है। हम पौराणिक श्राद्ध पर व्यर्थ टीका-टिप्पणी नहीं करते, अपितु उचित आक्षेप करते हैं, क्योंकि इसमें हमारा और सनातनधर्म का मतभेद है। हम यजुर्वेद [१९।५८][1] के अनुसार मानते हैं कि श्राद्ध नाम जीवित पितरों की श्रद्धापूर्वक सेवा का है और सनातनधर्म मानता है कि मरे हुए पितरों के नाम से ब्राह्मणों को भोजन कराना श्राद्ध कहाता है। आर्यसमाज कहता है कि मृतकश्राद्ध वेद के विरुद्ध है, क्योंकि वदे में एक मन्त्र भी ऐसा नहीं मिलता जो यह वर्णन करता हो कि ब्राह्मणों को खिलाया हुआ भोजन मृतक पितरों को मिल जाता है; और यह युक्ति के विरुद्ध है, अतः मृतकश्राद्ध के विरुद्ध हमारी समालोचना ऐसे ही नहीं, अपितु सर्वथा उचित और युक्तियुक्त है। इसी प्रकार मूर्त्तिपूजा आदि के विषय में समझ लें। हम सनातनधर्मियों की भाँति व्यर्थ वितण्डावाद नहीं करते, अपितु वेदों के अकाट्य प्रमाण देकर श्राद्ध आदि को वेद के विरुद्ध सिद्ध करके पुराणों को भी वेद के विरुद्ध सिद्ध करते हैं।

पोपजी—इसके आगे लाला मनसारामजी ने अथर्ववेद काण्ड ९, सूक्त ५ के दो मन्त्र २७-२८ देकर स्वामीजी के विरुद्ध मनमाने इस सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

तोपजी—हम इस बात को अच्छी प्रकार सिद्ध कर चुके हैं कि स्वामीजी का यह सिद्धान्त है कि जिस स्त्री का विवाह तो हो गया हो, परन्तु पति से संयोग न हुआ हो, यदि उस स्त्री के पति का देहान्त हो जाए और वह ब्रह्मचर्यव्रत न धारण करना चाहे तो उसका दूसरे पुरुष के साथ पुनर्विवाह हो सकता है। स्वामीजी के इस लेख का समर्थन निम्न मन्त्र

---

१. मूल मन्त्र इस प्रकार है—

आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽ ग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः ।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥

करते हैं। हम यहाँ एक मन्त्र इनसे पूर्व का और एक मन्त्र इनके पश्चात् का मिलाकर कुल चार मन्त्रों को अर्थसहित लिखते हैं—

१. पञ्च रुक्मा ज्योतिरस्मै भवन्ति वर्म वासांसि तन्वे भवन्ति।
स्वर्गं लोकमश्नुते योऽ जं पञ्चौदनं दक्षिणा ज्योतिषं ददाति॥२६॥

२. या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेऽ परम्।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः॥२७॥

३. समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः।
योऽ जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥२८॥

४. अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम्।
वासो हिरण्यं दत्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम् ॥२९॥ —अथर्व० ९।५।२६-२९

५. पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषुः पतिः।
स तु द्विजोऽ ग्रेदिधिषुः सैव यस्य कुटुम्बिनी॥२३॥ —अमरकोश २।६।२३

अर्थ—१. उसका जीवात्मा पाँचों ज्ञानेन्द्रियों-सहित प्रकाशमान हो जाता है और उसके शरीर के लिए कवच और सुन्दर वस्त्र उपलब्ध हो जाते हैं तथा वह स्वर्गलोक के सुखों को भोगता है, जो पुरुष पाँच भूतों को सींचनेवाली दानक्रिया की ज्योति रखनेवाले अजन्मा परमात्मा को अपनी आत्मा में धारण करता है।

२. जो स्त्री पूर्वपति को पाकर उसके पश्चात् मृत्यु आदि संकट में दूसरे पिछले पति को प्राप्त होती है, निश्चय ही वे दोनों पाँच भूतों को सींचनेवाले अजन्मा परमेश्वर को अपने आत्मा में धारण करें तो वे दोनों वियोग को प्राप्त नहीं होते।

३. दूसरा पति दूसरी बार विवाहित स्त्री के साथ एक स्थानवाला होता है, जो पुरुष पाँच भूतों को सींचनेवाले, दानक्रिया की ज्योति रखनेवाले अजन्मा परमात्मा को अपने आत्मा में धारण करता है।

४. बछड़ेवाली गौ, बैल और तकिये-सहित बिस्तर, सुन्दर वस्त्र और स्वर्ण दान करके मनुष्य उत्तम स्वर्ग को प्राप्त होते हैं।

५. पुनर्भूः, दिधिषूः—ये दो नाम दो बार विवाहित स्त्री के हैं। 'दिधिषु' यह नाम दो बार विवाहित स्त्री के पति का है। 'अग्रेदिधिषुः' यह एक नाम पुनः विवाहित स्त्री के द्विज पति अर्थात् जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो, उसका है।

इन वेदमन्त्रों से स्पष्ट सिद्ध है कि स्त्री को दूसरे पति का अधिकार है और 'अमरकोश' भी इसका समर्थन करता है।

पोपजी—लाला मनसारामजी ने अथर्ववेद के दोनों मन्त्रों का अर्थ आर्यसमाज और प्राचीन वेदभाष्यकार—दोनों के विरुद्ध मनमाना करके लोगों को धोखा दिया है। पहले आधारभूत सिद्धान्त मनमाना बताया और फिर झूठे सिद्धान्त की पुष्टि में अब दो मन्त्रों का अनर्थ कर डाला।

तोपजी—अभी पता लग जाएगा कि हमारा दिया हुआ अर्थ ठीक है अथवा आपका, और अनर्थ आपने किया है या हमने। प्राचीन भाष्यवाली डींग की भी अभी पोल खुल जाती है और फिर यह भी पता लग जाएगा कि जनता को धोखे में हम रखना चाहते हैं या आप। तनिक सँभलकर शान्तिपूर्वक परीक्षा की रणभूमि में पग बढ़ाइए।

पोपजी—हम दोनों मन्त्रों का वास्तविक अर्थ लिखते हैं।

तोपजी—हम भी वास्तविकता को जनता के समक्ष प्रकट करने के लिए तैयार बैठे हैं।

पोपजी—प्रथम मन्त्र का अर्थ यह है कि जो कुमारी कन्या, जिससे सगाई की गयी है, उसके अतिरिक्त दूसरे पति से विवाह करती है, तो वह पञ्चौदन नामक यज्ञ करे, जिस यज्ञ के करने से पति से वियोग नहीं होता।

तोपजी—खोदा पहाड़ और निकला चूहा! बस, इसी पूँजी=विद्या=ज्ञान पर उछल-कूद हो रही थी? सच है जो गर्जते हैं, वे बरसते नहीं। कितने गर्व के साथ हमारे अर्थ को अनर्थ बताकर प्राचीन वेदभाष्य की दुहाई दी जा रही थी, परन्तु अर्थ किया तो ऐसा कि सारी पोल खुल गयी और ठगी का भाँडा बीच बाजार में फूट गया। श्रीमन्! कृपा करके यह तो बतला दिया होता कि यह अर्थ आपने कौन-से प्राचीन वेदभाष्य के आधार पर किया है? क्योंकि सायणाचार्य ने तो इन वेदमन्त्रों को सरल समझकर इनपर भाष्य ही नहीं किया, और अन्य किसी नवीन भाष्यकार ने भी आपके अनुसार भाष्य करने का साहस नहीं दिखाया तथा कोई विद्वान् और बुद्धिमान् व्यक्ति इस प्रकार का अर्थ करके जनता के उपहास का पात्र बनना भी पसन्द नहीं कर सकता, क्योंकि प्रथम तो मन्त्र के शब्द इतने सरल हैं कि साधारण संस्कृत जाननेवाला भी मन्त्र के अर्थों को अच्छी प्रकार समझ सकता है। देखिए, कितनी सरल संस्कृत है—(या) जो स्त्री (पूर्वम्) पहले (पतिम्) पति को (वित्त्वा) प्राप्त होकर (अथ) तत्पश्चात् (अन्यम्) दूसरे (परम्) पिछले को (विन्दते) प्राप्त होती है। दूसरे, सगाई कोई संस्कार ही नहीं है। सारे गृह्यसूत्रों को उठाकर पढ़ जाइए, आपको किसी में भी सगाई-संस्कार नहीं मिलेगा, और मिलेगा भी कैसे जबकि यह सगाई बाल्यावस्था के विवाह की दूषित प्रथा की पूँछ है, जोकि अवैदिक युग में आरम्भ हुई। इसकी वेदों में चर्चा बताना सचमुच वीरता है। तीसरे, विवाह-संस्कार होने पर जब तक सप्तपदी की विधि सम्पन्न न हो जाए तब तक पुरुष और स्त्री की पति-पत्नी संज्ञा ही नहीं होती। देखिए, मनुजी महाराज क्या कहते हैं—

पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्। तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे॥

—मनु० ८।२२७

अर्थ—विवाह के मन्त्र निश्चय ही पति-पत्नी के सम्बन्ध में कारण हैं, परन्तु विद्वान् लोग सप्तपदी हो जाने के पश्चात् ही इसे पक्का मानते हैं। तात्पर्य यह कि यद्यपि विवाह-संस्कार हो जाने पर पति-पत्नी सम्बन्ध हो जाता है, परन्तु पक्का तभी होता है जब सप्तपदी की विधि पूर्ण हो जाती है।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि विवाह से पूर्व और विशेषकर सप्तपदी की विधि पूर्ण हुए बिना पुरुष की पति संज्ञा ही नहीं होती, तो फिर केवल सगाई हो जाने पर उसे पति कैसे कहा जा सकता है? मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि जो स्त्री पहले पति को प्राप्त होकर उसके पश्चात् दूसरे पति को प्राप्त होती है, अतः इस मन्त्र में दूसरे पति की आज्ञा स्पष्ट विद्यमान है। हमारा अर्थ बिल्कुल ठीक और आपका सोलह आने ग़लत है। हाँ, यदि आपके विचार में सगाई हो जानेपर पुरुष की भी वैसे ही पति संज्ञा हो जाती है, जैसेकि विवाहित पुरुष की पति संज्ञा होती है, और दोनों का स्त्री पर समान अधिकार होता है और दोनों ही के मरने पर स्त्री विधवा हो जाती है, तो भी हमारा सिद्धान्त आपके कथन से ही सिद्ध हो जाता है कि स्त्री को दूसरे पति की प्राप्ति का अधिकार है।

पोपजी—दूसरे मन्त्र का अर्थ—दूसरा पुनर्भू पति भी स्त्री के साथवाले लोक को जाता है, अर्थात् जो नरक दूसरा पति करनेवाली स्त्री को मिलता है, वही नरक उस स्त्री के साथ विवाह करनेवाले पति को मिलता है।

तोपजी—एक नहीं, दो अनर्थ कर डाले। पहले मन्त्र में सगाई का बहाना बनाकर अनर्थ किया और आत्महत्या करके नरक की तैयारी की, और दूसरे मन्त्र में नरकगामी बनने के लिए नरक की झूठी कल्पना कर डाली। कहिए महराज! यह अर्थ कौन-से प्राचीन वेदभाष्य के अनुसार किया है? अथवा प्राचीन वेदभाष्य का बहाना लेकर यूँ ही लबड़ धौं-धौं मचा रक्खी थी? और अमरकोश के प्रमाण को क्यों श्राद्ध के लड्डू की भाँति पूरा ही हड़प कर गये? इसके लिए भी कोई इसी प्रकार की झूठी कल्पना करके किसी अनुपलब्ध प्राचीन भाष्य का बहाना घड़ लिया होता! कुछ शर्म करो, परमात्मा से डरो और आत्महत्या करके नरक के भागी न बनो! विधवा-विवाह को तो अब रुकना ही नहीं, क्यों व्यर्थ में कलंक का टीका माथे पर लगाकर जनता को धोखे में रखते हो? देश की दशा पर दया करो! विधवाओं पर तरस खाओ। जाति के घातक मत बनो। सचाई का पल्ला पकड़ो, स्वार्थ को छोड़ो। देखो, मन्त्र के शब्द स्पष्ट हैं कि—(पुनर्भुवा) दूसरा विवाह करनेवाली स्त्री के साथ (अपरः पतिः) दूसरा पति (समानलोकः भवति) समान लोकवाला होता है। वह समान लोक स्वर्ग है या नरक, इसके लिए इन दोनों मन्त्रों से पहले और पिछले मन्त्र का अवलोकन कीजिए। मन्त्र २६ में स्पष्ट शब्द पड़े हैं—(स्वर्गं लोकमश्नुते) स्वर्गलोक को भोगता है; और मन्त्र २९ में भी स्पष्ट लिखा है (यन्ति दिवमुत्तमाम्) उत्तम स्वर्ग को प्राप्त होते हैं। फिर बताइए, बीच के मन्त्र में नरक की कल्पना किस आधार पर की जा सकती है?

हमारी दूसरी युक्ति और भी प्रबल है और यह है कि अथर्ववेद के इस सूक्त में मन्त्र १६ से ३६ तक पञ्चौदन यज्ञ करने का विधान है और सभी मन्त्रों में यज्ञ करने का स्वर्गादि उत्तम फल विधान किया है तथा इस मन्त्र के भी उत्तरभाग में पञ्चौदन यज्ञ करने का पुनर्भू स्त्री और दूसरे पति के लिए विधान है, फिर इनके लिए यज्ञ का फल नरक किस आधार पर कल्पित किया जा सकता है? हाँ, यह कल्पना तो की जा सकती है कि विधवा स्त्री और विधुर पुरुष सम्भव है कि व्यभिचार और गर्भपात आदि कुकर्मों से नरक की तैयारी में लगे हुए हों, तो वे दोनों विवाह करके और कुकर्मों से बचकर पञ्चौदन यज्ञ करते हुए स्वर्ग को प्राप्त हों, अतः आपकी नरक-कल्पना सर्वथा निर्मूल और अयुक्त है और हमारा आधारभूत सिद्धान्त कि स्त्री को दूसरे पति का अधिकार है, सोलह आने वेदानुकूल और युक्तियुक्त है।

पोपजी—लाला मनसारामजी आर्य ऋग्वेद [१०।४०।२] का प्रमाण देकर लिखते हैं।

तोपजी—निःसन्देह ऋग्वेद का उपर्युक्त मन्त्र हमारे आधारभूत सिद्धान्त का प्रबल समर्थन करता है। देखिए—

कुह स्विद् दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥ —ऋ० १०।४०।२

क्वस्विद्रात्रौ भवथः क्व दिवा क्वाभिप्राप्तिं कुरुथः क्व वसथः। को वां शयने विधवेव देवरं (देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते) विधवा विधातृका भवति। विधवनाद्वा। विधावनाद्वेति चर्मशिराः। अपि वा धव इति मनुष्यनाम, तद्वियोगाद्विधवा। देवरो दीव्यतिकर्मा। मर्यो मनुष्यो मरणधर्मा। योषा योतैः, आकुरुते सहस्थाने।

—निरुक्त ३।१५।१

अर्थ—हे विवाहित स्त्री-पुरुषो! तुम दोनों रात्रि में किस स्थान पर रहे और दिन में कहाँ निवास किया? तुमने अन्न, कपड़ा, धन आदि प्राप्ति कहाँ की थी? तुम्हारा

निवास-स्थान कहाँ है? रात्रि में तुम कहाँ सोते हो? जैसे विधवा स्त्री देवर से सन्तान उत्पन्न करती है और जैसे विवाहित पुरुष को समान स्थान में सन्तान उत्पन्न करने के लिए विवाहित स्त्री स्वीकार करती है, वैसे तुम भी करो।

इस मन्त्र में विधवा स्त्री का देवर से सन्तान उत्पन्न करने का उपमापूर्वक वर्णन है और निरुक्त के उपर्युक्त पाठ के अनुसार देवर को इसलिए देवर कहते हैं कि वह विधवा स्त्री का दूसरा वर होता है।

पोपजी—लाला साहब का यह अर्थ सर्वथा असत्य और निराधार है। इस मन्त्र में आये हुए 'अश्विना' शब्द का अर्थ स्त्री और पुरुष किया गया है।

तोपजी—संस्कृत की एक लोकोक्ति आप-जैसे व्यक्तियों के लिए उचित प्रतीत होती है। जो कोई प्रमाण और युक्ति तो प्रस्तुत न करें अपितु **'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी'** परमात्मा ने मुख दिया है, जो चाहें बकवास करते रहें कि हरड़ दस हाथ की होती है। श्रीमान्‌जी! अब वह युग गया जब लोग पोपजी की बात को ही प्रमाण मान लिया करते थे। यह ऋषि दयानन्द का युग है। बिना युक्ति और तर्क केवल कहने से ही बात प्रमाण नहीं मानी जा सकती। आपको चाहिए था कि हमारे अर्थ को ग़लत सिद्ध करने के लिए कोई युक्ति और तर्क प्रस्तुत करते। हमारा अर्थ युक्तियुक्त और प्रमाणों के आधार पर है। निरुक्त [१२।१] में लिखित **'अश्विनौ—यद्व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्यः।।** इस निरुक्ति के अनुसार 'अश्विना' शब्द के सूर्य-चन्द्रमा, द्यावा-पृथिवी, दिन-रात्रि, स्त्री-पुरुष, उपदेशक-अध्यापक, रानी-राजा, घोड़ों के स्वामी आदि अनेक अर्थ वेदों में आते हैं। अब केवल यह सोचना शेष रह जाता है कि इस मन्त्र में कौन-से अर्थ लेने उचित हैं? क्योंकि इस मन्त्र में अश्विना को सम्बोधित करके उपदेश दिया गया है कि—"जैसे विधवा स्त्री देवर को और विवाहिता स्त्री विवाहित पुरुष को प्राप्त करके सन्तान उत्पन्न करती है, वैसे ही तुम भी करो।" इस उपदेश के अनुसार यहाँ अश्विना शब्द से स्त्री और पुरुष ही ग्रहण किये जा सकते हैं, क्योंकि सूर्य-चन्द्रमा, द्यावा-पृथिवी, दिन-रात्रि आदि का सन्तान उत्पन्न करना असम्भव होने से वेद का उपदेश व्यर्थ हो जाएगा और इस मन्त्र में आपके कपोलकल्पित पौराणिक देवता अश्विनीकुमारों का वर्णन मानकर तो वेद केवल विडम्बना ही बन जाते हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति और हस्ती जैसी पुराणों में वर्णित की गयी है वह वेद और शास्त्र के विरुद्ध, असम्भव और अत्यन्त दूषित है, जैसाकि भविष्यपुराण में वर्णन है कि सूर्य ने अपनी भतीजी संगीता से विवाह कर लिया। इससे सूर्य ने मनु, यम और यमुना—दो पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न की। तब संगीता अपनी छाया को सूर्य के पास छोड़कर स्वयं तप करने चली गयी। सूर्य ने इस छाया से भी सावर्णि, शनि और तपती—दो पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न की। जब सूर्य ने देखा कि छाया संगीता की सन्तान से भेदभाव रखती है तो सूर्य ने छाया को भस्म कर दिया। तब छाया के पुत्र शनि और सावर्णि ने सूर्य से युद्ध किया तो सूर्य डरता हुआ भाग गया और सूर्य ने योगाभ्यास से पता लगाया कि मेरी पत्नी संगीता घोड़ी बनी हुई वन में तप कर रही है। तब सूर्य ने घोड़ा बनकर इस घोड़ी बनी संगीता से मुख में मैथुन किया तो संगीता ने नाक से इस बीज को ग्रहण करके गर्भ धारण किया। जिससे अश्विनीकुमार पैदा हुए जिनका मुख मनुष्य-जैसा और शेष शरीर घोड़े का है। —भविष्यपु० प्रतिसर्ग पर्व ३, खण्ड ४, अध्याय १८ तथा ब्राह्मपर्व अ० ७९

ये हैं वे अश्विनीकुमार देवता जिनका वर्णन वेदों में बताकर आप वेदों को कलंकित करना चाहते हैं, अतः हमारा किया हुआ अर्थ सर्वथा ठीक और युक्तियुक्त है और आपका हमारे अर्थ को ग़लत और निराधार बताना मूर्खता और बेहूदापन है।

यह तो रही अश्विना शब्द के अर्थ की बात। अब हम आपसे एक और बात पूछना चाहते हैं कि यदि अश्विना शब्द का अर्थ एक मिनट के लिए आपका किया हुआ अश्विनीकुमार भी मान लिया जाए तो भी हमारे उद्देश्य में कोई हानि नहीं पहुँचती, क्योंकि सम्बोध्य चाहे स्त्री-पुरुष हों और चाहे अश्विनीकुमार हों, विवादास्पद विषय तो वेद का यह पाठ है कि--"जैसे विधवा स्त्री देवर अर्थात् दूसरे पति से और विवाहिता स्त्री विवाहित पति से सन्तान उत्पन्न करती है, वैसे ही तुम भी सन्तान उत्पन्न करो।" इस पाठ में जो उपमा-रूप में यह वर्णन किया गया है कि "जैसे विधवा स्त्री देवर अर्थात् दूसरे पति से सन्तान उत्पन्न करती है"--विवादास्पद विषय तो यह है और इसी पर "स्त्री को दूसरे पति की प्राप्ति का अधिकार है या नहीं"--इस बात का निर्भर है, जिसका निर्णय निरुक्त ने देवर शब्द का अर्थ करके स्पष्ट कर दिया है कि "देवर नाम इसलिए होता है कि वह विधवा का दूसरा पति होता है", अतः हमारा आधारभूत सिद्धान्त कि स्त्री को दूसरे पति का अधिकार है, सर्वथा ठीक है।

पोपजी--इस शब्द का अर्थ निरुक्त में आर्यसमाजी विद्वान् पं० राजारामजी इस प्रकार करते हैं कि "अब हम 'द्यु' लोक में है स्थान जिनका उन देवताओं का वर्णन करते हैं।" इन देवताओं में अश्विनीकुमार प्रथमगामी हैं, अर्थात् यज्ञ में ये सब देवताओं से पहले आते हैं। --निरुक्त १२।१

तोपजी--चोर यदि चोरी से टल भी जाए तो भी हेरा-फेरी से नहीं टलता, इस उक्ति के अनुसार आप भी अपने स्वभाव से विवश हैं। दूसरों का नाम लेकर झूठा प्रमाण लिख देना तो आपने अपना व्यवसाय ही बना रक्खा है। यद्यपि राजारामजी के लेखों के हम उत्तरदायी नहीं हैं, क्योंकि उनके ग्रन्थ अनार्ष होने से आर्यसमाज के लिए प्रमाणकोटि में नहीं हैं, परन्तु फिर भी आपने वे प्रमाण भी ठीक रूप में नहीं लिखे हैं। देखिए, पं० राजारामजी क्या लिखते हैं--

"(मध्यस्थानी देवता कह दिये) अब आगे द्युस्थानी देवता (कहेंगे) इनमें दो अश्वी प्रथमगामी होते हैं (इनका काल सबसे पूर्व है)।"

अब इस पाठ को पोपजी के दिये हुए पाठ से तुलना करके पोपजी की ईमानदारी की परीक्षा कर लीजिए। कितना तोड़-मरोड़कर और अपनी ओर से न्यूनता और वृद्धि करके पाठ उद्धृत किया है! दूसरे के नाम से अशुद्ध पाठ उद्धृत करना प्रथमकोटि की बेईमानी और कमीनापन है।

भला, पोपजी! यह तो बतलाइए कि इससे आगे निरुक्त ने अश्वी शब्द का जो अर्थ किया है, वह आपने क्यों छोड़ दिया? इसके आगे वही पाठ उद्धृत है जिसे प्रमाण में लिखकर हमने अश्वी शब्द के स्त्री और पुरुष आदि अर्थ किये? इसे लिखने से पोपजी की सारी पोल खुल जाती है और पं० राजारामजी का अर्थ मानकर भी हमारे अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि पं० राजारामजी ने अश्विनीकुमारों की चर्चा तक नहीं की और यज्ञ में भी स्त्री-पुरुष की ही यजमान-रूप में आवश्यकता पड़ती है, अतः वे ही प्रथमगामी होते हैं और उन्हीं का काल सबसे पूर्व है, क्योंकि यजमान जब तक पत्नीसहित यज्ञ में उपस्थित न हो यज्ञ आरम्भ ही नहीं हो सकता। मनुष्य के मुखवाले और घोड़े के शरीरवाले, बेढंगे, घोड़ी के मुख में सूर्य के समागम करने से उत्पन्न हुए--कपोलकल्पित पौराणिक अश्विनीकुमारों की यज्ञ में सबसे पूर्व क्या आवश्यकता पड़ती है, अतः हमारा किया हुआ अर्थ ही निरुक्त के अनुसार युक्तियुक्त और सत्य है और आपकी कल्पना सर्वथा निर्मूल है।

क्यों पोपजी महाराज! यदि आपको पं० राजारामजी प्रमाण हैं तो आपने उनका किया हुआ विवादास्पद मन्त्र का अर्थ ही क्यों न लिख दिया ताकि उनकी साक्षी पूर्णरूप से हो जाती? परन्तु आपको तो पता है कि यह साक्षी भी आपके विरुद्ध ही पड़ती है, क्योंकि पं० राजारामजी ने भी **'विधिवेव देवरम्'** का वही अर्थ किया है जो हमने किया है और देवर शब्द का भी उन्होंने दूसरा पति ही अर्थ किया है। पोपजी महाराज! साक्षियों को सोच-समझकर प्रस्तुत किया करें। ऐसे गवाहों की पेशगी से तो आपका मुकद्दमा एकपक्षीय ही खारिज-रद्द दृष्टिगोचर होता है।

पोपजी--दूसरे, वस्त्र, अन्न, धन आदि अर्थ पता नहीं कहाँ से निकाला गया, फिर विधवाविवाह निकाल लिया। अस्तु, हम लाला साहब से पूछते हैं कि आपने ऐसा मनमाना अर्थ किया है, यह किस आधार पर किया है?

तोपजी--निराधार अर्थ करना हमारा काम नहीं। निराधार ऊटपटाँग अर्थ करना आप-जैसे पोपों का काम है। यदि आपको आधार दृष्टिगोचर न हो तो इसमें हमारा क्या दोष? अपनी आँखों से पक्षपात का चश्मा उतारकर मन्त्र को पढ़ो। इसमें **'कुहाभिपित्वम्'** शब्द विद्यमान है जिसका अर्थ निरुक्तकार यास्काचार्य ने **'क्वाभिप्राप्तिं कुरुथः'** किया है और इसका भाष्य करते हुए निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने लिखा है--

" 'कु' क्व च 'अभिपित्वम्' अभिप्राप्तिं स्नानभोजनाद्यर्थं कुरुथः।"

अर्थ--स्नान, भोजन आदि के लिए प्राप्ति कहाँ की थी?

अब तनिक इस अर्थ को पढ़कर बताएँ कि स्नान, भोजन आदि के लिए वस्त्र, अन्न, धन आदि की आवश्यकता होती है या अन्य किसी वस्तु की? अतः हमारा अर्थ सर्वथा ठीक और प्रामाणिक है।

अब रह गया विधवा-विवाह, वह तो स्पष्ट ही मन्त्र में **'विधवेव देवरम्'** शब्द पड़ा हुआ है, जिसका अर्थ निरुक्त ने किया है कि देवर उसे कहते हैं, जो विधवा का दूसरा पति हो, अतः हमारा यह अर्थ पूर्ण प्रामाणिक है।

पोपजी--क्या आर्यसमाज ने कोई ऐसी संस्था बनाई हुई है जोकि प्रतिदिन घूम-घूमकर प्रत्येक स्त्री-पुरुष से पूछे कि 'तुम रात्रि में कहाँ थे और वस्त्र, धन आदि कहाँ से लिये?' क्या आर्यसमाजी जोड़े रात्रि में घूमते फिरते हैं। क्या कहीं आर्यसमाजियों पर धारा तो नहीं लगी हुई जिससे पुलिस की भाँति ऐसी छान-बीन की आवश्यकता अनुभव होती हो?

तोपजी--निःसन्देह आर्यसमाज की कृपा से इस समय भारतवर्ष में सेवा-समिति जैसी अनेक संस्थाएँ विद्यमान हैं जोकि घूम-घूमकर प्रतिदिन प्रत्येक संकट-ग्रस्त स्त्री-पुरुष से पूछती फिरती हैं कि तुम रात्रि में कहाँ रहे और रात्रि में तुम्हारी क्या अवस्था रही और वस्त्र तथा धन आदि कहाँ से लिये और इस समय आपको किस वस्तु की आवश्यकता है? और इस प्रकार के अनेक देशसेवक आर्यसमाजी जोड़े भी विद्यमान हैं जो रात-दिन घूम-घूमकर देश की सेवा करते हैं। एक-दूसरे की अवस्था का पूछना किसी धारा लगने के कारण से नहीं अपितु मानव-समाज की सभ्यता है कि सहानुभूति के रूप में एक-दूसरे की अवस्था को जानकर उसकी सहायता करे, जिस प्रकार कि राम और सीता तथा अर्जुन और द्रौपदी संकट के कारण जब ये दोनों जोड़े वनों में घूमते फिरते थे तो ऋषि, मुनि, वनवासी इनसे सब वृत्तान्त पूछते थे। राम आदि पर कोई धारा नहीं लगी हुई थी, अपितु वनवासी ऋषियों की इनके प्रति सहानुभूति थी। इनके कष्ट को जानकर सुग्रीव आदि ने भी इनकी सहायता की।

अब कृपा करके आप बताएँ कि सनातनधर्म के, संसार से विचित्र, देवता रात्रि में चोरों की भाँति क्यों भागते-फिरते हैं? क्या कहीं यह जोड़ा अपने पिता सूर्य और माता संगीता को घोड़ा-घोड़ी बनकर मुख में मैथुन करके नाक के द्वारा बीज को धारण करके गर्भाधान की विधि सीखने के लिए तो ढूँढता नहीं फिरता? और क्या इन दोनों के नाम पुलिस के दस नम्बर के रजिस्टर में तो नहीं लिखे गये कि जिससे इनकी अवस्था की छान-बीन करने की आवश्यकता पड़ गयी हो? और कहीं पुलिस इनके द्वारा सूर्य और संगीता के अन्वेषण में तो नहीं कि इनपर दुराचार का मुकदमा चलाकर इन्हें सात वर्ष के लिए जेल की हवा खिलाए? प्रत्येक अवस्था में आपको सनातनधर्म के इन देवताओं की स्थिति स्पष्ट करने के लिए एक विज्ञापन अवश्य प्रकाशित कर देना चाहिए।

पोपजी--कृपा करके पहले अपने घर के ही विद्वानों के अर्थों का परीक्षण कर लिया करो ताकि बाद में लज्जित न होना पड़े।

तोपजी--हमारे समक्ष ऋषि दयानन्दजी का आर्ष भाष्य विद्यमान है, जोकि निरुक्त के आधार पर किया गया है। हमने इसके अनुसार अर्थ लिखे हैं, शेष किसी भी अनार्ष भाष्य का आर्यसमाज उत्तरदायी नहीं है; परन्तु फिर भी आप कोई प्रमाण प्रस्तुत किया करें तो ईमानदारी के साथ लेखक के मूलपाठ को उद्‌धृत किया करें ताकि बाद में लोग आपको मिथ्यावादी, बेईमान, छली, कपटी और धोखेबाज कहकर लज्जित न करें, परन्तु शर्म क्या कुत्ती है जो आपके पास फटक सके!

पोपजी--अस्तु, हम इस मन्त्र का अर्थ लिखते हैं जैसाकि वेद के व्याकरण निरुक्त में महर्षि यास्क, दुर्गाचार्य और सायणाचार्य ने किया है।

तोपजी--हम भी देखेंगे कि आप अपने पुराने स्वभाव के अनुरूप निरुक्त के कर्त्ता यास्कमुनि, दुर्गाचार्य और सायणाचार्य का नाम लेकर उनकी आड़ में क्या-क्या मनघड़न्त पाठ लिखकर जनता को पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

पोपजी--कि हे अश्विनीकुमार देवताओ! तुम दोनों रात में कहाँ थे और दिन में कहाँ थे? आपने क्या प्राप्त किया और कहाँ रहे थे? क्या आपको कोई यजमान मिला था जिसने यज्ञशाला में आपको बुला लिया अथवा किसी ने आपकी सेवा के लिए अपनी ओर आकर्षित कर लिया था **"जैसाकि विधवा अपने देवर का उसकी पत्नी की ओर ध्यान कराती है अथवा जैसा सब लोग सब स्त्रियों की ओर आकर्षित नहीं होते"** (अपितु अपनी पत्नी की ओर)।

तोपजी--जिस बात का पहले ही खटका था, वही हुई! अर्थात् पोपजी ने मन्त्र के विवादास्पद पिछले भाग का अर्थ निरुक्त, दुर्गाचार्य और सायणाचार्य सबपर पानी फेरकर मनमाना कर डाला। पोपजी के मनघड़न्त अर्थ को हमने मोटे अक्षरों में लिख दिया है। हम पोपजी से डंके की चोट पर पूछना चाहते हैं कि वे बतलाएँ कि यह अर्थ उन्होंने कौन-से भाष्यकार के आधार पर किया है? हमने निरुक्त का पूरा पाठ और उसका अर्थ तो पहले ही मन्त्र के नीचे लिख दिया है, जिसमें **'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते'**--'देवर विधवा स्त्री के दूसरे पति को कहते हैं'--यह वाक्या ही हमारे आधारभूत सिद्धान्त 'स्त्री के दूसरे पति' के अधिकार का पर्याप्त समर्थन करता है। अब हम दुर्गाचार्य का अर्थ यहाँ पर उद्‌धृत करते हैं, आप तनिक ध्यानपूर्वक इस अर्थ को पढ़कर आनन्द लें--

'विधवा इव देवरम्' यथा विधवा गतभर्तृका काचित् स्त्री शयने रहस्यतितरां यत्नवती देवरमुपचरित, स हि परकीयत्वात् नार्या दुराराध्यतमो भवतीति यत्नेनोपचर्यते, न तथा निजी भर्ता। तस्मात्तेनोपमिमीते अश्विनौ। तथा 'मर्यं' मनुष्यं देवरम्। सैव

गतभर्तृका 'योषा' आकृणुत आभिमुख्येन कुरुते।

अर्थ–जैसे विधवा स्त्री पलंग पर अत्यन्त एकान्त स्थान में प्रयत्न करके देवर की सेवा करती है, क्योंकि वह दूसरी स्त्री का पति होने के कारण स्त्री के लिए प्रसन्न करना अत्यन्त कठिन होता है, अतः प्रयत्नपूर्वक इसकी सेवा की जाती है, इस प्रकार से अपने पति की नहीं। इसलिए इसके साथ स्त्री–पुरुषों की उपमा दी जाती है और देवर को वही विधवा स्त्री अपनी ओर अभिमुख करती है।

इस अर्थ में आपके कहे हुए अर्थ की गन्ध भी नहीं है। अब हम सायणाचार्य का अर्थ भी यहाँ उद्धृत करते हैं। अवलोकन कीजिए–

तत्र दृष्टान्तौ दर्शयति शयुत्रा शयने विधवेव यथा मृतभर्तृका नारी देवरं भर्तृभ्रातरं अभिमुखी करोति मर्यं न यथा च सर्वं मनुष्यं योषा सर्वा नारी सम्भोगकाले अभिमुखी करोतीति।

–सायणभाष्यम्

अर्थ–वहाँ दो दृष्टान्त देता है–पलंग पर जैसे विधवा अर्थात् मरे हुए पति की स्त्री देवर अर्थात् पति के भाई को अभिमुख करती है और जैसे मनुष्यमात्र को सब स्त्रियाँ भोग के समय अभिमुख करती हैं।

इस सायण भाष्य में भी आपके अर्थ का चिह्न भी नहीं है। इससे स्पष्ट हो गया कि यास्क, दुर्गाचार्य और सायण हमारे अर्थों का प्रबल समर्थन करते हैं और आपके किये हुए अर्थ का उनके द्वारा किये अर्थ में चिह्न भी नहीं है। यदि इन अनुवादों को दृष्टि से ओझल करके केवल मन्त्र के शाब्दिक अर्थ को देखा जाए तो भी आपका अर्थ बिल्कुल मनमाना और अशुद्ध है। देखिए, मन्त्र का उत्तरार्द्ध यह है–

'को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ।'

इस पाठ में से **'शयुत्रा'** शब्द का अर्थ आपने सर्वथा छोड़ दिया है, जिसका अर्थ 'पलङ्ग पर' है और **'विधवेव देवरम्'** का इतना अर्थ तो ठीक है कि "जैसे विधवा देवर को अभिमुख करती है"। इसमें आपने 'उसकी पत्नी की ओर' यह अर्थ किन शब्दों का किया है? यह अर्थ निराधार होने के साथ बेहूदा भी है। भला! यह तो बताइए कि विधवा स्त्री पलंग पर अपने देवर को उसकी पत्नी की ओर किस प्रकार अभिमुख करती है? क्या इन दोनों को चारपाई पर सुलाकर सम्भोग करना सिखाती है? और क्या इस कर्त्तव्य को पूर्ण करने के लिए विधवा ही उचित हो सकती है? और क्या जब वह देवर को उसकी पत्नी की ओर अभिमुख करेगी तो इस कर्त्तव्य को निभाते हुए उसका पतिव्रतधर्म स्थिर रह सकेगा? आपका यह अर्थ न तो किसी शब्द के आधार पर है और न ही युक्तियुक्त, अतः सर्वथा अशुद्ध और कपोलकल्पित है। इससे आगे मन्त्र में **'मर्यं न योषा'** का यह अर्थ तो ठीक है कि "जैसे सब स्त्रियाँ सब पुरुषों को अभिमुख करती हैं", परन्तु इसमें आपने पुरुषों को कर्त्ता और स्त्रियों को कर्म बना दिया। वस्तुतः स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि व्याकरण की रीति से 'योषा' कर्त्ता और 'मर्यम्' कर्म है। और फिर आपने 'अभिमुख नहीं होते'–यह 'नहीं' पता नहीं कहाँ से आविष्कृत कर लिया, क्योंकि यहाँ पर 'न' पद तो उपमावाची है जिसका अर्थ आपने भी 'जैसे' कर दिया है, अतः आपका अर्थ सर्वथा निर्मूल और अशुद्ध है तथा हमारा अर्थ सब भाष्यों के अनुकूल और सर्वथा ठीक है।

पोपजी–इस अर्थ में केवल विधवा स्त्री और देवर का नाम आने से ही विधवा–विवाह सिद्ध कर लेना अन्याय है। महाशयजी! चोटी के विद्वानों को छोड़कर आपके अपने स्वार्थ का मनघड़न्त अर्थ कौन माने?

तोपजी—हमने सिद्ध कर दिया है कि चोटी के विद्वानों का अर्थ हमारे अर्थ का प्रबल समर्थन करता है और देवर का अर्थ ही विधवा का दूसरा पति होने के कारण स्पष्ट रूप से 'स्त्री को दूसरे पति का अधिकार' सिद्ध है। फिर आपके मनमाने अर्थों को जोकि शाब्दिक अर्थों के भी विरुद्ध हैं तथा यास्क, दुर्गाचार्य और सायणाचार्य के किये हुए अर्थों के भी विरुद्ध हैं, कौन मान सकता है?

पोपजी—देवर दूसरे वर को कहते हैं, यह निरुक्त में प्रक्षिप्त पाठ [अर्थात् बाद में किसी का बढ़ाया हुआ वाक्य] है, क्योंकि इसे प्रमाण न मानकर यास्काचार्य ने इसपर टीका नहीं की।

तोपजी—प्रतीत होता है कि आपने पुस्तक लिखते समय या तो बुद्धि को पारसल करके समुद्रपार भेज दिया अथवा आपने यह शपथ खाकर पुस्तक लिखना आरम्भ किया है कि सचाई को मानना ही नहीं, चाहे सारा संसार एक ओर हो जाए, परन्तु बकरी की टाँग हम तो तीन ही कहेंगे, अन्यथा कोई कारण ज्ञात नहीं होता कि इतनी मोटी बात में आपकी बुद्धि चक्कर क्यों खा गयी?

श्रीमन्! जब यास्काचार्य ने ही देवर शब्द का भाष्य करते हुए यह लिखा है कि 'देवर दूसरे वर को कहते हैं' तो फिर यास्काचार्य और क्या भाष्य करते? लिखनेवालों का यह एक प्रकार है कि किसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कोष्ठक में इसकी व्याख्या कर दिया करते हैं जैसे आपने भी 'प्रक्षिप्तपाठ' की व्याख्या कोष्ठक में यह कर दी है कि [अर्थात् बाद में किसी का बढ़ाया हुआ वाक्य]। इससे कोष्ठक में होने के कारण यह वाक्य प्रक्षिप्त नहीं माना जा सकता, और इससे अधिक इसकी व्याख्या भी क्या की जा सकती है, जबकि यह वाक्य स्वयं व्याख्या है। इसी प्रकार यास्काचार्य ने देवर शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कोष्ठक में उसकी व्याख्या कर दी है कि देवर दूसरे वर को कहते हैं। कोष्ठक में होने के कारण इसे प्रक्षिप्त स्वीकार नहीं किया जा सकता और न ही इसकी अधिक व्याख्या करने की आवश्यकता है, क्योंकि यह वाक्य स्वयं देवर शब्द की व्याख्या है। दूसरे, भाष्कार सदा उसी पाठ का भाष्य करते हैं जोकि कठिन हो। जो पाठ अत्यन्त सरल होता है, उसपर वे भाष्य नहीं किया करते। उदाहरण के रूप में निरुक्त में ही यास्काचार्य ने निघण्टु के सैकड़ों शब्दों पर भाष्य नहीं किया। जिनको कठिन समझा उनपर भाष्य कर दिया।

पतञ्जलि ने महाभाष्य में अष्टाध्यायी के सैकड़ों सूत्रों पर भाष्य नहीं किया। ब्राह्मणग्रन्थों ने वेद के सैकड़ों मन्त्रों पर भाष्य नहीं किया, क्या इससे वे प्रक्षिप्त माने जा सकते हैं? किसी पाठ का भाष्य न करना उसके प्रक्षिप्त होने का प्रमाण नहीं है, अपितु उसके सरल होने का प्रमाण है; और फिर पं० शिवदत्तजी शास्त्री महामहोपाध्याय ओरियण्टल कॉलेज, लाहौर ने इस पाठ पर बड़ा भारी भाष्य किया है। यदि वे इसे प्रक्षिप्त मानते तो लिख देते कि यह पाठ प्रक्षिप्त है, इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। पं० सायणाचार्य ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए निरुक्त के इस पाठ को अपने समर्थन में अपनी व्याख्या में उद्धृत किया है। उन्होंने भी यह पाठ (देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते) निरुक्त के नाम से उद्धृत किया है। यदि यह प्रक्षिप्त होता तो सायणाचार्य इसे अपने समर्थन में क्यों उद्धृत करते? अतः आपकी यह कल्पना कि यह पाठ प्रक्षिप्त है, अशुद्ध और निर्मूल है।

पोपजी—देखिए इस मन्त्र के सम्बन्ध में आर्यसमाज के विद्वान् पं० नरदेवजी शास्त्री की क्या सम्मति है। 'आर्यसमाज का इतिहास' नामक पुस्तक में पृष्ठ ८४ पर लिखा

है–**'कुह स्विद् दोषा'** आदि ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ४०, मन्त्र २ में 'विधवेव देवरम्'–ऐसा आया है, परन्तु इससे विधवा-विवाह या नियोग सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यह मृतपति से सम्बन्धित है, इससे विधवा-विवाह या नियोग सिद्ध करना ठीक नहीं।

तोपजी–नपुंसक का साक्षी मेंढक! जब मनुष्य के उलटे दिन आते हैं तो उसे साक्षी भी बेढंगे ही मिलते हैं, जो सहायता करने की बजाए वादी को कुएँ में धकेल देते हैं। भला! बताइए, आपके साक्षी नरदेव शास्त्री ने विधवा-विवाह अथवा नियोग के विरुद्ध क्या युक्ति दी है कि 'यह मृतपतिका से सम्बन्धित है'? श्रीमन्! मृतपतिका अर्थात् जिसका पति मर गया हो उसी को तो विधवा कहते हैं। केवल इतना लिख देने से विधवा-विवाह और नियोग का खण्डन कैसे हो गया? आपके साक्षी ने इसका क्या खण्डन किया जो मन्त्र में लिखा है कि "पलङ्ग पर विधवा स्त्री देवर का सेवन करती है", और निरुक्त के उस भाष्य का क्या उत्तर दिया कि "देवर दूसरे वर को कहते हैं"। सत्य है डूबता व्यक्ति तिनकों का सहारा लेने का प्रयत्न करता है, परन्तु व्यर्थ!

पोपजी–हम मानते हैं कि पण्डित शिवदत्तजी ने वस्तुतः चार प्रकार की विधवाएँ बताई हैं, परन्तु उनका यह भी मत है कि विधवा-विवाह द्विजों में नहीं किया जा सकता। इन चार प्रकार की विधवाओं में से तीसरे प्रकार की विधवा शूद्रों की ही ली गयी है। शूद्रों में करेवा या चादर उढ़ाना व पुनर्विवाह आदि वैध है। इसका यह अर्थ नहीं कि पण्डितजी चारों वर्णों में विधवा-विवाह मानते थे। उन्होंने निरुक्त में भी मनुस्मृति [९।६४] का प्रमाण देकर स्पष्ट लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोगों की स्त्रियों को दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य विधवा-विवाह करते हैं, वे अधर्म करते हैं। पण्डितजी ने तो लालासाहब के मत का खण्डन ही किया है।

तोपजी–या बेईमानी तेरा ही आश्रय! झूठे पर परमात्मा की धिक्कार! झूठ की भी हद हो गयी! क्या इसी का नाम सनातनधर्म है? यदि यही बात है तो आज नहीं तो कल इसका दिवाला अवश्य निकलेगा। एक व्यक्ति को कुछ समय के लिए धोखे में रक्खा जा सकता है, परन्तु सारी जनता को सदा के लिए धोखे में नहीं रक्खा जा सकता। निरुक्त–दुर्गाचार्य की टीका, पण्डित शिवदत्तजी की टिप्पणीसहित संवत् १९६९ विक्रमी का वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई का मुद्रित हमारे समक्ष है। इसमें पं० शिवदत्तजी ने अपने सारे लेख में न तो मनुस्मृति [९।६४] का उल्लेख किया है और न ही उन्होंने कहीं यह व्याख्या की है कि विधवा-विवाह द्विजों में नहीं किया जा सकता और न ही यह लिखा है कि तीसरे प्रकार की विधवा शूद्रों में से ली-जाती है, और इस लेख का भी चिह्न तक नहीं है कि जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य विधवा-विवाह करते हैं, वे अधर्म करते हैं। पता नहीं पोपजी को यह आकाशवाणी कहाँ से हो गयी? हम पोपजी को डंके की चोट आह्वान करते हैं कि वे अपने उपर्युक्त लेख को इस पुस्तक में से निकालकर दिखाएँ, अन्यथा मुँह काला करके गधे पर सवार होकर शहर के बाजारों की सैर करके इस झूठ बोलने के महापाप का प्रायश्चित्त करें। हम पण्डितजी के लेख को शब्दशः अर्थसहित यहाँ उद्धृत कर देते हैं। देखिए, पण्डितजी क्या लिखते हैं–

एवं चतस्रो गतयो विधवानां प्रतिभान्ति। तत्र पत्यौ प्रेते ब्रह्मचारिणी उत्तमा। ब्रह्मचर्ये स्थातुमसमर्था पतिमनुगच्छन्ती मध्यमा। ब्रह्मचर्यपत्यनुगमनयोरसमर्था पुनर्भूत्वमंगीकुर्वती अधमा। पुनर्भूत्वमप्यनंगीकुर्वती व्यभिचारजातगर्भादिनिःसारयन्ती भ्रूणहत्यादिदोषाधिक्याद् अधमाधमा। एवं चतुर्विधासु विधवागतिषु तिस्रो गतीरुत्तममध्यमाधमा उपदिदेशायं मन्त्रः। न त्वधमाधमगतिं चतुर्थीमिति सर्वमनवद्यम्॥ –निरुक्त ३।१५

अर्थ--इस प्रकार चार प्रकार की विधवाएँ प्रतीत होती हैं। इनमें से पति के मर जाने पर ब्रह्मचारिणी रहना उत्तम है। जो ब्रह्मचारिणी न रह सकती हो, पति के साथ सती हो जाए वह मध्यम है। जो न ब्रह्मचारिणी रह सके और न पति के साथ सती हो सके और पुनर्विवाह कर ले वह अधम है। जो पुनर्विवाह भी न करे अपितु व्यभिचार करे और गर्भ रहने पर गर्भपात करावे, इस प्रकार भ्रूणहत्या आदि पाप अधिक होने के कारण वह अधम से भी अधम है। इस प्रकार विधवाओं के चार प्रकारों में से पहली तीन प्रकारों--उत्तम, मध्यम और अधम का यह मन्त्र उपदेश करता है। चौथी नीच गति का नहीं। यह सब सर्वथा सत्य और पवित्र आज्ञा है।

इस लेख से स्पष्ट सिद्ध है कि पण्डितजी जिस विधवा के लिए ब्रह्मचारिणी रहना और पति के साथ सती हो जाना उत्तम और मध्यम मानते हैं, उसी के लिए ब्रह्मचारिणी न रहने और पति के साथ सती न होने की अवस्था में पुनर्विवाह करना अधम मानते हैं। यदि पोपजी के लेखानुसार तीसरी स्थिति शूद्रों के लिए ही मान ली जाए तो फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य विधवाएँ ब्रह्मचारिणी न रह सकें और न पति के साथ सती हो सकें तो ऐसी स्थिति में आपत्काल में इनके लिए क्या विधान है और चूँकि सनातनधर्म के अनुसार सती होने का विधान ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य स्त्रियों के लिए ही है, अतः सती न होने की अवस्था में पुनर्विवाह का विधान भी इन्हीं के लिए है, अतः पोपजी की यह कल्पना तो सर्वथा निर्मूल है कि तीसरी श्रेणी की विधवा शूद्रों में से ही ली-जाती है।

अब रह गयी अधर्म की बात! पण्डितजी के लेख से यह स्पष्ट है कि प्रथम तीन अवस्थाओं का उपदेश यह वेदमन्त्र करता है। जिस बात की वेद आज्ञा दे वह धर्म है, अतः पोपजी की यह बात भी सोलह आना ग़लत है। हमने पण्डितजी की व्यवस्था उद्धृत करते हुए जो लिखा था कि ब्रह्मचारिणी रहना वैसे कठिन और सती विधानानुसार बन्द। अब दो ही मार्ग विधवाओं के लिए शेष रह जाते हैं कि या तो पुनर्विवाह करवा लें और या व्यभिचार करें, गर्भपात कराएँ, बाजारों में बैठकर पेशा करें, ईसाई-मुसलमानों के घरों को बसाएँ और गोघातक सन्तान पैदा करें। प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति इस बात को स्वीकार करेगा कि दूसरे रास्ते की अपेक्षा पहला पुनर्विवाहवाला मार्ग सहस्रों गुणा उत्तम है। हमारे इस लेख से पोपजी के होश उड़ गये और कोई उत्तर न बन पड़ा। प्रश्न की बेढब चोट से बौखलाकर पागलों की भाँति यूँ बकवास करने लगे।

पोपजी--अब रहा दुराचार का प्रश्न। लाला साहब! दुराचार आपके बताये हुए ग्यारह पतियों से नियोग करने से भी बन्द नहीं हो सकता। इससे तो आपके व्यभिचार की बीमारी और भी अधिक फैल जाएगी। उधर विधवाओं के गर्भ का प्रबन्ध करने की चिन्ता में आप वेदों के विरुद्ध दुराचार करने के लिए समस्त आर्यसमाजियों को शिक्षा देते हैं, परन्तु कन्या महाविद्यालयों और पाठशालाओं की जवान-जवान लड़कियों की ऐसी चेष्टाओं का लाला साहब ने क्या प्रबन्ध किया है? आये दिन हमें ऐसे उदाहरण सुनने से दुःख होता है, परन्तु इसका कोई प्रबन्ध नहीं किया गया। आजकल की सभ्यता ने घर-घर व्यभिचार को बढ़ावा दे रक्खा है, इसका क्या प्रबन्ध करोगे?

तोपजी--ऋषि दयानन्द ने स्पष्ट लिखा है कि स्त्री और पुरुष की सन्तान के लिए समागम की इच्छा स्वाभाविक है, जिसे सिवाय योगी और विद्वानों के प्रत्येक व्यक्ति रोक नहीं सकता। यदि स्त्री और पुरुष को इससे बलात् रोका जाए तो अवश्य ही दुराचार और गर्भपात होंगे, क्योंकि बलात् रुकावट होने के कारण वे छुपकर अपनी स्वाभाविक इच्छा को पूरी करेंगे, परन्तु उन्हें पुनर्विवाह करने की आज्ञा मिल जाए तो फिर इन्हें व्यभिचार

और गर्भपात कराने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, क्योंकि जिसे समागम की स्वाभाविक इच्छा होगी वह दूसरे पति को तुरन्त स्वीकार कर लेगी, और जो इच्छा को रोकना चाहेगी वह प्रसन्नतापूर्वक ब्रह्मचारिणी रह सकेगी, अतः स्त्री को दूसरे पति की आज्ञा देने से व्यभिचार रुकता है और विवाह के बलात् रोकने से व्यभिचार बढ़ता है। दूसरे पति की आज्ञा के पश्चात् भी कोई व्यभिचार करे तो फिर समाज का कोई दोष नहीं, फिर वह दण्ड की भागी होगी। व्यभिचार को बन्द करने और संसार को विधवा-विवाह और नियोग की शिक्षा देने के लिए ही सत्यवती ने दो, माद्री ने दो, कुन्ती ने चार, द्रौपदी ने पाँच, जटला ने सात, वार्क्षी ने दस और दिव्या देवी ने इक्कीस पति पुनर्विवाह और नियोग के द्वारा स्वीकार करके सनातनधर्म की शान को ऊँचा किया। सनातनधर्म के उद्धार के लिए ही बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि, पराशर, अश्विनीकुमार, सूर्य, धर्म, इन्द्र, वायु, प्रचेतस और व्यास आदि-आदि महात्माओं ने अपने ब्रह्मचर्य को बलिदान कर दिया।

आज उनकी अयोग्य, मूर्ख, दुराग्रही और स्वार्थी सन्तानों को पुनर्विवाह और नियोग में व्यभिचार दृष्टिगोचर हो तो इन बेचारों का क्या दोष है! यदि अगस्त्य मुनि के वंश में रावण का होना सम्भव है तो उपर्युक्त ऋषियों और मुनियों के वंश में आप-जैसों का उत्पन्न होना क्या आश्चर्य की बात है, अन्यथा सनातनधर्म की उपर्युक्त पूजनीय माताओं और पूज्य ऋषि-महर्षि से अपने पवित्र आचरण में प्रयुक्त हुआ पुनर्विवाह और नियोग का सिद्धान्त सोलह आने वेदानुकूल और सदाचारसिद्ध धर्म है।

शेष रह गया कन्यामहाविद्यालयों और पाठशालाओं की जवान-जवान लड़कियों की ऐसी चेष्टाएँ कि जिनके उदाहरण सुनने से आपको आये दिन कष्ट होता है, सो ठीक है। आपको सनातनधर्म सभा के अधीन चलनेवाली कन्या पाठशालाओं से इस प्रकार की कुचेष्टाओं की सूचनाएँ मिलती रहती होंगी, जिन्हें सुनकर आपको आये दिन दुःखी होना पड़ता है, अन्यथा आर्यसमाज में तो सुव्यवस्था के कारण न तो इस प्रकार की चेष्टाएँ होती हैं और न सुनने में आती हैं और न ही हमें दुःखी होना पड़ता है और न ही आपने आर्यसमाज से सम्बन्धित ऐसी कोई घटना प्रस्तुत की है। हाँ, सनातनधर्म में इस प्रकार की कुचेष्टाओं का होना परम्परा से चला आता है। सर्वप्रथम ब्रह्मा ने अपनी कुमारी कन्या से भोग का प्रयत्न करके उदाहरण प्रस्तुत किया। इसके पश्चात् दुर्वासा ने सूर्य का बहाना बनाकर कुँवारेपन में ही कुन्ती को गर्भवती कर डाला, जिससे कर्ण पैदा हुआ और इसी सनातनधर्म के मार्ग पर चलते हुए पराशर ने कुमारी सत्यवती में गर्भ धारण करके पुराणों के कर्त्ता व्यास को उत्पन्न किया; परन्तु सनातनधर्म में एक विशेषता है कि ऐसी कुचेष्टा से किसी का कन्यापन नष्ट नहीं होता, अतः आपके दुःख को दूर करने का यही उपाय हो सकता है कि आप सनातनधर्म की समस्त कन्यापाठशालाओं के नाम एक आदेश निकलवा दें कि यदि इन कन्यापाठशालाओं की जवान लड़कियों से कोई ऐसी कुचेष्टा हो जाए तो वे घबराएँ नहीं और न ही गर्भपात कराने का प्रयत्न करें, क्योंकि ऐसी कुचेष्टाओं से सनातनधर्म के दृष्टिकोण से न तो कन्यापन नष्ट होता है और न ही इन बेचारी कन्याओं का कोई अपराध है, क्योंकि सनातनधर्म के दृष्टिकोण से इस प्रकार के गर्भ भोग से नहीं होते, अपितु अनेक बार दृष्टि से, अनेक बार योगशक्ति से और अनेक बार वरदान से ही इस प्रकार के गर्भ ठहर जाया करते हैं। इस प्रकार के गर्भों को धारण करनेवाली लड़कियों को सनातनधर्म के सिद्धान्त का पालन करने के कारण कन्या और महापातक का नाश करनेवाली समझा जाएगा, क्योंकि इन लड़कियों में ऋषि और देवताओं द्वारा अपनी पवित्र शक्ति से ही गर्भाधान हुआ माना जाएगा, अतः घबराने की कोई बात नहीं। उस आदेश

में यह प्रमाण भी लिख दें—

कुन्ती सत्यवती ताराऽहल्या मन्दोदरी तथा। पञ्च कन्या स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्॥

अर्थ—कुन्ती, तारा सत्यवती, अहल्या और मन्दोदरी—इन पाँच कन्याओं को सदा स्मरण करना चाहिए। ये महापातक का नाश करनेवाली हैं।

और अन्त में इस अध्यादेश के नीचे यह टिप्पणी दे दें कि यह अध्यादेश सनातनधर्म पाठशालाओं की समस्त नौजवान-नौजवान लड़कियों को पंक्ति में खड़ा करके ऊँची आवाज़ में सुनाया जावे। बस, इससे उत्तम प्रबन्ध और कोई नहीं हो सकता। तुरन्त अध्यादेश निकालिए, फिर न गर्भपात होंगे और न आपको किसी प्रकार का दुःख उठाना पड़ेगा, क्योंकि सब काम सनातनधर्म की व्यवस्था के अनुसार हो जाएगा।

पाठकवृन्द! हमने "स्त्री को दूसरे पति का अधिकार है" आर्यसमाज के इस सिद्धान्त के समर्थन में वेदों के तीन मन्त्र प्रस्तुत किये थे, जिनपर पोपजी की ओर से किये गये सब प्रश्नों का उत्तर दे दिया है। वेद में इस आधारभूत सिद्धान्त के समर्थन में और भी बहुत-से मन्त्र हैं, हम उदाहरण के रूप में कुछ मन्त्र[१] प्रस्तुत करते हैं—

१. हे मनुष्य! यह स्त्री मरे हुए पति को छोड़कर पुराने धर्म का पालन करती हुई पतिलोक को प्राप्त होने की इच्छा से तेरे पास आती है, तू इसके लिए सन्तान और धन धारण कर। —अथर्व० १८।३।१

२. हे स्त्री! जो तुझे पहला विवाहित पति प्राप्त होता है, उसका नाम सोम है और जो दूसरा पति नियोग से तुझे प्राप्त होता है, उसका नाम गन्धर्व है, जिसके साथ तू तीसरी बार नियोग करती है, उसका नाम अग्नि है। हे स्त्रि! चौथे से लेकर दसवें तक जो तेरे पति हैं, उनका नाम मनुष्य है। —ऋ० १०।८५।४०

३. हे देवर की सेवा करनेवाली! और हे विवाहित पति की सेवा करनेवाली स्त्रि! तू कल्याणकारी गुणोंवाली, घर के कार्यों में नियम और शोभावाली, घर के पशुओं के लिए हितकारिणी, उत्तम तेजवाली सन्तान को पालनेवाली, वीर सन्तान उत्पन्न करनेवाली, नियोग से दूसरे पति की प्राप्ति की इच्छावाली और सुखी होती हुई घर की अग्नि और व्यवहार का सेवन कर। —अथर्व० १४।२।१८

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि हमारा आधारभूत सिद्धान्त सर्वथा वेदानुकूल है।

पोपजी—दूसरे पति को स्वीकार करना आपद्धर्म है। आर्यसमाज विवाह होने पर जिसका पति से समागम नहीं हुआ हो उसका पुनर्विवाह कर देना और जिसका समागम हो चुका है, उसके लिए स्वामी दयानन्दजी ने नियोग का विधान किया है।

तोपजी—निःसन्देह आर्यसमाज वेदों का यह आधारभूत सिद्धान्त मानता है कि स्त्री को दूसरे पति का अधिकार है। इसकी व्याख्या मनुस्मृति में की गयी है। मनुजी महाराज लिखते हैं—

---

१. मूलमन्त्र ये हैं—

१. **इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।**
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥ —अथर्व० १८।३।१

२. **सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।**
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ —ऋ० १०।८५।४०

३. **अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः।**
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य॥ —अथर्व० १४।२।१८

अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि॥ —मनु० ९।५६

अर्थ—इससे आगे में आपत्काल में स्त्रियों के धर्मों का वर्णन करूँगा।

बस, इससे आगे ही पुनर्विवाह और नियोग का मनुस्मृति में विधान किया गया है—इसके अनुसार ही आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्दजी ने उपर्युक्त व्याख्या की है। पुनर्विवाह के सम्बन्ध में मनुस्मृति में लिखा है—

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वेच्छया। उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते॥
सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागताऽपि वा। पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥

—मनु० ९।१७५-१७६

अर्थ—पति से छोड़ी हुई या विधवा अपनी इच्छा से फिर किसी की स्त्री बनकर सन्तान उत्पन्न करे तो वह सन्तान 'पौनर्भव' कहलाती है।

वह यदि अक्षतयोनि (ब्रह्मचारिणी, जिसका पति से समागम न हुआ हो) हो, चाहे पति के घर जाकर वापस भी आई हो, वह दूसरी बार बननेवाले (विधुर) पति के साथ पुनः संस्कार को प्राप्त हो सकती है—पुनः विवाह कर सकती है।

पोपजी—लाला मनसारामजी ने इस प्रमाण में बड़ी चालाकी से काम लिया है। एक श्लोक का तो प्रमाण दिया और दो श्लोकों का अर्थ लिख डाला।

तोपजी—छल से हमने काम नहीं लिया, अपितु छल आप कर रहे हैं कि आगे-पीछे के श्लोकों का बहाना बनाकर जनता को धोखा देना चाहते हैं, अन्यथा जिस श्लोक का हमने प्रमाण दिया है उसमें 'सा' शब्द विद्यमान है, जिसका अर्थ है 'वह'। यह शब्द जिसकी ओर संकेत कर रहा है, उसका बतलाना आवश्यक था कि "जो स्त्री पति ने छोड़ दी हो या विधवा हो गयी हो वह," अन्यथा हमने सारे श्लोक का न अर्थ किया है और न ही उसकी आवश्यकता थी।

पोपजी—लाला साहब के पहले श्लोक का अर्थ यह है कि जो स्त्री विधवा होने पर दूसरे से पुत्र उत्पन्न करती है, वह पुत्र 'पौनर्भव' अर्थात् वर्णसंकर कहलाता है, जिसकी निन्दा मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में स्थान-स्थान पर की गयी है। यदि कोई स्त्री ऐसा अधर्म करती है तो वह धर्म नहीं माना जाता। मनुस्मृति में तो ऐसे पुत्र को पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी ही नहीं माना। देखो मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक १६०।

तोपजी—निःसन्देह जो स्त्री बिना नियम और व्यवस्था के अपनी इच्छा से ही गुपचुप रूप से किसी से सन्तान पैदा कर लेती है, उसका नाम वर्णसंकर है, क्योंकि वह व्यभिचार की सन्तान है और अवैध है। अवैध होने के कारण ही मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों ने इसकी निन्दा की है और इसीलिए ऐसी सन्तान को मनुस्मृति ने सम्पत्ति का अधिकारी स्वीकार नहीं किया।

आपने इस श्लोक का अर्थ करते हुए इन शब्दों को बिल्कुल छोड़ दिया—**'विधवा वा स्वेच्छया'** जो विधवा अपनी इच्छा से और जिस विधवा का नियमानुसार शास्त्रविधि के अनुकूल पुनर्विवाह संस्कार अथवा नियोग सम्पन्न हो जाए। इनमें से जिसका पुनर्विवाह संस्कार हुआ हो, उसकी सन्तान का नाम तो मनुस्मृति [९।१६६][1] के अनुसार औरस पुत्र है और जिसका नियोग हो, उसकी सन्तान का नाम मनुस्मृति [९।१६७][2] के अनुसार क्षेत्रज

मूल श्लोक निम्न हैं—

१. **स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम्। तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम्॥**

२. **यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा। स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः॥**

है और इन दोनों को मनुस्मृति [९।१५९][1] में सम्पत्ति का अधिकारी स्वीकार किया है, अतः पुनर्विवाह वैध और धर्मशास्त्र के अनुकूल है और आपकी कल्पना सर्वथा निर्मूल और ग़लत है।

पोपजी—दूसरे श्लोक में जिसका लाला साहब ने ग़लत प्रमाण दिया है, इसका अर्थ उन्हीं के विरुद्ध है कि जिस स्त्री का पति से समागम नहीं हुआ, यदि वह पति से त्यागी हुई या पति के घर से पति को छोड़कर चली गयी हो, फिर कुछ समय के पश्चात् पति के घर लौट आये, तो पति को उसे स्वीकार कर लेना चाहिए, यदि वह शुद्ध हो तो। लाला साहब! इसमें विधवा-विवाह की चर्चा तक नहीं। इस प्रमाण में तो उस स्त्री को अपनाने का वर्णन है जो किसी कारण से पति के द्वारा त्यागी हुई हो या घर से भाग गयी हो, यदि वह पुनः वापस आ जाए तो शुद्ध चरित्र होने पर उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

तोपजी—इस श्लोक का अर्थ हमारे विरुद्ध नहीं, अपितु हमारे सिद्धान्त का प्रबल समर्थन करता है। हाँ, आपके सिद्धान्त का अवश्य खण्डन करता है, तभी तो आपने मनमाने ग़लत अर्थ करके जनता को धोखे में रखने का प्रयत्न किया है, अन्यथा आपके किये हुए अर्थ इस श्लोक से तीन काल में भी नहीं निकल सकते।

प्रथम तो, इससे पूर्व श्लोक में विधवा शब्द स्पष्टरूप से विद्यमान है, जिसकी ओर यह श्लोक 'सा' शब्द के द्वारा संकेत कर रहा है, जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि इस श्लोक में विधवा का वर्णन है और किसी कारण से पति द्वारा त्यागी हुई अथवा घर से भागी हुई स्त्री किसी भी अवस्था में विधवा नहीं कही जा सकती, अतः आपका अर्थ सर्वथा ग़लत है।

दूसरे, इस श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि **'पौनर्भवेन भर्त्रा'** उस स्त्री का पुनर्विवाह विधुर से होना चाहिए, परन्तु स्त्री के त्याग देने से या स्त्री के भाग जाने से किसी व्यक्ति को विधुर नहीं कहा जा सकता, इसलिए भी आपका अर्थ बिल्कुल ग़लत है।

तीसरे, श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि **'पुनः संस्कारमर्हति'** अर्थात् इस विधवा स्त्री से विधुर पुरुष का पुनर्विवाह या पुनःसंस्कार होना चाहिए। स्त्री को त्यागकर या भागी हुई स्त्री के वापस आ जाने पर दोबारा संस्कार या पुनर्विवाह नहीं किया जा सकता, अतः आपका उपर्युक्त अर्थ बिल्कुल बनावटी, श्लोक के विरुद्ध, मनमाना और बुद्धि तथा तर्क से कोसों दूर है। हमारा अर्थ सर्वथा ठीक, श्लोक के अनुसार और युक्तियुक्त है, क्योंकि हमारे अर्थ का दूसरे पौराणिक ग्रन्थ भी एक स्वर से समर्थन करते हैं। उदाहरण के रूप में—

१. पराशरस्मृति [४।३०] में लिखा है कि—जिस स्त्री का पति खो गया हो, मर गया हो, संन्यासी हो गया हो, नपुंसक हो और पतित हो गया हो—इन पाँच अवस्थाओं में स्त्री दूसरा पति कर सकती है।[2]

२. वसिष्ठस्मृति अध्याय १७ में लिखा है—जिस कन्या का केवल विवाह संस्कार हुआ हो और पति से समागम न हुआ हो तो उसका पुनर्विवाह हो सकता है।[3]

इस प्रकार के कई प्रमाण पं० शिवदत्तजी शास्त्री ने देवर शब्द की व्याख्या में निरुक्त में

मूल श्लोक निम्न हैं—

१. **औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च। गूढोत्पन्नोऽ विद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट्॥**

२. **नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥**

३. **पाणिग्रहे मृते बाला केवलं मन्त्रसंस्कृता। सा चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हति॥**

लिखे हैं।

३. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, अध्याय ८५ में भी जब राजा ने पण्डितों से व्यवस्था माँगी तो उन्होंने यही व्यवस्था दी।

४. भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ३, अध्याय ३१, श्लोक २९ में स्पष्ट लिखा है कि कलियुग में स्त्री ब्रह्मचारिणी नहीं रह सकती, अतः कलियुग में विधवा स्त्री का विवाह हो जाना चाहिए।[1]

इस प्रकार के सैकड़ों प्रमाण पुराणों और स्मृतियों में भरे पड़े हैं, जो हमारे सिद्धान्त का प्रबल समर्थन करते हैं।

पोपजी—जैसे भगवान् रामचन्द्रजी ने भगवती महारानी सीता के त्याग के बाद उनके अग्निपरीक्षा से शुद्ध प्रमाणित होने पर उन्हें पुनः स्वीकार कर लिया था और महाराज नल ने अपनी स्त्री दमयन्ती को पुनः स्वीकार कर लिया था। यह प्रमाण तो लाला साहब के ही पक्ष को गिराता है।

तोपजी—हम सिद्ध कर चुके हैं कि यह प्रमाण हमारे पक्ष का प्रबल समर्थन करता है और आपके पक्ष का तो मलियामेट ही कर देता है। ये दो उदाहरण देकर तो आपने स्वयं ही अपने पैर पर कुल्हाड़ा मार लिया है, क्योंकि रामायण और महाभारत में कहीं भी यह उल्लेख नहीं मिलता कि रामचन्द्रजी ने या नल ने अपनी स्त्री सीता या दमयन्ती के साथ पुनः संस्कार कराया हो। हम पोपजी को चैलेंज देते हैं कि वे रामायण अथवा महाभारत से इस प्रकार का लेख दिखा दें, अन्यथा चुल्लू-भर पानी में नाक डुबोकर प्राण त्याग दें।

पोपजी—महाशयजी! गर्भ ठहरने तक नियोग में स्त्री का सम्बन्ध स्पष्ट व्यभिचार की परम्परा को सिद्ध करता है।

तोपजी—आप यदि व्यभिचार का लक्षण जानते तो उपर्युक्त परम्परा को व्यभिचार कदापि न कहते। सुनिए, हम आपको व्यभिचार का लक्षण बताते हैं। स्त्री और पुरुष का जो सम्बन्ध वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के अनुसार पञ्चायती रीति-रिवाजों को पूर्ण करके स्थिर किया जाता है, वह वैध है; इसके अतिरिक्त जो छिपकर सम्बन्ध किया जाता है, वह व्यभिचार है। चूँकि नियोग वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के अनुसार पञ्चायती रीति-रिवाजों को पूर्ण करके विवाह की भाँति प्रसिद्धि से आचरण में आता है, अतः वह व्यभिचार नहीं, और उसमें एक शर्त यह है कि गर्भ के होने तक ऋतुकाल में केवल एक बार स्त्री-पुरुष समागम कर सकते हैं। देखिए मनुस्मृति [९।७०][2] में स्पष्ट लिखा है—"वह देवर इसे विधिपूर्वक स्वीकार करके श्वेत वस्त्र धारण करनेवाली, पवित्र व्रतवाली उस स्त्री के साथ गर्भ ठहरने तक प्रत्येक ऋतुकाल में एक-एक बार सम्भोग करे।" वेदानुकूल स्मृति के अनुसार होने से यह परम्परा व्यभिचार नहीं कही जा सकती।

पोपजी—गर्भस्थापन करने के लिए कदाचित् कई मास तक व्यभिचार करते-करते दोनों दुराचार के अभ्यस्त हो जाएँगे।

तोपजी—यदि नियोग करनेवाले स्त्री-पुरुष नियोग की शर्तों को तोड़कर अपनी ऐन्द्रिक इच्छओं में फँसकर भोग करें तो वे दोनों पतित हो जाते हैं [मनु० ९।६३][3] और उनकी

---

१. अधमा हि कलौ नारी परपुंसोपभोगिनी। अतस्तु कलिकाले वै विवाहो विधवास्त्रियाः॥
२. यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्। मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ॥
३. नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः। तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ॥

सन्तान अवैध होने के कारण सम्पत्ति की उत्तराधिकारी नहीं बन सकती [मनु० ९।१४४]।[१] अतः नियोग पर उपर्युक्त आक्षेप सर्वथा व्यर्थ और निरर्थक है!

पोपजी—यदि वह स्त्री बाँझ हो तो सम्पूर्ण आयु खुला व्यभिचार कर सकती है।

तोपजी—बलिहारी है इस बुद्धि और मस्तिष्क पर! आपने यह आक्षेप कहीं भंग की तरंग में तो नहीं कर दिया? श्रीमान्! बाँझ को तो ऋतु आता ही नहीं, फिर इसका नियोग होना ही असम्भव है, क्योंकि बाँझ स्त्री पञ्चायत और मुहल्ले की स्त्रियों से छुपी नहीं रह सकती, अतः यह आक्षेप भी वैसा ही व्यर्थ है।

पोपजी—वेश्याओं से छुपकर सम्भोग किया जाता था और धन खर्च होता था, परन्तु स्वामीजी ने इन दुराचारी लोगों के लिए बड़ा उपकार किया है कि पतिव्रतधर्म का नाश करके समस्त स्त्रियों को व्यभिचार के लिए तैयार किया है।

तोपजी—वेश्याओं के साथ सम्भोग में कोई नियम और व्यवस्था नहीं होती और न ही पंचायत से आज्ञा ली जाती है, अतः वह व्यभिचार है। इसीलिए इसमें धन खर्च करना भी पाप है। स्वामी दयानन्दजी महाराज ने वेश्यागमन और दूसरे व्यभिचार को दूर करने का यही वेदानुकूल नियोग का नुस्खा प्रस्तुत किया है, क्योंकि इससे सब दुराचारी पुरुष और स्त्रियाँ नियम और व्यवस्था के अनुकूल पंचायती रीति-रिवाजों को पूर्ण करके व्यभिचार से बच सकते हैं और सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। नियोग से पतिव्रतधर्म का नाश नहीं होता, क्योंकि वह स्त्री अपने पति के नाम को संसार में स्थिर रखने के लिए नियोग के द्वारा अपने पति की स्थानापन्न सन्तान उत्पन्न करती है।

हाँ, सनातनधर्म अवश्य वेश्यागमन और पतिव्रता स्त्रियों को व्यभिचार की शिक्षा देता है। भविष्यपुराण, उत्तरपर्व, अध्याय १११ में वेश्याओं के लिए आज्ञा है कि वे रविवार के दिन ब्राह्मणों को निःशुल्क खुली छुट्टी कर दें, इससे वे विष्णुलोक को प्राप्त हो जाएँगी। भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ३, अध्याय २८, श्लोक ४६ में लिखा है कि विश्वामित्र और ऋष्यशृंग ने वेश्यागमन किया और वे नरक में नहीं गये। अत्रिस्मृति श्लोक १९० में लिखा है कि "नारी यारी करने से नहीं बिगड़ती और ब्राह्मण वेद का कार्य करने से नहीं बिगड़ता। फिर श्लोक १९१ से १९३ तक लिखा है कि जिस स्त्री को अन्य वर्ण के पुरुष से गर्भ हो जाए, वह स्त्री तब तक अशुद्ध रहती है, जब तक गर्भ बाहर न आये। गर्भ के बाहर आने और पुनः ऋतु आने से वह शुद्ध हो जाती है। ब्रह्मवैवर्तपुराण, खण्ड ४, अध्याय २४, श्लोक २८ में लिखा है कि एकान्त में आई हुई कामातुर कञ्जरी या दुराचारिणी स्त्री को जो जितेन्द्रिय बनकर धर्म के डर से छोड़ देता है, वह नरक में जाता है।

इस प्रकार के सैकड़ों प्रमाण दिये जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि सनातनधर्म ने दुराचारियों को दुराचार की खुली छूट दे रक्खी है।

पोपजी—महाशयजी! नियोग में केवल गर्भ ठहरने तक स्त्री का पुरुष के साथ सम्बन्ध निश्चित करके आपने इस्लामवालों के 'मतअ' को भी मात कर दिया।

तोपजी—आपकी मोटी बुद्धि नियोग और 'मतअ' में भी अन्तर नहीं कर सकी, यह बात खेदजनक है। श्रीमन्! 'मतअ' उसे कहते हैं जिसमें कुछ रुपयों के बदले में कुछ समय के लिए किसी पुरुष-स्त्री को पति-पत्नी बना दिया जाए। इसमें गर्भ ठहरने या न ठहरने की कोई शर्त नहीं होती और इसमें यह नियम भी नहीं होता कि प्रत्येक ऋतु में केवल एक ही बार समागम किया जाए, क्योंकि 'मतअ' का उद्देश्य केवल ऐन्द्रिक

---

१. **नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातोऽविधानतः। नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः॥**

इच्छाओं की पूर्ति ही होता है, अतः नियोग की 'मतअ' से उपमा देना केवल अज्ञान है। हाँ, सनातनधर्म में इस प्रकार के उदाहरण मिल सकते हैं जिनकी उपमा 'मतअ' से दी जा सकती है, अपितु कोई-कोई तो 'मतअ' से भी गयी-बीती हैं।

महाभारत आदिपर्व [१०५।२] में लिखा है कि भीष्म ने सत्यवती को यह उपदेश किया कि 'किसी गुणवान् ब्राह्मण को धन देकर बुलाया जाए जो आकर विचित्रवीर्य की स्त्रियों में सन्तान उत्पन्न करे।'

भविष्पुराण प्रतिसगपर्व ३, खण्ड १, अध्याय ३३ में लिखा है कि 'त्रिपाठी की स्त्री कामिनी ने पाँच रुपये देकर एक लकड़हारे से भोग कर लिया, जिससे व्याधकर्मा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।'

शिवपुराण शतरुद्रसंहिता, अध्याय २६ में लिखा है कि 'महादेवजी ने वैश्य का रूप धारण करके हाथों के कंगन के बदले महानन्दा नामक कंजरी को तीन दिन के लिए धर्म-पत्नी बनाया।'

श्रीमन्! इस प्रकार की सभ्यता और सदाचार से गिरी हुई वेदविरुद्ध बातें सनातनधर्म में ही मिल सकती हैं, आर्यसमाज में नहीं।

पोपजी—लाला साहब के दिये हुए सब प्रमाण पूर्वपक्ष के हैं, अर्थात् प्रत्येक शास्त्र में पहले किसी बात को उठाया जाता है और फिर उसका उत्तर दिया जाता है, जैसे सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी स्वयं ही प्रश्न करते हैं, फिर उत्तर देते हैं।

तोपजी—निःसन्देह पुस्तकों में प्रश्न-उत्तर के रूप में कई बातों का वर्णन आता है, परन्तु प्रश्नोत्तर के रूप में किसी बात का वर्णन आने के पश्चात् फिर उस ग्रन्थ का वही सिद्धान्त निश्चित हो जाता है जो उत्तर के रूप में लिखा गया हो, परन्तु पुस्तक में आगे चलकर पुनः प्रश्न के रूप में लिखित सिद्धान्त का प्रबल समर्थन हो तो फिर वह लेख प्रश्नोत्तर के रूप में नहीं माना जाएगा, अपितु वह किसी और रूप में मानना पड़ेगा। उदाहरण के रूप में स्वामीजी सत्यार्थप्रकाश में यदि पहले प्रश्न के रूप में लिखते हैं कि मूर्त्तिपूजा करनी चाहिए और बाद में उसके उत्तर में मूर्त्तिपूजा का खण्डन करते हैं, ऐसी अवस्था में यह निश्चय हो गया कि सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ का सिद्धान्त मूर्त्तिपूजा-खण्डन का है। ऐसी अवस्था में यदि कोई व्यक्ति केवल प्रश्न को लेकर यह सिद्ध करना चाहे कि स्वामीजी मूर्त्तिपूजा को मानते थे तो उसकी मूर्खता होगी, परन्तु स्वामी दयानन्दजी यदि सत्यार्थप्रकाश में इस प्रश्नोत्तर के रूप में लिखे लेख के पश्चात् यह लिखें कि "मन्दिर इस प्रकार का बनना चाहिए, मूर्त्ति इस प्रकार की होनी चाहिए और इस प्रकार का पुजारी नियत करना चाहिए और मूर्त्ति को इस प्रकार से पूजना चाहिए और इस प्रकार का व्यक्ति इस प्रकार से मूर्त्ति की पूजा कर सकता है" तो फिर पहले लेख को प्रश्नोत्तर नहीं माना जा सकता, अपितु दोनों लेखों में से एक को प्रक्षेप मानना पड़ेगा। यही बात मनुस्मृति में नियोग प्रकरण की है।

मनुस्मृति के नवें अध्याय में पहले तो पाँच श्लोकों में नियोग की आज्ञा दी है और फिर पाँच श्लोकों में इसका खण्डन किया है। यदि केवल इतना ही लेख मनुस्मृति में होता तो हम इसे प्रश्नोत्तर के रूप में स्वीकार कर लेते और यह भी स्वीकार कर लेते कि मनुस्मृति का सिद्धान्त नियोग के खण्डन में है, परन्तु मनुस्मृति में आगे चलकर लिखा है कि जो सन्तान नियोग द्वारा उत्पन्न की जाए उसका नाम क्षेत्रज है और वह सम्पत्ति की उत्तराधिकारी है। ऐसी स्थिति में मनुस्मृति के पहले लेख को प्रश्नोत्तर के रूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता है? प्रत्येक स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि दोनों लेखों में से

एक लेख प्रक्षिप्त है। कौन-सा लेख मिलावटी है, इस बात का निर्णय वेदों से ही किया जा सकता है। चूँकि वेद स्त्री को दूसरे पति का अधिकार देते हैं, अतः मनुस्मृति में नियोग के खण्डन के श्लोक वेदविरुद्ध होने से प्रक्षेप ही मानने पड़ेंगे। हम मनुस्मृति का वह प्रकरण शब्दशः नीचे उद्धृत कर देते हैं, जिससे जनता को समझने में सरलता रहे—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया। प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥५९॥
विधवायां नियुक्तस्तु वाग्यतो निशि। एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन॥६०॥
द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः। अनिर्वृत्तं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः॥६१॥
विधवायां नियोगार्थे निवृत्ते तु यथाविधि। गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम्॥६२॥
नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः। तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ॥६३॥

अर्थ—सन्तान के क्षय होने पर [अभाव में] सन्तान की इच्छा से स्त्री को वृद्धों की आज्ञा से देवर से या ऐसे व्यक्ति से जो पति के कुल में छह पीढ़ियों तक मिलता हो, नियोग करना चाहिए।

विधवा स्त्री से नियोग करनेवाले को उचित है कि वह अपने शरीर पर घी लगाकर, मौन होकर रात्रि में सम्भोग करके एक ही पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा पुत्र कदापि उत्पन्न न करे।

नियोग-विधि के ज्ञाता कुछ विद्वान् स्त्रियों में दूसरा पुत्र उत्पन्न करना मानते हैं कि वे दोनों धर्म से नियोग करके छोड़ने से पूर्व दूसरा पुत्र उत्पन्न कर लें।

विधि-अनुसार विधवा में नियोग का उद्देश्य पूरा हो जाने पर स्त्री और पुरुष दोनों आपस में ऐसा व्यवहार करें जैसे पुत्र की स्त्री के साथ श्वसुर का व्यवहार होता है।

जो नियोग करनेवाले दोनों विधि को छोड़कर काम के वशीभूत होकर सम्भोग करें तो वे दोनों पतित हो जाते हैं। उन दोनों को ऐसा समझना चाहिए कि जैसे कोई पुत्र की स्त्री या गुरु-पत्नी से समागम करनेवाले हों।

ये पाँचों श्लोक नियोग की आज्ञा देते हैं। इनसे आगे—

नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः। अन्यस्मिन्हि युञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनः॥६४॥
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्। न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥६५॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः। मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥६६॥
स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा। वर्णानां संगरं चक्रे कामोपहतचेतनः॥६७॥
ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम्। नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः॥६८॥

—मनु० ९।६४-६८

अर्थ—द्विजों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य] को अपनी स्त्री के साथ दूसरे का नियोग नहीं करवाना चाहिए; जो अपनी स्त्री का दूसरे के साथ नियोग कराते हैं, वे सनातनधर्म का हनन करते हैं।

विवाह के मन्त्रों में कहीं भी नियोग का वर्णन नहीं है और विवाह की विधि में विधवा का पुनः विवाह करना भी कहीं नहीं लिखा।

राजा वेन के शासनकाल में मनुष्यों के लिए आरम्भ किया गया यह नियोग विद्वान् ब्राह्मणों ने पशुधर्म और निन्दित बताया है।

प्राचीनकाल में श्रेष्ठ राजर्षि वेन ने सम्पूर्ण पृथिवी को भोगते हुए काम के वशीभूत होकर सबको वर्णसंकर बना डाला।

उससे [राजा वेन से] लेकर जो कोई अज्ञान से विधवा स्त्री का सन्तान के लिए

पर-पुरुष से नियोग कराता है, उसकी महात्मा लोग निन्दा करते हैं।

ये पाँच श्लोक नियोग का खण्डन करते हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ चार पक्ष हो सकते हैं--

१. पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष, २. उत्सर्ग-अपवाद, ३. विकल्प, ४. प्रक्षिप्त।

१. **पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष** उसे कहते हैं कि पहले विरोधी पक्ष को अपनी ओर से ही स्थापित करके पुनः उसका प्रबल खण्डन करके अपना सिद्धान्त दृढ़ता के साथ प्रतिपादित कर दिया जाए। यदि उपर्युक्त श्लोकों को पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष, अर्थात् प्रश्नोत्तर के रूप में मान लिया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि मनुस्मृति का सिद्धान्त नियोग के खण्डन में है, परन्तु यह बात मनुस्मृति से सिद्ध नहीं होती, क्योंकि आगे चलकर नियोग की पुनः आज्ञा देकर उससे उत्पन्न सन्तान को वैध मानकर सम्पत्ति का अधिकारी स्वीकार किया गया है। तनिक मनुस्मृति का अवलोकन कीजिए--

यवीयाञ्ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि। समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः॥१२०॥
हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः। क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः॥१४५॥
धनं यो बिभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च। सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम्॥१४६॥
यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ। यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद् गृह्णीत नेतरः॥१६२॥
औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च। गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट्॥१५९॥
यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा। स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः॥१६७॥

--मनु० ९।१२०, १४५, १४६, १५९, १६२, १६७

अर्थ--यदि छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री में नियोग से सन्तान उत्पन्न करे तो वह समान भाग का अधिकारी होता है, यह धर्म की व्यवस्था है।

नियोग करनेवाली स्त्री में उत्पन्न हुआ पुत्र औरस पुत्र की भाँति पितृधन का भागी होता है, क्योंकि वह क्षेत्रवाले का ही बीज माना जाता है और वह धर्म से उत्पन्न हुआ है।

जो मरे हुए भाई की स्त्री और धन को ग्रहण करे, वह भाई के लिए सन्तान उत्पन्न करके उस भाई का धन उस पुत्र को दे दे।

यदि औरस और क्षेत्रज पुत्र एक ही सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हों तो जो जिसकी पैतृक सम्पत्ति हो वह उसे ग्रहण करे, दूसरा नहीं।

औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न और अपविद्ध--ये छह प्रकार के पुत्र पितृ-धन के अधिकारी और बान्धव कहलाने योग्य होते हैं।

यदि किसी स्त्री का पति मर जाए या किसी का पति नपुंसक हो अथवा किसी का पति असाध्य रोग से पीड़ित हो--ऐसे पति की स्त्री यदि धर्म की मर्यादा के अनुसार नियोग करके जो सन्तान उत्पन्न करे वह पुत्र चूँकि पहले पति के पलङ्ग पर हुआ है, अतः वह उसका 'क्षेत्रज' पुत्र कहलाता है।

चूँकि मनुस्मृति का यह लेख नियोग की सन्तान को वैध स्वीकार करके उसे सम्पत्ति का भागीदार मानता है, अतः पहले लेख को पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष अर्थात् प्रश्नोत्तर के ढंग का लेख नहीं माना जा सकता।

२. **उत्सर्ग-अपवाद**--उसे कहते हैं कि एक बात के लिए सर्वसाधारण को आज्ञा देकर फिर कुछ को इससे मुक्त कर दिया जाए तो वह आज्ञा रद्द [निरस्त] नहीं मानी जाती, अपितु विशेष व्यक्तियों को इसके विशेष अंश से मुक्त कर दिया जाता है। यदि इस विवादास्पद लेख को उत्सर्ग-अपवाद स्वीकार किया जाए, तो भी सिद्धान्त में कोई हानि

नहीं पड़ती, क्योंकि श्लोक कहता है कि 'द्विजों को अपनी स्त्री का नियोग दूसरे से नहीं कराना चाहिए' और पूर्वश्लोक में व्यापक सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि 'नियोग देवर से या सपिण्ड से होना चाहिए।' इन दोनों को मिलाकर उत्सर्ग-अपवाद न्याय से यही अर्थ लग सकता है कि द्विजों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों] को दूसरे अर्थात् ऐसे व्यक्ति से जोकि देवर या सपिण्ड न हो या हीन वर्ण का हो, नियोग नहीं करना चाहिए। इस उत्सर्ग-उपवाद-न्याय को मानने से नियोग का सर्वथा निषेध नहीं होता, अपितु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यस्त्रियों को हीन वर्ण के पुरुषों से नियोग करने का खण्डन सिद्ध होता है। कुल्लूकभट्ट टीकाकार ने भी इसे उत्सर्ग-अपवाद मानकर यह परिणाम निकाला है कि कलियुग नियोग के लिए निषिद्ध है। जैसाकि—

अयं च स्वोक्तनियोगनिषेधः कलियुगविषयः। 'उक्तो नियोगो मुनिना निषिद्धः स्वयमेव तु। युगक्रमादशक्योऽयं कर्तुमन्यैर्विधानतः। तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः। द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता। अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः। न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः।' अतो यद् गोविन्दराजेन **युगविशेषव्यवस्थामज्ञात्वा सर्वदैव सन्तानाभावे नियोगादनियोगपक्षः श्रेयानिति स्वमनीषया कल्पितं तन्मुनिव्याख्याविरोधान्नाद्रियामहे। 'प्रायशो मनुवाक्येषु मुनिव्याख्यातमेव हि। नापराध्योऽस्मि विदुषां क्वाहं सर्वविदः कुधीः'।** —मनु० ९।६८

अर्थ—यह अपने कथन का खण्डन कलियुग के विषय में है, अर्थात् कलियुग में नियोग करना निषिद्ध है। पहले मुनि ने [महर्षि मनु ने] आज्ञा दी और फिर स्वयं ही खण्डन कर दिया। इसका कारण यह है कि युग के क्रम से सर्वसाधारण से यह विधिपूर्वक करना कठिन है। सत्ययुग और त्रेता में लोग तप और ज्ञान से युक्त थे। द्वापर और कलियुग में लोगों की शक्ति क्षीण हो गयी। प्राचीन ऋषियों ने अनेक प्रकार से पुत्र उत्पन्न किये हैं, परन्तु इस समय के शक्तिहीन पुरुष नहीं कर सकते, अतः गोविन्दराज ने युगविशेष की व्यवस्था को न जानकर सन्तान के अभाव में सदा ही नियोग करने से न करना उत्तम है, यह अपनी बुद्धि से कल्पित किया है। वह क्योंकि मनुजी की व्याख्या के विरुद्ध है, अतः हम उसका आदर नहीं करते। प्रायः मनुजी के वचनों में मुनियों का व्याख्यान ही प्रामाणिक हो सकता है। मैं विद्वानों का अपराधी नहीं हूँ, क्योंकि मैं कोई सर्वज्ञ नहीं हूँ।

इसी बात का समर्थन ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४, अध्याय ११५, श्लोक ११२-११३ में किया गया है—

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पैलपैतृकम् ॥११२॥
देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥११३॥

अर्थ—घोड़े को मारकर यज्ञ में होम करना, गौ को मारकर यज्ञ में होम करना, संन्यास लेना, श्राद्ध में मांस का पिण्ड देना और देवर से नियोग करके पुत्र उत्पन्न करना—ये पाँच काम कलियुग में निषिद्ध हैं।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि ये पाँचों कार्य पहले तीनों युगों में वैध हैं। यह सनातनधर्म का सिद्धान्त है। हमारे विचार में यह व्यर्थ की बात है, क्योंकि उपर्युक्त पाँच बातें यदि धर्म में हैं तो कलियुग में इनका निषेध क्यों? और यदि ये पाप हैं तो पहले तीन युगों में इनकी आज्ञा क्यों? अतः उत्सर्ग-अपवाद-न्याय भी यहाँ लगाना उचित प्रतीत नहीं होता।

३. **विकल्प**—उसे कहते हैं जिसका करना अपनी इच्छा पर निर्भर हो, जिसके करने में पाप और न करने में धर्म भी न हो। किसी की इच्छा हो करे, किसी की इच्छा न हो

न करे। यदि मनुस्मृति के इस विवादग्रस्त प्रकरण को विकल्प-न्याय में लगा लें, तो भी हमारे सिद्धान्त की कोई हानि नहीं है, क्योंकि हम स्वयं मानते हैं कि पति के मरने पर यदि कोई स्त्री ब्रह्मचारिणी रहना चाहे तो बहुत ही उत्तम बात है और यदि ब्रह्मचारिणी न रह सके तो पुनर्विवाह या नियोग कर ले।

४. **प्रक्षिप्त**--उसे कहते हैं जिसे बाद में किसी ने पुस्तक में मिला दिया हो। दोनों प्रकार के श्लोकों में से कौन-से श्लोक प्रक्षिप्त हैं, इसका निर्णय वेदभगवान् ही कर सकते हैं। चूँकि वेद में स्त्री को दूसरे पति का अधिकार स्पष्ट कथन किया गया है, अतः नियोग-खण्डन के श्लोक प्रक्षिप्त स्वीकार करने पड़ते हैं। इस स्थिति में भी हमारे सिद्धान्त की कोई हानि नहीं है। हमारे विचार में ये खण्डन-पक्ष के श्लोक निश्चय ही प्रक्षिप्त हैं। प्रथम तो ये वेद की शिक्षा के विरुद्ध हैं। दूसरे, इनमें जो नियोग-खण्डन के कारण दिये गये हैं, वे सर्वथा झूठे और व्यर्थ हैं।

१. नियोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिए नहीं--यह पक्ष बिल्कुल ग़लत है, क्योंकि शूद्र लोग नियोग के नियम और व्यवस्थाओं का पालन कर ही नहीं सकते। नियोग की शर्तों का पूरा करना विद्वान्, सदाचारी, ज्ञानी और जितेन्द्रिय लोगों का ही काम है, बिना पढ़े-लिखे शूद्रों का काम नहीं है, इसलिए नियोग के उदाहरण भी व्यास आदि ब्राह्मणों के ही मिलते हैं, शूद्रों के नियोग का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

२. नियोग से सनातनधर्म की हानि होती है--यह पक्ष भी सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि शास्त्रों ने नियोग को धर्म बतलाया है--

धर्मं पुराणमनुपालयन्ती। --अथर्व० १८।३।१

अर्थ--नियोग करनेवाली सनातनधर्म का पालन करती है।

व्यासजी कहते हैं--

दृष्टं ह्येतत् सनातनम्। --महा० आदि० १०५।३६

अर्थ--यह सनातनधर्म है।

इस प्रकार के सैकड़ों प्रमाण हैं जिनमें नियोग का प्रतिपादन किया गया है।

३. विवाह के मन्त्रों में नियोग का वर्णन नहीं, ४. विवाह की विधि में विधवा का दोबारा विवाह नहीं लिखा। भला! यह भी कोई युक्ति है? चूँकि विवाह के मन्त्रों में नियोग और विधवा-विवाह का वर्णन नहीं है, अतः नियोग या विधवा-विवाह ठीक नहीं है। प्रथम तो नियोग या विधवा-विवाह का यदि विवाह के मन्त्रों में कथन न भी हो तो इससे सिद्धान्त की कोई हानि नहीं है, क्योंकि आदर्श रीति-रिवाजों को पूर्ण करते हुए आपत्काल के धर्म का वर्णन आना कोई आवश्यक बात नहीं है। दूसरे, इस युक्ति को एक मिनट के लिए मान भी लिया जाए तो भी ठीक नहीं, क्योंकि विवाह की विधि में अथर्ववेद [१४।२।१८] में देवृकामा पाठ आता है, जिसका अर्थ है तू देवर की कामना करनेवाली हो। देवार का अर्थ दूसरा पति है, अतः यह युक्ति भी ग़लत है।

५. यह पशुधर्म है, विद्वान् इसकी निन्दा करते हैं--यह भी ग़लत है, क्योंकि महाभारत आदिपर्व अध्याय १०३ से १०५ तक में सत्यवती, भीष्म, व्यास आदि ने इसे धर्म बताया है।

६. यह राजा वेन ने चलाया है। मनुजी महाराज सृष्टि के आदि में हुए और राजा वेन बाद में पैदा हुआ है। राजा वेन का वर्णन ही इन श्लोकों को प्रक्षिप्त सिद्ध करने में बहुत बड़ा प्रमाण है।

७. राजा वेन के पश्चात् जिसने नियोग किया, साधु पुरुष उसकी निन्दा करते हैं--यह

भी तथ्यों के विरुद्ध है। अम्बिका, अम्बालिका और दासी का नियोग व्यास से, कुन्ती का धर्म, वायु और इन्द्र से, माद्री का अश्विनीकुमारों से, राजा बलि की पत्नी सुदेष्णा का दीर्घतमा ऋषि से--सारांश यह कि बीसियों नियोग हुए हैं, परन्तु इनकी निन्दा कहीं भी नहीं की गयी।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि खण्डनपक्ष के श्लोक वेद-विरुद्ध और युक्तिशून्य हैं, अतः ये प्रक्षिप्त हैं और मनुस्मृति का सिद्धान्त नियोग करने के पक्ष में है।

पोपजी--इस प्रकार भगवान् मनु ने ये श्लोक पूर्वपक्ष अर्थात् प्रश्नोत्तर के रूप में लिखे हैं और बाद में इन छह श्लोकों के उत्तर में इसी अध्याय के ६५-६६ श्लोकों में लिखा है कि विवाह के मन्त्रों में कहीं भी नियोग की आज्ञा नहीं दी, आदि-आदि।

तोपजी--बलिहारी जाएँ इस समाधान के! श्रीमन्! उत्तर प्रश्नों के पश्चात् होता है या पहले? हमने प्रथम प्रकार के नियोग को सिद्ध करने के लिए मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक १२०, १४५, १४६ भी दिये हैं, जिनको आपने भी उद्धृत किया है और आपके उत्तरवाले श्लोकों की संख्या आपके ही लिखे अनुसार ६५ और ६६ हैं, तो कृपा करके न्यायपूर्वक बतलाएँ कि यहाँ प्रश्न-उत्तर का रूप कैसे बन सकता है? हाँ, जहाँ पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की कल्पना की जा सकती है, वे श्लोक नवम अध्याय के ५९ से ६८ तक हैं और उनके सम्बन्ध में भी हम सिद्ध कर चुके हैं कि यहाँ प्रश्नोत्तर के रूप का लेख नहीं माना जा सकता, क्योंकि आगे चलकर मनुजी ने हमारे द्वारा उद्धृत श्लोक १२०, १४५, १४६ में नियोग को वैध ठहराकर नियोग से उत्पन्न सन्तान को सम्पत्ति का अधिकारी माना है, अतः आपका प्रश्नोत्तर की कल्पना करके पीछा छुड़ाने का यत्न व्यर्थ ही है।

पोपजी--लाला साहब! आपके नियोग के प्रथम प्रकार के मनुस्मृति के सारे प्रमाण व्यर्थ निकले।

तोपजी--नियोग का प्रथम प्रकार अर्थात् पति के मरने पर सन्तान की इच्छा से नियोग करने के सम्बन्ध में हमारे द्वारा प्रस्तुत किये हुए मनुस्मृति के सारे प्रमाण बिल्कुल ठीक हैं और मनुजी महाराज नियोग के पक्ष में हैं।

पोपजी--आप कृपा करके नियोग के प्रकारों को वेद से सिद्ध करें, आपकी मनमानी धोखेबाजी नहीं चल सकेगी।

तोपजी--वेदों से विवरण को सिद्ध करने की माँग करना ही प्रथम कोटि की मूर्खता है। हम इस बात को सिद्ध कर चुके हैं कि वेदों में प्रत्येक सिद्धान्त का बीज होता है, उसकी व्याख्या स्मृतियाँ किया करती हैं। इस सिद्धान्त को आपने भी अपनी पुस्तक के पृष्ठ ६६ पंक्ति २० में स्वीकार किया है। वेदों में नियोग और पुनर्विवाह का आधारभूत सिद्धान्त कथन किया गया है कि स्त्री को दूसरे पति का अधिकार है। आपकी वेदों से व्याख्या माँगकर जनता को भ्रम में डालने की मनमानी धोखेबाजी न चल सकेगी।

पोपजी--अब रहा व्यासजी का नियोग अम्बिका, अम्बालिका और दासी से। यह तो कोरा झूठ है। महाभारत आदिपर्व अध्याय १०२ से १०६ तक देखिए, वहाँ स्पष्ट लिखा है कि सत्यवती की प्रार्थना पर भगवान् वेदव्यासजी ने दृष्टिमात्र से धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुरजी--तीनों को उत्पन्न किया था। व्यासजी ने इनमें से न ही किसी के साथ भोग किया और न ही कहीं इनके नियोग का वर्णन है।

तोपजी--झूठ बोलना और लिखना हमारा काम नहीं, यह सनातनधर्म को ही मुबारक रहे जो पग-पग पर झूठ और छल-कपट से पौराणिक सनातनधर्म को बचाने का प्रयत्न कर रहा है। उदाहरण के रूप में इसी विषय को देख लें कि महाभारत के आदिपर्व अध्याय १०२ से १०६ तक में कहीं भी दृष्टि से किसी के उत्पन्न होने की चर्चा तक नहीं है,

अपितु स्पष्ट शब्दों में व्यासजी का अम्बिका, अम्बालिका और दासी के साथ समागम करने का वर्णन है। देखिए, महाभारत आदिपर्व अध्याय १०६ में किस प्रकार स्पष्टरूप से समागम करने का वर्णन है—

ततः सत्यवती काले वधूं स्नातामृतौ तदा। संवेशयन्ती शयने शनैर्वचनमब्रवीत्॥१॥
कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वानुप्रवेक्ष्यति। अप्रमत्ता प्रतीक्षैनं निशीथे ह्यागमिष्यति॥२॥
श्वश्र्वस्तद्वचनं श्रुत्वा शयाना शयने शुभे। सा चिन्तयत्तदा भीष्ममन्यांश्च कुरुपुंगवान्॥३॥
ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः। दीप्यमानेषु दीपेषु शरणं प्रविवेश ह॥४॥
तस्य कृष्णस्य कपिलां जटां दीप्ते च लोचने। बभ्रूणि चैव श्मश्रूणि दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत्॥५॥
सम्बभूव तया सार्धं मातुः प्रियचिकीर्षया। भयात्काशिसुता तं तु नाशक्नोदभिवीक्षितुम्॥६॥

—[गीताप्रेस सं० में] महा० आदि० १०५।१-६

अर्थ—तत्पश्चात् ठीक समय पर सत्यवती अपनी ऋतुस्नाता पुत्रवधू को शयनागार में ले-जाते हुए धीरे से बोली—

हे कौसल्ये! आज आधी रात के समय तेरा ज्येष्ठ तेरे पास आएगा, अतः तू जागती हुई उसकी बाट देखना।

सास के ऐसे वचन सुनकर सुन्दर शय्या पर सोते हुए कौसल्या ने भीष्म और कुरुवंश के श्रेष्ठ पुरुषों का चिन्तन शुरू किया [क्योंकि गर्भ-समय में स्त्री जैसे पुरुष का ध्यान करती है, वैसा ही पुत्र होता है]।

उसके पश्चात् सत्यवादी व्यासमुनि अम्बिका के सोने के स्थान में गये। उस समय वहाँ बहुत-से दीपक प्रकाशित हो रहे थे।

व्यासजी के शरीर का रंग काला था, उनकी जटाएँ पिंगल वर्ण की और आँखें चमक रही थीं। उनकी दाढ़ी-मूँछ भूरे रंग की दिखायी देती थीं। उन्हें देखकर कौसल्या ने भय के कारण अपने नेत्र बन्द कर लिये।

माता का प्रिय करने की इच्छा से व्यासजी ने उसके साथ समागम किया, परन्तु काशिराज की कन्या भय के कारण उनकी ओर अच्छी प्रकार देख न सकी।

पुनरेव तु सा देवी परिभाष्य स्नुषां ततः॥१३॥
ऋषिमावाहयत् सत्या यथापूर्वमरिन्दम। ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत॥१४॥
अम्बालिकामथाभ्यागादृषिं दृष्ट्वा च सापि तम्। विवर्णा पाण्डुसंकाशा समपद्यत भारत॥१५॥

—[गीताप्रेस में अ० १०५] महाभारत आदि० १०६।१३-१५

अर्थ—हे शत्रुओं का दमन करनेवाले जनमेजय! सत्यवती ने अपने पुत्र की दूसरी वधू को भी समझा-बुझाकर गर्भाधान के लिए तैयार किया और फिर महर्षि व्यास का आह्वान किया। व्यासजी पहले की भाँति वहाँ आकर महल में गये और उससे समागम किया। हे भारत! उस मुनि को देखकर अम्बालिका का तेज उड़ गया और वह पीली पड़ गयी।

ऋतुकाले ततो ज्येष्ठां वधूं तस्यै न्ययोजयत्॥२२॥
सा तु रूपं च गन्धं महर्षेः प्रविचिन्त्य तम्। नाकरोद्वचनं देव्या भयात्सुरसुतोपमा॥२३॥
ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम्। प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता॥२४॥
सा तमृषिमनुप्राप्तं प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च। संविवेशाभ्यनुज्ञाता सत्कृत्योपचचार ह॥२५॥
कामोपभोगेन रहस्तस्यां तुष्टिमगादृषिः। तया सहोषितो राजन् महर्षिः संशितव्रतः॥२६॥

उत्तिष्ठन्नब्रवीदेनामभुजिष्या भविष्यसि। अयं च ते शुभे गर्भः श्रेयानुदरमागतः। धर्मात्मा भविता लोके सर्वबुद्धिमतां वरः॥२७॥

—[गीताप्रेस में अध्याय १०५] महा० आदि० १०६।२२-२७

अर्थ—इसके पश्चात् ऋतुकाल आने पर सत्यवती ने अपनी बड़ी बहू अम्बिका को पुनः व्यासजी के पास भेजना चाहा॥२२॥

परन्तु वह व्यासजी के विकराल रूप और गन्ध को देखकर भयभीत हो गयी थी, अतः देवकन्या के समान उस काशिराज की पुत्री ने भय के कारण अपनी सास का कहना नहीं माना और अप्सरा के समान अपनी दासी को अपने आभूषणों से अलंकृत करके व्यासजी के पास भेज दिया॥२३-२४॥

उस दासी ने व्यासजी को आते हुए देख उनके सामने जाकर उनका अभिवादन किया और भले प्रकार आदर-सत्कार करके उन्हें आसन दिया तथा सत्कार करने के पश्चात् उनकी सेवा करने लगी। इसके पश्चात् व्यासजी ने आज्ञा दी, तब वह उनके साथ चारपाई पर सोई॥२५॥

इस दासी के साथ एकान्त में काम-भोग करते हुए मुनि प्रसन्न हुए और अखण्ड व्रतवाले महर्षि थोड़ी देर उस दासी के साथ बैठे॥२६॥

उठते समय वे कहने लगे—हे स्त्रि! अब तुझे किसी का दासीपना नहीं करना पड़ेगा। हे शुभस्त्रि! तेरे उदर में जो यह सुन्दर गर्भ रहा है, यह धर्मात्मा तथा सब बुद्धिमानों में श्रेष्ठ होगा॥२७॥ —टीकाकार पं० रामस्वरूप शर्मा, सम्पादक सनातनधर्मपताका, मुरादाबाद

यह है व्यासजी से अम्बिका, अम्बालिका और दासी में धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर की उत्पत्ति का वर्णन, जिसमें स्पष्टरूप से सम्भोग करके सन्तान उत्पन्न करने का वर्णन है और इसमें नियोग का वर्णन करनेवाले शब्द 'न्ययोजयत्', 'नियुक्तः' आदि स्पष्टरूप में विद्यमान हैं। व्यासजी ने वीर्यदान से सन्तान पैदा की, इस बात का समर्थन कुल्लूकभट्टजी भी मनुस्मृति की टीका में करते हैं। ध्यानपूर्वक अवलोकन कीजिए। मनुस्मृति [९।३४] में मनुजी कहते हैं—'कहीं बीज की प्रधानता होती है, कहीं क्षेत्र की'। इसपर कुल्लूकभट्टजी टीका करते हुए कहते हैं कि कहीं बीज की प्रधानता होती है, जैसेकि—

व्यासऋष्यशृङ्गादयो बीजिनामेव सुताः।

व्यास और ऋष्यशृङ्ग की माता यद्यपि मल्लाह की पुत्री और हिरनी थी, परन्तु क्योंकि बीज पराशर और विभाण्डक ब्राह्मणों का था, अतः व्यास और ऋष्यशृङ्ग बीजप्रधान होने के कारण ब्राह्मण बने। आगे चलकर वे कहते हैं कि कहीं क्षेत्र की प्रधानता होती है, जैसेकि—

विचित्रवीर्यक्षेत्रे क्षत्रियायां ब्राह्मणोत्पादिता अपि धृतराष्ट्रादयः क्षत्रियाः क्षेत्रिणा एव पुत्रा बभूवुः।

विचित्रवीर्य के क्षेत्र अम्बिका, अम्बालिका और दासी में ब्राह्मण से पैदा किये गये धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर खेतवाले विचित्रवीर्य के ही पुत्र हुए, यद्यपि बीज ब्राह्मण अर्थात् व्यासजी का था।

यहाँ पर कुल्लूकभट्ट स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि व्यासजी ने अम्बिका, अम्बालिका और दासी में वीर्यदान से धृतराष्ट, पाण्डु और विदुर को उत्पन्न किया था, अतः पोपजी का 'महाभारत में व्यासजी ने दृष्टि से सन्तान उत्पन्न की' यह कथन बिल्कुल ग़लत और झूठा है। महाभारत में कहीं भी दृष्टि से उत्पत्ति का वर्णन नहीं किया, अपितु समागम से उत्पत्ति

का वर्णन किया है।

पोपजी—यदि यह कहें कि दृष्टि से गर्भ नहीं हो सकता, यह हमारी बुद्धि में नहीं आ सकता। इसका यही उत्तर हो सकता है कि तार या बेतार द्वारा सन्देश भेजने का सिद्धान्त जंगली आदमी की समझ में न आये तो इसमें तार का क्या अपराध है? या डॉक्टर साहब की शल्यक्रिया किसी मूर्ख की समझ में न आये तो इसमें शल्य-चिकित्सा झूठी नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि योग की फ़िलॉसफी आपकी समझ में न आये तो किसी का क्या दोष? महर्षियों में योगदृष्टि के द्वारा सन्तान उत्पन्न करने की पूरी शक्ति हुआ करती थी। इस बात की विस्तृत चर्चा भूमिका में की जा चुकी है।

तोपजी—न्यायशास्त्र के अनुसार किसी बात को सिद्ध करने के लिए आठ प्रमाण बताये गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव। जो पदार्थ इन आठ प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता, वह कैसे माना जा सकता है? यदि बिना प्रमाणों के ही जंगली और मूर्खों की बातों को मान लिया जाए तो संसार में सत्य का कोई मूल्य ही न रहे। सन्देश भेजने और शल्यक्रिया के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष फल दृष्टिगोचर हो रहा है, अतः इसे कोई न समझ सके तो कम-से-कम फल को देखकर तो इसे यह अवश्य मानना पड़ेगा कि ये विद्याएँ सत्य हैं, क्योंकि इनका फल सन्देश पहुँचाना और घाव का ठीक होना प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं, परन्तु दृष्टि से सन्तान का उत्पन्न होना आठों प्रमाणों के विरुद्ध, असम्भव और ग़लत है। योगशास्त्र में कहीं भी नहीं लिखा कि योगी दृष्टि से सन्तान उत्पन्न कर सकता है। रहे आपके महर्षि लोग, उनका चरित्र तो पुराणों में यही सिद्ध कर रहा है कि वे सदा लिंग को हाथ में ही रखते थे और स्त्रियों में बलात् गर्भाधान कर देते थे।

योग-फ़िलॉसफी तो क्या, इनका तो पारा स्थान-स्थान पर छलकता फिरता था। यदि स्त्री न मिलती थी तो पशु, पक्षी आदि पर ही टूट पड़ते थे और वीर्य की नदियाँ बहा देते थे, अतः पौराणिक ऋषियों की योग-फ़िलॉसफी की कथा ढकी ही रहने दीजिए।

रह गयी सिद्धान्त की बात! मनुजी महाराज ने स्पष्ट लिख दिया है, आप ध्यानपूर्वक पढ़कर सत्य को स्वीकार करके सन्मार्ग पर आने का प्रयत्न करें—

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्।
क्षेत्रबीजसमायोगात् सम्भवः सर्वदेहिनाम्॥ —मनु० ९।३३
अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति।
अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत्॥ —मनु० १०।७१

अर्थ—स्त्री क्षेत्र है और पुरुष बीज है। क्षेत्र और बीज के मेल से ही सब शरीरधारी प्राणियों की उत्पत्ति सम्भव है।

बिना क्षेत्र के गिराया हुआ बीज वैसे हि नष्ट हो जाता है और बीज के बिना खेत भी केवल कल्लर ही पड़ा रहता है।

इन श्लोकों से स्पष्ट सिद्ध है कि बिना पुरुष का बीज प्रविष्ट हुए स्त्री से सन्तान नहीं हो सकती। बिना पुरुष-संयोग के स्त्री से सन्तान होना अज्ञानी और मूर्ख ही मान सकते हैं। इस बात पर हम भी पोप की भूमिका के उत्तर में विस्तार से लिख चुके हैं।

पोपजी—यदि ऋषियों की योगशक्ति और वरदानशक्ति पर सन्देह हो तो स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद-भाष्य अध्याय १७, मन्त्र ६८ देखें कि योगी अपनी इच्छानुसार सब-कुछ कर सकते हैं।

तोपजी--चूँकि योगी जीव होते हैं और जीव स्वयं ससीम होते हैं और ससीम व्यक्ति का ज्ञान, बल और क्रिया भी सीमित ही होती है, अतः योगाभ्यास करने से भी जीव की शक्ति, ज्ञान और कर्म अनन्त नहीं हो सकते, अतः यह असम्भव है कि योगी प्रकृति के नियमों को तोड़ सके। योगी की शक्तियाँ भी नियम और व्यवस्था के अन्तर्गत सीमित ही होती हैं। आपने स्वामीजी का नाम लिखकर अपने स्वभाव के अनुसार सफ़ेद झूठ बोल दिया। इस वेदमन्त्र के भाष्य में स्वामीजी ने कहीं भी नहीं लिखा कि 'योगी अपनी इच्छानुसार सब-कुछ कर सकते हैं।' अपितु यह लिखा है कि 'योगी योगाभ्यास द्वारा ईश्वर का अनुभव करके सुख पाते हैं।' अब संसार में ज्ञान फैल गया है, अतः आप लोगों का ऐसा छल-कपट न चल सकेगा। लोग स्वयं ग्रन्थ देखकर आपके छल-कपट को जान सकते हैं।

पोपजी--स्वामी सत्यानन्दजी द्वारा लिखित दयानन्द जीवन-चरित्र के पृष्ठ ४९१-४९२ में स्पष्ट लिखा है कि स्वामीजी ने सन्तान-दर्शन की आशावाले राणा को कहा कि आपको पुत्र प्राप्त होगा। परिणामस्वरूप माघशुदी द्वितीय सं० १९३९ को स्वामीजी का वचन सत्य सिद्ध हुआ और राणा के यहाँ पुत्र हुआ, अतः स्वामी दयानन्द-जैसे अपने वरदान से किसी को पुत्र दे सकते हैं तो महर्षि व्यासजी आदि महर्षियों से ऐसी बातें होना असम्भव कैसे हो सकती हैं?

तोपजी--प्रमाण देते हुए लज्जा तो नहीं आई? यजुर्वेद ने आप-जैसे आत्म-हत्यारों के लिए ही नरक में जाना लिखा है। इसमें यह कहाँ लिखा है कि राणा को सन्तान न होती थी और स्वामीजी ने वरदान से पुत्र दे दिया और राणा को रानी के साथ समागम करने की आवश्यकता नहीं पड़ी? अपितु इसमें तो स्पष्ट यह लिखा है कि राणा के यहाँ बच्चा होनेवाला था। स्वामीजी ने कहा--आपके यहाँ पुत्र होगा। इसमें स्वामीजी ने वरदान से पुत्र नहीं दिया, अपितु बताया है कि आपके यहाँ पुत्र उत्पन्न होगा। गर्भवती स्त्री के लड़का होगा या लड़की, यह बताना साधारण बात है। अभी पिछले दिनों महाराज काश्मीर को डॉक्टरों ने विलायत में राजकुमार के उत्पन्न होने से पूर्व बता दिया था कि आपके पुत्र उत्पन्न होगा। यह बात आयुर्वेद से सम्बन्ध रखती है और योगी समाधि द्वारा विद्यमान वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है। देखिए, वहाँ स्पष्ट लिखा है कि--"राणाजी के यहाँ बाल-बच्चा उत्पन्न होनेवाला था। एक दिन वार्त्तालाप करते हुए स्वामजी ने राणा साहब से कहा कि आपके यहाँ पुत्र उत्पन्न होगा और ९ फरवरी १८८३ को स्वामीजी का कथन सत्य सिद्ध हुआ। महाराणा के महलों में प्रसन्नता के बाजे बजने लगे। चारों ओर से लोग बधाइयाँ देने लगे। राणाजी ने यह सूचना स्वामीजी से उनके रहने के स्थान पर निवेदन की और आठ सौ रुपया अनाथालय, फ़ीरोजपुर को दान दिया।" --पृष्ठ ५६४

यद्यपि स्वामी सत्यानन्दजी का लेख अनार्ष होने से हमारे लिए प्रमाण नहीं है, फिर भी आपने अपने स्वभाव के अनुसार पता ग़लत लिखा है और इसपर भी आपकी इससे कोई प्रयोजन-सिद्धि नहीं हुई, क्योंकि यहाँ पर वरदान से सन्तान होने की चर्चा तक नहीं है।

पोपजी--आर्यसमाज मानसी सृष्टि से कभी इन्कार नहीं कर सकता, क्योंकि स्वयं स्वामी दयानन्दजी सृष्टि-प्रकरण में बिना माता-पिता के जवान-जवान जोड़ों का गिरना सृष्टि के आरम्भ में मानते हैं।

तोपजी--स्वामी दयानन्दजी ने मानसी सृष्टि कोई भी नहीं मानी। सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरीय अथवा अमैथुनी सृष्टि होती है, क्योंकि ईश्वर में मन का अभाव है, अतः उसे मानसी सृष्टि नहीं कह सकते। अमैथुनी सृष्टि में माता और पिता दोनों का अभाव होता

है, परन्तु ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि पिता के बिना माता के गर्भ से सन्तान उत्पन्न हो जाए। और ईश्वरीय सृष्टि, सृष्टि के आरम्भ में ही होती है, मध्य में नहीं। इससे आपका प्रयोजन कदापि सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए सिद्ध हुआ कि व्यासजी ने वीर्यदान से ही धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर को अम्बिका, अम्बालिका और दासी में उत्पन्न किया था।

पोपजी—इसलिए ऋषियों के वरदान और योगबल की शक्ति की नियोग आदि व्यभिचार से उपमा देना महापाप है।

तोपजी—हम सिद्ध कर चुके हैं कि केवल वरदान और योगशक्ति से सन्तान का उत्पन्न होना असम्भव है। हाँ, वरदान का अर्थ इच्छानुसार पदार्थ-दान है, अतः वीर्यदान को वरदान माना जाए तो कोई आपत्ति की बात नहीं है; और योग नाम समागम का भी है, अतः वरदान और योगशक्ति के ये अर्थ लिये जा सकते हैं कि समागम से वीर्यदान दिया, अन्यथा केवल वरदान या योगशक्ति से सन्तान की उत्पत्ति मानना ऋषियों के चाल-चलन में सन्देह डालने का पर्यायवाची है और व्यास आदि महर्षियों द्वारा प्रयुक्त नियोग को व्यभिचार बताना महापाप है।

भला पोपजी महाराज! एक और बात तो बतलाइए। यदि एक मिनट के लिए आपकी बात को स्वीकार कर लिया जाए कि व्यासजी ने अम्बिका, अम्बालिका और दासी में वरदान से या दृष्टि से सन्तान उत्पन्न की, तो कम-से-कम इससे यह तो स्पष्ट हो गया कि विधवाओं से सन्तान उत्पन्न की जा सकती है। यह अपनी शक्ति है—यदि कोई वरदान और दृष्टि से पैदा कर सके तो इस ढंग से पैदा कर ले, यदि उस ढंग से न कर सकता हो तो जिस ढंग से वह कर सकता हो उस ढंग से पैदा करे। इससे सन्तान उत्पन्न करने की विधि में अन्तर माना जा सकता है। चूँकि विधवाओं से सन्तान उत्पन्न करने में आप भी सहमत हैं और उचित विधि से विधवाओं में सन्तान उत्पन्न करने का नाम ही नियोग है, इससे आपने स्वयं अपने लेख से ही व्यासजी का अम्बिका, अम्बालिका और दासी से नियोग स्वीकार कर लिया है।

पोपजी—यहाँ केवल यही बताना है कि लाला साहब ने पहले मनुस्मृति के पूर्वपक्ष के श्लोक प्रस्तुत करके ग़लती की और तत्पश्चात् महाभारत का झूठा इतिहास लिखकर महर्षि को कलङ्कित किया। ऐसा करने पर भी अपने प्रयोजन को सिद्ध न कर सके।

तोपजी—हमने प्रबल युक्तियों से सिद्ध कर दिया है कि मनुस्मृति में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष अर्थात् प्रश्नोत्तर के ढंग का लेख सिद्ध ही नहीं हो सकता और महाभारत में स्पष्टरूप से व्यासजी के समागम का वर्णन है। आपने अत्यन्त प्रयत्न से मनुस्मृति के लेख को झुठलाना चाहा और वरदान, दृष्टि तथा योगशक्ति की आड़ लेकर व्यासजी के चालचलन को सन्दिग्ध बनाकर उन्हें कलङ्कित करने का बेहूदा प्रयत्न किया, फिर भी आप सफल न हो सके। इसलिए हमारे द्वारा कथित प्रथम प्रकार का नियोग कि पति के मरने पर सन्तान की इच्छा होने से नियोग करना बिल्कुल ठीक और युक्तियुक्त है और मनुस्मृति तथा महाभारत के प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है।

पोपजी—दूसरा नियोग।

तोपजी—निःसन्देह दूसरी प्रकार का नियोग यह है कि पति की मृत्यु के पश्चात् यदि स्त्री के सन्तान भी हो परन्तु युवती होने के कारण अपने-आपको वश में न रख सके तो इस स्थिति में, इसके सिवाय और कोई उपचार नहीं कि वह नियोग करके दूसरे पुरुष के लिए सन्तान उत्पन्न कर दे। इसका वर्णन मनुस्मृति [९।१६२] में इस प्रकार आता है—

यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ। यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद् गृह्णीत नेतरः॥

अर्थ—यदि औरस और क्षेत्रज पुत्र एक ही सम्पत्ति के अधिकारी हो जाएँ तो जिसके पिता की सम्पत्ति है वह उसे ग्रहण करे, दूसरा नहीं।

इस श्लोक में जो दो पुत्रों का एक ही सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होना लिखा है, वह उसी स्थिति में हो सकता है, जब किसी स्त्री के एक पुत्र प्रथम विवाहित पति से विद्यमान हो और दूसरा पुत्र नियोग से उत्पन्न करे; अन्य किसी स्थिति में भी दो पुत्र एक सम्पत्ति के उत्तराधिकारी नहीं बन सकते। उससे स्पष्ट प्रकट है कि वह स्त्री एक पुत्र पहले पति से होने पर भी जो दूसरे से नियोग करती है, तो इसी अवस्था में कर सकती है जबकि उससे रहा न जाए, अन्यथा सन्तान तो उसके विद्यमान है। बस, जो स्त्री पूर्व-विवाहित पति से एक सन्तान होते हुए, उसकी मृत्यु के पश्चात् दूसरे से नियोग करके सन्तान उत्पन्न करती है तो वह अपने आपको वश में नहीं रख सकती, इसलिए ऐसा करती है। यह समझ लेना चाहिए कि मनु की इस आज्ञा के अनुसार ही बालि की स्त्री तारा ने बालि की मृत्यु के पश्चात् सुग्रीव को पति बनाया। यद्यपि बालि से एक पुत्र अङ्गद इसके विद्यमाना था, परन्तु वह अपने को वश में न रख सकी, अतः उसने सुग्रीव को पति बनाया, अन्यथा अङ्गद की विद्यमानता में उसे सन्तान की आवश्यकता ही क्या थी?

पोपजी—मनुस्मृति समस्त मनुष्यों के लिए धर्म की व्यवस्था देती है। इसमें केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति के लिए ही व्यवस्था नहीं अपितु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल आदि सब मनुष्यों के लिए अपनी-अपनी जाति के अनुसार धर्ममर्यादा बताई गयी है।

तोपजी—स्मृतियों की यह पद्धति है कि वे वेदानुकूल कर्त्तव्य-कर्मों का विधान विस्तार के साथ करती हैं और वेद के विरुद्ध पाप-कर्मों का निषेध करके इनके करनेवालों को दण्ड का विधान करती हैं। दो विरोधी कार्यों को दो विभिन्न व्यक्तियों के लिए धर्म विधान नहीं किया जा सकता। उदाहरण के रूप में मद्यपान, मांसभक्षण और व्यभिचार—ये वेद के विरुद्ध होने से पापकर्म हैं। स्मृतियाँ ऐसा नहीं कर सकतीं कि इन कृत्यों को किसी के लिए पाप बताएँ और किसी के लिए धर्म बता दें। हाँ, विभिन्न कर्म जोकि विरोधी न हों, विभिन्न व्यक्तियों के लिए उनकी योग्यता के अनुसार विधान किये जा सकते हैं। इनमें जो जिस कार्य के योग्य हो, वह उस कार्य को करे। जैसे ब्राह्मण के लिए पढ़ाना, क्षत्रिय के लिए रक्षा, वैश्य के लिए व्यापार और शूद्र के लिए सेवा के कार्य बताये हैं। ये कार्य आपस में विरोधी नहीं हैं, इसलिए विभिन्न व्यक्तियों के लिए उनकी योग्यता के अनुसार बताये गये हैं।

पोपजी—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यजाति की विधवाओं के लिए मनु भगवान् ने जो व्यवस्था बतलाई थी, वह हम पहले लिख चुके हैं, परन्तु शूद्र, चाण्डाल आदि की स्त्रियाँ जिन्हें नियोग, या करेवा, या चादर उढ़ाना आदि का अधिकार प्राप्त है, यदि वे स्त्रियाँ पति के अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुष से नियोग करके पुत्र उत्पन्न करें और सम्पत्ति के सम्बन्ध में पहले पुत्र और नियोग के पुत्र का झगड़ा हो जाए तो वे दोनों अपने-अपने पिता की ही सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होंगे। भगवान् मनु ने उनके लिए ऐसी ही व्यवस्था दी है, अतः यह समझ लेना कि प्रत्येक जाति के पुरुष के लिए ही नियोग की आज्ञा मनु भगवान् ने दी है, मूर्खता है।

तोपजी—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जाति की विधवाओं के लिए जो आप पहले लिख आये हैं, उसका हमने वहीं उत्तर लिख दिया है कि मनु भगवान् के इस मण्डन-खण्डनवाले लेख को पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष अर्थात् प्रश्नोत्तर के ढंग का लेख नहीं माना जा सकता, क्योंकि

आगे चलकर मनुजी ने नियोग की सन्तति को वैध मानकर सम्पत्ति का स्वामी स्वीकार किया है। यदि इस लेख को उत्सर्ग-अपवाद भी मान लिया जाए, तो भी इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोगों को अपनी विधवाओं का नियोग हीन वर्ण के पुरुष से नहीं करवाना चाहिए और इसी को पाप बतलाकर पशुधर्म कहा है। मनुजी ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य विधवाओं के लिए नियोग का सर्वथा निषेध नहीं किया, क्योंकि मनुस्मृति के लेख के अनुसार शूद्रों की कोई स्वतन्त्र सम्पत्ति होती ही नहीं जिसका झगड़ा पड़े, अपितु शूद्र लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के घरों में सेवा का कार्य करते हैं और नियोग के नियमों का शूद्रलोग पालन भी नहीं कर सकते, अतः शूद्रों के लिए विधवा-विवाह सब प्रकार की विधवाओं के लिए वैध है और नियोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य विधवाओं के लिए ही है। देखिए, महाभारत में क्या लिखा है—

[1]**लोकेऽप्याचरितो दृष्टः क्षत्रियाणां पुनर्भवः॥** —महा० आदि० १०४।७

अर्थ—संसार में भी क्षत्रियों में 'पुनर्भव'=पुनर्विवाह देखा जाता है।

और भी लिखा है कि—

ब्राह्मणो गुणवान् कश्चिद्धनेनोपनिमन्त्र्यताम्। विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु यः समुत्पादयेत्प्रजाः॥

—महा० आदि० १०५।२ [गीता० अ० १०४]

अर्थ—किसी गुणवान् ब्राह्मण को धन देकर बुलाना चाहिए जो विचित्रवीर्य के क्षेत्र में सन्तान उत्पन्न करे।

सारांश यह कि बीसियों प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि नियोग प्रायः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में ही होता रहा है। नियोग का एक उदाहरण भी ऐसा नहीं मिलता जिसमें नियोग करनेवाले स्त्री और पुरुष दोनों ही शूद्र हों, अतः नियोग इन तीनों के लिए ही निश्चित है और शूद्रों में पुनर्विवाह ही उचित है, नियोग नहीं, क्योंकि शूद्रलोग ज्ञानवान् न होने के कारण नियोग की शर्तों को पूरा करने के योग्य ही नहीं होते।

पोपजी—और भी द्विज वर्ण की कोई स्त्री वेद और धर्मशास्त्र की मर्यादा के विरुद्ध, काम के वशीभूत होकर किसी दूसरे से व्यभिचार करे अथवा पशुधर्मरूप नियोग से सन्तान उत्पन्न करे—ऐसी स्थिति में दो पुत्रों के झगड़ों को सुलझाने के लिए भगवान् मनु ने यह व्यवस्था रक्खी है। ऐसी स्थिति में इस प्रमाण को सबके लिए वैध बताना भूल है।

तोपजी—साँप चाहे कितना ही टेढ़ा होकर चलनेवाला हो परन्तु जब उसकी पीठ पर डण्डा पड़ता है,तो विवश हो, सीधा होकर बिल में घुसता है। यही अवस्था सनातनधर्म के पण्डितों की है। जब तक इनकी पीठ पर डण्डा न पड़े तब तक बीसियों बहाने बनाते हैं, परन्तु डण्डा पड़ते ही सीधे हो जाते हैं। देखिए न, अभी तो पोपजी शूद्रों के लिए नियोग बता रहे थे, अभी यह लिख रहे हैं कि यदि कोई द्विज वर्ण की विधवा नियोग से पुत्र उत्पन्न करे तो उसके झगड़े को सुलझाने के लिए मनुजी ने यह व्यवस्था रक्खी है। श्रीमन्! यदि नियोग व्यभिचार होता तो मनुजी महाराज इससे उत्पन्न हुए लड़के के अधिकार की व्यवस्था क्यों देते? नियोग से उत्पन्न हुए लड़के को सम्पत्ति का उत्तराधिकारी स्वीकार करना ही नियोग को वैध ठहराना है। मनुजी तो यहाँ तक कहते हैं कि बिना नियोग के, अथवा नियोग करके भी, बिना विधि के उत्पन्न हुआ पुत्र सम्पत्ति का स्वामी बनने का अधिकारी नहीं है—

अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्याप्तश्च देवरात्। उभौ तौ नार्हतो भागं जारजातककामजौ॥ ९।१४३॥

---

१. यह श्लोक गीताप्रेस संस्करण में नहीं है। इस संस्करण में से एक पूरा अध्याय ही निकाल दिया गया है, परन्तु अन्य संस्करणों में यह श्लोक है। —सम्पादक

नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातोऽविधानतः। नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः॥ ९।१४४॥

अर्थ—बिना नियोग के उत्पन्न हुआ पुत्र और पुत्रवाली कामवश होकर यदि देवर से सन्तान उत्पन्न करे तो वे दोनों सम्पत्ति के अधिकारी नहीं होते, क्योंकि वे व्यभिचार से उत्पन्न हुए माने जाते हैं।

नियोग करनेवाली स्त्री में भी जो लड़का बिना विधि के उत्पन्न हुआ हो, वह पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नहीं, क्योंकि वह पतित से उत्पन्न हुआ है।

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि मनुजी नियोग द्वारा विधिपूर्वक उत्पन्न पुत्र को सम्पत्ति का अधिकारी स्वीकार करते हैं, क्योंकि वह वेद और धर्मशास्त्र के अनुसार वैध सन्तान है; और बिना नियोग के व्यभिचार से उत्पन्न लड़के को तथा नियोग करने पर भी बिना विधि-विधान का पालन करके उत्पन्न लड़के को सम्पत्ति का अधिकारी स्वीकार नहीं करते, अतः आपने जो द्विज विधवा के नियोग से उत्पन्न लड़के को मनुस्मृति के अनुसार सम्पत्ति का अधिकारी स्वीकार किया है, इससे आपने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में नियोग का होना वैध स्वीकार किया है और यही उचित और वेदानुकूल है।

पोपजी—लाला साहब! वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ३३-३४ में तो क्या, सम्पूर्ण रामायण में भी बालि की पत्नी तारा का सुग्रीव के साथ नियोग करने की चर्चा तक नहीं है। आपने यह झूठा प्रमाण दिया है।

तोपजी—'आँख के अन्धे और नाम नयनसुख' की लोकोक्ति आप-जैसों पर ही चरितार्थ होती है। आपने कभी वाल्मीकि रामायण के दर्शन भी किये हैं? अन्यथा आपको यह कहने का साहस कदापि न होता कि बालि की पत्नी तारा को सुग्रीव ने रानी नहीं बनाया। देखिए, हम आपको वाल्मीकि रामायण से यह सिद्ध करके दिखाएँगे कि बालि की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी तारा को सुग्रीव ने धर्मपत्नी बनाया। जब वर्षा-ऋतु समाप्त हो चुकी और सुग्रीव ने राम की सुध न ली तो राम को क्रोध आया और लक्ष्मण को सुग्रीव के पास भेजा। सुग्रीव को लक्ष्मण के आनेका पता लगा तो सुग्रीव ने डरते हुए लक्ष्मण के पास तारा को भेजा। तब लक्ष्मण ने तारा से कहा—

किमयं कामवृत्तस्ते लुप्तधर्मार्थसंग्रहः। भर्ता भर्तृहिते युक्ते न चैवमवबुध्यसे॥

—वा० रा० किष्कि० ३३।४३

अर्थ—हे पति का हित चाहनेवाली! क्या तू इस बात को नहीं समझती कि तेरा यह पति काम में फँसा हुआ धर्म और अर्थ का लोप कर रहा है?

इस श्लोक में लक्ष्मण ने सुग्रीव को तारा का 'भर्ता' अर्थात् पति कहा है।

तारा ने लक्ष्मण से इस प्रकार कहा—

पुनः सखेदं मदविह्वलाक्षी भर्तुर्हितं वाक्यमिदं बभाषे॥ —वा० किष्कि० ३३।५८

अर्थ—फिर मद से मस्त आँखोंवाली तारा ने अपने पति के हित के लिए दुःख से ये वचन कहे।

यहाँ भी सुग्रीव को तारा का पति बताया गया है।

इससे आगे सुग्रीव ने तारा के पिता सुषेण को ससुर नाम से कहा है—

अब्रवीन्मेघसंकाशं सुषेणं नाम वानरम्॥ १॥
ताराया: पितरं राजा श्वसुरं भीमविक्रमम्॥ २॥ —वा० कि० ४२।१-२

अर्थ—राजा सुग्रीव ने मेघ के समान काले और अत्यन्त पराक्रमी तारा के पिता और अपने श्वसुर सुषेण नामक वानर से कहा।

यहाँ पर सुग्रीव का तारा के पिता सुषेण को श्वसुर कहना सिद्ध करता है कि सुग्रीव ने तारा को नियमानुसार धर्मपत्नी बना लिया था।

इस प्रकार के कितने ही प्रमाण दिये जा सकते हैं, जिनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सुग्रीव ने तारा को पत्नी बना लिया था और उसके साथ कामभोग में मस्त रहता था तथा इस सम्बन्ध के विषय में राम को भी कोई आपत्ति नहीं थी। यह बात हम आगे चलकर मन्दोदरी के प्रसङ्ग में तुलसीकृत रामायण का प्रमाण देकर और भी स्पष्ट कर देंगे। किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ३० से ३५ तक पढ़ने से यह बात बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होती है कि हमने झूठा प्रमाण नहीं दिया, वरन् आप जान-बूझकर यह झूठ बोल रहे हैं कि 'वाल्मीकि रामायण में ऐसा लेख नहीं है'। परमात्मा आपको सत्य बोलने की सामर्थ्य प्रदान करे।

पोपजी—सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि नियोग भी विवाह की भाँति प्रसिद्धि से किया जाए। प्रसिद्धि करने के लिए विज्ञापन लगाये जाएँ या मुनादी की जाए अथवा मिठाई बाँटी जाए कि अब मुझसे नहीं रहा जाता है, अतः मैं नियोग करूँगा और स्त्री से भी न रहे जाने पर इसी प्रकार प्रसिद्धि करे।

तोपजी—स्वामीजी का लेख स्पष्ट है कि जिस प्रकार विवाह गुप्तरूप से नहीं,अपितु सभा-समाज के समक्ष उसके रीति-रिवाज पूर्ण होते हैं, वैसे ही नियोग गुप्तरूप से न हो, अपितु, उसके रीतिरिवाज भी विवाह की भाँति समाज के समक्ष किये जाएँ, और विवाह की भाँति परामर्श करके नियोग के संस्कार पर भी उत्सव मनाया जाए। देखिए, महाभारत में व्यास और अम्बिका-अम्बालिका के नियोग में ऐसा ही किया गया था, जैसाकि भीष्म ने सत्यवती से कहा—

श्रुत्वा तं प्रतिपद्यस्व प्राज्ञैः सह पुरोहितैः। आपद्धर्मार्थकुशलैर्लोकतन्त्रमवेक्ष्य च॥

—महा० आदि० १०३।२६

अर्थ—उसे आपद्धर्म को जाननेवाले, विद्वान् पुरोहितों से सुनकर और लोक-मर्यादा को भी देखकर उसपर आचरण करो।

जब नियोग होना निश्चय हो गया तो उत्सव मनाया गया और सहभोज किया गया—

सा धर्मतोऽनुनीयैनां कथंचिद् धर्मचारिणीम्। भोजयामास विप्रांश्च देवर्षीनतिथींस्तथा॥

—वही १०५।५५ [गीता० १०४।५४]

अर्थ—सत्यवती ने धर्म का उपदेश देकर किसी प्रकार से उस धर्मचारिणी अम्बिका की नियोग करने में स्वीकृति लेकर ब्राह्मणों, देवर्षियों और अतिथियों को भोजन कराया।

ब्राह्मणों, देवर्षियों और अतिथियों के भारी संख्या में एकत्र होने से सिद्ध है कि इस संस्कार को बड़े भारी उत्साह से उत्सव के रूप में मनाया गया था। लोगों को सूचना भी दी गयी थी और मिठाई बाँटी ही नहीं गयी, अपितु पेट भरकर खिलाई गयी थी, परन्तु आपके मस्तिष्क में पुराणों का ऐसा कीड़ा घुसा हुआ है कि आपको हर बात उलटी ही दिखाई देती है और ठीक बात पर भी आपको मज़ाक [परिहास] सूझता है; परन्तु हमने भी आपकी सन्तुष्टि करने का ठेका लिया हुआ है। पुराणों में पौराणिक ऋषियों की ऐसी-ऐसी कथाएँ मिल सकती हैं, जिनसे यह सिद्ध है कि उनसें रहा नहीं गया।

ब्रह्मा जब अपने-आपको वश में न रखकर अपनी पुत्री के पीछे भागा तो भागते हुए यूँ बोला—

रतिं देहि मदाघूर्णे रक्ष मां कामविह्वलम्। —भवि० प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, १३।३

अर्थ—अपनी कन्या को बलात् पकड़कर कामातुर ब्रह्मा बोला—हे मस्त नेत्रोंवाली! तू

अपने यौवन का दान दे और मुझ कामी के प्राणों की रक्षा कर।

ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी हाथों में लिङ्ग पकड़कर अनसूया के पास गये और बोले—

रतिं देहि मदाघूर्णे नो चेत्प्राणांस्त्यजाम्यहम्। —वही० १७।७१

अर्थ—हे मस्त नेत्रोंवाली! रतिदान दे, अन्यथा मैं प्राण त्याग दूँगा।

जब विष्णु ने अपना मोहिनी रूप दिखाया तो महादेवजी रह न सके, उसके पीछे भागे और भागते हुए सारा वीर्य निकल पड़ा। ब्रह्मा पोती का मुख देखकर रह न सका, धोती खराब हो गयी। कृष्ण की स्त्रियों की जाँघें अपने पुत्र साम्ब को देखकर टपकने लगीं, आदि-आदि सैकड़ों कथाएँ न रहे जाने की पुराणों में विद्यमान हैं।

शिवपुराण में वर्णन आता है कि एक बार महादेवजी नदी के किनारे देवताओं और ऋषियों से क्रीड़ा कर रहे थे कि कामातुर हो गये। झट नन्दी को बुलाकर कहा कि पार्वती को अलंकृत करके शीघ्र लाओ। नन्दी गया और पार्वती को सन्देश दिया कि आपको सभा में शीघ्र बुलाया है। पार्वती ने कहा—मैं आती हूँ, आप चलें। नन्दी चला आया, परन्तु महादेवजी को चैन कहाँ था! वे तो आपे से बाहर हो रहे थे। तुरन्त दूसरी बार नन्दी को भेजा कि पार्वती को शीघ्र बुलाकर लाओ, काम समाप्त हुआ जाता है। यह सुनकर बेचारा नन्दी पुनः भागा हुआ गया—

बाढमुक्त्वा स तां गत्वा गौरीमाह सुलोचनाम्। द्रष्टुमिच्छति ते भर्ता कृतवेषां मनोरमाम्॥ ४२॥
शंकरो बहुधा देवि विहर्तुं सम्प्रतीक्षते। एवं पतौ सुकामार्ते गम्यतां गिरिनन्दिनि॥ ४३॥
अथ सा पार्वती देवी कृतकौतुकमण्डना। रुद्रसंनिधिमागत्य चिक्रीडे तेन शम्भुना॥ ६१॥

—शिव० रुद्रसं० युद्धखण्ड, अ० ५१, श्लो० ४२, ४३, ६१

अर्थ—'बहुत अच्छा' कहकर वह नन्दी उस सुन्दर नेत्रोंवाली पार्वती के पास जाकर बोला—तुमको तुम्हारा पति अलंकृतरूप में देखना चाहता है।

हे देवि! महादेवजी बहुत व्याकुलता के साथ क्रीड़ा करने के लिए आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। पति के इस प्रकार कामार्त होने पर हे पार्वती! आपको अवश्य चलना चाहिए।

इसके पश्चात् पार्वती ने सुन्दर वेश बनाकर और सज-धजकर महादेव के पास जाकर उससे खूब कामक्रीड़ा की।

श्रीमन्! इसे कहते हैं न रहा जाना। यदि और आवश्यकता हो तो और पुराणों की कथाएँ सुनाऊँ।

पोपजी—आर्यसमाजी मित्रो! यह व्यभिचार और निर्लज्जता नहीं तो और क्या है? स्वामीजी ने ऐसी मनमानी आज्ञा से हिन्दूधर्म के रहे-सहे धर्म का नाश करके पतिव्रता स्त्री को वेश्या की भाँति जीवन व्यतीत करने पर उद्यत किया है, शोक!

तोपजी—हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि नियोग की रीति वेद के अनुसार सभा-समाज के नियमों के अनुसार विवाह की भाँति पञ्चायत में सम्पन्न होती है, अतः इसे व्यभिचार नहीं कहा जा सकता और न ही इसपर आचरण करने में निर्लज्जता है। यदि नियोग को व्यभिचार और निर्लज्जता माना जाए तो विवाह को भी व्यभिचार और निर्लज्जता मानना पड़ेगा। स्वामीजी ने व्यभिचार, वेश्यागमन, लौंडेबाज़ी, वेश्या बनकर बाजारों में पेशा करने, गर्भपात कराने आदि कुरीतियों को दूर करने के लिए वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित और ऋषि-मुनियों द्वारा सेवित नियोग का नुस्खा बतलाया है। यदि किसी को रोग हो और उसे नुस्खे की आवश्यकता पड़े तो प्रयोग करे, यदि आवश्यकता न पड़े तो न करे, परन्तु आपकी विचित्र अवस्था दया के योग्य है कि व्यासजी, वसिष्ठजी, धर्म, दीर्घतमा, वायु, इन्द्र,

अश्विनीकुमार आदि-आदि ऋषि-मुनियों, देवताओं को व्यभिचारी और निर्लज्ज तथा अम्बिका, अम्बालिका, सुदेष्णा, कुन्ती, माद्री आदि पतिव्रता स्त्रियों को बाजारी औरत बनाकर सनातनधर्म की शान को बढ़ा रहे हैं! आपकी इस मूर्खतापूर्ण और कमीनी चेष्टा पर शोक! महाशोक!!

पोपजी—नियोग संख्या तीन।

तोपजी—पति के जीते हुए सन्तान की इच्छा से नियोग करना नियोग का तीसरा प्रकार है, जैसाकि मनुस्मृति में लिखा है—

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा। स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः॥

—मनु० ९।१६७

अर्थ—मरे हुए, नपुंसक, असाध्य रोग में ग्रस्त पति की धर्मपूर्वक नियोग करनेवाली स्त्री में जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह पुत्र 'क्षेत्रज' कहलाता है।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि नपुंसक और असाध्य रोग से पीड़ित पुरुष की स्त्री सन्तान के लिए नियोग कर सकती है, और यह भी लिखा है—

षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् । औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा॥

—मनु० ९।१६४

अर्थ—औरस पुत्र को चाहिए कि वह अपने पिता की सम्पत्ति का विभाग करते हुए पिता के धन में से छठा अथवा पाँचवाँ भाग क्षेत्रज पुत्र को दे दे।

यह बात ऐसी स्थिति में हो सकती है कि असाध्य रोगी की स्त्री पहले तो नियोग से पुत्र उत्पन्न कर ले और पश्चात् रोगमुक्त होने पर पूर्व-पति से भी दूसरा पुत्र उत्पन्न हो जाए। ऐसी स्थिति में ही औरस और क्षेत्रज के भाग का विभाग किया जाना ठीक हो सकता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। इन श्लोकों से सिद्ध है कि मनुजी महाराज पति के जीवित रहते हुए विशेष अवस्थाओं में स्त्री का दूसरे पुरुष से नियोग मानते हैं।

पोपजी—लाला साहब ने पुनः उन्हीं पूर्वपक्ष अर्थात् वेन राजा के नियोग की विधि के श्लोकों में से एक श्लोक प्रस्तुत करके अपना सिद्धान्त सिद्ध किया है। मैं पहले बतला चुका हूँ कि नियोग की विधिवाले मनुस्मृति के समस्त श्लोक राजा वेन के बतलाये हुए नियोग को ही बतलाते हैं। ये श्लोक १६७ श्लोक तक ही नियोग की विधि के हैं और इनके आगे १६८वाँ श्लोक स्पष्ट बतलाता है कि वेन राजा के दुराचार के पश्चात् जो कोई मोह से या कामवश होकर विधवा स्त्री से सन्तान के लिए नियोग करता है, उसकी भले लोग निन्दा करते हैं।

तोपजी—हम इस बात को सिद्ध कर चुके हैं कि ये नियोग-खण्डन के श्लोक मिलावटी हैं, क्योंकि नियोग वेदानुकूल है, और इनमें जो राजा वेन का वर्णन आता है उससे भी ये श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं, क्योंकि मनुजी सृष्टि के आरम्भ में हुए हैं और राजा वेन बहुत पीछे हुआ है। मनुस्मृति में राजा वेन का वर्णन आना ही श्लोकों के मिलावटी होने का प्रबल प्रमाण है, और हम इस बात को भी प्रबल युक्तियों से सिद्ध कर चुके हैं कि यहाँ पर जो नियोग के मण्डन और खण्डन के पाँच-पाँच श्लोक हैं उन्हें, पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष अर्थात् प्रश्नोत्तर के ढंग का लेख नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनसे आगे चलकर मनुजी ने नियोग की सन्तान क्षेत्रज पुत्र को सम्पत्ति का अधिकारी स्वीकार किया है। आप उत्तर लिखते हुए पक्षपात में इतने अन्धे हो जाते हैं कि आपको उचित-अनुचित लेख का बिल्कुल ज्ञान नहीं रहता। अपने जो यह लिखा है कि "१६७ श्लोक तक नियोग की आज्ञा के श्लोक हैं और उससे आगे १६८ श्लोक में राजा वेन द्वारा वर्णित नियोग की निन्दा करके

उसे व्यभिचार और पशुधर्म बतलाया है।" आपने इस लेख को लिखते हुए मनुस्मृति को खोलकर भी देख लिया था या भंग की तरंग में यूँ ही ऊटपटाँग लिख मारा? श्रीमन्! नियोग के मण्डन और खण्डन के श्लोक तो अध्याय ९, श्लोक ५९ से ६८ तक हैं और श्लोक-संख्या ६८ में ही आपके द्वारा कथित नियोग की निन्दा है, परन्तु हमारे द्वारा प्रस्तुत श्लोक १६७वाँ है जिससे आगे १६८वें श्लोक में राजा वेन का चिह्न भी नहीं है, अपितु इसमें तो 'दत्रिम' पुत्र का लक्षण है।

हमारा यह प्रबल पक्ष है कि यदि श्लोक ५९ से लेकर ६८ तक प्रश्नोत्तर के रूप में लिखे गये हैं तो फिर आगे चलकर मनुजी ने श्लोक १२०, १४५, १४६, १६२-१६५, १६७ में नियोग को धर्म बताकर नियोग से उत्पन्न सन्तान को वैध और सम्पत्ति का अधिकारी क्यों स्वीकार किया है? इससे स्पष्ट सिद्ध है कि राजा वेन का वर्णन करनेवाले श्लोक सर्वथा प्रक्षिप्त, वेद और मनुस्मृति के विरुद्ध हैं, अतः वे प्रमाण नहीं माने जा सकते और हमारा दिया हुआ श्लोक उस प्रसङ्ग का नहीं, अपितु उससे १०० श्लोक आगे का है। यदि मनुजी महाराज का पक्ष नियोग-खण्डन का होता और यह लेख पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष अर्थात् प्रश्नोत्तर के रूप में होता तो उससे आगे चलकर वे नियोग को धर्म बताकर उसकी सन्तान को वैध और सम्पत्ति का अधिकारी स्वीकार न करते। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनु का पक्ष नियोग-मण्डन में है और यह लेख प्रश्नोत्तर के ढंग का नहीं, अपितु खण्डनपक्ष के श्लोक मिलवटी हैं।

पोपजी—लाला साहब को चाहिए था कि किसी वेदमन्त्र के प्रमाण से नियोग सिद्ध करते, परन्तु वेद ऐसे पशुधर्म की आज्ञा कैसे दे सकता है?

तोपजी—हमने वेदमन्त्र देकर सिद्ध कर दिया है कि स्त्री को दूसरे पति का अधिकार वेद का आधारभूत सिद्धान्त है, जिसमें पुनर्विवाह और नियोग दोनों सम्मिलित हैं। वेदानुकूल व्यास आदि ऋषियों के आचरण में आये हुए नियोग को पशुधर्म बताकर व्यास आदि ऋषियों को पशु बताना सनातनधर्म को ही शोभा देता है। वेदों के और भी अनेक मन्त्र नियोग की सिद्धि में दिये जा सकते हैं।

अब हम पति के जीते हुए स्त्री के दूसरे पुरुष से नियोग करने के सम्बन्ध में एक प्रमाण सायणाचार्य के भाष्य का देते हैं। आर्यसमाज वेदों में इतिहास का होना नहीं मानता, परन्तु सनातनधर्म और उसके टीकाकार वेदों में इतिहास मानते हैं—

प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति तमिति॥ —ऋ० १।१२५।१

इस मन्त्र का भाष्य करते हुए सायणाचार्य इसमें एक इतिहास वर्णन करते हैं कि—दीर्घतमा का पुत्र कक्षीवान् नाम का ऋषि गुरु से विद्या पढ़कर घर जा रहा था कि मार्ग में स्वनय नाम का राजा उसे मिला। राजा को वह लड़का सुन्दर और गुणवान् प्रतीत हुआ, अतः उसे घर ले-जाकर आदरपूर्वक अपनी कन्या, सोना, चाँदी, हाथी, घोड़े, रथ, गौएँ आदि उसे दान दीं। उसने वह दान स्वीकार करके घर आकर दीर्घतमा ऋषि को सारा वृत्तान्त सुनाया। इसपर सायणाचार्य शंका करते हैं कि कक्षी नाम घोड़े को बाँधने की रस्सी का है और कक्षीवान् का अर्थ हुआ जो इस रस्सी का प्रयोग करता हो, तो यह काम क्षत्रियों का है। प्रतीत होता है कि कक्षीवान् क्षत्रिय था। उसे दान लेने का अधिकार नहीं था, फिर उसने दान क्यों लिया? क्योंकि दान लेने का काम ब्राह्मण का है, क्षत्रिय का नहीं। फिर शंका का समाधान यूँ करते हैं—

नैष दोषः। यद्यप्यसौ कलिङ्गाख्यस्य राज्ञः पुत्रस्तथापि तेन कलिङ्गेन स्वयं वृद्धत्वादपत्योत्पादनाय सामर्थ्यमलभमानेन तदुत्पादनाय याचितो दीर्घतमा ऋषिः।

उशिग्नामिकामपत्योत्पादनाय प्रेषितया राजमहिष्या अतिजठरेण महर्षिणा सह रन्तुं लज्जमानया स्ववस्त्राभरणैरलंकृत्य स्वप्रतिनिधित्वेन प्रेषितामुशिग्नामिकां योषितं दासीमित्यवगत्य मन्त्रपूतेन जलेनाभिषिच्य ऋषिपुत्रीं कृत्वा तया सह रमे। तदुत्पन्नः कक्षीवान्नाम ऋषिः।......अतोऽस्य क्षत्रियसम्बन्धात् कक्षीवानिति नाम उपपन्नम्। दीर्घतमसः परमर्षेरुत्पन्नत्वेन ब्राह्मणत्वात् प्रतिग्रहोऽ पि उपपन्न एव।

अर्थ—उपर्युक्त दान लेना दोष नहीं है। यद्यपि वह कक्षीवान् कलिङ्ग देश के राजा बलि का पुत्र था, परन्तु इस राजा बलि ने स्वयं बूढ़ा होने के कारण अपने में सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति न देखकर सन्तानोत्पत्ति के लिए दीर्घतमा ऋषि को बुलाया। उस राजा बलि द्वारा सन्तान उत्पन्न करने के लिए भेजी हुई सुदेष्णा ने बहुत बूढ़े ऋषि के साथ समागम करने में लज्जा मानकर दासी को अपने वस्त्र और आभूषणों से सजाकर भेज दिया। अपने स्थान पर भेजी हुई उशिक् नाम की स्त्री को 'यह दासी है' ऐसा जानकर मन्त्रों से पवित्र किये जल से स्नान कराकर ऋषिपुत्री बनाकर उसके साथ रमण किया। इससे कक्षीवान् नामक ऋषि उत्पन्न हुआ, इसलिए उसका क्षत्रिय के सम्बन्ध से कक्षीवान् नाम पड़ गया और परम ऋषि दीर्घतमा से पैदा होने के कारण ब्राह्मण होने से उसका दान लेना उचित था।

इस भाष्य में सायणाचार्य ने हूबहू महाभारत की कथा उद्धृत करके यह स्वीकार कर लिया है कि राजा बलि ने वृद्ध होने के कारण स्वयं में सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति न देखकर दीर्घतमा ऋषि को बुलाया और अपनी पत्नी को उसके पास भेजा, परन्तु उसने ऋषि के वृद्ध होने के कारण उससे घृणा करके अपनी दासी को भेज दिया, जिससे कक्षीवान् उत्पन्न हुआ। महाभारत में लिखा है कि जब राजा को यह पता लगा तो राजा ने ऋषि की अनुनय-विनय करके पुनः रानी को उसके पास भेजा, जिससे राजा के सन्तान उत्पन्न हुई। पोपजी! अब बतलाइए, इस सायणभाष्य से कैसे इन्कार करेंगे? इस वेदानुकूल रीति को पशुधर्म बतानेवाला स्वयं पशु है और इस लेख को माननेवाला महापशु है, क्योंकि वेदानुकूल कर्म करना धर्म और वेदविरुद्ध कर्म करने का नाम पाप है।

पोपजी—बाद में कुन्ती और माद्री का वर्णन किया कि उन्होंने धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमार देवताओं से नियोग करके पाण्डवों को उत्पन्न किया, परन्तु महाभारत में इन देवताओं से नियोग का कहीं भी वर्णन नहीं; वहाँ तो यह लिखा है कि महर्षि दुर्वासा कुन्ती को ऐसे मन्त्र सिखा गये थे, जिनके जपने से धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमार आये और इन देवताओं के वरदान से ही युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल व सहदेव पाँचों पाण्डव उत्पन्न हुए।

तोपजी—क्यों झूठ बोलने पर कमर बाँधी है? केवल मन्त्र जपने और वरदानमात्र से क्या कभी गर्भ हो सकता है? शब्द आकाश का गुण है। यह दर्शनों का निश्चित सिद्धान्त है कि गुणों से द्रव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। मन्त्र नाम परामर्श का है और वरदान नाम इच्छानुसार वस्तु के देने का है। यदि मन्त्र और वरदान का यह अर्थ लिया जाए कि ऋषियों के परामर्श से मन-पसन्द वस्तु अर्थात् वीर्यदान से सन्तान उत्पन्न हुई तो ठीक है।

पाण्डवों की उत्पत्ति से पूर्व हम दुर्वासा के मन्त्र और उसका प्रयोग करने से सूर्य के आने और कर्ण के उत्पन्न करने का वर्णन महाभारत से उद्धृत करते हैं, क्योंकि जिस विधि से सूर्य ने कर्ण को उत्पन्न किया, उसी विधि से, धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमारों ने युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव को उत्पन्न किया था। इस सम्बन्ध में महाभारत आदिपर्व, अध्याय १११ में इस प्रकार लिखा है—वसुदेव का पिता शूरसेन था। उसने अपनी पुत्री कुन्ती अपने मित्र कुन्तिभोज को गोद दे दी, क्योंकि कुन्तिभोज के कोई सन्तान नहीं

थी। वह कुन्ती पिता के घर में अतिथि-सेवा पर नियुक्त थी। इसने अपने पिता के घर आये हुए दुर्वासा मुनि की खूब सेवा की। दुर्वासा ने प्रसन्न होकर—

तस्यै स प्रददौ मन्त्रमापद्धर्मान्ववेक्षया। —महा० आदि० १११।६ [गीता० अ० ११०]

कुन्ती को आपद्धर्म में आवश्यकता के लिए एक मन्त्र बताया कि इस मन्त्र से तू जिस-जिस देवता का आवाहन करेगी, उस-उसके प्रभाव से तुझे सन्तान हो जाएगी। कुन्ती ने कौतूहल से मन्त्र की परीक्षा के लिए उस मन्त्र से सूर्य को बुलाया। उससे सूर्य तुरन्त आ गया और बोला—कुन्ती! बता मैं तेरा क्या कार्य करूँ? कुन्ती ने कहा—भगवन्! एक ब्राह्मण ने मुझे देवताओं को बुलाने की विद्या बताई थी। केवल उसकी परीक्षा करने के लिए मैंने आपको बुलाया है, आप मुझे क्षमा करें। सूर्य ने कहा—तूने मुझे बुलाया है, मैं खाली जानेवाला नहीं हूँ। मेरे खाली जाने पर भी तुझे शाप लगेगा, अतः

संत्यज्य भयमेवेह क्रियतां सङ्गमो मम॥ १३॥

तू हर प्रकार का भय छोड़कर मेरे साथ समागम कर। बहुत समझाने पर भी वह—

बन्धुपक्षभयाद् भीता लज्जया च यशस्विनी॥ १६॥

माता-पिता आदि सम्बन्धियों के भय से और लज्जा से इस कार्य के लिए तैयार नहीं हुई। अन्ततः सूर्य ने कहा—तू मेरे प्रसाद से निर्दोष ही रहेगी। यह कहकर सूर्य ने '**सम्बभूव तया सह॥ १८॥**' कुन्ती के साथ समागम किया, जिससे कर्ण उत्पन्न हुआ। सूर्य ने उससे कहा कि तू कन्या ही हो जाएगी,अतः वह पुनः कन्या बन गयी।

अब इस कथा पर तनिक विचार करें। इसमें सूर्य ने कर्ण को वरदान से उत्पन्न नहीं किया अपितु समागम से उत्पन्न किया है। यदि समागम की आवश्यकता न होती तो कुन्ती अपने सम्बिन्धियों से क्यों डरती और लज्जा किस बात की होती? पुनः कन्या बनने से यह सिद्ध है कि पहले कन्यापन नष्ट हो गया था।

हमारे विचार में तो सूर्य, धर्म, इन्द्र, वायु आदि सब मनुष्य ही थे और दुर्वासा ने यह बात बताई कि आपत्काल में यूँ सन्तान उत्पन्न कर लेना धर्म है। आगे पाँचों पाण्डवों की उत्पत्ति में भी स्पष्टरूप से समागम का वर्णन है, वरदान की चर्चा भी नहीं है। देखिए धर्म के साथ नियोग करने का वर्णन यूँ है—

संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्त्तिधरेण ह। —महा० आदि० १२३।५

अर्थ—वह कुन्ती योगमूर्त्तिधारी धर्म के साथ संयुक्त हुई।

इससे आगे वायु के साथ नियोग का वर्णन यूँ है—

तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः। —वही १२३।१४

[गीताप्रेस संस्करण में अध्याय १२२]

अर्थ—उस वायु से भयंकर बलवाला भीम उत्पन्न हुआ।

इसके आगे इन्द्र के साथ नियोग का वर्णन इस प्रकार है—

अथाजगाम देवेन्द्रो जनयामास चार्जुनम्॥ —महा० आदि० १२३।३४

अर्थ—इसके पश्चात् देवताओं का राजा इन्द्र आया और उसने अर्जुन को उत्पन्न किया।

इसके पश्चात् अश्विनीकुमारों के नियोग का वर्णन यूँ है—

तावागम्य सुतौ तस्यां जनयमासतुर्यमौ॥ —महा० आदि० १२३।३४

अर्थ—उसके पश्चात् दोनों अश्विनीकुमारों ने उस माद्री में नकुल और सहदेव उत्पन्न किये।

महाभारत के इस प्रकरण में वरदान की चर्चा तक भी नहीं है। भला, पोपजी! यह

तो बताएँ कि दुर्वासा ने कुन्ती को जो मन्त्र का उपदेश किया था, वह सनातनधर्म के विरुद्ध तो नहीं, क्योंकि सनातनधर्म स्त्रियों को मन्त्र का उपदेश करना पाप मानता है; और फिर यदि आपकी बात मान भी ली जाए कि धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमारों ने कुन्ती और माद्री में युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव को वरदान से उत्पन्न किया, तो भी इससे यह तो सिद्ध हो गया कि पाण्डु सन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य था और उसकी स्त्रियों ने उसकी विद्यमानता में धर्म आदि से सन्तान पैदा की। इससे पति के जीवित होते हुए स्त्री का दूसरे पति से सन्तान उत्पन्न करना स्पष्ट सिद्ध है; अन्तर केवल सन्तान उत्पन्न करने की विधि में है, वास्तविक सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है, अतः हमारा सिद्धान्त सर्वथा ठीक है।

पोपजी—महाभारत में नियोग का नाम तक नहीं, फिर बलात् ही नियोग मान लेना आर्यसमाजियों की चालबाज़ी नहीं तो क्या है?

तोपजी—महाभारत में स्पष्ट रूप से नियोग और समागम का वर्णन विद्यमान है और यहाँ तक कि—

नियोगाच्च ममानघ। —महा० आदि० १०५।३६ [गीता० अ० १०४]

इस श्लोक में नियोग शब्द स्पष्ट रूप में पड़ा हुआ है, फिर बलात् वरदान, दृष्टि और योगशक्ति से सन्तान उत्पन्न करने का बहाना बनाना सनातनधर्मियों की चालबाज़ी नहीं तो और क्या है?

पोपजी—पाठको! महाभारत के जितने इतिहास लाला साहब ने दिये हैं, वे सब मनघड़न्त बनाकर ही लोगों को धोखा देने का प्रयत्न किया है। हमने इन इतिहासों की वास्तविकता प्रस्तुत करके सचाई लिख दी है। देवताओं के वरदान को नियोग बताना कितनी मूर्खता है!

तोपजी—सज्जन महाशयवृन्द! महाभारत के इतिहासों में स्पष्ट रूप से लिखा है कि व्यासजी, धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमारों ने अम्बिका, अम्बालिका, दासी, कुन्ती और माद्री से समागम करके धृतराष्ट्र, पाण्डु, विदुर, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव को उत्पन्न किया। इन स्थलों में वरदान, दृष्टि और योगशक्ति का चिह्न भी नहीं है, अपितु समागम का वर्णन करनेवाले शब्द विद्यमान हैं। पोपजी ने महाभारत का नाम लेकर ग़लत बातें लिखकर जनता को धोखे में रखने का प्रयत्न किया है, परन्तु हमने महाभारत का मूल पाठ लिखकर वास्तविकता को प्रकट कर दिया है। ऋषि-मुनि, देवता, विद्वान् लोगों के आचरण में आये हुए नियोग को दृष्टि, वरदान और योगशक्ति का बहाना बनाकर झुठलाना अज्ञानता, मूर्खता, कमीनापन और धोखेबाज़ी है।

पोपजी—चौथा नियोग।

तोपजी—पति के जीते-जी स्त्री से न रहा जाए तो नियोग करके सन्तान उत्पन्न कर ले। इसका विधान मनुस्मृति [९।७६] में इस प्रकार आता है—

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः। विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान्॥

अर्थ—यदि पति धर्म के कार्य के लिए बाहर गया हो तो स्त्री आठ वर्ष तक उसकी प्रतीक्षा करे, यदि पति विद्या-अध्ययन करने अथवा यश-प्राप्ति की इच्छा से बाहर गया हो तो स्त्री छह वर्ष तक उसकी प्रतीक्षा करे, और यदि पति काम के लिए अर्थात् धनादि की कामनाओं को पूरा करने के लिए गया हो तो स्त्री तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करे, इसके पश्चात् वह नियोग करके सन्तान उत्पन्न कर सकती है।

इसका तात्पर्य यह है कि यदि पति परदेश गया हुआ हो और कई वर्षों तक उसका

कोई पता न लगे कि वह जीवित है या मर गया है और है तो कहाँ है,—ऐसी स्थिति में स्त्री युवती हो और अपने-आपको वश में न रख सके तो वह नियोग करके सन्तान उत्पन्न कर सकती है। स्वामी दयानन्दजी महाराज ने भी यही लिखा है। वास्तविक बात तो यह है कि ऐसी स्थिति में और कोई नुस्खा सुझाया भी नहीं जा सकता। यदि ऐसी स्थिति में नियोग की आज्ञा न दी जाए तो व्यभिचार और गर्भपात होना अनिवार्य है।

पोपजी—नियोग का यह प्रकार तो पूरी तरह व्यभिचार ही है। ऐसी अवस्था में तो बाबू लोगों का दिवाला निकल जाएगा। यदि कोई महाशय विद्या के लिए विलायत चला जाए और छह वर्ष न आये तो स्त्री से छुट्टी। यदि किसी अन्य प्रदेश में नौकर हो जाए तो घर की स्त्री से हाथ धो बैठे। क्या उत्तम उपाय निकाला है कि बेचारे निर्धन भारतीय विदेशों की कमाई से वञ्चित रहें अथवा स्त्री से छुट्टी समझें!

तोपजी—अक़्ल बड़ी या भैंस? लाख समझाने पर भी 'मुर्गे की वही एक टाँग' वाली उक्ति आपपर ही चरितार्थ होती है। आपकी समझ में अभी तक इतनी मोटी बात भी नहीं आई कि व्यभिचार किसे कहते हैं? जो स्त्री और पुरुष का सब नियम और व्यवस्थाओं को भङ्ग करके गुप्त रूप से गोपनीय सम्बन्ध है, उसका नाम व्यभिचार है। चूँकि नियोग की परम्परा वेद और शास्त्र के अनुसार सभा-समाज के नियमों के पालन से विधिपूर्वक पञ्चायत में पूर्ण की जाती है, अतः उसे व्यभिचार नहीं कहा जा सकता। यदि व्यभिचार के उदाहरण देखने हों तो पुराणों में देखें। देवताओं के गुरु बृहस्पति ने उतथ्य ऋषि की गर्भवती स्त्री ममता से बलात् समागम किया। कृष्ण ने रातभर कुब्जा को इतना रगड़ा कि प्रातः होते-होते बेचारी के प्राण निकल गये। ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी ने अत्रि मुनि की पत्नी अनसूया को बलात् पकड़ लिया। चन्द्रमा ने अपने गुरु की पत्नी तारा को बलात् पकड़ लिया आदि-आदि व्यभिचार के सैकड़ों उदाहरण आपकी सन्तुष्टि के लिए पुराणों से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। व्यभिचार इसका नाम है; नियोग का नाम व्यभिचार नहीं है।

आपने जो किसी महाशय के विलायत विद्या पढ़ने और अन्य प्रदेश में नौकरी करने का उदाहरण दिया है, इससे प्रतीत होता है कि आपने इस प्रकरण को समझा ही नहीं है, क्योंकि यहाँ पर स्त्रियों के आपद्धर्म अर्थात् संकट के समय क्या करना चाहिए, इसका वर्णन है। देखिए, मनुजी इससे पूर्व अध्याय ९, श्लोक ५६ में क्या कहते हैं—

अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ५६ ॥

अर्थ—इससे आगे मैं स्त्रियों के आपद्धर्म का वर्णन करूँगा।

और आपद्धर्म की क्या परिभाषा है, इसके लिए मनुस्मृति, अध्याय ११, श्लोक २९ का अवलोकन कीजिए—

विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २९ ॥

अर्थ—सभी देवताओं, साध्यों=विद्वानों, ब्राह्मणों और महर्षियों ने संकट के समय मृत्यु के भय से भयभीत होकर आदर्श धर्म के स्थान पर उसके प्रतिनिधि धार्मिक कर्मों का विधान किया है।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि आदर्श धर्म का पालन करते हुए जब मृत्यु सामने दिखाई देती हो और आदर्श धर्म से गिरकर पतित होने की सम्भावना हो, ऐसे समय में आपद्धर्म के पालन करने की आज्ञा है। जो व्यक्ति बिना संकट के समय के आपद्धर्म का पालन करता है, वह पतित हो जाता है। देखो मनुस्मृति—

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः। स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम्॥

—मनु० ११।२८

अर्थ—जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बिना आपत्काल के आपत्कालीन धर्म-कार्यों का आचरण करता है, वह इसके फल को इस लोक में और परलोक में प्राप्त नहीं होता, यह सुनिश्चित बात है।

इसलिए यदि कोई महाशय विद्या पढ़ने विलायत चला जाए अथवा किसी अन्य प्रदेश में नौकर हो जाए और छह वर्ष या तीन वर्ष तक उसका कोई पता न लगे कि कहाँ है, मर गया है या जीवित है और उसकी जवान पत्नी आदर्श धर्म का पालन न कर सकती हो, अर्थात् अपने-आपको वश में न रख सके और उसके व्यभिचार, गर्भपात आदि नैतिक मृत्यु के चक्कर में फँस जाने का डर हो तो वह भी नियोग कर सकती है। ऐसी स्थिति में यदि हमारा प्रस्तावित किया हुआ नियोग का उपाय ठीक नहीं है, तो आप कृपा करके इससे उत्तम कोई उपाय जनता के समक्ष प्रस्तुत करें। यदि विदेशों में कमाई करनेवाले यह नहीं चाहते कि उनकी स्त्रियाँ आपत्काल में नियोग करें तो वे उन्हें साथ ले-जा सकते हैं, कुछ समय के पश्चात् अवकाश लेकर घर आ सकते हैं और पत्र-व्यवहार करते रहकर तथा खर्च भेजकर स्त्री को अपने पास बुला सकते हैं।

आप लोगों को बाबू लोगों के दिवाले की क्या चिन्ता है? बाबू और महाशय लोग बड़े चतुर होते हैं। वे अपना उचित प्रबन्ध स्वयं कर सकते हैं। आप अपनी चिन्ता करें। आपके लिए तो कहीं कथा करने के लिए जाना और स्नान करने के लिए जाना ही बहुत बड़ा संकट उत्पन्न कर सकता है। देखिए, आपका जाति-भाई त्रिपाठी ब्राह्मण वैश्यों की एक नगरी में कथा कहने गया कि उसकी स्त्री कामिनी ने एक लकड़हारे को घर से पाँच रुपये शुल्क देकर उससे भोग कर लिया। आपके दादा गुरु गौतम मुनि नदी पर स्नान करने गये कि झट इन्द्र ने भवन में प्रविष्ट होकर अहल्या से यौवन का दान माँग लिया और अहल्या ने उसे इन्द्र जानकर प्रसन्नतापूर्वक उसके साथ समागम किया।

महाशय लोग तो नियोग की रस्म को समाज की आज्ञा से होना मानते हैं, परन्तु आपके घरों में देवताओं की ओर से या कामिनियों की ओर से जो व्यभिचार हर समय होते रहते हैं, तनिक इनकी चिकित्सा करने के लिए मस्तिष्क पर बल डालने का प्रयत्न कीजिए।

पोपजी—अस्तु! अब हम मनुस्मृति के प्रमाण के विषय में विचार करते हैं। मनुस्मृति का प्रमाण देते हुए लाला मनसारामजी ने अत्यन्त चतुरता से काम लिया है। इस श्लोक के पहले प्रसंग को और अन्तिम प्रमाण को छोड़कर मध्य का श्लोक लिखकर धोखा दिया है। हम लाला साहब के प्रमाण के श्लोक से पहले दो श्लोकों को लिखकर आर्यसमाजी विद्वान् का ही अर्थ लिखते हैं, जिससे लाला साहब का रचा हुआ मायावी इन्द्रजाल टूट जाएगा। मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक ७४, ७५ का अर्थ—

जब कहीं यात्रा पर जाना हो तो पहले अपनी स्त्री के भोजन और वस्त्र का प्रबन्ध करे, पश्चात् विदेश में जाए, क्योंकि क्षुधा [भूख] की अधिकता से उत्तम स्त्री भी धर्म से गिर सकती है।

खाने-पीने का प्रबन्ध करके परदेश जाने के पश्चात् उसकी स्त्री संयम से रहकर जीवन-यापन करे। यदि पति भोजन-छादन का प्रबन्ध किये बिना परदेश चला जाए तो पत्नी सूत कातने से या प्रशंसनीय शिल्पकला से अपना जीवन यापन करे।

तोपजी—यदि धोखा देने का नाम चतुरता है तो वह आपपर ही चरितार्थ होती है कि

आर्य विद्वान् का दो श्लोकों का अर्थ तो कर दिया और विवादास्पद श्लोक का अर्थ छोड़ दिया। क्यों न हो, इस श्लोक का अर्थ लिखने से आपके ढोल की पोल खुलती थी। ये श्लोक तो हमारा समर्थन करते हैं, खण्डन नहीं, क्योंकि इनमें लिखा है कि 'भूख की अधिकता से उत्तम स्त्री भी धर्म से गिर जाती है'। यदि किसी स्त्री के भोजन-छादन का प्रबन्ध उसका पति कर गया हो अथवा प्रबन्ध न करने की स्थिति में कातने आदि की आय से निर्वाह कर सके और ब्रह्मचारिणी रहकर पति की प्रतीक्षा कर सके तो प्रसन्नता से रहे—यह आदर्श धर्म का पालन है; परन्तु यह तो बतलाइए कि यदि पति कोई प्रबन्ध करके न गया हो और श्रम से भी निर्वाह न हो सके तथा जवान होने के कारण अपने-आपको वश में भी न रख सके और ऐसी संकट की स्थिति में उसके धर्म से गिर जाने की सम्भावना हो, तो आप क्या उपाय बताते हैं? इस बारे में आप चुप हैं। श्रीमन्! इसका उपाय भी वही आर्यसमाजी विद्वान् बतलाएगा जिसके दो श्लोकों का अर्थ आपने लिखा है। उसका नाम लेने से आप ऐसे संकोच करते हैं, जैसे पौराणिक स्त्री अपने पति का नाम लेते हुए झिझकती है। आप नाम न लें, हम लिख देते हैं, उनका नाम स्वामी दर्शनानन्दजी है। उन्होंने विवादास्पद श्लोक का जो अर्थ किया है उसे आप छोड़ गये हैं। हम उसका अर्थ लिख देते हैं, जिससे जनता को आपकी चतुरता, छल-कपट और धोखेबाज़ी का पता लग जाए—

तीसरे श्लोक [९। ७६] का अर्थ—स्त्री धर्मकार्य के लिए परदेश गये हुए पति के आदेश का पालन आठ वर्ष तक करे और विद्या-अध्ययन के लिए परदेश गये हुए पति के आदेश का पालन छह वर्ष तक करे तथा व्यापार और यश के लिए परदेश गये हुए पति के आदेश का पालन तीन वर्ष तक करे।

इस श्लोक पर टिप्पणी—श्लोक ७६ में जो लिखा है कि आठ वर्ष तक पति की प्रतीक्षा करे, बाद में नियोग से सन्तान उत्पन्न करे, यदि वह ब्रह्मचर्य से न रह सके तो, परन्तु व्यभिचार कदापि न करे।

अब कहिए पोपजी महाराज! आर्य विद्वान् के अर्थ आपके सिद्धान्त का समर्थन करते हैं या खण्डन?

पोपजी—इसके आगे वही श्लोक है, जिसका अर्थ लाला साहब ने लिखा है। वह अर्थ ठीक है, परन्तु उसका परिणाम लिखते हुए कुल्लूकभट्ट लिखते हैं कि यदि पति का रक्खा हुआ भोजन आदि का सामान समाप्त हो जाए तो वह स्त्री पति के पास चली जाए। मनुस्मृति के टीकाकार सर्वज्ञनारायण लिखते हैं कि सामान समाप्त होने पर स्त्री पति के पास चली जाए। राघवानन्द अपनी टीका में लिखते हैं कि इसके पश्चात् स्त्री अपने पति के पास चली जाए। वसिष्ठजी ने अपनी वसिष्ठस्मृति [१७।६१] में लिखा है कि स्त्री नियत किये हुए समय के पश्चात् अपने पति के पास चली जाए।

तोपजी—अन्धी देवी के गंजे पुजारी! जैसे ऊतनाथ वैसे ही भूतनाथ। जैसे आप, वैसे ही आपके साक्षी। इन समस्त टीकाकारों ने इस बात का विचार नहीं किया कि यहाँ पर प्रकरण आपद्धर्म का है, यूँही परिणाम निकाल बैठे।

१. यदि मनु महाराज का तात्पर्य भोजन आदि की सामग्री समाप्त होने पर पति के पास जाने का होता तो फिर आठ, छह और तीन वर्ष की अवधि निश्चित करने की क्या आवश्यकता थी? इतना लिखना पर्याप्त था कि भोजनादि सामग्री समाप्त होने पर पति के पास चली जाए; अतः उपर्युक्त कल्पना व्यर्थ है।

२. यदि भोजन आदि की सामग्री का प्रबन्ध करके ही न गया हो तो फिर कब जाए?

३. यदि पति के निवास का पता हो और वहाँ जाने के लिए खर्च भी हो और पत्र-व्यवहार भी हो तो फिर उपर्युक्त अवधि निश्चित करना व्यर्थ है, जब चाहे अपने पति के पास जा सकती है और उसमें कोई आपत्काल भी नहीं है।

४. यदि पति का पता ही न हो कि कहाँ है, जीवित है या मर गया है और भोजन आदि की सामग्री भी समाप्त हो जाए और अपने-आपको वश में भी न रख सके तो ऐसी अवस्था में क्या करे ? इसका उत्तर आपके टीकाकार क्या देते हैं ? आपत्काल तो इसी का नाम है और इसी का समाधान करने की मनुजी की प्रतिज्ञा है और इसी का समाधान करना बुद्धिमत्ता की बात है कि ऐसी अवस्था में स्त्री व्यभिचार और गर्भपात की नैतिक मृत्यु के चक्कर में न आ जाए। इसका उपाय नियोग ही है, और इसके करने के लिए ही प्रतीक्षा करने की अवधि नियत की गयी है। इसके अतिरिक्त इस संकट की और कोई चिकित्सा नहीं है।

वसिष्ठस्मृति का जो प्रमाण आपने अपने समर्थन में दिया है, वहाँ तो पति के पास जाने की चर्चा तक नहीं है, अपितु इसने तो ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त की पुष्टि की है। अवलोकन कीजिए—

प्रोषितपत्नी पञ्चवर्षा प्रवसेद्यद्यकामा यथा प्रेतस्य एवं च वर्तितव्यं स्यात्। एवं पञ्च ब्राह्मणीप्रजाता चत्वारि राजन्याप्रजाता त्रीणि वैश्याप्रजाता द्वे शूद्राप्रजाता। अत ऊर्ध्वं समानोदकपिण्डजन्मर्षिगोत्राणां पूर्वः पूर्वो गरीयान्। न खलु कुलीने विद्यमाने परगामिनी स्यात्।

—वसिष्ठ० अ० १७

अर्थ—परदेश गये हुए पति की स्त्री यदि अपनी इच्छा को रोक सके तो पाँच वर्ष तक प्रतीक्षा करके जैसे मृत पति की स्त्री व्यवहार करती है, वैसा व्यवहार करे। ऐसी ही पाँच वर्ष ब्राह्मणी को हो जाएँ, चार वर्ष क्षत्राणी को हो जाएँ, तीन वर्ष वैश्य की स्त्री को हो जाएँ और दो वर्ष शूद्रा को हो जाएँ, इसके पश्चात् पर-पति के पास चली जाए। अपना निकटस्थ, अपने कुल का, अपने वर्ण, अपने ऋषि और अपने गोत्रों में से पूर्व-पूर्व का पति अधिक श्रेष्ठ है। कुलीन के विद्यमान होने पर दूसरे के साथ समागम करनेवाली न हो।

बतलाइए पोपजी महाराज! यह प्रमाण हमारे सिद्धान्त का समर्थन करता है या आपके सिद्धान्त का ?

पोपजी—कहिए महाशय! इन प्रमाणों में आपका नियोग कहाँ है ? नियोग स्पष्ट व्यभिचार की शिक्षा है। मनुजी ने इसे पशुओं का धर्म बताया है। वेदों में इसका नाम तक नहीं। स्वयं आर्यसमाजी इसे व्यभिचार की शिक्षा जानकर बुरा बतलाते हैं, तो नक्कारखाने में आपकी तूती की आवाज़ कौन सुने ?

तोपजी—कहिए पोपजी महाराज! नियोग के बिना इन प्रमाणों की संगति लगती दृष्टगोचर नहीं होती। नियोग व्यभिचार और गर्भपात के रोग को रोकनेवाली, वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित, व्यास आदि ऋषियों की अनुभूत अमोघ औषध है। मनुजी का सिद्धान्त नियोग के पक्ष में है। आप-जैसे पशुओं की करतूत का परिणाम राजा वेनवाले श्लोक हैं। नियोग को सनातनधर्म कहा गया है। नियोग को व्यभिचार की रस्म बतानेवाले आर्यसमाजी कहलाने के अधिकारी नहीं, अपितु वे स्वयं व्यभिचारी, छली और धोखेबाज़ हैं, जो किसी समाज में रहते हुए उसके सिद्धान्तों में आस्था नहीं रखते। सिद्धान्तों को जाननेवाले धर्मप्रेमी आर्यसमाजी नियोग के सोलह आने श्रद्धालु हैं। फिर वेदानुकूल स्मृतियों से सिद्ध, सदाचारसिद्ध धर्म, युक्तियुक्त सिद्धान्त नियोग के विरुद्ध आपके टर्र-टर्र की कौन परवाह करता है ? हाथियों के पीछे सैकड़ों कुत्ते भौंकते रहते हैं, परन्तु हाथी अपनी मस्त

चाल चलते रहते हैं।

पोपजी—देखो! 'आर्यसमाज का इतिहास' नामक पुस्तक के पृष्ठ ८४ पर आपके आर्यसमाजी पण्डित नरदेवजी शास्त्री लिखते हैं कि चारों वेदों में ऐसा एक भी मन्त्र नहीं जिसमें नियोग की आज्ञा हो। 'कुह स्विद् दोषा' आदि मन्त्र में 'विधवेव देवरम्' ऐसा आया है, परन्तु यह नियोग को सिद्ध नहीं करता। नियोग वेदों के विरुद्ध होने से व्यभिचार है।

तोपजी—यह बात हम पहले लिख आये हैं कि हमारे लिए यदि आप पोप हैं तो नरदेवजी डबल पोप हैं। उनका लेख अनार्षकोटि में होने के कारण अप्रमाण है। आर्यसमाज इसका उत्तरदायी नहीं है। नरदेवशास्त्री का यह लिखना कि चारों वेदों में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है जिसमें नियोग की आज्ञा हो, सूर्य से इन्कार करने के समान है, क्योंकि वेद में बीसियों ऐसे मन्त्र विद्यमान हैं, जिनमें स्त्री को दूसरे पति का अधिकार स्वीकार किया गया है, जिसमें पुनर्विवाह और नियोग दोनों सम्मिलित हैं। हम कितने ही मन्त्र पीछे लिख आये हैं, जिन्हें पुन: लिखने की आवश्यकता नहीं है। यह लिखना तो सरल है कि **'कुह स्विद् दोषा'** मन्त्र में आये हुए **'विधवेव देवरम्'** से नियोग सिद्ध नहीं होता, परन्तु यह बताना कठिन है कि इस पद पर निरुक्तकार ने भाष्य करते हुए जो लिखा है कि **'देवर: कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते'** अर्थात् 'देवर को इसलिए देवर कहते हैं कि वह विधवा का दूसरा वर होता है' इसका क्या करोगे? इसकी विद्यमानता में कोई विधवा-विवाह अथवा नियोग से इन्कार कैसे कर सकता है? वेदों के अनुकूल होने और विधिपूर्वक समाज के समक्ष रस्म पूरी होने के कारण कोई भी बुद्धिमान् नियोग को व्यभिचार नहीं मान सकता।

पोपजी—लाला मुंशीरामजी प्रसिद्ध स्वामी श्रद्धानन्दजी ने अपने लिखित 'आदिम सत्यार्थप्रकाश' नामक पुस्तक में लिखा है कि ''नियोग वैदिक लोगों के लिए नहीं, अवैदिक शूद्रों के लिए ही है।'' ला० मुंशीराम प्रसिद्ध स्वामी श्रद्धानन्दजी ने नियोग को व्यभिचार जानकर ही शूद्रों को सौंप दिया है।

तोपजी—स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज आर्यसमाज के पूज्य नेता थे। हम उनका हृदय से आदर करते हैं, परन्तु आर्यसमाज ने उन्हें कभी भी ऋषि स्वीकार नहीं किया, अत: हम बड़े आदर के साथ निवेदन करेंगे कि आर्यसमाज के सिद्धान्तों के अनुसार उनका लेख भी अनार्ष है और आर्यसमाज इसके लिए उत्तरदायी नहीं है। हमने उनकी लिखी पुस्तक 'आदिम सत्यार्थप्रकाश' को अच्छी प्रकार पढ़ा है। उनके लेख से यह पता लगता है कि इस युग में वे नियोग से विधवा-विवाह को उत्तम मानते हैं और उनके सारे लेख में पोपजी द्वारा लिखित शब्द कि 'नियोग वैदिक लोगों के लिए नहीं, अवैदिक शूद्रों के लिए ही है', कहीं भी नहीं हैं। हम पोपजी को चैलेञ्ज देते हैं कि वे स्वामी श्रद्धानन्दजी के सारे लेख से ये शब्द निकालकर दिखाएँ! परन्तु दिखाएँ कहाँ से जब ये शब्द हैं ही नहीं? यदि यह छल-कपट, झूठ और धोखेबाज़ी इन लोगों में न हो तो उनकी 'पोप' पदवी कैसे सार्थक हो सके। स्वामीजी का लेख भी सनातनधर्म के सिद्धान्त का खण्डन ही करता है, क्योंकि वे स्त्री को दूसरे पति का अधिकार स्वीकार करते हैं और यह भी स्वीकार करते हैं कि जो लोग वेद के आदर्श धर्म का पालन करनेवाले हैं उनके लिए पाणिग्रहणसंस्कार और आदर्श धर्म का पालन न करनेवालों के लिए नियोग है। अब उनका लेख देखिए—

वेद की जो आदर्श वर्ण-व्यवस्था है, उसपर चलते हुए आर्यों को तो नियोग की आवश्यकता ही नहीं हो सकती, और यदि उन्हें आवश्यकता पड़ भी जाए तो सन्तान के सर्वथा अभाव में विधवा नारी तथा विधुर पुरुष एक-दूसरे का पाणि-ग्रहण करके सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं; सन्तान उत्पन्न होने पर ऐसे आर्य दम्पती पितृऋण से मुक्त हो जाएँगे। —पृ० ५७

मनुजी ने जो नियोग की विशेष विधि लिखी है, वह ऐसे मनुष्यों के कल्याण के लिए है जो वर्णाश्रम के ऊँचे आदर्श से गिरकर पौराणिक गड्ढे में गिर चुके हों। —पृ० ५८

स्वामी दयानन्द ने पौराणिक आर्यों पर बड़ी दयादृष्टि करके उनके भले के लिए नियोग की इस विस्तृत विधि का उद्धरण मनुस्मृति से कर दिया। —पृ० ५८

पुरुष चाहे कितनी भी स्त्रियाँ क्यों न कर ले उसका काम शास्त्रविरुद्ध नहीं समझा जाता, कैसा अनर्थ है! कैसा अन्याय है! कैसा अधर्म फल रहा है! धन्य तुम्हारा सामाजिक नियम! आजकल की सामाजिक व्यवस्था देखकर तो मानना पड़ता है कि उससे विधवा-विवाह प्रत्येक प्रकार से उत्तम है। यह बात पुराने आर्यलोगों के रिवाज के विरुद्ध नहीं है। —पृ० ५९

अब इसके साथ जम्मू की ताज़ा घटना की तुलना कीजिए—एक आर्यजाति की विधवा का, उसका धर्म बचाने के लिए जो पुनर्विवाह आर्यसमाज ने आरम्भ कर दिया तो सनातनधर्म के स्तम्भ श्री महाराजा बहादुर काश्मीर-नरेश ने सुनकर सन्तोष प्रकट किया और कहा कि 'पतित को बचाना धर्म है।' —पृ० ६०

स्वामीजी के इस सारे लेख को पढ़कर प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति यह परिणाम निकाले बिना नहीं रह सकता कि स्वामी श्रद्धानन्दजी सम्प्रति नियोग की अपेक्षा विधवा-विवाह को अधिक श्रेष्ठ मानते हैं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि स्वामीजी आजकल के लोगों को नियोग के प्रतिबन्धों पर आचरण करने के अयोग्य समझते थे। इस लेख से पोपजी का प्रबल खण्डन होता है, क्योंकि स्वामीजी ने नियोग को व्यभिचार समझकर अवैदिक शूद्रों को सौंपना कहीं भी नहीं लिखा।

पोपजी—एक बार पेशावर के न्यायालय में मेहरचन्द सदस्य आर्यसमाज ने गङ्गाराम सनातनधर्मी पर नियोग के विषय पर मुकदमा [अभियोग] चलाया था और प्रथमश्रेणी के न्यायाधीश ने ८ दिसम्बर १८९१ को इस अभियोग का दो न्यायालयों का निर्णय सुनाया था (निर्णय की नकल) आदि-आदि।

तोपजी—डूबते को तिनके का सहारा। जब वेद, स्मृति, रामायण और महाभारत में मुँह की खाई तो अंग्रेजों के न्यायालय की शरण ली और एक कट्टर सनातनधर्मी मेहरचन्द को आर्यसमाज का सदस्य बनाया और इससे ही गङ्गाराम सनातनधर्मी पर नियोग के विषय पर न्यायालय में अभियोग चलवाया, और वादी मेहरचन्द से न्यायालय में वकील की जिरह के उत्तर में इच्छानुसार नियोग और सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध बात स्वीकार करवाईं। जब वादी ही प्रतिवादी के पक्ष में निर्णय कराने की बेईमानी पर तुला हो तो न्यायालय क्या कर सकता है! फलस्वरूप न्यायालय ने सत्यार्थप्रकाश और नियोग के विरुद्ध निर्णय दे दिया।

जब यह चाल खेली जा चुकी तो आर्यसमाज को पता लगा। वादी को तो अपील क्या करनी थी, क्योंकि उसने तो ऐसे ही निर्णय के लिए अभियोग चलाया था। जब आर्यसमाज को वादी की बेईमानी का पता लगा तो आर्यसमाज ने अपील की, परन्तु मिसिल में तो आर्यसमाज के सम्बन्ध में विषय आने ही नहीं दिया गया था और अपील में निर्णय मिसिल के विषय के आधार पर ही होता है, परिणाम यह कि अपील में निर्णय आर्यसमाज के विरुद्ध हुआ और सनातनधर्म के पण्डितों को आर्यसमाज के विरुद्ध एक गीदड़-परवाना मिल गया और जहाँ जाते हैं वहाँ यह आदेश-पत्र दिखाकर 'पिदरम सुलतान बूद, पिदरम सुलतान बूद[1]' का शोर मचाते फिरते हैं। यदि आर्यसमाज चाहता तो उसकी हाईकोर्ट में अपील करके

१. मेरा पिता बादशाह-राजा था, मेरा पिता बादशाह था।

उसे रद्द करवा सकता था और इस प्रकार से सैकड़ों अभियोग सनातनधर्म की पुस्तकों के विरुद्ध चलवाकर उनके विरुद्ध निर्णय प्राप्त कर सकता था, परन्तु आर्यसमाज की शिरोमणि सभा आर्य प्रतिनिधि सभा ने समाज को परामर्श दिया कि इस प्रकार के अभियोगों में पड़ना व्यर्थ में अपने धन और समय को नष्ट करना है, क्योंकि वर्त्तमान राज्य वैदिक राज्य नहीं है और न ही वर्त्तमान सरकार के नियम वेदानुकूल हैं, और न ही वर्त्तमान विधान के अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीश वेदों के विद्वान् हैं, अतः वर्त्तमान सरकार के विधान के अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णय धार्मिक सिद्धान्तों पर तनिक भी प्रभावशाली नहीं हो सकते। मनुस्मृति [१२।११२] में स्पष्ट लिखा है कि धर्म-अधर्म के निर्णय के लिए न्यायालय कैसा होना चाहिए।

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च। त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥

अर्थ—धर्म के विषय में यदि सन्देह उत्पन्न हो जाएँ तो उनके निर्णय के लिए ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को जाननेवाले तीन व्यक्तियों की परिषद् (बैञ्च) निर्णय कर सकती है।

अतः धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिए वर्त्तमान विधान और न्यायालयों के निर्णयों का कोई भी मूल्य नहीं है। यदि सनातनधर्म वर्त्तमान विधि-विधान को और वर्त्तमान विधान के अन्तर्गत चलनेवाले न्यायालयों के निर्णयों को धर्म के विषय में कसौटी मानता है तो सनातनधर्म को तो वर्त्तमान पौराणिकधर्म को सर्वथा तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी, क्योंकि वर्त्तमान विधान समस्त धर्मों के विरुद्ध है। हम उदाहरण के रूप में कुछ नमूने प्रस्तुत करते हैं—

सनातनधर्म का सिद्धान्त	वर्त्तमान विधान
१. मद्यपान (शराब पीना) पाप है।	मद्यपान अपराध नहीं है, वरन् सरकार ठेके नीलाम करती है।
२. मांस खाना पाप है।	मांसभक्षण अपराध नहीं है, वरन् सरकार मांस की दुकानों को प्रमाण-पत्र देती है।
३. वेश्या-गमन पाप है।	वेश्या-गमन पाप नहीं है, वरन् वेश्याएँ सरकारी प्रमाण-पत्र लेकर पेशा करना आरम्भ करती हैं।
४. गोहत्या महापाप है।	गोवध अपराध नहीं है, वरन् सरकार बूचड़खानों की स्वीकृति देती है।
५. कन्याओं को पढ़ाना पाप है।	स्त्रियों की शिक्षा की आज्ञा है, वरन् सरकार कन्या-पाठशालाएँ खोलती है।
६. स्त्रियों का वेद पढ़ना पाप है।	स्त्रियाँ शास्त्री परीक्षा में वेद पढ़ती हैं, सरकार उनकी पढ़ाई का प्रबन्ध करती है।
७. शूद्रों का वेद पढ़ना पाप है।	प्रत्येक मनुष्य वेद पढ़कर शास्त्री परीक्षा दे सकता है।
८. भंगी, चमार धानकों के कुओं पर चढ़ने से सनातनधर्म नष्ट होता है।	सार्वजनिक कुओं पर प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति पानी भर सकता है, अपितु चमारों आदि के बारे में हाईकोर्ट का निर्णय विद्यमान है।
९. यदि भंगी, चमार, धानकों के लड़कों के साथ ब्राह्मण आदि के लड़के बैठकर शिक्षा पाएँ तो सनातनधर्म रसातल को चला जाता है।	प्रत्येक सरकारी स्कूल में प्रजा का प्रत्येक लड़का शिक्षा पा सकता है और घृणा करनेवाले अध्यापक को हटा दिया जाता है।

१०. विधवा-विवाह पाप है।	विधवा-विवाह एक्ट सरकार ने पास किया हुआ है। विधवा-विवाह वैध है, उसकी सन्तान भी वैध और सम्पत्ति की उत्तराधिकारी है।
११. पति के साथ सती होना धर्म है।	सती-प्रथा विधान के अनुसार अपराध है और उसकी सहायता करनेवालों पर अभियोग चलाया जाता है।
१२. काशी में करवट लेकर मरना धर्म है।	आत्महत्या करना अपराध है और सरकारी आज्ञा से काशी-करवट लेना सर्वथा बन्द है।
१३. बाल-विवाह [छोटी अवस्था की शादी] धर्म है।	शारदा एक्ट के अनुसार चौदह वर्ष से पूर्व लड़की और अठारह वर्ष से पूर्व लड़के का विवाह होना अपराध है। लड़के-लड़की के पिता और पुरोहित को दण्ड दिया जाता है।
१४. कालीदेवी आदि पर नर-बलि धर्म है।	नर-बलि कानून अपराध है और उसकी सहायता करनेवालों को दण्ड दिया जाता है।
१५. विदेश और समुद्र-यात्रा पाप है।	विदेश और समुद्र-यात्रा अपराध नहीं है बाधा डालनेवाले अपराधी हैं, काशी का निर्णय विद्यमान है।
१६. शुद्धि अर्थात् ईसाई-मुसलमानों को हिन्दूधर्म में मिलना पाप है।	धर्म-परिवर्तन करना कोई अपराध नहीं है, सैकड़ों मुकदमे सनातनधर्म के विरुद्ध विद्यमान हैं।

सारांश यह कि इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि वर्त्तमान विधान सनातनधर्म के सिद्धान्तों के अत्यधिक प्रतिकूल है और इसके अधीनस्थ न्यायालयों के सैकड़ों निर्णय सनातनधर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध विद्यमान हैं, तो क्या इस अवस्था में सनातनधर्म वर्त्तमान विधान और उसके अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णयों को धर्म-अधर्म की कसौटी मानने के लिए तैयार है? कदापि नहीं। अतः कुछ विवेक की बात करो। पक्षपात में पकड़कर पागल मत बनो! वेदों और शास्त्रों को छोड़कर अंग्रेज़ी विधान की शरण लेकर सनातनधर्म की विजय सर्वथा असम्भव है, अतः सिद्धान्त की बात स्वीकार करो। सिद्धान्त यह है कि राजा का विधान स्मृतियों का स्थान रखता है, परन्तु कोई स्मृति धर्म के विषय में तब तक प्रमाण नहीं मानी जा सकती जब तक कि वह वेद के अनुकूल न हो। इस विषय में मनुस्मृति [१२।९५-९६] में स्पष्ट लिखा है—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥

अर्थ—जो स्मृतियाँ (विधान) वेदविरुद्ध हैं और जो कोई स्मृतियाँ पाप से लिप्त हैं—

पापपूर्ण हैं, वे सब इस लोक में और परलोक में व्यर्थ हैं, क्योंकि वे अज्ञान से पूर्ण हैं।

जो कोई स्मृतियाँ वेदों के विरुद्ध हैं वे पैदा होती हैं और नष्ट हो जाती हैं—बनती और बिगड़ती हैं, वे सब नूतन होने के कारण व्यर्थ और झूठ हैं।

क्योंकि वर्तमान विधान वेद के अनुसार नहीं है, अतः वह धर्म-अधर्म के निर्णय में सर्वथा व्यर्थ और झूठा है। इसलिए इस विधान का और इस विधान के अन्तर्गत चलनेवाले न्यायालयों के निर्णय का वैदिक सिद्धान्तों से कोई सरोकार नहीं है। मैं आशा करता हूँ कि आप इस सिद्धान्त को समझने के पश्चात् अपने लेख पर अवश्य लज्जित होंगे।

पोपजी—अब पाठक सोच सकते हैं कि ऐसा नियोग हिन्दुओं के लिए कहाँ तक उत्तम हो सकता है। जबकि वेद-शास्त्र नियोग की आज्ञा नहीं देते और आर्यसमाज के विद्वान् उसे अच्छा नहीं समझते, वरन् न्यायालय ने उसके विरुद्ध निर्णय दिये हैं तो लाला साहब! आप इसे उचित सिद्ध करने के लिए क्यों झूठे प्रमाण दे रहे हैं?

तोपजी—बुद्धिमान् लोग स्वयं इस बात को विचार सकते हैं कि व्यभिचार, गर्भपात, बाजारों में पेशा करना और ईसाई-मुसलमानों के घरों में जाकर गोघातक सन्तान पैदा करना आदि पापों से विधवाओं को बचाने के लिए हिन्दुओं के लिए पुनर्विवाह और नियोग से बढ़कर उत्तम और कौन-सा नुस्खा हो सकता है, जबकि वेद और शास्त्र स्त्रियों को दूसरे पति का अधिकार देते हैं। देश के सारे विद्वान् और नेता इसके पक्ष में हैं और यहाँ तक कि सरकार ने भी विधवाओं की सहायता के लिए विधवा-विवाह एक्ट पास कर दिया है, तो फिर यह पोपमण्डल विधवा-विवाह और नियोग के विरुद्ध क्यों है? हम इस पोपमण्डल के स्वार्थ का कुछ नमूना यहाँ पर लिखते हैं—

१. **ब्राह्मण**—ये लोग विधवा-विवाह के इसलिए विरुद्ध हैं कि यदि विधवाओं का विवाह हो गया तो ये अपने पुत्र-पुत्रियों का विवाह करेंगी जिसमें आय कम होगी। विधवा होने की अवस्था में ये तुलसी-सालिग्राम, पीपल-पीपली, खोह-खोई, बछड़ा-बछड़ी आदि का विवाह करती हैं, जिसमें बरात भी ब्राह्मणों की, भोजन भी ब्राह्मणों का और दान-दक्षिणा भी भारी मात्रा में ब्राह्मणों को ही मिलती है, अतः ब्राह्मण विधवा-विवाह के विरुद्ध हैं।

२. **साधु**—ये लोग विधवा-विवाह के इसलिए विरुद्ध हैं कि जो विधवाएँ विवाह कर लेंगी वे अपने पति की ही सेवा करेंगी, परन्तु विधवा होने की स्थिति में ये सारा दाम-चूना साधुओं के ही काम आता है। खूब मलाई, पेड़ा, बादाम उड़ाते हैं और दिन-भर मौज-बाहर रहती है, अतः साधु विधवा-विवाह के विरुद्ध हैं।

३. **दाइयाँ**—विधवा-विवाह के इसलिए विरुद्ध हैं कि इनको विधवाओं के गर्भ गिराने में सहस्रों रुपये की आय होती है, यदि विधवा-विवाह आरम्भ हो जाएँ तो इनकी सारी आय मारी जाए।

४. **नम्बरदार, सरपंच, लट्ठमार चौधरी**—इसलिए विरुद्ध हैं कि गर्भ गिराने में इन्हें पर्याप्त रिश्वत मिलती है।

५. **पुलिस**—इसलिए विरुद्ध है कि इस प्रकार की वारदातों में उनके वारे-न्यारे हो जाते हैं।

६. **वैद्य, हकीम, डाक्टर**—इसलिए विरुद्ध हैं कि इनको गर्भ गिराने में पर्याप्त आय होती है।

७. **घर के देवर, ज्येष्ठ, ससुर**—आदि इसलिए विरुद्ध हैं कि विवाह की अवस्था में एक की स्त्री बन जाएगी जबकि विधवा होने की अवस्था में सबका काम चलाती है।

८. लड़की बेचनेवाले—इसलिए विरुद्ध हैं कि विधवा-विवाह की प्रथा से लड़कियों का मूल्य घट जाएगा, आदि-आदि।

ये सब पोपमण्डल में सम्मिलित हैं जो अपने स्वार्थ के कारण विधवा-विवाह और नियोग का विरोध करते हैं।

पोपजी—आर्यसमाजी व्यभिचार की प्रथा समझकर ही इसे आर्यसमाज में प्रचलित नहीं करते। क्या कोई अपनी स्त्री को किसी दूसरे पुरुष के साथ सहवास करने की आज्ञा दे सकता है? कदापि नहीं। इससे सिद्ध हो गया कि स्वामीजी का यह सिद्धान्त वेदों और सभ्यता के विरुद्ध है।

तोपजी—हम सिद्ध कर चुके हैं कि नियोग व्यभिचार नहीं है, क्योंकि उसकी रस्म वेदानुकूल और समाज के समक्ष सम्पन्न की जाती है। आर्यसमाज में इसके प्रचलित न होने का कारण यह है कि अभी लोग नियोग की शर्तों को पालन करने के योग्य नहीं हैं; जब योग्य हो जाएँगे तो नियोग पर आचरण भी आरम्भ हो जाएगा और विधवा-विवाह तो प्रायः प्रचलित है। पोपजी के दृष्टिकोण से दनों बराबर हैं, क्योंकि दोनों में दूसरे पति की प्राप्ति सिद्धि है।

रही आपकी यह बात कि क्या कोई अपनी पत्नी को दूसरे पुरुष के साथ सहवास करने की आज्ञा दे सकता है? सो श्रीमन्! वेदानुकूल, विधि-विधान में आई हुई पंचायती रस्म के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भय, शंका और लज्जा नहीं हो सकती। वेदानुकूल विधि और विधान के अनुसार समाज के समक्ष रस्म के पूर्ण हो जाने पर यदि व्यक्ति अपनी पुत्री और बहिन को दूसरे पुरुष के साथ सहवास की आज्ञा दे सकता है तो स्त्री को आज्ञा देना इससे कठिन बात नहीं है। सनातनधर्म के पूर्वजों ने अपनी स्त्रियों को आज्ञा देकर इसके लिए मार्ग खोल दिया है। महाभारत आदिपर्व [१०४।४६] में लिखा है कि राजा बलि ने अपनी स्त्री सुदेष्णा को दीर्घतमा ऋषि के पास सन्तान उत्पन्न करने के लिए भेजा—

ततः प्रसादयामास पुनस्तमृषिसत्तमम्। बलिः सुदेष्णां स्वां भार्यां तस्मै स प्राहिणोत्पुनः ॥[१]

अर्थ—फिर राजा बलि ने उस ऋषिश्रेष्ठ को प्रसन्न किया और राजा बलि ने अपनी स्त्री सुदेष्णा को दीर्घतमा के पास पुनः भेजा।

महाभारत आदिपर्व, अध्याय १२२ में लिखा है कल्माषपाद (सुदास-पुत्र सौदास) ने अपने पुत्र की स्त्री मदयन्ती को नियोग के लिए वसिष्ठ के पास भेजा—

सौदासेन च रम्भोरु नियुक्ता पुत्रजन्मनि। मदयन्ती जगामर्षिं वसिष्ठमिति नः श्रुतम् ॥ २२ ॥
तस्माल्लेभे च सा पुत्रमश्मकं नाम भाविनी। एवं कृतवती साऽपि भर्तुः प्रियचिकिर्षया ॥ २३ ॥[२]

अर्थ—हे सुन्दरि! सुदास के पुत्र ने अपनी स्त्री मदयन्ती को पुत्र उत्पन्न करने के लिए वसिष्ठ ऋषि के पास भेजा। वह ऋषि के पास गयी, यह हमने सुना है।

कल्माषपाद की स्त्री सती मदयन्ती ने उस वसिष्ठ से अश्मक नाम पुत्र प्राप्त किया। अपने पति का प्रिय करने की कामना से मदयन्ती ने उपर्युक्त सब-कुछ किया।

महाभारत आदिपर्व अध्याय १२२ में लिखा है कि पाण्डु ने अपनी स्त्री कुन्ती को नियोग की आज्ञा दी—

---

१. यह श्लोक गीताप्रेस संस्करण में नहीं है। वहाँ १०४वाँ सम्पूर्ण अध्याय निकाल दिया गया है। महाभारत प्रकाशक मण्डल, दिल्ली से प्रकाशित संस्करण में श्लोक की संख्या ४६ के स्थान पर ५५ है।

२. यह श्लोक भी गीताप्रेस संस्करण में नहीं है। वहाँ १२१वाँ अध्याय में से ४ से लेकर २७वें श्लोक तक निकाल दिये हैं। उपर्युक्त संस्करण में ये श्लोक विद्यमान हैं।

मन्नियोगात्सुकेशान्ते द्विजातेस्तपसाऽधिकात्। पुत्रान् गुणसमायुक्तानुत्पादयितुमर्हसि ॥
—महा० आदि० १२२।३०[1]

अर्थ—हे उत्तम केशोंवाली सुन्दरि! मेरी आज्ञा से तू किसी अत्यन्त तपस्वी ब्राह्मण से गुणवान् पुत्रों को उत्पन्न करने में समर्थ है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४, अध्याय ६, श्लोक १६३-१६४ में लिखा है कि महादेवजी ने अपनी स्त्री पार्वती को विष्णु के साथ सहवास करने की आज्ञा दी—

दुर्गां निर्जनमाहूय तामुवाच हरः स्वयम्। बोधयामास विविधं हितं तथ्यमखण्डितम्।
निवेदनं मदीयं च निबोध शैलकन्यके। शृंगारं देहि भद्रं ते हरये परमात्मने॥

अर्थ—दुर्गा को एकान्त में बुलाकर महादेवजी ने स्वयं उसे अनेक हितकर, तथ्य और अखण्डनीय बातें समझायीं। वे बोले—हे पर्वतपुत्रि! तू मेरे इस निवेदन पर ध्यान दे, तेरा कल्याण हो। तू परम आत्मावाले विष्णु को रति प्रदान कर, अपने यौवन का दान दे।

इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि वेदानुकूल विधि-विधान के अनुसार सामाजिक रस्म को पूरा करके आपत्काल में अपनी पत्नी को नियोग की आज्ञा देना उचित है, अतः स्वामीजी का सिद्धान्त सोलह आने वेदों, स्मृतियों, युक्तियों और सभ्यता के भी अनुकूल है।

पोपजी—क्या लाला साहब आर्यसमाजियों और आर्यसभाजनों की कोई ऐसी सूची या उनके नाम प्रस्तुत कर सकते हैं जिन्होंने स्वामीजी के प्रतिपादित आपके बतलाये हुए चार प्रकार के नियोगों के प्रकारों पर आचरण किया हो? यदि नहीं तो यह आपका लोगों को सरासर धोखा देना है। लोगों को ऐसे धोखे में फँसाकर पाप का भागी कदापि न बनना चाहिए।

तोपजी—हम पहले बता चुके हैं कि आर्यसमाज में क्रियात्मकरूप से जो नियोग की प्रथा प्रचलित नहीं है, इसका कारण यह है कि आर्यसमाज यह समझता है कि अभी लोग नियोग के विधि-विधानों पर आचरण करने के योग्य नहीं हैं, और इस समय राज्य की शक्ति भी आर्यसमाज के हाथ में नहीं है, जिससे विधि-विधान का उल्लंघन करनेवालों को दण्ड दिया जा सके। जब तक धर्मसभा की व्यवस्था पर आचरण कराने के लिए राज्यसभा आर्यसमाज के हाथ में न हो तब तक नियोग को आरम्भ करना कठिन है, अतः सम्प्रति आर्यसमाज ने विधवा-विवाह प्रचलित कर दिया है और आर्यसमाज इस प्रतीक्षा में है कि परमात्मा की कृपा से राज्य की शक्ति आर्यसमाज के हाथ में आये, जिससे नियोग की पवित्र प्रथा को प्रचलित किया जा सके। हाँ, सनातनधर्म में जो नियोग हुए हैं, उनकी सूची मैं लिखता हूँ, जिससे आपको पता लग जाए कि सनातनधर्म के इतिहास में सदा से स्वामीजी के बताये हुए नियोग पर आचरण होता आया है—

संख्या	विवाहित पति का नाम	स्त्री का नाम	नियोग करनेवाले पति का नाम	उत्पन्न हुए लड़कों के नाम
१.	केसरी	अञ्जनी	पवन	हनुमान्
२.	बालि	तारा	सुग्रीव	
३.	रावण	मन्दोदरी	विभीषण	
४.	विचित्रवीर्य	अम्बिका, अम्बालिका, दासी	व्यास	धृतराष्ट्र, पाण्डु, विदुर

१. गीताप्रेस संस्करण में यह श्लोक १२१वें अध्याय में ७वें का पूर्वार्द्ध और ८वें का उत्तरार्द्ध है।

५.	पाण्डु	कुन्ती,	धर्म, वायु, इन्द्र,	युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन,
		माद्री	अश्विनीकुमार	नकुल, सहदेव
६.	बलि	सुदेष्णा	दीर्घतमा	अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्गादि
७.	क्षत्रिय लोग	क्षत्राणियाँ	ब्राह्मण लोग	क्षत्रिय लोग
८.	कल्माषपाद	मदयन्ती	वसिष्ठ	अश्मक
९.	वीर	शारदण्डायनि	सिद्धद्विज	दुर्जय आदि

सनातनधर्म में नियोग करनेवालों की यह संक्षिप्त सूची प्रस्तुत है, ध्यानपूर्वक पढ़कर अपने हृदय की सन्तुष्टि कर लें। यदि इससे विस्तृत सूची की आवश्यकता हो तो आदेश दें, अठारह पुराणों से प्रस्तुत कर दी जाएगी।

जब वेद, स्मृति, रामायण, महाभारत और पुराणों में नियोग और पुनर्विवाह की स्पष्ट आज्ञा है और व्यास आदि महर्षियों ने इसपर आचरण भी किया है तो इतने स्पष्ट लेख के होते हुए भी इन्कार करना, जनता को धोखा देना है। स्मरण रक्खो! विधवाओं के विवाह और नियोग को रोककर तथा व्यभिचार, गर्भपात, वेश्या-गमन और लौंडेबाज़ी आदि को प्रोत्साहन देकर आप नरक के भागी बन रहे हैं। आपका ऐसी चेष्टा करना उचित नहीं है।

पोपजी—नल और दमयन्ती का इतिहास देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दमयन्ती का उद्देश्य केवल नल को ढूँढना था, न कि दूसरा वर करने का। इस बात को लाला मनसारामजी ने स्वयं भी स्वीकार किया है। महाभारत से नल-दमयन्ती का इतिहास देकर नियोग सिद्ध करना बड़ी भारी भूल है। वहाँ तो दूसरा स्वयंवर रचा ही नहीं गया और न ही स्वयंवर का विचार था, अपितु स्वयंवर की तैयारी भी नहीं थी और न ही राजाओं को निमन्त्रण दिया गया था और न ही कोई राजा आया वरन् स्वयंवर में होनेवाले वैदिक कृत्य की भी कोई तैयारी न थी और न ही वेदपाठ के लिए ब्राह्मण बुलाये गये थे।

दमयन्ती के नल से मिलने के लिए उस उपाय के सोचने को ही नियोग बतलाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना आर्यसमाज का ही काम है। दमयन्ती-जैसी पतिव्रता स्त्री पर ऐसा दोष लगाना महापाप है।

तोपजी—श्रीमन्! हमने भी तो यही लिखा है कि दमयन्ती ने यह सब-कुछ नल को ढूँढने के लिए किया था। हमें इस बात से तनिक-सा भी प्रयोजन नहीं कि स्वयंवर की तैयारी की गयी थी या नहीं। हमारा प्रयोजन तो इस बात से है कि दमयन्ती ने सुदेव ब्राह्मण को बुलाकर यूँ कहा—

गत्वा सुदेव नगरीमयोध्यावासिनं नृपम्। ऋतुपर्णं वचो ब्रूहि सम्पतन्निव कामगः॥
आस्थास्यति पुनर्भैमी दमयन्ती स्वयंवरम्। तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः॥
तथा च गणितः कालः श्वोभूते स भविष्यति। यदि सम्भावनीयं ते गच्छ शीघ्रमरिन्दम॥
सूर्योदये द्वितीयं सा भर्तारं वरयिष्यति। न हि स ज्ञायते वीरो नलो जीवति वा न वा॥

—महा० वनपर्व ७०।२३-२६

हे सुदेव! तू शीघ्रतापूर्वक अयोध्या नगरी में जाकर वहाँ के राजा ऋतुपर्ण को यह बात कहना कि भीमकुमारी दमयन्ती पुनः स्वयंवर करेगी। सब राजा और राजकुमार वहाँ पर जा रहे हैं। उसके लिए समय नियत हो चुका है। कल ही स्वयंवर होगा। हे शत्रुसंहारक! यदि आपका वहाँ पहुँचना सम्भव हो तो शीघ्र जाइए। कल सूर्योदय के पश्चात् वह दूसरे पति

का वरण करेगी, क्योंकि यह ज्ञात नहीं है कि वीर नल जीवित है या नहीं।

सुदेव ब्राह्मण ने दमयन्ती के कथनानुसार वहाँ जाकर राजा ऋतुपर्ण को सन्देश दे दिया। इस समाचार को सुनकर राजा ऋतुपर्ण ने तुरन्त स्वयंवर में सम्मिलित होने की तैयारी करके अपने सारथि को बुलाया और कहा—

श्रुत्वा वचः सुदेवस्य ऋतुपर्णो नराधिपः। सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा बाहुकं प्रत्यभाषत॥
विदर्भान् यातुमिच्छामि दमयन्त्याः स्वयंवरम्। एकाह्ना हयतत्त्वज्ञ मन्यसे यदि बाहुक॥

—महा० वन० ७१।१-२

अर्थ—सुदेव के ये वचन सुनकर राजा ऋतुपर्ण ने मधुर वाणी से सान्त्वना देते हुए बाहुक से कहा—हे अश्वविद्या के तत्त्वज्ञ बाहुक! यदि मेरी बात मानो तो मैं दमयन्ती के स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए एक ही दिन में विदर्भ देश की राजधानी में पहुँचना चाहता हूँ।

परिणामस्वरूप राजा ऋतुपर्ण इसी प्रयोजन से राजा भीम की नगरी में सुदेव के बताये हुए समय से पूर्व पहुँच गये।

अब पक्षपात की ऐनक उतारकर इस लेख पर विचार करें। हम दमयन्ती की नीयत (आशय) पर सन्देह नहीं करते और न ही यह कहते हैं कि उसकी इच्छा दूसरा पति वरण करने की थी। यह सर्वथा सत्य है कि दमयन्ती ने जो-कुछ किया वह नल को ढूँढने के लिए किया, परन्तु विचारणीय बात यह है कि उपाय के करने से दमयन्ती सफल तभी हुई जब उस युग में ऐसी कठिन स्थिति में जबकि पति परदेश में गया हुआ हो और उसके मरने या जीने का कोई पता न हो तो स्त्री को दूसरी बार स्वयंवर करके दूसरे पति को स्वीकार करने की प्रथा विद्यमान थी, अन्यथा न दमयन्ती यह सन्देशा दे सकती थी और न ही अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण नल को साथ लेकर विदर्भ नगरी आ सकता। दमयन्ती ने चाहे नल को ढूँढने के विचार से ही सन्देश दिया, परन्तु यह तो बताइए कि अयोध्या का राजा ऋतुपर्ण किस विचार को लेकर राजा भीम की नगरी में गया? यदि उस समय में पति के परदेश में गुम हो जाने पर स्त्री को दूसरे पति का अधिकार न होता तो न दमयन्ती यह सन्देश दे सकती थी और न ही राजा ऋतुपर्ण आ सकता था। दमयन्ती के इस सन्देश को देने और राजा ऋतुपर्ण के दमयन्ती के दूसरे स्वयंवर के विचार से वहाँ जाने से यह सिद्ध है कि उस युग में स्त्री को ऐसी अवस्था में दूसरे पति का अधिकार था, अतः यह घटना हमारे सिद्धान्त का प्रबल समर्थन करती है।

पोपजी—लाला साहब ऋग्वेद [१०।८५।४५] का प्रमाण देकर लिखते हैं कि प्रत्येक स्त्री को अधिक-से-अधिक दस पुत्र उत्पन्न करने चाहिएँ। यह तो हम भी मानते हैं, परन्तु इस मन्त्र से यह कभी सिद्ध नहीं होता कि यदि एक पति से दस पुत्र न हों तो अवश्य ही और पुरुषों से नियोग करके दस पुत्र उत्पन्न किये जाएँ।

तोपजी—इस मन्त्र से यह भी सिद्ध नहीं होता कि एक स्त्री एक ही पुरुष से या एक पुरुष एक ही स्त्री से दस सन्तान उत्पन्न करे, अपितु इस मन्त्र में तो प्रत्येक स्त्री और पुरुष को दस तक सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार दिया गया है। इतनी सन्तान पैदा करने तक वे दोष के भागी नहीं हैं। यह उनकी इच्छा है कि वे अपने अधिकार का प्रयोग करें या न करें, और यह भी उनकी इच्छा पर निर्भर है कि यदि वे एक पुरुष या एक स्त्री से दस सन्तान उत्पन्न न कर सकें तो एक से अधिक पुरुषों या स्त्रियों से भी नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न कर लें। यह मन्त्र इसमें रुकावट नहीं डालता।

पोपजी—लाला साहब ने इस मन्त्र का अर्थ स्वामी दयानन्द के विरुद्ध किया है। स्वामीजी ने तो इस मन्त्र के अर्थ में लिखा है कि स्त्री दस पुत्र उत्पन्न करे और ग्यारह पति करे।

तोपजी—वाहजी वाह! आप भी छुपने के लिए इधर-उधर बिल ही ढूँढते फिरते हैं, अन्यथा हमने मन्त्र का अर्थ ही कहाँ किया है जिसे आपने तुरन्त स्वामीजी के अर्थ के विरुद्ध कह दिया? हमने तो केवल इतना ही लिखा है कि 'ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ८५, मन्त्र ४५ में प्रत्येक पुरुष और स्त्री को अधिक-से-अधिक दस सन्तान तक उत्पन्न करने की आज्ञा विद्यमान है।' बताइए, हमारा यह लेख स्वामी दयानन्दजी के विरुद्ध कैसे है? क्या स्वामीजी इस मन्त्र के द्वारा प्रत्येक पुरुष और स्त्री को दस सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार नहीं मानते? आपको इस प्रकार का झूठ लिखते हुए लज्जा आनी चाहिए। शेष रही यह बात कि दस सन्तान किस प्रकार उत्पन्न की जाएँ, इसमें हम स्वामी दयानन्द के अर्थ को शब्दश: ठीक स्वीकार करते हैं कि स्त्री दस तक सन्तान उत्पन्न करे और ग्यारह तक पति कर सकती है। अधिकार का प्रयोग करना न करना उसकी इच्छा पर निर्भर है। इसमें किसी प्रकार का दबाव नहीं है।

पोपजी—लेकिन लाला मनसारामजी ने ऐसा अर्थ नहीं किया। प्रतीत होता है कि लाला साहब स्वामीजी से व्याकरण अधिक जानते हैं, अत: स्वामीजीवाला ग़लत अर्थ नहीं किया, क्योंकि स्वामीजी ने व्याकरण के ज्ञान की कमी के कारण से ही 'एकादशम्' शब्द का 'ग्यारहवाँ पति हो', इसके स्थान पर 'ग्यारह पति हों' अर्थ किया है, परन्तु लाला साहब ने व्याकरण की यह भूल नहीं की।

तोपजी—आप लोगों को झूठ बोलने का असाध्य रोग हो गया है। जब मैंने मन्त्र का अर्थ किया ही नहीं तो फिर स्वामीजी के अर्थ के साथ मेरे अर्थ की तुलना करने का क्या अर्थ? रहा व्याकरण के ज्ञान का प्रश्न, सो इसमें मैं तो विद्वान् के पैर की धूलि भी नहीं, परन्तु स्वामी दयानन्दजी महाराज ने तो काशी-शास्त्रार्थ में व्याकरण में आपके दादागुरु बालशास्त्री-जैसों के छक्के छुड़वा दिये थे और उन्हें व्याकरण-महाभाष्य का प्रश्न (कल्मसंज्ञा) ही बतलाना भारी हो गया था। आपने अपने व्याकरण की सारी शक्ति 'एकादशम्' पर ही समाप्त कर दी। भला, इस बात को कौन नहीं जानता कि इसमें अष्टाध्यायी के सूत्र '**पूरणाद्धाद् ठन**'[1] से पूरणवाची शब्दों में 'ठन्' प्रत्यय होता है। क्या इस बात को स्वामीजी नहीं जानते थे? हाँ, स्वामीजी तो जानते थे और इस शब्द का अर्थ भी उन्होंने व्याकरण के अनुसार ही किया है, परन्तु आपकी आँखों की ज्योति सर्वथा नष्ट हो गयी है कि आपको स्वामीजी का किया हुआ अर्थ भी दिखाई नहीं देता। देखिए, स्वामीजी इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

'हे वीर्य-सेचन में समर्थ ऐश्वर्ययुक्त पुरुष! तू इस विवाहित स्त्री अथवा विधवा स्त्रियों को श्रेष्ठ पुत्र और सौभाग्ययुक्त कर। इस विवाहित स्त्री में दस पुत्र उत्पन्न कर और ग्यारहवीं स्त्री को मान। हे स्त्री! तू भी विवाहित पुरुष वा नियुक्त पुरुषों से दस सन्तान उत्पन्न कर और ग्यारहवें पति को समझ।'

अब तनिक आँखें खोलकर देखें। स्वामीजी ने इसमें 'एकादशम्' का अर्थ 'ग्यारहवें पति को समझ' किया है। 'ग्यारह पति हों' यह अर्थ कहाँ किया है? यदि आपको स्वामीजी के शेष अर्थ पर शंका थी तो सचाई के साथ मैदान में आते और सिद्ध करते कि इस मन्त्र

१. अष्टा० ५।१।४८

में नियोग की चर्चा नहीं है। 'एकादशम्' शब्द के अर्थ में झूठ बोलने की क्या आवश्यकता थी? परन्तु सच बात तो यह है कि स्वामीजी के अर्थ ऐसे युक्तियुक्त हैं कि उनके अर्थ की तुलना में पोपमण्डल गीदड़ों की भाँति भागता हुआ ही दृष्टिगोचर होता है और भय के मारे उसे मुँह छुपाने को स्थान नहीं मिलता।

पोपजी—इस मन्त्र के अतिरिक्त एक और मन्त्र का कचूमर निकालकर स्त्री को ग्यारह पति करने की विधि निकाली है, परन्तु दूसरे अथर्ववेद के मन्त्र का अर्थ करते हुए आपने व्याकरण का विचार नहीं किया और अपना मनमाना अर्थ करके प्रत्येक स्त्री को ग्यारह पति करने की आज्ञा दे दी है।

तोपजी—आप लोग व्याकरण-व्याकरण का शोर मचाना ही जानते हैं या कभी व्याकरण के दर्शन भी किये हैं? पहले 'एकादशम्' शब्द पर व्याकरण की आड़ लेकर काँय-काँय की, परन्तु इस बारे में आपकी वह दुर्गति हुई कि यदि मनुष्य होते तो फिर मुँह न दिखाते, परन्तु मानवता तो आपसे इतनी दूर है जितने गधे के सिर से सींग। अब अथर्ववेद के मन्त्र पर व्याकरण की आड़ लेकर भौं-भौं का शोर मचाना आरम्भ कर दिया, परन्तु इसमें भी आपकी पीठ पर औचित्य का ऐसा लट्ठ पड़ेगा कि पुनः कभी इस गली में आकर कोलाहल करने का साहस नहीं होगा। देखिए—

ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद्यच्चापलुप्यते। वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान्॥
उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः। ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत्स एव पतिरेकधा॥
ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः। तत्सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः॥
पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः। राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः॥

—अथर्व० ५।१७।७-१०

अर्थ—जो गर्भ हो जाते हैं और उनका पात कराया जाता है, जो जगत् का लोप होता है और जो वीर पुरुष आपस में विद्वेष करते हैं, विधवा स्त्री उन सबका नाश कर देती है॥७॥

यदि स्त्री के पहले दस पति अब्राह्मण हों, उनके पश्चात् ग्यारहवाँ यदि ब्राह्मण इसके हाथ को ग्रहण करे तो वही एक पति गिना जाता है॥८॥

ब्राह्मण ही पति गिना जाएगा, क्षत्रिय और वैश्य नहीं, क्योंकि वह ब्राह्मण सूर्य के समान उपदेश करता हुआ पाँच प्रकार के मनुष्यों—क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्र और राक्षस—सबसे उत्तम गिना जाता है॥९॥

विधवा को देवताओं ने पुनर्दान दिया, मनुष्यों ने पुनर्दान दिया, निश्चितरूप से क्षत्रियों ने ग्रहण करके विधवा का पुनर्दान कर दिया॥१०॥

पोपजी—हम इस मन्त्र का अपना अर्थ न लिखकर एक आर्यसमाजी विद्वान् का ही अर्थ प्रस्तुत करते हैं, जिससे सत्यता प्रकट हो जाएगी। देखो 'भारत सुदशा प्रवर्तक' १२ जून १९१४, पृ० ३—

'यदि स्त्री के साथ विवाह करने के लिए दस मनुष्य इच्छुक हों और वे ब्राह्मण न हों, क्षत्रिय-वैश्य आदि हों तो वेदों को जाननेवाला पुरुष इन विवाह की इच्छा रखनेवालों में से गुण-कर्मों के अनुसार एक पुरुष को स्त्री का हाथ पकड़ा देवे।'

लाला साहब! इस आर्यसमाजी के अर्थ से स्पष्ट प्रकट होता है कि स्वयंवर के समय एक स्त्री से विवाह करने की इच्छा से इकट्ठे हुए दस पुरुषों में स्त्री का हाथ एक ही पुरुष पकड़े। इस मन्त्र से स्त्री को ग्यारह पति करने की आज्ञा किस प्रकार निकाली जा सकती है?

तोपजी—कहिए महाराज! वह जो व्याकरण की हैंचू-हैंचू का शोर देर से हो रहा था अब वह अवसर आने पर लुप्त क्यों हो गया? तनिक मन्त्र का अर्थ करके दिखाते और उसमें हमारे अर्थों में व्याकरण की अशुद्धियाँ दिखाते और अपने अर्थ को व्याकरण के सूत्रों से सिद्ध करते, तब आनन्द आता और जनता को भी पता लग जाता कि व्याकरण के विषय में आप कितने पानी में हैं, परन्तु करते कहाँ से? जो गर्जते हैं वे बरसा नहीं करते। जो व्याकरण जानते हैं उन्हें डींग मारने की आवश्यकता नहीं। भरे हुए घड़े छलकते नहीं। अस्तु! अब हम अपने-आप बने आर्यसमाजी विद्वान् के अर्थ की भी परीक्षा किये देते हैं। जैसे आपके पहले साक्षी सदा अनुत्तीर्ण होते रहे हैं, उसी प्रकार ये भी फेल होंगे। आप पराई छाछ पर मूँछें मुँडवाने की आदत को छोड़ दें। मुझे तो ये नाममात्र के आर्यसमाजी भी आप जैसे ही प्रतीत होते हैं।

इस मन्त्र में कुमारी कन्या के स्वयंवर का चिह्न भी नहीं है, अपितु इससे पूर्व के मन्त्र में और इसके पश्चात् के मन्त्रों में स्पष्टरूप से 'जाया' शब्द पड़ा हुआ है, जो कुमारी के लिए नहीं अपितु विवाहिता के लिए ही आ सकता है, और फिर इस विवादास्पद मन्त्र से पहले मन्त्र में गर्भ होने और उनके गिराने तथा व्यभिचार से जगत् के लोप होने और नौजवानों में शत्रुता होना बताकर इन सबका कारण ब्रह्मजाया को बताया है, जिसका अर्थ विधवा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता। फिर इससे आगे विवादस्पद मन्त्र में ऊपर वर्णित किये गये दोषों की चिकित्सा बताई गयी है कि पहले चाहे अब्राह्मण उसके दस पति भी बन चुके हों, परन्तु इनके पश्चात् यदि ग्यारहवाँ ब्राह्मण उसका हाथ पकड़े तो कोई दोष की बात नहीं, अपितु वह अकेला ही पति माना जाएगा।

यहाँ पर स्वयंवर के लिए आये हुए कुँआरे पुरुषों का वर्णन नहीं है, क्योंकि यहाँ पर पहले दस अब्राह्मणों को पति शब्द से कहा गया है। स्वयंवर में आये हुए सबको पति शब्द से कैसे लिखा जा सकता है? क्योंकि सप्तपदी की विधि होने से पूर्व किसी की पति संज्ञा हो ही नहीं सकती। फिर यहाँ पर दस पतियों के पश्चात् ग्यारहवें ब्राह्मण पति का वर्णन है, नकि इकट्ठे आने का। इससे अगले मन्त्र में ब्राह्मण की विशेषता उपदेश करना बतलाकर अन्तिम मन्त्र में दूसरा पति करने के समर्थन में बतलाया है कि स्त्री के पुनः संस्कार में कोई दोष नहीं है, क्योंकि देवता लोग सदा से विधवा का पुनःसंस्कार करते रहे हैं और सभी मनुष्य भी कन्या का पुनर्दान करते रहे हैं और राजा लोग भी विधवा का ग्रहण करके उसका पुनःसंस्कार करते रहे। इतने प्रबल प्रमाणों की विद्यमानता में आपके स्वयंवर की तो यहाँ गन्धमात्र भी नहीं है, अपितु इस मन्त्र में तो स्पष्टरूप से स्त्री को ग्यारह तक पतियों का अर्थ स्वीकार किया गया है जो आपको, दिन में उल्लू को सूर्य की भाँति, दिखाई नहीं देता, परन्तु इसमें हमारा क्या अपराध! आपका भाग्य!

पोपजी—वेद में कोई ऐसा मन्त्र नहीं है जिसमें स्त्री को दूसरा विवाह करने का अधिकार हो या किसी दूसरे पति से पशुओं की भाँति नियोग करने की आज्ञा हो।

तोपजी—बेशर्मी की भी कोई सीमा होती है। वेदों के इतने मन्त्र देने के पश्चात् भी यदि आप यही रट लगाते रहें कि वेदों में स्त्री को दूसरे पति का अधिकार नहीं है तो हम विवश होकर यही कह सकते हैं कि—**'चे दानद बूज़िनः लज़्ज़ते अदरक'**—बन्दर क्या जाने अदरक का स्वाद! ठीक इसी प्रकार आपको क्या पता कि वेद किस चिड़िया का नाम है! आपने तो बाँस के नीचे खड़े नट की भाँति 'को न मानूँ, को न मानूँ' के सिवाय और पाठ पढ़ने का कष्ट ही नहीं उठाया। नियोग की पशुओं से तुलना करना ही पशुपन है, क्योंकि पशुओं में नर-मादा के युगल (जोड़ा) बनने पर कोई पंचायती रस्म पूर्ण नहीं की जाती

और नियोग में नियमपूर्वक वेदानुकूल पंचायती विधि पूर्ण की जाती है।

हाँ, पौराणिक देवताओं और ऋषियों की अपेक्षा पशु सहस्रों गुणा उत्तम अवश्य हैं, क्योंकि पशु गर्भवती से समागम नहीं करते और देवताओं के गुरु बृहस्पति ने इसमें भी बाज़ी मार ली। पशु बिना ऋतुकाल के समागम नहीं करते, परन्तु इन्द्र ने बिना ऋतुकाल के ही अहल्या से समागम किया। कन्दम ने हिरनी से और सूर्य ने घोड़ी से समागम किया, परन्तु पशु अन्य जाति में समागम नहीं करते। कहिए, कुछ और पुराणों की कथा सुनाएँ या तृप्ति हो गयी?

पोपजी—मनुस्मृति [९।६१] का जो प्रमाण दिया है कि स्त्री दो लड़के अपने लिए और दो दूसरे पुरुषों के लिए उत्पन्न कर दे—यह श्लोक नहीं, राजा वेन की नियोग-विधि को ही प्रस्तुत किया गया है। मैंने पहले लिख दिया है कि श्लोक ५९ से ६४ तक वेन राजा के नियोग की विधि का विधान मनुजी ने बतलाया है, अतः यह प्रामाणिक नहीं हो सकता।

तोपजी—राजा वेन मनु के बहुत पश्चात् हुए हैं। मनुस्मृति में उनका वर्णन बतलाना निरी मूर्खता है। मनुस्मृति में ५९ से ६४ तक जो श्लोक नियोग-विधि का वर्णन करते हैं, वे सर्वथा ठीक हैं और मनुजी महाराज नियोग के पक्ष में हैं, तभी तो उन्होंने आगे चलकर नियोग की सन्तान को वैध बताकर क्षेत्रज पुत्र को सम्पत्ति का अधिकारी स्वीकार किया है। यदि मनुजी नियोग के पक्ष में न होते तो नियोग की सन्तान को भी व्यभिचार की सन्तान की भाँति अवैध बताकर सम्पत्ति के अधिकार से वंचित कर देते, अतः हमने जो श्लोक प्रस्तुत किया है कि एक नियोग में अधिक-से-अधिक दो सन्तानें पैदा की जा सकती हैं, वह बिल्कुल ठीक और प्रामाणिक है। इसके अनुसार दस सन्तान पैदा करने की इच्छा रखनेवाली स्त्री पाँच पुरुषों से नियोग कर सकती है, जिनमें वह दो अपने लिए और दो-दो दूसरे चार पुरुषों के लिए सन्तान उत्पन्न कर सकती है।

पोपजी—लाला साहब ! कृपा करके कोई वेद का प्रमाण बतलाएँ, 'जिसमें विधवा स्त्री दो लड़के अपने लिए और दो-दो दूसरे चार पुरुषों के लिए उत्पन्न कर दे—यह आज्ञा पायी जाए।' यदि किसी वेद की ऐसी आज्ञा नहीं तो स्पष्ट सिद्ध होता है कि स्वामीजी की विधवा के लिए ऐसी आज्ञा वेदों के विरुद्ध है, अतः स्वामीजी के ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं।

तोपजी—पोपजी! कृपा करके किसी अच्छे चिकित्सालय में अपने मस्तिष्क का ऑपरेशन करवालें, जिससे आपका मस्तिष्क किसी उचित बात को समझने के योग्य बन सके, अन्यथा सन्देह है कि कहीं आपको पागलखाने में न भेजना पड़े। हमने आपको सैकड़ों बार समझाया और कई बार आपने भी स्वयं स्वीकार किया कि वेदों में आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन होता है, उनकी व्याख्या स्मृतियों में होती है, वेदों में नहीं, अतः हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि वेदों में यह आधारभूत सिद्धान्त विद्यमान है। उपर्युक्त श्लोक भी मनुस्मृति का है जो एक नियोग में अधिक-से-अधिक दस सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा देता है, और स्त्री-पुरुष को दस तक सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार वेद ने भी दिया है, अतः प्रत्येक विधवा दस सन्तान पैदा करने के लिए पाँच पुरुषों से नियोग करके दो अपने लिए और दो-दो दूसरे चार पुरुषों के लिए सन्तान उत्पन्न कर सकती है। यह बात वेद और वेदानुकूल स्मृति से सिद्ध है, अतः स्वामी दयानन्दजी के ग्रन्थ सर्वथा वेदानुकूल हैं।

पोपजी—लाला साहब ने महाभारत का प्रमाण देकर लिखा है कि द्रौपदी के एक ही समय में पाँच पति थे और पाँचों से पाँच पुत्र पैदा किये गये थे। महाशयजी! द्रौपदी के पाँच पतियों के होने से आपके नियोग और विधवा-विवाह की सिद्धि नहीं हो सकती।

द्रौपदी का एक ही बार पाँचों से विवाह हुआ था। आर्यसमाज का ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है, जिसमें द्रौपदी के उदाहरण के समान एक ही समय में स्त्री को पाँच पति करने की आज्ञा दी हुई हो, अतः आर्यसमाज का ऐसे दृष्टान्त से कोई प्रयोजन नहीं है।

तोपजी—द्रौपदी के उदाहरण ने तो आपके होशोहवास ही उड़ा दिये और आप यह भी न समझ सके कि हमारा इस उदाहरण से तात्पर्य क्या है? लीजिए, हम आपको समझा देते हैं। आपने जो आक्षेप किया है कि—'एक विधवा दो अपने लिए और दो-दो दूसरे चार पुरुषों के लिए सन्तान उत्पन्न करके कुल दस सन्तान उत्पन्न कर सकती है', यह स्वामीजी का लेख आपत्तिजनक है। इस स्थान पर हमने आपकी आपत्ति के कारणों पर विचार किया है कि आपको स्वामीजी के लेख पर आपत्ति क्यों है? क्या पतियों की अधिकता पर आपत्ति है या सन्तान की अधिकता पर आपत्ति है या इस विधि पर आपत्ति है। यदि आपको पतियों की अधिकता पर आपत्ति है तो माद्री के दो, कुन्ती के चार, द्रौपदी के पाँच, जटला के सात, वार्क्षी के दस और दिव्यादेवी के इक्कीस थे; और यदि सन्तान की अधिकता पर आपत्ति है तो धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे और सगर के साठ सहस्त्र पुत्र थे। स्वामीजी ने तो केवल दस ही लिखे हैं। जब पुराणों में यह सब-कुछ विद्यमान है तो फिर आपकी स्वामीजी के लेख पर आपत्ति क्यों? देखिए, द्रौपदी के सम्बन्ध में लिखा है—

पाण्डवेभ्यो हि पाञ्चाल्यां द्रौपद्यां पञ्च जज्ञिरे।
कुमारा रूपसम्पन्नाः सर्वशास्त्रविशारदाः॥ १२२॥
प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात् सुतसोमो वृकोदरात्।
अर्जुनात् श्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः॥ १२३॥
तथैव सहदेवाच्च श्रुतसेनः प्रतापवान्॥ १२४॥

—महा० आदि० ६३।१२२-१२४

अर्थ—पाँचों पाण्डवों से द्रौपदी में सुन्दर और सब शास्त्रों को जाननेवाले पाँच कुमार उत्पन्न हुए॥ १२२॥ युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीम से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकीर्ति, नकुल से शतानीक॥ १२३॥ और सहदेव से प्रतापी श्रुतसेन उत्पन्न हुआ।

और द्रौपदी के विवाह के सम्बन्ध में भी एक विचित्र बात लिखी है—

क्रमेण चानेन नराधिपात्मजा वरस्त्रियस्ते जगृहुस्तदाकरम्।
अहन्यहन्युत्तमरूपधारिणो महारथाः कौरववंशवर्धनाः॥

—महा० आदि० १९७।१३

अर्थ—इसके पश्चात् क्रमपूर्वक एक-एक दिन उत्तम रूपधारी, कुरुवंश की वृद्धि करनेवाले राजकुमार महारथी पाण्डवों ने विधिपूर्वक राजकुमारी द्रौपदी का पाणिग्रहण किया।

इस श्लोक से स्पष्ट सिद्ध है कि द्रौपदी के साथ पाँचों पाण्डवों के पाँच दिन में विवाह-संस्कार हुए। द्रौपदी के उक्त इतिहास को प्रस्तुत करके हम पोपजी से दो प्रश्न करते हैं। पोपजी सोच-समझकर इनका उत्तर दें—

१. जब आप द्रौपदी के एक ही समय में पाँच पति मानते हैं तो फिर आपको नियोग में भिन्न-भिन्न समय पर एक से अधिक पति होने पर क्या आपत्ति हो सकती है, क्योंकि इस बात में आप आर्यसमाज से एक पग आगे हैं।

२. जब पाँचों पाण्डवों के द्रौपदी के साथ पाँच दिन में विवाह-संस्कार हुए तो उस अवस्था में जब युधिष्ठिर के साथ पहले दिन संस्कार होकर दूसरे दिन भीम के साथ संस्कार

हुआ तो इसका नाम पुनर्विवाह है या नहीं? और तीसरे दिन अर्जुन के साथ संस्कार हुआ तो उसका नाम पुनः पुनर्विवाह है या नहीं? और फिर जब चौथे दिन नकुल के साथ संस्कार हुआ तो उसका नाम पुनः-पुनः पुनर्विवाह है या नहीं? और जब पाँचवें दिन सहदेव के साथ संस्कार हुआ तो उसका नाम पुनः-पुनः-पुनः पुनर्विवाह है या नहीं? जब आप चार-चार बार पुनर्विवाह का होना स्वीकार करते हैं तो फिर आपको स्त्री के दूसरे पति के साथ पुनर्विवाह पर क्या आपत्ति है? द्रौपदी का इतिहास प्रस्तुत करने से हमारा यह प्रयोजन है कि इससे पुनर्विवाह और नियोग दोनों का समर्थन होता है।

पोपजी—महाभारत में पाण्डवों के अंश-अवतार होने का विस्तृत वर्णन नहीं, परन्तु महर्षि व्यासजी ने उन्हें दूसरे पुराणों में अंशावतार माना है। ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्णजन्मखण्ड, अध्याय १२५ में लिखा है कि जब रावण का नाश करके भगवान् रामचन्द्रजी वापस आये तो उन्होंने वास्तविक सीता महारानी को अग्नि से वापस ले-लिया और छायारूप सीता को त्याग दिया। इस छायारूप सीता ने दिव्य सौ वर्ष तक महादेवजी की तपस्या करके वर माँगा कि मुझे पति दो। प्रसन्न होकर महादेवजी ने कहा कि—'देवि! तुमने पाँच बार कहा है कि मुझे पति दो, अतः अगले जन्म में एक इन्द्र के अंशावतार पाँच पति तुझे प्राप्त होंगे।' यही सीता की छाया द्रौपदी-रूप से यज्ञकुण्ड से उत्पन्न हुई और इन्द्रदेव के अंशावतार पाँच पाण्डव हुए। ये पाँचों वास्तव में एक ही इन्द्र का रूप थे, प्रत्यक्ष में वे पाँच प्रतीत होते थे, अतः द्रौपदी के सम्बन्ध में प्रश्न करना व्यर्थ है।

पाण्डवों के उत्पन्न होने की कथा मार्कण्डेयपुराण अध्याय ५ में इस प्रकार लिखी है कि देवता पाँच भूतों से बने शरीरवाले नहीं होते, परन्तु सूक्ष्म तेज-रूप होते हैं। इसी तेज-अंश के द्वारा इन्द्रदेव ने प्रजा पर उपकार करने के लिए और पृथिवी का भार उतारने के लिए स्वर्ग से मर्त्यलोक पर युधिष्ठिर आदि पाँच रूपों में अवतार धारण किया। इन्द्रदेव ने ही अपने अंश धर्म, वायु, अश्विनीकुमारों के पाँच शरीर धारण किये थे और इन्द्र की पत्नी ने यज्ञकुण्ड से द्रौपदी का जन्म ग्रहण किया था। इस कथा से स्पष्ट है कि पाँचों पाण्डव एक ही थे, वे इन्द्रदेव का रूप थे और द्रौपदी इन्द्राणी ही थी, तब द्रौपदी के पाँचों पतियों पर टीका-टिप्पणी करना बड़ी भारी भूल है।

तोपजी—प्यारे पाठक महाशय! आर्यसमाज यह मानता है कि द्रौपदी का एक ही पति अर्जुन था,[1] क्योंकि अर्जुन ने ही स्वयंवर की शर्त पूरी की थी। युधिष्ठिर आदि की अन्य स्त्रियाँ विद्यमान थीं जिनका वर्णन महाभारत आदिपर्व अध्याय ९५, श्लोक ७६-८० तक में विद्यमान है। युधिष्ठिर की पत्नी देविका थी, जिससे यौधेय नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। भीम की पत्नी बलन्धरा थी, जिससे वर्ग नामक पुत्र पैदा हुआ। अर्जुन की पत्नी सुभद्रा थी, जिससे अभिमन्यु उत्पन्न हुआ। नकुल की पत्नी करेणुमती थी, जिससे निरमित्र नामक पुत्र पैदा हुआ। सहदेव की पत्नी विजय नामवाली थी, जिससे सुहोत्र का जन्म हुआ। प्रतीत यह होता है कि जब पाण्डवों को वनवास हुआ तो उस समय उनके साथ सिवाय द्रौपदी के और कोई स्त्री नहीं गयी, इसलिए उन्होंने आपत्काल में जंगल में द्रौपदी से ही नियोग करके उसी से सन्तान पैदा की, अन्यथा स्त्री वह अर्जुन की ही थी और कुछ स्थानों पर तो यह सचाई

---

१. इस विषय में आर्यसमाज के विद्वानों की मान्यताएँ भिन्न-भिन्न हैं। पं० बुद्धदेवजी मीरपुरी द्रौपदी को अर्जुन की पत्नी मानते थे। स्वामी ब्रह्ममुनिजी और श्री अमर स्वामीजी महाराज उसे युधिष्ठिर की पत्नी मानते थे। मैं भी उसे युधिष्ठिर की पत्नी मानता हूँ। मैंने अपनी सम्पादित महाभारत में इस विषय में अनेक प्रमाण दिये हैं। श्री अमर स्वामीजी ने तो एक पुस्तक ही लिख दी है—"कौन कहता है द्रौपदी के पाँच पति थे?" —जगदीश्वरानन्द

पुराणोंवालों से दैवयोग से प्रकट भी हो गयी है। देखिए, गरुड़पुराण में द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को अर्जुन का ही लिखा है और है भी ठीक, क्योंकि युधिष्ठिर आदि तो नियोग द्वारा वीर्यदाता ही थे—

प्रतिविन्ध्यः श्रुतसोमः श्रुतकीर्तिस्तथार्जुनात् ।
शतानीकः श्रुतकर्मा द्रौपद्यां पञ्च वै क्रमात् ॥ —गरुडपु० आचार० १४०।३८

अर्थ—द्रौपदी में अर्जुन से प्रतिविध्य, श्रुतसोम, श्रुतकीर्ति, शतानीक और श्रुतकर्मा—क्रम से पाँच पुत्र उत्पन्न हुए।

चूँकि नियोग की पवित्रता पौराणिकों की समझ में ही नहीं आई, अतः नियोग को छुपाने के लिए पाँचों से विवाह की रचना कर डाली। अब क्योंकि पाँचों से विवाह और वह भी एक ही समय में सनातनधर्म के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध था, अतः उसे वैध सिद्ध करने के लिए अनेक प्रकार की कहानियाँ घड़ी गयीं, जिनमें से एक की रागिनी दूसरी से नहीं मिलती और ये इतनी असम्भव, व्यर्थ और बिना सिर-पैर की कथाएँ हैं कि जिन्हें कोई भी बुद्धिमान् मान ही नहीं सकता।

१. कुन्ती ने कह दिया कि बाँटकर पाँचों भाई भोगो—पहला हेतु द्रौपदी के पाँच पति होने का यह घड़ा गया जोकि सर्वथा निर्मूल और युक्तिशून्य है। देखिए, महाभारत आदि पर्व [१९१।२] में यूँ लिखा है—

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।
पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां कष्टं मया भाषितमित्युवाच॥

—गीताप्रेस १९०।२

अर्थ—कुटी के भीतर बैठी हुई कुन्ती ने पुत्रों को देखे बिना कह दिया कि सब मिलकर भोग लो। पश्चात् कुन्ती ने द्रौपदी को देखकर कहा कि—'अहो! मैंने तो यह बहुत ही बुरा वचन कह दिया।'

कुन्ती ने स्त्री समझकर नहीं कहा, अपितु भिक्षा समझकर कहा था और बाद में वह पछता भी रही है। अब विचार करने की बात यह है कि यदि कोई बात ग़लती से कही जाए और बाद में वह पछताने योग्य भी हो तो उसपर आचरण करना कोई आवश्यक बात नहीं है, फिर इसका सहारा लेकर द्रौपदी के साथ पाँचों का विवाह कराने का हठ करना धर्म के सर्वथा विरुद्ध है तथा बुद्धि और ज्ञान से रहित है।

२. पाँचों द्रौपदी को देखकर कामातुर हो गये—दूसरा कारण यह दिया हुआ है, अतः युधिष्ठिर ने सबके अनुराग को देखकर आपस की फूट की भय से पाँचों के साथ विवाह का निश्चय किया, इसलिए महाभारत में लिखा है कि युधिष्ठिर ने सबके हृदयों को अनुराग में मस्त देखकर कहा—

अब्रवीत् सहितान् भ्रातॄन् मिथो भेदभयान्नृपः।
सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि नः शुभा॥ —गीताप्रेस संस्करण १९०।१६

अर्थ—राजा युधिष्ठिर ने आपस में फूट के भय से सब भाइयों को इकट्ठा करके कहा कि—यह कल्याणी द्रौपदी हम सबकी धर्मपत्नी होगी।

यह तर्क कोई उचित नहीं है कि सबके चलायमान होने से वेद-शास्त्र और सदाचार के विरुद्ध सबके साथ विवाह करने का निर्णय किया जाए।

३. हमारी यह प्रतिज्ञा है कि हम रत्न-पदार्थ का मिलकर भोजन करें। हम अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ सकते, जैसाकि लिखा है—

एष नः समयो राजन् रत्नस्य सह भोजनम्। न च तं हातुमिच्छामः समयं राजसत्तम:॥
—महा० आदि० १९५।२५[1]

अर्थ—हे राजन्! हमारी यह प्रतिज्ञा है कि रत्न का हम सब लोग बाँटकर एक-साथ उपभोग करेंगे। हे नृपशिरोमणे! हम अपनी उस प्रतिज्ञा को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं।

यह भी कोई उचित कारण नहीं है। यदि ग़लत प्रतिज्ञा की जाए अथवा कोई ऐसी वस्तु हो जिसे मिलकर भोगने से पाप होता हो तो यह आवश्यक नहीं कि ग़लत प्रतिज्ञा का अवश्य पालन किया जाए।

४. महाराज! धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है, जिसे हम नहीं जान सकते, अतः जिस मार्ग से महाजन गये हों उसी मार्ग से चलना चाहिए। देखो, गौतम की लड़की जटिला के एक ही समय में सात पति थे और वार्क्षी के एक ही समय में दस पति थे, अतः हमें भी द्रौपदी के साथ विवाह कर लेना चाहिए। मेरी वाणी ग़लत नहीं निकलती और मेरी बुद्धि पाप में नहीं चलती; क्योंकि मेरे मुख से निकल गया और मेरी बुद्धि इसे धर्म मानती है, अतः पाँचों से द्रौपदी का विवाह उचित है।

भला ये भी कोई तर्क है? जब द्रुपद ने कहा कि एक समय में एक स्त्री के बहुत-से पति वेद के विरुद्ध हैं और लोक के भी विरुद्ध हैं तो युधिष्ठिर को समुचित उत्तर और वेद का प्रमाण देना चाहिए था अथवा उस कार्य से रुक जाना चाहिए था। जटिला आदि का आचार और युधिष्ठिर का वचन और बुद्धि वेद की तुलना में क्या मूल्य रखते हैं?

५. एक ही इन्द्र के अंशावतार पाँच पाण्डव थे, अतः पाँचों के साथ विवाह में कोई दोष नहीं है, क्योंकि वे पाँचों एक ही थे। यह तर्क और लेख मानने के सर्वथा अयोग्य है। यहाँ यह बात विचारणीय है कि यहाँ इन्द्र से तात्पर्य परमात्मा है या जीवात्मा? यदि यहाँ इन्द्र शब्द से तात्पर्य परमात्मा है तो उसके अन्दर अंश-अंशीभाव मानकर उसके अंशों का जन्म मानने से ईश्वर नित्य नहीं माना जा सकता, और यदि नवीन वेदान्त के मतानुसार अन्तःकरण में ब्रह्म का आभास मानकर पाण्डवों को ब्रह्म का अवतार माना जाए तो इससे पाण्डवों में कोई विशेषता नहीं रहती, क्योंकि उनके मत में तो अनादि जीव कोई वस्तु ही नहीं है। सारे-के-सारे मनुष्य ही अन्तःकरण में ब्रह्म का आभास होने से ब्रह्म के अवतार हैं। फिर आजकल भी यदि कई मनुष्य एक समय में या भिन्न-भिन्न समय पर एक स्त्री के साथ विवाह या नियोग कर ले तो क्या आपत्ति है, क्योंकि वे सब भी एक ही ब्रह्म के आभास हैं।

यदि इन्द्र शब्द से तात्पर्य जीवात्मा है तो भी जीवात्मा में यह बात असम्भव है कि एक जीवात्मा पाँच भागों में विभक्त होकर पाँच पाण्डवों का रूप धारण कर ले। गीता के कथनानुसार जीवात्मा के टुकड़े नहीं हो सकते, क्योंकि आत्मा के टुकड़े मानने से जीवात्मा को भी नाशवान् मानना पड़ेगा, अतः यह कल्पना भी सर्वथा निर्मूल है। महाभारत और ब्रह्मवैवर्तपुराण आदि भी इसका समर्थन नहीं करते; अपितु वहाँ तो यह लिखा है कि पाँच इन्द्र पाँच पाण्डवों के रूप में प्रकट हुए—

विश्वभुग्भूतधामा च शिबिरिन्द्रः प्रतापवान्।
शान्तिश्चतुर्थस्तेषां वै तेजस्वी पञ्चमः स्मृतः॥२९॥
एवमेते पाण्डवा सम्बभूवुर्ये ते राजन् पूर्वमिन्द्रा बभूवुः॥ —महा०आदि० १९७।२९,३५[2]

---

१. गीताप्रेस संस्करण में अध्याय १९४
२. गीताप्रेस संस्करण में अध्याय १९६

अर्थ—विश्वभुक्, भूतधामा, प्रतापवान् शिबि, चौथा शान्ति और पाँचवाँ तेजस्वी—ये पाँच पहले इन्द्र थे। हे राजन्! पहले जो पाँच इन्द्र थे, वे ही ये पाण्डवरूप से उत्पन्न हुए हैं।

महाभारत में एक इन्द्र के पाँच भाग होकर पैदा होने की चर्चा भी नहीं है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी एक इन्द्र के पाँच भाग होना नहीं लिखा, अपितु वहाँ तो लिखा है—

चतुर्दशानामिन्द्राणां पञ्चेन्द्राः पञ्च पाण्डवाः॥ —ब्रह्मवै० कृष्ण० ११६। २७

अर्थ—चौदह इन्द्रों में से पाँच इन्द्र ही पाँच पाण्डव थे।

'एक इन्द्र के पाँच अंशावतार पाँच पाण्डव थे'—यह पाखण्ड पोपजी ने अपनी ओर से ही खड़ा किया है और इस बात में तो झूठ की पराकाष्ठा कर दी कि 'इन्द्र ने ही अपने अंश धर्म, वायु और अश्विनीकुमारों के पाँच रूप धारण किये थे', क्योंकि धर्म, वायु, अश्विनीकुमार पृथक्-पृथक् स्वयं देवता हैं, जोकि इन्द्र के अंश से नहीं हैं, और यह किसी भी ग्रन्थ में लिखा हुआ नहीं है कि उपर्युक्त देवता इन्द्र के अंश से बने, अपितु महाभारत में तो यह लिखा है कि जब महादेव ने पाँचों इन्द्रों को मर्त्यलोक में भेजने का निश्चय किया तो पाँचों इन्द्रों ने प्रार्थना की कि—महाराज! हम आपकी आज्ञा से मर्त्यलोक में अवश्य जाएँगे, परन्तु मनुष्य-योनि में जाकर हमारा मोक्ष प्राप्त करना बड़ा कठिन है, अतः प्रार्थना है कि—

गमिष्यामो मानुषं देवलोकाद् दुराधरो विहितो यत्र मोक्षः।
देवास्त्वस्मानादधीरञ्जनन्यां धर्मो वायुर्मघवानश्विनौ च॥

—[गीताप्रेस अध्याय १९६]—महा० आदि० १९७। २७

अर्थ—महाराज! हम देवलोक से मनुष्यलोक में जाएँगे जहाँ रहकर मोक्ष प्राप्त करना बड़ा कठिन कार्य है, बस इतनी प्रार्थना है कि वहाँ जो हमारी माता होनेवाली हो उसमें धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमार ही हमें उत्पन्न करें।

इस स्थल से यह स्पष्ट है कि धर्म आदि इन्द्र के अंश नहीं थे, अपितु पाँचों इन्द्र धर्म आदि के द्वारा माता के गर्भ में गये, अतः पाण्डवों के इन्द्र के अवतार होने की बात महाभारत के सर्वथा विरुद्ध है।

६. द्रौपदी कौन थी? इस सम्बन्ध में भी पुराणों में विभिन्न कथाएँ घड़ी हुई हैं जोकि परस्पर विरुद्ध और बुद्धि तथा ज्ञान के भी विरुद्ध हैं—

(क) सीता की छाया ने तप करके महादेव से वर प्राप्त किया।

इस कथा की वाल्मीकि रामायण में चर्चा तक नहीं कि छायारूप सीता को ही रावण ले-गया था और वास्तविक सीता अग्नि में विद्यमान थी और रावण को मारने के पश्चात् वास्तविक सीता ले-ली और छाया अग्नि को दे दी। यह कथा सर्वथा असम्भव है, क्योंकि छाया वास्तविक [असली, मूल] वस्तु के साथ-साथ रहती है, पृथक् होकर नहीं रह सकती; और इस कथा से पतिव्रता सीता का गौरव भी नष्ट होता है कि रावण के घर जाकर कठिन तपस्या से छाया ने धर्म रक्खा था, वास्तविक सीता ने नहीं; और फिर महादेवजी की बुद्धिमत्ता देखिए। उस बेचारी ने एक पति माँगा और दे दिये पाँच तथा तर्क यह दिया है कि तुमने पाँच बार कहा कि पति दो, पति दो, अतः पाँच ही पति होंगे। क्योंजी! किसी बात को कई बार कहने का तात्पर्य किसी बात पर बल देना होता है अथवा उतनी ही संख्या में वह वस्तु माँगना? धन्य है महादेवजी की बुद्धि पर कि उसके हृदय के तात्पर्य को भी न जान सके और वेद तथा लोक के विरुद्ध बलात् बेचारी पर एक ही समय में पाँच पति ठूँस दिये, जिन्हें महाभारत के अनुसार पर्याय [पारी, बारी] निश्चित करना पड़ा और उसके

विरुद्ध आचरण करने पर अर्जुन को बारह वर्ष वनवास भोगना पड़ा।

(ख) इन्द्र की पत्नी ने यज्ञकुण्ड से जन्म ग्रहण किया था और द्रौपदी इन्द्राणी ही थी।

झूठे की स्मरणशक्ति नहीं होती। अभी लिखा था कि सीता की छाया थी और अभी लिख दिया कि इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी, अर्थात् शची थी। बताइए, दोनों बातों में से कौन-सी बात को सच माना जाए? महाभारत में भी इसके सम्बन्ध में दो भिन्न-भिन्न बातें लिखी हैं।

(ग) एक स्त्री जिसके रोने पर उसके आँसुओं से कमल पैदा होते थे, जिसका बाद में पता लगा कि वह लक्ष्मी थी, वही द्रौपदी बनी। जैसाकि महाभारत आदिपर्व, अध्याय १९७, श्लोक ३५ में लिखा है कि—

लक्ष्मीश्चैषां पूर्वमेवोपदिष्टा भार्या यैषा द्रौपदी दिव्यरूपा॥

—[गीताप्रेस आदि० १९६]

अर्थ—यह बात पहले वर्णन कर दी है कि वह लक्ष्मी थी। यह दिव्यरूपा द्रौपदी पाण्डवों की स्त्री बनी।

(घ) वन में कोई ऋषि रहता था, उसकी कन्या को कोई पति नहीं मिला। उसने पति की प्राप्ति के लिए महादेव की घोर तपस्या की। महादेवजी ने प्रसन्न होकर पाँच पति होने का वरदान किया कि तूने पाँच बार माँगा है। लड़की ने आपत्ति की तो महादेवजी ने कहा कि—इस जन्म में नहीं, तुझे अगले जन्म में पाँच पति मिलेंगे।

द्रुपदैषा हि सा जज्ञे सुता वै देवरूपिणी।
पञ्चानां विहिता पत्नी कृष्णा पार्षत्यनिन्दिता॥

—[गीताप्रे० अध्याय १९६], महा० आदि० १९७।५१

अर्थ—हे द्रुपद! उसी ऋषि की पुत्री दिव्यरूपा पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई है। यह कृष्णा पहले से ही पाँच पाण्डवों की पत्नी नियत की गयी है।

अब बतलाइए, इन चारों बातों में से कौन-सी ठीक है? क्या द्रौपदी सीता की छाया थी, या इन्द्राणी थी या साक्षात् लक्ष्मी थी अथवा ऋषि की पुत्री थी? सारांश यह कि जितने मुँह उतने गपोड़े पौराणिकों ने हाँके हैं। हमने यह सिद्ध कर दिया है कि पाँचों पाण्डवों और द्रौपदी के पूर्वजन्म के सम्बन्ध में पुराणों में जितनी कथाएँ हैं, वे परस्पर-विरुद्ध और असम्भव हैं। ये सब कथाएँ पाँचों पाण्डवों के द्रौपदी के साथ एक ही समय विवाह को वैध ठहराने के लिए घड़ ली गयी हैं और इतनी झूठी कथाएँ घड़ने के पश्चात् भी वे सफल नहीं हुए।

अब हम एक और दृष्टिकोण से इस इतिहास पर विचार करते हैं और वह यह है कि यदि इन पौराणिक कल्पनाओं को सत्य भी मान लिया जाए तो भी हमारे प्रयोजन में अन्तर नहीं आता, क्योंकि पूर्वजन्म में कोई चाहे कुछ भी हो इसका सर्वसाधारण को तो ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इस बात को पोपजी ने भी स्वीकार कर लिया है कि 'प्रकटरूप में वे पाँच ही प्रतीत होते थे', अतः जनता तो यही समझती थी कि द्रौपदी का विवाह पाँचों पाण्डवों से हुआ है। इसीलिए तो सर्वसाधारण जनता के एक व्यक्ति बाण ने कृष्ण के पोते अनिरुद्ध को इस सम्बन्ध में ताना दिया कि तेरे दादा कृष्ण की बुआ और भाई की स्त्री ऐसी थी—

तत्पितुर्भगिनी कुन्ती चतुर्णां कामिनी भुवि॥ ७१॥
द्रौपदी भ्रातृपत्नी च पञ्चानां कामिनी तथा॥ ७२॥

—ब्रह्मवैवर्त० कृष्ण० ११५।७१, ७२

अर्थ—कृष्ण के पिता की बहिन कुन्ती पृथिवी पर चार की पत्नी थी और उसके भाई की पत्नी द्रौपदी पाँच पुरुषों की पत्नी थी।

सारांश यह कि पुराणों के गुप्तज्ञान में चाहे कोई भी अद्भुत कारण हो, परन्तु साधारण जनता तो कुछ और ही दृष्टि से देखेगी और वही कहेगी तथा वही मानेगी। क्यों श्रीमन्! जिस प्रकार द्रौपदी के साथ पाँचों पाण्डवों के विवाह में कुछ विशेष कारण छुपे हुए थे, हो सकता है आजकल पुनर्विवाह, नियोग और विधवा-विवाह करनेवाले जोड़ों के सम्बन्ध में भी कोई छुपे हुए कारण हों, जिनके कारण उन्हें विवशता से पुनर्विवाह या नियोग करना पड़ता हो, तो फिर आजकल के पुनर्विवाह और नियोग पर पोपजी को आपत्ति क्यों? अतः प्रत्येक अवस्था में द्रौपदी का इतिहास पुनर्विवाह और नियोग का प्रबल समर्थन करता है।

पोपजी—आगे चलकर लाला साहब ने महाभारत आदिपर्व, अध्याय १४८, श्लोक १४ तथा १५ का प्रमाण देखकर लिखा है कि गौतम की लड़की जटिला नाम की स्त्री के एक ही समय में सात पति थे और वार्क्षी नाम की स्त्री के एक ही समय में दस पति थे। ये दोनों इतिहास महाभारत आदिपर्व के १४८ अध्याय में नहीं हैं। लाला साहब ने झूठा प्रमाण देकर धोखा दिया है।

तोपजी—झूठा प्रमाण देकर धोखा देना हमारा काम नहीं। यह काम आपका है। हाँ, यह बात अवश्य है कि कभी-कभी ग्रन्थों के अध्यायों और श्लोकों की संख्या में अन्तर पड़ जाता है, अतः इस बार हम प्रकरण भी लिख देते हैं, ताकि आपका ग्रन्थ चाहे किसी प्रेस का हो, आप प्रकरण से ये श्लोक निकाल सकें। ये दोनों श्लोक उस समय के हैं, जब द्रौपदी के विवाह के समय में युधिष्ठिर ने कहा कि हम पाँचों ही इससे विवाह करेंगे और राजा द्रुपद ने कहा कि यह वेद और लोक दोनों के विरुद्ध है, तो वहाँ पर सहसा व्यासजी आ गये और उन्होंने कहा कि सब अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत करो, तब मैं निर्णय दे सकता हूँ। उस समय युधिष्ठिर ने अपने पक्ष में कहा कि धर्म की गति अति सूक्ष्म है। हम उसे नहीं जान सकते, अतः हमें अपने पूर्वजों के मार्ग पर चलना चाहिए—

श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी। ऋषीनध्यासितवती सप्त धर्मभृतां वरा॥ १४॥
तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः। संगताभूद् दश भ्रातॄनेकनाम्नः प्रचेतसः॥ १५॥

—महा० आदि० १९६।१४-१५, टीका ऋषिकुमार

अर्थ—[पुराणों में भी सुना जाता है कि] गौतम-कुल में उत्पन्न हुई और पतिव्रता स्त्रियों में श्रेष्ठ जटिला नाम की स्त्री सात ऋषियों को विवाही गयी थी॥ १४॥

और पहले वृक्ष में से उत्पन्न हुई एक मुनि की पुत्री वार्क्षी तप से पवित्र आत्मावाले प्रचेतस नामवाले दस भाइयों को विवाही गयी थी॥ १५॥

यह महाभारत का सच्चा इतिहास है जिसका हमने प्रमाण दिया था। आशा है अब आपकी सन्तुष्टि हो जाएगी।

पोपजी—पद्मपुराण, भूमिखण्ड अध्याय ८५ का प्रमाण देकर दिव्यादेवी के इक्कीस पति बतलाये हैं।

तोपजी—निःसन्देह पद्मपुराण में दिव्यादेवी के इक्कीस ही पति लिखे हैं। हम पद्मपुराण का मूल पाठ उद्धृत कर देते हैं—

प्लक्ष द्वीप का एक राजा था जिसका नाम दिवोदास था। इसके एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या थी। जब वह जवान हो गयी तो राजा ने उसके विवाह की तैयारी की और—

चित्रसेनं महात्मानं समाहूय नरोत्तमः। कन्यां ददौ महात्मासौ चित्रसेनाय धीमते॥ ५५॥

तस्या विवाहयज्ञस्य सम्प्राप्ते समये नृप। मृतोऽसौ चित्रसेनस्तु कालधर्मेण वै किल॥ ५६॥

—पद्मपु० भूमि० ८५। ५५-५६

अर्थ—नृपश्रेष्ठ महात्मा दिवोदास ने महात्मा चित्रसेन को बुलाकर बुद्धिमान् चित्रसेन को कन्या सौंप दी। हे राजन्! उस दिव्यादेवी के विवाह का समय आने पर कालवश राजा चित्रसेन मर गया।

राजा दिवोदास को बड़ी चिन्ता हुई। राजा ने ब्राह्मणों को बुलाकर पूछा कि इसके विवाह के समय राजा चित्रसेन कालधर्म को प्राप्त हो गया। भविष्य में क्या करना चाहिए, यह आप बताएँ। ब्राह्मणों ने कहा—

विवाहो दृश्यते राजन् कन्यायास्तु विधानतः। पतिर्मृत्युं प्रयात्यस्या नो चेत्सङ्गं करोति च॥ ६२॥
महाधिव्याधिना ग्रस्तस्त्यागं कृत्वा प्रयाति च। प्रव्राजितो भवेद्राजन् धर्मशास्त्रेषु दृश्यते॥ ६३॥
उद्वाहितायाः कन्याया उद्वाहः क्रियते बुधैः। न स्याद् रजस्वला यावदन्यः पतिर्विधीयते॥ ६४॥
विवाहं तु विधानेन पिता कुर्यान्न संशयः॥ ६५॥ —पद्मपु० भूमि० ८५। ६२-६५

अर्थ—हे राजन्! कन्या का विवाह विधिपूर्वक हो सकता है, यदि उसका पति मर गया हो और उसका पति के साथ समागम न हुआ हो॥ ६२॥ या असाध्य रोग से पीड़ीत हो, या त्यागकर चला गया हो और हे राजन्! यदि संन्यासी हो गया हो तो धर्मशास्त्रों में ऐसा विधान है [कि उसका पुनर्विवाह हो जाए]॥ ६३॥ बुद्धिमान् लोग विवाही हुई कन्या का विवाह कर देते हैं। जब तक वह रजस्वला न हो, तब तक वह औरों को भी दी जा सकती है। उसका विवाह विधिपूर्वक उसका पिता ही करे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है॥ ६४-६५॥

शास्त्रों के जाननेवाले पण्डितों से यह व्यवस्था सुनकर दिवोदास ब्राह्मणों को साथ लेकर इन्द्रप्रस्थ गया और लड़की के विवाह के लिए पुनः प्रयत्न किया—

पुनर्दत्ता तु दानेन दिव्यादेवी द्विजोत्तमाः॥ ६७॥
रूपसेनाय पुण्याय तस्मै राज्ञे महात्मने। मृत्युधर्मं गतो राजा विवाहे तु महीपतिः॥ ६८॥
यदा यदा महाभाग दिव्यादेव्याश्च भूपतिः। भर्ता म्रियते काले प्राप्ते लग्नस्य सर्वदा॥ ६९॥
एकविंशतिभर्तारः काले काले मृतास्तदा। ततो राजा महादुःखी संजातः ख्यातविक्रमः॥ ७०॥

—पद्मपु० भूमि० ८५। ६७-७०

अर्थ—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो! पुनः राजा दिवोदास ने अपनी कन्या पवित्रात्मा और महात्मा राजा रूपसेन को प्रदान की, परन्तु विवाह का समय निकट आने पर वह राजा भी परलोक सिधार गया॥ ६७-६८॥ जब-जब दिव्यादेवी के विवाह का यत्न किया जाता तब-तब उसका भर्त्ता लग्न और समागम से पूर्व मर जाता था॥ ६९॥ जब समय-समय पर उसके इक्कीस पति मर गये तब वह प्रसिद्ध राजा अत्यन्त दुःखी हुआ॥ ७०॥

तब राजा ने मन्त्रियों को बुलाकर और उनसे परामर्श करके उसका स्वयंवर करने का निश्चय किया। प्लक्ष द्वीप के सब राजाओं को बुलाया और वे सब आये। उस दिव्यादेवी के रूप पर मुग्ध होकर वे सब राजा आपसमें लड़कर कट मरे। हे तात! इस प्रकार क्षत्रियों का नाश हो गया। तब—

दिव्यादेवी सुदुःखार्ता गता सा वनकन्दरम्॥ ७४॥
रुरोद करुणं बाला दिव्यादेवी मनस्विनी॥ ७५॥ —पद्मपु० भूमि० ८५। ७४-७५

अर्थ—वह दिव्यादेवी अत्यन्त दुःखी हुई पर्वत की कन्दरा में चली गयी और वह मननशीला दिव्यादेवी बहुत रोई।

वैधव्यं भुञ्जते सा तु दिव्यादेवी सुपुत्रक॥ ४४॥ —वही, ८६। ४४

अर्थ—हे प्रिय! वह दिव्यादेवी विधवापन भोग रही है।

विपाको हि महाभाग कर्मणां मम साम्प्रतम्। इह तिष्ठामि दुःखेन वैधव्येन समन्विता॥

—पद्म० भूमि० ८८।१४

दिव्यादेवी कहती है—हे महाभाग! इस समय यह मेरे कर्मों का ही फल है कि मैं संसार में विधवापन के दुःख को पाकर बैठी हूँ।

इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट सिद्ध है कि दिव्यादेवी का विवाह इक्कीस पतियों से हुआ। वे सब मरते गये और अन्त में वह विधवा ही रही।

पोपजी—दिव्यादेवी का इतिहास महाभारत में इस प्रकार है कि दिव्यादेवी की जन्मकुण्डली में भीषण विधवायोग पड़ा हुआ था। इसकी सगाई जिस व्यक्ति से की जाती थी वह मर जाता था। जिन लड़कों के साथ उसकी सगाई हुई, ऐसे बीस लड़के जब मर गये तब अन्त में इक्कीसवें के साथ सगाई की गयी तो वह जीवित रहा, तब उस लड़के के साथ इसका विवाह किया गया।

तोपजी—आपको टपूसियाँ मारना और भागकर जान बचाना खूब आता है, परन्तु श्रीमन्! हम भी आपकी चालों को खूब भाँपते हैं। इस प्रकार आपकी जान बचनी कठिन है। जब हमने द्रौपदी का पाँचों से विवाह के सम्बन्ध में महाभारत का प्रमाण दिया तो आप टपूसी मारकर महाभारत को छोड़कर ब्रह्मवैवर्त और मार्कण्डये पुराण में जा घुसे, और जब दिव्यादेवीके बारे में पद्मपुराण का प्रमाण दिया तो पद्मपुराण को छोड़कर टपूसी मारकर महाभारत में जा घुसे। यह भी उत्तर देने का कोई प्रकार है? प्रश्न कुछ और उत्तर कुछ? फिर महाभारत का भी नाम ही लिखकर मनघड़न्त बात लिख दी। यदि सचाई होती तो महाभारत का पर्व, अध्याय, श्लोक आदि पूरा प्रमाण देते, परन्तु आपको तो काल्पनिक पुस्तक का नाम लिखकर झूठमूठ प्रमाण देने की पुरानी आदत है। दिव्यादेवी के इक्कीस विवाहों को सगाई स्वीकार नहीं किया जा सकता। तनिक उपर्युक्त लेख पर विचार करें—

१. सगाई कोई संस्कार ही नहीं है और न ही गृह्यसूत्रों में इस संस्कार का कोई विधान है।

२. स्पष्ट लिखा है कि राजा दिवोदास ने चित्रसेन को कन्यादान दे दिया, सगाई में कन्यादान नहीं होता अपितु विवाह में होता है।

३. यदि सगाई होने पर ही लड़का मर जाता तो राजा दिवोदास को ब्राह्मणों की सभा बुलाकर व्यवस्था लेने की क्या आवश्यकता थी?

४. पण्डितों ने जो व्यवस्था दी है वह ऐसी कन्या के लिए व्यवस्था दी है, जिसका पति विवाह के पश्चात् मर गया हो, और व्यवस्था में स्पष्टरूप से कहा गया है कि विवाही हुई कन्या का पुनर्विवाह हो सकता है। यदि केवल सगाई होने पर ही लड़का मर जाता था और उसके बारे में राजा व्यवस्था माँगता तो उसी प्रकार की व्यवस्था देनी चाहिए थी।

५. फिर लिखा है कि व्यवस्था लेने के पश्चात् राजा ने कन्या का पुनः दान कर दिया। इससे पुनर्विवाह स्पष्ट सिद्ध है।

६. इक्कीस व्यक्तियों का भर्ता शब्द से वर्णन किया है, सगाई में 'भर्ता' संज्ञा नहीं हो सकती।

७. अन्त में सबसे बड़ी बात यह है कि सगाई करने से यदि लड़का मर जाए तो उस लड़की का नाम विधवा कोई भी शास्त्र नहीं मान सकता। निरुक्त में लिखा है कि—'**धव इति मनुष्यनाम, तद्वियोगाद्विधवा**'[१]—धव नाम पति का है और उसके वियोग से स्त्री का नाम विधवा होता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि विवाह के पश्चात् ही पति मरे थे, न कि

१. निरुक्त ३।३।१५।

सगाई के बाद।

८. विवाह-यज्ञ के प्राप्त होने पर और विवाह के समय में और विवाह के निकट—जो मरने का वर्णन है, इसका अर्थ विवाह के पश्चात् मरना ही है। इसके लिए हम कारण ऊपर बता चुके हैं।

९. लग्न के समय मरने का अर्थ यह है कि समागम से पूर्व मर जाते थे, क्योंकि 'लग' धातु संयोगार्थ[१] में है और प्राय: लगना नाम समागम का ही है।

इन समस्त कारणों से सिद्ध है कि दिव्यादेवी का इक्कीस बार विवाह हुआ था और उसके इक्कीस पति हो चुके थे। भला! जिनके घर में एक ही समय में पाँच, सात, दस पति करने का विधान विद्यमान हो और इक्कीस बार विवाह विद्यमान हो, वे आर्यसमाज के आपत्काल में पुनर्विवाह और नियोग के लेख पर आक्षेप करने के लिए दौड़ें! प्रभु का प्रताप है!

पोपजी—महाशयजी! दिव्यादेवी का एक ही पति था।

तोपजी—विवाह तो बेचारी दिव्यादेवी के इक्कीस ही हुए थे, परन्तु जीवित एक भी पति न रहा और बेचारी विधवापन का दु:ख भोगती रही। आप पति का जीवित रहना भी अपनी मूर्खता के कारण लिख रहे हैं, अन्यथा किसी पुस्तक में थोड़े ही लिखा है।

पोपजी—आदर्श नारियों को कलंक लगाना उचित नहीं। आप लोगों ने झूठ बोलना और लिखना समाज की उन्नति का कारण समझ रक्खा है। किसी आर्यसमाजी की शक्ति नहीं कि दिव्यादेवी, या जटिला और वार्क्षी देवी के अधिक पतियों को सिद्ध कर सके। सगाइयों को पति बताना कितनी धोखे-बाज़ी है! लालाजी! इस प्रकार आपका नियोग सिद्ध नहीं होगा।

तोपजी—आदर्श नारियों को कलंक लगाना आर्यसमाजियों का नहीं, पौराणिक लोगों का काम है। जो एक ही समय में पाँच, सात और दस पति द्रौपदी, जटिला और वार्क्षी के बताते हैं। सनातनधर्म की नींव अब केवल गप्पबाज़ी पर ही खड़ी है। आप लोगों ने झूठ बोलना और लिखना ही सनातनधर्म की रक्षा का साधन समझा हुआ है। हम महाभारत का प्रमाण देकर सिद्ध कर चुके हैं कि जटिला और वार्क्षी के सात और दस पति एक ही समय में थे और दिव्यादेवी के इक्कीस पतियों के मरने पर इसे विधवा लिखना ही सिद्ध करता है कि उसके इक्कीस पति हो चुके थे। इन प्रमाणों को झुठलाया नहीं जा सकता। इन प्रमाणों की विद्यमानता में आप सगाई का शोर मचाकर जनता को धोखा नहीं दे सकते। ये प्रमाण आर्यसमाज के सिद्धान्त पुनर्विवाह और नियोग का प्रबल समर्थन करते हैं। इनकी विद्यमानता में सनातनधर्म नियोग के विरुद्ध मैदान में खड़ा नहीं रह सकता। प्रत्यक्ष में प्रमाण की क्या आवश्यकता है! इन प्रमाणों की विद्यमानता में आपको ही जान बचाने को स्थान नहीं मिलता। परमेश्वर आपकी आत्मा में सचाई का प्रकाश करें, हमारी यही प्रार्थना है।

पोपजी—महाशयजी ने माधवी का इतिहास वर्णन करने में अत्यन्त चतुरता से काम लिया है। आपकी वर्णन-शैली जहाँ वास्तविकता को छुपाने में अद्वितीय है, वहाँ कथा के कतर-ब्योंत में भी कोई कमी नहीं रक्खी। क्यों न हो, यह काम तो आर्यसमाज का जन्म से ही है।

तोपजी—'उलटा चोर कोतवाल को डाँटे'—यह उक्ति आपपर ही चरितार्थ होती है। प्रत्येक इतिहास में आप स्वयं अत्यन्त चालाकी से मनघड़न्त, झूठमूठ बातें बनाकर जनता

---

१. लगे संगे—भ्वादिगण।

को धोखे में रखने का प्रयत्न कर रहे हैं और दोष हमें देते हैं। हमारा काम कथाओं की कतर-ब्योंत और वास्तविकता को छुपाना नहीं है। हमने प्रत्येक कथा को पुराणों से याथातथ्यरूप में प्रस्तुत किया है। आर्यसमाज का सिद्धान्त है कि सत्य का प्रचार करे और छल-कपट करके धोखा देनेवालों की पोल खोले। लीजिए, हम माधवी की कथा को पुनः लिखते हैं। यह कथा महाभारत उद्योगपर्व अध्याय १०५ से १२१ तक में दी हुई है—

विश्वामित्र तप कर रहा था कि धर्म उसकी परीक्षा लेने के लिए वसिष्ठ का रूप धारण करके उसके आश्रम में आया। विश्वामित्र ने भोजन तैयार किया और हाथ जोड़कर वसिष्ठ को भोजन करने के लिए कहा। वसिष्ठरूपधारी धर्म ने कहा—तनिक ठहरो, मैं आता हूँ। यह कहकर वह तो चला गया और विश्वामित्र के शिष्य गालव ने उसकी खूब सेवा की। एक सहस्र वर्ष पश्चात् धर्म आया। और विश्वामित्र को उसी प्रकार खड़ा देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, भोजन किया और चला गया। विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण बन गया। तब विश्वामित्र ने प्रसन्न होकर गालव को सब विद्या देकर जाने की आज्ञा दे दी। गालव ने कहा—मैं दक्षिणा देना चाहता हूँ। विश्वामित्र ने बार-बार कहा कि जा, परन्तु गालव ने बार-बार कहा कि दक्षिण माँगो तब विश्वामित्र ने आठ सौ श्यामकर्ण अश्व माँगे। अब गालव बड़ी चिन्ता में पड़ गया और सूखकर काँटा हो गया। तब उसका मित्र गरुड़ उसे मिला, उसे सान्त्वना प्रदान की तथा उसे साथ लेकर राजा ययाति के पास गया और सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

राजा ययाति ने अत्यन्त शोक से गरुड़ से कहा कि अब मेरे पास उतना धन नहीं है, जितना पहले था, परन्तु मैं याचकों को खाली कभी नहीं लौटाना चाहता। यह मेरी कन्या माधवी चारों वर्णों को स्थिर रखनेवाली है। इसे राजा लोग बहुत चहाते हैं। वे इसके बदले में आपको श्यामकर्ण अश्व दे देंगे। तुम इसे ले-जाओ। यह बात सुनकर गालव और गरुड़ ने उस माधवी नामक कन्या को राजा से ले-लिया। इतना कार्य करके गरुड़ तो अपने घर चला गया और गालव माधवी को लेकर अयोध्या के राजा हर्यश्व के पास गया और सारी कथा सुनाई। उसने कहा—मेरे पास दो सौ श्यामकर्ण अश्व हैं। यदि आप कृपा करें तो ये ले-जाएँ और मुझे इस माधवी से एक पुत्र उत्पन्न कर लेने दें। यह सुनकर माधवी ने गालव से कहा—मुझे एक ब्राह्मण ने वर दिया है कि तू सन्तान पैदा करने के पश्चात् प्रत्येक बार कन्या बन जाया करेगी, अतः आप चार राजाओं से आठ सौ घोड़े ले लें, इस प्रकार मैं चार राजाओं के चार पुत्र उत्पन्न कर दूँगी और आपका काम बन जाएगा। गालव ने ऐसा ही किया। हर्यश्व ने उससे एक पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम वसुमना था। फिर अवधि समाप्त होने पर गालव ने वह कन्या दो सौ घोड़ों के बदले काशी के राजा दिवोदास को दे दी। उसने भी उससे एक पुत्र उत्पन्न कर लिया जिसका नाम प्रतर्दन था। अवधि समाप्त होने पर गालव ने माधवी को दो सौ घोड़ों के बदले में भोजनगर के राजा उशीनर को दे दिया। उसने भी एक पुत्र उत्पन्न किया जिसका नाम शिबि था। अवधि समाप्त होने पर और अन्य किसी राजा के पास श्यामकर्ण अश्व न पाकर गरुड़ के परामर्श से गालव ने छह सौ श्यामकर्ण अश्व लिये और साथ में माधवी को लेकर विश्वामित्र के पास गया और सारी कथा कह सुनाई और कहा कि—महाराज! छह सौ घोड़े ले-लीजिए और दो सौ के बदले एक पुत्र आप भी पैदा कर लीजिए। विश्वामित्र ने यह सुनकर और ठण्डा श्वास लेकर कहा—गालव! तूने भूल की। मुझे पहले क्यों न बताया अन्यथा आठ सौ श्यामकर्ण घोड़ों के बदले मैं ही इस माधवी से चार पुत्र उत्पन्न कर लेता! परन्तु अब क्या हो सकता है! विश्वामित्र ने भी माधवी से एक पुत्र उत्पन्न किया जिसका नाम अष्टक था। अवधि समाप्त

होने पर गालव ने माधवी को राजा ययाति को सौंप दिया। तब राजा ययाति ने माधवी का स्वयंवर रचा जिसमें माधवी ने वन [तपोवन] को ही पति वर लिया और वन में तप करने लगी।

मरने के पश्चात् राजा ययाति स्वर्ग में चले गये। कुछ समय के पश्चात् राजा ययाति ने स्वर्गवासियों का अपमान कर दिया जिससे राजा ययति को स्वर्ग से गिरा दिया गया। तब उपर्युक्त चार पुत्रों, माधवी और गालव ने भी ययाति को अपने-अपने धर्म का भाग दिया जिसे ययाति पुनः स्वर्ग को चला गया।

यह है माधवी की कथा जिसे हमने संक्षेप में महाभारत से यहाँ लिखा है, यद्यपि यह कथा भी वैसी ही असम्भव है जैसीकि अन्य पौराणिक कथाएँ। हमारा इस कथा को देने का प्रयोजन केवल यह है कि जिनके घर में इस प्रकार की बेहूदा कथाएँ भरी पड़ी हैं, वे नियोग पर क्या आपत्ति कर सकते हैं?

पोपजी—कथा में तो स्पष्ट लिखा है कि माधवी को चार कुल पैदा करने का वर मिल चुका था और जब वह गालव ऋषि के लिए श्यामकर्ण घोड़ों के बदले एक राजा से एक लड़का उत्पन्न करके एक कुल का आरम्भ कर चुकी तो वह वर के प्रभाव से पुनः कन्यारूप हो गयी। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे और चौथे लड़कों की उत्पत्ति के पश्चात् भी क्रमशः वह अपने मातारूपी शरीर को कुँवारेपन (बालरूप) में निरन्तर बदलती रही है। जब वह कई वर्ष के पश्चात् पुनः अपने पिता से मिली, तो भी अपने इस बालरूप में ही मिली। मानो उस देवी का चरित्र ही विचित्र है।

तोपजी—बस अब सनातनधर्म अन्तिम श्वासों पर है। झूठ, पाखण्ड, छल-कपट, धोखा, ठगी का इसे असाध्य रोग है। अब इसे मृत्यु के मुख से बचाने के लिए **'नीम हकीम खतराये जाँ'**[1] आप जैसे नीम हकीमों [अधकचरे वैद्यों] ने वरदान, चरु, दृष्टि, योगशक्ति और विचित्र चरित्र की गोलियाँ तैयार की हैं, परन्तु ये गोलियाँ बजाए लाभ करने के सनातनधर्म के लिए घातक सिद्ध हो रही हैं, क्योंकि इन गोलियों का कोई गुण दृष्टिगोचर नहीं होता। केवल मौखिक सान्त्वना से रोगी को आरोग्य कैसे प्राप्त हो सकता है?

इस सारी कथा में इस वरदान की गन्धमात्र भी नहीं है कि माधवी को चार-चार वंश आरम्भ करने का वर मिला हो, फिर पता नहीं आपने यह गपोड़ा क्यों मारा। रह गया बार-बार सन्तान आरम्भ करने पर भी कन्या बन जाना। यह सनातनधर्म का बाएँ हाथ का काम है। माधवी ने केवल चार ही पुत्र पैदा किये थे, परन्तु सनातनधर्म के पुराणों में तो ऐसे-ऐसे योग और नुस्खे बताये गये हैं कि जिनसे दस बार सन्तान करके भी कन्या बन जाना सम्भव है, फिर इन नुस्खों में से यदि किसी ब्राह्मण ने कोई नुस्खा माधवी को भी बता दिया तो क्या आश्चर्य है! देखिए, गरुड़पुराण में लिखा है—

शंखपुष्पी वचा मांसी सोमराज्ञी च फल्गुकम्॥ ६॥
माहीषं नवनीतं च त्वेकीकृत्य भिषग्वरः। समूलानि सपत्राणि क्षीरेणाज्येन पेषयेत्॥ ७॥
गुटिकां शोधितां कृत्वा नारीयोन्यां प्रवेशयेत्। दशवारं प्रसूतापि पुनः कन्या भविष्यति॥ ८॥

—गरुड़पु० आचारका० १८०।६-८

अर्थ—शंखपुष्पी, वच, मांसी, सोमराज्ञी, फल्गु, भैंस का मक्खन—इन सबको इकट्ठा करके वैद्य को चाहिए कि जड़ों और पत्तों समेत दूध और घी से पीसकर तथा शुद्ध करके गोली बनाकर स्त्री की योनि में प्रविष्ट कर दे। यदि स्त्री ने दस बार भी सन्तान उत्पन्न की

१. अधकचरा वैद्य जीवन के लिए अनिष्टकर होता है।

है तो भी वह फिर से कन्या हो जाएगी।

जब सनातनधर्म में इस प्रकार के नुस्खे विद्यमान हों तो फिर किसी स्त्री का सन्तान उत्पन्न करके कन्या बन जाना क्या कठिन है। यदि इसी का नाम चरित्र का विचित्र होना है तो सनातनधर्म में इस प्रकार की स्त्रियों की कोई कमी नहीं है, अतः आपका उपर्युक्त लेख आपके प्रयोजन को पूरा नहीं करता। यदि आपकी वरदान की बात को स्वीकार भी कर लिया जाए तो भी हमारा पक्ष ही सिद्ध होता है कि सर्वसाधारण में तो यही प्रसिद्ध था कि माधवी के चार राजाओं से चार पुत्र उत्पन्न हुए, कारण चाहे कुछ भी हो। प्रत्येक स्थिति में अब भी जो स्त्रियाँ दूसरा पति स्वीकार करेंगी, उसमें भी कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है, अतः माधवी का चरित्र हमारे सिद्धान्त पुनर्विवाह और नियोग का प्रबल समर्थन करता है।

पोपजी—जिसमें वरदान की शक्ति के अतिरिक्त अपने मातारूपी शरीर को बालरूप में परिवर्तित करने की शक्ति विद्यमान थी, ऐसी कन्या जिसमें दिव्य शक्ति हो और वह मानव-शरीर में रहती हुई अपनी शक्तियों को प्रकट करे तो वह मनुष्य-सृष्टि में कैसे गिनी जा सकती है! ऐसा प्राणी मनुष्य-सृष्टि में रहता हुआ भी उससे मुक्त है। जैसे चलती रेलगाड़ी में चढ़ना रेल के विधि-विधान के विरुद्ध है, अपितु ऐसा करनेवाला बन्दी बनाने योग्य है, परन्तु गार्ड सदा ही चलती गाड़ी में चढ़ता है, यद्यपि उसके लिए ऐसा करने की कोई आज्ञा नहीं, परन्तु वह सर्वसाधारण जनता से इस कर्म में मुस्तस्ना=मुक्त है, इसी प्रकार वह कन्या जिसमें दैवी शक्ति हो, उसका कर्म हमारे लिए अनुकरण के योग्य नहीं हो सकता, जबतक कि हम अपने में वैसी शक्ति उत्पन्न न कर लें, और या इस कर्म को करने के लिए कोई विधिवाक्य हो; परन्तु ऐसा भी नहीं। पुराणों में तो कई आश्चर्यजनक कथाएँ हैं, उन्हें करने के लिए हम तैयार क्यों नहीं होते? कहना पड़ेगा कि हममें वैसी शक्ति नहीं है। इसी प्रकार यह भी मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में यदि आर्यसमाज इस अलौकिक कथा से किसी प्रकार से भी नियोग-सिद्धि का प्रयोजन पूर्ण करना चाहता है तो उसकी सरासर भूल है, क्योंकि इस कथा में नियोग या विधवा-विवाह का कोई शब्द तक नहीं है।

तोपजी—क्यों श्रीमन्! यदि माधवी मनुष्य-सृष्टि में नहीं थी तो कौन-सी सृष्टि में थी? अपने को बालरूप में परिवर्तन कर लेना महाभारत में कहीं नहीं है, यह तो आपका गपोड़ा है। हाँ, कन्या बनने का नुस्खा गरुड़पुराण ने बतला दिया जिसका प्रयोग करके प्रत्येक स्त्री कन्या बन सकती है। बस, अब एक ही दैवी शक्ति माधवी की रह गयी कि इस अकेली ने चार के छक्के छुड़ा दिये। सो वह भी कोई नई बात नहीं, अब भी संसार में ऐसी स्त्रियाँ मिल सकती हैं जो बीस का मुँह मोड़ दें, फिर भला बतलाइए, वह कौन-सी अलौकिक शक्ति है जो माधवी में थी?

प्रतीत होता है कि आप मुस्तस्ना [मुक्त होने] का अर्थ ही नहीं जानते। श्रीमन्! कोई विधान साधारण नियम बनाकर विशेष-विशेष व्यक्तियों को उससे मुक्त घोषित कर दे तो उसे 'मुस्तस्ना' कहते हैं। जबतक विधान किसी को मुक्त घोषित न करे तबतक वह मुक्त नहीं कहा जा सकता, अपितु विधान के विरुद्ध करने के कारण अपराध माना जाएगा। आपने गार्ड का उदाहरण दिया है। श्रीमन्! रेलवे के विधि-विधान ने गार्ड को मुक्त घोषित नहीं किया है, अतः उसका चलती ट्रेन में सवार होना विधान की दृष्टि में अपराध है। इस अपराध का उसे यह दण्ड मिलता है कि यदि सर्वसाधारण में से कोई यात्री सहसा गाड़ी की चपेट में आ जाए तो रेलवे उसकी क्षतिपूर्ति की उत्तरदायी है और क्षतिपूर्ति करती है, परन्तु क्योंकि गार्ड जान-बूझकर चलती गाड़ी में चढ़कर विधान का उल्लंघन करता है, अतः ऐसी अवस्था

में यदि गार्ड गाड़ी की चपेट में आ जाए तो रेलवे इसकी क्षतिपूर्ति की उत्तरदायी नहीं है, अतः गार्ड जो-कुछ करता है, अपने उत्तरदायित्व पर करता है, विधान (कानून) उसे ऐसा करने की आज्ञा नहीं देता। इसी प्रकार से माधवी का कर्म भी यदि विधान ने मुक्त घोषित नहीं किया है तो मानना पड़ेगा कि माधवी ने व्यभिचार किया, और यदि इस प्रकार के कर्म को विधान अर्थात् वेद और स्मृतियों ने मुक्त घोषित किया हो तो आप इस सम्बन्ध में प्रमाण प्रस्तुत करें।

हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि माधवी में कोई विचित्र दैवी शक्ति नहीं थी। आजकल भी ऐसी स्त्रियाँ मिल सकती हैं जिन्होंने चार पतियों से चार पुत्र पैदा करके उनके वंशों को चलाया हो। अस्तु, आपके लिए तो माधवी का कर्म अनुकरणीय नहीं, क्योंकि आपमें इतनी शक्ति नहीं, परन्तु किसी पौराणिक लड़की में इतनी शक्ति उत्पन्न हो जाए कि वह माधवी की भाँति चार के होशोहवास [बुद्धि] ठिकाने लगा सके तो उसके इस कर्म पर तो आपको कोई आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि आप इस प्रकार के कर्म को पाप नहीं बताते, अपितु इसपर आचरण न करने का कारण अपनी अशक्ति बता रहे हैं। यदि कोई पौराणिक लड़की इस प्रकार की शक्ति प्रकट करे तो आप अधिक-से-अधिक यह कह देंगे कि इसमें दैवी शक्ति है, उसे वरदान था, आदि-आदि।

इस कथा से हम नियोग या विधवा-विवाह सिद्ध नहीं करते, क्योंकि नियोग और विधवा-विवाह की प्रथा वेदानुकूल और विधिपूर्वक पञ्चायत के समक्ष पूर्ण की जाती है और माधवी का कर्म वेद के प्रतिकूल एक गोपनीय सम्बन्ध होने के कारण व्यभिचार है, परन्तु हम यह अवश्य कहते हैं कि जिनके घर में इस प्रकार के बेहूदा इतिहास विद्यमान हों, उन्हें किसी विधवा के आपत्काल में पञ्चायती रस्म पूर्ण करने के पश्चात् दो अपने लिए और दो-दो अन्य चार पुरुषों के लिए सन्तान उत्पन्न करने में क्या आपत्ति हो सकती है? निश्चय ही इस इतिहास की विद्यमानता पौराणिकों के साथ शास्त्रार्थ में हमें नियोग और विधवा विवाह के समर्थन में बड़ी सहायता देती है और पौराणिक इस कथा के प्रस्तुत करते ही अपना-सा मुँह लेकर रह जाते हैं।

पोपजी—लाला साहब लिखते हैं कि पुराणों में स्थान-स्थान पर स्त्रियों को दूसरे पति का अधिकार है, यह लाला साहब का आत्मिक दोष है, पुराणों में कहीं भी स्त्रियों को दूसरे पति के अधिकार की चर्चा तक नहीं है। जगन्माता सीता के ताने से ही नियोग की प्रथा को सिद्ध करना महा अज्ञान और पाप है।

तोपजी—निःसन्देह "पुराणों में स्त्री को दूसरे पति का अधिकार है", इसका स्थान-स्थान पर वर्णन है। यहाँ हम कुछ पुराणों के प्रमाण लिखते हैं—

पुराणों में स्त्री को दूसरे पति के अधिकार के सम्बन्ध में विधिवाक्य

पुरा सत्ययुगे नारी चोत्तमा च पतिव्रता। त्रेतायां मध्यमा जाता निकृष्टा द्वापरे पुनः॥ २८॥
अधमा हि कलौ नारी परपुंसोपभोगिनी। अतस्तु कलिकाले वै विवाहो विधवास्त्रियाः॥ २९॥

—भविष्यपु० प्रतिसर्गप० ३, खण्ड ३, अ० ३१, श्लोक २८-२९

अर्थ—पहले सत्ययुग में स्त्री उत्तम पतिव्रता होती थी, त्रेता में मध्यम हो गयी और द्वापर में निकृष्ट हो गयी॥ २८॥ कलियुग में स्त्री पर-पुरुष के साथ भोग करनेवाली अधम हो गयी, अतः कलियुग में विधवा स्त्री का विवाह हो जाना चाहिए॥ २९॥

न श्राद्धं तु कनिष्ठस्य विकुलाय च कन्यका। वरश्च कुलशीलाभ्यां न शुद्ध्येत कदाचन।
न मन्त्राः कारणं तत्र न च कन्या वृता भवेत्॥ ४८॥

उद्वाहिता तु या कन्या न च प्राप्ता तु मैथुनम्। पुनरभ्येति भर्तारं यथा कन्या तथैव सा॥ ४९॥
समाक्षिप्य मतां कन्यां पिता अक्षतयोनिकाम्। कुलशीलवते दद्यान्न स्याद् दोषः खगाधिप॥ ५०॥

—भवि० ब्राह्म० १८२। ४८-५०

अर्थ—छोटे का तो श्राद्ध नहीं है, दुष्कुलवाले के लिए कन्या नहीं है। यदि कभी वर कुल और स्वभाव से शुद्ध न हो तो केवल मन्त्रों के पढ़े जाने के कारण कन्या विवाही हुई नहीं मानी जानी चाहिए॥ ४८॥ जो कन्या विवाही तो गयी हो परन्तु समागम को प्राप्त नहीं हुई हो, वह फिर से दूसरे पति को प्राप्त हो सकती है, क्योंकि जैसी कन्या होती है वैसी ही वह है॥ ४९॥ पिता को चाहिए कि वह अक्षतयोनि कन्या को उसकी इच्छानुसार [विवाहित कुल में से] छीनकर किसी अच्छे कुल और अच्छे स्वभाववाले को दे दे। हे गरुड़! इसमें कोई पाप नहीं है॥ ५०॥

अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो देवरः पुत्रकाम्यया। सपिण्डो वा सगोत्रा वा घृताभ्यक्तऋतावियात्॥ १६॥
आगर्भसम्भवं गच्छेत् पतितस्त्वन्यथा भवेत्। अनेन विधिना जातः क्षेत्रस्य भवेत्सुतः॥ १७॥

—गरुड़पु० आचार० ९५। १६, १७

अर्थ—पुत्रहीन स्त्री के पास पुत्र की कामना से गुरुओं [वृद्धों] की आज्ञा से अपने ही गोत्र या कुल का देवर शरीर पर घी लगाकर ऋतुकाल में जाए॥ १६॥ जब तक गर्भ न हो तब तक इसी प्रकार जाए, अन्यथा करने पर पतित हो जाएगा। इस प्रकार उत्पन्न किया हुआ पुत्र स्त्री के पहले पति का पुत्र माना जाएगा॥ १७॥

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ॥ २९॥
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते। भर्त्रा सह मृता नारी रोमाब्दानि वसेद्दिवि॥ ३०॥

—गरुड़पु० आचार० १०७। २९-३०

अर्थ—पति के खो जाने, मर जाने, संन्यासी हो जाने, नपुंसक होने तथा धर्म से पतित हो जाने पर—इन पाँच आपत्कालों में स्त्री के लिए दूसरे पति का विधान है। जो स्त्री पति के साथ मर जाए तो जितने शरीर के रोम-बाल हैं, वह उतने वर्ष तक स्वर्ग में निवास करती है॥ २९-३०॥

कुछ लोग व्याकरण की टाँग अड़ाकर इस श्लोक में 'अपतौ' निकालकर वाग्दान अर्थात् जिसके साथ सगाई हुई हो, उसके मरने पर—ऐसा अर्थ करते हैं, परन्तु यह अर्थ सर्वथा ग़लत है, क्योंकि—

१. नारी उसी को कहते हैं जो नर की स्त्री बन चुकी हो, कुमारी का नाम नारी नहीं हो सकता।

२. यह लिखना कि 'दूसरे पति का विधान है', जबतक पहले को पति न माना जाए तबतक दूसरे को दूसरा पति नहीं कहा जा सकता और पति संज्ञा सप्तपदी से पूर्व नहीं हो सकती।

३. सगाईवाले के साथ स्त्री को सती होने की आज्ञा नहीं हो सकती, जैसाकि इस श्लोक में पति के साथ मरने का वर्णन विद्यमान है।

और फिर शास्त्रों में 'पतौ' शब्द विद्यमान है। देखिए—

एवं पतौ सुकामार्ते गम्यतां गिरिनन्दिनि॥ —शिवपु० रु० यु० ५१। ४३

अर्थ—हे पार्वती! पति महादेव के इस प्रकार कामार्त होने पर तुझे अवश्य चलना चाहिए।

इस प्रकार के और भी बहुत-से प्रमाण पुराणों से प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनसे

सिद्ध होता है कि स्त्री को दूसरे पति का अधिकार है। आपका इन्कार करना आपकी पुराणों से अज्ञानता का प्रकट प्रमाण है।

और महारानी सीता का लक्ष्मण को ताना देना—"तू मेरे लोभ से राम के पीछे-पीछे फिरता है", निःसन्देह इस बात को सिद्ध करता है कि उस युग में स्त्रियों को दूसरे पति का अधिकार प्राप्त था। हम आगे चलकर इस बात को और भी दृढ़ता से सिद्ध करेंगे।

पोपजी—उपदेशक साहब! क्या सच बोलना और सचाई से काम लेना इसी का नाम है? लक्ष्मण को राम के पीछे भेजने के लिए सती सीताजी का लक्ष्मण को यह ताना देना कि तू मेरे लोभ से राम के पीछे-पीछे फिरता है, किसी आप-जैसे उलटी समझवाले के लिए ही नियोग की प्रथा को सिद्ध करता होगा। प्रतीत होता है नियोग का राग गाते-गाते आपकी बुद्धि इतनी भ्रष्ट हो गयी है कि आपको इन ताने के शब्दों में भी नियोग की बू आ रही है। आपने तो मिस मेयो को भी पीछे छोड़ दिया। क्यों न हो, एक गन्दगी के कीड़े को सिवाय दुर्गन्ध इकट्ठा करने के और क्या आ सकता है? क्या ऐसे ही वितण्डावाद और बेपर की उड़ान तक आपका तर्क समाप्त है?

उपदेशक साहब! महारानी सीता का नियोग की ओर संकेत नहीं था, अपितु उस अनहोनी बात से दुःखी होकर लक्ष्मण को प्रभु राम की सहायता के लिए भेजना था। आदर्श सीताजी और चौदह वर्ष तक जिस लक्ष्मण ने स्त्री का मुख नहीं देखा हो ऐसे पूर्ण ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में ये विचार लिखते हुए आपकी जिह्वा कट क्यों नहीं गयी?

तोपजी—जब आप-जैसे मिथ्यावादी, धोखेबाज, छली और कपटियों की जिह्वा नहीं कटती तो सचाई की बात लिखते हुए हमारी जिह्वा क्यों कटती? क्योंकि हमने कहीं भी नहीं लिखा कि लक्ष्मण का ऐसा संकल्प था। सबसे पूर्व तो जिह्वा सीता की कटनी चाहिए थी, जिसने ऐसे पूर्ण ब्रह्मचारी के लिए इस प्रकार के विचार प्रकट किये। जब इस प्रकार के विचार प्रकट करनेवाली सीता की भी जिह्वा नहीं कटी तो केवल उन शब्दों को लिखनेवाले मेरे-जैसों की जिह्वा क्यों कटने लगी? इन विचारों को प्रकट करनेवाली सती सीताजी हैं, आप उनके लिए चाहे मिस मेयो की उपाधि प्रस्तावित करें, चाहे गन्दगी का कीड़ा कहें। प्रत्येक स्थिति में इन विचारों को प्रकट करनेवाली सीताजी हैं, हम इस अपराध से सर्वथा मुक्त हैं, क्योंकि '**नक़ले कुफ्र कुफ्र न बाशद**', अर्थात् कुफ्र की नकल करना [लिखना] कुफ्र में सम्मिलित नहीं है। तनिक वाल्मीकि रामायण उठाकर देखें, वहाँ क्या लिखा हुआ है—

तमुवाच ततस्तत्र क्षुभिता जनकात्मजा। सौमित्रे मित्ररूपेण भ्रातस्त्वमसि शत्रुवत्॥ ६॥
लोभात्तु मत्कृते नूनं नानुगच्छसि राघवम्। व्यसनं ते प्रियं मन्ये स्नेहो भ्रातरि नास्ति ते॥ ७॥
नैव चित्रं सपत्नेषु पापं लक्ष्मण यद्भवेत्। त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्नचारिषु॥ २३॥
सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि। मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा॥ २४॥
तन्न सिद्ध्यति सौमित्रे तवापि भरतस्य वा। कथमिन्दीवरश्यामं रामं पद्मनिभेक्षणम्॥ २५॥
उपसंश्रित्य भर्तारं कामयेयं पृथग्जनम्। समक्षं तव सौमित्रे प्राणांस्त्यक्ष्याम्यसंशयम्॥ २६॥
रामं विना क्षणमपि नैव जीवामि भूतले॥ २७॥
गोदावरीं प्रवेक्ष्यामि हीना रामेण लक्ष्मण। आबन्धिष्येऽथवा त्यक्ष्ये विषमे देहमात्मनः॥ ३६॥
पिबामि वा विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्। न त्वहं राघवादन्यं कदापि पुरुषं स्पृशे॥ ३७॥

—(वा० रा० अरण्य० ४५।५-७, २३-२७, ३६-३७)

अर्थ—इसके पश्चात् दुःखी हुई सीता ने वहाँ लक्ष्मण से कहा—हे लक्ष्मण! तू मित्ररूप

में अपने भाई का शत्रु है— ॥५॥ जो तू इस अवस्था में भी अपने भाई की सहायता के लिए नहीं जाता। हे लक्ष्मण! तू मेरे प्रयोजन से राम का नाश चाहता है॥६॥ निश्चय ही तू मेरे लोभ के कारण राम के पीछे नहीं जाता। राम की आपत्ति तेरे लिए वरदान है। मैं समझती हूँ तुझे भाई से कोई प्रेम नहीं है॥७॥ हे लक्ष्मण! दूसरा पति बननेवालों में यदि इस प्रकार का पाप हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। तेरे-जैसे क्रूर और गुप्तरूप से सदा पीछे-पीछे रहनेवालों के लिए ऐसा होना क्या आश्चर्य की बात है॥२३॥ तू अत्यन्त दुष्ट है जो वन में अकेले राम के पीछे अकेला फिर रहा है। तू मेरे लिए गुप्तरूप से या भरत का भेजा हुआ यहाँ राम के पीछे फिर रहा है॥२४॥ हे लक्ष्मण! वह तेरा या भरत का प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा; कैसे कमल-नेत्र और श्याम सुन्दर राम को॥२५॥ अपना पति बनाकर मैं किसी और पुरुष की इच्छा कर सकती हूँ? हे लक्ष्मण! मैं निश्चय ही तेरे सामने अपने प्राणों को त्याग दूँगी॥२६॥ मैं राम के बिना एक क्षण भी पृथिवी पर जीने के लिए तैयार नहीं हूँ॥२७॥ हे लक्ष्मण! मैं राम के बिना गोदावरी नदी में डूब मरूँगी या इस विपत्ति में फाँसी लगाकर अपने जीवन का अन्त कर दूँगी॥३६॥ मैं तीक्ष्ण विष पी लूँगी अथवा अग्नि में जल मरूँगी, परन्तु मैं राम के अतिरिक्त अन्य किसी को छू भी नहीं सकती॥३७॥

यह पाठ वाल्मीकि रामायण में विद्यमान है। अब इस लेख को पढ़कर और तनिक बुद्धि को ठिकाने लगाकर विचार करें कि यदि उस युग में स्त्री को दूसरा पति करने का अधिकार न होता तो सीता लक्ष्मण को यह ताना कैसे दे सकती थी?

हम कभी भी वितण्डावाद नहीं करते, अपितु उचित बात आपके माननीय ग्रन्थों में से उद्धृत करके तर्क के अनुसार परिणाम निकालते हैं। हाँ, आपकी बुद्धि पर सनातनधर्मियों को अवश्य रोना चाहिए कि आप इससे यह परिणाम निकालते हैं कि 'सीता का प्रयोजन अनहोनी बात कहकर लक्ष्मण को दुःखी करके राम के पीछे भेजना था।' श्रीमन्! संसार में असम्भव बात का ताना दिया ही नहीं जाता। ताना उसी बात का दिया जाता है कि जिसका होना सम्भव हो, वरन् अनहोनी, असम्भव बात के उलाहने से तो कोई दुःखी हो ही नहीं सकता, अपितु दुःखी तब होता है जब बात सम्भव तो हो, परन्तु उसका संकल्प न हो और लांछन के रूप में कहा जाए कि तुम्हारी ऐसा करने की इच्छा है, अतः आपका परिणाम निकालना ग़लत है।

हमारा परिणाम सर्वथा ठीक है और हमारे इस परिणाम की रामायण की और घटनाएँ प्रबल समर्थन करती हैं। देखिए, रावण सीता से कहता है कि तू मेरी रानी बन जा। तू इस बात का सन्देह न कर कि पाप होगा—

उवाच वचनं वीरो रावणो रजनीचरः। अलं व्रीडेन वैदेहि धर्मलोपकृतेन ते॥३४॥
आर्षोऽयं देवि निष्पन्दो यस्त्वामभिभविष्यति॥३५॥ —वा० रा० अरण्य० ५५।३४-३५

अर्थ—वीर राक्षस रावण ने सीता से ये वचन कहे कि हे सीते! तू लज्जा त्याग दे और यह विचार न कर कि पाप होगा। यह विधि, हे देवि! आर्ष विवाह कहाता है जिससे मैं तुझे ग्रहण करूँगा॥३४-३५॥

रावण का सीता को यह कहना इस बात को सिद्ध करता है कि उस युग में स्त्री को दूसरे पति का अधिकार था। श्रीरामचन्द्रजी भी इस बात का समर्थन करते हैं। जब रावण मारा जा चुका, विभीषण गद्दी पर बैठ गया और सीता को रामचन्द्रजी के पास लाया गया तो राम ने सीता से कहा—

प्राप्तचारित्रसन्देहा मम प्रतिमुखे स्थिता। दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढा॥१७॥

तदद्य व्याहृतं भद्रे मयैतत्कृतबुद्धिना। लक्ष्मणे वाथ भरते कुरु बुद्धिं यथासुखम्॥ २२॥
शत्रुघ्ने वाथ सुग्रीवे राक्षसे वा विभीषणे। निवेशय मनः सीते यथा वा सुखमात्मनः॥ २३॥

—वा० रा० युद्ध० ११५।१७, २२, २३

अर्थ—मुझे तेरे चाल-चलन में शक है और तू मेरे समक्ष खड़ी है, परन्तु तू मेरे लिए वैसे ही प्रतिकूल है जैसे दीपक नेत्ररोगी को प्रतिकूल होता है॥ १७॥ हे कल्याणि! आज अपने होशहवास स्थिर रखते हुए मैं तुझे कहता हूँ कि तू सुखपूर्वक लक्ष्मण या भरत में अपनी बुद्धि स्थिर कर॥ २२॥ अथवा शत्रुघ्न वा सुग्रीव में अथवा राक्षस विभीषण में अपना मन लगा ले। अथवा हे सीते! जहाँ तुझे सुख प्रतीत हो वहाँ रह॥ २३॥

राम का गम्भीरतापूर्वक सीता को यह परामर्श देना कि मुझे तेरे चाल-चलन में सन्देह है, अतः मैं तुम्हें नहीं रख सकता। यदि तू चाहे तो लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सुग्रीव या विभीषण में मन लगा ले, इस बात को सिद्ध करता है कि उस युग में ऐसी अवस्थाओं में स्त्री को दूसरे पति का अधिकार था। फिर वाल्मीकि मुनि भी हमारे इस परिणाम का समर्थन करते हैं। वे लिखते हैं कि जब हनुमान् ने अशोक-वाटिका में सीता को देखा तो उसकी क्या अवस्था थी—

पुनः संस्कारमापन्नां जातामिव च दुष्कुले॥१०॥ —वा० रा० सुन्दर० १९।१०

अर्थ—सीता की अवस्था ऐसी थी, जैसीकि पुनः संस्कार को प्राप्त हुई हो अथवा दुःखी कुल में उत्पन्न हुई हो।

वाल्मीकिजी का सीता को इस बात की उपमा देना कि मानो पुनःसंस्कार को प्राप्त हुई थी, इस बात को सिद्ध करता है कि उस युग में पुनःसंस्कार की प्रथा थी।

हमारे रामायण के प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि रामायणकाल में पुनर्विवाह और नियोग की प्रथा विद्यमान थी। पुनर्विवाह और नियोग को सीता और राम के सदृश आदर्श धर्म का पालन करनेवाले पुरुषों के लिए नहीं, अपितु आपद्धर्म का पालन करनेवालों के लिए उचित स्वीकार किया जाता था और यही सिद्धान्त वेद, स्मृति और स्वामी दयानन्दजी महाराज का है कि नियोग आदर्श धर्म नहीं, अपितु आपद्धर्म है, इसलिए हमने सचाई से काम लेते हुए जो परिणाम निकाले हैं, प्रत्येक बुद्धि रखनेवाला व्यक्ति भी यही परिणाम निकालेगा। यदि आप-जैसे बुद्धू, मूर्ख, उलटी खोपड़ीवाले व्यभिचार, गर्भपात और बाज़ार में बिठाकर विधवाओं से पेशा कराने के पक्षपाती और वेदानुकूल पुनर्विवाह और नियोग के विरोधी उल्लू को यह बात समझ में न आये तो इसमें रामायण लिखनेवाले का क्या दोष है! प्रतीत होता है कि विरोध करते-करते आपका दिमाग़ इतना खराब हो गया है कि इस समय वह जाति की विधवाओं की भलाई-बुराई पर भी उचित ढंग से विचार नहीं कर सकता।

पोपजी—वीर हनुमान् अञ्जना और शक्ति के ही पुत्र थे, परन्तु उन्हें पवन देवता का ही अवतार माना गया है। वाल्मीकि रामायण में पवन देवता से नियोग की कहीं भी चर्चा नहीं है, अपितु वहाँ स्पष्ट लिखा है कि वरदान से ही पवन देवता के ये अंशावतार थे।

तोपजी—आपको यह वरदान का नुस्खा पण्डित ठाकुरदत्तजी की अमृतधारा की भाँति अच्छा हाथ आ गया है कि जहाँ सनातनधर्म उत्तर देने में विवश हो गया, वहाँ तुरन्त इसका प्रयोग कर डाला। अच्छा है यदि इसके सहारे कुछ दिन सनातनधर्म के प्राण चलते रहें, अन्यथा यह तो बतलाएँ कि सनातनधर्म में कोई सीधे ढंग से पैदा भी हुआ है अथवा सारे इसी प्रकार ऊटपटाँग ढंग से उत्पन्न हुए हैं? पता नहीं सनातनधर्म को वीर्यदान की उत्पत्ति

से भय क्यों लगता है? जहाँ पर स्पष्ट कामचेष्टा का वर्णन हो वहाँ भी वरदान का ही राग गाया जाता है। केवल वरदान से आज तक न तो सन्तान उत्पन्न हुई और न ही होनी सम्भव है। स्त्री के उदर से, बिना समागम करके वीर्यदान दिये, सन्तान उत्पन्न हो ही नहीं सकती। हनुमान्‌जी की उत्पत्ति में भी स्पष्टरूप से केसरी की स्त्री अञ्जना के साथ पवन का समागम वाल्मीकि रामायण किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग ६६ में विद्यमान है। अवलोकन कीजिए—

अप्सराप्सरसां श्रेष्ठा विख्याता पुञ्जिकस्थला। अञ्जनेति परिख्याता पत्नी केसरिणो हरेः ॥ ८ ॥
तस्या वस्त्रं विशालाक्ष्याः पीतं रक्तदशं शुभम्। स्थितायाः पर्वतस्याग्रे मारुतोऽपाहरच्छनैः ॥ १२ ॥
स ददर्श ततस्तस्या वृत्तावूरू सुसंहतौ। स्तनौ च पीनौ सहितौ सुजातं चारु चाननम्॥ १३ ॥
तां बलादायतश्रोणीं तनुमध्यां यशस्विनीम्। दृष्ट्वैव शुभसर्वाङ्गीं पवनः काममोहितः ॥ १४ ॥
स तां भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां पर्यष्वजत मारुतः। मन्मथाविष्टसर्वाङ्गो गतात्मा तामनिन्दिताम्॥ १५ ॥

अर्थ—अप्सराओं में श्रेष्ठ अप्सरा जो पुञ्जिकस्थला नाम से विख्यात थी, वही केसरी नामक वानर की अञ्जना नामवाली धर्मपत्नी थी॥८॥ पर्वत पर खड़ी हुई उस मृगनैनी का सुन्दर पीला वस्त्र जिसका किनारा लाल था, पवन ने धीरे से छीन लिया॥१२॥ इस पवन ने उस अञ्जना के चौड़े और मिले हुए जाँघ, मोटे-मोटे स्तन और सुन्दर मुख को देखा॥१३॥ उस लम्बे बालों और पतली कमरवाली सुन्दरी अञ्जना को और उसके सुन्दर मुख को देखकर ही पवन काम से मोहित हो गया॥१४॥ काम से आक्रान्त सब अङ्गोंवाले पवन ने अपनी लम्बी-लम्बी भुजाओं से उसे अपनी छाती से लगा लिया और अपने आत्मतेज को उसके गर्भ में प्रविष्ट कर दिया॥१५॥

कहिए, पोपजी महाराज! क्या इसी का नाम वरदान है, जिसका चिरकाल से शोर मचाया जा रहा था? यदि इसी का नाम वरदान है तो हमें भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि नाम में ही अन्तर है, काम एक ही है। आप इसे वरदान कह देते हैं, हम समागम और वीर्यदान कह देते हैं।

आपने यह 'शक्ति' [पोपजी के प्रश्न में] पता नहीं कहाँ से कल्पना कर ली, अन्यथा अञ्जना तो केसरी की पत्नी थी और उसका पवन से नियोग हुआ था, जिससे हनुमान् पैदा हुए। आपने लिखा है कि वाल्मीकि रामायण में नियोग की चर्चा कहीं भी नहीं है। बलिहारी है आपके इस ज्ञान की! श्रीमन्! क्षेत्रज पुत्र की उत्पत्ति कैसे होती है? जब हनुमान्‌जी को क्षेत्रज पुत्र स्पष्ट लिखा है तो फिर हनुमान्‌जी के नियोग से उत्पन्न होने में क्या सन्देह किया जा सकता है? देखिए—

स त्वं केसरिणः पुत्रः क्षेत्रजो भीमविक्रमः ॥२९॥
मारुतस्य औरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः ॥ —वा० रा० किष्कि० ६६। २९-३०

अर्थ—जाम्बवान् हनुमान्‌जी से कह रहे हैं—"हे हनुमन्! तू भयङ्कर बलवाले केसरी का क्षेत्रज पुत्र है और पवन का औरस पुत्र है तथा तेज में भी उसी के समान है।"

क्षेत्रज पुत्र की परिभाषा मनुस्मृति [९। १६७] में स्पष्ट लिखी है—

"पति के मर जाने, नपुंसक होने अथवा असाध्य रोग में ग्रस्त होने पर उसकी स्त्री धर्मपूर्वक नियोग करके अपनी चारपाई पर जो पुत्र उत्पन्न करती है, उसका नाम 'क्षेत्रज' है।"[१]

इससे स्पष्ट सिद्ध हो गया कि हनुमान्‌जी नियोग की सन्तान थे, अतः उस युग में पत्नी को दूसरे पति का अधिकार था।

---

१. **यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा। स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥**

पोपजी—रावण की बहिन शूर्पणखा का उदाहरण देकर विधवा-विवाह सिद्ध करना अयोग्यता है।

तोपजी—क्यों साहब! विधवा-विवाह सिद्ध करना क्यों अयोग्यता है? एक स्पष्ट प्रमाण की विद्यमानता में विधवा-विवाह से इन्कार करना अयोग्यता क्यों नहीं?

वाल्मीकि रामायण में स्पष्ट लिखा है—

ततः प्रदानं राक्षस्या भगिन्याः समचिन्तयत्॥ १॥
ददौ तां कालकेन्द्राय दानवेन्द्राय राक्षसीम्। स्वसां शूर्पनखां नाम विद्युज्जिह्वाय राक्षसः॥ २॥

—वा० रा० उत्तर० १२।१-२

अर्थ—इसके पश्चात् रावण ने अपनी बहिन राक्षसी के कन्यादान का विचार किया॥१॥ राक्षस रावण ने राक्षसी शूर्पणखा नामवाली बहिन को काल के समान भयङ्कर राक्षसों के राजा विद्युज्जिह्व को प्रदान कर दिया।

इस प्रमाण से शूर्पणखा का विवाह होना सिद्ध होता है।

इससे आगे लिखा है—

शूर्पणख्याश्च भर्तारमसिना प्राच्छिनत्तदा। श्यालं च बलवन्तं च विद्युज्जिह्वं बलोत्कटम्॥

—वा० रा० उत्तर० २३।१८

अर्थ—तब रावण ने शूर्पणखा के पति अपने बहनोई बलवान् और वीर विद्युज्जिह्व को तलवार से काट दिया।

इस प्रमाण से शूर्पणखा के पति का रावण के हाथों मारा जाना सिद्ध है। इसके आगे शूर्पणखा रावण से कहती है—

कृतास्मि विधवा राजंस्त्वया बलवता बलात्॥ २७॥
राजन्वैधव्यशब्दं च भोक्ष्यामि त्वत्कृतं ह्यहम्॥ ३०॥ —वा०रा०उत्तर० २४।२७, ३०

अर्थ—हे राजन्! बलवान् आपने मुझे बलात् विधवा बना दिया है॥२७॥ हे राजन्! मैं तुम्हारे कारण विधवा शब्द का भोग करूँगी [विधवा कहलाऊँगी]।

इस प्रमाण से शूर्पणखा का विधवा होना सिद्ध होता है। विधवा होने के पश्चात् शूर्पणखा रावण के कहने से खर-दूषण के पास रहने लगी। इसी समय राम वनवास में आये। तब विधवा शूर्पणखा ने राम के पास जाकर कहा—

अहं प्रभावसम्पन्ना स्वच्छन्दबलगामिनी। चिराय भव भर्ता मे सीतया किं करिष्यसि॥

—वा० रा० अरण्य० १७।२४

अर्थ—मैं राज्यप्रभाव से युक्त हूँ और अपने बल के कारण स्वच्छन्द विचरती हूँ, आप चिरकाल के लिए मेरे पति बनें, सीता का आप क्या करेंगे?

इस प्रमाण से सिद्ध है कि शूर्पणखा ने विधवा होते हुए राम से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। इसपर राम ने उत्तर दिया—

कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम। त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता॥ २॥
अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान्प्रियदर्शनः। श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान्॥ ३॥
एनं भज विशालाक्षि भर्तारं भ्रातरं मम। असपत्ना वरारोहे मेरुमर्कप्रभा यथा॥ ५॥

—वा० रा० अरण्य० १८।२, ३, ५

अर्थ—हे पूजा के योग्य देवि! मैं विवाहित हूँ। यह मेरी पत्नी मुझे अत्यन्त प्रिय है। आप-जैसी स्त्रियों के लिए सौतपन बड़े भारी दुःख का कारण होता है॥२॥ यह मेरा भाई लक्ष्मण है, जो गुणवान्, सुन्दर, जवान, तेजस्वी और स्त्रीरहित है॥३॥ हे मृगनयनी! तू मेरे

इस भाई को पतिरूप में स्वीकार कर ले, जैसे सूर्य की प्रभा ने मेरु को पति स्वीकार कर लिया है, इससे कोई तेरी सौत नहीं बनेगी॥ ५॥

अब इस सारे प्रकरण पर विचार करें। इस सारी अवस्था से हम जो परिणाम निकालते हैं वह यह है कि एक विधवा ब्राह्मणी का राम से विवाह की प्रार्थना करना इस बात को सिद्ध करता है कि उस युग में विधवाओं को दूसरे विवाह का अधिकार था। यदि उस समय विधवाओं को दूसरे विवाह का अधिकार न होता तो रामचन्द्रजी तुरन्त कह देते कि देवि! तू विधवा है और विधवाओं का विवाह वेदशास्त्र के विरुद्ध होने से पाप है, अतः मैं तुम्हारे साथ विवाह नहीं कर सकता; परन्तु राम ने शूर्पणखा को यह उत्तर नहीं दिया, अपितु यह उत्तर दिया कि मेरे पास पत्नी विद्यमान है, अतः मैं तुम्हारे साथ विवाह नहीं कर सकता। मेरे भाई लक्ष्मण के पास इस समय स्त्री नहीं है, अतः तू इससे विवाह कर ले। इसके स्पष्ट अर्थ ये हैं कि यदि मेरे पास स्त्री न होती तो मैं तुम्हारे साथ विवाह कर लेता। यहाँ विवाह न करने में कारण सीता की विद्यमानता बताई गयी है। शूर्पणखा का ब्राह्मणी या विधवा होना विवाह न करने में कारण नहीं बताया गया है। राम के इस उत्तर से सिद्ध होता है कि उस युग में [रामायणकाल में] विधवा-विवाह की प्रथा विद्यमान थी।

सम्भव है कोई शङ्का करे कि राम को क्या पता था कि शूर्पणखा विधवा है? यह ठीक है, हम लोग तो यह कह सकते हैं कि सम्भव है रामचन्द्रजी को इस बात का पतना न हो, क्योंकि हम श्रीरामचन्द्रजी को मर्यादा-पुरुषोत्तम मानते हैं, परन्तु जो लोग श्रीरामचन्द्रजी को परब्रह्म परमात्मा मानते हैं, उन्हें इस बात को कहने का क्या अधिकार है कि वे कह सकें कि राम को शूर्पणखा के विधवा होने का पता नहीं था? क्या कभी परमेश्वर को भी किसी बात का पता नहीं होता? अतः उपर्युक्त वृत्तान्त से पता लगता है कि उस युग में विधवा-विवाह और नियोग की प्रथा विद्यमान थी।

पोपजी—क्योंकि शूर्पणखा विवाह का बहाना करके सीताजी को ही उड़ाना चाहती थी। दूसरा राक्षसधर्म सबके लिए आचरण योग्य नहीं हो सकता। रावण ने प्रभु रामचन्द्रजी की स्त्री महारानी सीता को चुराया था तो क्या आर्यसमाजी भाई दूसरे की स्त्रियों को चुराना आर्यसमाज के लिए धर्म ठहराते हैं? जब वे शूर्पणखा के भाई द्वारा दूसरे की स्त्री को चुराना धर्म नहीं मानते तो उसकी बहिन के विधवा-विवाह का सहारा लेकर विधवा-विवाह को धर्म ठहरा देना कहाँ तक न्याय की दृष्टि से देखा जा सकता है?

तोपजी—आपका यह कह देना सर्वथा झूठ और ग़लत है कि शूर्पणखा विवाह का बहाना लेकर सीताजी को उड़ाना चाहती थी, अपितु रामायण में तो यह लिखा है कि वह काम से मोहित हो रही थी और राम-लक्ष्मण पर अनुरक्त हो गयी थी और इसी प्रयोजन के लिए उसने सीता को मारने के लिए उसपर आक्रमण किया था कि यदि सीता नहीं रहेगी तो राम मुझसे विवाह कर लेंगे, अतः शूर्पणखा की इच्छा सीता को उड़ाने की बिल्कुल नहीं थी, अपितु वह कामातुर हो रही थी, इसलिए विवाह करना चाहती थी।

दूसरी बात रही आपकी यह कि राक्षसधर्म सबके लिए आचरण-योग्य नहीं हो सकता, सो श्रीमान्! आप शूर्पणखा को राक्षसी कैसे मानने लग पड़े जबकि उसका पिता अगस्त्य मुनि का पुत्र विश्रवा और माता भरद्वाज मुनि की पुत्री थी। जब शूर्पणखा की माँ भी ब्राह्मणी और बाप भी ब्राह्मण तो फिर शूर्पणखा राक्षसी कैसे मानी जा सकती है, जबकि आप जन्म से वर्णव्यवस्था मानते हैं? यदि आप कर्म से वर्णव्यवस्था को स्वीकार करके शूर्पणखा को राक्षसी मानने लग गये हैं तो ठीक है, शूर्पणखा राक्षसी थी, परन्तु राम तो राक्षस नहीं थे, उन्हें ही यह उत्तर देना चाहिए था—क्योंकि तू राक्षसी है और विधवा है और राक्षसी तथा

विधवा के साथ विवाह करना अवैध है, इसलिए मैं तुम्हारे साथ विवाह नहीं कर सकता; परन्तु राम ने ऐसा उत्तर नहीं दिया। इससे सिद्ध है कि श्रीराम जातपात तोड़कर विधवा-विवाह से सहमत थे।

आप आर्यसमाज की चिन्ता न करें। आर्यसमाज तो धर्माधर्म के निर्णय की कसौटी वेद को मानता है, क्योंकि रावण का सीताजी को चुराने का कर्म वेद के विरुद्ध था, इसलिए वह आचरण के योग्य नहीं; हाँ, शूर्पणखा का विधवा होते हुए विवाह की इच्छा करना वेदानुकूल होने से आचरण करने योग्य है, परन्तु आपकी विचित्र अवस्था दया के योग्य है कि आपके पास धर्म-अधर्म के निर्णय के लिए कोई कसौटी ही नहीं है। जब आपको मूर्त्तिपूजा के शास्त्रार्थ में यह सङ्कट आ पड़ता है कि शिवजी के लिङ्ग की पूजा दुराचार को बढ़ावा देनेवाली प्रथा है तो उस समय आपको रावण का राक्षसपन तुरन्त भूल जाता है और आपके दादा गुरु ज्वालाप्रसाद मिश्र की भाँति आपके सनातनधर्म के सारे ही पण्डित रामायण के इन श्लोकों को शिवजी के लिङ्ग की पूजा के समर्थन में पढ़ते सुनाई देते हैं—

यत्रयत्र च याति स्म रावणो राक्षसेश्वरः। जाम्बूनदमयं लिङ्गं तत्रतत्र स्म नीयते॥ ४२॥
बालुकावेदिमध्ये तु तल्लिङ्गं स्थाप्य रावणः। अर्चयामास गन्धैश्च पुष्पैश्चामृतगन्धिभिः॥ ४३॥

—वा० रा० उत्तर० ३१। ४२-४३

अर्थ—राक्षसों का राजा रावण जहाँ-जहाँ जाता था सोने का बना हुआ लिङ्ग वहाँ-वहाँ ही ले-जाता था॥४२॥ रावण उस लिङ्ग को रेत की वेदि में स्थापित करके अमृत के समान गन्धवाले सुगन्धित पदार्थों और फूलों से उसकी पूजा करता था॥४४॥

अब तनिक न्यायपूर्वक बतलाने की कृपा करें कि जब शूर्पणखा के भाई के द्वारा की हुई लिङ्ग की पूजा धर्म स्वीकार की जाती है तो उसकी बहिन के विधवा होते हुए विवाह की इच्छा करने को विधवा-विवाह में प्रमाण मानकर विधवा-विवाह को धर्म ठहराने में सनातनधर्म को क्यों संकोच है? हाँ, यदि सनातनधर्म जन्म से वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त को तिलाञ्जलि देकर गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार कर ले और मूर्त्तिपूजा तथा शिव के लिङ्ग की पूजा को रावण-जैसे राक्षसों का धर्म समझकर उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर ले और राम को ईश्वर का अवतार न मानकर उनके प्रत्येक कर्म पर आचरण करने से इन्कार कर दे, तो फिर हम विधवा-विवाह के प्रमाण में शूर्पणखा के दृष्टान्त को वापस लेने पर विचार कर सकते हैं।

पोपजी—बालि की स्त्री से सुग्रीव का नियोग करना वाल्मीकि रामायण के अनुसार सरासर गलत है। तनिक विवेक की आँखें खोलकर और अपनी अधूरी योग्यता को परे रखकर सच्चे हृदय से अर्थ करें और किसी योग्य पण्डित से अर्थ पूछें तो वास्तविकता प्रकट हो जाएगी। साधारण तिर्यग्योनि [पशु-पक्षी की योनि] की मनुष्ययोनि से तुलना करना मूर्खता है। रावण की स्त्री मन्दोदरी का विभीषण से नियोग करने की रामायण में चर्चा तक नहीं। मन्दोदरी के विभीषण के घर में रहने से ही नियोग सिद्ध करना उचित नहीं, क्योंकि प्रत्येक महाशय के घर में उसकी माता-बहिन आदि अनेक अवस्थाओं में रहती हैं, तो क्या घर में रहने से इनका भी नियोग सिद्ध करोगे? वाल्मीकि रामायण में विभीषण का मन्दोदरी से नियोग करना नहीं लिखा। यदि साहस हो तो श्लोक प्रस्तु करें।

तोपजी—आपके सिर में बार-बार खुजली पैदा हो रही है। यद्यपि हम उसे मिटाने का पूर्ण प्रबन्ध कर रहे हैं, परन्तु चाहे बार-बार खानेवाले को शर्म न आये मारनेवाले को तो शर्म आ ही जाती है। भला, आपसे कोई पूछे कि जब बालि की स्त्री तारा को सुग्रीव ने रानी बनाया, इसका वर्णन पहले आ चुका है और आपकी सन्तुष्टि की जा चुकी है तो फिर

इस बात को पुनः लिखने की क्या आवश्यकता थी? लीजिए, आपकी सन्तुष्टि के लिए हम पुनः लिख देते हैं। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि सुग्रीव तारा के साथ काम-क्रीड़ा में मस्त था—

स्वां च पत्नीमभिप्रेतां तारां चापि समीप्सिताम्। बिहरन्तमहोरात्रं कृतार्थं विगतज्वरम्॥४॥
क्रीडन्तमिव देवेशं गन्धर्वाप्सरसां गणैः॥५॥ —वा० रा० किष्कि० २९।४-५

अर्थ—अपनी प्रिय पत्नी रुमा को और हृदय से चाही हुई तारा को प्राप्त करके दिन-रात उनके साथ विहार करनेवाले और अपना काम बनने के पश्चात् दुःख से रहित होनेवाले और जैसे इन्द्र गन्धर्व और अप्सराओं से क्रीड़ा करता है, ऐसे क्रीड़ा करनेवाले सुग्रीव को [हनुमान् ने जाकर कहा]।

यहाँ सुग्रीव का तारा के साथ काम-क्रीड़ा करने का स्पष्ट वर्णन है। आगे चलकर फिर लिखा है—

तारया सहितः कामी सक्तः कपिवृषस्तदा॥ —वा० रा० किष्कि० ३१।३२

अर्थ—वह श्रेष्ठ वानर तारा के साथ काम-भोग में मस्त हो रहा था।

इससे आगे चलकर तारा स्वयं लक्ष्मण के समक्ष स्वीकार करती है—

तच्चापि जानामि तथाविषह्यं बलं नरश्रेष्ठ शरीरजस्य।
जनामि यस्मिंश्च जनेऽवबद्धं कामेन सुग्रीवमसक्तमद्य॥५४॥
न कामतन्त्रे तव बुद्धिरस्ति त्वं वै यथा मन्युवशं प्रपन्नः।
न देशकालौ हि यथार्थधर्मावेवेक्षते कामरतिर्मनुष्यः॥५५॥
न कामवृत्तं मम संनिकृष्टं कामाभियोगाच्च विमुक्तलज्जम्।
क्षमस्व तावत्परवीरहन्तस्त्वद् भ्रातरं वानरवंशनाथम्॥५६॥

—वा० रा० किष्कि० ३३।५४-५६

अर्थ—हे नरश्रेष्ठ लक्ष्मण! कामदेव का बल कितना असहनीय होता है, इस बात को भी मैं जानती हूँ और आज सुग्रीव जिस व्यक्ति के साथ काम में फँसकर बेसुध हो रहा है, उसे भी मैं जानती हूँ॥५४॥ तुम्हारी काम-शास्त्र में बुद्धि नहीं है, इसलिए तुम क्रोध में आ रहे हो। जो मनुष्य काम के भोग में मस्त होता है, वह देश-काल के धर्मों को नहीं देख सकता॥५५॥ मेरे समीप काम-भोग में फँसे हुए और काम-भोग के कारण निर्लज्ज हुए वानर-कुल के राजा उस अपने भाई सुग्रीव को हे वीर! तू अब क्षमा कर दे॥५६॥

इस प्रमाण से स्पष्ट है कि सुग्रीव तारा के साथ काम-भोग में मस्त रहता था और इस बात को राम तथा लक्ष्मण दोनों जानते थे। लक्ष्मण ने सुग्रीव को कई बार तारा का 'भर्ता' कहा है और सुग्रीव ने भी तारा के पिता को श्वसुर कहा है—ये सब प्रमाण हम पीछे दे चुके हैं। यदि राम सुग्रीव के इस कार्य से सहमत न होते तो वे सुग्रीव को इसका दण्ड दिये बिना कदापि न छोड़ते। चूँकि सुग्रीव ने बालि के मरने के पश्चात् उसकी पत्नी तारा को अपनी रानी बनाया था, अतः रामचन्द्रजी इसे पाप नहीं समझते थे। पौराणिकों ने इस बात को न समझकर तारा और सुग्रीव के इस काम को पाप ही वर्णित किया है, परन्तु इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि सुग्रीव ने तारा को रानी अवश्य बना लिया था। इस सम्बन्ध में गरुडपुराण में लिखा है—

रामान्मृते बालिसंज्ञे पत्नौ हि सुग्रीवसङ्गं सा चकाराथ तारा।
अतो नागात्स्वर्गलोकं च तारा क्व वा यायादन्तरिक्षं च पापा॥५२॥

—गरुडपु० उत्तर० ब्रह्म० २८।५२

अर्थ—राम के द्वारा बालि नामवाले पति के मरते ही तारा ने सुग्रीव के साथ समागम किया, इसलिए तारा स्वर्गलोक को नहीं गयी; वह पाप करनेवाली स्वर्गलोक को कैसे जा सकती थी?

इस प्रमाण से भी स्पष्ट सिद्ध है कि सुग्रीव ने तारा को रानी बना लिया था। और नियोग किसे कहते हैं? जब स्पष्ट सिद्ध हो गया कि तारा ने बालि के मरने के पश्चात् सुग्रीव को पति बना लिया था, आप आँखें बन्द करके अपनी अयोग्यता के कारण यदि न समझ सकें तो हमारा क्या अपराध है? यदि आप वाल्मीकि रामायण के भी अर्थ नहीं कर सकते तो आर्यसमाज के किसी योग्य पण्डित से कुछ दिन शिक्षा ग्रहण करें, तब आप पर सचाई प्रकट होगी, अन्यथा पौराणिक गड्ढे में पड़े हुए जीवन नष्ट करके बाद में पश्चात्ताप करेंगे।

राम के समक्ष सीता ने तारा को सुग्रीव की धर्मपत्नी कहा और राम ने तनिक भी बुरा नहीं माना। वाल्मीकि रामायण में वर्णन है कि जब राम लङ्का से अयोध्या को चले और मार्ग में किष्किन्धा नगरी आई तो सीता ने राम से कहा—

अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं रामं प्रणयसाध्वसा। सुग्रीवप्रियभार्याभिस्ताराप्रमुखतो नृप॥ २४॥
अन्येषां वानरेन्द्राणां स्त्रीभिः परिवृता ह्यहम्। गन्तुमिच्छे सहायोध्यां राजधानीं त्वया सह॥ २५॥

—वा० रा० युद्ध० १२३। २४-२५

अर्थ—सीता ने प्रेमभरे शब्दों में राम से यह बात कही कि हे राजन्! सुग्रीव की तारा आदि स्त्रियों और अन्य वानरों की स्त्रियों से घिरी हुई मैं आपके साथ राजधानी अयोध्या को जाना चाहती हूँ।

इसपर राम की आज्ञा से सुग्रीव ने सब स्त्रियों को तैयार होने की आज्ञा दी और अपनी पत्नी तारा को कहा—

प्रविश्यान्तःपुरं शीघ्रं तारामुद्वीक्ष्य सोऽब्रवीत्॥ ३०॥
प्रिये त्वं सह नारीणां वानराणां महात्मनाम्॥ ३१॥ —वा०रा०यु० १२३। ३०-३१

अर्थ—महल में प्रविष्ट होकर तारा को बुलाकर सुग्रीव ने यूँ कहा—हे प्रिये! तू अन्य वानर-स्त्रियों के साथ [चलने के लिए तैयार हो जा।]

इन प्रमाणों में स्पष्टरूप से तारा के लिए सुग्रीव की भार्या होना लिखा है और सुग्रीव ने तारा को 'प्रिये' कहकर बुलाया है, जोकि धर्मपत्नी के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है। सारांश यह कि इस सम्बन्ध में सैकड़ों प्रमाण दिये जा सकते हैं कि सुग्रीव ने तारा को रानी बना लिया था और सबको पता था और किसी ने भी इसे आपत्तिजनक नहीं समझा।

अब रह गया यह विषय कि रावण के मरने के पश्चात् उसकी स्त्री मन्दोदरी को विभीषण ने रानी बनाया। इस बात का वाल्मीकि रामायण ने स्पष्टरूप से वर्णन नहीं किया, परन्तु 'रामचरितमानस' में तुलसीदासजी ने इस घटना का वर्णन किया है।

रहति न प्रभुचित चूक किये की। करत सुरति सौ बार हिये की॥
जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिर सुकण्ठ सोइ कीन्हि कुचाली॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी॥
ते भरतहि भेंटत सनमाने। राजसभा रघुबीर बखाने॥

—रामचरितमानस, बाल० दोहा ३४ के आगे[1]

---

१. गीताप्रेस गोरखपुर से जो रामचरित मानस छपता है, उसमें बहुत काट-छाँट कर दी गयी है, अनेक चौपाइयाँ और प्रकरण निकाल दिये गये हैं। परिणामस्वरूप गीताप्रेस के संस्करण में ये चौपाइयाँ २८वें दोहे के पश्चात् हैं। —सम्पादक

अर्थ—यदि भक्तों से कोई भूल हो जाए तो प्रभु रामचन्द्रजी उसपर ध्यान नहीं देते, अपितु उसके हृदय को सौ बार टटोल लेते हैं कि इनका हृदय मेरी ओर है। जिस पाप के कारण श्रीरामचन्द्रजी ने शिकारियों की भाँति बालि को मारा—बालि ने क्या पाप किया था कि सुग्रीव की पत्नी रुमा को अपनी रानी बना लिया था—फिर सुग्रीव ने वही कुकर्म किया, अर्थात् बालि के मरने के पश्चात् उसकी पत्नी तारा को रानी बना लिया। वही करतूत विभीषण ने की, अर्थात् रावण के मरने के पश्चात् उसकी स्त्री मन्दोदरी को रानी बना लिया, परन्तु रामचन्द्रजी ने स्वप्न में भी इन दोनों को दण्ड देने का विचार नहीं किया। उन दोनों की आदर के साथ भरत से भेंट कराई और फिर भरे राजदरबार में रामचन्द्रजी ने उनकी अत्यन्त प्रशंसा की।

अब इन चौपाइयों पर तनिक विचार कीजिए। ये चौपाइयाँ गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्रीरामचन्द्रजी की भक्ति में मस्त होकर अपने विचार में उनकी प्रशंसा में लिखी हैं, परन्तु हमारे विचार में यह श्रीरामचन्द्रजी की प्रशंसा नहीं अपितु उनपर अन्याय का दोषारोपण है कि जिस पाप के कारण राम ने बालि को मारा था, वही पाप सुग्रीव और विभीषण ने किया, परन्तु रामचन्द्रजी ने उन्हें दण्ड नहीं दिया। मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में लिखा है कि चाहे राजा के माता-पिता, भाई, पुत्र, गुरु, आचार्य, मित्र कोई भी क्यों न हो, यदि वे अपराध करें तो राजा का यह धर्म है कि वह उन्हें तुरन्त दण्ड दे।

हम श्रीरामचन्द्रजी को मर्यादा-पुरुषोत्तम मानते हैं। हम इस बात को नहीं मानते कि वे इस प्रकार का अन्याय भी कर डालते थे। हमें क्षमा करें, हमारे विचार में गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस बात को समझा नहीं। यदि सुग्रीव और विभीषण वैसा ही अपराध करते जैसा बालि ने किया था, तो श्रीरामचन्द्रजी अवश्य ही उन्हें दण्ड देते। वास्तविक बात यह है कि जो पाप बालि ने किया था वह पाप सुग्रीव और विभीषण ने नहीं किया, अतः श्रीरामचन्द्रजी ने उन्हें दण्ड नहीं दिया। बालि ने यह पाप किया था कि उसने सुग्रीव के जीते हुए उसकी स्त्री को बलात् अपनी रानी बना लिया था, परन्तु चूँकि श्रीराम यह समझते थे कि पति के जीते हुए उसकी स्त्री को बलात् अपनी रानी बनाना पाप है, इसलिए श्रीरामचन्द्रजी ने बालि को दण्ड दिया; परन्तु सुग्रीव और विभीषण ने यह पाप नहीं किया था, क्योंकि सुग्रीव ने बालि के मरने के पश्चात् उसकी स्त्री तारा को उसकी सहमति से अपनी रानी बनाया और विभीषण ने रावण के मरने के पश्चात् उसकी स्त्री मन्दोदरी को उसकी सहमति से अपनी रानी बनाया। चूँकि श्रीरामचन्द्रजी यह समझते थे कि पति के मरने के पश्चात् उसकी स्त्री को उसकी सहमति से रानी बनाना कोई अपराध नहीं है, अतः श्रीरामचन्द्रजी ने इतना ही नहीं कि उन्हें दण्ड नहीं दिया अपितु उनका उत्साहवर्धन किया, ताकि लोगों में पति के मरने के पश्चात् उसकी स्त्री को उसकी सहमति से रानी बनाने में किसी प्रकार का संकोच न रहे।

इस सारे प्रकरण से यह सिद्ध है कि उस युग में विधवा-विवाह और नियोग का प्रचलन था और श्रीरामचन्द्रजी महाराज इसके प्रबल समर्थक थे।

आपका यह लिखना बिल्कुल ग़लत है कि "किसी महाशय के घर में रहती थी", क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् किसी महाशय को अपनी माँ-बहिन को घर में रखने पर पापी नहीं बतला सकता, परन्तु गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो विभीषण को बालि के सदृश पापी वर्णित किया है, जिससे स्पष्ट है कि सुग्रीव और विभीषण ने तारा और मन्दोदरी को माँ-बहिन के समान घर में नहीं रक्खा था, अपितु उन्होंने तारा और मन्दोदरी को रानी बनाकर अपने घर में रक्खा था, इसलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने सनातनधर्म के दृष्टिकोण से दोनों

को बालि की भाँति पापी बताया है।

अब एक बात रह गयी जिसे आपने बहुत धीमी-सी आवाज़ में, धीरे से लिख दिया है कि किसी सनातनधर्मी को पता न लग जाए। आप लिखते हैं कि "साधारण तिर्यग्योनि की मनुष्य-योनि से तुलना करना मूर्खता है", अर्थात् पशुओं के धर्म मनुष्यों पर लागू नहीं हैं। इससे आपका यह तात्पर्य है कि सुग्रीव और तारा बन्दर-बन्दरी पशु थे, इसलिए उनके कर्म मनुष्यों के लिए आचरण-योग्य नहीं हैं। हमारे विचार में हनुमान्, बालि, सुग्रीव, तारा आदि को पशु बतानेवाला स्वयं पशुओं का बड़ा भाई है। वस्तुतः ये लोग वन में रहते थे, इसलिए उन्हें वानर कहते थे, अन्यथा हनुमान्‌जी को चारों वेदों का पण्डित और व्याकरण का विद्वान् स्वयं रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण के समक्ष वर्णित किया है। आजकल भी सूरी, बैल गोत्र के खत्री और गीदड़, कुकड़ गोत्र के रोड़े पञ्जाब में विद्यमान् हैं। यदि कोई रोड़ा वकालत पास करके अपना गोत्र भी साथ में लिखे—"लाला रामचन्द्र कुकड़, बी० ए०, एल एल०, बी० वकील हाईकोर्ट और पचास पर्ष के पश्चात् मूर्ख लोग यह सोचें कि पचास वर्ष पूर्व मुर्गे भी वकालत किया करते थे, ठीक यही बात हनुमान्‌जी की जाति के साथ भी हुई है, अन्यथा वे बन्दर नहीं थे, अपितु मनुष्य थे। आजकल भी बन्दर गोत्र के जाट हिसार जनपद में पर्याप्त संख्या में बसे हुए हैं। बालि, सुग्रीव, तारा आदि पशु नहीं थे, अपितु मनुष्य थे, हम इस सम्बन्ध में तुलसीकृत रामायण से एक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

जब बालि राम के तीर से आहत होकर गिर पड़ा तब राम उसके पास गये। उस समय राम को देखकर बालि ने कहा—

मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। कारण[1] कवन नाथ मोहि मारा॥

अर्थ—हे राम! आपने मुझे शत्रु और सुग्रीव को प्यारा बना लिया। हे नाथ! मुझे यह बताइए कि आपने मुझे किस कारण मारा है?

इसपर राम ने बालि को यह उत्तर दिया—

अनुजबधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ ये कन्या सम चारी॥
इन्हें कुदृष्टि बिलोकै जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥

अर्थ—हे दुष्ट! छोटे भाई की पत्नी, बहिन और पुत्रवधू—ये सब कन्या के समान आचरण करने योग्य हैं—पुत्री के समान हैं। इन्हें जो कोई बुरी दृष्टि से देखता है, उसके मारने में कोई पाप नहीं है।

अब आप न्यायपूर्वक बतलाएँ कि उपर्युक्त विधान मनुष्यों पर लागू हो सकता है या पशुओं पर? तनिक बतलाएँ कि पशुओं में छोटे भाई की स्त्री और पुत्र की स्त्री कौन होती है? वह कौन-सा पण्डित है जो पशुओं में जाकर उनके संस्कार करवाता है और क्या पशुओं में माँ, बहिन और पुत्री का विवेक होता है? अतः सिद्ध है कि उपर्युक्त विधान मनुष्यों के लिए है, पशुओं के लिए नहीं। चूँकि बालि ने सुग्रीव के जीते-जी उसकी स्त्री रुमा को बलात् घर में डाल लिया था, इसलिए राम ने उपर्युक्त विधान के अन्तर्गत बालि को मृत्यु-दण्ड दिया। उपर्युक्त विधान के अन्तर्गत बालि को दण्ड देना इस बात को सिद्ध करता है कि बालि, सुग्रीव और हनुमान् आदि मनुष्य थे, पशु नहीं थे, इसलिए उनके वेदानुकूल कर्म पुनर्विवाह और नियोग सबके लिए अनुकरण करने योग्य हैं।

पोपजी—लाला साहब ने जो महाभारत का प्रमाण देकर लिखा है कि 'बलि राजा ने

१. प्राचीन पुस्तकों में यही पाठ है। गीताप्रेस में कारण के स्थान पर 'अवगुन' पाठ कर दिया है। इसी प्रकार और भी अनेक पाठभेद हुए हैं। —**सम्पादक**

अपनी पत्नी सुदेष्णा को अन्धन्तमा[1] ऋषि के पास भेजा और उस ऋषि ने नियोग करके बलि की स्त्री के पुत्र उत्पन्न कर दिये'—यह बात सर्वथा झूठ है। महाभारत आदिपर्व, अध्याय १०२ से १०४ तक में स्पष्ट लिखा है कि अन्धन्तमा ऋषि ने योगबल से वरदान द्वारा सन्तान प्रदान की थी। महाभारत में उनके नियोग की चर्चा तक नहीं है। इसी बात को आर्यसमाजी टीकाकार सातवलेकरजी ने भी ऐसे लिखा है—

तोपजी—महाभारत में तो कहीं भी योगबल और वरदान द्वारा सन्तान प्रदान करने की बात नहीं लिखी। यह आपके ही मस्तिष्क का आविष्कार है कि महाभारत के दर्शन भी न करके मात्र झूठे जोड़-तोड़ से ही सनातनधर्म को बचाना चाहते हैं, परन्तु हम भी बुरी बला हैं—विकट विपत्ति हैं, झूठे के घर तक पहुँचे बिना दम नहीं लेंगे। देखिए, महाभारत आदिपर्व अध्याय १०४ में यूँ लिखा हुआ है—

दीर्घतमा[1] ऋषि के पुत्रों ने माता की आज्ञा से उसे गङ्गा में बहा दिया। वह बहता हुआ राजा बलि के देश में किनारे पर जा लगा। राजा बलि स्नान करने के लिए गङ्गा पर आया तो उसने दीर्घतमा को जल से बाहर निकाल लिया और उसे अत्यन्त तेजस्वी देखकर उससे यूँ प्रार्थना की—

सन्तानार्थं महाभाग भार्यासु मम मानद। पुत्रान्धर्मार्थकुशलानुत्पादयितुमर्हसि ॥३९ ॥
एवमुक्तः स तेजस्वी तं तथेत्युक्तवानृषिः। तस्मै स राजा स्वां भार्यां सुदेष्णां प्राहिणोत्तदा ॥४० ॥
अन्धं वृद्धं च तं मत्वा न सा देवी जगाम ह। स्वां तु धात्रेयिकां तस्मै वृद्धाय प्राहिणोत्तदा ॥४१ ॥

—महा० आदि० १०४।३९-४१[2]

अर्थ—हे महाभाग! हे मेरी पूजा के योग्य! सन्तान के लिए आप मेरी स्त्रियों में धर्म-अर्थ में कुशल पुत्रों को उत्पन्न कर सकते हैं ॥३९॥ इस प्रकार से प्रार्थना किया हुआ वह तेजस्वी ऋषि इस राजा से कहने लगा कि ऐसा ही होगा। तब उस राजा ने उसके लिए अपनी स्त्री सुदेष्णा को भेजा ॥४०॥ इस ऋषि को अन्धा और वृद्ध समझकर वह देवी उसके पास नहीं गयी और अपनी एक बाँदी को उसके पास भेज दिया ॥४१॥

उस दासी में उस ऋषि ने कक्षीवान् आदि ग्यारह पुत्र उत्पन्न किये। इस ऋषि के पास इन ग्यारह पुत्रों को पढ़ता हुआ देखकर राजा ऋषि से बोला—ये मेरे पुत्र हैं? ऋषि ने उत्तर दिया—ये पुत्र मेरे हैं तेरे नहीं, क्योंकि तेरी पत्नी सुदेष्णा ने मुझे अन्धा और वृद्ध समझकर, मेरा अपमान करके दासी को मेरे पास भेज दिया। यह सुनकर राजा बलि ने ऋषि को प्रसन्न कर पुनः अपनी पत्नी को इसके पास भेजा—

ततः प्रसादयामास पुनस्तमृषिसत्तमम्। बलिः सुदेष्णां स्वां भार्यां तस्मै स प्राहिणोत्पुनः ॥४६ ॥
तां स दीर्घतमाऽङ्गेषु स्पृष्ट्वा देवीमथाब्रवीत्। भविष्यन्ति कुमारास्ते तेजसाऽऽदित्यवर्चसः ॥४७ ॥

—महा० आदि० १०४।४६-४७

अर्थ—इसके पश्चात् राजा ने उस ऋषिश्रेष्ठ को पुनः प्रसन्न किया और राजा बलि ने अपनी स्त्री सुदेष्णा को पुनः उसके पास भेजा ॥४६॥ उस देवी के अङ्गों का स्पर्श करके वह दीर्घतमा ऋषि बोला कि तेरे सूर्य के समान तेजवाले पुत्र उत्पन्न होंगे।

अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र और सुह्म—ये पाँच पुत्र उत्पन्न हुए।

---

१. पोपजी ने अन्धन्तमा ऋषि गलत लिखा है, वस्तुतः उसका नाम दीर्घतमा था। इस सारे अध्याय में अन्धन्तमा नाम नहीं है। —जगदीश्वरानन्द

२. १०४ वें सम्पूर्ण अध्याय को गीताप्रेस गोरखपुर ने निकाल दिया है, परन्तु जैसा हमने पूर्व भी संकेत दिया है, अन्य संस्करणों में यह अध्याय है। श्लोक-संख्या में थोड़ा-सा अन्तर है। —जगदीश्वरानन्द

अब इस कथा पर न्यायपूर्वक विचार करें और बताएँ कि यदि योग-शक्ति द्वारा वरदान से ही सन्तान पैदा हो सकती थी तो फिर सुदेष्णा को दीर्घतमा ऋषि को अन्धा और वृद्ध समझकर घृणा करने की क्या आवश्यकता थी ? ऋषि को अन्धा और वृद्ध समझकर सुदेष्णा का उसके पास जाने से घृणा करना इस बात को सिद्ध करता है कि भोग द्वारा ही सन्तान उत्पन्न की गयी थी, अन्यथा योग द्वारा वरदान के लिए अन्धा और वृद्ध होना कोई घृणा करने की बात नहीं है।

दूसरे, उपर्युक्त महाभारत के पाठ में स्पष्ट लिखा है कि दीर्घतमा ने सुदेष्णा के अङ्गों का स्पर्श करके सन्तान उत्पन्न की। अङ्गों का स्पर्श भोग में ही आवश्यक है, योग द्वारा वरदान में अङ्गों का स्पर्श आवश्यक नहीं है। इससे सिद्ध है कि दीर्घतमा ऋषि ने सुदेष्णा में वीर्यदान से सन्तान उत्पन्न की थी, योग द्वारा वरदान से नहीं। इसलिए आपका और आपके बनावटी सातवलेकर दोनों का ही वरदान से सन्तान की उत्पत्ति लिखना सर्वथा झूठ और ग़लत है।

पोपजी—महाशयजी! आपकी इस प्रकार की बेहूदा बातें हिन्दूजाति के लिए कुल्हाड़े का काम कर रही हैं और अन्यों के लिए परिहास का अवसर प्रदान कर रही हैं। आप पर तो वही उक्ति चरितार्थ होती है कि—"अधसीखी डायन अपने घरवालों को ही खाती है।" आपकी प्रत्येक प्रकार की अधूरी जानकारी हिन्दूजाति के लिए विनाशकारी भूमिका है। तनिक बुद्धि को काम में लाकर लिखा करें।

तोपजी—श्रीमन्! सनातनधर्म का विधवा-विवाह और नियोग को वेदशास्त्रों के विरुद्ध बताकर लोगों को इसपर आचरण करने से रोकना हिन्दूजाति के लिए हलाहल विष सिद्ध हो चुका है और हो रहा है। लाखों की संख्या में निर्धन विधवाएँ इस रुकावट के कारण ईसाई और मुसलमानों के घरों को बसाकर गो-घातक सन्तान उत्पन्न कर रही हैं और लाखों विधवाएँ व्यभिचार और गर्भपात के पाप की दोषी हो रही हैं। इससे दिन-प्रतिदिन मुसलमानों और ईसाइयों की संख्या बढ़ रही है और हिन्दुओं की घट रही है। लाखों विधवाएँ इस रुकावट के कारण ईसाई और मुसलमान बन जाती हैं तो स्त्रियों की कमी के कारण लाखों नौजवान ईसाई और मुसलमान बन जाते हैं और उधर जाकर उन्हीं विधवाओं से विवाह करवाकर उनकी संख्या में वृद्धि कर रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि जिस भारतवर्ष में एक भी ईसाई या मुसलमान नहीं था, वहाँ अब आपकी इस प्रकार की बेहूदा रुकावटों के कारण हमसे ही जुदा होकर आठ करोड़ मुसलमान और एक करोड़ के लगभग ईसाई हो गये हैं जोकि गोमाता और हिन्दुओं के रक्त के प्यासे होकर उनको संसार से मिटाने पर लगे हुए हैं और हिन्दूजाति इनके हाथों नित नये दुःख उठाती है। उदाहरण के रूप में नवीन घटना कश्मीर की ही ले-लीजिए। वह कौन-सा अत्याचार है जो मुसलमानों की ओर से निरीह कश्मीरी हिन्दुओं पर नहीं ढाया गया? उनके करोड़ों रुपये लूट लिये गये, घरों को जला दिया गया, सैकड़ों हिन्दुओं को मौत के घाट उतार दिया गया, सैकड़ों हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बना लिया गया और सैकड़ों स्त्रियों को अपमानित किया। कितनी ही नौजवान लड़कियों को बलात् मुसलमान बनाकर उनके विवाह मुसलमानों से करा दिये गये।[1] कोहाट, सहारनपुर, मुलतान, डेरा इस्माइल ख़ाँ आदि-आदि की घटनाओं को स्मरण

---

१. यह घटना सन् ३३ के आस-पास की है। सन् ९० में जो कुछ हुआ वह इससे भी भयङ्कर और रोंगटे खड़े करनेवाला है। सारे हिन्दुओं को वहाँ से निकाल दिया गया है। हमारी नपुंसक सरकार भी इसका बहुत बड़ा कारण है। लौहपुरुष सरदार पटेल-जैसा व्यक्ति सारी स्थिति को दो दिन में ठीक कर सकता है। —जगदीश्वरानन्द

करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। हिन्दूजाति की इस दुर्दशा में सबसे बड़ा हाथ सनातनधर्म के विधवा-विवाह, शुद्धि और अछूतोद्धार के विरोधी सिद्धान्तों का है। यदि सनातनधर्म आरम्भ से इनका विरोध न करता तो हिन्दूजाति को ये दिन न देखने पड़ते और हिन्दूजाति दूसरों के परिहास का विषय न बनती।

आज जो कुछ हिन्दूजाति का जीवन बचा हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है, उसमें भी आर्यसमाज के सिद्धान्तों का ही हाथ है, यदि ऋषि दयानन्द इस हिन्दूजाति पर दया करके वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार न करते तो आज तक भारतवर्ष में यज्ञोपवीत और चोटी का चिह्न भी मिलना कठिन हो जाता। हम जो कुछ लिख रहे हैं, वह हिन्दूजाति के लाभ के लिए लिख रहे हैं। हमारे लेख हिन्दूजाति के लिए कुल्हाड़े का नहीं, अपितु अमृत का काम दे रहे हैं। हम आपकी अपेक्षा हिन्दूधर्म के अधिक हितैषी हैं और हमारी जानकारी आपकी अपेक्षा सैकड़ों गुणा अधिक है, इसका प्रमाण आपकी और हमारी लिखी हुई पुस्तकें स्वयं दे रही हैं। यह सन्तोष की बात है कि हिन्दूजाति का कल्याण चाहनेवालों को एक-न-एक दिन महर्षि दयानन्द के बताये हुए वैदिक सिद्धान्तों पर आना ही पड़ेगा, इसलिए आर्यसमाज के सम्बन्ध में लिखते हुए तनिक होश से काम लिया करो और आर्यसमाज का निरर्थक विरोध करके कृतघ्न न बनो।

पोपजी—अर्जुन ने नागराज की विधवा लड़की से विवाह नहीं किया था। कृपा करके वे श्लोक प्रस्तुत करें जिनमें लिखा हो कि अर्जुन ने नागराज की लड़की से विवाह किया था, अपितु आप कोई प्रमाण प्रस्तुत करें। इस प्रकार बिना प्रमाण के महापुरुषों के चरित्र पर कलंक लगाना प्रथम कोटि की मूर्खता है।

तोपजी—निःसन्देह नागराज की विधवा पुत्री से अर्जुन का विवाह हुआ, क्योंकि पुत्रवधू पुत्री ही होती है। आप पुत्री और पुत्रवधू में अन्तर मानकर भी विधवा-विवाह के होने से इन्कार नहीं कर सकते, क्योंकि महाभारत में लिखा है—

अर्जुनस्य सुतः श्रीमानिरावान्नाम वीर्यवान्। सुतायां नागराजस्य जातः पार्थेन धीमता ॥७॥
ऐरावतेन सा दत्ता अनपत्या महात्मना। पत्यौ हते सुपर्णेन कृपणा दीनचेतना ॥८॥
भार्यार्थं तां च जग्राह पार्थः कामवशानुगाम्। एवमेष समुत्पन्नः परक्षेत्रेऽर्जुनात्मजः ॥९॥

—महा० भीष्म० ९०।७-९

अर्थ—अत्यन्त वीर इरावान् नामवाला लड़का श्रीमान् अर्जुन का पुत्र था, जिसे बुद्धिमान् अर्जुन ने नागराज की पुत्रवधू में उत्पन्न किया था ॥७॥ गरुड़ के हाथ से उसके पति के मारे जाने पर महात्मा नागराज ने उस बेचारी अनाथ और सन्तानहीन कन्या को अर्जुन को सौंप दिया ॥८॥ काम के वशीभूत हुई उसे अपनी धर्मपत्नी बनाने के लिए अर्जुन ने ग्रहण कर लिया। इस प्रकार वह अर्जुन का पुत्र दूसरे के क्षेत्र से उत्पन्न हुआ।

अब इस प्रमाण को ध्यानपूर्वक पढ़ें कि इसमें अर्जुन का विधवा के साथ विवाह होना लिखा है या नहीं। हम ग़लत प्रमाण देकर पूर्वजों को कलङ्कित करने को पाप समझते हैं। यह बेहूदा काम पुराणों का है कि जिन्होंने कोई देवता और कोई ऋषि कलङ्कित किये बिना नहीं छोड़ा। आशा है इस प्रमाण की विद्यमानता में आप विधवा-विवाह से इन्कार नहीं करेंगे।

पोपजी—परशुरामजी ने समस्त क्षत्रियकुलों का नाश नहीं किया था और न ही सम्पूर्ण क्षत्रियजाति से उनकी कोई शत्रुता थी, अपितु उन्होंने केवल 'हैहय' वंश के क्षत्रियों को ही इक्कीस बार नष्ट किया था, क्योंकि इस कुल से इनकी शत्रुता थी। जब परशुरामजी ने

सब क्षत्रियों को नष्ट ही नहीं किया तो फिर ब्राह्मणों के द्वारा क्षत्राणियों में नियोग से सन्तानोत्पत्ति सिद्ध करना तुच्छ और निराधार बातें हैं। किसी ग्रन्थ में आपके इस मनघड़न्त, कपोलकल्पित ब्राह्मणों के द्वारा क्षत्राणियों में नियोग से पुत्र उत्पन्न करने का वर्णन नहीं है। केवल बेतुकी हाँकने से आपका पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता।

तोपजी—उलटा चोर कोतवाल को डाँटे! बेतुकी आप हाँक रहे हैं या हम? परशुरामजी का इतिहास जितने स्थानों पर भी लिखा है, सर्वत्र यही लिखा है कि परशुरामजी ने सारी पृथिवी को इक्कीस बार क्षत्रियों से शून्य कर दिया। यदि परशुरामजी की केवल एक ही कुल से शत्रुता थी तो फिर वे कुल्हाड़ा लेकर रामचन्द्रजी को मारने के लिए क्यों आये थे? क्या श्री रामचन्द्रजी भी इस कुल के थे? इन गप्पबाजियों से आप वास्तविकता को छुपाने में सफल नहीं हो सकते। लीजिए, हम महाभारत से मूल पाठ उद्धृत कर देते हैं—

एवमुच्चावचैरस्त्रैर्भार्गवेण महात्मना। त्रिः सप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा ॥४॥
एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महर्षिणा। ततः सम्भूय सर्वाभिः क्षत्रियाभिः समन्ततः ॥५॥
उत्पादितान्यपत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः। पाणिग्राहस्य तनय इति वेदेषु निश्चितम् ॥६॥
धर्मं मनसि संस्थाप्य ब्राह्मणास्ताः समभ्ययुः। लोकेऽप्याचरितो दृष्टः क्षत्रियाणां पुनर्भवः ॥७॥
ततः पुनः समुदितं क्षत्रं सम्भवत्तदा ॥८॥ —महा० आदि० १०४।४-८

अर्थ—इस प्रकार अपने बड़े-बड़े तीक्ष्ण शस्त्रों से भृगुवंशी परशुराम ने पूर्व समय में पृथिवी को इक्कीस बार क्षत्रियों से शून्य कर डाला ॥४॥ जब इस प्रकार उस महर्षि परशुराम ने संसार को क्षत्रियों से शून्य कर दिया, तब सारी क्षत्राणियाँ इधर-उधर से इकट्ठी हुईं, उन्होंने परस्पर सम्मति करके वेद के विद्वान् ब्राह्मणों से पुत्र उत्पन्न किये। यह वेदसम्मत सिद्धान्त है कि नियोग से पैदा की हुई सन्तान विवाहित पति की ही होती है ॥५-६॥ इस बात को धर्म समझकर ही वे ब्राह्मण उन क्षत्राणियों के पास सन्तान उत्पन्न करने के लिए गये। लोक में भी क्षत्रियों के यहाँ 'पुनर्भव' सन्तान उत्पन्न करना देखा जाता है [प्रचलित है]। इस प्रकार ब्राह्मणों से फिर क्षत्रियवंश का उदय हुआ ॥७-८॥

इस पाठ में स्पष्ट लिखा हुआ है कि परशुरामजी ने इक्कीस बार सारी पृथिवी को क्षत्रियों से शून्य कर दिया और सारा संसार क्षत्रियों से शून्य होने पर ब्राह्मणों ने क्षत्राणियों से सन्तान उत्पन्न करके क्षत्रियवंश संसार में स्थापित किये। अब कहिए, यह महाभारत में है या नहीं? मनघड़न्त कहानियाँ लिखना हमारा काम नहीं, यह काम आपका है कि पुस्तकों में स्पष्टरूप से आये हुए लेखों से भी सर्वथा इन्कार कर देना। आशा है अब आपकी सन्तुष्टि हो गयी होगी।

पोपजी—महाशयजी के असत्य भाषण ने ब्राह्मणों और क्षत्रियों में शत्रुता के बीज बोने का काम किया है और मान्य जाति, जो हिन्दूजाति की रक्षक थी और है, में नियोग के विषय को बलात् ठूँसकर उसका अत्यन्त अपमान किया है और हिन्दूजाति में घृणा के बीज बोने का प्रयत्न किया है। शर्म.....

तोपजी—हमने महाभारत का प्रमाण देकर अपना सच्चा बयान दिया है। यदि यह बयान [प्रमाण] झूठा है तो यह असत्य भाषण व्यासजी का ही है, हमारा नहीं है; और यदि इस बयान से क्षत्रियों का अपमान होता है तो भी इस अपमान के करने के अपराधी आपके वेदव्यासजी महाराज ही हैं, हम नहीं हैं; और वे ही ब्राह्मणों और क्षत्रियों में शत्रुता कराने के पाप के भागी हैं और इसके बदले में 'शर्म-शर्म' की आवाज़ें भी उन्हीं पर कसी जा सकती हैं, जिन्होंने इस प्रकार का लेख महाभारत में लिखा है, परन्तु श्रीमन्! नियोग तो

वेदों के अनुकूल है। इस लेख को अपमान समझना और घृणा का कारण बताकर लेखक पर शर्म के नारे लगाना आपकी मूर्खता है। हाँ, पुराणों में इस प्रकार के कितने ही लेख विद्यमान हैं जिनमें सभ्य, शूरवीर और हिन्दूजाति के रक्षकों का अपमान करके आपस में घृणा बढ़ाकर हिन्दूजाति को नष्ट किया गया है। देखिए, भविष्यपुराण में जाटों की शूरवीर जाति का कैसा अपमान किया गया है—

महीराजस्तु बलवांस्तृतीयो देहलीपतिः। सहोद्दीनस्य नृपतेर्वशमाप्य मृतिं गतः ॥२५॥
चपहानेश्च स कुलं छाययित्वा दिवं ययौ। तस्य वंशे तु राजन्यास्तेषां पत्न्यः पिशाचकैः ॥२६॥
म्लेच्छैश्च भुक्तवत्यस्ता बभूवुर्वर्णसंकराः। न वै आर्या न वै म्लेच्छा जट्टा जात्या च मेहनाः ॥२७॥
मेहना म्लेच्छजातीया जट्टा आर्यमयाः स्मृताः। क्वचित्क्वचिच्च ये शेषाः क्षत्रियाश्चपहानिजाः ॥२८॥

—भविष्य० प्रति० ३, खण्ड ४, अ० २।२५-२८

अर्थ—वीर पृथ्वीराज दिल्ली का तीसरा राजा था। वह शहाबुद्दीन के वश में पड़कर मारा गया ॥२५॥ चौहानों का कुल उन्नति करके मृत्यु को प्राप्त हो गया। इनके वंश में जो राजा हुए उनकी स्त्रियों ने पिशाचों और मुसलमानों से भोग किया। उनसे वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न हुई। वे न आर्य बने और न म्लेच्छ बने। वे जाति से जाट और मेहन बन गये ॥२६-२७॥ इनमें से जो मेहन थे वे मुसलमान बन गये और जो जाट थे वे आर्य बन गये और कहीं-कहीं जो शेष बचे वे चौहान क्षत्रिय कहलाये ॥२८॥

अब कायस्थ और सुनारों के सम्बन्ध में देखिए। ब्रह्मवैवर्तपुराण में लिखा है—

कायस्थेनोदरस्थेन मातुर्मांसं न खादितम्। तत्र नास्ति कृपा तस्य दन्ताभावेन केवलम् ॥१३६॥
स्वर्णकारः स्वर्णवणिक् कायस्थश्च व्रजेश्वर। नरेषु मध्ये ते धूर्ताः कृपाहीना महीतले ॥१३७॥
हृदयं क्षुरधाराभं तेषां नास्ति च सादरम्। शतेषु सज्जनः कोऽपि कायस्थो नेतरौ च तौ ॥१३८॥
सुबुद्धिः शिवयुक्तश्च शास्त्रज्ञो धर्ममानसः। न विश्वसेत्तेषु तात स्वात्मकल्याणहेतवे ॥१३९॥

—ब्रह्मवैवर्त० कृष्णजन्म० ८५।१३६-१३९

अर्थ—कायस्थ ने पेट में रहते हुए माँ का मांस नहीं खाया, इसमें उसकी कृपा नहीं है, अपितु केवल इसलिए कि उसके दाँत नहीं थे ॥१३६॥ हे नन्द! सुनार, सराफ़ और कायस्थ—ये मनुष्यों में धूर्त गिने जाते हैं। ये संसार में कृपाहीन होते हैं ॥१३७॥ इनका हृदय छुरे की धार के समान तीक्ष्ण होता है, उसमें दया नहीं होती। सैकड़ों में से कोई एक कायस्थ तो सज्जन मिल जाता है, परन्तु शेष जो दो रह गये इनमें तो कोई सज्जन मिलता ही नहीं ॥१३८॥ जो व्यक्ति बुद्धिमान्, अपना कल्याण चाहनेवाला, शास्त्रज्ञ और धर्मात्मा हो उसे हे तात! आत्मकल्याण के लिए इनमें विश्वास नहीं करना चाहिए ॥१३९॥

सनातनधर्म प्रतिनिधि सभा पञ्जाब की विद्वत्-सभा ने छूतछात के विषय में जो व्यवस्था स्वामी प्रकाशानन्दजी के द्वारा प्रचारित कराई है, इसमें व्यास आदि स्मृतियों का प्रमाण देकर जिन्हें अछूत और अन्त्यज माना गया है, वे ये हैं—बढ़ई, नाई, अहीर, आशे, कुम्हार, बनिया, भील, कायस्थ, माली, कुटुम्बी, बरट, मेद, चाण्डाल, दास, श्वपच, कौलिक और गो-भक्षक, धोबी, चमार, नट, बुरुड़, मल्लाह—ये सब अछूत अर्थात् अन्त्यज कहलाते हैं। इनके साथ बातचीत करने से स्नान करना चाहिए और उनका दर्शन करने पर सूर्य का दर्शन करे।

यह है सनातनधर्म के पुराणों और सनातनधर्म की प्रतिनिधि सभा की व्यवस्था। ये हैं वे विचार जिन्होंने हिन्दूजाति को तेरह-तीन करके नष्ट कर दिया है और शत्रुता उत्पन्न करके हिन्दूजाति को रसातल को पहुँचा दिया है। परमात्मा इन पुराणों की शिक्षा और सनातनधर्म की व्यवस्थाओं से हिन्दूजाति को बचाए जिससे वह घृणा, शत्रुता और छूतछात को छोड़कर

संसार में उन्नति कर सके।

पोपजी—गर्भपात के भय से वेदों के विरुद्ध अधर्माचरण करने के लिए सबको प्रेरित करना सर्वथा अनुचित है। इस समय सहस्र में से लगभग ९९९ व्यक्ति झूठ बोलनेवाले हैं और झूठ के बिना निर्वाह भी नहीं होता तो क्या आपद्धर्म समझकर झूठ बोलने की आज्ञा दे डालोगे? सहस्रों कुमारी कन्याएँ व्यभिचार करके गर्भपात कराती हैं तो महाशयजी! उन्हें रोकने के लिए कौन-से आपद्धर्म को प्रचलित करोगे? विधवाओं के गर्भपात को रोकने के लिए तो आपने वेदों और शास्त्रों के विरुद्ध दूसरा पति करने की आज्ञा आपद्धर्म कहकर दे डाली, परन्तु कुमारी कन्याओं को इस काम से रोकने के लिए आजतक आपने क्या यत्न किया है?

तोपजी—न जाने आपके मस्तिष्क में क्या भुस भरा हुआ है कि आपको जो सूझती है, उलटी ही सूझती है। हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि "स्त्री को दूसरे पति का अधिकार है", यह वेद का आधारभूत सिद्धान्त है। इसकी व्याख्या वेदानुकूल स्मृतियों ने की है कि आपत्काल में स्त्री पुनर्विवाह या नियोग करके सन्तान उत्पन्न कर सकती है। चूँकि नियोग वेद और वेदानुकूल स्मृतियों के अनुसार है, अतः यह धर्म है। हम पुनर्विवाह या नियोग के लिए सबको प्रेरित नहीं करते, क्योंकि हमारा यह सिद्धान्त है कि आदर्श धर्म यही है कि पति के मरने के पश्चात् स्त्री ब्रह्मचारिणी रहकर ईश्वरभक्ति में अपना जीवन-यापन करे, परन्तु यदि वह ब्रह्मचारिणी रहकर आदर्श धर्म का पालन न कर सके तो फिर उसके लिए उचित है कि वह व्यभिचार, गर्भपात और बाजारी पेशा आदि कुकर्म करके अपने जीवन को नष्ट न करे, अपितु आपद्धर्म में वह पुनर्विवाह या नियोग करके अपना जीवन-यापन करे।

अब रह गया आपका झूठ बोलने का उदाहरण, सो श्रीमन्! आदर्श धर्म तो सत्य बोलना ही है, परन्तु शास्त्रों ने राजाओं के लिए युद्ध में छल और धोखा करके तथा झूठ बोलकर भी पापी राजा पर विजय प्राप्त करना धर्म बतलाया है। इसलिए श्रीरामचन्द्रजी वृक्षों के पीछे छिपकर बालि को धोखे से मारने पर भी पाप के भागी नहीं बने। श्रीकृष्ण और अर्जुन आदि ने झूठ बोला और युधिष्ठिर से झूठ बुलवाकर द्रोणाचार्य का वध किया। धोखे से ही भीष्म को मारा। ठगी से श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को मरवाया, परन्तु वे पाप के भागी नहीं बने। आपत्काल के धर्म को नियत करना हमारा काम नहीं, यह भी स्मृतियों का काम है। वे स्मृतियाँ जिस विषय में आपद्धर्म का वर्णन करती हैं उस विषय में आपद्धर्म का पालन किया जा सकता है; प्रत्येक विषय में आपद्धर्म का पालन नहीं किया जा सकता।

अब रह गयी कुमारी कन्याओं के गर्भपात की बात। यह वहीं हो सकता है, जहाँ लड़कियों को कृष्णलीला की चीरहरण आदि लीलाएँ दिखाई जाती हों। जहाँ माता-पिता कन्याओं की उत्तम शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं, वहाँ पर ऐसी घटनाएँ सम्भव नहीं हैं; और लड़कियों में इस प्रकार की घटनाएँ इसलिए भी सम्भवन नहीं कि वे समझती हैं कि कुछ दिनों में विवाह हुआ जाता है। विधवाओं में ये घटनाएँ इसलिए सम्भव हैं कि इन्हें विवाह की आशा ही नहीं होती और पुरुष के साथ स्पर्श, संसर्ग आदि के कारण विधवाओं में कामाग्नि जली हुई होती है, जोकि कुमारियों में नहीं होती। इतना होने पर भी यदि कुमारी कन्याओं की चेष्टाओं से इस बात का पता लगे कि उनका चालचलन बिगड़ने का भय है तो इनके लिए भी विवाह का नुस्खा ही प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् इनका विवाह तुरन्त कर देना चाहिए।

परन्तु आप हमसे नुस्खा क्यों पूछते हैं? आपके यहाँ तो कुमारियों के गर्भ हो जाने

पर सैकड़ों बहाने विद्यमान हैं—दृष्टि से गर्भ का होना, वरदान से गर्भवती हो जाना, चरु खाने से गर्भ ठहर जाना, योग-शक्ति से किसी ऋषि का गर्भ कर देना आदि-आदि सैकड़ों बहाने बनाये जा सकते हैं और फिर मज़ा यह कि आपके यहाँ समागम करके बच्चा पैदा करके फिर कन्या बनने के नुस्खे और वरदान विद्यमान हैं। इसी साहस के बल पर तो सनातनधर्म के पौराणिक ऋषि नौकाओं में ही कुमारी कन्याओं को पकड़कर गर्भ कर डालते थे तथा सूर्य देवता मन्त्र का बहाना बनाकर घरों में ही कुमारी कन्याओं को गर्भवती कर देते थे, जिनसे व्यास और कर्ण जैसे धर्मात्मा बालक उत्पन्न होते थे। कहिए, ये नुस्खे पर्याप्त होंगे या और बताएँ?

पोपजी—लाला साहब! आपका नियोग वेद-शास्त्रों से सिद्ध नहीं हो सका, अपितु आर्यसमाज के चोटी के विद्वानों ने इस पशुधर्म की निन्दा की है और इसे व्यभिचार ही समझकर आज तक आर्यसमाज ने इसे प्रचलित नहीं किया है, अपितु इसकी तीव्र निन्दा की है, फिर इसे धर्म कैसे माना जा सकता है? क्या आप बता सकते हैं कि आर्यसमाज में नियोग से आज तक कितने बच्चे उत्पन्न हुए और उनके माता-पिता के क्या नाम हैं?

तोपजी—हम इस बात को सिद्ध कर चुके हैं कि पुनर्विवाह और नियोग वेदों और शास्त्रों के अनुकूल हैं और यह कि ये आपद्धर्म हैं। विधान निर्माण करनेवाले का यह कर्त्तव्य है कि वह विधान के प्रत्येक बिन्दु पर विचार करे, चाहे उसके प्रयोग की आवश्यकता पड़े या न पड़े। उदाहरण के रूप में भारतीय संविधान में इस प्रकार की बहुत-सी धाराएँ हैं कि जिनके प्रयोग की आज तक आवश्यकता नहीं पड़ी, परन्तु विधान-निर्माताओं ने उसके प्रत्येक बिन्दु पर चिन्तन-मनन करके वे धाराएँ लिख दी हैं।

मुसलमानों के यहाँ तीन वस्तुएँ लहू, सूअर और मुर्दा हराम हैं, पुरन्तु कुरआन शरीफ में लिखा है कि यदि किसी आदमी की जान भूख के मारे निकली जाती हो तो वह अपने जीवन को बचाने के लिए इन वस्तुओं में से भी आवश्यकता के अनुसार प्रयोग कर सकता है[१], परन्तु आज तक शायद ही कोई ऐसा मुसलमान होगा, जिसने अपनी जान बचाने के लिए इन तीनों वस्तुओं में से किसी एक का भी प्रयोग किया हो, परन्तु विधान बनानेवालों ने अपने विधान को पूर्ण बनाने के लिए इस विधान के प्रत्येक बिन्दु पर तर्क-वितर्क करते हुए इसकी आज्ञा दे दी है, कोई प्रयोग करे या न करे उसकी इच्छा है। इसी प्रकार नियोग भी आपद्धर्म है, क्योंकि गृहस्थ में व्यभिचार मृत्यु का पर्यायवाची है। इससे बचाने के लिए शास्त्रकारों ने विधान के प्रत्येक बिन्दु पर विचार करके पुनर्विवाह और नियोग की आज्ञा दी है, इसे व्यभिचार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वेदानुकूल, सम्बन्धियों की सहमति और पञ्चायत के नियमों के अनुसार पुनर्विवाह और नियोग की रस्म पूरी की जाती है।

श्री वेदव्यास, मुनि वसिष्ठ और ऋषि दीर्घतमा आदि द्वारा प्रयुक्त नियोग को पशुधर्म बतलाकर, व्यास आदि को पशु बताकर उनका अपमान करना पौराणिकों का ही काम है। हम ऐसी वेदानुकूल प्रथा की इस प्रकार निन्दा करना पाप समझते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने-आपको आर्यसमाजी कहता हुआ नियोग की निन्दा करता है तो वह भी आपकी ही

---

१. उसने तुम पर केवल मुर्दार को, खून को, सूअर के मांस को और जिसपर अल्लाह के सिवा किसी और का नाम लिया गया हो, हराम ठहराया है। इसपर भी जो मजबूर हो जाए, न तो उसे कोई इच्छा हो, न वह (ज़रूरत की) हद से आगे बढ़नेवाला हो तो उसपर कोई गुनाह नहीं। नि:सन्देह अल्लाह अत्यन्त क्षमाशील और दया करनेवाला है।

—अल-बकरा, आयत १७३, कुरआन मजीद, मकतबा अल-हसनात, रामपुर

भाँति पाप का भागी है। आर्यसमाज नियोग को व्यभिचार को बन्द करने का अमोघ नुस्खा मानता है, परन्तु चूँकि नियोग के नियमों का पालन कराने के लिए ऐसी व्यवस्थापक शक्ति की आवश्यकता है कि जिसके द्वारा नियमों का उल्लंघन करनेवालों को दण्ड दिया जा सके, क्योंकि इस समय आर्यसमाज के हाथ में इस प्रकार की शक्ति नहीं है, इसलिए आर्यसमाज में नियोग की प्रथा अभी आरम्भ नहीं की गयी। जब आर्यसमाज के हाथ में शक्ति आ जाएगी तो अवश्य नियोग की प्रथा को आरम्भ किया जाएगा। इस समय विधवा-विवाह की प्रथा आर्यसमाज में प्रायः प्रचलित है। आर्यसमाज के विद्वानों ने भी इसी बात को दृष्टि में रखते हुए सम्प्रति नियोग की प्रथा को स्थगित करके विधवा-विवाह की आज्ञा दे दी है, परन्तु आपके लिए यह कोई उछलने-कूदने की बात नहीं है, क्योंकि आपके दृष्टिकोण से विधवा-विवाह और नियोग एक ही बात है और वैसे भी विधवा-विवाह और नियोग इन दोनों में केवल कुछ शर्तों का ही अन्तर है, परन्तु विधवा स्त्री को दूसरे पति का अधिकार दोनों में विद्यमान है, अतः विधवा-विवाह और नियोग वेदानुकूल होने से धर्म है।

जब आर्यों के हाथ में राज्यशक्ति थी उस समय आर्य लोगों में नियोग की प्रथा विद्यमान थी; परिणामस्वरूप धृतराष्ट्र, पाण्डु, विदुर, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, अङ्ग, बङ्ग, कक्षीवान्, हनुमान् आदि—ये सब नियोग की ही सन्तान थे और इनके माता-पिता के नाम व्यास, अम्बिका, अम्बालिका, दासी, पाण्डु, कुन्ती, माद्री, उष्णिक्, सुदेष्णा, दीर्घतमा आदि-आदि थे और भी बहुत-से बच्चों और उनके माता-पिता के नाम गिनवाये जा सकते हैं, परन्तु सूची के लम्बी हो जाने के भय से इतने ही पर्याप्त हैं। हम आशा करते हैं कि अब आपको इस प्रकार की शङ्का करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

पोपजी—यदि स्वामीजी के लिखे अनुसार पाँच पुरुषों से भोग करने पर भी स्त्री दस पुत्र उत्पन्न न कर सके, ऐसी अवस्था में आपकी वेद की आज्ञा को पूर्ण करने के लिए वह स्त्री क्या करे? तनिक इसकी भी विस्तृत व्याख्या करें और मुफ्ती [व्यवस्था देनेवाले] के रूप में इसकी भी अन्तिम व्यवस्था दें।

तोपजी—इसमें हमें व्यवस्था देने की क्या आवश्यकता है जबकि वेद भगवान् ने स्वयं व्यवस्था दे रक्खी है कि एक स्त्री अधिक-से-अधिक दस सन्तान उत्पन्न कर सकती है और अधिक-से-अधिक दस पुरुषों को पति बनाकर उनके साथ नियोग कर सकती है। यदि पाँच पुरुषों से नियोग करने पर दस सन्तानें उत्पन्न न हों और वह दस सन्तान उत्पन्न करने की इच्छुक हो तो उसे ग्यारह तक पुरुषों से नियोग करने की आज्ञा वेद देते हैं; परन्तु वेद एक ही समय में पाँच, सात, दस और इक्कीस पतियों की आज्ञा नहीं देते, जैसाकि पौराणिक देवियों द्रौपदी, जटिला, वार्क्षी और दिव्यादेवी ने किया और न ही दस से अधिक सन्तान पैदा करने की आज्ञा देते हैं जैसाकि धृतराष्ट्र और सगर की स्त्रियों ने क्रमशः एक सौ एक और साठ सहस्र लड़के उत्पन्न कर लिये।

क्योंजी! एक प्रश्न का उत्तर हमें भी बताते जाएँ कि जब द्रौपदी, जटिला और वार्क्षी के सन्तान होती होगी तो यह कैसे पता लगता होगा कि यह कौन-से पति की सन्तान है, क्योंकि वे पाँचों, सातों और दसों पति मास में कई-कई बार नम्बर बाँधकर उसके पास जाते होंगे? कृपा करके मुफ्ती के रूप में अपनी व्यवस्था प्रदान करें कि ऐसी अवस्था में बच्चों के पिता का निर्णय कैसे करते होंगे? कपोलकल्पना से काम लिया जाता था अथवा वह लड़का ही बोलकर निर्णय कर देता था कि मैं अमुक का हूँ, जैसाकि तारा के गर्भ पर जब बृहस्पति और चन्द्रमा में झगड़ा हो गया तब ब्रह्मा के पूछने पर तारा द्वारा उत्पन्न बुध ने ही निर्णय किया कि मैं चन्द्रमा का हूँ। तनिक सोच-विचारकर इसका ठीक उत्तर

देने की कृपा करें।

पोपजी—दस बच्चे पैदा करने के लिए लगभग बीस वर्ष आपकी नियोगी स्त्रियों को दूसरे भोगी पुरुषों से मैथुन करना पड़ेगा। इस स्थिति में बीस वर्ष तक स्त्री और पुरुष को खुला व्यभिचार करने से इनका स्वभाव दुराचारी हो जाएगा।

तोपजी—नियोग की रस्म सब सम्बन्धियों की सहमति से पञ्चायत के विधि-विधान के अनुसार सम्पूर्ण की जाती है। पञ्चायत आप-जैसे व्यभिचारी, निर्बल और विषयी लोगों को नियोग की आज्ञा नहीं दे सकती अपितु पञ्चायत व्यास-जैसे सदाचारी और स्वस्थ लोगों को ही नियोग की आज्ञा दे सकती है, जो एक ऋतुकाल में केवल एक बार सन्तान पैदा करने के लिए समागम करें। ऐसी स्थिति में दस सन्तान पैदा करने के लिए दस वर्ष से अधिक नहीं लग सकते, जैसाकि व्यासजी ने धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर को केवल तीन वर्ष में उत्पन्न किया तथा ऋषि दीर्घतमा ने कक्षीवान् आदि ग्यारह पुत्रों को केवल ग्यारह वर्ष में उत्पन्न कर दिया। धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमारों ने केवल एक-एक वर्ष में ही युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव को उत्पन्न किया, अतः दस सन्तान उत्पन्न करने के लिए बीस वर्ष तो किसी भी अवस्था में नहीं लग सकते।

यदि पञ्चायत और शास्त्र के विधि-विधान को तोड़कर कोई भी नियोग करनेवाली स्त्री या पुरुष समागम करेगा तो उसे व्यभिचारी समझकर पञ्चायत तुरन्त दण्ड देगी, अतः नियोग करनेवाले स्त्री-पुरुषों को व्यभिचार करने की आदत [स्वभाव] कभी नहीं पड़ सकती जैसाकि व्यासजी, दीर्घतमा, कुन्ती, अम्बिका, अम्बालिका आदि को व्यभिचार की आदत नहीं पड़ी।

इतने प्रतिबन्धों के होने पर भी नियोग को खुला व्यभिचार कहना दुराचारी और व्यभिचारी लोगों का ही काम हो सकता है। आपके यहाँ तो स्त्री और पुरुषों को खुलेरूप में व्यभिचार करने की आज्ञा आपके ग्रन्थों में विद्यमान है। तनिक अवलोकन कीजिए—

ऋतावृतौ राजपुत्रि स्त्रिया भर्ता पतिव्रते। नाऽतिवर्तव्य इत्येवं धर्मं धर्मविदो विदुः ॥२५॥
शेषेष्वन्येषु कालेषु स्वातन्त्र्यं स्त्री किलार्हति। धर्ममेवं जनाः सन्तः पुराणं परिचक्षते ॥२६॥[1]

—महाभारत आदि० १२२।२५-२६

अर्थ—राजा पाण्डु अपनी पत्नी कुन्ती से कहते हैं—राजपुत्रि! हे पतिव्रते! प्रत्येक ऋतुकाल में पत्नी को अपने पति का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए, अर्थात् उसे छोड़कर और पुरुष से समागम नहीं करना चाहिए, धर्म के जाननेवाले ऐसा ही कहते हैं ॥२५॥ शेष अन्य सब कालों में स्त्री निश्चितरूप से स्वतन्त्र है, सन्त लोग इसे पुराणों का धर्म कहते हैं ॥२६॥

श्रीमन्! इस प्रकार की बातें संसार में स्त्री और पुरुषों में व्यभिचार की आदतों को स्थिर कर सकती हैं। नियोग-जैसी वेदशास्त्र के अनुकूल पञ्चायती विधि-विधान के अनुसार आचरण में आनेवाली प्रथा स्त्री-पुरुष में व्यभिचार की आदत पैदा नहीं कर सकती, अपितु यह तो व्यभिचार को रोकने की महौषध है।

पोपजी—एक बार गर्भ-स्थापन के लिए भी स्त्री से कई बार समागम की आवश्यकता

---

१. आर्यसमाज के खण्डन और समीक्षाओं से पौराणिक जगत् में खलबली मच गयी। परिणामस्वरूप ये श्लोक गीताप्रेस संस्करण में से निकाल दिये गये हैं, परन्तु अन्यत्र तो हैं। भण्डारकर शोध-संस्थान पूना से प्रकाशित महाभारत में ये श्लोक ११३वें अध्याय में ज्यूँ-के-त्यूँ विद्यमान हैं। महाभारत प्रकाशक मण्डल, चाँदनी चौक दिल्ली से प्रकाशित ग्रन्थ में ये १२२वें अध्याय में ही हैं। श्लोक-संख्या २५-२६ के स्थान पर २६-२७ है।
—जगदीश्वरानन्द

होती है, क्योंकि एक-दो बार समागम से गर्भ स्थापित कर देनेवाले व्यक्ति बहुत कम होते हैं। इस कमी को पूर्ण करने के लिए यही उत्तम हो सकता है कि आर्यसमाज ऐसे कुछ नौजवानों को नियत कर रक्खे जिनके भोजन का सुप्रबन्ध आर्यसमाज की ओर से किया जाया करे, जिससे वे सरलतापूर्वक सन्तान उत्पन्न करने में लाभदायक सिद्ध हो सकें और इच्छुक समाजी स्त्रियों की इच्छा को समय-समय पर पूरा कर सकें।

तोपजी—नियोग की प्रथा तब प्रयोग में लाई जा सकती है, जब वर्णाश्रमों की व्यवस्था वेदानुसार गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार संसार में प्रचलित हो जाए। तब लोग ब्रह्मचर्य का पूर्णरूप से पालन करके गृहस्थाश्रम में ऋतुगामी होंगे तो उनके विषय में यह शङ्का उत्पन्न ही नहीं हो सकेगी कि वे एक बार समागम में गर्भ स्थापित न कर सकेंगे, अतः आर्यसमाज को तो साँडों को नियत करने की आवश्यकता ही न पड़ेगी; और चूँकि इन साँडों को नियत करने में वेद और शास्त्र का भी कोई विधि-विधान नहीं है, अतः इस प्रकार का कर्म व्यभिचार में सम्मिलित है। हाँ, सनातनधर्म में इस प्रकार का प्रबन्ध सदा से चला आया है कि वे इस प्रकार के साँड पालते थे कि जिनका नाम देवता और ऋषि-मुनि रख देते थे और इनके भोजन-छादन का उत्तम प्रबन्ध सनातनधर्म की ओर से किया जाता रहा है और समय-समय पर ये सनातनधर्म की देवियों के काम भी आते रहे हैं तथा उनकी और अपनी कामाग्नि को शान्त करते रहे हैं और सनातनधर्म में इसे आपत्ति के योग्य भी नहीं समझा जाता। महाभारत में इस सनातनधर्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने। कामाचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुलोचने॥ ४॥
तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्सुभगे पतीन्। नाधर्मोऽभूद्वरारोहे स हि धर्मः पुराभवत्॥ ५॥
तं चैव धर्मं पौराणं तिर्यग्योनिगताः प्रजाः। अद्याप्यनुविधीयन्ते कामद्वेषविवर्जिताः॥ ६॥
प्रमाणदृष्टो धर्मोऽयं पूज्यते च महर्षिभिः। उत्तरेषु च रम्भोरु कुरुष्वद्यापि वर्तते॥ ७॥
स्त्रीणामनुग्रहकरः स हि धर्मः सनातनः॥ ८॥

—महा० आदि० १२२।४-८ [गीता प्रेस में नहीं]

अर्थ—हे सुन्दरमुखी! पूर्वयुग में स्त्रियाँ निश्चितरूप से बिना पर्दे के थीं और हे सुन्दर नेत्रोंवाली! वे स्त्रियाँ स्वतन्त्र थीं और अपनी इच्छानुसार जहाँ-तहाँ भ्रमण करती थीं।।४॥ हे प्रिये! कुमारावस्था से ही इनके इस प्रकार स्वच्छन्द भ्रमण और पतियों को ग्रहण करने से इन्हें कोई पाप भी नहीं होता था, क्योंकि यही पुराना धर्म था॥ ५॥ इस पुराने धर्म को, पशुओं की योनियों में गयी हुई काम-क्रोध से रहित हुई प्रजा आज भी आचरण में लाती है।।६॥ इस प्रमाण के अनुसार इस धर्म की महर्षि लोग भी पूजा करते हैं और हे सुन्दरी! उत्तर दिशा के कुरु देशों में आज भी इस धर्म की पूजा की जाती है॥ ७॥ यह धर्म स्त्रियों पर दया करनेवाला है और यही सनातनधर्म है।।८॥

आपने सनातनधर्म की परिभाषा तो सुन ली और तनिक यह भी ध्यानपूर्वक पढ़ें कि इसपर आचरण कैसे होता था—

श्वेतकेतोः किल पुरा समक्षं मातरं पितुः। जग्राह ब्राह्मणः पाणौ गच्छाव इति चाब्रवीत्॥ १२॥
ऋषिपुत्रस्ततः कोपं चकारामर्षितस्तदा। मातरं तां तथा दृष्ट्वा नीयमानां बलादिव॥ १३॥
क्रुद्धं तं तु पिता दृष्ट्वा श्वेतकेतुमुवाच ह। मा तात कोपं कार्षीस्त्वमेष धर्मः सनातनः॥ १४॥

—[गीताप्रेस संस्करण में से निकाले गये] महा० आदि० ११२।१२-१४

अर्थ—यह सत्य है कि पहले समय में श्वेतकेतु की माता को उसके पिता के समक्ष किसी ब्राह्मण ने हाथ से पकड़कर कहा कि आओ चलें।।११॥ तब ऋषिपुत्र श्वेतकेतु इसे

सह न सका और अपनी माता को बलात् ले-जाए जाते देखकर वह क्रुद्ध हो गया॥१२॥ उसे आवेश में देखकर उसका पिता श्वेतकेतु से बोला—हे पुत्र! तू क्रोध न कर। यह तो सनातनधर्म है॥१३॥ संसार में सब वर्णों की स्त्रियाँ बेपर्दा हैं—खुली हैं, स्वतन्त्र हैं। हे प्रिय! जैसे गौएँ खुली और स्वतन्त्र हैं, उसी प्रकार अपने-अपने वर्ण में सारी प्रजाएँ भी स्वतन्त्र हैं।

यह है सनातनधर्म का साँड पालने का प्रकार, जिसे महाभारत ने स्पष्ट कर दिया है कि जैसे गौएँ और साँड स्वतन्त्र हैं, इसी प्रकार सारी प्रजा भी इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र है, अतः सनातनधर्म में इस साँड-विधि पर सदा आचरण होता आया है, जिसके कुछ उदाहरण सेवा में प्रस्तुत हैं—

१. साँड नम्बर एक ब्रह्माजी थे, जोकि अपनी पुत्री सरस्वती के पीछे बुरी तरह भागे और उपर्युक्त सनातनधर्म का पालन किया।

२. साँड नम्बर दो विष्णुजी थे जिन्होंने सनातनधर्म की उपर्युक्त पद्धति पर चलकर जलन्धर की स्त्री वृन्दा पर हाथ साफ़ किया और स्वयं सनातनधर्म के पूज्य शालिग्राम बनकर अपनी प्रेमिका वृन्दा को तुलसी बनाकर सदा अपनी छाती पर सवार रखते हैं और इनके सपूत प्रतिवर्ष इनका विवाह रचाकर उत्सव मनाते हैं।

३. साँड नम्बर तीन महादेवजी थे जो पहले तो लिङ्ग हाथ में लेकर अनसूया पर कूद पड़े और फिर सर्वथा नग्न होकर और लिङ्ग को हाथ में पकड़कर दारुवन में ऋषियों की स्त्रियों में धावा जा बोला और जिस साँड के लिङ्ग को शक्तिशाली और उपयोगी समझकर आजतक भी निर्बल और नपुंसक सनातनधर्मियों की स्त्रियाँ अपनी कामाग्नि को ठण्डा करती हैं और कई तो सन्तान की इच्छा से अपनी योनि को उसपर रगड़कर अपना काम चलाती हैं।

४. साँड नम्बर चार बृहस्पति थे, जिन्होंने अपने भाई की गर्भवती स्त्री ममता को नाकों चने चबवाये बिना नहीं छोड़ा।

५. साँड नम्बर पाँच इन्द्रजी थे, जिनसे आपके दादागुरु गौतम की स्त्री ने अपनी कामाग्नि ठण्डी करवाई।

६. साँड नम्बर छह चन्द्रमा थे जिन्होंने मार्ग में चलती गुरु की स्त्री तारा को गर्भवती करके बुध नाम का पुत्र उत्पन्न कर लिया।

७. साँड नम्बर सात पराशरजी थे, जिन्होंने सनातनधर्म की कुमारी कन्या सत्यवती को नौका में ही रगड़ डाला, जिससे व्यासजी की उत्पत्ति हुई।

८. साँड नम्बर आठ सूर्यदेवता थे, जिन्होंने सनातनधर्म की कुमारी कन्या कुन्ती पर हाथ साफ कर दिया, जिससे कर्ण पैदा हुए। उसी सूर्य ने घोड़ी की नाक और मुख में भी मैथुन किया।

९. सबसे बड़े सोलह कला सम्पूर्ण साँड नम्बर नौ श्रीकृष्णजी महाराज थे, जिन्होंने अपने मामा की पत्नी राधा पर सवारी गाँठी, कुब्जा को रात-भर ऐसा रगड़ा कि प्रातः होते ही उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। समस्त गोपियों से भोग किया, रास-क्रीड़ा की और चीरहरण-लीला में सबको नङ्गी सामने आने पर विवश किया। किसी की छाती पकड़ी, किसी का चुम्मा लिया, किसी की मटकी फोड़ी, किसी की अङ्गिया टटोली, सारांश सोलह सहस्र एक सौ आठ सनातनधर्म की ललनाओं में अकेला ही साँड रंगरलियाँ मनाता रहा और सबकी कामाग्नि को अकेला ही शान्त करता रहा।

इस साँड में यह भी चमत्कार था कि वह साँडनी न मिलने पर साँड को ही साँडनी बनाकर आनन्द लूटते थे, अतः इस करामात से ही अर्जुन को अर्जुनी बनाकर कृष्ण ने अपना

भोग्य बना डाला। सम्भव है सनातनधर्म की अप्सराओं को अब भी वही पुरानी आदत विवश करती हो और सनातनधर्म के सदस्य निर्बल और नपुंसक होने के कारण उनका काम उनकी इच्छा के अनुरूप न चला सकते हों, अतः सनातनधर्म की अप्सराएँ स्वभाव से विवश होकर ईसाइयों और मुसलमानों के साथ भाग निकलती हैं और आर्यसमाजी वीर इनको राक्षसों के पञ्जे से निकालकर वनिता विश्राम आश्रम, दिल्ली में प्रविष्ट करके उनका विधिपूर्वक विवाह करके उनका प्रबन्ध करते हैं। यदि अब भी सनातनधर्म सभा अपनी पुरानी प्रथा के अनुसार कृष्ण की भाँति कुछ पुरुषों को साँड के रूप में सनातनधर्म के मन्दिरों में रख ले और उनके भोजन आदि का समुचित प्रबन्ध कर दे तो सनातनधर्म की ललनाएँ समय-समय पर इनसे अपनी कामाग्नि को शान्त कर लिया करें और इनको ईसाइयों और मुसलमानों के साथ भागने की आवश्यकता न पड़े और न ही व्यभिचार और गर्भपात के सङ्कट में फँसें और न ही इन बेचारियों को बाजारों में बैठकर पेशा करके अपनी कामाग्नि को शान्त करना पड़े। हम आशा करते हैं कि इतने पटापट पड़ने पर अब आपकी बुद्धि ठिकाने पर आ गयी होगी।

पोपजी—देखिए, यजुर्वेद का भाष्य करते हुए स्वामी दयानन्दजी ने स्त्री को दूसरा पति करने का खण्डन किया है।

तोपजी—झूठ लिखते हुए कुछ शर्म तो नहीं आती? स्वामीजी ने कहीं भी दूसरा पति करने का खण्डन नहीं किया, अपितु पति की विद्यमानता में पर-पुरुष से व्यभिचार करने का खण्डन किया है। जिस पुरुष के साथ स्त्री का वेदानुकूल, पञ्चायत के विधि-विधान के अनुसार सम्बन्ध किया जाए, उसका नाम पति, अपना पुरुष है और जिसका स्त्री के साथ गोपनीय सम्बन्ध हो उसका नाम पर-पुरुष, उपपति, यार है—इस बात को अच्छी प्रकार स्मरण रक्खें।

पोपजी—यजुर्वेद [२९।३०] के भाष्य में स्वामीजी लिखते हैं कि "पुरुष का जिस स्त्री से विवाह हुआ हो, वह पुरुष उसी स्त्री के साथ जीवन बिताये।"

तोपजी—आपने स्वामीजी का भाष्य न लिखकर अपना मनमाना पाठ लिख दिया है। देखिए, स्वामीजी क्या कहते हैं—"हे मनुष्यो! जैसे अधिकता से शुभ गुणों में व्यासिवाली, महती, सब व्यवहारों में व्याप्त, जिनके होने में उत्तम घर हों, आभूषणादि से प्रकाशमान, दरवाजों के समान अवकाशवाली, पाणिग्रहण=विवाह करनेवाले उत्तम गुणयुक्त पतियों के लिए उत्तम शोभायमान हुईं, सब स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों को विशेषकर सेवन करें, वैसे तुम लोग सब विद्याओं में व्यापक होओ।"

अब तनिक स्वामीजी के भाष्य को ध्यानपूर्वक पढ़कर बताएँ कि आपका लिखा हुआ वाक्य इसमें कहाँ है? अपितु इसमें तो यह लिखा है कि "पाणिग्रहण=विवाह करनेवाले उत्तम गुणयुक्त पतियों के लिए उत्तम शोभायमान हुईं सब स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों को विशेषकर सेवन करें।" इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि वे विवाहित पति की विशेषरूप से सेवा करें। स्वामीजी ने यह भी लिखा है कि "नियुक्त पुरुष और स्त्री आपस में घर में रहकर एक-दूसरे की सेवा न करें, अपितु अपने-अपने घरों में रहकर अपने ही विवाहित पति और स्त्री की सेवा करें।" इससे नियोग का तनिक भी खण्डन नहीं होता। यदि आपवाले वाक्य हों भी, तो भी हमारी कोई हानि नहीं है, क्योंकि गृहस्थ में रहकर एक-दूसरे की सेवा करने की आज्ञा विवाहित पति-पत्नी के लिए ही है, नियुक्त पति-पत्नी के लिए नहीं।

अब रह गयी बात सारा जीवन व्यतीत करने की, वह स्त्री-पुरुष के अपने अधिकार

की बात नहीं है। मान लो यदि दोनों में से किसी की मृत्यु हो जाए तब विवाहित स्त्री-पुरुष सम्पूर्ण जीवन एक-साथ कैसे व्यतीत कर सकते हैं? अतः यह मन्त्र विवाहित स्त्री-पुरुष को प्रेमपूर्वक रहना चाहिए, इस बात का वर्णन करता है, नियोग या पुनर्विवाह का खण्डन नहीं करता।

पोपजी—यजुर्वेद अध्याय १९, मन्त्र ४८ के भावार्थ में स्वामीजी लिखते हैं कि "जो स्त्री-पुरुष स्वयंवर विवाह करके, ऋतुगामी होकर सन्तान उत्पन्न करते हैं, उनकी वही सन्तान उत्तम गुणोंवाली होकर अपने माता-पिता को सुखी करती है।"

तोपजी—भला! न्यायपूर्वक बतलाएँ कि वेदमन्त्र के भावार्थ में नियोग का खण्डन कहाँ है? अपितु इसमें तो स्पष्ट लिखा हुआ है कि जो स्त्री-पुरुष स्वयंवर से विवाह करके, ऋतुगामी होकर सन्तान उत्पन्न करें, वह उत्तम सन्तान उत्पन्न होती है और माता-पिता को सुखी करती है। आपने एक चालाकी की—'वह' शब्द के स्थान पर 'वही' कर दिया है जिससे यह भ्रम उत्पन्न हो सके कि इस सन्तान के सिवाय और सन्तान उत्तम नहीं होती, परन्तु भाष्य में ऐसा नहीं है। देखिए, भाष्य में क्या लिखा है—"जो स्त्री-पुरुष पूर्ण ब्रह्मचर्य से सकल विद्याओं की शिक्षाओं का संग्रह कर परस्पर प्रीति से स्वयंवर विवाह करके ऋतुगामी होकर विधिपूर्वक प्रजा की उत्पत्ति करते हैं, उनकी वह प्रजा शुभ गुणयुक्त होकर माता-पिता आदि को निरन्तर सुखी करती है।" इस भाष्य से किसी रूप में भी नियोग का खण्डन नहीं होता।

पोपजी—यजुर्वेद अध्याय ३०, मन्त्र ९ के भाष्य में स्वामीजी ने दूसरे की स्त्री से समागम करना व्यभिचार कहकर और विवाहित पति की विद्यमानता में स्त्री का दूसरे पति से समागम करना व्यभिचार मानकर इस व्यभिचार की निन्दा करके इससे बचने की आज्ञा दी है।

तोपजी—आपने भाष्य के उस भाग को शब्दशः नहीं लिखा; इसलिए भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना है, अतः हम पुस्तक से हूबहू पाठ लिख देते हैं—"हे जगदीश्वर वा सभापति राजन्! आप पर-स्त्रीगमन के लिए प्रवृत्त व्यभिचारी को गृहपत्नी के सङ्ग के लिए प्रवृत्त हुए पति की विद्यमानता में दूसरे व्यभिचारी पति को.....पृथक् कीजिए।" इस पाठ से स्पष्ट प्रकट है कि यहाँ पर दूसरे की स्त्री से व्यभिचार करनेवाले की निन्दा की है। यहाँ पर नियोग से प्राप्त पति का खण्डन नहीं किया गया। आपका लिखित प्रयोजन सर्वथा अशुद्ध है।

पोपजी—यजुर्वेद अध्याय ८, मन्त्र ३ के भावार्थ में स्वामीजी ने स्पष्ट लिखा है कि जो कामी और प्रमादी पुरुष अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़कर दूसरे की स्त्री से समागम करता है, वह इस लोक और परलोक में दुर्भागी होता है और जो पुरुष अपनी ही स्त्री से प्रेम करनेवाला है, वही दोनों लोकों में परम सुख को प्राप्त होता है।

तोपजी—इस पाठ से स्पष्ट सिद्ध है कि पर-स्त्री से व्यभिचार करना पाप और अपनी स्त्री से समागम पुण्य है। पर-स्त्री वही होती है जिससे वेदानुकूल, नियमपूर्वक सम्बन्ध न हुआ हो। इससे व्यभिचार का खण्डन होता है, नियोग का नहीं, क्योंकि नियोग में वेदानुकूल विधि-विधानपूर्वक पञ्चायत की रस्म पूर्ण होने पर वह पर-स्त्री नहीं रहती, अपितु वह अपनी ही हो जाती है और रस्म के पूर्ण होने पर वह पुरुष भी पर-पुरुष नहीं रहता, अपितु अपना हो जाता है, अतः इन चारों मन्त्रों में पर-पुरुष और पर-स्त्री के साथ व्यभिचार का खण्डन किया गया है, नियोग का खण्डन नहीं किया गया, क्योंकि वेदानुकूल नियोग की रस्म पूर्ण हो जाने पर, वे पर-पुरुष और पर-स्त्री नहीं कहा सकते।

पोपजी—पाठकगण! हम लाला साहब की निर्बल युक्तियों को चकनाचूर करते हुए

अन्त में स्वामी दयानन्दजी के भाष्य से स्त्री के पर-पुरुष से समागम करने और पुरुष का विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त और किसी स्त्री से समागम करने को यजुर्वेद के द्वारा विरुद्ध सिद्ध कर चुके हैं। जब स्वामीजी यजुर्वेद के भाष्य में स्वयं ही स्त्री के दूसरे पुरुष से समागम करने का खण्डन करते हैं और उसे पाप बतलाते हैं तो विधवा स्त्री का दूसरों से दस पुत्र उत्पन्न करवाना, जीते पतिवाली स्त्री का नियोग कराना स्वामीजी के अपने ही भाष्य के विरुद्ध है और वेद के भी विरुद्ध है।

तोपजी—हमने पोपजी की ठगी का भाँडा चौराहे में फोड़ दिया है। पोपजी ने जो कुतर्क और झूठे पाठ दूसरों के नाम से लिखकर छल-कपट का दुर्ग बनाया था, उसे हमने लङ्का की भाँति जलाकर भस्म कर डाला है और हमने इस बात को सिद्ध कर दिखलाया है कि स्वामीजी का भाष्य पर-पुरुष और पर-स्त्री के साथ व्यभिचार का खण्डन करता है, पुनर्विवाह और नियोग का खण्डन नहीं करता, क्योंकि वेदानुकूल, पञ्चायत के विधि-विधान के अनुसार स्त्री और पुरुष के मध्य पुनर्विवाह और नियोग की रस्म पूर्ण हो जाने पर वे स्त्री और पुरुष 'पर' [दूसरे] नहीं कहे जा सकते, अपितु जितने समय तक के लिए पञ्चायत इनके लिए मर्यादा निश्चित करती है, उतने समय तक इनका पति-पत्नी का सम्बन्ध वैध होता है।

जब स्वामीजी ने अपनी पुस्तकों में स्पष्टरूप से वेदशास्त्र के प्रमाण देकर पुनर्विवाह और नियोग का मण्डन किया है तो ऋषि दयानन्द-जैसे के लेखों से अपने ही विधान किये गये सिद्धान्तों का खण्डन सिद्ध करने का प्रयत्न करना बालू रेत में से तेल निकालने के प्रयत्न के समान है, अतः स्त्रियों को पति के मरने के पश्चात् और पति के जीते हुए भी विशेष अवस्थाओं में पुनर्विवाह और नियोग द्वारा दस सन्तान उत्पन्न करना वेदानुकूल और धर्म है।

पोपजी—इसलिए भूलकर भी भारतवर्ष की सती देवियों की शान को कदापि कम नहीं करना चाहिए।

तोपजी—पुनर्विवाह और नियोग से सती देवियों का गौरव कम नहीं होता, अपितु व्यभिचार, गर्भपात, बाजारों में पेशा करने तथा ईसाई-मुसलमानों के घरों में बसकर गोघातक सन्तान पैदा करने से घटता है। यदि कोई स्त्री पति के मर जाने पर ब्रह्मचारिणी रहना चाहे तो बहुत उत्तम बात है, अन्यथा उपर्युक्त दोषों की अपेक्षा पुनर्विवाह या नियोग से सन्तान उत्पन्न करना सहस्रों गुणा उत्तम है।

आर्यसमाज तो सती देवियों की शान को ऊँचा करना चाहता है, परन्तु सनातनधर्म में सतीसाध्वी स्त्रियों की शान को मिट्टी में मिलाया जाता रहा है, जैसाकि पौराणिक साँड पराशर ने सती देवी सत्यवती को नौका में ही गर्भवती बना दिया। कहिए, यह व्यभिचार था या गान्धर्व-विवाह? यदि कहो कि व्यभिचार था तो व्यासजी वर्णसंकर हुए, क्योंकि व्यभिचार की सन्तान वर्णसंकर होती है। यदि कहो कि गान्धर्व-विवाह था तो फिर इसी सत्यवती का राजा शन्तनु से विवाह क्या पुनर्विवाह नहीं गिना जाएगा? पौराणिक साँड सूर्य ने सती देवी कुन्ती को गर्भवती कर डाला और इसके अतिरिक्त जलन्धर की सती स्त्री वृन्दा का विष्णु ने सतीत्व भङ्ग किया जिसके बदले विष्णु शालिग्राम बना और वृन्दा तुलसी। क्योंजी! यह तो बतलाएँ कि जब तुलसी वृन्दा से बनी और वृन्दा जलन्धर की स्त्री थी तथा शालिग्राम विष्णु हैं, तो क्या फिर जलन्धर की स्त्री तुलसी का प्रतिवर्ष विष्णु से विवाह कराना पुनर्विवाह नहीं है? सारांश यह कि स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त पुनर्विवाह और नियोग-व्याख्या-सहित सोलह आने वेद के अनुकूल हैं, अतः स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ बिना किसी सन्देह के सोलह आने वेद के अनुकूल हैं।

४. पति की लाश और नियोग-चर्चा

सिद्धान्त—

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥ —ऋ० १०.१८.८

अर्थ—हे विधवे! तू इस मरे हुए पति की आशा छोड़के बाकी पुरुषों में से जीते हुए दूसरे पति को प्राप्त हो और इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो तुझ विधवा के पुनः पाणिग्रहण करनेवाले नियुक्त पति के सम्बन्ध के लिए नियोग होगा तो यह जना हुआ बालक उसी नियुक्त पति का होगा और जो तू अपने लिए नियोग करेगी तो यह सन्तान तेरा होगा—ऐसे निश्चययुक्त हो। और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे।

—सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थसमुल्लास

*

पोपजी—स्वामीजी ने लिखा है कि 'जिस स्त्री का पति मर जाए तो **उसका दाहकर्म करने से पूर्व** लोग इकट्ठे होकर स्त्री से कहें कि हे नारि! तू **इस मरे हुए पति के साथ जो सोई** हुई है, इसकी अर्थात् मुर्दा पति की आशा छोड़कर जीते हुए मनुष्यों में से पति चुन ले।' यह कितनी लज्जा की बात है कि उसका पति मरा हुआ सामने पड़ा है और ऐसे समय में उससे कहा जाए कि तू हममें से किसी को पति चुन ले! आर्यसमाज की यह शिक्षा सभ्यता और सदाचार के विरुद्ध है। बतलाओ, ऐसी आज्ञा ऐसे नाजुक अवसर पर किस वेद के अनुसार दी जाती है?

तोपजी—'घर की दादी घर का ढोल बजा, दादी बजा' यह लोकोक्ति आपपर ही चरितार्थ होती है। स्वामी दयानन्दजी का नाम लेकर स्वयमेव अपने स्वार्थ के अनुकूल भाषा घड़ ली और स्वयं ही उसपर आलोचना करने बैठ गये, अन्यथा आप बतलाएँ कि आपकी भाषा में जिन वाक्यों को हमने मोटा कर दिया है, स्वामी दयानन्द के लेख में उस तात्पर्य की भाषा कहाँ है? हमने अपनी पुस्तक 'शास्त्रार्थ-जाखल' में भी स्वामीजी के शब्दों को हूबहू उद्धृत करके आपसे पूछा था कि इसमें अपने लिखे तात्पर्य का लेख दिखलाएँ और अब पुनः हमने आरम्भ में ही स्वामी दयानन्दजी महाराज का लेख शब्दशः उद्धृत कर दिया है और डङ्के की चोट आपको चैलैञ्ज देते हैं कि आप स्वामीजी की भाषा में से—'दाहकर्म करने से पहले मरे हुए पति के साथ सोई हुई स्त्री को नियोग के लिए कहना'—निकालकर दिखाएँ, अन्यथा इस मिथ्या भाषण और छल-कपट के पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए अपना मुँह काला करके काने गधे पर सवार होकर सारे नगर में चक्कर लगाएँ और अन्त में चुल्लूभर पानी में डूबकर मर जाएँ। ऐसे झूठे और पाजी लोगों के लिए यही दण्ड उचित हो सकता है।

हाँ, स्वामीजी ने जो यह लिखा है कि 'हे विधवा स्त्रि! तू इस मरे हुए पति की आशा को छोड़कर बाकी पुरुषों में से जीते हुए दूसरे पति को प्राप्त हो।' उपर्युक्त लेख में जो **'इस'** शब्द आया है, वह मृतक पति के शव की ओर सङ्केत के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ, अपितु वह 'इस' शब्द व्याकरण के निम्न सिद्धान्त के अनुसार, कि **'वर्त्तमानसमीपे वर्त्तमानाद्वा'** अर्थात् वर्त्तमान काल के समीपवर्ती समय को भी वर्त्तमान की भाँति ही प्रयोग में लाया जाता है, यहाँ निकट भूत के समय को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किया गया है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जब कोई स्त्री विधवा हो जाए तो नियत समय के पश्चात् पञ्चायत के वृद्ध उस विधवा के पास जाकर निश्चित विधि-विधान के अनुसार उससे पूछें

कि वह ब्रह्मचर्य और ईश्वर-भक्ति में अपना जीवन व्यतीत करना चाहती है अथवा अपने को इसके अयोग्य समझकर दूसरा पति प्राप्त करना चाहती है, जैसाकि आजकल भी कई जातियों में यह रिवाज है कि पञ्चायत कुछ समय के पश्चात् विधवा स्त्री के समक्ष एक श्वेत और एक रक्तवर्ण [लाल] की वेशभूषा रखकर उसके हार्दिक भावों को पूछती है। यदि वह विधवा श्वेत वस्त्रों को उठा ले तो पञ्चायत समझती है कि वह ब्रह्मचारिणी रहना चाहती है और यदि वह रक्त-वर्णवाले वस्त्रों को उठा ले तो पञ्चायत उसके लिए उसकी इच्छा के अनुसार दूसरे पति का प्रबन्ध कर देती है। बस, यहाँ भी इसी प्रकार के पञ्चायती विधि-विधान की ओर सङ्केत है, जिसे न समझकर वाममार्गी, निर्लज्ज, असभ्य और दुराचारी, पाजी पौराणिकों ने आश्वलायनगृह्यसूत्र आदि पुस्तकों में यह लिख दिया कि "स्त्री अपने मृतक पति की लाश के साथ चिता में लिटाई जाए और चिता में अग्नि लगाने से पूर्व उस स्त्री का देवर या पुराना वृद्ध नौकर उसका हाथ पकड़कर उठाये और देवर या आचार्य उस समय इस मन्त्र का उच्चारण करे" और इस मन्त्र का अर्थ भी इन पापी वाममार्गी लोगों ने इस ढङ्ग का कर दिया, जैसाकि हम आगे जाकर पौराणिकों के अर्थ को देकर सिद्ध करेंगे।

अब इस पोपमण्डल की धूर्तता देखिए कि अपने घर की उस बेहूदा, असभ्यतापूर्ण और गलत बात को व्यर्थ ही स्वामी दयानन्दजी महाराज के सिर मढ़कर आर्यसमाज पर आक्षेप करने आरम्भ कर दिये! परन्तु अब जनता इतनी मूर्ख नहीं है कि वह पोपजी की इस धूर्तता को न समझ सके और वास्तविकता को न जान सके। कहावत प्रसद्धि है—

कभी ख़ाक[1] डाले से छिपता है चाँद?

पोपजी—लाला मनसारामजी का यह कहना कि 'स्वामीजी का यह मंशा नहीं कि मरे हुए पति की विद्यमानता में ही नियोग कराया जाए, उन्होंने निकट भूत का वर्णन करते हुए ही लिखा है।' उनका ऐसा कहना ग़लत है।

तोपजी—आपका दूसरों के नाम से कल्पित शब्दावली घड़ने का दुष्ट स्वभाव आपका सत्यानाश कर रहा है। जैसे आपने स्वामीजी के नाम से झूठा लेख घड़कर स्वामीजी पर आक्षेप किया है, वैसे ही आपने हमारे नाम से भी कल्पित भाषा घड़ ली है, अन्यथा हमने तो यह लिखा है कि जिस बात पर आप आक्षेप कर रहे हैं, वह स्वामीजी के लेख में है ही नहीं और 'इस' शब्द से पति की विद्यमानता समझना व्याकरण से सर्वथा शून्य होने का प्रमाण है, क्योंकि यहाँ 'इस' शब्द निकट भूत के लिए प्रयुक्त हुआ है, वर्त्तमान समय के लिए नहीं और आपने हमारे लेख का किसी तर्क और प्रमाण से खण्डन नहीं किया। केवल इतना लिख देना कि "इनका ऐसा कहना ग़लत है" यह ग़लत सिद्ध करने का कोई उचित प्रकार नहीं है।

पोपजी—और इस मन्त्र के अर्थ भी लालाजी ने ग़लत किये हैं, क्योंकि यह मन्त्र अन्त्येष्टि-संस्कार का है और इस मन्त्र का विनियोग श्मशानभूमि में ही गृह्यसूत्रों द्वारा वर्णित किया गया है। आश्वलायनगृह्यसूत्र में लिखा है कि मृतक के उत्तर की ओर पत्नी को बैठाया जाए। यदि मृतक क्षत्रिय हो तो उसके उत्तर की ओर धनुष रक्खे और पत्नी न बैठे। मृतक पति के निकट से इस स्त्री को उठाने के लिए इसका देवर और देवर के न होने पर कोई पड़ोसी या वृद्ध नौकर इस मन्त्र को पढ़े और मन्त्र का ठीक अर्थ यह है—"हे नारि! तू जीवित पुत्र और पौत्र आदि के रहने के स्थान अर्थात् घर को देखकर इस चिता से उठ। तेरे बिना पुत्रों का पालन कौन करेगा? अतः इस मृतक पति के साथ सती होने के निश्चय

१. मिट्टी, रेत-धूल।

को छोड़कर पुत्रों का पालन कर।'' यदि उठानेवाला शूद्र हो तो वह मन्त्र न पढ़े, क्योंकि शूद्र को मन्त्र पढ़ने का अधिकार नहीं है, इसलिए कोने में बैठकर आचार्य ही मन्त्र पढ़े। जब गृह्यसूत्रों में मरघटभूमि की अन्त्येष्टि-विधि में ही इस मन्त्र का विधान है और इसमें भी स्त्री को दूसरे पति की आज्ञा नहीं, तब पति के मरने के कई दिन पश्चात् का अर्थ निकालना लाला साहब और समाजियों को ही शोभा देता है। उपदेशकजी! आपने देख लिया कि मरे हुए पति की चिता पर उसकी विद्यमानता में इस मन्त्र के पढ़े जाने का विधान है।

तोपजी—हमने इस मन्त्र का जो अर्थ किया है, वह बिल्कुल ठीक है और आपका अर्थ सर्वथा असङ्गत और ग़लत है। आप बतलाएँ कि आपने जो यह अर्थ किया है कि 'तेरे बिना पुत्रों का पालन कौन करेगा' और 'इस मृतक पति के साथ सती होने के निश्चय को छोड़कर पुत्रों का पालन कर'—ये मन्त्र के कौन-से शब्दों के अर्थ हैं? इस मन्त्र में तो ऐसे कोई शब्द हैं नहीं जिनके ये अर्थ हो सकें। हमारे किये हुए अर्थ ठीक हैं या आपके—इस बात का निर्णय इस मन्त्र में विद्यमान 'दिधिषोः' शब्द के अर्थ पर निर्भर है जोकि 'दिधिषुः' शब्द की षष्ठी विभक्ति का एकवचन है। अब देखना यह है कि 'दिधिषुः' शब्द का क्या अर्थ है। इसके लिए सबसे पहले अमरकोश को देखें—

पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषुः पतिः। स तु द्विजोऽग्रेदिधिषूः सैव यस्य कुटुम्बिनी॥

—अमरकोश २.६.२३

अर्थ—पुनर्भूः और दिधिषूः—ये दो नाम दोबारा विवाहिता स्त्री के हैं। 'दिधिषुः' यह एक नाम दोबारा विवाहिता स्त्री के पति का है। 'अग्रेदिधिषूः' यह एक नाम पुनर्विवाहिता स्त्री के द्विज पति अर्थात् जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो, उसका है।

इसमें स्पष्ट उल्लेख है कि 'दिधिषूः' नाम पुनर्विवाहिता स्त्री का है। अमरकोश के अतिरिक्त अन्य कोशों ने भी इस शब्द का यही अर्थ किया है। हम पोप-मण्डल को चैलेञ्ज करते हैं कि वे किसी भी कोश में इस शब्द का और कोई अर्थ दिखाएँ। जब इस शब्द का और कोई अर्थ है ही नहीं, तो फिर इस शब्द की विद्यमानता में इस मन्त्र का और अर्थ हो ही नहीं सकता, अतः स्वामी दयानन्दजी महाराज का किया हुआ अर्थ सोलह आने सत्य है और सायणाचार्य ने भी इसका यही अर्थ किया है जो हम आगे चलकर लिखेंगे।

रहा आपका यह कहना कि यह मन्त्र मरघटभूमि में ही विनियुक्त करने का है, आपकी यह बात सर्वथा असत्य है, क्योंकि मन्त्र में एक भी ऐसा शब्द नहीं है कि जिससे यह सिद्ध हो सके कि यह मन्त्र श्मशानभूमि में ही बोलने का है। रही यह बात कि पौराणिक ग्रन्थों में इस मन्त्र को मरघटभूमि में बोलने के लिए लिखा है, तो यह मन्त्र का दोष नहीं है, यह तो प्रयोग करनेवाले का दोष है। जैसे कुरआन शरीफ़ की पहली आयत '**बिस्मिल्ला अल् रहमान अल् रहीम**' परमात्मा को दया करनेवाला और दयालु वर्णन करती है, परन्तु मुसलमान लोग इसी आयत को बोलकर जानवरों के गले पर छुरी फेरते हैं। बताइए, इसमें आयत का क्या दोष है? यह दोष तो आयत को प्रयोग करनेवाले का है। इसी प्रकार पौराणिक ग्रन्थों में '**मा मा हिं॑ सि**'—सर्वथा हिंसा मत करो, मन्त्र के इस भाग को यज्ञ में पशु के मारने के समय बोलने का विधान किया गया है। इसमें इस मन्त्र का क्या दोष है? यह तो प्रयोग करनेवाले का दोष है। यदि कोई पाखण्डी, पोप, निरक्षर भट्टाचार्य 'गरुड़पुराण' के श्लोकों से विवाह करा दे तो इसमें गरुडपुराण के श्लोकों का दोष नहीं होगा अपितु पोपजी का अपराध होगा। इसी प्रकार किसी बुद्धि के धनी ने उपर्युक्त मन्त्र को मरघटभूमि में बोलना लिख दिया तो इसमें मन्त्र का या आर्यसमाज और स्वामी दयानन्दजी महाराज का क्या अपराध है? यह अपराध तो प्रयोग करनेवाले का है।

अब रह गयी आश्वलायनगृह्यसूत्र की बात! श्रीमन्! इसको ढकी-ढकाई ही रहने देते तो लाभ में रहते, परन्तु प्रतीत होता है कि आपको भी सनातनधर्म की पोल गुप्त रखना स्वीकार नहीं है, और फिर हम तो आपकी इस सेवा के लिए सदा उपस्थित हैं। लीजिए, हम बता देते हैं कि आपके आश्वलायन की लीला बड़ी ही विचित्र है। इसकी सारी बातों पर तो आचरण कर ही नहीं सकते। हम इसमें से मृतक-संस्कार के सम्बन्ध में ही कुछ बातें आपकी सेवा में प्रस्तुत करते हैं, तनिक ध्यानपूर्वक विचारें।

जब कोई पुरुष मर जाए तो उसकी हजामत आदि बनवाकर, उसे चन्दन आदि से सजाकर तैयार करें और फिर—

निःपुरीषमेके कृत्वा पृषदाज्येन पूरयन्ति॥

उसकी गुदा में गज आदि फेरकर उसके पेट को गन्दगी से खाली कर दें और उसके अन्दर पिचकारी आदि के द्वारा घी और दही मिलाकर भर दें।

जब वह मृतक बिल्कुल तैयार हो जाए तो—

एके गोयुक्तेन पीठचक्रेण शकटादिना प्रेतनयनं कार्यमित्याहुः॥

ऐसे छकड़े पर डालकर कि जिसमें बैल जुड़े हुए हों, श्मशान में ले-जाने की तैयारी कर ले और चलते हुए—

अनुस्तरणीम्। गाम्। पशोः सव्ये बाहौ रज्जुं बद्ध्वा अनुप्रेतस्य पृष्ठतः संकालयन्ति, नयन्ति बान्धवाः॥

एक गौ की अगली दाहिनी टाँग में रस्सा बाँधकर मृतक के सम्बन्धी उसके पीछे-पीछे उस गौ को भी श्मशान में ले-जाएँ और जब मुर्दे को चिता पर धरें तो—

उत्तरतः पत्नीम्। ततः प्रेतस्य उत्तरतः पत्नीं संवेशयन्ति, शाययन्तीत्यर्थः चितावेव॥

मृतक की बायीं ओर उसकी स्त्री को चिता में ही लिटा दें, अर्थात् सुला दें। फिर—

तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वा उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकमिति। अथ पत्नीमुत्थापयेत्। कः देवरः पतिस्थानीयः स पतिस्थानीय इत्युच्यते। अनेन ज्ञायते पतिकर्तृकं कर्म पुंसवनादिपत्यसम्भवे देवरः कुर्यादिति। अन्तेवासी शिष्यो सेवको यो बहुकालं दास्यं कृत्वा वृद्धोऽभूत स वा॥

उस सोई हुई स्त्री को मृतक के साथ से पति का स्थानापत्र देवर अथवा इनके पास पढ़नेवाला विद्यार्थी या पुराना बूढ़ा नौकर—'उदीर्ष्व नारीति' इस विवादास्पद मन्त्र को पढ़कर उठाए। पति का स्थानापत्र जो देवर को कहा है, इससे जाना जाता है कि पति के करने योग्य सारे गर्भाधान आदि संस्कार पति की अविद्यमानता में देवर ही करे।

इस स्त्री को मृतक के समीप से उठाने के पश्चात् यज्ञ के सारे पात्रों को उसके शरीर पर रक्खा जाए। तत्पश्चात्—

अनुस्तरण्या वपामुत्स्विद्य शिरोमुखं च प्रच्छादयेत्। सर्वां यथाङ्गं विनिःक्षिप्य चर्मणा प्रच्छादयेत् इत्यादि।

इस साथ में लाई हुई गौ को मारकर इसकी चर्बी निकालकर मृतक का सिर और मुख इस चर्बी से ढक दे और फिर गौ के प्रत्येक अङ्ग को मृतक के एक-एक अङ्ग पर धरकर उसके चमड़े से मृतक के सारे शरीर को ढककर तब वेदमन्त्रों से आहुति देकर मृतक (शव) को जला दे।

ये ऊपर के सारे प्रमाण हमने आश्वलायनगृह्यसूत्र अध्याय चार में से जीवानन्द विद्यासागरकृत टीका सहित, सरस्वती प्रेस कलकत्ता द्वारा मुद्रित पुस्तक के उद्धृत किये हैं।

यह है वह आश्वलायनगृह्यसूत्र का लेख जिसका आश्रय लेकर पोपजी महाराज बल्लियों उछल रहे हैं। इस प्रमाण में स्पष्ट लिखा हुआ है कि स्त्री को मृतक की चिता में उसके साथ सुलाया जाए, जिसे पोपजी ने बदलकर "बिठाया जाए" लिख दिया है और इसी में देवर को स्थानापत्र मानने की व्याख्या भी विद्यमान है कि पति की अविद्यमानता में गर्भाधान आदि सब कार्यों को करने का अधिकार देवर को है।

कहिए, इस आश्वलायनगृह्यसूत्र के उक्त लेख को आप मानते हैं? यदि मानते हैं तो उपर्युक्त सारा काम क्यों नहीं करते? ये सारी ऊटपटाँग बातें तो लिखी पड़ी हैं सनातनधर्म के घर में और आक्षेप करने के लिए चल पड़े हैं आर्यसमाज पर। आर्यसमाज की तो स्पष्ट घोषणा है कि इस प्रकार की बातें वेदविरुद्ध होने से मानने के योग्य नहीं, अतः स्वामी दयानन्दजी महाराज का किया हुआ अर्थ बिल्कुल सत्य है और आश्वलायन का मरघटभूमि में करने का उक्त सम्पूर्ण लेख वेदविरुद्ध, असत्य और घृणा के योग्य है जोकि सनातनधर्म को ही शुभ हो।

पोपजी—महाशयजी! निकट भूत का आश्रय लेने से भी आपकी गति नहीं हो सकती। यदि निकट भूत को ही ठीक माना जाए तो क्या आपका यह तात्पर्य है कि मृतक के दाहकर्म के दो-चार दिन या दस दिन पश्चात् ही उसकी विधवा स्त्री को महँदी रचाने के लिए कहा जाए? अन्ततः आपके निकट भूत का अर्थ अतीत-(बीता हुआ)-भूत तो नहीं हो सकता। वेदमन्त्र का वास्तविक अर्थ करने पर ही काम चल सकेगा। यह धोखे की टट्टी अधिक समय तक काम नहीं आएगी। इस मन्त्र के 'वर्तमान' को 'भूतों' की ओट में छिपाने से बेचारे वेदमन्त्र के हाल (दशा) को बेहाल (दुर्दशाग्रस्त) मत कीहिए। मन्त्र मरघटभूमि का है, घर का नहीं।

तोपजी—हम इस बात को अच्छी प्रकार सिद्ध कर चुके हैं कि यह मन्त्र पति की मृत्यु के कुछ दिन पश्चात् पञ्चायत को उस स्त्री से यह पूछने की आज्ञा देता है कि वह ब्रह्मचारिणी रहना चाहती है या दूसरा पति स्वीकार करना चाहती है? रहा समय का प्रश्न कि वह दो-चार दिन हों अथवा तीस-चालीस दिन हों?—यह पञ्चायत के निश्चय करने पर निर्भर है कि वह जो समय उचित समझे उतना निश्चत कर दे। प्रत्येक अवस्था में वह समय निकट भूत के अनुसार ही हो, अतीत भूत के अनुसार न हो, क्योंकि यदि इस विषय को खटाई में डालकर अतीत भूत के अनुसार बना दिया जाएगा तो जवान स्त्री के संयम में न रह सकने की अवस्था में व्यभिचार, गर्भपात आदि बुराइयों का हो जाना निश्चित बात है, जैसाकि सनातनधर्म में सूर्य से भासमान दिन के समान प्रकट है। वेदमन्त्र का वही अर्थ सर्वथा सत्य (ठीक) है जो ऋषि दयानन्दजी महाराज ने किया है और यह मन्त्र भी घर पर विधवा से पूछने की आज्ञा देता है, श्मशान का नहीं है।

आश्वलायनगृह्यसूत्र के अनुसार इस मन्त्र को श्मशानभूमि का मानकर बेचारे सनातनधर्मियों के हाल को बेहाल मत कीजिए, क्योंकि आश्वलायन की विधि को मानकर कहीं तो बेचारे सनातनधर्मियों की गुदा में गज़ फेरकर उनके पेटों को गन्दगी से खाली करके फिर घी और दही मिलाकर उसे पिचकारी से उनके पेटों में भरना पड़ेगा, कहीं मृतक को बैलगाड़ी में लादना पड़ेगा और कहीं मृतक की स्त्री को उसके साथ चिता में लिटाना पड़ेगा और कहीं श्मशान में बूचड़खाना खोलकर गौ का वध करके उसकी चर्बी से मुँह ढकना और चमड़े से मृतक के सारे शरीर को ढाँपना पड़ेगा, अतः बेचारे सनातनधर्मियों पर दया कीजिए और उनकी दुर्गति न कीजिए और इस बात को लिख लीजिए कि अन्ततः स्वामी दयानन्दजी महाराज के अर्थों को मानकर ही सनातनधर्मियों का कल्याण हो सकेगा, आश्वलायनगृह्यसूत्र

की बेहूदा विधि को मानकर नहीं।

सनातनधर्म के ग्रन्थों में तो इस प्रकार की घटनाएँ विद्यमान हैं कि जिनमें निकट भूत की भी प्रतीक्षा नहीं की गयी। सुग्रीव ने बालि के मरने के पश्चात् तुरन्त तारा पर सवारी गाँठी और विभीषण ने भी रावण के मरते ही मन्दोदरी को महँदी रचाने का अवसर भी नहीं दिया, वरन् राम के प्रस्थान करने से पूर्व ही हथेली पर सरसों जमा ली और विचित्रवीर्य के मरने के पश्चात् सत्यवती ने अम्बिका और अम्बालिका—दोनों में ही व्यासजी का नियोग करवा दिया और व्यासजी ने जो यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि इनको एक वर्ष का ब्रह्मचर्यव्रत धारण कराओ, उसे भी सत्यवती ने स्वीकार नहीं किया और कृष्ण ने तो अपने मामा रायाण के जीते-जी ही अपनी मामी राधा के साथ, महँदी लगाने का अवसर दिये बिना ही ब्रह्माजी से विवाह-संस्कार करवा लिया और आपके ऋषि-मुनि, अवतार और देवताओं ने तो सैकड़ों स्त्रियों को महँदी के बिना ही सांसारिक प्रेम के रङ्ग से रङ्गकर निहाल कर दिया, इतना होने पर भी आर्यसमाज को महँदी का उपालम्भ देना आपकी अज्ञानता और मूर्खता नहीं तो और क्या है? तनिक घर में अपनी चारपाई के नीचे लाठी फेरकर दूसरों के मुँह लगा कीजिए।

पोपजी—लाला साहब! आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् सातवलेकर सामश्रमीजी ने अपने 'वेदामृत' नामक पुस्तक में भी इस मन्त्र का विनियोग दाहकर्म से पूर्व ही किया है।

तोपजी—आर्यसमाज का सिद्धान्त बताते हुए हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि आर्यसमाज ऋषि दयानन्द के पश्चात् के किसी भी मनुष्य के बनाये हुए ग्रन्थों का उत्तरदायी नहीं है, क्योंकि वे सब ग्रन्थ अनार्ष हैं। यद्यपि पं० सातवलेकरजी के लेख हमारे लिए प्रमाण-कोटि में नहीं है, परन्तु फिर भी हम इस बात को बताये देते हैं कि पोपजी ने यह भी सर्वथा झूठ ही लिखा है। पं० सातवलेकरजी की पुस्तक वेदामृत के पृष्ठ २८५ पर अन्त्येष्टि-संस्कार का वर्णन है और उस पुस्तक में पृष्ठ २४१ पर पण्डितजी ने यह मन्त्र विधवा-विवाह के प्रकरण में दिया है और यही मन्त्र पृष्ठ ३११ पर 'आयु बढ़ाओ' इस प्रकरण में दिया है। पण्डितजी ने यह मन्त्र केवल दो ही स्थान पर दिया है, परन्तु पोपजी के मिथ्या भाषण, धूर्तता और धोखेबाज़ी की पराकाष्ठा हो गयी कि उन्होंने पण्डित सातवलेकरजी का नाम लेकर व्यर्थ में मनमानी बात लिख डाली। हम पोपजी को डबल चैलैञ्ज देते हैं कि वे पण्डित सातवलेकरजी की पुस्तक से अन्त्येष्टि-संस्कार में इस मन्त्र को लिखा हुआ दिखलाएँ, अन्यथा इस पाजीपन के जीवन से तो किसी गन्दी छपड़ी में डूब मरें।

पोपजी—उपदेशक साहब! क्यों अर्थ का अनर्थ ढा रहे हो और मनमाने ग़लत अर्थ बेचारे सायणाचार्य के गले मढ़ रहे हो और वेदों के नाम को बदनाम कर रहे हो? इस मन्त्र के विषय में आप ही की समाज के बड़े प्रसिद्ध विद्वान् सातवलेकर सामश्रमीजी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वेदामृत' में लिखते हैं कि इस मन्त्र का विनियोग दाहकर्म से पूर्व का है। इस मन्त्र का अन्त्येष्टि-विधि के विधान में होना ही इस बात की पक्की दलील है कि यह मन्त्र दाहकर्म से सम्बन्धित है, जिसका कि अर्थ ऊपर किया गया है। इसमें किसी नियोग की चर्चा तक नहीं है।

तोपजी—हमारा काम अर्थ का अनर्थ करना नहीं और न ही हम किसी का नाम लेकर मनमाना अर्थ लिखते हैं। यह लत तो आपकी है कि किसी-न-किसी का नाम लेकर मनमानी बात लिख देते हैं। हमने अपनी पुस्तक 'जाखल-शास्त्रार्थ' में तैत्तिरीय-आरण्यक प्रपाठक ६, अनुवाक १, मन्त्र १४ का अर्थ प्रस्तुत किया था। यह तैत्तिरीय-आरण्यक बेप्टिस्ट

मिशन प्रेस में छपी है और इस समय वैदिक पुस्तकालय, गुरुदत्त भवन, लाहौर में विद्यमान है। इस पुस्तक के पृ० ६५२ पर जो भाष्य लिखा हुआ है, वह हम शब्दशः यहाँ लिख देते हैं। तनिक मस्तिष्क को ठिकाने करके ध्यानपूर्वक पढ़ें—

''हे (नारि) त्वं इतासुम् गतप्राणं (एतम्) पतिं (उपशेषे) उपेत्य शयनं करोषि। (उदीर्ष्व) अस्मात्पतिसमीपादुत्तिष्ठ (जीवलोकमभि) जीवन्तं प्राणिसमूहमभिलक्ष्य (एहि) आगच्छ त्वं (हस्तग्राभस्य) पाणिग्राहवतः (दिधिषोः) पुनर्विवाहेच्छोः (पत्युः) एतत् (जनित्वम्) जायात्वं (अभिसम्बभूव) अभिमुख्येन सम्यक् प्राप्नुहि।''

अर्थ—हे स्त्रि! तू इस मरे हुए पति के साथ सो रही है। इस पति के पास से उठ और जीते हुए पुरुषों के समूह को दृष्टि में रखकर आ और तू तेरे हाथ को ग्रहण करनेवाले पुनर्विवाह के इच्छुक पति के इस पत्नीत्व को सम्यक् प्राप्त कर।

यह है इस मन्त्र का सायणभाष्य और हिन्दी-अनुवाद जिसे साधारण संस्कृत जाननेवाला भी समझ सकता है। मज़ा तो तब है कि कोई पोप इस भाष्य का कुछ और अर्थ करके दिखा दे। इस भाष्य में स्पष्ट रूप से 'दिधिषुः' का अर्थ 'पुनर्विवाह का इच्छुक' किया गया है, इसलिए इसमें नियोग या पुनर्विवाह की स्पष्ट आज्ञा विद्यमान है।

हम लिख चुके हैं कि सातवलेकरजी ने भी इस मन्त्र को विधवा-विवाह में लगाया है, अतः जो लोग इस मन्त्र को अन्त्येष्टि के समय का बताते हैं, वे वेदों के साथ आश्वलायनगृह्यसूत्र के बेहूदे और गन्दे लेख को जोड़कर वेदों को कलङ्कित करते हैं।

पोपजी—लाला साहब! भाष्यकार सायणाचार्य ने इस मन्त्र का जो अर्थ किया है, आपके सन्तोष के लिए हम उसे यहाँ लिख देते हैं। लाला साहब ने सायणाचार्य के भाष्य के सम्बन्ध में लिखा है कि उन्होंने भी स्वामीजीवाला अर्थ किया है। यह सरासर झूठ है। हम इस मन्त्र का सायणाचार्य का भाष्य लिखते हैं। इसमें स्वामी दयानन्द के अर्थ से आकाश-पाताल का अन्तर है—

अर्थ—''हे नारि! मृतक की पत्नी! तू जीवित पुत्र-पौत्र आदि के रहने के स्थान—घर को देखकर इस चिता से उठ। तेरे बिना पुत्र आदि का पालन कौन करेगा? तू इस मृतक के निकट लेटी है, यहाँ से आ। विवाह के समय हाथ पकड़नेवाले, गर्भाधान करनेवाले, इस पति के सम्बन्ध से प्राप्त हुए पत्नीपन को देखकर पति के साथ मरने का जो तेरा निश्चय है, उसे छोड़कर उठ।''

कहिए, इसमें मृतक के साथ सोने और दूसरे पति के स्वीकार करने की जब गन्ध तक नहीं तो मन्त्र का बेहूदा अनर्थ करके, सायणाचार्य का झूठा आश्रय लेकर जनता को धोखा देना स्वार्थपने के सिवाय और क्या हो सकता है? क्यों महाशयजी! सिर चढ़ बोलनेवाला जादू यह है या वह?

तोपजी—निःसन्देह सायणाचार्य ने तैत्तिरीयारण्यक में इस मन्त्र का जो भाष्य किया है और जिसे हमने पीछे शब्दशः लिख दिया है, वह अर्थ स्वामी दयानन्दजी के सिद्धान्त पुनर्विवाह और नियोग का प्रबल समर्थन करता है। आपने ऊपर जो अर्थ किया है, यह उस भाष्य का अनुवाद ही नहीं है। पता नहीं यह झूठ-मूठ का अर्थ आपने कहाँ से घड़ मारा है, अन्यथा उस भाष्य में तो पुत्र-पौत्र आदि का चिह्न-मात्र भी नहीं है; और 'तेरे बिना पुत्रों का पालन कौन करेगा'—यह अर्थ संस्कृत-भाष्य में है ही नहीं। भाष्य में तो स्पष्ट लिखा है कि '**दिधिषोः पुनर्विवाहेच्छोः**'—पुनर्विवाह के इच्छुक पति के पत्नीभाव को प्राप्त हो। पता नहीं, आप इसका अर्थ 'गर्भधारण करनेवाले' कहाँ से उड़ा लाये? मिश्रजी! इन चालों और धोखेबाजियों से अब कपोलकल्पित मिथ्यावादी सनातनधर्म की जान बचनी

असम्भव है। भला! इतना बड़ा धोखा भी आजकल चल सकता है कि इस मन्त्र का सायणभाष्य सामने पड़ा हो और आप मनमाने और झूठे अर्थ लगाकर लोगों को धोखा देते रहें? अब इस स्वार्थ को छोड़कर जनता को सीधा मार्ग बताना पड़ेगा। अब इस पापी पेट की नरक-अग्नि को आप छल-कपट और बेईमानी से बुझाने में सफल नहीं हो सकेंगे।

अब रह गयी बात मृतक पति के साथ सोने की। स्वामीजी ने तो ऐसा अर्थ ही नहीं किया और न ही आर्यसमाज इस मन्त्र को श्मशानभूमि का मानता है। यह मृतकों के साथ सोने, मृतकों से गर्भाधान कराने, मृतकों से सन्तान पैदा कराने और गुदा में गज फिरवाकर उसमें मसाले भरवाने, गौ को मारकर उसकी चर्बी से मुख और सिर ढाँपने आदि-आदि का रोग सनातनधर्म में ही है और उन्हीं के ग्रन्थों में इन बातों का विधान विद्यमान है। 'जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले' भी इसी का नाम है कि आपने स्वयं ही सायणभाष्य का मनमाना अर्थ करते हुए यह लिखा है कि 'उस मृतक के साथ लेटी है', 'इस चिता से उठ'—ये दोनों वाक्य स्पष्टरूप से पति के साथ लेटना आपसे स्वीकार करा रहे हैं। इसपर भी यदि आप इन्कार करें तो संस्कृत के न्याय के अनुसार '**मम मुखे जिह्वा नास्ति वदामि च**'—मेरे मुख में जिह्वा नहीं है और मैं बोलता हूँ, हम आपको हठधर्मी का पदक (Medal) देने के लिए विवश हैं और रह गयी यह बात कि 'आपको इस मन्त्र से दूसरे पति की गन्ध नहीं आती', सो मिश्रजी! गन्ध उसी को आया करती है जिसके पास नाक हो। जब आपका नाक ही कट चुका हो तो आपको गन्ध कहाँ से आये? आपकी तो अब ऐसी दशा हो गयी है कि—'चौबेजी गये थे छब्बेजी बनने, परन्तु दुब्बे ही रह गये।'

पोपजी—स्वामीजी का ऐसे समय में स्त्री को नियोग के लिए मनमाना उपदेश देना वेद और गृह्यसूत्रों के विरुद्ध है।

तोपजी—'अक्ल बड़ी या भैंस'[1]—यह लोकोक्ति आपपर ही चरितार्थ होती है। प्रथम तो आपने वेदमन्त्र पर आक्षेप करते हुए यह प्रश्न करके कि 'यह किस वेद के अनुसार है', अपनी मूर्खता का प्रमाण दिया है; और दूसरे, सनातनधर्म के ग्रन्थों के असभ्य एवं अशिष्ट लेख को स्वामीजी के साथ जोड़कर उनपर आक्षेप करके तो अपनी मूर्खता की पराकाष्ठा ही कर दी। जब आर्यसमाज और स्वामीजी इस मन्त्र को मरघटभूमि में बोलने का मानते ही नहीं तो फिर स्वामीजी पर यह आक्षेप करना ही मूर्खता है। हाँ, आश्वलायनगृह्यसूत्र में वर्णित विधि कि—''मुर्दे की गुदा में गज़ फेरकर उसके अन्दर से गन्दगी निकालना और दही तथा घी मिलाकर उसके अन्दर भरना, मृतक को बैलगाड़ी पर लादकर ले-जाना, स्त्री का मृतक पति के साथ सोना, श्मशानभूमि में गौ का वध करके उसकी चर्बी से मृतक के मुख और सिर को ढकना और गौ के सिर, हृदय, टाँग तथा पसली आदि अङ्गों को मृतक के प्रत्येक अङ्ग पर रखना और गौ का गीला चमड़ा सारी चिता पर उढ़ाकर फिर मुर्दे को जलाना''—यह सब वेद के विरुद्ध होने से पाप है; और स्वामीजी का लेख कि विधवा स्त्री को कुछ समय के पश्चात् पञ्चायत अपने निर्धारित विधि-विधान से पूछ ले कि वह ब्रह्मचारिणी रहना चाहती है अथवा दूसरा पति स्वीकार करना चाहती है, युक्तियुक्त और वेदानुकूल है।

पोपजी—यजुर्वेद अध्याय २३, मन्त्र १९ में महीधर के भाष्य के अनुसार घोड़े के पास सोने को बुरा समझना वेदमन्त्र के भाव को न समझने के कारण है। वेदमन्त्रों के भाव को समझने के लिए भी बुद्धि की आवश्यकता है। महीधर ने अश्वमेधयज्ञ के सभी मन्त्रों का

---

१. इस लोकोक्ति का शुद्ध स्वरूप है—'अक़्ल बड़ी या वयस्'। वयस् का अर्थ है अवस्था। बुद्धि और अवस्था की तो तुलना हो सकती है, अक़्ल और भैंस की नहीं।

भाष्य **'शतपथब्राह्मण'** और कल्पसूत्रों के आधार पर ही किया हुआ है, मनमाना नहीं, परन्तु वेदों के गहन भावों को जानने के लिए विचार की बड़ी भारी आवश्यकता होती है। इस मन्त्र का भाव हम विस्तारपूर्वक लिखते हैं, जिससे इस मन्त्र की वास्तविकता का ज्ञान हो सके—

''महारानी मरे हुए घोड़े के शरीररूप सूर्यनारायण की मूर्ति के निकट लेटी हुई सूर्य-मण्डल में सोने की-सी चमकवाले विष्णु भगवान् के स्वरूप को जिसका वर्णन छान्दोग्य-उपनिषद् में किया है, कहती है कि—हे ईश्वर! तुम और मैं दोनों दो आपके और दो मेरे इन चार चरणों को एक रूप से फैला दें। ईश्वर के दो चरण **ऋत और सत्य अर्थात् रयि और प्राण, सूर्य और चन्द्रमा, प्रकृति और पुरुष, माया और ब्रह्म हैं। महारानी के दो पग राजशक्ति और प्रजाशक्ति रूप हैं।** इन चार पगों को मिलाकर फैलाया जाए तो धर्म के अनुसार संसार की उन्नति हो सकती है, परन्तु महारानी का घोड़े के सम्बन्ध में कहना किसी प्रकार भी उचित नहीं हो सकता, क्योंकि घोड़े के चार पग होते हैं और दो पग महारानी के मिलाने से छह पग हो जाते हैं, परन्तु मन्त्र में केवल चार ही पगों का वर्णन है। इससे यही सिद्ध होता है कि मन्त्र का भाव भगवान् विष्णु से ही है, न कि मृतक पड़े हुए घोड़े से। आर्यसमाजी वेद के इस भाव को नहीं जानते। पुरोहित कहता है कि हे अश्व और महारानी! तुम दोनों यज्ञभूमि में कपड़े को फैलाओ, अर्थात् अश्व नाम सूर्यमण्डल में होनेवाले भगवान् और महारानी नाम भगवान् की मायाशक्ति—ये दोनों वस्त्रों से ढके हुए दीख पड़ें।''

बतलाइए, इस भाष्य में क्या बुराई है?

तोपजी—अजी मिश्रजी! इस महीधर के भाष्य को तो देखते ही आपके होशोहवास (चेतना और विवेक) उड़ गये और मन्त्र १९ की चर्चा करके व्याख्या बीसवें मन्त्र की आरम्भ कर दी? हमने तो यजुर्वेद अध्याय २३, मन्त्र १९ का सन्दर्भ देकर लिखा था कि ''यजमान की स्त्री सब पुरोहितों के सामने घोड़े के पास सोये।'' भला आपने हमारे इस लेख का क्या खण्डन किया? हाँ, इसका समर्थन कर दिया कि ''घोड़े के साथ सोने को बुरा नहीं समझना चाहिए,'' क्योंकि मन्त्रों का भाव बड़ा गूढ़ है, ''उसे समझने के लिए बुद्धि की आवश्यकता है।'' बस महाराज! हम ऐसी बुद्धि को दूर से ही प्रणाम करते हैं जो मृतक की गुदा-भञ्जन और घोड़े के साथ स्त्री के सोने के गूढ़ अर्थों को समझ सके। परमात्मा ऐसी बुद्धि का स्वामी सनातनधर्मियों को ही बनाये जो उपर्युक्त दोनों खानों से हीरे और जवाहरात निकाल सकें।

यदि शतपतब्राह्मण और कल्पसूत्रों ने भी इन मन्त्रों के भाष्य में आपके कथनानुसार वही धूल उड़ाई है, जो धूल महीधर ने उड़ाई है, तो ऋषि दयानन्दजी महाराज इन वाममार्गियों के पीछे लगकर वेदों के गन्दे और बेहूदा अर्थ करके वेदों को क्यों कलङ्कित करने लगे थे? उनका तो जन्म ही वेदों को कलङ्कित करनेवाले ग्रन्थों का खण्डन करके वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए हुआ था। इसीलिए उन्होंने महीधर आदि वाममार्गियों के अनर्गल भाष्यों का खण्डन करके निरुक्त, निघण्टु और वैदिक कोश के अनुसार वेदों का भाष्य करके लोगों को चकित कर दिया।

आपने मन्त्र के भाव को भी खूब समझाया, क्या कहने हैं! इन्हीं धूर्तताओं, मिथ्या भाषणों और बहानेबाजियों से अब सनातनधर्म की झण्डी फहराई जाएगी? क्यों श्रीमन्! यह सूर्यनारायण और विष्णु भगवान् इस भाष्य के कौन-से शब्दों का अर्थ है? और क्या मरे हुए घोड़े का शरीर अग्निमय दर्पण अथवा दूरबीन है कि जिसके साथ सोने से ही राजा

की स्त्री को सूर्यनारायण में विष्णु भगवान् के दर्शन होते हैं? बलिहारी जाएँ इस विज्ञान के! सनातनधर्म प्रतिनिधि सभा की ओर से विज्ञान की एक ऐसी प्रयोगशाला खुलवा दीजिए जिसमें सनातनधर्मी देवियाँ मरे हुए घोड़े के साथ सोकर सूर्यनारायण में विष्णु भगवान् के दर्शन कर लिया करेंगी और ज्ञात होता है कि वे दर्शन तब होते हैं जब दूरबीन की भाँति घोड़े के लिङ्ग को स्त्री अपनी योनि में प्रविष्ट कर ले। हाँ, ठीक है—कनैक्शन के बिना विद्युत् की लहर भी तो नहीं दौड़ सकती! शाबाश सनातनधर्म के सपूतो, शाबाश! साहस किये जाओ, बस विष्णु भगवान् तो वश में आये ही पड़े है! अच्छा, भला! यह तो बतलाओ कि इस मन्त्र में जो यह दो पग और चार पग का झगड़ा है, यह कहाँ से आया, जिसे सुलझाने के लिए आप पसीना-पसीना हो रहे हैं। जो कुछ मन्त्र में लिखा है उसका तो आपने समाधान ही नहीं किया। लीजिए, हम महीधरभाष्य के उस भाग को यहाँ शब्दशः लिख देते हैं—

''**प्रक्षालितेषु शोधितेषु पशूनां प्राणेषु पत्नीभिरध्वर्युणा यजमानेन प्राणशोधने कृते महीषी अश्वसमीपे शेते। अश्वदेवत्यम्। हे अश्व! गर्भधं गर्भं दधाति गर्मधं गर्भधारकं रेतः अहम् आ अजानि आकृष्य क्षिपामि। तं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि॥**

—यजुः० २३।१९ पर महीधरभाष्य

अर्थ—अपनी धर्मपत्नियों और पुरोहित के साथ यजमान से पशुओं के प्राण शुद्ध करने के पश्चात् यजमान की पटरानी घोड़े के पास सोती है। इस मन्त्र का देवता अर्थात् विषय 'अश्व' है। यजमान की स्त्री घोड़े से कहती है—हे अश्व! तेरे गर्भ को धारण करनेवाले बीज को खींचकर योनि में डालती हूँ और तू भी उस गर्भ के धारण करनेवाले बीज को खेंचकर डालता है।''

यह है वह लेख जिसमें यजमान की स्त्री को घोड़े के साथ सोकर इसके बीज को खेंचकर गर्भाधान करना लिखा है। अब इसमें बतलाइए सूर्यनारायण अथवा विष्णु भगवान् की चर्चा कहाँ है और इसमें दो पग और चार पग की चर्चा कहाँ है, अपितु इस भाष्य में तो स्पष्ट लिखा है कि इस मन्त्र का देवता ही अश्व=घोड़ा है। यदि इसमें विष्णु भगवान् का वर्णन होता तो मन्त्र का देवता विष्णु भगवान् होना चाहिए था।

मिश्रजी! तनिक चेतना में आइए, विवेक से काम लीजिए और इस प्रकार के गन्दे लेखों को तिलाञ्जलि दीजिए। अब लोग '**ब्राह्मणवाक्यप्रमाणम्**' वाले नहीं रहे। अब जनता शिक्षित है। स्वयं पढ़कर अर्थों को जान सकती है। अब धूर्तताओं, ठगियों और धोखेबाजियों से गुरुडम स्थिर नहीं रह सकता।

पोपजी—यजुर्वेद के तेईसवें अध्याय के बीसवें मन्त्र के भाष्य का प्रमाण देकर लाला मनसारामजी ने लिखा है कि यजमान की स्त्री घोड़े के लिङ्ग को पकड़कर स्वयं ही अपनी योनि में डाल ले। यह सर्वथा मिथ्या है और इस मन्त्र का ऐसा अनर्गल अर्थ करते हुए इन्हें तनिक भी लज्जा नहीं आई, अपितु झूठ लिखकर जनता को धोखा दिया है। इस मन्त्र का अर्थ करते हुए महीधर और उव्वट ने तो कुछ और ही लिखा है, जिसे नीचे दिखाया जाएगा। इस मन्त्र की पुष्टि में कात्यायनकल्पसूत्र २०।६।१६, शतपथब्राह्मण १३।२।५ में स्पष्ट लिखा है कि महीधर के भाष्य का तात्पर्य यह है कि जब मरे हुए घोड़े के शरीर के साथ महारानी का ग्राम्यधर्मरूप मैथुन अर्थात् संयोग होना सम्भव है और यज्ञ में काम-क्रोध आदि का त्याग करना वेदों की आज्ञा है और काम की इच्छा के बिना जीवित के साथ भी संयोग करना असम्भव है, तो मरे हुए घोड़े के साथ ऐसा काम कैसे हो सकता है? मूर्ख-से-मूर्ख व्यक्ति भी इस बात को भली-भाँति समझ सकता है कि क्या कोई स्त्री

मरे हुए घोड़े से भी समागम कर सकती है? कदापि नहीं। प्रतीत होता है कि महाशयजी की बुद्धि जवाब दे चुकी है।

लाला साहब! इसका तात्पर्य यह है कि अन्धकार को नष्ट करनेवाले सूर्य के प्रकाश का नाम शिश्न है। महारानी सूर्य के प्रकाश को अपने पास होनेवाले राजा के शरीर में स्थापित करती है अथवा यूँ समझो कि महारानी घोड़े की मूर्त्ति में सूर्यनारायण का ध्यान करती हुई सूर्य के तेज को मानसिक शक्ति से राजा में स्थापित करती है और महारानी सूर्य भगवान् से कहती है कि वेग से अपनी परिधि पर घूमनेवाले और वर्षा करनेवाले तथा चन्द्रमा के रेतः नाम अमृतरूप शक्ति व धर्मरूप प्रजा की रक्षा की शक्ति धारण करो।

सज्जनो! जिस अश्वमेधयज्ञ में राजा और महारानी को धर्मात्मा बनाने का यत्न हो, वहाँ काम की इच्छा से मरे हुए घोड़े के साथ मैथुन का विचार करना वेदों के विरोधी, नियोगी और कामी पुरुषों का ही काम हो सकता है।

तोपजी—हमने यजुर्वेद अध्याय २३, मन्त्र २० के महीधरभाष्य के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह सर्वथा सत्य लिखा है। इसमें एक शब्द भी ग़लत नहीं है। यह हमें भी शिकायत है कि मन्त्रों का इस प्रकार का अर्थ कोई महीधर-जैसा निर्लज्ज और वाममार्गी ही लिख सकता है। झूठ लिखकर जनता को धोखा देना पोप-मण्डल का काम है, हमारा यह काम नहीं। तनिक बतला तो दिया होता कि उव्वट और महीधर ने इस मन्त्र का क्या अर्थ किया है। ''महीधर और उव्वट ने तो कुछ और ही लिखा है''—इतना कहने से तो उलटा शक पड़ गया और आपने प्रतिज्ञा तो यह की कि महीधर और उव्वट का अर्थ नीचे दिखाया जाएगा, परन्तु आगे चलकर दिखाया नहीं। लीजिए, हम नीचे शब्दशः महीधर का भाष्य लिख देते हैं, जिससे आपकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो जाए—

''**अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति** (कात्या० २०।६।१६)। **महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति। अश्वदेवत्यम्। वाजी अश्वो रेतो दधातु मयि वीर्यं स्थापयतु। कीदृशो अश्वः। वृषा सेक्ता रेतोधाः रेतो दधाति रेतोधाः वीर्यस्य धारयिता॥**''

—यजुः० २३।२० पर महीधरभाष्य

अर्थ—यजमान की पटरानी स्वयं घोड़े के लिङ्ग को खेंचकर अपनी योनि में स्थापित करती है। इस मन्त्र का देवता अश्व=घोड़ा है। यजमान की स्त्री कहती है कि—घोड़ा मुझमें वीर्य स्थापित करे। वह घोड़ा कैसा हो? जो वीर्य को धारण करनेवाला हो। यह अर्थ महीधर ने कात्यायनकल्पसूत्र २०.६.१६ के अनुसार किया है।

यह है वह भाष्य जिसे आप छिपाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस भाष्य में न तो कहीं सूर्यनारायण का वर्णन है और न ही कहीं राजा के शरीर का चिह्न भी है, अपितु इस भाष्य में तो स्पष्ट लिखा है कि इस मन्त्र का देवता, अर्थात् विषय अश्व=घोड़ा है। यदि इसमें सूर्यनारायण का वर्णन होता तो इस मन्त्र का देवता आदित्य=सूर्य होता। फिर भला! इस प्रकार के सूर्यनारायण के प्रकाश और राजा के शरीर की कल्पित गप्पों से आप महीधर के भाष्य का समाधान कैसे कर सकते हैं? क्योंजी! सूर्यनारायण की मूर्त्ति का ध्यान मरे हुए घोड़े के शरीर में ही हो सकता है और वह भी उस समय जब स्त्री उसके लिङ्ग को अपनी योनि में धारण कर ले? छोटी-सी योनि में घोड़े का इतना लम्बा और मोटा लिङ्ग प्रविष्ट होने के पश्चात् उसे अपनी जान बचाने की चिन्ता लगी होगी अथवा सूर्यनारायण की मूर्त्ति स्मरण आती होगी?

क्योंजी! यह तो बताओ कि महीधर का भाष्य पहले हुआ है अथवा कात्यायनकल्पसूत्र और शतपथ पहले बने हैं? जब महीधरभाष्य कात्यायनकल्पसूत्र और शतपथ के पश्चात्

बना है तो फिर आपका यह लिखना कि इन ग्रन्थों में महीधरभाष्य का यह अर्थ लिखा है—पहाड़ जितना गप्प है या नहीं? हाँ, यह ठीक है कि अब जूतियाँ खाते-खाते सनातनियों को भी बुद्धि आ गयी है और अब से यह समझने लग पड़े हैं कि स्त्री का मरे घोड़े से संयोग असम्भव और मूर्खतापूर्ण कार्य है, अतः अब वे महीधरभाष्य को ही तिलाञ्जलि दे रहे हैं।

इस बात में हम भी आपका समर्थन करते हैं कि जो लोग अब तक इस प्रकार के अनर्गल भाष्य को मानते चले आये उनकी बुद्धि ही जवाब दे चुकी होगी। अस्तु, कोई बात नहीं, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। अब भी इस भाष्य को तिलाञ्जलि देकर ऋषि दयानन्द के भाष्य की शरण लो।

यह ठीक है कि जिस यज्ञ का उद्देश्य राजा-रानी और प्रजा को धर्मात्मा बनाना हो, उस यज्ञ में राजा की स्त्री को स्वयं घोड़े का लिङ्ग पकड़कर अपनी योनि में प्रविष्ट करके इससे गर्भधारण करने की प्रार्थना करने की आज्ञा देना वेदों के विरोधी, व्यभिचारी, कामी और वाममार्गी महीधर आदि सनातनधर्मियों का ही काम हो सकता है, किन्हीं धर्मात्मा और सज्जन लोगों का नहीं।

पोपजी—महीधर का ऐसा पवित्र भाव था, उसकी वास्तविकता को न समझकर मनमाना भाव निकालकर जनता को धोखा देना अच्छा नहीं था।

तोपजी—महीधर का भाष्य बेहूदा, गन्दा, सभ्यता और सदाचार से गिरा हुआ है। इसके भाव को अच्छा बनाकर और मनमाना जोड़-तोड़ मिलाकर उसका समाधान करके जनता को धोखा देना महापाप है। हम इसी महीधरभाष्य के कुछ गन्दे नमूने (उदाहरण) और प्रस्तुत करते हैं ताकि पाप का भण्डा सरे-बाजार फूट जाए—

१. यजुर्वेद २३।१९—यजमान की स्त्री यज्ञशाला में सब पुरोहितों के समक्ष घोड़े के साथ सोये और घोड़े से कहे कि हे अश्व! मैं तेरे बीज को खेंचकर अपनी योनि में डालती हूँ।

२. यजुर्वेद २३।२०—यजमान की स्त्री स्वयं घोड़े के लिङ्ग को खेंचकर अपनी योनि में प्रविष्ट करे और कहे कि हे अश्व! तू अपने बीज को मेरे गर्भ में स्थापित कर।

३. यजुर्वेद २३।२१—यजमान घोड़े को कहता है कि हे अश्व! तू मेरी स्त्री की टाँग ऊपर करके इसकी गुदा के ऊपर अपना वीर्य डाल दे, अर्थात् इसकी योनि में लिङ्ग चला दे।

४. यजुर्वेद २३।२२—पुरोहित लोग यज्ञ में कुमारियों और स्त्रियों से परिहास करते हैं कि जब स्त्रियाँ चलती हैं और जब लिङ्ग योनि में प्रविष्ट होता है तो योनि में हलाहल शब्द उत्पन्न होता है। कुमारी पुरोहित पर हँसती है कि छिद्रसहित तेरे लिङ्ग का जो अग्रभाग है, वह तेरे मुख के समान दृष्टिगोचर होता है।

५. यजुर्वेद २३।२८—जब मनुष्य स्त्री की योनि को दोनों हाथों से चौड़ा करके उसमें लिङ्ग प्रविष्ट करते हैं, तो अण्डकोश बाहर ऐसे नाचते हैं, जैसे गौ के खुर के बने हुए पानी के गढ़े में दो मछलियाँ नाचती हों।

आदि-आदि बीसियों मन्त्र प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनके अर्थ महीधर ने बेहूदा, गन्दे और दुराचार की शिक्षा देनेवाले दिये हैं। इस प्रकार के अनर्गल अर्थ सनातनधर्म के भाष्यों में ही मिल सकते हैं, ऋषि दयानन्दजी महाराज के वेदभाष्य में नहीं।

पोपजी—वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड अध्याय १४ के ३२ से ३८ तक के श्लोकों का प्रमाण देकर लाला मनसारामजी ने महारानी कौसल्या का पुरोहितों के द्वारा मरे हुए घोड़े

से समागम करवाने की जो चर्चा की है, वह सर्वथा असत्य और निराधार है। आर्यसमाजी टीकाकार रघुवीर दीघवेकर ने भी लाला मनसारामजीवाला अर्थ नहीं किया। उन्होंने भी केवल इस मरे हुए घोड़े की चर्बी से हवन करने का ही वर्णन किया है। रामायण में मरे हुए घोड़े से समागम करवाने की कहीं चर्चा नहीं है। ऐसे बेहूदा और झूठे प्रमाण देकर लोगों में अपने वेद और धर्मशास्त्र में अश्रद्धा पैदा करना महापाप है।

तोपजी—हमने वाल्मीकि रामायण से जो प्रमाण दिया है, वह सोलह आने सत्य है और आप तथा आपके कल्पित गवाह दोनों ही प्रथम कोटि के धूर्त और धोखेबाज हैं। वाल्मीकि रामायण में खुले शब्दों में समागम लिखा है। वेद और धर्मशास्त्रों के प्रति लोगों में अश्रद्धा उत्पन्न कराने का पाप उन्हीं पामर और पाजी लोगों पर है जो वेदों की इस प्रकार की टीका कर गये और जिन्होंने इस प्रकार की अनर्गल बातें पवित्र आर्षग्रन्थों में प्रक्षिप्त कर दीं। सम्भवतः यह आप-जैसे पोपों की करतूतें हैं। हम तो इस प्रकार के अश्लील और अनर्गल लेखों से लोगों को घृणा दिलाकर उन्हें सत्य वैदिक धर्म पर चलाने के लिए आप-जैसे पाखण्डी पापों का भाँडा सरे-बाजार फोड़ते हैं। लीजिए, प्रमाणों का अवलोकन कीजिए—

पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तदा। अश्वरत्नोत्तमं यत्र राज्ञो दशरथस्य ह॥ ३२॥
कौसल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः। कृपाणैर्विशशासैनं त्रिभिः परमया मुदा॥ ३३॥
पतत्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा। अवसद्रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया॥ ३४॥
होताऽध्वर्युस्तथोद्गाता हयेन समयोजयन्। महिष्या परिवृत्त्याथ वावातामपरां तथा॥ ३५॥
पतत्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः ऋत्विक्परमसम्पन्नः श्रपयामास शास्त्रतः॥ ३६॥
धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः। यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन्पापमात्मनः॥ ३७॥
हयस्य यानि चाङ्गानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः। अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत्समस्ताः षोडशर्त्विजः॥ ३८॥

—वा० रा० बाल० १४।३२-३८

अर्थ—पहले कहे हुए खम्भों में तीन सौ पशु और महाराज का अश्वरत्न बँधा था॥३२॥ पटरानी कौसल्याजी ने इस अश्व की परिचर्या-प्रदक्षिणा आदि करके तीन खड्गों से प्रसन्नतापूर्वक उसका वध किया॥३३॥ इसके पश्चात् कौसल्याजी वहाँ धर्म-प्राप्ति की कामना से स्वस्थचित्त हो इस घोड़े के पास एक रात तक रहीं॥३४॥ तब होता, अध्वर्यु और उद्गाताओं ने राजरानी कौसल्या और परिवृत्ति[1] सहित वावाता[1] का यज्ञ के घोड़े के साथ नियोग करवाया॥३५॥ तब वेद-विधि को जाननेवाले जितेन्द्रिय पुरोहित इस घोड़े की चर्बी से शास्त्रों के अनुसार होम करने लगे॥३६॥ नरपति दशरथ उचित समय पर सम्यक् प्रकार से अपने पाप कटने के लिए उस चर्बी के सुगन्धित धुएँ को सूँघने लगे॥३७॥ इसके पश्चात् सोलह ब्राह्मण पुरोहितों ने घोड़े के सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग काटकर अग्नि में विधिपूर्वक होम कर दिये॥३८॥

यह अनुवाद पण्डित ज्वालाप्रसादजी मुरादाबादी का है और इन श्लोकों का और कोई अर्थ हो भी नहीं सकता। इन श्लोकों में स्पष्टरूप से लिखा है कि पुरोहितों ने राजा की तीनों रानियों का घोड़े से समागम करवाया। यह कष्ट केवल राजा दशरथ की स्त्रियों को ही नहीं उठाना पड़ा, अपितु जब पाण्डवों ने अश्वमेधयज्ञ किया तो इसी विपत्ति का सामना द्रौपदी को भी करना पड़ा। देखिए, महाभारत में क्या लिखा है—

ततः संज्ञाप्य तुरगं विधिवद्याजकास्तदा। उपसंवेशयन् राजंस्ततस्तां द्रुपदात्मजाम्।
कलाभिस्तिसृभी राजन् यथाविधि मनस्विनीम्॥ —महा० आश्व० ८९।२-३

१. क्षत्रिय राजा की वैश्य स्त्री का नाम वावाता और शूद्रा स्त्री का नाम परिवृत्ति होता है। —लेखक

अर्थ—इसके पश्चात् यज्ञ करानेवाले ब्राह्मणों ने विधिपूर्वक घोड़े को मारकर उसके बाद हे राजन्! तीन घड़ी तक उस मननशील द्रौपदी को विधिपूर्वक उस घोड़े के साथ बैठाया।

तात्पर्य यह कि इस भौंडी रस्म की चर्चा प्रत्येक अश्वमेधयज्ञ में विद्यमान है। जिस सनातनधर्म में प्रत्येक अश्वमेधयज्ञ में यजमान की स्त्री का मरे हुए घोड़े के साथ नियोग कराया जाता हो, वह सनातनधर्म ऋषि दयानन्द के वेदानुकूल और उचित लेख पर क्या आक्षेप कर सकता है? हमें यह पढ़कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई है कि आप लोगों को भी किसी बात के सम्भव और असम्भव होने के परखने का विचार उत्पन्न होने लगा है और परमात्मा की कृपा से वह दिन निकट आनेवाला है, जब आप लोग असम्भव, बेहूदा और गन्दी पौराणिक बातों को छोड़कर वैदिक धर्म की शरण में आ जाएँगे, अन्यथा यह बतलाएँ कि क्या सनातनधर्म में कोई बात असम्भव है? कदापि नहीं। लीजिए, हम आपको सनातनधर्म में मृतक के सन्तान उत्पन्न करने की कथा सुनाते हैं। महाभारत आदिपर्व अध्याय १२१ में कथा आती है कि व्युषिताश्व नाम का एक राजा था। उसकी स्त्री का नाम भद्रा था। उन स्त्री-पुरुष दोनों में ही परस्पर घनिष्ठ प्रेम था। अकस्मात् उस राजा की मृत्यु हो गयी। भद्रा बहुत दुःखी हुई और उस मृत पति को छाती से लगाकर बड़ा भारी विलाप करने लगी और कहने लगी कि हे पतिदेव! आप मुझे दर्शन दें। इसके पश्चात् क्या हुआ, तनिक पढ़िए—

एवं बहुविधं तस्यां विलपन्त्यां पुनः पुनः। तं शवं सम्परिष्वज्य वाक् किलान्तर्हिताब्रवीत्॥ ३१॥
उत्तिष्ठ भद्रे गच्छ त्वं ददानीह वरं तव। जनिष्याम्यपत्यानि त्वय्यहं चारुहासिनि॥ ३२॥
आत्मकीये वरारोहे शयनीये चतुर्दशीम्। अष्टमीं वा ऋतुस्नाता संविशेथा मया सह॥ ३३॥
एवमुक्ता तु सा देवी तथा चक्रे पतिव्रता। यथोक्तमेव तद्वाक्यं भद्रा पुत्रार्थिनी तदा॥ ३४॥
सा तेन सुषुवे देवी शवेन भरतर्षभ। त्रीन् शाल्वांश्चतुरो भद्रान् भरतसत्तम॥ ३५॥

—महा० आदि० १२१। ३१-३५[१]

अर्थ—इस प्रकार उस शव को छाती से लगाकर बार-बार बहुत प्रकार से विलाप करने पर एक गुप्त वाणी हुई॥३१॥ हे भद्रे! उठ और जा। मैं तेरे लिए इस संसार में वर देता हूँ। हे सुन्दर हँसी हँसनेवाली! तुझमें मैं स्वयं सन्तान उत्पन्न करूँगा॥३२॥ हे प्रिय! चौदस या अष्टमी को ऋतु-स्नान से निवृत्त होकर अपने पलँग पर तू मेरे शव के साथ सोएगी॥३३॥ इस प्रकार की बात सुनकर उस पतिव्रता देवी ने वैसा ही किया, क्योंकि वह पुत्र की इच्छा रखनेवाली थी॥३४॥ हे भरतकुल के वीर और धर्मात्मा राजन्! उस देवी भद्रा ने उस शव से तीन शाल्व और चार मद्र कुल के—सात पुत्र उत्पन्न किये॥३५॥

कहिए, पोपजी महाराज! यह शवों के साथ सोना, उनसे समागम करना और उनसे सन्तान उत्पन्न करना सनातनधर्म में ही सम्भव है, आर्यसमाज इस प्रकार की असम्भव, अनर्गल और पाजीपन की बातों को दूर से ही धता बता देता है। यदि आप भी इनसे छुटकारा चाहते हैं, तो वैदिक धर्म की शरण में आ जाएँ।

पोपजी—महाशयजी! सनातनधर्मी भाष्य में सभ्यता के विरुद्ध कोई लेख नहीं। यदि आप सभ्यता और सदाचार से गिरा हुआ वेदों का अर्थ देखना चाहते हैं तो स्वामी दयानन्द के भाष्य ही को देखें, आपकी इच्छा पूर्ण हो जाएगी।

तोपजी—हाँजी! ठीक है। महीधर के भाष्य में से तो सदाचार और सभ्यता के फूल झड़ रहे है! यदि घोड़े के साथ सोना, उसके लिङ्ग को अपनी योनि में प्रविष्ट करना, पुरोहितों

१. गीताप्रेस संस्करण में यह प्रकरण अध्याय १२० में है, श्लोक-संख्या ३२ से ३६ है। —सम्पादक

का स्त्रियों और कुमारियों के साथ गन्दे परिहास करना सभ्यता और सदाचार में सम्मिलित है तो पता नहीं असभ्यता, दुराचार और गुण्डापन किस चिड़िया का नाम है।

रह गयी यह बात कि स्वामी दयानन्दजी के भाष्य में सदाचार से गिरी हुई बातें हैं, तो उनकी भी अभी परीक्षा हो जाएगी कि वे बातें भाष्य में हैं अथवा आपके पौराणिक मस्तिष्क की उपज हैं। ऋषि दयानन्दजी के लेखों में से गन्दी बातों की खोज करना ऐसे ही असम्भव है जैसे कि पुराणों और महीधरभाष्य में उत्तम बातों का मिलना असम्भव है।

पोपजी—यजुर्वेद अध्याय ६, मन्त्र १४ का भाष्य करते हुए स्वामीजी लिखते हैं कि हे शिष्य! मैं तेरे लिङ्ग और तेरी गुदा-इन्द्रिय को पवित्र करता हूँ।

तोपजी—वाह मिश्रजी वाह! खोदा पहाड़ और निकला चूहा। बस, यही स्वामी दयानन्दजी के भाष्य से सभ्यता और सदाचार के विरुद्ध लेख दिखलाना चाहते थे? भला! यह तो बताएँ कि यदि कोई गुरु शिष्य के लिङ्ग और गुदा-इन्द्रिय को पवित्र करे अथवा पवित्र करने का उपदेश करे तो इसमें गन्दी बात कौन-सी हुई? माता-पिता जो बच्चे के आदि-गुरु हैं, वे सदा ही बच्चे की गुदा और लिङ्ग को साफ़ करते हैं। इसी प्रकार यदि गुरु भी आवश्यकता पड़ने पर साफ़ कर दे तो पाप क्या हुआ? अब हम ऋषि दयानन्द के भाष्य को शब्दशः लिख देते हैं, जिससे पोपजी की पोल सामने आ जाए—

''**पदार्थ**—हे शिष्य! मैं विविध शिक्षाओं से तेरी, जिससे बोलता है उस वाणी को शुद्ध अर्थात् सद्धर्मानुकूल करता हूँ। तेरे जिससे देखता है उस नेत्र को शुद्ध करता हूँ, तेरी जिससे नाड़ी आदि बाँधे जाते हैं उस नाभि को पवित्र करता हूँ। तेरे जिससे मूत्रोत्सर्गादि किये जाते हैं उस लिङ्ग को पवित्र करता हूँ। तेरे जिससे रक्षा की जाती है उस गुदेन्द्रिय को पवित्र करता हूँ। तेरे समस्त व्यवहारों को पवित्र, शुद्ध अर्थात् धर्म के अनुकूल करता हूँ तथा गुरुपत्नीपक्ष में सर्वत्र 'करती हूँ' यह योजना करनी चाहिए।

भावार्थ—गुरु और गुरुपत्नियों को चाहिए कि वेद और उपवेद तथा वेद के अङ्ग और उपाङ्गों की शिक्षा से देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और मन की शुद्धि, शरीर की पुष्टि तथा प्राण की सन्तुष्टि देकर समस्त कुमार और कुमारियों को अच्छे-अच्छे गुणों में प्रवृत्त करावें।''

मिश्रजी! अब इस भाष्य में से बताएँ कि सभ्यता और सदाचार से गिरी हुई कौन-सी बात है? यहाँ पर 'पवित्र करता हूँ' का तात्पर्य भी विद्यमान है कि धर्म के अनुकूल करता हूँ और किस प्रकार पवित्र करता हूँ, यह भी स्पष्ट है कि ''अनेक प्रकार की शिक्षाओं से पवित्र करता हूँ, अर्थात् सद्धर्म के अनुकूल करता हूँ।'' कृपा करके इसमें आक्षेपजनक बात बतला दें। यदि नहीं तो इधर आएँ हम आपको महीधरभाष्य से सभ्यता और सदाचार से गिरी हुई बातें बतलाते हैं—

यजुर्वेद २३।२९ के भाष्य में महीधर लिखते हैं कि ''जब तक यज्ञशाला में पुरोहित लोग हँसते और अण्डकोश नाचा करते हैं तब तक घोड़े का लिङ्ग पटरानी की योनि में काम करता है और इन पुरोहितों के भी लिङ्ग स्त्रियों की योनियों में प्रविष्ट होते हैं और जब लिङ्ग खड़ा होता है तब कमल के समान हो जाता है। जब स्त्री-पुरुष का समागम होता है तब पुरुष ऊपर और स्त्री पुरुष के नीचे होने से थक जाती है।''

कहिए, मिश्रजी महाराज! अब भी होश आया या नहीं?

पोपजी—यजुर्वेद अध्याय १९, मन्त्र ४८ में स्वामीजी लिखते हैं कि 'हे पिता आदि लोगो! आप हमारे बीच में गर्भ धारण करो।' इस मन्त्र में लड़की का अपने पिता आदि से वीर्य के द्वारा गर्भ धारण करवाने की प्रार्थना की गई है।

पोपजी—आपकी हठधर्मी की भी पराकाष्ठा हो गयी, अन्यथा इस मन्त्र में तो गर्भ धारण करने का वर्णन ही नहीं है। देखिए—

"**पदार्थ**—अग्नि के समान प्रकाशमान पति मेरे लिए बहुत सुख देनेवाली प्रजा को करे, मेरा जो यह उत्पत्ति करने का निमित्त लेने-देने योग्य दश सन्तानों का उत्पन्न करनेहारा, सब समुदायों से सहित जिससे आत्मा का सेवन, प्रजा का सेवन, पशु का सेवन, लोकों का अच्छे प्रकार सेवन और अभय का दानरूप कर्म होता है, इस सन्तान को करे, वह सुख के लिए होवे। हे माता-पिता आदि लोगो! आप हमारे बीच में प्रजा, अन्न, दूध और वीर्य [शक्ति, पराक्रम] को धारण करो।

भावार्थ—जो स्त्री-पुरुष पूर्ण ब्रह्मचर्य से सकल विद्याओं की शिक्षाओं का संग्रह कर परस्पर प्रीति से स्वयंवर-विवाह करके ऋतुगामी होकर विधिपूर्वक प्रजा की उत्पत्ति करते हैं, उनकी वह प्रजा शुभ-गुणयुक्त होकर माता-पिता आदि को निरन्तर सुखी करती है।"

यह है इस मन्त्र का ऋषि दयानन्दकृतभाष्य। इसमें कहीं भी गर्भधारण का लव-लेश भी नहीं है। प्रतीत होता है कि पोपजी ने वीर्य शब्द देखकर ही गर्भ-धारण की कल्पना कर ली है, जोकि सर्वथा ग़लत है—

१. क्योंकि पति और सन्तान का मन्त्र के आरम्भ में ही वर्णन हो चुका है, अतः यहाँ पर माता-पिता आदि से अन्न, दूध आदि की प्रार्थना के साथ वीर्य की प्रार्थना से शक्ति की प्रार्थना ही अभीष्ट है।

२. यहाँ पिता के साथ माता शब्द भी विद्यमान है और माता से प्रार्थना में वीर्य का अर्थ शक्ति, पराक्रम ही सम्भव है, मणि नहीं।

३. यदि वीर्य का अर्थ मणि ही मानकर विचार किया जाए, तो भी जिनसे प्रार्थना की गयी है उनमें माता-पिता के साथ 'आदि' शब्द भी विद्यमान है, जिसमें पति भी आ जाता है। उस अवस्था में यदि माता-पिता, पति आदि से प्रजा, अन्न, दूध और वीर्य की प्रार्थना मानी जाए, तो भी जो जिसके योग्य होगा वह उससे माँगने के हिसाब से माता-पिता से दूध-अन्न और पति से प्रजा, वीर्य की प्रार्थना उचित होगी।

४. भावार्थ में स्पष्टरूप से मन्त्र की व्याख्या विद्यमान है—यहाँ पर भी गर्भधारण, पति-पत्नी का स्वयंवर विवाह करके ही वर्णित किया गया है, अतः पोपजी की यह कल्पना कि इस मन्त्र में लड़की पिता से गर्भधारण करने के लिए प्रार्थना करती है सर्वथा निर्मूल, ग़लत और पोपजी के कमीनेपन को प्रकट करती है।

अजी मिश्रजी! ऋषि दयानन्दजी के पवित्र भाष्य को तोड़-मरोड़कर गन्दा प्रकट करने का प्रयत्न न करें। यदि आको गन्दगी ही वाञ्छनीय है तो महीधर का भाष्य आपके लिए गन्दगी सुलभ कराने के लिए पर्याप्त है। लीजिए, महीधरजी यजुर्वेद अध्याय २३, मन्त्र २४ का भाष्य यूँ करते हैं—

"अब ब्रह्मा परिहास करता हुआ यजमान की स्त्री से कहता है कि जब तेरी माता और पिता ने पलंग के ऊपर चढ़कर अपने मुट्ठी के बराबर लिङ्ग को तेरी माता की योनि में डाला, तब तेरी उत्पत्ति हुई। इसने ब्रह्मा से कहा कि तेरी उत्पत्ति भी ऐसे ही हुई है, इससे दोनों की उत्पत्ति समान है।"

यह है महीधरभाष्य जिसमें से आपका पेट गन्दगी से अच्छी प्रकार भर सकता है। खूब आनन्द लूटिए!

पोपजी—और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ २९८ पर स्वामीजी ने स्पष्ट लिखा है कि

पिता अपनी पुत्री में गर्भधारण करे।

तोपजी—क्या ईमानदारी इसी का नाम है कि किसी ग्रन्थ का नाम लिखकर उसके नाम से झूठ-मूठ मनमाना पाठ लिख दिया? भला! तनिक ईमानदारी से बतलाएँ कि इस स्थान पर स्वामीजी ने पुराणों के अनर्गल और भौंडे लेख का खण्डन किया है या अपना सिद्धान्त बतलाया है? लीजिए, हम पुस्तक से शब्दशः पाठ उद्धृत कर देते हैं—

"एवमेव ब्रह्मवैवर्तादिषु मिथ्यापुराणसंज्ञासु किं च नवीनेषु मिथ्या भूता बह्व्यः कथा लिखितास्तासां स्थालीपुलाकन्यायेन स्वल्पाः प्रदर्श्यन्ते। तत्रैवमेका कथा लिखिता— 'प्रजापतिर्ब्रह्मा चतुर्मुखो देहधारी स्वां सरस्वतीं दुहितरं मैथुनाय जग्राहेति'। सा मिथ्यैवास्ति।

—ऋग्वेदा० ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः

अर्थ—इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ जोकि व्यासजी के नाम से सम्प्रदायी लोगों ने रच लिये हैं, उनका नाम पुराण कभी नहीं हो सकता, किन्तु इन्हें नवीन कहना उचित है। इनमें बहुत-सी ग़लत कथाएँ लिखी हुई हैं। उनमें से थोड़ी-सी पतीली में से एक चावल देखने की भाँति दिखाते हैं। वहाँ यूँ लिखा है कि शरीरधारी, चारमुखवाले ब्रह्मा ने अपनी पुत्री सरस्वती को मैथुन करने के लिए पकड़ लिया—यह सर्वथा ग़लत है।"

अब आप सोच-विचारकर बतलाएँ कि यह स्वामीजी का अपना सिद्धान्त है अथवा पुराणों की बेहूदा और सभ्यता से गिरी हुई झूठी कथाओं का खण्डन है? परमात्मा आपकी बुद्धि को सुमार्ग पर चलाए।

पोपजी—यजुर्वेद अध्याय २१, मन्त्र ६० में दुःख-नाश करने के लिए बकरी से भोग और वाणी के लिए भेड़ और भोग-विलास के लिए बैल से भोग करना लिखा है।

तोपजी—बलिहारी जाएँ आपकी बुद्धि पर! इसी सामर्थ्य पर आर्यसमाज के मुकाबले पर आये हैं? तनिक मस्तिष्क को ठीक करवाएँ। क्या भोग का अर्थ केवल मैथुन ही है? यदि भोग मैथुन के अर्थ में ही आता है तो जब कोई पुजारी देवी को भोग लगाता है तो क्या इसके यह अर्थ होंगे कि वह देवी से मैथुन करता है? श्रीमन्! भोग का तात्पर्य उचित प्रयोग है और यही ऋषि दयानन्द ने लिखा है—

"**पदार्थ**—हे मनुष्यो! जैसे आज भली-भाँति समीप स्थिर होनेवाला और दिव्य गुणवाला पुरुष वट वृक्ष आदि के समान जिस-जिस प्राण और अपान के लिए दुःख विनाश करनेवाले छेरी आदि पशु से, वाणी के लिए मेंढा से, परमैश्वर्य के लिए बैल से भोग करें—उपयोग लें। उन सुन्दर, चिकने पशुओं के प्रति पचाने योग्य वस्तुओं का ग्रहण करें। प्रथम उत्तम संस्कार किये हुए विशेष अन्नों से वृद्धि को प्राप्त हों, प्राण-अपान, प्रशंसित वाणी, भली-भाँति रक्षा करनेहारा परम ऐश्वर्यवान् राजा, जो अर्क खींचने से उत्पन्न हों, उन ओषधिरसों को पीवें वैसे आप होओ।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जो मनुष्य छेरी आदि पशुओं के दूध आदि, प्राण-अपान की रक्षा के लिए चिकने और पके हुए पदार्थों का भोजन कर, उत्तम रसों को पीके वृद्धि को पाते हैं, वे अच्छे सुख को प्राप्त होते हैं" ॥६०॥

पोपजी महाराज! ऋषि दयानन्दजी के भाष्य को तनिक ध्यानपूर्वक पढ़ें। ऋषि ने 'भोग करें' का स्पष्ट अर्थ लिख दिया है कि 'उपयोग लें', अर्थात् उचितरूप में प्रयोग करें। भला! अब बतलाएँ तो सही, इसमें कौन-सी बात गन्दी और आक्षेप-योग्य है? आपको ऋषि दयानन्दजी के भाष्य में गन्दी बातों का मिलना असम्भव है। ऐसी गन्दी बातें महीधर-भाष्य में ही मिलनी सम्भव हैं। तनिक ध्यानपूर्वक पढ़ें। महीधर यजुर्वेद अध्याय २३, मन्त्र ३०

का भाष्य यूँ करता है—

"सेवकपुरुष शूद्रदास से कहता है कि जब शूद्रा के साथ वैश्य व्यभिचार कर लेता है तब वह इस बात को तो नहीं विचारता कि मेरी स्त्री वैश्य के साथ जारकर्म करने से पुष्ट हो गयी, किन्तु वह इस बात को विचारकर दुःख मानता है कि मेरी स्त्री व्यभिचारिणी हो गयी। अब वह दाससेवक को उत्तर देती है कि जब शूद्र वैश्य की स्त्री के साथ व्यभिचार करता है, तब वैश्य भी इस बात का अनुमान नहीं करता कि मेरी स्त्री पुष्ट हो गयी, किन्तु नीच ने समागम कर लिया, इस बात के विचार से क्लेश मानता है।"

कहिए, मिश्रजी महाराज! यह है महीधर का गन्दा और सभ्यता एवं सदाचार से गिरा हुआ भाष्य और दिखलाऊँ अथवा इतना ही पर्याप्त है? स्मरण रखिए, यदि फिर कभी आपने ऋषि दयानन्द के भाष्य को तोड़-मरोड़कर भ्रान्ति फैलाने का प्रयत्न किया तो सनातनधर्म के भाष्य की वे धज्जियाँ उड़ाई जाएँगी कि आप जीवनभर याद करेंगे।

पोपजी—यजुर्वेद अध्याय १९, मन्त्र २० के भावार्थ में स्वामीजी ने लिखा है कि जो संसार में बहुत पशुओंवाला हवन करके, हवन से बचे हुए मांस को खानेवाला, वेदों को जाननेवाला यज्ञकर्त्ता पुरुष है, वह प्रशंसा प्राप्त करता है।

तोपजी—मिश्रजी! आपको पक्षपात ने सर्वथा अन्धा क्यों बना दिया? भला! ऋषि दयानन्दजी के भाष्य में मांस खाने की चर्चा कहाँ है? हम ऋषि का संस्कृतभाष्य भाषाभाष्य-सहित उद्धृत करते हैं—

"**भावार्थ**—(योऽत्र बहुपशुः) जो इस संसार में बहुत पशुओंवाला, (हविर्भुक्) होम करके हुतशेष का भोक्ता (वेदवित्) वेद का जाननेवाला (सत्क्रियः) सत्यक्रिया का कर्ता (मनुष्यो भवेत्) मनुष्य होवे (सः प्रशंसामाप्नोति) वह प्रशंसा को प्राप्त होता है।"

ध्यानपूर्वक पढ़कर बतलाएँ कि इसमें मांस खाने का वर्णन कहाँ है? परन्तु मांस-भक्षक गिद्ध लोगों को प्रत्येक स्थान पर मांस-ही-मांस दृष्टिगोचर होता है। परमात्मा आपको सुमति प्रदान करें। यदि आपको मांस से अधिक प्रेम है, तो ऋषि दयानन्दजी को कलङ्कित करने की क्या आवश्यकता है? आपकी तृप्ति के लिए सनातनधर्म में ही इसे खाने के लिए पर्याप्त प्रमाण मिल सकते हैं। लीजिए, इस समय हम आपकी आवश्यकता को पूरा करने के लिए एक प्रमाण लिख देते हैं—

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः। स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम्॥

—मनु० ५.३५

अर्थ—जो ब्राह्मण यज्ञ, श्राद्ध और मधुपर्क में आये हुए मांस को नहीं खाता वह इक्कीस जन्म तक पशु की योनि में जाता है।

यदि आपको अधिक आवश्यकता हो तो सब पशुओं के नाम गिना सकता हूँ, फिर आपको जिस पशु के मांस की आवश्यकता हो, रुचिपूर्वक उसका सेवन करें। पौराणिक साहित्य की विद्यमानता में आपको रोकनेवाला कौन है?

पोपजी—जब स्वामीजी के भाष्य में सदाचार से गिरे हुए ऐसे उपदेश भरे पड़े हों, तो आर्यसमाजियों को फिर किस बात की कमी है? मांस के हवन करने की आज्ञा और हवन से बचे हुए मांस के खाने की आज्ञा स्वामीजी ने स्वयं वेद में दे दी है।

तोपजी—सदाचार से गिरी हुई बातें महीधरभाष्य में ही मिल सकती हैं। ऋषि दयानन्दजी का भाष्य सत्य के उपदेशों से भरपूर है। यज्ञों में पशुओं को मारकर उनका होम करना और बचा हुआ मांस खाना भी सनातनधर्म के ही भाष्यों और अन्य ग्रन्थों में मिल

सकता है। ऋषि दयानन्दजी के वेदभाष्य और उनके अन्य ग्रन्थों में इस प्रकार के लेखों का मिलना असम्भव है—यह बात हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं।

पोपजी—इतना ही नहीं, स्वामी दयानन्दजी के अपने पहले सत्यार्थप्रकाश में जिसे स्वामीजी ने स्वयं छपवाया था, इसके पृष्ठ ४५ पर लिखा है कि वेद, ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थों में चार प्रकार के पदार्थ हवन के लिए लिखे हैं, उनमें से मांस का हवन करना भी वैध है और इसी सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ १४८ पर लिखा है कि वेद की विधि के अनुसार अश्वमेधयज्ञादि अवश्य करने चाहिएँ, इनके करने से संसार का बड़ा उपकार होता है, आदि-आदि।

तोपजी—स्वामीजी का प्रथम सत्यार्थप्रकाश आप-जैसे पोप की निगरानी में छपा, जिसने उसमें वेद के विरुद्ध अश्वमेध, गोमेधयज्ञ और मांस आदि की चर्चा का प्रक्षेप अपने स्वार्थ के कारण कर दिया। जब स्वामीजी को पता लगा तो स्वामीजी ने तुरन्त विज्ञापन के द्वारा उसका खण्डन कर दिया और दूसरा सत्यार्थप्रकाश अपनी देख-रेख में छपवाया। पहले सत्यार्थप्रकाश की जितनी प्रतियाँ मिल सकीं उन सबको अग्नि की भेंट कर दिया।

श्रीमन्! जिस पुस्तक को स्वयं स्वामीजी ने विज्ञापन द्वारा रद्द कर दिया और जिसे सारा आर्यसमाज सम्मिलितरूप से अप्रामाणिक मानता है, उसका प्रमाण देकर पुराणों में वर्णित मांस-भक्षण और पशुओं की बलि को आर्यसमाज के गले मढ़ना ईमानदारी में सम्मिलित नहीं है। आर्यसमाज इस प्रकार की पुस्तकों को जिनमें पशुवध और मांस-भक्षण की चर्चा हो, मिट्टी का तेल डालकर दियासलाई दिखा देता है। क्या आप भी तैयार हैं?

आदरणीय पाठकगण! हमने इस निबन्ध में सिद्ध कर दिया है कि स्वामीजी ने 'उदीर्ष्व नारि' इस मन्त्र का अर्थ करते हुए पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा स्त्री को दूसरे पति की आज्ञा दी है। इस विषय में सायणाचार्य के भाष्य से भी स्वामीजी का समर्थन होता है और मरे हुओं के साथ सोना और मृतकों से सन्तान उत्पन्न करना सनातनधर्म के भाष्य और ग्रन्थों में ही मिल सकता है, स्वामीजी के लेखों में इसका लव-लेश भी नहीं है, तथा स्वामीजी का भाष्य सभ्यता और सदाचार का पाठ पढ़ानेवाला है तथा सायणाचार्य और महीधर के भाष्य सदाचार और सभ्यता से कोसों दूर हैं। मांस खाने और यज्ञ में पशुओं के मारने की आज्ञा भी सनातनधर्म के वेदभाष्यों तथा अन्य ग्रन्थों में विद्यमान है। संक्षेप में, स्वामीजी का किया हुआ इस वेदमन्त्र (उदीर्ष्व नारि) का अर्थ निरुक्त, निघण्टु, अष्टाध्यायी और महाभाष्य के सर्वथा अनुकूल और बुद्धि, विवेक, सभ्यता और सदाचार के भी अनुकूल है, अतः स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ सर्वथा वेद के अनुकूल हैं और पोपजी का यह प्रश्न वेद, बुद्धि और विवेक के तथा सभ्यता और सदाचार के विरुद्ध है।

५. सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य किस अवस्था में उत्पन्न हुए?

सिद्धान्त—

प्रश्न—आदि-सृष्टि में मनुष्य आदि की बाल्य, युवा वा वृद्धावस्था में सृष्टि हुई थी अथवा तीनों में?

उत्तर—युवावस्था में, क्योंकि जो बालक उत्पन्न करता तो उनके पालन के लिए दूसरे मनुष्य आवश्यक होते और जो वृद्धावस्था में बनाता तो मैथुनी सृष्टि न होती, इसलिए युवावस्था में सृष्टि की है। —सत्यार्थप्रकाश, अष्टमसमुल्लास

*

पोपजी—स्वामीजी ने लिखा है कि सृष्टि के आदि में मनुष्य जवान पैदा हुए। यदि

स्वामीजी का यह लेख वेदविरुद्ध नहीं और आपका दावा यह है कि यह लेख वेदानुकूल है तो आप बताएँ कि सृष्टि के आरम्भ में युवा पुरुष और स्त्रियों के पैदा होने में कौन-सा वेदमन्त्र प्रमाण है ?

तोपजी—श्रीमन्! आपकी प्रतिज्ञा तो यह थी कि 'स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं', ऐसी अवस्था में आपका यह कर्त्तव्य था कि आप कोई वेदमन्त्र प्रस्तुत करके यह सिद्ध करते कि वेद ने यह लिखा है कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य बच्चे और वृद्ध उत्पन्न हुए, अतः स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं, परन्तु आपने कोई वेदमन्त्र देकर अपने दावे को सिद्ध नहीं किया। आपका हमसे यह पूछना कि 'सृष्टि के आरम्भ में नौजवान पुरुष और स्त्रियों के पैदा होने में कौन-सा वेदमन्त्र प्रमाण है', इस बात को सिद्ध करता है कि आप स्वामीजी के लेख के विरुद्ध कोई वेदमन्त्र प्रस्तुत नहीं कर सकते, अतः आपकी प्रतिज्ञा ग़लत सिद्ध हुई और न्यायशास्त्र के अनुसार आप 'प्रतिज्ञाहानि-निग्रहस्थान' में फँसकर शास्त्रार्थ-समर में पराजित हो गये।

पोपजी—लाला साहब! सनातनधर्म की अवस्था दया के योग्य नहीं, अपितु यह दशा आर्यसमाज की ही है। सनातनधर्म के विद्वान् सदा, प्रत्येक विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार रहते हैं। सनातनधर्म ने कभी भी किसी विषय पर शास्त्रार्थ करने से टालमटोल नहीं किया।

तोपजी—निःसन्देह सनातनधर्म की अवस्था दया के योग्य ही है, क्योंकि अब ये लोग किसी निर्धारित विषय पर शास्त्रार्थ करने का सामर्थ्य नहीं रखते, प्रत्येक स्थान पर यही कोलाहल करते हैं कि हम तो इस विषय पर शास्त्रार्थ करेंगे कि 'स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं', क्योंकि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों में सैकड़ों विषय हैं, इसलिए ये लोग दस मिनट में बिना किसी दावे को सिद्ध किये बीसियों प्रश्न कर डालते हैं। जब इनसे पूछा जाता है कि किसी वेद का मन्त्र देकर स्वामी दयानन्दजी के लेख को उसके विरुद्ध सिद्ध करो तो ये लोग सनातनधर्म की जय का शोर मचाकर अपनी जान बचाकर भागते ही दृष्टिगोचर होते हैं। प्रत्येक उत्सव पर सनातनधर्म के पण्डितों का यही बेसुरा राग सुनाई देता है, इससे बढ़कर इनकी दयनीय अवस्था और क्या हो सकती है! यदि हमारा कहना ग़लत है तो महारथी बनिए और विषय निश्चित करके शास्त्रार्थ करके सनातनधर्म के ललाट से यह स्याही का दाग़ दूर करने का प्रयत्न कीजिए।'

पोपजी—सृष्टि के आदि की उत्पत्ति का सिद्धान्त आर्यसमाज और सनातनधर्म का एक ही मानना लाला साहब की भूल है। आर्यसमाजी जवान-जवान जोड़ों की उत्पत्ति मानते हैं, परन्तु सनातनधर्मी वेदविरुद्ध ऐसे सिद्धान्त को नहीं मानते। लाला साहब ने सनातनधर्म और आर्यसमाज का सिद्धान्त एक बतलाकर जनता को धोखा दिया है। धोखा देना आर्यसमाजी अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं।

तोपजी—आर्यसमाज का काम धोखा देना नहीं, अपितु यह काम तो सनातनधर्म को अपने पूर्वजों की सम्पत्ति के रूप में उत्तराधिकार में मिला हुआ है, इसीलिए तो आप भी दिन-दहाड़े जनता को धोखा दे रहे हैं। यदि सृष्टि के आरम्भ में युवावस्था में उत्पत्ति का सिद्धान्त आर्यसमाज और सनातनधर्म का एक ही बताना हमारी भूल है, तो आपको बताना चाहिए था कि इसमें मतभेद क्या है ? यदि आर्यसमाज जवान-जवान जोड़ों की उत्पत्ति मानते हैं, तो क्या सनातनधर्मी बच्चों और बूढ़ों की उत्पत्ति मानते हैं ? कहने का तात्पर्य यह कि आपको कुछ तो सनातनधर्म का सिद्धान्त इस सम्बन्ध में लिखना चाहिए था। यदि हमारा सिद्धान्त वेदविरुद्ध है, तो आपको अपना वेदानुकूल सिद्धान्त लिखना चाहिए था, परन्तु

लिखते कहाँ से जबकि सिद्धान्त वास्तव में एक ही है और कोई मतभेद नहीं है? परन्तु आप लोगों ने झूठ बोलना, झूठ लिखना और वितण्डावाद से जनता को धोखे में रखना अपना परमधर्म मान रक्खा है, जो अब इस प्रकाश के युग में बहुत दिनों तक न चल सकेगा।

पोपजी—और जवान-जवान जोड़ों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आपके स्वामीजी ने तर्क भी खूब दिया कि बच्चों या बूढ़ों का पालन-पोषण कौन करता? कदाचित् स्वामीजी को सर्वान्तर्यामी प्रभु पर भी भरोसा नहीं था कि वह सदा, सबका पालन-पोषण अपनी प्रेरणा से ही कर सकते हैं।

तोपजी—स्वामीजी का तर्क इतना प्रबल है कि जिसका उत्तर आप सात जन्म तक भी नहीं दे सकते। सचमुच यदि वृद्ध उत्पन्न होते तो उनसे आगे वंश-परम्परा न चल सकती और यदि बच्चे होते तो उनके पालन-पोषण के लिए दूसरे नौजवान स्त्री-पुरुषों की आवश्यकता पड़ती। सर्वान्तर्यामी परमात्मा पालन-पोषण तो सबका करते हैं, परन्तु साधनों द्वारा ही करते हैं। बच्चों का भोजन परमात्मा ने दूध बनाया है और वह जवान स्त्रियों के बिना प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए परमात्मा का सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों को युवावस्था में ही उत्पन्न करना युक्तियुक्त और प्रकृति के विधान के अनुसार है।

पोपजी—अच्छा महाशय! ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी आदि-सृष्टि के ऋषि नहीं थे। वे तो साक्षात् ब्रह्म के ही तीन गुणों की तीन शक्तियों के रूप में हैं। ब्रह्म के रूपों से जवान-जवान जोड़ों की उत्पत्ति सिद्ध करना आपकी मूर्खता है।

तोपजी—श्रीमन्! यदि ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी ऋषि नहीं थे तो कौन थे? यहाँ पर यह प्रश्न नहीं है कि वे जीव थे या परमेश्वर की शक्तियाँ थीं। यहाँ पर तो यह दिखलाना उद्देश्य है कि उन्होंने प्रत्येक अवस्था में मानव-शरीर धारण किया तो जब उन्होंने सृष्टि के आरम्भ में मानव-शरीर धारण किया तो उस समय उन्होंने बच्चों का शरीर धारण किया या बूढ़ों का शरीर धारण किया अथवा जवानों का शरीर धारण किया। प्रत्येक स्थिति में आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी ने जवान अवस्थावाले मानवशरीरों को धारण किया था। इसलिए इनकी उत्पत्ति से हमारा सृष्टि के आरम्भ में युवावस्था में मनुष्यों की उत्पत्ति सिद्ध करना एक सर्वथा उचित बात है।

पोपजी—यजुर्वेद अध्याय ३१, मन्त्र ९ का जो प्रमाण दिया है, उसमें भी जवान-जवान जोड़ों की चर्चा का वर्णन नहीं है। इस मन्त्र का अर्थ स्वामी दयानन्दजी यह लिखते हैं कि—"हे मनुष्यो! जो विद्वान् और योगाभ्यासादि साधन करते हुए मन्त्र का अर्थ जाननेवाले ज्ञानी लोग जिस सृष्टि के पहले प्रसिद्ध हुए उत्तम प्रकार से पूजने योग्य परमात्मा को ज्ञानयज्ञ के द्वारा धारण करते हैं, उसके उपदेश किये हुए वेद से उसका पूजन करते हैं, उस परमात्मा को तुम लोग भी जानो।" क्योंजी! स्वामीजी के भाष्य में तो आपके जवान-जवान जोड़ों की चर्चा नहीं है। स्वामीजी ने तो इस मन्त्र में भगवान् की पूजा करने की आज्ञा ही दी है, फिर मन्त्र का झूठा अर्थ लिखकर जनता को धोखा देना क्या उचित है? आप ही बतलाएँ कि हम स्वामीजी के अर्थ को प्रमाण मानें या आपके झूठे मनमाने अर्थ को ठीक मानें? क्या स्वामीजी को आपके बराबर भी बुद्धि न थी? उन्होंने इस मन्त्र में जवान-जवान जोड़ों की उत्पत्ति का वर्णन क्यों नहीं किया?

तोपजी—आपने आर्यसमाज का विरोध करने की शपथ खा रक्खी है, अन्यथा इस मन्त्र का अर्थ जो कुछ स्वामी दयानन्दजी महाराज ने किया है, वही महीधर ने किया है और वही हमने लिखा है और वही ठीक है। यजुर्वेद के इस इकतीसवें अध्याय में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है, इसलिए स्वामी दयानन्दजी महाराज ने इस अध्याय को 'ऋग्वेदादिभाष्य-

भूमिका' में सृष्टिविद्याविषय के अन्तर्गत लिखा है। स्वामीजी ने इस मन्त्र में यही बताया है कि "हे मनुष्यो! सृष्टि के आरम्भ में जिस परमात्मा को साध्य और ऋषि लोग धारण करते हैं, उस परमात्मा को तुम लोग भी जानो।" इस अर्थ से स्पष्ट सिद्ध है कि सृष्टि के आदि में साध्य और ऋषि लोग उत्पन्न हुए, जिन्होंने ईश्वर के दिये हुए वेद के अनुसार परमात्मा की पूजा की। 'साध्याः' के अर्थ स्वामीजी ने किये हैं—'योगाभ्यास आदि साधन करते हुए' और 'ऋषिः' के अर्थ किये हैं—'मन्त्रों का अर्थ जाननेवाले'। अब तनिक विचार करें कि सृष्टि के आरम्भ में योगाभ्यास आदि साधन करनेवाले और मन्त्रों का अर्थ जाननेवाले युवावस्था के मनुष्य ही हो सकते हैं, बच्चे या बूढ़े नहीं हो सकते, अतः इस मन्त्र के स्वामी दयानन्दकृत अर्थ से स्पष्ट सिद्ध है कि सृष्टि के आदि में मनुष्यों की उत्पत्ति युवावस्था में ही हुई थी, बाल्य या वृद्धावस्था में नहीं।

पोपजी—अब रहा महीधरभाष्य। इसके उत्तर में मैं पूछता हूँ कि जब आप इस भाष्य को प्रमाण ही नहीं मानते तो स्वामीजी के भाष्य को झूठा समझकर प्रमाण में महीधरभाष्य प्रस्तुत करना आपकी दुर्बलता नहीं तो और क्या है?

तोपजी—हम ऊपर बता चुके हैं कि इस मन्त्र के अर्थ स्वामी दयानन्दजी महाराज ने और महीधर ने एक ही किये हैं। विरोधीपक्ष की पुस्तकों में से प्रमाण देने का यह तात्पर्य नहीं होता कि वह अपनी पुस्तकों को ग़लत मानता है, अपितु अपनी पुस्तकों के समर्थन के लिए विरोधीपक्ष के ग्रन्थों से प्रमाण दिये जाया करते हैं। हम चाहे महीधरभाष्य को प्रमाण नहीं मानते, परन्तु अपने सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए और आपका मुँह बन्द करने के लिए हम प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं, क्योंकि आप महीधरभाष्य को सर्वथा प्रमाण मानते हैं और आप उससे इन्कार नहीं कर सकते। अपने सिद्धान्तों के समर्थन में विरोधीपक्ष की पुस्तकों से ही प्रमाण निकालकर दिखलाना महान् योग्यता का प्रमाण है, दुर्बलता का नहीं। आपका महीधरभाष्य के लेख से इन्कार करना न्यायशास्त्र के अनुसार 'स्वमत-अनुज्ञा' निग्रहस्थान में फँस जाना है, जोकि आपकी पराजय का प्रबल प्रमाण है।

पोपजी—अस्तु, लाला साहब को ध्यान रहे, महीधरजी ने इस मन्त्र के भाष्य में जवान-जवान जोड़ों की चर्चा बिल्कुल नहीं की है। यह भाष्य संस्कृत में होने के कारण आपकी समझ में नहीं आया। 'साध्याः' की परिभाषा और 'ऋषिः' शब्द की व्याख्या से भी आपका सिद्धान्त सिद्ध नहीं हो सकता है। यहाँ मानसिक शक्ति से सृष्टि उत्पन्न करनेवालों को ही साध्य लिखा गया है, न कि आपके जवान-जवान जोड़ों को।

तोपजी—आजकल सनातनधर्म के पण्डितों ने इसी बात को अपनी रक्षा के लिए ढाल समझा हुआ है कि 'श्रीमन्! इस संस्कृत को आप नहीं समझ सके।' क्योंजी! संस्कृत भाषा सनातनधर्मवालों की ही समझ में आ सकती है, दूसरों की समझ में नहीं आ सकती? तनिक कृपा करके वह संस्कृतभाष्य लिख तो दिया होता, जिससे जनता इस बात का अनुमान लगा सकती कि वह कैसा संस्कृतभाष्य है कि जिसको आप तो समझ सकते हैं और हम नहीं समझ सकते। लीजिए, हम शब्दशः महीधरभाष्य लिख देते हैं। यजुर्वेद के इकतीसवें अध्याय में सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन है, जिसमें और बहुत-सी वस्तुओं की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए मन्त्र-संख्या ९ में मनुष्यों की उत्पत्ति का वर्णन यूँ है—'**साध्या ऋषयश्च ये**' अर्थात् सृष्टि के आदि में '**साध्याः**' और '**ऋषिः**' लोग उत्पन्न हुए। इसपर महीधर ने 'साध्याः' और 'ऋषिः' शब्द के अर्थ इस प्रकार किये हैं—

"ये साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिः प्रभृतयः ये च तदनुकूला ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः ते सर्वेऽप्ययजन्त॥"
—महीधरभाष्य

अर्थ—जो 'साध्याः' अर्थात् प्रजा उत्पन्न करने के योग्य प्रजापति आदि और जो उनके अनुकूल 'ऋषि' अर्थात् मन्त्रों के अर्थ को जाननेवाले—वे सब भी पूजा करते थे।

अब कृपा करके बतलाएँ कि इस संस्कृत में वह कौन-सा पाठ है, जिसे हम नहीं समझ सकते और हमारे किये हुए अर्थ में कोई अशुद्धि बतलाने की कृपा करें। यदि नहीं तो फिर इन बातों से आजकल जनता की सन्तुष्टि नहीं हो सकती कि आप यूँ ही व्यर्थ शोर मचाने लगें कि श्रीमन्! यह तो संस्कृत में है जिसे आप समझ नहीं सकते। क्या संस्कृत समझने का ठेका केवल आप लोगों ने ही ले-रक्खा है? कदापि नहीं। अब इन धूर्तताओं को परे रखकर तनिक वास्तविक अर्थ को ध्यानपूर्वक विचारें कि सन्तान उत्पन्न करने के योग्य और मन्त्रों के अर्थों को समझने योग्य युवावस्थावाले हो सकते हैं या बच्चे और वृद्ध। इन दोनों शब्दों (साध्याः और ऋषयः) के अर्थ ही हमारे सिद्धान्त का प्रबल समर्थन करते हैं। आप द्वारा लिखित मानसी सृष्टि तो कोई वस्तु ही नहीं है, क्योंकि सृष्टि दो प्रकार की ही है—एक, ईश्वरीय सृष्टि जो सृष्टि के आरम्भ में अमैथुनी—बिना माता-पिता के ईश्वर की ओर से ही उत्पन्न होती है; दूसरी, जैवी सृष्टि जो ईश्वरीय सृष्टि के पश्चात् जीव परस्पर नर-मादा (पुल्लिंग-स्त्रीलिंग) के मिलाप से मैथुनी सृष्टि उत्पन्न करते हैं। तीसरी प्रकार की कोई सृष्टि नहीं है। इसलिए प्रजापतियों ने कोई सृष्टि उत्पन्न की तो वह स्त्रियों के संयोग से ही पैदा की और स्त्री-पुरुष के संयोग से सन्तान उत्पन्न होना युवावस्था में ही सम्भव हो सकता है, बाल्य और वृद्धावस्था में नहीं। इसलिए इस मन्त्र और इसके महीधरभाष्य से सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति युवावस्था में होना स्पष्ट सिद्ध है।

पोपजी— वेदमन्त्रों के अर्थ को जाननेवाले 'ऋषि' शब्द के अर्थ से ही जवान-जवान जोड़ों की उत्पत्ति मानना बहुत बड़ी भूल है, क्योंकि आपके विचार के अनुसार स्वामी दयानन्दजी मन्त्रों का अर्थ जाननेवाले होने से ऋषि माने जाते हैं तो क्या आपके ऋषि दयानन्दजी जवान पैदा हुए थे? क्या बच्चे के रूप में उत्पन्न हुए मनुष्य साध्य और ऋषि नहीं हो सकते?

तोपजी—आपने भी बुद्धि को बिल्कुल ही बेचकर खा लिया है। हमने यह कब लिखा है कि जो ऋषि होता है वह जवान अवस्था में ही पैदा होता है? हमारा कहना तो यह है कि सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुआ मनुष्य मन्त्रों के अर्थों को जाननेवाला युवावस्थावाला ही हो सकता है। बच्चे के रूप में उत्पन्न मनुष्य साध्य और ऋषि बन तो सकते हैं, परन्तु तत्काल ही नहीं बन सकते। इनके साध्य और ऋषि बनने के लिए कम-से-कम पच्चीस वर्ष की अवधि की आवश्यकता है, क्योंकि जब तक मनुष्य युवा न हो तब तक सन्तान उत्पन्न करने के योग्य नहीं होता और बिना पर्याप्त शिक्षा ग्रहण किये वेदमन्त्रों के अर्थ को नहीं समझ सकता, परन्तु सर्ग-आरम्भ में—ईश्वरीय सृष्टि में इसके बिल्कुल उलटा होता है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में बच्चों की उत्पत्ति असम्भव है यह पहले सिद्ध किया जा चुका है और वृद्धों से सन्तान उत्पन्न नहीं की जा सकती, इसलिए प्रत्येक अवस्था में सर्ग-आरम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति युवावस्था में ही होती है। ईश्वर व्यापक होने के कारण ऋषियों के हृदय में व्यापक होता है, इसलिए वह अपने ज्ञान—वेद का—ऋषियों के हृदय में प्रकाश कर देता है। आपको स्वामी दयानन्दजी का उदाहरण देते हुए लज्जा तो नहीं आई? क्या वे सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए थे? यदि नहीं तो फिर उनका उदाहरण यहाँ पर कैसे चरितार्थ हो सकता है? सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए मनुष्यों का साध्य अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने के योग्य होना और ऋषि अर्थात् वेदमन्त्रों के अर्थों को समझने के योग्य होना ही इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वे यौवनावस्था में ही उत्पन्न हुए थे, बच्चे या वृद्ध नहीं।

पोपजी—नदी में बहते हुए घास-फूस का सहारा लेनेवाले लाला मनसाराम को चाहिए कि वे कोई ऐसा वेदमन्त्र प्रस्तुत करें जिसमें जवान-जवान जोड़ों की उत्पत्ति का वर्णन हो।

तोपजी—आप जानें आपकी इच्छा। आपका ही महीधरभाष्य है, आप उसे बहती हुई नदी का घास-फूस कहें अथवा इससे भी अधिक कूडा-कर्कट कह डालें, हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं है। हमने तो महीधरभाष्य केवल आपकी सन्तुष्टि के लिए प्रस्तुत किया था, अन्यथा हमारे सिद्धान्त का समर्थन तो यजुर्वेद अध्याय ३१ का मूलमन्त्र संख्या ९ ही स्पष्टरूप से कर रहा है, जिसमें सृष्टि के आरम्भ में योगाभ्यास आदि साधन करनेवाले और वेदमन्त्रों के अर्थों को जाननेवाले जवान मनुष्यों को 'साध्याः' और 'ऋषयः' नामों से वर्णित किया है।

पोपजी—मनुस्मृति अध्याय १, श्लोक ३४ में केवल दस प्रजापति उत्पन्न करने का वर्णन होने से जवानों की उत्पत्ति मानना मूर्खता है, क्योंकि बच्चे पैदा होकर भी बड़े होने पर प्रजा के स्वामी हो सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि बच्चे कभी भी प्रजा के स्वामी न हो सकें। मनुजी ने कहीं भी जवानों की उत्पत्ति का वर्णन नहीं किया।

तोपजी—उत्तर लिखने से पूर्व मनुस्मृति को खोलकर पढ़ तो लिया होता कि वहाँ पर क्या लिखा है? वहाँ पर तो यह लिखा है कि सृष्टि के आदि में दस महर्षि प्रजापति बनाये और उन प्रजापतियों ने आगे बहुत-सी सन्तानें उत्पन्न कीं। मनुस्मृति में यह बात कहीं भी नहीं लिखी कि पहले बच्चे उत्पन्न हुए और बाद में बड़े होने पर वे प्रजा के स्वामी और सन्तानों के पिता बने, अपितु उन्हें तो प्रजापति के साथ महर्षि भी लिखा है। प्रजापति और महर्षि शब्द की विद्यमानता में उन्हें उत्पन्न होने के समय बच्चे मानना सर्वथा अज्ञानता और मूर्खता है। मनुस्मृति में सर्गारम्भ में मनुष्यों की उत्पति युवावस्था में ही स्वीकार की गयी है, शैशव या वृद्धावस्था में नहीं।

पोपजी—लाला साहब के भविष्यपुराण के प्रमाण से नारद का स्त्री बनकर जवान लड़के उत्पन्न करने की कथा का शब्दशः वर्णन देवीभागवत के अध्याय २८ में भी इसी प्रकार है, जो नीचे लिखा जाता है।

तोपजी—धूर्तता और धोखेबाज़ी इसी का तो नाम है कि हमने तो प्रमाण दिया भविष्यपुराण का और खोल बैटे देवीभागवत पुराण और उसका प्रमाण भी अधूरा लिखा, क्योंकि देवीभागवत में भी बारह स्कन्ध हैं जिनमें से प्रत्येक स्कन्ध में अनेक अध्याय हैं। पोपजी का केवल देवीभागवत अध्याय २८ लिखना सिद्ध करता है कि पोपजी ने कभी देवीभागवत को खोलकर भी निहीं देखा और यह पता केवल धोखा देने के लिए ही लिखा है, जो सर्वथा ग़लत है। अस्तु, हमें इससे क्या प्रयोजन! हमने तो भविष्यपुराण का प्रमाण दिया था। वह पूर्णरूप से ठीक है। भविष्यपुराण, उत्तरपर्व, अध्याय ३, श्लोक ४७ से ७७ तक में लिखा है कि—

"श्रीकृष्ण और नारद भ्रमण करते हुए कान्यकुब्ज के निकट एक वशिष्ठ नाम के सरोवर पर पहुँचे। पहले कृष्ण ने स्नान किया, तत्पश्चात् नारदजी स्नान करने लगे। जब नारदजी स्नान करके उठे तो वे बड़ी-बड़ी आँखोंवाली और पीन (मोटे-मोटे) स्तनोंवाली सुन्दरी बन गये। उसी स्थान पर भ्रमण करता हुआ तालध्वज नामक राजा आ गया। वह इस स्त्री को देखकर इसपर मुग्ध हो गया और उसे घोड़े पर बिठाकर अपने घर ले-गया तथा उसके साथ विवाह करके खूब भोग-विलास किया।"

ततस्त्रयोदशे वर्षे तस्या गर्भोऽभवन्महान्॥७५॥
पञ्चाशत्संख्यया जाता उपसर्गादिवर्जिताः। आरूढयौवनाः सर्वे सुताः संग्रामकोविदाः॥७७॥

—भविष्य० उ० प० ४.३.७५, ७७

अर्थ—इसके पश्चात् तेरहवें वर्ष में इसके बड़ा भारी गर्भ हुआ, जिसमें से गिनती में पचास नौजवान रोगादि से रहित और युद्धविशारद पुत्र उत्पन्न हुए।

यह भविष्यपुराण की वह कथा है जिसमें नारदरूपी स्त्री के पेट से पचास नौजवान लड़कों की उत्पत्ति का वर्णन है।

पोपजी—अब रही लड़कों की युद्ध की कला में प्रवीण होने की बात। लाला साहब! पुराणों में यह वर्णन बिल्कुल नहीं कि पैदा होते ही वे जवान-जवान थे। वहाँ केवल यही वर्णन है कि नारदरूपी स्त्री से जो बच्चे उत्पन्न हुए वे बड़े वीर थे। इससे जवान-जवान लड़कों की ही उत्पत्ति मानना बड़ी भारी भूल है।

तोपजी—इसमें हमारी भूल नहीं अपितु इस बारे में आपकी ही शैली 'नामाकूल' (अनुचित) है, क्योंकि श्लोक में स्पष्टरूप से '**आरूढयौवनाः**' अर्थात् 'यौवन को प्राप्त' शब्द विद्यमान है और '**संग्रामकोविदाः**' अर्थात् '**युद्ध करने में निपुण**' शब्द भी विद्यमान है। इस कथा में नारद का स्त्री बनना और उसके पेट से पचास नौजवान और युद्ध-विशारद लड़कों का उत्पन्न होना ही तो पुराणों की विचित्रताएँ हैं। इसलिए इस कथा का यही अर्थ है कि वे लड़के पैदा होते ही नौजवान और युद्धविद्या में प्रवीण थे। जब सनातनधर्म में नौजवानों की उत्पत्ति अनेक स्थानों पर विद्यमान है, फिर सनातनधर्मियों को सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों के युवावस्था में उत्पन्न होने पर क्या आपत्ति हो सकती है?

पोपजी—क्योंकि कई इतिहासों में वर्णन आता है कि महाराजा पाण्डु के पाँच पाण्डव पुत्र अत्यन्त वीर और शत्रुओं को नीचा दिखानेवाले पैदा हुए। क्या इस लेख से पाण्डवों का यौवनावस्था में उत्पन्न होना मानोगे? कदापि नहीं, अतः ऊपर की कथा में केवल युद्ध-विद्या में विशारद लड़कों की उत्पत्ति का वर्णन देखकर ही जवान-जवान लड़कों की उत्पत्ति का विचार करके सनातनधर्म में भी ऐसी उत्पत्ति का वर्णन दिखाना भूल है।

तोपजी—श्रीमन्! वर्त्तमान पुराणों का और इतिहास का क्या मेल? इतिहास में सत्य घटनाएँ होती हैं और वर्त्तमान पुराणों में असम्भव, अनर्गल और व्यर्थ की विचित्रताएँ। इतिहास में महाराजा पाण्डु के लड़कों की उत्पत्ति का वर्णन है, बाल्यावस्था के वृत्तान्त विद्यमान हैं, उनके पालन-पोषण का वर्णन है और युद्ध की शिक्षा पाने का वर्णन है। इसलिए पाण्डवों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वे यौवनावस्था में उत्पन्न हुए, परन्तु भविष्यपुराण में इन पचास लड़कों के सम्बन्ध में इनके पालन-पोषण, शिक्षा और बाल्यकाल का कोई वर्णन नहीं है। हम केवल युद्धकला में प्रवीण के कारण इनकी उत्पत्ति यौवन-अवस्था में नहीं बतला रहे, अपितु वहाँ तो स्पष्ट लिखा है कि वे पचास लड़के यौवनावस्था में उत्पन्न हुए, अतः आपका इधर-उधर भागना व्यर्थ है और सनातनधर्म में नौजवानों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमारा प्रमाण सर्वथा उचित है।

श्रीमन्! सनातनधर्म तो मदारी का थैला है, इसमें से जो चाहो निकाल लो। फिर भला! पुराणों से नौजवानों की उत्पत्ति निकालना क्या कठिन बात है! यह तो एक प्रमाण हमने केवल नमूने के रूप में लिख दिया था, अन्यथा यौवनावस्था की उत्पत्ति के प्रमाण तो सनातनधर्म के ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। तनिक ध्यानपूर्वक अवलोकन कीजिए—

१. ब्रह्मा ने जब अपनी पुत्री सरस्वती को उत्पन्न किया तब वह बिल्कुल जवान थी, तभी तो ब्रह्मा और उसके पुत्र उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये। वह आगे-आगे और ब्रह्माजी पीछे-पीछे भागे और कई का वीर्य स्खलित हो गया। ये सारी बातें सरस्वती का यौवनावस्था में उत्पन्न होना ही सिद्ध करती हैं।

२. देवी ने जो हाथ घिसकर ब्रह्मा, विष्णु और महादेव को उत्पन्न किया, तब वे नौजवान ही थे, तभी तो देवी ने उनसे विवाह करने की इच्छा प्रकट की तथा ब्रह्मा और विष्णु के इन्कार करने पर उनको भस्म कर दिया और महादेव के कहने पर उन्हें जीवित करके दो जवान लड़कियों को पैदा किया और फिर तीनों का तीनों से विवाह हुआ।

३. पार्वती ने जब गणेश को बनाया तो वह बिल्कुल नौजवान ही था, तभी तो उसने द्वार पर बड़ा भारी युद्ध किया, महादेव की खूब धुनाई की और ब्रह्मा की दाढ़ी उखाड़ ली।

४. जब विश्वामित्र ने वसिष्ठ से गौ माँगी और उनके इन्कार करने पर विश्वामित्र उसे बलपूर्वक ले-चला, उस समय गौ के शरीर से जो सेनाएँ उत्पन्न हुईं, उनमें सब सैनिक नौजवान अवस्था के थे तभी तो उन्होंने विश्वामित्र की सेनाओं को समाप्त कर दिया।

५. दक्ष के यज्ञ को भङ्ग करने के लिए महादेव ने अपनी जटाओं से वीरभद्र को नौजवान पेदा किया और सेना देकर दक्ष के यज्ञ में भेजा और उसने दक्ष के यज्ञ का विध्वंस किया।

एक नहीं, दो नहीं, पुराणों में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं, जिनसे नौजवानों की उत्पत्ति सिद्ध की जा सके। ये केवल कुछ उदाहरण नमूने के रूप में लिख दिये हैं।

पोपजी—पुरुष के स्त्री बन जाने को आश्चर्य न समझें, भगवान् की माया अनन्त है। कुछ दिन हुए, खालसा कॉलेज अमृतसर के एक सत्रह-वर्षीय लड़के सिख विद्यार्थी के स्त्री बन जाने की आश्चर्यजनक घटना घटित हुई है, जो आर्यसमाज के दैनिक पत्र 'मिलाप' २८ फरवरी १९३२ में छपी है। घबराओ नहीं, धीरे-धीरे सबको पुराणों की शरण में आना पड़ेगा।

तोपजी—यदि सनातनधर्म का जीवन इन समाचारपत्रों की अफवाहों पर ही टिका है, जोकि विनोदप्रिय संवाददाताओं के मस्तिष्क के आविष्कार का परिणाम होती हैं, तो सनातनधर्म की मौत यदि आज नहीं तो कल अवश्य होकर रहेगी, अन्यथा लिखें कि वह सिख विद्यार्थी कहाँ का रहनेवाला है, उसके माता-पिता का भी पता दें, स्त्री बनने के पश्चात् उसका विवाह कहाँ हुआ, पूरा पता लिखें। भगवान् के नियम अटल हैं। वह गर्भ में ही स्त्री-पुरुष की रचना कर देता है। उसका नियम परिवर्तित नहीं हो सकता। हाँ, सनातनधर्म के ठेकेदार अवश्य इस नियम को उलटने का प्रयत्न करते हैं। रामलीला और कृष्णलीला में लड़कों को लड़कियाँ बनाकर उनका पुरुषों से विवाह भी कर देते हैं और सम्भव है उनसे सन्तान उत्पन्न करने का प्रयत्न भी करते हों, परन्तु अभी तक सफल नहीं हुए। यदि सनातनधर्मसभा प्रयत्न करके उस तालाब का पता लगा ले कि जिसमें स्नान करने से नारदजी और अर्जुन स्त्री बन गये थे तो यह कमी भी पूर्ण हो जाए और इस प्रत्यक्ष प्रमाण से भारत ही नहीं, अपितु सारा संसार पुराणों की शरण में आ जाए, परन्तु '**ई खयाल अस्त वो मुहाल अस्त व जनून।**'[1]

पोपजी—लाला मनसारामजी! ऋग्वेद मण्डल ५, सूक्त ६०, मन्त्र ५ में सर्गारम्भ में स्त्री और पुरुषों के जवान-जवान उत्पन्न होने का वर्णन बिल्कुल नहीं है, आपने झूठ ही लिख दिया है। इस मन्त्र में स्त्री-पुरुष का नाम तक नहीं। किसी भी भाष्य करनेवाले ने आपका अर्थ नहीं किया और न ही इस मन्त्र के शब्दों से जवान-जवान जोड़ों का उत्पन्न होना सिद्ध होता है।

तोपजी—श्रीमन्! यदि आपको इस मन्त्र में 'सर्गारम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति यौवनावस्था

१. यह खयाल (कल्पना) है तो असम्भव और पागलपन है। —सम्पादक

में हुई' यह दृष्टिगोचर न हो तो इसमें मन्त्र का क्या दोष है? यदि चमगादड़ को सूर्य दिखाई न दे तो इसमें सूर्य का क्या अपराध है, अन्यथा इस मन्त्र में तो स्पष्टरूप में यौवनावस्था में मनुष्यों की उत्पत्ति का वर्णन विद्यमान है। आप इस मन्त्र को ध्यानपूर्वक पढ़िए। देखिए, मन्त्र यह है—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सम्भ्रातरा वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥ —ऋ० ५.६०.५

अर्थ—सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए मनुष्य न बड़े और न छोटे होते हैं। ये भाई कल्याण के लिए एक-जैसे बढ़ते हैं। सदा युवा रहनेवाला, सदा शुभ कर्म करनेवाला, पापियों को दण्ड देनेवाला, शक्तिशाली परमेश्वर इनका पिता है और परिश्रमी मनुष्यों के लिए अच्छा समय लानेवाली प्रकृति या पृथिवी इनके लिए मनोरथों को पूर्ण करनेवाली होती है।

अब देखिए, इस मन्त्र में स्पष्ट शब्द विद्यमान हैं कि सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होनेवाले मनुष्यों में बड़ा या छोटा अर्थात् बच्चा या बूढ़ा कोई न था, अपितु वे सब एक-से जवान थे। इससे बढ़कर स्पष्ट मन्त्र और क्या हो सकता है? रहा आपका यह कहना कि इसमें स्त्रियों की या जोड़ों की चर्चा नहीं है, तो आपका यह पूछना सरासर अज्ञानता है, क्योंकि मनुष्यों का वर्णन आ जाने से इसमें स्त्री-पुरुष सब गिने जाते हैं। आपने अटकलपच्चू ही यह लिख दिया है कि किसी भी भाष्य करनेवाले ने यह अर्थ नहीं किया, अन्यथा मन्त्र के तो और अर्थ हो ही नहीं सकते। किसी का भाष्य प्रस्तुत करके बताया तो होता, अन्यथा मौखिक घटा-जोड़ से हमारा दिया हुआ प्रमाण ग़लत नहीं हो सकता।

लीजिए, हम इस सम्बन्ध में एक और वेदमन्त्र प्रस्तुत करते हैं। ध्यानपूर्वक अवलोकन कीजिए—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्य्या आ नो अच्छा जिगातन॥ —ऋ० ५.५९.६

अर्थ—सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य मानो वृक्षों की भाँति उत्पन्न हुए और इनमें कोई बड़ा-छोटा और मँझला न था, अर्थात् अवस्था में सब बराबर थे। वे तेज से बढ़े। उत्तम जन्मवाले वे लोग, जन्म से जिनकी माता प्रकृति और मानो प्रकाशस्वरूप परमात्मा के वे पुत्र हम सबकी अपेक्षा बहुत ही उत्तम थे।

ध्यानपूर्वक पढ़ें! इस मन्त्र में भी स्पष्ट शब्द विद्यमान हैं कि सृष्टि के आरम्भ में पैदा होनेवाले मनुष्यों में अवस्था में कोई कम-अधिक नहीं था, अपितु सब-के-सब तेजस्वी नौजवान थे। इसलिए वेदों में स्पष्टरूप में सर्गारम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति युवावस्था में ही लिखी है।

पोपजी—मुझे दुःख है कि लाला मनसारामजी ने यजुर्वेद और ऋग्वेद के दो प्रमाण स्वामीजी के भाष्य के भी विरुद्ध प्रस्तुत करके वेदों के द्वारा जवान-जवान जोड़ों की झूठी सृष्टि-उत्पत्ति को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया, परन्तु बिल्कुल व्यर्थ।

तोपजी—हमारा लिखना व्यर्थ नहीं गया, अपितु हमारे लेख ने तो सनातनधर्म के कैम्प में बम्ब के गोले का काम किया है। आपके विचार में यदि हमारा प्रयत्न व्यर्थ था तो फिर आपको उसके उत्तर में लेखनी उठाने की आवश्यकता क्यों पड़ी? हम सिद्ध कर चुके हैं कि हमारे अर्थ स्वामीजी के भाष्य के विरुद्ध नहीं हैं, अपितु सनातनधर्म का भाष्यकार महीधर भी हमारे अर्थों की पुष्टि करता है। हमने सर्गारम्भ में युवावस्था में मनुष्यों की उत्पत्ति को सिद्ध करने के लिए दो वेदमन्त्र दिये, जिनका खण्डन करने में आप असफल रहे और

आपने अपने दावे को सिद्ध करने के लिए एक भी वेदमन्त्र प्रस्तुत नहीं किया, जिससे यह सिद्ध हो सके कि "चूँकि वेद का मन्त्र सृष्टि के आदि में मनुष्यों की उत्पत्ति बाल्य और वृद्धावस्था में मानता है और स्वामी दयानन्दजी लिखते हैं कि उत्पत्ति युवावस्था में हुई, इसलिए स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं।" अतः आपका सारा लेख व्यर्थ, लचर और बेहूदा बकवास है और हमारा लेख प्रमाणयुक्त, तर्कपूर्ण, सत्य और सर्वथा उचित है।

पोपजी—अहो! अब खूब समझे! दयानन्दियों के जवान-जवान स्त्री-पुरुषों के जोड़े आदि सृष्टि के समय तिब्बत (हिमालय) पर गिरे होंगे, तभी से हिमालय सबसे ऊँचा हो गया होगा। आश्चर्य है कि आकाश से जोड़े गिरे और उनकी हड्डियाँ चूर-चूर न हुईं। क्या इस समय हिमालय रबड़ का बना हुआ था अथवा उसमें स्प्रिंग लगे हुए थे अथवा उन जोड़ों के शरीर लोहे के थे जो इतनी दूर से गिरे और न टूटे! और फिर इसी प्रकार आज नौजवानों की वर्षा आकाश से क्यों नहीं होती? मानना पड़ेगा कि यह सब ढोंग झूठ ही रचा गया है।

तोपजी—कहते हैं एक बार की बात है कि एक जाट और एक तेली आपस में कवि-गोष्ठी करने लग पड़े। तेली ने कहा—'जाट रे जाट, तेरे सिर पर खाट।' इसके उत्तर में जाट ने कहा कि—'तेली रे तेली, तेरे सिर पर कोल्हू।' तेली ने कहा—'भाई! यह तो तुक जुड़ी नहीं।' जाट ने तुरन्त उत्तर दिया कि 'तुक जुड़े न जुड़े, बोझ के नीचे तो मरेगा।' ठीक उस जाट की-सी अवस्था ही इन सनातनधर्म के ठेकेदार पोपों की है। इसका प्रमाण पोपजी के उपर्युक्त लेख में विद्यमान है। जब स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों में कहीं पर भी यह लिखा ही नहीं है कि 'जवान-जवान स्त्री-पुरुषों के जोड़े हिमालय पर आकाश से गिरे', तो फिर इस कल्पित बात को सामने रखकर बेहूदा मखौल उड़ाने का प्रयत्न करना उस जाट की-सी हठधर्मी नहीं तो और क्या है? हाँ, इतना अवश्य है कि जाट का वास्ता एक ग़रीब तेली से पड़ा था जो चुप हो गया, परन्तु इन पोपों का पाला पाखण्ड का खण्डन करनेवाले आर्यसमाज से है, जो झूठों के घर तक पहुँचता है और पाखण्डियों को नाकों चने चबवाये बिना नहीं छोड़ता।

उपर्युक्त बेहूदा मखौल (परिहास), जो एक काल्पनिक बात आर्यसमाज के गले मढ़कर, उड़ाने का प्रयत्न किया गया है, पुराणों पर ही चरितार्थ होता है। देखिएगा, वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग ६६ में लिखा हुआ है कि हनुमान्‌जी अभी बालक ही थे कि उन्होंने निकलते हुए सूर्य को देखकर उसे फल समझा और उसे प्राप्त करने की इच्छा से आकाश में उछल पड़े। तीन सौ योजन अर्थात् बारह सौ कोश आकाश में ऊँचा चढ़कर भी हनुमान्‌जी सूर्य की गर्मी से व्याकुल नहीं हुए। हनुमान् को आकाश में चढ़ते हुए देखकर इन्द्र ने क्रुद्ध होकर उसपर अपना वज्र फेंका, तब हनुमान्‌जी आकाश से पर्वत की चोटी पर गिर पड़े।

आश्चर्य है कि हनुमान्‌जी आकाश से पहाड़ की चोटी पर गिरे और उनकी हड्डियाँ चूर-चूर न हुईं! क्या उस समय वह पर्वत रबड़ का बना हुआ था या उसमें स्प्रिंग लगे हुए थे अथवा हनुमान्‌जी का शरीर लोहे का बना हुआ था, जो इतनी ऊँचाई से गिरा और नहीं टूटा? सच है, जो मनुष्य चन्द्रमा पर थूकने का प्रयत्न करता है, वह थूक उसके मुँह पर ही पड़ता है। ठीक वही आपके साथ हुआ। जो मखौल आप आर्यसमाज पर उड़ाना चाहते थे, वह आपपर ही चरितार्थ हुआ।

अब रह गयी बात यह कि आजकल भी नौजवानों की उत्पत्ति क्यों नहीं होती? श्रीमन्! इसका उत्तर यह है कि ईश्वरीय सृष्टि उस समय उत्पन्न होती है, जब मनुष्यों की सन्तति संसार में विद्यमान न हो और ऐसी अवस्था सृष्टि के आरम्भ में होती है, इसलिए सर्गारम्भ

में ही ईश्वरीय सृष्टि में मनुष्यों की उत्पत्ति युवावस्था में होती है। आजकल चूँकि मानव-सन्तति विद्यमान है और जैवी सृष्टि आपस के संयोग से खूब चल रही है, इसलिए इस समय ईश्वरीय सृष्टि और उसमें नौजवान मनुष्यों के पैदा होने की आवश्यकता ही नहीं है। आर्यसमाज का यह सिद्धान्त ढोंग नहीं है, अपितु यह सिद्धान्त वेद-शास्त्र और बुद्धि के भी अनुकूल है। हम वेद के कई प्रमाण इस सम्बन्ध में दे चुके हैं। एक प्रमाण और आपकी सेवा में निवेदन करते हैं। सामवेद में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन विद्यमान है—

चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथो न यो मातरावन्वेति धातवे।
अनूधा यदजीजनदधा चिदा ववक्षत् सद्यो महि दूत्यां३ चरन्॥

—साम० पू० प्र० १ अर्ध० २ द० २, म० २ [क्रमिक मन्त्र ६४]

अर्थ—सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होनेवाले कुमारों की विशेषता यह है कि वह युवा होता है और वह अपने-आपको चला-फिरा सकता है और दूध पीने के लिए माता का सहारा नहीं चाहता और आश्चर्य यह कि वह बिना दूध के ही पलता है, तभी तुरन्त बहुत बड़े दूत की भाँति आने-जाने आदि का भार उठा सकता है।

इस मन्त्र में स्पष्टरूप में वर्णन किया गया है कि सृष्टि के आरम्भ में विचित्र बच्चा उत्पन्न होता है, जिसकी अवस्था युवा होती है, जोकि माता का दूध नहीं पीता, खूब चलता-फिरता है और दूत की भाँति आने-जाने का कार्य खूब कर सकता है, अतः स्वामीजी का यह लेख कि सर्गारम्भ में मनुष्य युवावस्था में उत्पन्न हुए, सब प्रकार से वेदों के अनुकूल है।

अब पाश्चात्य विद्वान् भी वेद की इस सत्यता को स्वीकार करने लगे हैं। अमेरिका में स्मिथ सोनियम इंस्टीट्यूशन (Smith Soniam Institution) नामक एक विज्ञान की संस्था है। इसमें डॉ० क्लार्क (Dr. Clark) जीवविद्या-विशेषज्ञ कार्य करते हैं। उनका मत प्रस्तुत करते हुए Quarterly Review of Biology में लिखा है—

"According to Dr. Clark's belief man appeared in the pliocene age just preceding the ice age. He appeared suddenly and in substantially the same form as he is to day. There is not the slightest evidence of his existance before that time. He appeared able to walk, able to think and able to defend himself. Dr. Clark holds, there are no missing links."

अर्थ—डॉ० क्लार्क की सम्मति के अनुसार मनुष्य हिम-युग से ठीक पूर्व प्लायोसीन युग में उत्पन्न हुआ। वह सहसा उत्पन्न हुआ और बिल्कुल इसी रूप में जैसाकि आज है। इससे पूर्व इसके अस्तित्व के कोई प्रमाण नहीं हैं। वह उत्पन्न होते ही चलने, सोचने-विचारने और अपनी रक्षा करने में समर्थ था। डॉ० क्लार्क का सिद्धान्त है कि इससे पहले की कोई कड़ी गुम नहीं है।

डॉक्टर महोदय ने विकासवाद के खण्डन में यह लेख लिखा है।

पोपजी—अस्तु, पाठक समझ सकते हैं कि लाला साहब ने कोई ऐसा वेदमन्त्र प्रस्तुत नहीं किया जिसमें जवान स्त्री और पुरुषों की उत्पत्ति का वर्णन हो, अतः स्वामीजी का लेख वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—पाठक महाशय! हमने स्वामी दयानन्दजी महाराज के लेख के समर्थन में वेद, मनुस्मृति और पुराणों के प्रमाण तथा पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति देकर यह सिद्ध कर दिया है कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य युवावस्था में उत्पन्न हुए थे, जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों ही सम्मिलित हैं और पोपजी ने कोई भी वेदमन्त्र प्रस्तुत करके अपने दावे के अनुसार स्वामी

दयानन्दजी के लेख को वेद के विरुद्ध सिद्ध नहीं किया, अतः स्वामी दयानन्द का लेख सोलह आने वेद के अनुसार है और ऋषि दयानन्द के ग्रन्थ भी सोलह आने वेद के अनुकूल हैं।

६. सर्गारम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति कहाँ हुई?

सिद्धान्त—

प्रश्न—मनुष्यों की आदि-सृष्टि किस स्थल में हुई?

उत्तर—त्रिविष्टप अर्थात् जिसे तिब्बत कहते हैं। —सत्यार्थप्रकाश, अष्टमसमुल्लास

पोपजी—स्वामीजी ने लिखा है कि मनुष्यों की उत्पत्ति सर्वप्रथम तिब्बत में हुई। यह किस वेद के अनुसार है?

तोपजी—आपका दावा तो यह था कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं। ऐसी स्थिति में आपका कर्त्तव्य था कि कोई वेद का मन्त्र देकर यह सिद्ध करते कि देखो, स्वामी दयानन्दजी तो कहते हैं कि मनुष्यों की उत्पत्ति सर्वप्रथम तिब्बत में हुई और वेदमन्त्र कहता है कि किसी और स्थान पर हुई, इसलिए स्वामी दयानन्दजी का लेख वेद के विरुद्ध है, परन्तु आप अपने दावे को सिद्ध करने में सर्वथा असफल हुए हैं। इस प्रकार का दावा बिना किसी प्रकार के उत्तरदायित्व के ही एकपक्षीय खारिज करने के योग्य होता है और झूठा दावा करनेवाला वादी अपराधी ठहराया जाकर दण्ड पाने का अधिकारी होता है।

पोपजी—पण्डित श्रीकृष्णजी ने शतपथ का वेदमन्त्र प्रस्तुत करके सिद्ध किया था कि आदि सृष्टि आर्यावर्त्त देश के ब्रह्मावर्त्त भाग में प्रजापति के द्वारा की गयी थी, परन्तु लाला साहब कहते हैं कि पण्डितजी ने कोई वेदमन्त्र नहीं दिया। लाला साहब को नटोंवाला रोग है कि जैसे वे कहा करते हैं—'मैं न मानूँ, मैं न मानूँ'—इस रोग की क्या चिकित्सा हो सकती है?

तोपजी—मिथ्या भाषण और धोखेबाज़ी की भी कोई सीमा होती है। प्रथम तो आपने और पं० श्रीकृष्ण शास्त्री ने शतपथ को वेद कहकर जनता को धोखा देने का प्रयत्न किया है, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण-ग्रन्थ है, वेद नहीं है। दूसरे, उसका भी आप दोनों ने कोई सन्दर्भ (पता) प्रस्तुत नहीं किया। केवल शतपथ का नाम देने से अवतरण (प्रमाण) स्वीकार नहीं किया जा सकता। आप लोगों को लिखना चाहिए था कि यह उद्धरण शतपथ के कौन-से काण्ड में कौन-से ब्राह्मण का कौन-सा मन्त्र का है, परन्तु पता तो तब देते जब शपथ में वह प्रमाण होता। यहाँ तो यार लोगों का उद्देश्य केवल जनता की आँखों में धूल डालकर अपना उल्लू सीधा करना है। हमें नटों का-सा न मानने का रोग नहीं है, प्रत्युत हम तो सचाई को स्वीकार करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं। हाँ, यह तो गडरियों की भाँति आपको ही बकरी की तीन टाँग की रट लगाने का रोग है, जिसकी चिकित्सा इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है कि आपको लाहौर के पागलखाने में प्रविष्ट करा दिया जाए।

पोपजी—लाला साहब ने ऋग्वेद का जो मन्त्र प्रस्तुत किया है, उसमें तो यह वर्णन है कि परमात्मा ने सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथिवी, आकाश और स्वर्गलोक जैसे पहले कल्प में बनाये थे, वैसे ही अब भी बनाये हैं। इसमें तिब्बत का नाम तक नहीं। इसमें आये हुए स्वर्गलोक को लेकर स्वर्ग के नाम त्रिविष्टप का अर्थ तिब्बत किया है। लाला साहब! स्वर्ग को तो हम भी मानते हैं और त्रिविष्टप शब्द को स्वर्ग का नाम अमरकोश के अनुसार हम भी मानते हैं, परन्तु स्वर्ग या त्रिविष्टप से तिब्बत का अर्थ आपने किस कोश से निकाला? संस्कृत के किसी कोश या पुस्तक में स्वर्ग या त्रिविष्टप शब्द का अर्थ तिब्बत नहीं हो सकता,

फिर आपके पूर्वजों को तिब्बती कैसे स्वीकार किया जाए?

तोपजी—आपने इस बात को तो स्वीकार कर लिया कि ऋग्वेद (१०।१९०।३) में जगत् की उत्पत्ति के साथ-साथ 'स्वः' अर्थात् स्वर्ग=सुखप्राप्ति के विशेष स्थान को परमात्मा ने उत्पन्न किया—ऐसा लिखा हुआ है और इस बात को भी आप मानते हैं कि स्वर्ग का नाम अमरकोश में त्रिविष्टप भी आया है और यह भी निश्चित बात है कि स्वर्ग संसार से पृथक् कोई स्थान नहीं है, अपितु इस संसार में ही जो सुख और सुख की सामग्री मिलने का स्थान है, उसका नाम स्वर्ग है और ब्रह्म की प्राप्ति से बढ़कर संसार में कोई सुख नहीं है। अब जिस स्थान पर ब्रह्म की प्राप्ति के साधन विद्यमान हों उसी का नाम स्वर्ग या त्रिविष्टप है और ब्रह्म की प्राप्ति के साधन यजुर्वेद (२६.१५)[१] में पर्वतों की निकटता और नदियों के सङ्गम पर योगाभ्यास करना बतलाया है। इससे यह सिद्ध है कि इस संसार में जिस स्थान पर पर्वतों की गुफाएँ और नदियों के सुहावने सङ्गम हों, जहाँ पर बैठकर योगाभ्यास के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति हो सकती हो, उसी का नाम स्वर्ग या त्रिविष्टप हो सकता है। उपर्युक्त कारणों को दृष्टि में रखते हुए हम विवश होकर इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि स्वर्ग या त्रिविष्टप तिब्बत के अतिरिक्त और किसी स्थान का नाम नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म को प्राप्त करने के उपर्युक्त साधन तिब्बत में विद्यमान हैं और इसका नाम भी स्पष्ट सिद्ध कर रहा है कि त्रिविष्टप शब्द से बिगड़कर इस प्रदेश का नाम तिब्बत प्रसिद्ध हुआ है। यह प्रदेश सारे संसार से ऊँचा और मनुष्यों के निवास के योग्य स्थान है और इसका ही सृष्टि के आरम्भ में सबसे प्रथम जलों से बाहर आना सम्भव है, अतः यह सिद्ध है कि सर्गारम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत में ही हुई थी। इस सम्बन्ध में हम अथर्ववेद (११.१.७) का मन्त्र प्रस्तुत करते हैं जो उपर्युक्त सिद्धान्त का समर्थन करता है—

साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति॥

—अथर्व० ११.१.७

अर्थ—जो एक-साथ एक-जैसे उत्पन्न हुए प्राणियों के रहने का स्थान है और सबसे ऊँचा होने के कारण जलों से सर्वप्रथम बाहर निकलता है और जो महाशक्ति परमात्मा की प्राप्ति के साधन अपने में सँजोये हुए है, उसी का नाम स्वर्ग और उसी का नाम विष्टप है, उसे प्राप्त करो।

वेद की इस परिभाषा के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति का स्थान और स्वर्ग या विष्टप नामवाला प्रदेश तिब्बत के अतिरिक्त और कोई हो ही नहीं सकता।

पोपजी—यजुर्वेद अध्याय २६, मन्त्र १५ का जो अर्थ आपने लिखा है कि बुद्धिमान् ऋषि, ब्राह्मण पर्वतों में पैदा हुए, यह आपका मनमाना अर्थ स्वामीजी के भाष्य के विरुद्ध है। स्वामी दयानन्दजी इस मन्त्र का अर्थ करते हुए लिखते हैं कि "जो पुरुष पर्वतों के निकट और नदियों के मेल में योगाभ्यास से ईश्वर की और विचार से विद्या की उपासना करें, वे उत्तम बुद्धि व कर्म से युक्त, विचारशील, बुद्धिमान् होते हैं।" कहिए, महाशय! आपका लिखना ठीक है अथवा स्वामी दयानन्दजी महाराज का अर्थ ठीक है? आप दोनों में कौन झूठा है? इस मन्त्र का यही अर्थ महीधर ने किया है, अतः स्वामीजी का अर्थ ही मान्य हो सकता है, परन्तु इस अर्थ में नदियों और पर्वतों में योगादि तप करने का ही वर्णन है।

---

१. मूल मन्त्र यह है—
उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥

इसमें ब्राह्मणों की उत्पत्ति का वर्णन तो नहीं है। लाला साहब का यह लिखना सर्वथा झूठ है कि बुद्धिमान् ब्राह्मण पर्वतों, नदियों और जङ्गलों में उत्पन्न हुए। आपकी यह बात स्वामीजी के भाष्य से ही झूठी सिद्ध हुई है। लाला साहब प्रमाण देते समय अपने घर का वृत्तान्त ले-लिया करें।

तोपजी—इस मन्त्र के अर्थ न स्वामीजी के झूठे हैं और न हमारे अपितु झूठे आप हैं, क्योंकि आपने हमारे अर्थों को पूरा न लिखकर व्यर्थ में शोर मचा दिया कि हमारे अर्थ स्वामीजी के अर्थों के विरुद्ध हैं। श्रीमन्! हमने वही अर्थ किये हैं जो स्वामीजी ने किये हैं, शब्दों का चाहे अन्तर हो, परन्तु तात्पर्य में बिल्कुल अन्तर नहीं है। तनिक हमारे अर्थों को ध्यानपूर्वक पढ़ें—"जहाँ पर पर्वतों की गुफा हों और नदियों के सङ्गम हों, ऐसे स्थान पर बुद्धिमान् ब्राह्मणों की उत्पत्ति होती है।" इस मन्त्र से यह बात स्पष्ट हो गयी कि जिस स्थान पर पर्वत, नदियाँ और वन हों, ऐसे स्थान पर ही विद्वान्, बुद्धिमान् और ऋषि-मुनियों की उत्पत्ति होती है, अर्थात् ऐसा स्थान ही ऋषि लोगों के रहने के लिए उपयुक्त होता है और यह बात स्पष्ट है जो ऋषि-मुनियों को उत्पन्न करनेवाला और रहने के योग्य स्थान होता है, उसी का नाम स्वर्ग है, क्योंकि ऐसे स्थानों में ही योगाभ्यास करके उस परमात्मा के परमसुख को प्राप्त होते हैं।"

श्रीमन्! अब हमारे पूरे अर्थ को पढ़कर बतलाएँ कि हमारे और स्वामीजी के अर्थ में क्या अन्तर है, जबकि हमने "ऋषि-मुनियों की उत्पत्ति होती है" को स्पष्ट कर दिया है कि "ऐसे स्थान ही ऋषि लोगों के रहने के लिए उपयुक्त होते हैं" और इसमें सन्देह ही क्या है कि ऐसे स्थानों पर ही ऋषि-मुनि लोग उत्पन्न होते हैं, क्योंकि ऐसे स्थानों में ही मनुष्य विद्या और योग का अभ्यास करके ऋषि और मुनि बन सकते हैं और इन्हीं स्थानों का नाम स्वर्ग भी हो सकता है। इस बात को हमने अपनी पुस्तक 'शास्त्रार्थ जाखल' में स्पष्ट लिखा है और उसी को ऊपर लिख दिया है। चूँकि तिब्बत ऐसा ही स्थान है, इसलिए उसी का नाम स्वर्ग या त्रिविष्टप हो सकता है।

अब रह गयी महीधर की बात। उसने तो आपका कचूमर ही निकाल दिया है, क्योंकि वह तो बुद्धिमान् ब्राह्मणों की उत्पत्ति ही ऐसे स्थान पर मानता है, जिससे हमारे सिद्धान्त "सृष्टि के आरम्भ में तिब्बत में मनुष्यों की उत्पत्ति हुई" का पूर्णरूप से समर्थन होता है। तनिक महीधर का भाष्य पढ़ने की कृपा करें—

गिरीणां पर्वतानामुपह्वरे निकटे नदीनां गङ्गादीनां च सङ्गमे विप्रो मेधावी सोमः अजायत उत्पन्नः॥

अर्थ—पर्वतों के निकट और नदियों के सङ्गम में बुद्धिमान् ब्राह्मण उत्पन्न हुए।

कहिए, यहाँ उत्पन्न होने का वर्णन है या नहीं? अब बतलाइए, झूठे आप सिद्ध हुए या हम? मूलमन्त्र में गङ्गा शब्द नहीं है। यह महीधर का अपना आविष्कार है और वेदों में गङ्गा शब्द भागीरथी नदी के अर्थों में प्रयुक्त नहीं होता, अपितु निरुक्त (२.२६) के अनुसार साधारण गति से चलनेवाली नदी का नाम गङ्गा होता है।

पोपजी—तैत्तिरीयोपनिषद् और मनुस्मृति के प्रमाण से जो लाला साहब ने आकाश आदि की सृष्टि का वर्णन किया है, इसे हम भी मानते हैं, परन्तु सबसे ऊँचा पर्वत हिमालय ही माना गया है। तिब्बत का प्रदेश इस पर्वत से ऊँचा नहीं है। हिमालय के निकट ही सर्वप्रथम भूमि जल से बाहर निकली थी और वहाँ ही आरम्भिक सृष्टि उत्पन्न हुई। उसका नाम आर्यावर्त्त देश है।

तोपजी—धन्यवाद है कि आपने तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली ६, अनुवाक १ तथा मनुस्मृति अध्याय १, श्लोक ७५ से ७८ तक में वर्णित संसार की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया कि—''परमात्मा ने सर्वप्रथम आकाश को प्रकट किया। आकाश के पश्चात् वायु को उत्पन्न किया। वायु के पश्चात् अग्नि उत्पन्न हुई और अग्नि के बाद जल पैदा हुए और जलों के पश्चात् पृथिवी उत्पन्न हुई और पृथिवी के पश्चात् पेड़-पौधे, वृक्ष, सब्जियाँ, फूल-फलवाले पौधे उत्पन्न हुए और इनके पश्चात् मनुष्यों की उत्पत्ति हुई'' और आपने इस बात को भी स्वीकार कर लिया है कि ''जलों की उत्पत्ति के पश्चात् पृथिवी की उत्पत्ति होने में सबसे पूर्व पृथिवी का वही भाग जलों से खाली होकर प्रकट होगा जो भूमि का सबसे ऊँचा भाग होगा और जो मनुष्यों के निवास के योग्य भूमि का भाग सबसे पहले प्रकट होगा उसपर ही सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति सम्भव है।''

अब मतभेद केवल इतना ही रह गया कि हम तो यह कहते हैं कि तिब्बत का प्रदेश सबसे प्रथम पानी से बाहर निकला और आप कहते हैं कि आर्यावर्त्त का प्रदेश सबसे पहले पानी से बाहर निकला। अब यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि तिब्बत का प्रदेश आर्यावर्त्त देश से बहुत ऊँचा है, क्योंकि तिब्बत का प्रदेश हिमालय की समतल भूमि में पर्वत के ऊपर है और आर्यावर्त्त नाम उस प्रदेश का है जो बंगाल के समुद्र से लेकर अरब देश के समुद्र तक हिमालय और विन्ध्याचल पर्वतों के मध्य में है। तात्पर्य यह कि हिमालय आर्यावर्त्त में सम्मिलित नहीं है और तिब्बत हिमालय पर्वत पर स्थित है, अतः तिब्बत आर्यावर्त्त की अपेक्षा बहुत ऊँचा है। इस कारण से तिब्बत ही सबसे पूर्व जलों से बाहर आया और यहाँ ही सर्वप्रथम मनुष्यों की उत्पत्ति हुई।

यदि आप मनुस्मृति के विरुद्ध यह स्वीकार करते हैं कि सम्पूर्ण हिमालय पर्वत भी आर्यावर्त्त में सम्मिलित है, तो भी ऊँचा स्थान तिब्बत ही मानना पड़ेगा। यह बात दूसरी है कि हम उसे तिब्बत कहें और आप उसे आर्यावर्त्त पुकारें, क्योंकि तिब्बत का प्रदेश हिमालय पर्वत का ही भाग है और भूमितल से पन्द्रह सहस्र फुट ऊँचा है। संसार का मनुष्यों के बसने के योग्य और कोई स्थान तिब्बत से ऊँचा नहीं है और जो स्थान तिब्बत से ऊँचे हैं, वे बस्ती के ख़याल से मनुष्यों के रहने के योग्य नहीं है। बस, यह सिद्ध हुआ कि संसार में तिब्बत ही मनुष्यों के रहने के योग्य सबसे ऊँचा प्रदेश है। वही सबसे पहले जलों से बाहर आया और सृष्टि के आरम्भ में सर्वप्रथम वहाँ ही मनुष्यों की उत्पत्ति हुई।

पोपजी—पाण्डव भी आर्यावर्त्त देश के हिमालय पर्वत पर ही गये थे, तिब्बत में नहीं गये थे। तिब्बत का नाम स्वर्ग नहीं हो सकता। स्वर्ग का वर्णन वेदों और शास्त्रों में मर्त्यलोक से पृथक् आता है। जबकि अथर्ववेद अध्याय २, मन्त्र ४८ में लिखा है कि जहाँ तक जल के परमाणु जाते हैं, आकाश के उस पूर्वभाग को 'उद्रोति' कहते हैं और आकाश के मध्यभाग को जहाँ सूर्य की किरणें अधिक पड़ती हैं उसे 'पैलू' कहते हैं और उसके ऊपर तीसरे भाग को जहाँ सूर्य का अधिक प्रकाश है, उसे 'द्यौ' अर्थात् स्वर्गलोक कहते हैं, जहाँ देवता और पितर रहते हैं। इस प्रमाण से तिब्बत या पृथिवी के अन्य किसी भाग को स्वर्ग मानना वेद का विरोध करना है।

तोपजी—यद्यपि हिमालय पर्वत आर्यावर्त्त की सीमा पर है तथापि वह आर्यावर्त्त में सम्मिलित नहीं है। फिर भी दुर्जनतोष-न्याय से यदि आपकी बात को मान लिया जाए तो तिब्बत हिमालय पर्वत के भीतर ही है, अतः आपका यह लिखना सर्वथा असत्य है कि पाण्डव तिब्बत में नहीं गये थे। हम ऊपर अथर्ववेद का मन्त्र देकर सिद्ध कर चुके हैं कि तिब्बत का नाम ही स्वर्ग हो सकता है और वास्तव में स्वर्गभूमि से पृथक् किसी स्थानविशेष

का नाम नहीं है। सांख्य का यही मत है कि सुख और सुख की सामग्री का नाम स्वर्ग है। कपिल-गीता भी यही कहती है कि नरक और स्वर्ग इसी संसार में हैं, ये संसार से पृथक् कोई स्थान नहीं है, अन्यथा युधिष्ठिर का कुत्तेसहित स्वर्ग में जाना कैसे सम्भव हो सकता था?

आपने अथर्ववेद अध्याय २, मन्त्र ४८ का प्रमाण स्वर्ग की परिभाषा में दिया है, जोकि सर्वथा झूठा है। अथर्ववेद में अध्यायों का विभाग ही नहीं है, अपितु वहाँ तो काण्ड, अनुवाक और सूक्तों का विभाग है। इसलिए आपने यूँ ही अललटप्पू अथर्ववेद का नाम देकर मनमाना लिख मारा है। अथर्ववेद में इस भाव को बतलानेवाला कोई भी मन्त्र नहीं है। हाँ, हमने जो अथर्ववेद (११।१।७) का प्रमाण दिया है, उसमें स्वर्ग की परिभाषा विद्यमान है, जिसके अनुसार तिब्बत का नाम ही विष्टप और स्वर्ग वेद के अनुकूल प्रतीत होता है। आपका उपर्युक्त लेख सर्वथा असत्य तथा कपोलकल्पित है। पाण्डवों का स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा से हिमालय पर्वत पर जाना इस बात को सिद्ध करता है कि तिब्बत का ही नाम स्वर्ग और विष्टप है, अतः सिद्ध है कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति तिब्बत में ही हुई थी।

पोपजी—मनुस्मृति (२।२२) में लिखा है कि बंगाल के समुद्र से लेकर अरब देश के समुद्र तक हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य में जितना देश है, इसे आर्यावर्त्त कहते हैं। यही देश आर्यों की जन्मभूमि थी।

तोपजी—सनातनधर्म के ठेकेदारों के लिए झूठा प्रमाण देना और झूठा ही अर्थ लिख देना एक साधारण बात है। ऊपर अथर्ववेद का सर्वथा झूठा प्रमाण देकर मनमाना लेख लिख मारा। अब मनुस्मृति का प्रमाण देकर आर्यावर्त्त देश की सीमा का वर्णन करते हुए अपने घर से अटकलपच्चू यह पूँछ और लगा दी कि 'यही देश आर्यों की जन्मभूमि थी।' कोई इन पोपजी से पूछे कि यह अर्थ श्लोक के कौन-से भाग का है। हम पाठकों की जानकारी के लिए मनुस्मृति का मूल श्लोक उद्धृत कर देते हैं—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥

—मनु० २।२२

अर्थ—पूर्व के समुद्र से लेकर पश्चिम के समुद्र तक और इन्हीं दोनों (हिमालय और विन्ध्याचल) पर्वतों के मध्यवर्ती प्रदेश को बुद्धिमान् लोग आर्यावर्त्त कहते हैं।

कृपा करके बताएँ कि आपका उपर्युक्त लेख श्लोक के कौन-से शब्दों का अर्थ है? क्या इस प्रकार की गप्पबाजी और मिथ्या भाषण से सनातनधर्म की विजय हो सकती है? कभी भी नहीं।

पोपजी—मनुस्मृति (२।१७) में लिखा है कि आर्यावर्त देश का एक भाग जोकि सरस्वती और दृषद्वती नदी के मध्य का भाग है, उसे ब्रह्मावर्त कहते हैं। यह बड़ा पवित्र है। यहाँ ही ब्रह्माजी ने मनुष्यों की उत्पत्ति पहले की थी।

तोपजी—या बेईमानी तेरा ही आसरा! पहले श्लोक के अर्थ में मनमाना पाठ डालकर धोखा दिया ही था, परन्तु यहाँ तो धोखेबाजी की पराकाष्ठा ही हो गयी। यदि उसी प्रकार से सनातनधर्म के सिद्धान्तों को सिद्ध करके सनातनधर्म की रक्षा करना अभीष्ट है, तो यह पाप की नाव भरकर बस डूबना ही चाहती है। इन गप्पाष्टक बाजियों से अब सनातनधर्म की रक्षा नहीं हो सकती, अन्यथा बतलाएँ कि "यहाँ ही ब्रह्माजी ने मनुष्यों की उत्पत्ति पहले की थी" अर्थ श्लोक के किन अक्षरों का है? लीजिए, हम मनुस्मृति का मूल श्लोक लिख देते हैं—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते॥

—मनु० २।१७

अर्थ—जो प्रदेश सरस्वती और दृषद्वती दोनों देव-नदियों के मध्य में है, उस देवनिर्मित देश को ब्रह्मावर्त कहते हैं।

इसमें ब्रह्मा के द्वारा मनुष्यों की उत्पत्ति करने की चर्चा तक भी नहीं है।

पोपजी—कहिए, लाला साहब! मनुस्मृति के प्रमाणों से तो हिन्दुस्तान ही आर्यावर्त्त और आदि-सृष्टि का स्थान सिद्ध होता है, तो आपके तिब्बत को कौन माने कि आदि-सृष्टि तिब्बत में हुई थी?

तोपजी—हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि मनुस्मृति के दोनों श्लोकों में मनुष्य की उत्पत्ति की चर्चा तक भी नहीं है। फिर भला! आपकी कूटनीतियों, धोखेबाज़ियों और मिथ्या भाषणों से धोखे में आकर बुद्धिमान् लोग सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति आर्यावर्त्त में कैसे मान सकते हैं?

पोपजी—अन्यत्र इसपर विचार करते हुए आर्यसमाज के चोटी के विद्वान् पं० नरदेव शास्त्री **'वेद समालोचना'** नामक पुस्तक के पृष्ठ ८८ पर लिखते हैं कि आर्य लोग पञ्जाब या सप्तसिन्धु देश के ही शुरू से रहनेवाले थे। उन्होंने सप्तसिन्धु देश का वर्णन करते हुए लिखा है कि सरस्वती नदी से लेकर गङ्गा तक की पवित्र भूमि ही आर्यों की आदि-सृष्टि का स्थान है।

तोपजी—जैसे बिना किसी प्रमाण के अटकलपच्चू, काल्पनिक बातें आपकी नहीं मानी जा सकतीं, इसी प्रकार आपके बड़े भाई, डबल पोप पं० नरदेव शास्त्री की भी नहीं मानी जा सकतीं। यदि कोई अपने-आपको आर्यसमाजी कहता हुआ बुद्धि और ज्ञान के विरुद्ध बातें करे तो आर्यजगत् में वह विद्वान् नहीं माना जा सकता। आर्यसमाज बुद्धिमानों का समाज है। वह किसी मनुष्य को सिद्धान्त में प्रमाण नहीं मानता। यह **'ब्रह्मवाक्यं प्रमाणम्'** का अन्धेर सनातनधर्म में ही चल सकता है, आर्यसमाज में नहीं चल सकता। पं० नरदेवजी शास्त्री के उक्त युक्ति और प्रमाण से शून्य लेख को आप और आपके अन्धविश्वासी सनातनधर्मी प्रात:काल शहद लगाकर चाट लिया करें।

पोपजी—जबकि शतपथब्राह्मण और मनुस्मृति आर्यावर्त्त देश में ही आदि-सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं, दूसरे कई आर्यसमाजी विद्वानों की भी यही सम्मति है तो लाला साहब! स्वामीजी के मनमाने तिब्बत के प्रदेश को आदि-सृष्टि का उत्पत्ति-स्थान कैसे माना जाए? मानना पड़ता है कि स्वामीजी का यह लेख कपोलकल्पित और वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—श्रीमन्! अब सटल्लेबाज़ियों और गप्पाष्टकों का युग गया। अब जनता में ज्ञान का प्रकाश फैल रहा है। अब जनता उसकी बातों को मानेगी जो युक्ति, तर्क और बुद्धि से प्रमाणयुक्त बात कहेगा। आपने शतपथ का कोई प्रमाण न देकर यूँ ही काल्पनिक बात लिख दी और मनुस्मृति के श्लोकों का नाम लेकर अर्थ में मनमाना लेख अपनी ओर से जड़ दिया। अथर्ववेद का ग़लत प्रमाण देकर कपोल-कल्पित आकाशीय स्वर्ग का मानचित्र वर्णन किया और एक अपने ही जैसे आर्यसमाज के सिद्धान्तों के विरोधी डबल पोप की बिना सिर-पैर की गवाही दे डाली। क्या इन बातों से कभी ऋषि दयानन्द के लेख को ग़लत सिद्ध किया जा सकता है? हमने ऋग्वेद के मन्त्र से सिद्ध किया कि परमात्मा ने स्वर्ग को उत्पन्न किया और अथर्ववेद से प्रमाणित किया कि स्वर्ग की परिभाषा से तिब्बत का नाम ही त्रिविष्टप अथवा स्वर्ग रक्खा जा सकता है। तैत्तिरीयोपनिषद् और मनुस्मृति के प्रमाणों

से सिद्ध किया कि जलों से सबसे प्रथम वही स्थान खाली हो सकता है जो संसार में सबसे ऊँचा हो और उसमें मनुष्यों की सर्वप्रथम सृष्टि होना सम्भव है। तिब्बत संसार में सबसे ऊँचा और मनुष्यों के निवास-योग्य स्थान है। वह भूमितल से पन्द्रह सहस्र फुट ऊँचा है। पाण्डव भी स्वर्ग-प्राप्ति की कामना से इधर ही गये थे।

इन सम्पूर्ण प्रमाणों से हमने यह बात सिद्ध कर दी है कि सर्गारम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति तिब्बत में ही हुई थी। इस बात का समर्थन ऋग्वेद भी करता है—

इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय। शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदिरे॥

—ऋ० ८.९१.५

चूँकि यह मन्त्र भी सैद्धान्तिक रूप से स्वामीजी के लेख का समर्थन करता है, अतः स्वामीजी का यह सिद्धान्त कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत में हुई थी सोलह आने वेद के अनुकूल है और स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ भी सर्वथा वेदानुकूल हैं।

७. चोटी

सिद्धान्त—इसके अनन्तर गायत्री मन्त्र से शिखा को बाँधके रक्षा करे। इसका प्रयोजन यह है कि केश इधर-उधर न गिरें, सो यदि केशादि पतन न हो तो न करे; और रक्षा करने का प्रयोजन यह है कि परमेश्वर प्रार्थित होकर सब भले कामों में सदा सब जगह में हमारी रक्षा करे। —**पञ्चमहायज्ञविधि**

जितने केश रखने हों उतने ही केश रक्खे, परन्तु पाँचों ओर थोड़ा-थोड़ा केश रखावे अथवा किसी एक ओर रक्खे, अथवा एक बार सब कटवा देवे, पश्चात् दूसरी बार के केश रखने उत्तम होते हैं। —**संस्कारविधि, चूड़ाकर्मसंस्कार**

ब्राह्मण के सोलहवें, क्षत्रिय के बाईसवें और वैश्य के चौबीसवें वर्ष में 'केशान्तकर्म' और मुण्डन हो जाना चाहिए, अर्थात् इस विधि के पश्चात् केवल शिखा को रखके अन्य दाढ़ी-मूँछ और सिर के बाल सदा मुँडवाते रहना चाहिए, अर्थात् पुनः कभी न रखना; और जो शीतप्रधान देश हो तो कामचार है, चाहे जितने केश रक्खे और जो अति उष्ण देश हो तो शिखा-सहित सब केश छेदन करा देना चाहिए, क्योंकि सिर में बाल रहने से उष्णता अधिक होती है और उससे बुद्धि कम हो जाती है। दाढ़ी-मूँछ रखने से भोजन-पान अच्छे प्रकार नहीं होता और उच्छिष्ट भी बालों में रह जाता है। —**सत्यार्थप्रकाश, दशमसमुल्लास**

*

पोपजी—स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि—'जहाँ गर्म देश हो वहाँ चोटी भी कटवा देनी चाहिए।' यह किस वेद के अनुसार है?

तोपजी—स्वामीजी के लेख में चोटी कटाने की सामान्य आज्ञा नहीं है, अपितु सामान्यरूप से तो यह लिखा हुआ है कि "इस विधि के पश्चात् केवल शिखा को रखकर अन्य दाढ़ी-मूँछ और सिर के बाल सदा मुँडवाते रहना चाहिए।" और सन्ध्या की विधि में भी गायत्री मन्त्र से चोटी के बाँधने की विधि लिखी हुई है। इन दोनों लेखों से सिद्ध है कि स्वामीजी सामान्यरूप से सामान्य अवस्थाओं में शिखा का रखना अत्यन्त आवश्यक और धर्म का चिह्न मानते हैं, परन्तु विशेष अवस्थाओं में यदि चोटी कटवा दी जाए तो इसे पाप भी नहीं मानते, अतः उन्होंने लिखा है—"और जो अति उष्ण देश हो तो शिखा-सहित सब केश छेदन करा देना चाहिए, क्योंकि सिर में बाल रहने से उष्णता अधिक होती है और उससे बुद्धि कम हो जाती है।"

चूँकि आपका दावा था कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं, ऐसी स्थिति

में आपका कर्त्तव्य था कि आप कोई ऐसा मन्त्र प्रस्तुत करते कि जिससे यह सिद्ध होता कि उष्ण देश में भी चोटी नहीं कटवानी चाहिए। ऐसी अवस्था में आपका अधिकार हो जाता कि आप स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों को वेद के विरुद्ध कह सकें, परन्तु आपने स्वामीजी के लेख के विरुद्ध कोई वेदमन्त्र प्रस्तुत नहीं किया, अतः आपका प्रश्न ही सिद्धान्त के विरुद्ध है। आपका हमसे स्वामीजी के समर्थन में वेदमन्त्र माँगना इस बात को सिद्ध करता है कि आप स्वामीजी के लेख के विरुद्ध कोई वेदमन्त्र प्रस्तुत नहीं कर सकते, इसलिए इस विषय में भी आप न्यायशास्त्र के अनुसार प्रतिज्ञाहानि-निग्रहस्थान में पड़कर पराजित हो चुके हैं।

पोपजी—पण्डित श्रीकृष्णजी ने पूर्णरूप से बतला दिया था कि यजुर्वेद अध्याय १७, मन्त्र ४८ में बालकों का ही वर्णन है, न कि जवान पुरुषों का।

तोपजी—आपका यह लिखना सर्वथा ग़लत है कि इस मन्त्र में बालकों का ही वर्णन है, क्योंकि मन्त्र में कुमार शब्द आया है, जो केवल बालकों के लिए नहीं अपितु कुँवारे चाहे बालक हों, चाहे जवान—सभी के लिए प्रयुक्त किया जाता है, क्योंकि सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में कुमार और कुमारी शब्द अविवाहित पुरुषों और स्त्रियों के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। तनिक मन्त्र को ध्यानपूर्वक पढ़ें—

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखाऽ इव।
तन्नऽ इन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु॥ —यजुः० १७।४८

अर्थ—जिस स्थान पर रणभूमि में शत्रुओं द्वारा फेंके गये बाण इधर-उधर ऐसे गिरते हैं, जैसे अनेक चोटियोंवाले और चोटी कटाये हुए कुमार इधर-उधर भागते फिरते हैं। ऐसे, युद्ध में परमैश्वर्यशाली, वेद का स्वामी, दुष्टों का नाश करनेवाला, संसार का पालक परमात्मा हमारा कल्याण करे।

अमरकोश [१.७.१२] में कुमार शब्द का अर्थ युवराज अर्थात् राजपुत्र—राजा का लड़का लिखा है और [२.६.८] में कुमारी शब्द का अर्थ कन्या अर्थात् अविवाहित लड़की लिखा है। तात्पर्य यह कि कुमार शब्द का अर्थ राजा का पुत्र और अविवाहित लड़का है, जिसमें बालक और युवक दोनों सम्मिलित हैं, क्योंकि एक वर्ष और तीन वर्ष के बालकों का बालों (केशों) की भाँति इधर-उधर भागना-दौड़ना असम्भव है, अतः यहाँ पर कुमार शब्द से युवा—भागने-दौड़ने योग्य लड़कों का ही ग्रहण किया जा सकता है, छोटी अवस्था के बालकों का नहीं।

पोपजी—बालक मुण्डन-संस्कार से पहले और मुण्डन-संस्कार कराने के पश्चात् भी चोटियों के बिना ही होते हैं। क्या कभी छोटे बच्चे के भी चोटी होती है। इस मन्त्र में चोटी के बिना जो बालक लिये गये हैं वे छोटी अवस्था के या जिनके मुण्डन-संस्कार अभी-अभी होने के कारण सिर के सारे बाल मुँडवाये गये हों वे ही लिये गये हैं, अतः इस मन्त्र से सबके लिए चोटी का कटवाना सिद्ध नहीं होता।

तोपजी—इस मन्त्र में मुण्डन-संस्कार का लवलेश भी नहीं है। न जाने पोपजी इसमें मुण्डन-संस्कार कहाँ से ले-दौड़े! किसी गृह्यसूत्र ने भी इस मन्त्र को मुण्डन-संस्कार में नहीं लिखा है, अतः पोपजी की यह कल्पना कि मन्त्र में कुमार शब्द से अभी-अभी मुण्डन-संस्कार करानेवाले बालकों का वर्णन है, सर्वथा ग़लत है, क्योंकि मुण्डन-संस्कार एक वर्ष या तीन वर्ष की अवस्था में किया जाता है और एक या तीन वर्ष के बालक शत्रुओं के फेंके गये बाणों की भाँति वेग से दौड़ नहीं लगा सकते, अतः यहाँ पर इस मन्त्र में कुमार शब्द से भागने-दौड़ने के योग्य बड़ी अवस्था के अविवाहित लड़कों की चर्चा ही ली-जाएगी।

रही यह बात कि—'इस मन्त्र से सबके लिए चोटी का कटवाना सिद्ध नहीं होता,' इसका उत्तर स्पष्ट है कि आप व्यर्थ पक्षपात में अन्धे हो रहे हैं, अन्यथा सबके लिए चोटी कटवाना स्वामीजी ने भी नहीं लिखा है, अपितु अति उष्ण देश में ही लिखा है जोकि उचित ही है, इसलिए जो अति उष्ण देश में जाए और यदि उष्णता (गर्मी) उसे तङ्ग करे और यदि उसकी इच्छा हो तो वह शिखा-सहित सिर को मुँडवा सकता है।

पोपजी—यदि वेद को सबकी चोटी कटवाना स्वीकार होता तो वहाँ बालकों के स्थान पर 'पुरुष चोटी के बिना भागते हैं' ऐसा वर्णन होता, परन्तु केवल बालकों की उपमा देने से यही सिद्ध होता है कि छोटे बालकों की चोटी नहीं होती और जिनका मुण्डन-संस्कार हुआ है उनके भी चोटी नहीं होती, क्योंकि मुण्डन-संस्कार में सिर के सारे बाल कटवाने की धर्मशास्त्रों में आज्ञा है, अतः स्वामीजी का सिद्धान्त और लाला मनसारामजी का प्रमाण सर्वथा ग़लत है।

तोपजी—इस मन्त्र में सैद्धान्तिकरूप से चोटी मुँडवाने और रखने का वर्णन किया गया है। यह मन्त्र मुण्डन-संस्कार का नहीं है। इसीलिए इसमें बच्चों की चर्चा नहीं, अपितु कुमारों का वर्णन है। आपकी बुद्धि की भी बलिहारी है! क्या आपके विचार में कुमार पुरुष नहीं होते? यदि वेद को केवल छोटे बच्चों की ही शिखा कटवाना अभीष्ट होता तो इस मन्त्र में कुमार के स्थान पर बालक शब्द ही आता, जिससे छोटी अवस्था के बालकों का ही ग्रहण किया जा सकता। कुमार शब्द के आने से सिद्ध है कि वेद को छोटी अवस्था के बच्चों का वर्णन अभीष्ट नहीं, अपितु बाणों की भाँति तीव्र गति से दौड़नेवाले बड़ी अवस्था के बच्चों और युवाओं तथा अविवाहित लड़कों का वर्णन अभीष्ट है, क्योंकि छोटे बालक जिनकी शिखा होती ही नहीं वे शत्रु के फेंके हुए तीरों की भाँति चञ्चलता से भाग ही नहीं सकते।

रहा आपका यह कहना कि—"जिनका मुण्डन-संस्कार हुआ है, उनकी भी चोटी नहीं होती, क्योंकि मुण्डन-संस्कार में सिर के सारे बाल कटवाने की धर्मशास्त्र की आज्ञा है"—भी सर्वथा असत्य है, क्योंकि गृह्यसूत्रों में भी सब बालकों के सारे केश मुँडवाने का वर्णन नहीं है। वहाँ भी सामान्यरूप से चोटी रखकर मुँडवाने का वर्णन है, परन्तु विशेषरूप से विशेष बालकों का शिखासहित मुण्डन कराने का वर्णन है, देखिए—

यथा मङ्गलं केशशेषकरणम्॥ —पारस्कर० २.१.२१

यह पारस्करगृह्यसूत्र का वचन है। इसपर हरिहरजी भाष्य करते हुए लोगाक्षी का प्रमाण देते हैं—

दक्षिणतः कम्बुजानां बसिष्ठानामुभयोरत्रिकश्यपानां, मुण्डाः भृगवः, पञ्चचूडा आङ्गिरसः, वाजसनेयीनामेका मङ्गलार्थं शिखाऽन्य इति लोगाक्षी।

अर्थ—कम्बोज और वसिष्ठ दायीं ओर चोटी रक्खें, अत्रि और कश्यप दोनों कुल दोनों ओर चोटी रक्खें, अङ्गिरस-कुलवाले पाँच चोटियाँ रक्खें, वाजसनेयी-कुलवाले मङ्गल के लिए एक चोटी रक्खें और भृगुवंशी सारा ही सिर मुँडवा दें, अर्थात् शिखा बिल्कुल न रक्खें।

इस सूत्र पर गदाधरजी टीका करते हैं—

यस्य कुले यथा प्रसिद्धं तस्य तथैव शिखास्थापनं कार्यम्। अत्र कारिकायाम्—
केशशेषं तथा कुर्याद्यस्मिन् गोत्रे यथोचितम्। वसिष्ठा दक्षिणे भागे उभयत्रापि काश्यपाः॥
शिखां कुर्वन्त्यङ्गिरसः शिखाभिः पञ्चभिर्मताः। परितः केशपंक्त्या वा मुण्डाश्च भृगवो मताः॥
कुर्वन्त्यन्ये शिखामत्र मङ्गलार्थमिह क्वचित्॥

अर्थ—जिस कुल में जो विधि हो उसी के अनुसार शिखा रखनी चाहिए, जैसे वसिष्ठ दायीं ओर, कश्यप दोनों ओर, अङ्गिरस पाँच ओर और दूसरे मङ्गलार्थ एक शिखा रखते हैं और भृगुवंशवाले सब मुँडवा देते हैं।

इस पारस्करगृह्यसूत्र को ध्यानपूर्वक पढ़ें। इसमें मुण्डन संस्कार में सब बालकों का सारा सिर मुँडवाना नहीं लिखा है, अपितु भृगुवंशवालों का ही सारा सिर मुँडवाना लिखा है।

यद्यपि यजुर्वेद (१७।४८) में मुण्डन-संस्कार का वर्णन नहीं है, अपितु सामान्यरूप से अपनी इच्छा के अनुसार शिखा रखने या मुण्डन करवाने का वर्णन है, तथापि यदि आपके विचार के अनुसार भी मान लिया जाए तो भी मुण्डन-संस्कार में गृह्यसूत्रों में दोनों प्रकार की बातें मिलती हैं—चोटी का रखना भी मिलता है और चोटी का न रखना भी मिलता है, अर्थात् मुण्डन-संस्कार में भी सबके सारे बाल मुँडवाने का वर्णन नहीं है। ऐसी स्थिति में चोटी-समेत सारे सिर का मुँडवा देना स्वामीजी के लेख का प्रबल समर्थन करता है, अतः स्वामीजी का सिद्धान्त और हमारा प्रमाण सर्वथा उचित है।

पोपजी—अथर्ववेद (६।६८।२) में जो आज्ञा केशों को गीला करके तेज उस्तरे से कटवाने की दी है, वह ठीक है। बालों को कटवाना हम भी मानते हैं, परन्तु इस मन्त्र में भी चोटी कटवाने का वर्णन नहीं है। वेदों का प्रमाण तो चोटी कटवानेवाला देना चाहिए था, परन्तु लाला साहब ने केश-छेदन का ही वेदप्रमाण दे दिया। इस प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं थी। महाशय! कृपा करके कोई ऐसा वेदमन्त्र प्रस्तुत कीजिए, जिसमें सब मनुष्यों को चोटी कटवाने की आज्ञा दी हुई हो।

तोपजी—आपने इस बात को तो स्वीकार कर लिया कि अथर्ववेद में बालों का कटवाना लिखा है, परन्तु इस मन्त्र में यह वर्णन नहीं है कि चोटी रखकर बाल कटवाने चाहिएँ। वेद का शिखा के सम्बन्ध में कोई वर्णन न करते हुए बालों को मुँडवाने की आज्ञा देना इस बात को सिद्ध करता है कि चोटी का रखना या न रखना अपनी इच्छा पर निर्भर है, आवश्यक नहीं है। यदि आवश्यक होता तो वेद इस बात की अवश्य आज्ञा देता कि चोटी रखकर शेष बाल कटवाने चाहिएँ, अपितु वेद में सर्वत्र सिर के सारे ही केश मुँडवाने का वर्णन आता है, चोटी रखकर बाल मुँडवाने का विशेषरूप से वर्णन नहीं है। देखिए, यजुर्वेद में क्या लिखा है—

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नमः। —यजुः० १६.२८

अर्थ—जटाजूट केश रखनेवाले को नमस्कार हो और जिसने सम्पूर्ण केश पूर्णरूप से मुँडवा दिये हैं, उसे नमस्कार हो।

अब ध्यानपूर्वक पढ़ें—यहाँ पर केश रखनेवाले और सम्पूर्णरूप से केश मुँडवा देनेवाले को तो नमस्कार लिखा है, परन्तु यह कहीं भी नहीं लिखा कि जो चोटी रखकर सिर मुँडवा दे उसे भी नमस्कार हो। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वेद शिखा रखना मनुष्यों की इच्छा पर निर्भर मानता है, आवश्यक नहीं मानता। इस बात को स्पष्ट करने के लिए गोभिलगृह्यसूत्र में स्पष्टरूप से चोटी के काटने का वर्णन है—

यथागोत्रकुलकल्पम्। —गोभिल० २.९.२५

इसपर टीकाकार लिखते हैं—

कौथुमराणायणादीनां प्राक् समावर्त्तनात् सशिखमेव वपनम्।

उक्तं च कर्मप्रदीपे—

सशिखं वपनं कार्यमा स्नानाद् ब्रह्मचारिणाम्। आशरीरविमोक्षाय ब्रह्मचर्यं न चेद् भवेत्॥

अर्थ—मुण्डन-संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी समावर्त्तन-संस्कार तक चोटी-समेत ही मुँडवाता रहे, अर्थात् समावर्त्तन से पहले चोटी न रक्खे। यदि ब्रह्मचर्य न करे तो जीवन-भर ही चोटी न रक्खे।

अब कहिए, पोपजी महाराज! यह तो आपके ही गृह्यसूत्रों में, जिन्हें आप वेद के समान स्वीकार करते हैं, जीवन-भर के लिए शिखा कटवाने की आज्ञा मिल गयी। अब तो आप स्वामीजी के लेख पर टीका-टिप्पणी करने के पूर्णरूप से योग्य नहीं रहे, क्योंकि स्वामीजी ने तो अति उष्ण देश में ही शिखा-सहित केश मुँडवाना लिखा है, परन्तु आपके सूत्रकारों ने तो इसी देश में ही शिखा कटवाने की आज्ञा दे डाली, अतः स्वामीजी का लेख सोलह आने सत्य और युक्तियुक्त है।

पोपजी—लाला मनसारामजी ने जो पहले दो मनुस्मृति के प्रमाण दिये हैं, उनकी यहाँ कोई आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि मुण्डन-संस्कार कब करना चाहिए या केशान्त-संस्कार कब करना चाहिए, इस निर्णय की तो यहाँ आवश्यकता ही नहीं। यहाँ तो केवल शिखा कटवानेवाले प्रमाण की ही आवश्यकता है। मुण्डन-संस्कार का जो समय मनु भगवान् ने लिखा है, उसके अनुसार ही सनातनधर्मी यह संस्कार करते हैं, परन्तु इनमें चोटी कटवाने की चर्चा तक नहीं। लाला साहब के अर्थ से भी यही सिद्ध हो चुका है।

तोपजी—हाँ जी! क्यों न हो? आपके विचार से तो हमें पुस्तक लिखने की भी आवश्यकता नहीं थी, परन्तु बिना लिखे पाखण्डियों की पोल कैसे खुले? श्रीमन्! मुण्डन-संस्कार और केशान्त-संस्कार का समय बताने की इसलिए आवश्यकता थी कि गृह्यसूत्रों में मुण्डन-संस्कार के समय भृगुवंशियों को चोटी-सहित सिर मुँडवाने की आज्ञा है और उसके पश्चात् केशान्त-संस्कार तक बिना शिखा के रहने की आज्ञा है, अपितु इससे भी आगे गुरुकुल से स्नातक बनकर निकलने तक चोटी-सहित सिर के केश मुँडवाने का आदेश है; और यदि गुरुकुल में ब्रह्मचर्य न रखा हो तो जीवनभर शिखा-सहित केश कटवाने की आज्ञा है, जैसाकि हम पहले प्रमाण दे आये हैं। सनातनधर्मी अपने ग्रन्थों के अनुसार संस्कार कहाँ करते है! यदि करें तो सब सनातनधर्मियों को चोटी-सहित सिर मुँडवा देना चाहिए, क्योंकि सनातनधर्म में गुरुकुलों में ब्रह्मचर्य रखनेवालों का बिल्कुल ही अभाव है। रही चोटी कटवाने की चर्चा, वह इससे अगले श्लोक में विद्यमान है।

पोपजी—परन्तु मनुस्मृति के तीसरे प्रमाण अध्याय २, श्लोक २१९ का जो अर्थ लाला साहब ने किया है वह ग़लत है। इस श्लोक का यह अर्थ आज तक किसी भी आर्यसमाजी टीकाकार ने भी नहीं किया। हम एक महाशय का ही अर्थ लिखते हैं—'ब्रह्मचारी तीन प्रकार के होते हैं—सब सिर, दाढ़ी-मूँछ मुँडे हुए, या जटाधारी, या जिसकी चोटी ही जटा हो गयी हो। ऐसे ब्रह्मचारियों को गाँव में सोये हुए कभी सूर्यास्त न हो और न कभी चढ़े।' कहिए, महाशय! इस आर्यसमाजी के अर्थ में इस श्लोक से चोटी कटवाने की आज्ञा नहीं है। क्या आपने झूठे प्रमाण देने और ग़लत अर्थ करने का ठेका ले-रक्खा है?

तोपजी—हम जनता की जानकारी के लिए पहले मनुस्मृति का श्लोक और अपना किया हुआ अर्थ लिखते हैं—

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित्॥ —मनु० २.२१९

अर्थ—चाहे सारे बाल बिल्कुल मुँडवा ले, चाहे सारे बाल रख ले और चाहे एक चोटी रखकर शेष सारे बाल मुँडवा देवे।

हमने अपनी पुस्तक 'शास्त्रार्थ जाखल' में इस श्लोक के पूर्वार्द्ध का ही अर्थ दिया था, क्योंकि हमारे विषय—चोटी के साथ इतने का ही सम्बन्ध था। शेष उत्तरार्द्ध का अर्थ यह है—

"इसे ग्राम में कभी भी सोते हुए को सूर्य निकलता हुआ और डूबता हुआ न दिखे।"

अब हम यह देखना चाहते हैं कि हमारे अर्थ में क्या ग़लती है। पोपजी ने इस श्लोक का जो अर्थ लिखा है, उसके पहले भाग का अर्थ हमारा और पोपजी का एक ही है; शब्दों में चाहे अन्तर हो, परन्तु भाव वही एक है। पोपजी के लेख के अनुसार भी ब्रह्मचारी तीन प्रकार के हुए—एक वे जो सारे सिर को चोटी-सहित मुँडवा दें, दूसरे वे जो जटाजूट रहें और तीसरे वे जो चोटी रखकर शेष सब बाल मुँडवा दें। बतलाइए, इसमें अन्तर क्या पड़ा? सारा झगड़ा शिखा के सम्बन्ध में है और इसके कटवाने का वर्णन वहाँ विद्यमान है। ऐसी स्पष्ट बात से इन्कार करना दिन में सूर्य की विद्यमानता से इन्कार करने के समान है, परन्तु क्या किया जाए, पोपजी ने तो छल-कपट और धोखेबाजी से जनता को धोखा देने का ठेका ही ले-रक्खा है।

पोपजी—मनुस्मृति या किसी वेद में कहीं भी चोटी कटवाने की आज्ञा नहीं है। स्वामीजी ने स्वार्थ से ही सबको संन्यासी बनाने के लिए ही वेदों के विरुद्ध ऐसी आज्ञा दी है।

तोपजी—हमने ऊपर प्रमाण देकर यह सिद्ध कर दिया है कि वेद, गृह्यसूत्र और मनुस्मृति में चोटी के सम्बन्ध में रखने और न रखने के दोनों प्रकार के प्रमाण मिलते हैं, अर्थात् चोटी का रखना या न रखना इच्छा पर निर्भर है। इसकी ही स्वामीजी ने व्याख्या कर दी है कि जहाँ अति उष्ण देश हो, वहाँ चोटी-सहित मुँडवा दे, जहाँ अधिक शीतप्रधान देश हो वहाँ सारे बाल रख ले और जो सम-शीतोष्ण हो वहाँ पर चोटी रखकर शेष केशों का छेदन करा दे। स्वामीजी ने इस सिद्धान्त की व्याख्या करके स्वार्थ-साधन नहीं किया अपितु बहुत बड़ा उपकार किया है। यदि स्वामीजी इसकी व्याख्या न करते तो सम्भव है लोग उपर्युक्त प्रमाणों को समक्ष रखकर भारत में भी चोटी कटवाने लग जाते, परन्तु स्वामीजी ने व्याख्या करके इस बात को स्पष्ट कर दिया कि शिखा कटवाने की आज्ञा अति उष्ण देश के लिए है भारत जैसे सम-शीतोष्ण देश के लिए नहीं।

पोपजी—बालों से यदि रोग होते और केशों से बुद्धि कम होती तो आपके पूर्वज जो सिर पर जटा रखते थे वे सारे रोगी और अयोग्य होने चाहिए थे, परन्तु महाशय! आदि-सृष्टि के ऋषि-मुनि सब-के-सब जटा-जूटधारी ही होते थे, जिन्होंने वेदमन्त्रों का मनन किया और इतने शास्त्र लिख डाले जिनके अर्थ भी आप-जैसों को नहीं आते। यदि जटा-जूटधारी ऋषि-मुनि केश रखने के कारण अयोग्य होते तो बहुमूल्य ग्रन्थ किस प्रकार लिख सकते थे? इससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामीजी का लेख झूठा और निराधार है।

तोपजी—आप भी बुरी तरह अक़्ल के पीछे लट्ठ लेकर भाग रहे हैं, अन्यथा स्वामीजी ने जो लिखा है कि 'जो अति उष्ण देश हो तो चोटी-सहित सब केश कटवा देने चाहिएँ, क्योंकि सिर में बाल रहने से गर्मी अधिक होती है, इससे बुद्धि कम हो जाती है'—यह सोलह आने सत्य है। आप इस बात को प्रत्यक्ष देख लें कि अति उष्ण प्रदेश में जो व्यक्ति सिर पर बाल रखते हैं उनकी अक़्ल वस्तुतः कम होती है। हमारे पूर्वज भारत में रहते थे जोकि अति उष्ण देश नहीं है, अतः उनकी बुद्धि के कम होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सकता और सृष्टि के आरम्भ में वेदमन्त्रों का मनन करनेवाले ऋषि-मुनि तो पैदा ही तिब्बत जैसे शीतप्रधान देश में हुए थे, अतः उनका जटा-जूट रहना ही उचित था। अन्य

शास्त्रों के बनानेवाले भी प्रायः नदियों के किनारे पहाड़ी प्रदेशों पर शरद्-स्थानों पर ही रहा करते थे, अतः उनके जटा-जूट रहने से बुद्धि कम होने का कोई कारण ही नहीं है।

कृपा करके आप यह तो बतलाएँ कि यदि बालों के रहने से मस्तिष्क ज्ञानदीप्त हो जाता है तो वेदों और शास्त्रों में मुण्डन-संस्कार ही क्यों रक्खा गया और आपके संन्यासी भी मैदान सफाचट क्यों रखते हैं? स्वामीजी का लेख सर्वथा उचित तथा युक्ति और प्रमाणों के अनुकूल है।

पोपजी—लाला साहब ने जो बिशनोइयों का प्रमाण दिया है, वह धर्म नहीं समझा जा सकता। सम्भव है कि इनके पूर्वजों को भी किसी नास्तिक की शिक्षा मिल गयी हो कि चोटी रखने की कोई आवश्यकता नहीं, तब से ही चोटी कटवाते हों। प्रथा (रूढ़ि) और धर्म में अन्तर होता है। बिशनोई सम्प्रदाय की वह जातीय प्रथा हो चुकी है।

तोपजी—हम इस समय इस बात पर वादविवाद नहीं कर रहे कि बिशनोई सम्प्रदायवालों ने चोटी क्यों कटवाई? प्रश्न तो यह है कि आप चोटी रखने को ही हिन्दूधर्म की परिभाषा मानते हैं, अर्थात् "जो चोटी रक्खे वही हिन्दू है।" यदि यह बात सत्य है तो बिशनोई लोग जिनकी जनसंख्या जनपद हिसार, रोहतक, फ़ीरोजपुर, बीकानेर, जयपुर, जोधपुर और बिजनौर आदि स्थानों में लाखों में है, जो सिर पर चोटी नहीं रखते, इन्हें हिन्दूधर्म में नहीं गिना जा सकता। आपने इसका उत्तर दिया है कि "बिशनोई सम्प्रदाय की वह जातीय प्रथा हो चुकी है।" श्रीमन्! जब बिशनोई सम्प्रदाय चोटी कटवाने के बाद भी जातीय प्रथा के कारण हिन्दूधर्म में गिना जा सकता है, तो इस प्रकार से यदि कोई अन्य सम्प्रदाय भी चोटी कटाने को जातीय प्रथा बना ले तो आप उसे हिन्दूधर्म से बाहर कैसे गिन सकते हैं? इससे यह सिद्ध हो गया कि चोटी रखना हिन्दूधर्म का आधार नहीं है, अपितु इसका रखना या न रखना अपनी इच्छा पर निर्भर है और चोटी के न रखने से किसी को हिन्दूधर्म से बाहर नहीं किया जा सकता।

पोपजी—महाशय! संन्यासियों के भी चोटी नहीं होती, परन्तु हम उन्हें हिन्दू मानते हैं, इस प्रकार इस सम्प्रदाय को भी हम हिन्दू मानेंगे।

तोपजी—इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि चोटी का रखना ही हिन्दूपन का चिह्न नहीं है, क्योंकि संन्यासी और बिशनोई लाखों की संख्या में शिखा न रखते हुए भी हिन्दू ही कहाते हैं।

पोपजी—स्त्रियों और सिखों को हम चोटी के बिना ही हिन्दू मानते हैं, क्योंकि जटा-जूट सिर पर बाल रखनेवालों को चोटी रखने की कोई आवश्यकता नहीं और न ही इनके लिए धर्मशाश्त्रों में चोटी का विधान किया है।

तोपजी—यदि आप सिर पर जटाजूट बाल रखनेवालों को चोटी के बिना ही हिन्दू मानते हैं तो इससे तो सनातनधर्म की लुटिया ही समुद्र में डूब जाती है, क्योंकि ऐसी अवस्था में ईसाई और मुस्लिम स्त्रियों को भी हिन्दूधर्म में गिनना पड़ेगा, क्योंकि वे भी जटाजूट ही होती हैं।

पोपजी—महाशय! मुसलमान और ईसाई तो आपके कहने पर चोटी रखने के लिए तैयार ही नहीं, अपितु जिन मुसलमानों को आपने शुद्ध करके चोटियाँ रखवाकर आर्यसमाजी बनाया था वे सारे-के-सारे आपके आर्यसमाज में विवाह आदि करके, भोग भोगकर फिर मुसलमान बन गये। जब आपने इन्हें हिन्दू बनाकर पूरा लाभ उठा लिया है तो अब इन्हें हिन्दू बनाने की कौन-सी आवश्यकता शेष रही?

तोपजी—'सवाल गन्दुम जवाब चीनः'[१] की लोकोक्ति आपपर ही चरितार्थ होती है। हम तो यह पूछ रहे हैं कि "यदि आप पूरे केश रखनेवालों को बिना चोटी के भी हिन्दू ही स्वीकार करते हैं तो क्या सब मुसलमान और ईसाई स्त्रियाँ पूरे केश रखने के कारण हिन्दुओं में गिनी जा सकती हैं ?" और आप इसका उत्तर उपर्युक्त भाषा में दे रहे हैं, जिसका कि इस विषय के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। आपकी अवस्था देखकर हमें एक कहानी स्मरण हो आई—

कहते हैं किसी मोहल्ले में एक लड़ाकी और कटुभाषी स्त्री रहती थी। वह दिनभर मुहल्ले के साथ लड़ाई रखती थी और जब तक वह किसी को सौ-पचास गालियाँ न दे लेती थी उसे चैन नहीं आता था। एक दिन अपने मुहल्ले में उसे कोई लड़नेवाली नहीं मिली; परन्तु इसे लड़े बिना चैन कहाँ? अन्त में अपने स्वभाव से विवश होकर वह दूसरे मुहल्ले में जाकर एक स्त्री से कहने लगी कि 'आओ बहिनजी, लड़ें।' उस स्त्री ने उत्तर दिया कि "लड़ाई बहुत बुरा व्यसन है, अतः मैं लड़ाई नहीं करूँगी।" परन्तु इसने बार-बार उस स्त्री को तङ्ग किया तो उसने क्रुद्ध होकर कहा—"मेरी लड़ती है जूती!" बस, फिर क्या था! इस लड़ाकी स्त्री को अवसर हाथ आ गया और लगी शोर मचाने कि "जूती मार अपने ख़सम (पति) के सिर में, जूती मार अपने भाई के सिर में और जूती मार अपनी माँ के सिर मे!" बस, लड़ाई आरम्भ हो गयी और इस लड़ाकी स्त्री का व्यसन पूरा हो गया।

ठीक यही अवस्था आपकी है। आप जब तक व्यर्थ में, बेहूदा ढङ्ग से आर्यसमाज को पाँच-दस गालियाँ न दे लें तब तक आपको भी चैन नहीं पड़ता। उस लड़ाकी स्त्री और आपकी दशा में इतना अन्तर अवश्य है कि उस लड़ाकी स्त्री का वास्ता एक भोली-भाली, निर्बल स्त्री के साथ पड़ा था और आपका वास्ता (पाला) आर्यसमाज के साथ पड़ा है, जो गाली का जवाब गाली से देना तो अपने गौरव के विरुद्ध समझता है, परन्तु आपको इन गालियों के बदले दण्ड के रूप में आपके सिर में युक्ति और पुराणों की इतनी जूतियाँ बरसा देगा कि आपकी खोपड़ी पिलपिली हो जाएगी और भविष्य में आपको गाली देने का साहस नहीं होगा।

हाँ, आप अपने उपर्युक्त लेख का उत्तर भी सुनते जाएँ। ऋषि दयानन्द और उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने अनुभव किया कि जो सम्पूर्ण भारत वैदिक धर्म को माननेवाला था और जिसमें दूध की नदियाँ बहती थीं, वहाँ आज वैदिक धर्म के स्थान पर पौराणिकता का बोलबाला होने के कारण इस देश में करोड़ों की संख्या में पौराणिक हिन्दू, ईसाई और मुसलमान हो चुके हैं और इस देश में दूध की नदियों के स्थान पर गोवध के कारण ख़ून की नदियाँ बह रही हैं। पौराणिक हिन्दूधर्म में विधवा-विवाह की आज्ञा न होने के कारण सहस्रों विधवाएँ ईसाइयों और मुसलमानों के घरों को बसाकर गो-घातक सन्तान पैदा कर रही हैं, जिनसे ईसाइयों और मुसलमानों की संख्या और भी बढ़ रही है। यदि यह गति इसी प्रकार से प्रवहमान रही तो पौराणिक हिन्दू सनातनधर्म का चिह्न भी भारत में शेष नहीं रहेगा। इस बात को अनुभव करके आर्यसमाज ने ईसाइयों और मुसलमानों को शुद्ध करके, उन्हें यज्ञोपवीत देकर और चोटी रखवाकर हिन्दूधर्म में सम्मिलित करना आरम्भ किया और

---

१. किसी ने पूछा—'गेहूँ क्या भाव है, दुकानदार ने उत्तर दिया—ज्वार एक रुपये की चार किलो है।' इसका रूप इस प्रकार भी हो सकता है—किसी ने पूछा—आम क्या भाव है? दुकानदार ने उत्तर दिया—अनार चार रुपये किलो हैं।

विवाह का प्रश्न उठने पर इन्हीं पौराणिक सनातनधर्म की विधवाओं के साथ शुद्ध हुए-हुए ईसाई और मुसलमानों के विवाह करने आरम्भ कर दिये, जोकि ईसाई और मुसलमान बन जाने की स्थिति में भी इनके घरों को बसाती थीं। इससे हिन्दूधर्म को यह लाभ हुआ कि जो सनातनधर्म की विधवाएँ ईसाई और मुसलमान होकर उनकी संख्या बढ़ा रही थीं, उनके कारण से सहस्रों ईसाई-मुसलमानों को शुद्ध करके हिन्दूधर्म की संख्या में वृद्धि होनी आरम्भ हो गयी।

परन्तु सनातनधर्म के टकापन्थी पोपों को यह बात रुचिकर नहीं लगी। उन्होंने सनातनधर्म की विधवाओं और जनता में शुद्धि के विरुद्ध प्रचार किया और बताया कि शुद्ध लोगों के साथ विवाह करने की अपेक्षा ईसाई-मुसलमान हो जाना ही उत्तम है। इसका परिणाम यह हुआ कि सनातनधर्म के प्रचार से प्रभावित होकर सनातनधर्म की अनेक विधवाएँ शुद्ध हुए मुसलमानों को लेकर पुनः मुसलमान बन गयीं। अब भला! ईसाई और मुसलमान चोटी रखाने को क्यों तैयार हों जबकि सनातनधर्म की निर्लज्ज विधवाएँ वैसे ही उनका घर बसाने को तैयार हैं ? इस प्रकार ईसाई-मुसलमानों को शुद्ध करके तथा उन्हें हिन्दू बनाकर भारतवर्ष को जो लाभ हो सकता था, वह रुक गया।

आर्यसमाज अब भी अनुभव करता है कि जब तक ईसाइयों और मुसलमानों को शुद्ध करके हिन्दूधर्म में प्रविष्ट न किया जाएगा तब तक न गोवध बन्द हो सकेगा और न भारत का कल्याण ही होगा, अतः आवश्यकता इस बात की है कि कोई सनातनधर्म की इन विधवाओं को समझाए कि वे स्वयं ईसाई और मुसलमान बनने की बजाय यदि इन ईसाई-मुसलमानों को शुद्ध करके और हिन्दूधर्म में प्रविष्ट कर लिया करें और फिर इनसे विवाह कर लिया करें तो एक ओर गोवध बन्द हो जाए और दूसरी ओर हिन्दुओं की संख्या में वृद्धि हो जाए। अब तो आपकी समझ में अच्छी प्रकार आ गया होगा कि ईसाई और मुसलमान शिखा रखाने को क्यों तैयार नहीं होते और आर्यसमाज को अब इन्हें हिन्दू बनाने की क्या आवश्यकता है। आशा है भविष्य में आप सोच-समझकर ही कोई बात लिखा करेंगे।

पोपजी—आपकी बतलाई हुई हिन्दुओं की परिभाषा "जिनके मत के संस्थापक भारतीय हों उन्हें हिन्दू मानना चाहिए।" इस परिभाषा को भी आप अब मानने लगे हैं, अन्यथा कुछ समय पूर्व हिन्दू शब्द का चोर अर्थ करके आप लोग हिन्दू कहलाना बुरा समझते थे।

तोपजी—हम न हिन्दू हैं और न ही हिन्दू कहलाना पसन्द करते हैं, क्योंकि हिन्दू शब्द संस्कृत का नहीं है, इसलिए संस्कृत के सारे साहित्य में कहीं भी हिन्दू शब्द का प्रयोग नहीं किया गया और न ही हिन्दू शब्द संस्कृत के किसी कोश में है। यह फ़ारसी का शब्द है और फ़ारसी के कोश 'ग़यासुल्लुग़ात' में हिन्दू शब्द के अर्थ चोर और काफिर लिखे हुए हैं। जब मुसलमान भारतवर्ष में आये तो इन्होंने ताने के रूप में हमें हिन्दू कहना आरम्भ किया और अन्ततः हम लोग भी अपने-आपको हिन्दू कहलाना पसन्द करने लगे। आज भी काशी के विश्वनाथजी मन्दिर के द्वार पर ये शब्द लिखे हुए हैं—

आर्यधर्मेतराणां प्रवेशो निषिद्धः।

अर्थात् आर्यधर्म से भिन्न लोगों को इस मन्दिर में प्रविष्ट होने की आज्ञा नहीं है।

यहाँ पर भी हिन्दू शब्द का प्रयोग नहीं किया गया अपितु आर्य शब्द का ही प्रयोग किया गया है और यह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दू शब्द फ़ारसी का है। भविष्यपुराण में लिखा है—

हिन्दुर्यावनी च॥ —भवि० प्रति० पर्व ३, खण्ड १, अध्याय ५, श्लोक ३६
अर्थात् हिन्दू शब्द फ़ारसी का है।

तात्पर्य यह कि यह निश्चित बात है कि हमारा पुराना नाम आर्य है, हिन्दू नहीं है। हम आर्य हैं और वैदिक धर्मी हैं। हमारा सिद्धान्त तो सीधा और साफ़ है कि जो कोई वैदिक धर्म को मानता है और उसपर आचरण करता है और अपने-आपको आर्य कहता है वही आर्य है, चाहे वह किसी देश का उत्पन्न हुआ-हुआ क्यों न हो। हमने अपनी पुस्तक में हिन्दू शब्द की जो परिभाषा लिखी है वह हिन्दू-महासभा द्वारा आविष्कृत है, जिसके कारण चीन, जापान, तिब्बत और ब्रह्मा के रहनेवाले बौद्ध भी जोकि करोड़ों की संख्या में हैं, हिन्दुओं में सम्मिलित किये जा सकते हैं, परन्तु आप-जैसे स्वार्थियों को तो हिन्दुओं की वृद्धि काँटे की भाँति खटकती है, अतः आप इस परिभाषा को क्यों मानने लगे, क्योंकि आपको हिन्दुओं की वृद्धि से सनातनधर्म का विनाश दिखाई देता है।

पोपजी—परन्तु आपकी इस परिभाषा को अब भी सिख, जैन, बौद्ध और देवसमाजी आदि नहीं मानते, जिनके संस्थापक भारतीय ही थे, तब आपकी झूठी बातों को कौन माने?

तोपजी—इस हिन्दू शब्द के अर्थ घृणित होने के कारण ही सिख, जैन, बौद्ध और देवसमाजी अपने-आपको हिन्दू कहलाना पसन्द नहीं करते। यदि हिन्दू शब्द के स्थान पर आर्य शब्द हो जाए तो सब मानने के लिए तैयार हैं।

अच्छा, यदि हमारी यह परिभाषा झूठी है तो आप तो पक्के हिन्दू हैं, कृपा करके सनातनधर्म के दृष्टिकोण से हिन्दू शब्द की परिभाषा बताएँ। हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि हिन्दू शब्द की यह परिभाषा नहीं की जा सकती कि "जिसके सिर पर चोटी है, वह हिन्दू है।" क्योंकि इस परिभाषा से लाखों लोग हिन्दूधर्म की परिधि से बाहर हो जाते हैं, अतः चोटी का होना हिन्दूधर्म की परिभाषा में सम्मिलित नहीं है।

पोपजी—अस्तु, स्पष्ट प्रकट है कि पण्डित श्रीकृष्ण के प्रश्न का उत्तर न ही पण्डित लोकनाथजी और न ही लाला मनसारामजी दे सके, इसलिए मानना पड़ेगा कि स्वामीजी का यह लेख वेदों के विरुद्ध है, क्योंकि वेदों का कोई मन्त्र आपने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए प्रस्तुत नहीं किया।

तोपजी—हमने ऊपर वर्णन कर दिया है कि पं० लोकनाथजी द्वारा प्रस्तुत मन्त्र स्वामीजी के लेख का पूर्णरूप से समर्थन करता है और हमने यह भी सिद्ध कर दिया है कि वेद, गृह्यसूत्र, मनुस्मृति तथा बुद्धि और तर्क भी स्वामीजी के लेख का प्रबल समर्थन करते हैं, अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा वेदानुकूल है और स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ भी सर्वथा वेदानुकूल हैं।

८. जातकर्म-संस्कार

सिद्धान्त—जब पुत्र का जन्म हो, तब प्रथम दायी आदि स्त्रियाँ बालक के शरीर का जरायु पृथक् कर मुख, नासिका, कान, आँख आदि में से मल को शीघ्र दूर कर कोमल वस्त्र से पोंछ, शुद्ध कर पिता के गोद में बालक को देवें।

पिता जहाँ वायु और शीत का प्रवेश न हो, वहाँ बैठके एक बीता नाड़ी को छोड़, ऊपर सूत से बाँधके, उस बन्धन के ऊपर से नाड़ी छेदन करके, किञ्चित् उष्ण जल से बालक को स्नान करा, शुद्ध वस्त्र से पोंछ, नवीन शुद्ध वस्त्र पहिना, जो प्रसूता-घर के बाहर पूर्वोक्त प्रकार कुण्ड कर रक्खा हो अथवा तांबे के कुण्ड में समिधा पूर्वलिखित प्रमाणे चयन कर संस्कार करे।

तत्पश्चात् घी और मधु दोनों बराबर मिलाके जो प्रथम सोने की शलाका बनाकर धर रक्खी हो, उससे बालक की जीभ पर '**ओ३म्**' यह अक्षर लिखके उसके दायें कान में '**वेदोऽसीति**' अर्थात् तेरा गुप्त नाम वेद है, ऐसा सुनाके पूर्व मिलाये हुए घी और मधु को उस सोने की शलाका से बालक को नीचे लिखे मन्त्र से थोड़ा-थोड़ा चटावे।

—संस्कारविधि, जातकर्म-संस्कार

—:o:—

पोपजी—जातकर्म-संस्कार में स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि जब बालक उत्पन्न हो तो उसके नाल-छेदन के पश्चात् घी और शहद बराबर मिलाकर सोने की शलाका से बच्चे की जिह्वा पर पहले 'ओ३म्' लिखो, फिर उसे चटा दो। इसपर तीन प्रश्न हैं—१. मनु आदि सब आचार्यों ने एकमत से यह लिखा है कि नाड़ी-छेदन से पूर्व यह संस्कार किया जाए, क्योंकि बाद में सूतक हो जाता है और विज्ञान की दृष्टि से भी नाड़ी काटने से पूर्व ही घी-शहद चटाने का प्रभाव होता है। स्वामी दयानन्दजी ने सब आचार्यों की सम्मति के विरुद्ध नाड़ी काटने के पश्चात् यह संस्कार क्यों लिखा?

तोपजी—चूँकि आपने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार कोई वेद का मन्त्र देकर यह सिद्ध नहीं किया कि ''वेद तो यह कहता है कि नाड़ी काटने से पूर्व जातकर्म-संस्कार होना चाहिए और स्वामीजी ने लिखा है कि नाड़ी-छेदन के पश्चात् जातकर्म-संस्कार करना चाहिए, अतः स्वामीजी का लेख वेद के विरुद्ध है।'' अतः न्यायशास्त्र के अनुसार आप प्रतिज्ञाहानि-निग्रहस्थान में आकर पराजित हो चुके।

आपने लिखा है कि ''विज्ञान की दृष्टि से भी नाड़ी काटने से पहले ही घी-शहद चटाने का प्रभाव होता है—इस बात को सिद्ध करने के लिए आपने किसी विज्ञान की पुस्तक का अवतरण नहीं दिया। इस प्रकार तो हम भी कह सकते हैं कि विज्ञान की दृष्टि से नाड़ी काटने के पश्चात् ही घी और शहद चटाने का प्रभाव उत्तम हो सकता है, क्योंकि नाड़ी काटने में विलम्ब करने से विष चढ़ जाने के कारण बच्चे और उसकी माता की भी मृत्यु का भय है।''

क्योंजी! आपका लिखा हुआ वह सूतक क्या बला है और सूतक लगने के पश्चात जातकर्म-संस्कार करने से क्या हानि हो जाती है? और वह सूतक नाड़ी काटने के पश्चात क्यों हो जाता है, पहले क्यों नहीं होता? सूतक नाम से तो यही प्रतीत होता है कि वह बच्चे के उत्पन्न होते ही होना चाहिए। तनिक इस पौराणिक गोरखधन्धे को सुलझा तो दिया होता! परन्तु सुलझाते क्या धूल-मिट्टी, जबकि जनता को पाखण्डजाल में फँसाने के लिए ही पौराणिक लोगों ने यह सूतक-पातक के बन्धनों की कल्पना की है और अपने मनमाने पाखण्ड के अनुसार ही दूसरे आचार्यों के नाम से कपोल-कल्पित श्लोक बनाकर उनके ग्रन्थों में मिला दिये, अन्यथा बच्चा उत्पन्न होने, नाड़ी काटने और उसे शहद-घी आदि चटाने का विषय वैद्यक से सम्बन्ध रखता है और इस विषय में डॉक्टर, हकीम और वैद्यों की सम्मति ही प्रामाणिक मानी जा सकती है। स्वामीजी ने जो कुछ लिखा है वह आचार्य धन्वन्तरि की सम्मति के अनुसार सुश्रुत के शारीर-स्थान अध्याय दस से लेकर लिखा है, जिसमें हूबहू स्वामीजी के लेख का समर्थन किया गया है। अवलोकन कीजिए—

अथ जातस्योल्बमपनीय. मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य घृताक्तं मूर्ध्नि पिचुं दद्यात्, ततो नाभिनाडीमष्टाङ्गुलमायस्य सूत्रेण बद्ध्वा छेदयेत्, तत्सूत्रैकदेशं च कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग्बध्नीयात्।

—सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थानम् १०.१४

अर्थ—बालक का जन्म होने पर प्रथम जरायु को बालक के शरीर पर से स्वच्छ करे और बालक के मुख को सेंधा नमक और घी से स्वच्छ करे, फिर रुई का फाहा घी में भिगोकर उसे तालु (ब्रह्मरन्ध्र) पर रख दे, फिर नाभिनाड़ी (नाल) को आठ अङ्गुल नापकर सूत्र से बाँध देवे और आगे से काट डाले और नाल में जो डोरा बँधा है उसे बालक के गले में अच्छी प्रकार बाँध दे।

अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्तचूर्णमङ्गुल्याऽनामिकया लेहयेत्॥ —सुश्रुत० शा० १०.१५

अर्थ—इसके पश्चात् बालक को ठण्डे जल से आश्वासित करके जातकर्म करे, पश्चात् घी और शहद से मिश्रित थोड़ा सुवर्णभस्म मिलाकर अनामिका अङ्गुली से बालक को चटाए।

कहिए, पोपजी महाराज! अब तो आपको शिकायत न होगी कि स्वामीजी ने यह लेख मनमाना लिखा है, क्योंकि शरीर-सम्बन्ध में वैद्यक के ग्रन्थ सुश्रुत की सम्मति ही माननीय और प्रामाणिक हो सकती है। वैसे भी सुश्रुत का स्थान उपवेद होने के कारण गृह्यसूत्रों और स्मृतियों से ऊँचा है।

पोपजी—२. घी और शहद बराबर मिलाया हुआ विष के रूप में परिवर्तित हो जाता है; इसलिए सनातनधर्म के प्राचीन ग्रन्थ 'प्रयोगपारिजात' के पृष्ठ १३२ पर लिखा है कि घी और शहद को कम और अधिक मात्रा में मिलाया जाए, क्योंकि समान मात्रा में मिलाने से वह विष बन जाता है। यह सब वैद्यक शास्त्र में सूर्य की भाँति प्रकाशित है। स्वामी दयानन्दजी ने आयुर्वेद के विरुद्ध बराबर[1] मिलाकर चटाना क्यों लिखा?

तोपजी—प्रतीत होता है कि आपको अपनी प्रतिज्ञा का ध्यान बिल्कुल नहीं है, अन्यथा स्वामी दयानन्दजी के लेख को वेदविरुद्ध सिद्ध करने के लिए आपको कोई वेदमन्त्र प्रस्तुत करना चाहिए था जिससे यह सिद्ध होता कि 'वेदमन्त्र तो कहता है कि शहद और घी कम और अधिक मात्रा में मिलाने चाहिएँ, परन्तु स्वामी दयानन्द ने बराबर मिलाना लिख दिया है, अतः स्वामी दयानन्द का लेख वेद के विरुद्ध है।' परन्तु आप अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने में सफल नहीं हुए और आपने अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध एक अप्रसिद्ध सनातनधर्म की गली-सड़ी पुस्तक 'प्रयोगपारिजात' का अवतरण लिख दिया। क्या सनातनधर्म इसे वेद मानता है? अन्यथा स्वामी दयानन्दजी के लेख को वेद के विरुद्ध सिद्ध करने के लिए इस पुस्तक के प्रमाण की क्या आवश्यकता थी? इसलिए नियमानुसार तो आप प्रतिज्ञाहानि-निग्रहस्थान में आकर मात खा गये।

अब रह गयी बात स्वामीजी के लेख पर आक्षेप की। श्रीमन्! यह शङ्का भी आपको बराबर शब्द का अर्थ न समझने के कारण उत्पन्न हो गयी है। आपके विचार में 'बराबर' शब्द का अर्थ 'तौल में बराबर' ही होते हैं, परन्तु आपका यह विचार अत्यन्त तुच्छ और झूठा है, क्योंकि जब हम किसी को यह आदेश देते हैं कि 'चार किलो[2] दाल में बराबर नमक डाल दो और चार लीटर[2] दूध में बराबर मीठा डाल दो' तो इससे हमारा यह तात्पर्य

---

१. स्वामीजी ने संस्कार-विधि में बराबर नहीं 'बरोबर' शब्द लिखा है। गुजराती भाषा में बरोबर का अर्थ बराबर नहीं है, अपितु बरोबर का अर्थ है—उचित परिमाण में, यथायोग्य मात्रा में, अतः यह आक्षेप निर्मूल है।

२. उर्दू में दोनों स्थानों पर 'सेर' शब्द था, परन्तु अब मीट्रिक प्रणाली हो गयी है, अतः हमने दोनों स्थानों पर आज की भाषा के यथायोग्य शब्द रख दिये हैं। सन् ३३ में जब यह पुस्तक छपी थी, तब मन, सेर, छटाँक आदि का ही प्रचलन था। **—सम्पादक**

कदापि नहीं होता कि "चार किलो दाल में चार किलो ही नमक डाल दो और चार लीटर दूध में चार किलो ही मीठा डाल दो।" अपितु हमारा इससे यह तात्पर्य होता है कि "चार किलो दाल में उचित मात्रा में नमक डाल दो और चार लीटर दूध में उचित मात्रा में मीठा डाल दो।" ठीक इसी प्रकार 'बराबर' शब्द से यहाँ स्वामीजी का भी यही प्रयोजन है कि उचित मात्रा में घी और शहद मिलाकर बच्चे को चटाया जाए।

हमारे इस लेख में एक प्रबल प्रमाण है, वह यह कि स्वामीजी ने यह सारी विधि सुश्रुत से ली है, जैसाकि हम प्रश्न-संख्या १ के उत्तर में सुश्रुत का पाठ अर्थसहित लिख चुके हैं। उसमें भी घी, शहद और सुवर्ण चूर्ण आदि का चटाना ही लिखा है। यह नहीं लिखा कि मधु कितनी मात्रा में होना चाहिए और इसमें घी कितनी मात्रा में होना चाहिए और सोने का चूर्ण कितना हो। आयुर्वेद का यह विधान है कि जहाँ पर एक नुस्खे में कई दवाएँ डालने के लिए लिखा हो, परन्तु उनकी मात्रा न लिखी हो तो वहाँ पर सबकी मात्रा बराबर ही मानी जाती है। इस नियम के अनुसार सुश्रुत के लेख से भी घी, शहद और सुवर्ण चूर्ण का बराबर होना ही सिद्ध होता है। इसी बात को दृष्टि में रखकर स्वामीजी ने भी संस्कार-विधि में घी और शहद बराबर मिलाकर चटाना लिख दिया है। बस, जिस प्रकार सुश्रुत के लेख में घी, शहद और सुवर्णचूर्ण की मात्रा न लिखी होने पर भी वैद्यक के नियम के अनुसार बराबर मात्रा समझकर भी घी, शहद और सुवर्ण चूर्ण को उचित मात्रा में मिलाना ही लिया जाएगा, इसी प्रकार स्वामीजी के लेख में भी बराबर शब्द का यही अर्थ लिया जाएगा कि घी और शहद को उचित मात्रा में चटाया जाए।

पोपजी—३. जिह्वा पर 'ओ३म्' लिखने में वेद, ब्राह्मण, कल्पसूत्र, स्मृति—किसी का भी जो एक प्रमाण बता दे, हम उसे एक सौ रुपये पुरस्कार देंगे। जब 'ओ३म्' लिखना किसी कर्मकाण्ड के ग्रन्थ में किसी भी आचार्य ने नहीं लिखा तो दयानन्दजी ने यह वेदविरुद्ध रीति क्यों चलाई? क्या इससे बच्चे को 'ओ३म्' का ज्ञान हो जाता है अथवा ओम् लिखना आ जाता है? क्या यह भी कोई यन्त्रविधि है? जिस प्रकार सुख-प्रसव के लिए चक्रव्यूह के, किला आदि के यन्त्र चन्दन से लिखकर माता को पिलाने लिखे हैं, इसी प्रकार क्या यह भी कोई यन्त्र स्वामी दयानन्दजी ने आविष्कृत किया है?

तोपजी—आपको कहाँ तक स्मरण कराएँ कि आपकी प्रतिज्ञा तो यह थी कि स्वामी दयानन्द का लेख वेदों के विरुद्ध है और इसे सिद्ध करने के लिए आप एक भी वेदमन्त्र प्रस्तुत नहीं करते, इसीलिए निरन्तर मात-पर-मात खा रहे हैं। अब भी आपको कोई वेदमन्त्र देकर सिद्ध करना चाहिए था कि "देखो! स्वामीजी तो कहते हैं कि बच्चे की जिह्वा पर 'ओम्' लिखना चाहिए, परन्तु वेदमन्त्र कहता है कि नहीं लिखना चाहिए, अतः स्वामी दयानन्द का लेख वेदों के विरुद्ध है।" परन्तु आप जैसे पहले प्रत्येक प्रश्न में अपने दावे को सिद्ध करने में असफल रहे हैं, वैसे ही इसमें भी आपको असफलता का मुँह देखकर पराजय ही मिली है।

श्रीमन्! स्वामीजी महाराज ने यन्त्र-मन्त्र, गण्डे, ताबीज आदि पौराणिक पाखण्डों का तो प्रबल खण्डन किया है। हाँ, स्वामीजी यह मानते हैं कि बच्चे पर आरम्भ से ही संस्कारों के द्वारा ऐसे प्रभाव डाले जाएँ जिनसे बच्चा धर्मात्मा बन सके। इसलिए स्वामीजी ने यजुर्वेद (४०।१५) के अनुसार जिह्वा पर 'ओम्' लिखने की आज्ञा दी है। जब वेद में सङ्केत विद्यमान है तब यदि किसी ब्राह्मण, कल्पसूत्र आदि में किसी आचार्य ने नहीं लिखा तो इसमें स्वामीजी का क्या दोष है? घी और मधु मिलाकर बच्चे की जिह्वा पर सोने की शलाका से 'ओम्' लिखने का प्रयोजन यह है कि "हे पुत्र! परमात्मा का नाम संसार की सब वस्तुओं

से मधुर और बहुमूल्य है। जैसे 'वेदोऽसि' कहने से बच्चे पर प्रभाव डालना अभीष्ट है, इसी प्रकार जिह्वा पर ओम् लिखने से भी प्रभाव डालना अभीष्ट है। इसलिए स्वामीजी का लेख पूर्णरूप से वेदों के अनुकूल और युक्तियुक्त है।''

पोपजी—लाला मनसारामजी ने 'बराबर' शब्द का उचित अर्थ करके खूब तात्पर्य निकाला है। लाला साहब! यहाँ बराबर शब्द ही अर्थ लिया जाना चाहिए। यदि आपका उचित अर्थ स्वामीजी को अभीष्ट होता तो स्वामीजी वहाँ बराबर के स्थान पर 'उचित' शब्द लिख देते, क्योंकि 'उचित' शब्द को भी वे जानते थे। २. जहाँ ओषधि आदि की तौल के सम्बन्ध में चर्चा हो वहाँ भी बराबर शब्द से बराबर वस्तुएँ ही मिलाई जाती हैं। शहद और घी बराबर-बराबर मिलाना विष बन जाता है। बच्चों को मारने के लिए स्वामीजी ने क्या उत्तम नुस्खा बताया है!

तोपजी—हमने स्वामीजी द्वारा लिखित 'बराबर' शब्द का जो 'उचित' अर्थ किया है, उसे युक्तियाँ देकर सिद्ध किया है, जिन युक्तियों का आप कोई खण्डन नहीं कर सके। तनिक बताया तो होता कि पाँच लीटर दूध में बराबर खाँड डालने और दो किलो दाल में बराबर नमक डालने का क्या तात्पर्य है? क्या इसका यह अर्थ है कि पाँच लीटर दूध में पाँच किलो खाँड और दो किलो दाल में दो किलो नमक डाला जाए? कदापि नहीं। यहाँ पर भी बराबर शब्द के उचित अर्थ ही लिये जाएँगे।

स्वामीजी को यह पता नहीं था कि संसार में आप-जैसे बुद्धू भी पैदा हो जाएँगे जो बराबर शब्द के अर्थों को भी न समझ सकेंगे। श्रीमन्! ऋषि-महात्मा लोगों के लेख को समझने के लिए भी मस्तिष्क की आवश्यकता है। देखिए, सुश्रुत ने भी जातकर्म संस्कार के अवसर पर घी, शहद और सुवर्ण चूर्ण को मिलाकर चटाना लिखा है, परन्तु तौल किसी की भी नहीं लिखी। प्रायः जहाँ नुस्खे में बहुत-सी वस्तुएँ लिखी हों और उनकी तौल न लिखी हो तो सब वस्तुओं की तौल बराबर ही समझी जाती है, परन्तु यहाँ भी बराबर का अर्थ उचित ही लिया जाता है। तभी तो टीकाकारों ने तौल न लिखी होने पर भी सोने का चूर्ण एक रत्ती लिख दिया है। इस प्रकार स्वामीजी के लेख में बराबर शब्द का उचित अर्थ लेकर उचित मात्रा में घी और शहद मिलाकर बच्चे को चटाना अभीष्ट है।

आपका यह कहना भी सर्वथा ग़लत है कि ''जहाँ ओषधि आदि की तौल के सम्बन्ध में चर्चा हो, वहाँ भी बराबर शब्द से बराबर वस्तुएँ ही मिलाई जाती हैं।'' मान लीजिए एक पुस्तक में पाचन की गोलियाँ बनाने को नुस्ख़ा लिखा है, जिसमें पचास दवाएँ मिलानी लिखी हैं और अन्त में लिखा है कि इन सब दवाओं को कूट-छानकर बराबर पानी मिलाकर गोलियाँ बनाओ। अब यहाँ पर बराबर शब्द के यह अर्थ कदापि नहीं लिये जा सकते कि दवाओं की तौल के बराबर ही पानी मिलाया जाए, अपितु इसका अर्थ यही होगा कि इन दवाओं में पानी की उचित मात्रा मिलाकर इनकी गोलियाँ बनाई जाएँ। बस, इसी प्रकार स्वामीजी के लेख में भी घी और शहद बराबर मिलाने के यही अर्थ हैं कि घी और शहद उचित मात्रा में मिलाकर बच्चे को चटाया जाए।

पोपजी—लाला साहब ने जो यजुर्वेद (४०।१५) का प्रमाण देकर बच्चे की जिह्वा पर 'ओ३म्' लिखने का विधान लिखा है, वह सर्वथा असत्य है। इस मन्त्र में 'ओम्' शब्द को जिह्वा पर लिखने की चर्चा तक नहीं है। स्वामी दयानन्दजी ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए स्पष्ट लिखा है कि ''हे कर्म करनेवाले जीव! तू शरीर छूटते समय 'ओ३म्' इस नामवाच्य ईश्वर को स्मरण कर, अपने सामर्थ्य के लिए परमात्मा और अपने स्वरूप का स्मरण कर। अपने किये हुए कर्मों का स्मरण कर। इस संसार का धनञ्जयादिरूप वायु

कारणरूप वायु को, कारणरूप वायु विनाशी कारण को धारण करता, इसके अनन्तर यह नष्ट होनेवाला, सुख आदि का आश्रय शरीर अन्त में भस्म होनेवाला होता है—ऐसा जानो।''

महाशय! स्वामीजी ने इस मन्त्र में मरने के समय ओम् और ईश्वर को स्मरण करने आदि का ही वर्णन किया है, न कि बच्चे के उत्पन्न होने के समय जिह्वा पर ओम् लिखने का उपदेश दिया है। इस मन्त्र में कहीं भी बच्चे की जिह्वा पर ओम् लिखने की विधि नहीं है। मरने के समय के उपदेशरूप मन्त्र को बच्चे के उत्पन्न होने के शुभ समय में प्रयोग करना मूर्खता का प्रमाण है।

तोपजी—आपको भी प्रत्येक बात में व्यर्थ विरोध करने का व्यसन हो गया है, परन्तु आप स्मरण रखें हम भी आप-जैसे झूठे और पाखण्डियों के घर पहुँचनेवाले हैं। श्रीमन्! वेदमन्त्रों में किसी सिद्धान्त का, सङ्केत के रूप में, बीज ही होता है, वह इस मन्त्र में विद्यमान है। देखिए, इस मन्त्र में 'ओ३म् क्रतो स्मर' ये शब्द विद्यमान हैं, जिनका अर्थ आपने भी स्वामीजी के भाष्य से दे दिया है कि 'हे जीव! तू ओम् का स्मरण कर।' और इसके अर्थ और कुछ हो भी नहीं सकते। अब मरने के समय ओम् को वही व्यक्ति स्मरण कर सकता है, जिसने अपने जीवन में भी ओम् को स्मरण करने का निरन्तर अभ्यास किया हो। जिसने अपने जीवन में ओम् का कभी स्मरण नहीं किया, वह मरने के समय भी ओम् का स्मरण नहीं कर सकता, अतः इस वेदमन्त्र का उपदेश केवल मरने के समय तक ही सीमित नहीं, अपितु इसका यह उपदेश है कि ''हे मनुष्य! तू जीवन-भर ओम् का स्मरण कर जिससे मृत्यु के समय भी तू ओम् का स्मरण कर सके।'' अब जीवनभर ओम् नाम का स्मरण करने के लिए आवश्यक है कि बचपन से ही बच्चे पर वैसे संस्कार डाले जाएँ। इसलिए बालक के उत्पन्न होने के समय ही उसकी जिह्वा पर घी और शहद मिलाकर सोने की शलाका से ओम् लिखने की आज्ञा दी है और कान में भी उसी समय यही सुनाया जाता है कि जीव! **तू वेदोऽसि**-तू वेदों के ज्ञानवाला है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि तू ज्ञानवाला है, अतः हर समय ओम् का स्मरण कर जो ओम् नाम शहद की भाँति संसार की सब वस्तुओं से मीठा और प्यारा तथा घी की भाँति सारे संसार का सार और जीवन का सहारा है। तू आज से उसे अपनी जिह्वा पर याद करना, जिससे जीवन में ओम् नाम का अभ्यास होने से अन्त-समय में भी तू उसे याद कर सके और उसके स्मरण से तेरा कल्याण हो सके।

श्रीमन्! वेद ईश्वर का ज्ञान है, वेदमन्त्रों को प्रत्येक स्थान पर पढ़ा जा सकता है। मन्त्रों के पढ़ने के सम्बन्ध में शुभ और अशुभ समय का विचार करना मूर्खता, अज्ञान और पाजीपन है। देखिए, इस मन्त्र का विनियोग अर्थात् प्रयोग करने का समय आपके सनातनधर्म के भाष्यकार महीधर ने क्या लिखा है—

वेदारम्भे होमे शान्तिपुष्टिकर्मसु काम्येषु नैमित्तिकेष्वपि कर्मसु विनियोगः।

—यजुः० ४०।१५

अर्थ—इस मन्त्र का विनियोग वेदपाठ के आरम्भ में, यज्ञ में, शान्ति और प्रसन्नता के कामों में और इच्छानुसार काम्य और नैमित्तिक कर्मों में भी हो सकता है।

उपर्युक्त भाषा को ध्यानपूर्वक पढ़कर फिर अपने लेख पर खेद प्रकट कीजिए। ग्रन्थों को पढ़े बिना यूँ ही जनता को धोखे में डालने के लिए अण्ड-बण्ड लिखना विद्वानों का काम नहीं है। जब आपके भाष्यकार महीधर भी इस वेदमन्त्र को संस्कारों में विनियुक्त करने की आज्ञा दे रहे हैं तब स्वामीजी का इस वेदमन्त्र के आधार पर जातकर्म-संस्कार में बालक की जिह्वा पर ओम् नाम लिखना सर्वथा वेदानुकूल और युक्तियुक्त है।

पोपजी—अस्तु, वेदों में ऐसा कोई मन्त्र नहीं मिल सकता जिसमें बालकों की जिह्वा पर 'ओम्' नाम लिखने का आदेश हो। स्वामीजी ने यह वेद के विरुद्ध लिख दिया है।

तोपजी—आपने एक भी वेदमन्त्र देकर यह सिद्ध नहीं किया कि स्वामीजी का लेख वेद के विरुद्ध है और स्वामीजी के लेख के विरुद्ध जन्म-जन्मान्तर तक भी आप कोई वेद का मन्त्र प्रस्तुत नहीं कर सकते और हमने यजुर्वेद (४०।१५) का मन्त्र देकर सिद्ध कर दिया है कि स्वामीजी ने इस वेदमन्त्र को दृष्टि में रखकर बालक की जिह्वा पर 'ओम्' लिखने का निर्देश किया है, जोकि सर्वथा वेदानुकूल है।

पोपजी—मनुस्मृति (२।२९) में भी जातकर्म-संस्कार के समय सोने से घी और शहद चटाना लिखा है, परन्तु बच्चे की जिह्वा पर ओम् लिखने की आज्ञा नहीं दी और न ही घी और शहद को बराबर मिलाकर चटाना ही लिखा है।

तोपजी—मनुस्मृति ने स्वामीजी के लेख का प्रबल समर्थन किया है, यदि आपको दिखाई न दे तो इसमें किसी का क्या दोष है! यदि उल्लू को दिन में सूर्य दिखाई न दे तो इसमें सूर्य का क्या दोष है? तनिक मनुस्मृति के श्लोक को पढ़ें—

मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्॥ —मनु० २।२९

अर्थ—जातकर्म-संस्कार में मन्त्रवाला सोना शहद और घी से चटाना चाहिए।

इस मनुस्मृति के प्रमाण से स्वामीजी की सारी बातों का समर्थन होता है। इस श्लोक में 'मन्त्रवत्' शब्द विद्यमान है। जिसके अर्थ हैं 'मन्त्रवाला' सोना, शहद और घी से चटाया जाए। मन्त्रवाला सोना, शहद और घी तभी हो सकता है जबकि सोने, शहद और घी से मन्त्र लिखा जाए और वह इसी प्रकार से सम्भव है कि सोने की सलाई से घी और शहद मिलाकर उसी से बच्चे की जिह्वा पर 'ओम्' लिखकर चटाया जाए और कोई विधि हो ही नहीं सकती।

अब रह गया घी, शहद और सोने को उचित मात्रा में मिलाना, सो इस श्लोक में घी, शहद और सोने की मात्रा नहीं लिखी कि कितना-कितना घी, शहद और सोना मिलाकर चटाना चाहिए। तौल भिन्न-भिन्न लिखी हुई न होने के कारण यहाँ पर मात्रा बराबर ही स्वीकार करनी पड़ेगी और बराबर का अर्थ भी उचित ही मानना पड़ेगा, क्योंकि घी और शहद के अतिरिक्त सोना भी बराबर मात्रा में मिलाकर नहीं चटाया जा सकता। इसलिए स्वामीजी का बराबर शब्द सुश्रुत और मनुस्मृति के लेख के आधार पर ही लिखा गया है और सुश्रुत तथा मनुस्मृति की भाँति ही स्वामीजी द्वारा लिखित बराबर शब्द के अर्थ भी उचित ही मानने पड़ेंगे।

पोपजी—इसलिए स्वामीजी का यह लिखना कि 'घी और शहद को बराबर मिलाकर सोने की शलाका से ओम् लिखो और चटाओ'—यह वेद, धर्मशास्त्र और आयुर्वैदिक शास्त्रों के विरुद्ध है।

तोपजी—हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि स्वामीजी का लेख यजुर्वेद, सुश्रुत और मनुस्मृति के सर्वथा अनुकूल है, इसलिए इसे वेद, धर्मशास्त्र और आयुर्वैदिक शास्त्रों के विरुद्ध बताना कोरी अज्ञानता है।

पोपजी—लाला मनसारामजी का मधुपर्क का उदाहरण देना कि इसमें भी घी और शहद मिलाया जाता है, अज्ञानता का ही प्रमाण है, क्योंकि मधुपर्क में घी और शहद बराबर नहीं मिलाया जाता। घी और शहद का बराबर मिलाना आर्यसमाजी बच्चों के लिए ही शुभ रहे।

तोपजी—आपने किसी गृह्यसूत्र का अवतरण (उद्धरण) नहीं दिया, जिसमें घी और

शहद को मिलाने में उसकी मात्रा कम या अधिक लिखी हो। घी और शहद का जहाँ भी प्रयोग करना लिखा है वहाँ पर तौल नहीं लिखा गया जिससे बराबर तात्पर्य लेकर उसका अर्थ उचित मात्रा में मिलाकर प्रयोग करना ही लिया जाता है, क्योंकि स्वामीजी ने जो कुछ लिखा है, वह वेद, स्मृति और सुश्रुत के सर्वथा अनुकूल है, अतः स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ सर्वथा वेदानुकूल हैं।

९. नववधू को शिक्षा

सिद्धान्त—

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि। वर्चो न्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन॥

—अथर्व० १४।२।२९

अर्थ—(**याः**) जो (**दुर्हार्दः**) दुष्ट हृदयवाली अर्थात् दुष्टात्मा (**युवतयः**) जवान स्त्रियाँ (**च**) और (**याः**) जो (**इह**) इस स्थान में (**जरतीः**) बुड्ढी=वृद्ध स्त्रियाँ हों, वे (**अपि**) भी (**अस्यै**) इस वधू को (**नु**) शीघ्र (**वर्चः**) तेज (**संदत्त**) देवें (**अथ**) इसके पश्चात् (**अस्तम्**) अपने-अपने घर को (**विपरेतन**) चली जाएँ और फिर इसके पास कभी न जाएँ।

—संस्कार-विधि, गृहाश्रमप्रकरणम्

—:०:—

पोपजी—स्वामीजी ने 'संस्कारविधि' के गृहस्थप्रकरण में लिखा है कि जब नवविवाहिता वधू ससुराल जाए तो वहाँ दुराचारिणी स्त्रियाँ इकट्ठी होकर उसके पास जाएँ और उसे अपना तेज देकर वापस चली आएँ और फिर कभी उसके पास न जाएँ। आर्यसमाज की यह शिक्षा दुराचार फैलानेवाली है।

तोपजी—श्रीमन्! आपको कोई वेदमन्त्र प्रस्तुत करके अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार स्वामीजी के इस लेख को वेदों के विरुद्ध सिद्ध करना चाहिए था, परन्तु आप ऐसा न करके स्वयं अपने-आपको पराजित सिद्ध कर चुके और आप इस लेख को वेद के विरुद्ध सिद्ध कर भी नहीं सकते थे, क्योंकि यह स्वामीजी का अपना लेख नहीं है, अपितु यह तो स्वामीजी महाराज ने अथर्ववेद (१४।२।२९) का मन्त्र देकर उसका अर्थ किया है। क्या आपको इतना भी पता नहीं कि यह वेद के मन्त्र का अर्थ है? यदि पता था तो फिर आपका वेदमन्त्र के अर्थ के सम्बन्ध में यह प्रश्न करना कि यह वेद के विरुद्ध है, पूर्ण मूर्खता है। हाँ, आप यह प्रश्न तो कर सकते थे कि इस वेदमन्त्र के स्वामी दयानन्दकृत अर्थ ग़लत हैं, परन्तु इस बात को सिद्ध करने के लिए पाण्डित्य की आवश्यकता है, जिसका आपके साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं है और पाण्डित्य होने पर भी आप स्वामीजी के अर्थों को ग़लत सिद्ध नहीं कर सकते थे, क्योंकि स्वामीजी ने एक-एक शब्द को पृथक्-पृथक् करके इस मन्त्र के अर्थ सोलह आना ठीक किये हैं।

भला, कृपा करके यह तो बतलाएँ कि आपने दुराचारिणी स्त्रियाँ स्वामीजी के कौन-से शब्दों का अनुवाद किया है? क्या दुष्ट हृदयवाली या दुष्ट आत्मा अथवा दुष्ट का अनुवाद दुराचार हो सकता है? कदापि नहीं। हाँ, इन शब्दों का अनुवाद मलिनचित्त, हीन-आत्मा, दुष्ट स्वभाववाला तो हो सकता है, परन्तु दुराचार नहीं हो सकता, क्योंकि मलिनचित्त, हीन-आत्मा और दुष्ट स्वभावाला होना और बात है, किन्तु दुराचारी होना और बात है। उदाहरणार्थ किसी ईर्ष्या करनेवाली लड़ाकी, शत्रुता रखनेवाली, मलिन रहनेवाली, पति व सास-ससुर आदि से झगड़ा करनेवाली, अपव्ययी (व्यर्थ धन खर्च करनेवाली), भूत-प्रेत, गण्डा-तावीज

आदि व्यर्थ की बातों को माननेवाली स्त्री को मलिन-चित्त, हीन-आत्मा और दुष्टस्वभाव तो कहा जा सकता है, परन्तु दुराचारिणी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दुराचारिणी जार-स्त्री को ही कहा जा सकता है। इस लेख से हमें केवल यह दिखाना अभीष्ट है कि आपने स्वामीजी के लेख का अनुवाद ठीक नहीं किया।

और यह भी बताने की कृपा करें कि 'इकट्ठी होकर उसके पास जाएँ'—यह अनुवाद स्वामीजी के कौन-से शब्दों का है? स्वामीजी के लेख में तो लिखा है—'उस स्थान में हों।' उस स्थान में विद्यमान होने और इकट्ठी होकर उसके पास जाने में आकाश-पाताल का अन्तर है और 'जब नवविवाहिता वधू ससुराल जाए' यह वाक्य स्वामीजी के लेख के किस भाग का अनुवाद है? स्वामीजी के लेख में किसी समयविशेष का वर्णन नहीं, अपितु यह शिक्षा जीवनभर के लिए है।

आपने एक शब्द का ग़लत अर्थ करके और दो वाक्य अपनी ओर से मिलाकर स्वामीजी के लेख को आक्षेप-योग्य बनाकर उसपर आक्षेप कर डाला, अन्यथा स्वामीजी ने वेदमन्त्र का जो अर्थ किया है, वह आक्षेप के योग्य बिल्कुल नहीं है। इस वेदमन्त्र में नववधू को शिक्षा दी गयी है कि वह दुष्ट हृदय, दुष्टात्मा और दुष्टस्वभाववाली स्त्रियों की सङ्गति से दूर रहे और ऐसी स्त्रियों को इतना अपमानित करे कि वे फिर कभी उसके पास न आएँ। इस भाव को इस वेदमन्त्र ने अत्यन्त सौन्दर्य के साथ एक पद-विन्यास (मुहावरा, Idiom) के द्वारा प्रकट किया है। पद-विन्यास ही भाषा का सौन्दर्य है। इसी को संस्कृत में अलङ्कार कहते हैं, मानो ये भाषा को सुन्दर बनानेवाले आभूषण हैं। जैसे मोहन ने सोहन से कहा कि—'कल मैं जयदेवजी के पास गया था, उसने मेरी सारी प्रतिष्ठा ले-ली।' इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जयदेव ने मेरा अपमान किया। इसी बात को यूँ भी कहा जा सकता है कि 'कल मैं जयदेव के पास गया था, अपनी प्रतिष्ठा देकर वापस आया।' इसका भी यही अर्थ है कि जयदेव ने मुझे अपमानित किया।

मोहन ने सोहन को आदेश दिया कि 'यदि जयदेव तुम्हारे पास आये तो उसे इतना अपमानित करना कि वह पुनः तुम्हारे पास आने का साहस ही न करे।' इसी बात को यूँ भी कहा जा सकता है कि 'यदि जयदेव तुम्हारे पास आये तो अपनी प्रतिष्ठा देकर चला जावे और फिर कभी तुम्हारे पास न आये।' यही बात किसी स्त्री को यूँ बताई जा सकती है कि 'दुष्ट हृदय, दुष्टात्मा और दुष्ट स्वभाववाली जो जवान और वृद्ध स्त्रियाँ भी इस स्थान पर हों वे इस नववधू को शीघ्र मान-प्रतिष्ठा तथा तेज देकर अपने-अपने घरों को चली जाएँ और पुनः इसके पास कभी न आएँ।' इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ''नववधू को चाहिए कि जो वहाँ दुष्ट-हृदय, दुष्टात्मा जवान और वृद्ध स्त्रियाँ हों उनको इतना अपमानित करे कि वे पुनः कभी इसके पास आने का साहस ही न करें।'' बस, यही स्वामीजी का लेख संस्कारविधि में है जोकि अथर्ववेद के मन्त्र का अनुवाद है, जो स्त्रियों के लिए सत्सङ्ग की आज्ञा और कुसङ्ग का निषेध करता है। स्वामीजी का यह लेख दुराचार की नहीं अपितु सदाचार की शिक्षा देता है।

पोपजी—लाला साहब ने जो भाव लिखा है वह स्वामीजी को अभीष्ट नहीं था। यदि स्वामीजी को यह भाव अभीष्ट होता तो स्वामीजी मन्त्र का अर्थ करते हुए यही भाव लिख देते। वेदों के अर्थ में मुहावरों की सहायता लेना निर्बलता का सूचक है और न ही ऐसे टूट-फूटे हुए मुहावरों का मन्त्र में वर्णन ही है।

तोपजी—हमने मन्त्र का भाव नहीं लिखा, अपितु मन्त्र के शब्दों का यही अर्थ है जो हमने लिखा है और यही स्वामीजी ने लिखा है। जब मन्त्र के शब्दों का ही यह अर्थ है

तो फिर स्वामीजी को इसका भाव लिखने की क्या आवश्यकता थी? श्रीमन्! मुहावरा तो वर्णन करने की शैली का नाम है, जिसे संस्कृत में अलङ्कार कहते हैं और वेदों में ये अलङ्कार प्रचुरता से प्रयुक्त हुए हैं। इस मन्त्र में भी यह वर्णन-शैली विद्यमान है। इस मन्त्र के अर्थों को अलंकृत शैली में वर्णन करना हमारी निर्बलता नहीं है, अपितु हमारी इतनी प्रबल दृढ़ता है कि आप इसके उत्तर में बौखला ही तो गये और अनाप-शनाप बकवास करने लग पड़े। आनन्द तो तब था यदि आप हमारे अलङ्कारपूर्ण अर्थों को ग़लत सिद्ध करके अपना कोई और अर्थ करके दिखाते। चूँकि आपने इस मन्त्र का अपना कोई अर्थ करके हमारे अर्थ को ग़लत सिद्ध नहीं किया, अतः स्वामीजी का लेख अर्थात् अथर्ववेद के मन्त्र का अर्थ सर्वथा ठीक है और हमने इसका जो अलङ्कारयुक्त अर्थ बतलाया है, वही ठीक और युक्तियुक्त है।

पोपजी—पण्डित राजारामजी ने अथर्ववेद के इसी मन्त्र का अर्थ करते हुए स्पष्ट वही अर्थ लिखा है, जैसाकि पं० श्रीकृष्णजी ने बतलाया था। इस मन्त्र के अर्थ में पं० जयदेवजी, स्नातक गुरुकुल काँगड़ी ने भी अथर्ववेद के भाष्य में लाला मनसारामवाला अर्थ नहीं लिखा। इस मन्त्र का चाहे किसी भी आर्यसमाजी विद्वान् का भाष्य देखो, उनमें स्वामीजी की आज्ञा और लाला साहब के अलङ्कारों का भाव नहीं मिलता।

तोपजी—धोखा देना और चालाकी इसी का नाम है कि नाम कई के लिख दिये, परन्तु एक का भी अर्थ बतलाकर स्वामीजी के अर्थ को ग़लत बतलाने का साहस नहीं हुआ। पं० श्रीकृष्ण शास्त्री ने तो इस मन्त्र का अपना कोई अर्थ करके बताया ही नहीं था, अन्यथा आप लिखें कि उन्होंने इस मन्त्र का क्या अर्थ किया था? उन्होंने तो स्वामीजी के किये हुए अर्थ पर ही आपत्ति की थी, जो उनकी नासमझी का ही प्रमाण था और जिसे समझने के पश्चात् अब आपको भी कोई रास्ता नहीं सूझता और यूँ ही इधर-उधर की बिना सिर-पैर की व्यर्थ की बातें हाँककर काग़ज़ काले कर रहे हैं। कृपा करके अपने साक्षियों पं० राजारामजी और पं० जयदेवजी स्नातक का अर्थ प्रस्तुत करके ही स्वामीजी के अर्थ को ग़लत सिद्ध कीजिए।

श्रीमन्! यदि किसी का भी अर्थ आपकी सहायता नहीं करता तो कम-से-कम सनातनधर्म के टीकाकारों का ही अर्थ प्रस्तुत करके अपने पक्ष को सिद्ध करना था और स्वामीजी के अर्थ में अशुद्धियाँ निकालकर बतानी चाहिएँ थीं कि स्वामीजी ने इस मन्त्र में अमुक-अमुक शब्द का अर्थ अशुद्ध किया है और वास्तविक अर्थ यह है, परन्तु बेचारे पोपजी करें भी तो क्या करें, जबकि स्वामीजी ने इस मन्त्र के एक-एक पद को पृथक्-पृथक् लिखकर अर्थ किया है, जिसे हमने इस प्रश्न के आरम्भ में सिद्धान्त के रूप से संस्कारविधि से उद्धृत कर दिया है। इन अर्थों के अतिरिक्त इस मन्त्र के और अर्थ हो ही नहीं सकते, अतः स्वामीजी का अर्थ और हमारे द्वारा वर्णित अलङ्कार सर्वथा ठीक है।

पोपजी—इसीलिए अथर्ववेद के मन्त्र का अर्थ न लिखकर लाला साहब ने भाव ही क्यों लिखा है? केवल प्रमाण लिखकर ही कहना कि स्वामीजी ने इस मन्त्र के आधार पर संस्कारविधि में लिखा है, मन्त्र का झूठा आश्रय लेकर धोखा देना है।

तोपजी—हम चकित हैं कि पोपजी क्या बहकी-बहकी बातें कर रहे है! न ही हमने किसी मन्त्र का भाव लिखा है और न ही स्वामीजी ने किसी मन्त्र के आधार पर कोई लेख लिखा है, अपितु स्वामीजी ने तो अथर्ववेद के मन्त्र का शब्दशः अनुवाद (पदार्थ, भाष्य) किया है और हमने अलङ्कार (मुहावरे) के द्वारा उस अर्थ को समझाया है। अब या तो स्वामीजी के अर्थ और हमारे अलङ्कार को युक्ति और प्रमाण से ग़लत सिद्ध करके अपना

अर्थ प्रस्तुत करें, अन्यथा सीधे रूप से अपने आक्षेप को खेद प्रकट करते हुए वापस लें।

पोपजी—मन्त्र में दुराचारिणी स्त्रियों के आने और अपना तेज देकर जाने के सम्बन्ध में चर्चा तक भी नहीं, इसलिए आर्यसमाजी भाष्यों से ही स्वामीजी का यह लेख वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—बलिहारी हैं इस लेख के! और बलिहारी जाएँ इस ढिठाई और निर्लज्जता के! मन्त्र में से एक शब्द का भी अर्थ करके नहीं दिखाया और स्वामीजी के अर्थों को वेदों के विरुद्ध कर दिया। श्रीमन्! यदि मन्त्र में स्वामीजी द्वारा लिखित अर्थ की चर्चा तक भी नहीं, तो बतलाएँ कि स्वामीजी ने मन्त्र के जिन शब्दों का यह अर्थ लिखा है, उन शब्दों का ठीक अर्थ क्या है? और स्वामीजी का अर्थ किन कारणों से ग़लत है? परन्तु पोपजी! आप तो क्या आपके पितर भी इस मन्त्र का कुछ और अर्थ करके स्वामीजी के अर्थ को ग़लत सिद्ध नहीं कर सकते।

पोपजी—स्वामीजी ने स्वयं ही यजुर्वेद अध्याय ११, मन्त्र ४९ का अर्थ करते हुए लिखा है कि 'स्त्री-पुरुष को विवाह के समय ही प्रण कर लेना चाहिए कि हम व्यभिचार नहीं करेंगे और व्यभिचारिणी स्त्रियों और लम्पट पुरुषों का सङ्ग हर प्रकार से छोड़ देवेंगे।' जब स्वामीजी इस मन्त्र के भावार्थ में स्वयं ही पुरुष-स्त्री को दुराचारिणी स्त्रियों और पुरुषों की सङ्गति न करने की आज्ञा दे रहे हैं, तो संस्कारविधि में दुराचारिणी स्त्रियों की सङ्गति करवानेवाली स्वामीजी की आज्ञा स्वामीजी के अपने ही यजुर्वेदभाष्य के विरुद्ध है। जबकि वेद स्थान-स्थान पर श्रेष्ठ स्त्री-पुरुषों की सङ्गति करने और दुराचारियों की सङ्गति से बचने की आज्ञा देते हैं, तो लाला साहब, आपकी मनमानी बात कैसे स्वीकार की जाए?

तोपजी—आपके उपर्युक्त लेख को पढ़कर हमें एक कथा याद आ गयी। कहते हैं किसी ग्राम में एक विद्वान् पण्डित ने अत्यन्त प्रेमपूर्वक एक वर्ष तक रामायण की कथा की। जिस दिन रामायण की कथा समाप्त हुई तो एक जाट ने खड़े होकर पण्डितजी से प्रश्न किया कि "महाराज! मुझे यह बतलाते जाएँ कि राक्षस राम था अथवा राक्षस रावण था?" इस प्रश्न को सुनकर पण्डितजी को बहुत दुःख हुआ और बोले—"भाई! न राम राक्षस था और न रावण राक्षस था, राक्षस तो तुम हो जो एक वर्ष तक रामायण की कथा सुनकर भी कोरे-के-कोरे ही रहे।" ठीक इस जाट की-सी अवस्था आपकी है, अन्यथा यह बतलाएँ कि जब अथर्ववेद के इस मन्त्र का स्वामीजी द्वारा लिखित अर्थ स्त्री को कुसङ्गति से रोकता है और उसमें स्पष्टरूप से यह लिखा हुआ है कि जो दुष्ट हृदय, दुष्ट-आत्मा जवान और वृद्ध स्त्रियाँ उस स्थान पर हों वे उस नवविवाहिता वधू को अपना तेज अर्थात् अपनी मान और प्रतिष्ठा देकर चली जाएँ और पुनः कभी उसके पास लौटकर न आएँ, अर्थात् नववधू दुष्ट हृदय और दुष्ट स्वभाववाली स्त्रियों को इतना अपमानित करके घर से निकाले कि वे फिर कभी उसके पास आने का साहस ही न करें। भला! स्वामीजी के इस लेख के समक्ष आपके उपर्युक्त लेख का क्या अर्थ हुआ? जब यजुर्वेद भी स्त्री को कुसङ्गति से रोकता है और इस मन्त्र का अर्थ भी स्त्री को कुसङ्गति से रोकता है, तो फिर स्वामीजी का लेख यजुर्वेद के विरुद्ध कैसे हुआ? परन्तु पता नहीं आपके मस्तिष्क में क्या गोबर भरा हुआ है कि सीधी-सादी बात भी आपकी समझ में नहीं आती!

पोपजी—भला! वह कौन दीन-हीन स्त्री है जो नव-विवाहिता वधू के पास इस उद्देश्य से आये कि मेरा अपमान करो और मैं अपमानित होकर घर वापस जाऊँ? क्या आर्यसमाज ने कोई ऐसी दुराचारिणी स्त्रियाँ नौकर रक्खी हुई हैं, जिन्होंने प्रत्येक नव-विवाहिता वधू के पास जाकर और अपना अपमान करवाकर वापस आने का प्रतिज्ञा-पत्र लिख दिया हो?

लाला साहब! आपके पर्दा डालने (दोष को छिपाने) से भी उत्तर बन नहीं सका, तनिक फिर सोचिए।

तोपजी—हमने खूब सोच-विचार कर लिया और निरन्तर विचार करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यदि आपकी यही अवस्था रही तो विवश होकर आपको लाहौर के पागलखाने में प्रविष्ट करवाना पड़ेगा। अजी साहब! स्वामीजी के अर्थों में न तो कोई ऐसा शब्द है जिसका अर्थ दुराचारिणी हो और न ही नव-विवाहिता वधू के पास जाने की चर्चा है। यह आपके अपने निकृष्ट मस्तिष्क का आविष्कार है, जिसका उत्तर देने की आवश्यकता नहीं। हाँ, दुष्ट-हृदय और दुष्ट-स्वभाववाली स्त्रियाँ तो उसे अपना-जैसा बनाने के लिए उसके निकट एकत्र होंगी ही, परन्तु उसका यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसी स्त्रियों को अपमानित करके तुरन्त घर से बाहर निकाल दे, जिससे उसपर उनकी कुसङ्गति का प्रभाव न पड़ सके।

आर्यसमाज को तो दुराचारिणी स्त्रियों को रखने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि आर्यसमाज तो इस प्रकार की स्त्रियों को भी सुधारने के प्रयत्न में रहता है। हाँ, सनातनधर्म में इस प्रकार की वेश्या और दुराचारिणी स्त्रियों का अवश्य मान-सम्मान है, क्योंकि वे विष्णुलोक में जाने के उद्देश्य से ही रविवार के दिन बिना शुल्क ब्राह्मणों के लिए अपने द्वार खुले रखती हैं और ब्राह्मणों के साथ सम्बन्ध और प्रेम होने के कारण उनके घरों में भी, ब्राह्मणियों के पास, वे अपना उपदेश करके अपने वर्ग को बढ़ाने के उद्देश्य से अवश्य जाती होंगी। अब यह आपको पता होगा कि आपकी ब्राह्मणियाँ उन्हें अपमानित करके घर से बाहर निकाल देती हैं अथवा उन्हें सनातनधर्म का उपदेशक समझकर उनके शिष्य-मण्डल में प्रविष्ट होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लेती हैं। प्रत्येक अवस्था में यह लीला सनातनधर्म में ही सम्भव हो सकती है, आर्यसमाज में नहीं।

रह गयी बात यह कि आपकी बात का उत्तर हमसे बन सका या नहीं, यह आपकी आत्मा ही जानती है कि आपको इस विषय में कितनी भयङ्कर पराजय का मुँह देखना पड़ा है, जिसे छिपाने के लिए आप ऊटपटाँग, अटकलपच्चू लेख से पुस्तक के पृष्ठ काले करते चले गये हैं और एक भी उचित और युक्तियुक्त बात नहीं लिख सके, परन्तु अपने दोष को छिपाने पर भी जनता आपकी निर्बलता से अपरिचित नहीं रह सकती और हम आपकी धोखेबाज़ी का भण्डा सरे-बाज़ार फोड़कर ही छोड़ेंगे।

पोपजी—महाशय! आपने यजुर्वेद अध्याय २३, मन्त्र २१ से २४ तक के अनर्थ लिखकर महीधरभाष्य की निन्दा की है। यह आपके संस्कृतभाष्य को न समझने का ही परिमाण है। वेदों के संस्कृतभाष्यों के भाव जानने के लिए बुद्धि की महती आवश्यकता होती है। ये मन्त्र अश्वमेधयज्ञ के हैं। इनमें पुरोहितों का कुमारी कन्याओं और स्त्रियों के साथ परिहास करने की चर्चा तक नहीं है। लाला मनसारामजी ने इन मन्त्रों का जो मनमाना अश्लील अर्थ करके अनर्थ किया है, वह सरासर झूठा है।

तोपजी—अजी, हमने जो महीधरभाष्य का अर्थ लिखा है वह सर्वथा ठीक है और पौराणिक भाष्यकार अश्वमेधयज्ञ में ही इस प्रकार की चेष्टाएँ वैध समझते हैं। क्या संस्कृतभाषा के समझने का ठेका आप लोगों ने ही ले-रक्खा है? और किसी को संस्कृतभाष्य समझ में आ ही नहीं सकता? हाँ, यह ठीक है कि अश्वमेध-जैसी पवित्र प्रथा के अवसर पर इस प्रकार के अश्लील परिहास को कौन बुद्धिमान् उचित समझ सकता है? यह पौराणिकों का ही काम है कि अश्वमेधयज्ञ में कहीं यजमान की स्त्री को घोड़े के साथ सुलाते हैं तो कहीं उसका घोड़े से समागम करवाते हैं, कहीं सैकड़ों पशुओं को मारकर

हवन करते हैं, तो कहीं पुरोहित लोग कुमारी कन्याओं और स्त्रियों के साथ अश्लील परिहास करते हैं। इन बातों को वैध स्वीकार करने के लिए पौराणिक बुद्धि की ही महती आवश्यकता है। वैदिक बुद्धि इन बेहूदा बातों को कभी भी वैध स्वीकार नहीं कर सकती।

श्रीमन्! तनिक महीधरभाष्य उद्धृत करके बतलाया तो होता कि महीधर के संस्कृतभाष्य में से हम कौन-सी बात समझ नहीं सके? और तनिक अपनी ओर से अर्थ करके भी बताया होता कि ठीक अर्थ यह है। यूँ ही मौखिक बातों से यह बला आपके सिर से टलनेवाली नहीं है। या तो महीधरभाष्य से स्पष्ट इन्कार कर जाएँ तब आपका छुटकारा हो सकता है, अन्यथा इस प्रकार के शिष्टाचार-विरुद्ध, गन्दे, अश्लील और बेहूदा भाष्य को प्रमाण मानकर बातों-बातों से जनता की सन्तुष्टि होना कठिन है। लीजिए, हम जनता की जानकारी के लिए महीधर का भाष्य शब्दशः उद्धृत कर देते हैं—

अध्वर्य्वादयः पञ्च कुमारीपत्नीभिः सह सोपहासं संवदन्ते। अंगुल्या योनिं प्रदर्शयन्नाह स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ हलहला शब्दो भवति। यदा भगे शिश्नमागच्छति तदा योनिर्निगल्गलीति नितरां गलती वीर्यं क्षरति। —यजु० २३।२२ पर महीधरभाष्य

अर्थ—अध्वर्यु आदि पाँचों ऋत्विक् कुमारी कन्याओं और स्त्रियों के साथ उपहास करते हुए बोलते हैं। अङ्गुली से योनि को दिखाते हुए कहते हैं। स्त्रियों की योनि में शिश्न के शीघ्र चलने से हलहला शब्द होता है। जब स्त्रियों की योनि में मनुष्यों का शिश्न प्रविष्ट होता है तो स्त्री-योनि निरन्तर वीर्य छोड़ती है।

कुमारी अध्वर्युं प्रत्याह। अंगुल्या शिश्नं प्रदर्शयन्त्याह। हे अध्वर्यो! अग्रभागे सच्छिद्रं लिङ्गं तव मुखमिव भासते॥ —यजुः० २३।२३ पर महीधरभाष्य

अर्थ—कुमारी अध्वर्यु से कहती है। अङ्गुली से लिङ्ग को दिखाकर कहती है। हे अध्वर्यो! छिद्रसहित तेरे लिङ्ग का अगला भाग तेरे मुख के समान दिखाई देता है।

ब्रह्मा महिषीमाह। महिषि हे महिषि! ते तव माता च पुनस्ते तव पिता यदा वृक्षस्य वृक्षजस्य काष्ठमयस्य मञ्चकस्याग्रमुपरिभागं रोहतः आरोहतः तदा ते पिता गभे भगे मुष्टिं मुष्टितुल्यं लिङ्गमतंसयत् तंसयति प्रक्षिपति एवं तवोत्पत्तिरत्यश्लीलम्॥

—यजुः० २३।२४ पर महीधरभाष्य

अर्थ—ब्रह्मा यजमान की स्त्री से कहता है—हे रानी! तेरी माता और फिर तेरा पिता जब लकड़ी के पलङ्ग पर चढ़ते हैं तब तेरा पिता तेरी माता की योनि में मुष्टि के समान लिङ्ग को डालता है। इस प्रकार तेरी उत्पत्ति है। यह सब अश्लील है।

सानुचरी महिषी ब्रह्माणं प्रत्याह। .... तवापि तुल्यम्॥ —यजुः० २३.२५ पर महीधरभाष्य

अर्थ—अपनी दासी-सहित रानी ब्रह्मा से कहती है कि तेरी उत्पत्ति भी इसी प्रकार से है।

इस भाष्य में इतनी सरल संस्कृत है कि साधारण-से-साधारण संस्कृत जाननेवाला व्यक्ति भी इसे समझ सकता है और इस भाष्य में तो स्पष्ट लिखा है कि अध्वर्यु कुमारी कन्याओं और स्त्रियों के साथ उपहास करता है और अन्त में महीधर ने स्वयं लिख दिया कि यह अश्लील है। अब इससे बढ़कर महीधरभाष्य के गन्दा होने का और क्या प्रमाण हो सकता है, जबकि वह स्वयं अपने भाष्य को गन्दा मानते हैं? आपकी अवस्था तो अब 'वादी सुस्त और साक्षी चुस्त' के समान हो गयी है।

पोपजी—इन्हें जहाँ शिश्न या लिङ्ग आदि शब्द दृष्टिगोचर होते हैं, वहाँ ये अपने स्वभाव के अनुसार मूत्रेन्द्रिय को ही ग्रहण कर लेने में अत्यन्त चतुर हैं।

तोपजी—**'नक़्ले कुफ्र कुफ्र न बाशद'** अर्थात् कुफ्र की नक़्ल कर देना कुफ्र (नास्तिकता) नहीं होता। इसलिए हमारा इसमें क्या दोष है? हम तो केवल पौराणिकों के लिङ्ग-ग्रहण करने के पुराने व्यसनों का भण्डा फोड़ने के ही दोषी हैं, अन्यथा पौराणिकों के मुक़ाबले में संसार की सारी जातियाँ लिङ्ग-ग्रहण करने की विद्या में मात खा चुकी हैं। यदि पौराणिकों को देखा जाए तो इस विद्या में कमाल कर दिखाया। किसी ने कान से लिङ्ग ग्रहण किया तो किसी ने मुख और नाक से ही ग्रहण करके अपनी कारीगरी दिखाई। किसी ने अपना ग्रहण किया तो किसी ने दूसरों का ही ग्रहण कर लिया। किसी ने मनुष्यों का ग्रहण किया तो किसी ने घोड़े आदि पशुओं का ही ग्रहण कर दिखाया। सारांश यह कि इस विज्ञान में पौराणिकों ने संसार के रिकॉर्ड को मात कर दिया।

अब यजुर्वेद के भाष्यकार महीधर ने इस तेइसवें अध्याय में ही लिङ्ग-ग्रहण करने की सारी विद्या को गागर में सागर की भाँति भर दिया है और यजमान की स्त्री को आज्ञा दी है कि वह अश्वमेधयज्ञ में सबके समक्ष घोड़े के लिङ्ग को स्वयं खेंचकर अपनी योनि में स्थापित कर ले; अतः श्रीमान्जी! आप हमें तो व्यर्थ ही बदनाम कर रहे हैं अन्यथा मूत्रेन्द्रिय को जिस सौन्दर्य और युक्ति से पुराणों की शिक्षा के अनुसार आप और आपके पौराणिक देवी-देवता और ऋषि-मुनि ग्रहण करके प्रयुक्त करते हैं, उसका उदाहरण मिलना कठिन है।

पोपजी—मैंने पहले मन्त्रों में भी बतलाया था कि शिश्न का अर्थ केवल मूत्रेन्द्रिय ही नहीं होता, वरन् शिश्न का अर्थ सूर्य का प्रकाश भी होता है और लिङ्ग शब्द का अर्थ चिह्न होता है। इन मन्त्रों में महीधरजी ने इन्हीं अर्थों के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया है, परन्तु महाशय साहब को इनका मूत्रेन्द्रिय अर्थ ही पसन्द आया। अस्तु, तीसरे वीर्य शब्द को देखकर ही महीधर के संस्कृत-भाष्य का भाषा में सदाचार व शिष्टाचार के विरुद्ध अर्थ दिखा डाला है, किन्तु संस्कृत में वीर्य के कई अर्थ हैं। वीर्य के अर्थ तेज, शक्ति व बीज आदि संस्कृत-कोषों में किये हुए हैं, परन्तु प्रसङ्ग देखकर ही अर्थ करना चाहिए।

तोपजी—आपका यह कहना बिल्कुल सत्य है कि संस्कृत में बहुत-से शब्दों के एक से अधिक अर्थ होते हैं। इसी प्रकार शिश्न, लिङ्ग और वीर्य—शब्दों के भी अनेक अर्थ हो सकते हैं और प्रकरण के अनुसार जहाँ जो अर्थ उचित हों किये जा सकते हैं, परन्तु महीधरभाष्य के इस प्रकरण में तो शिश्न, लिङ्ग और वीर्य शब्दों के सिवाय मूत्रेन्द्रिय और मणि के और अर्थ हो ही नहीं सकते, क्योंकि महीधरजी स्वयं प्रकरण बता रहे हैं कि 'यहाँ पर अध्वर्यु आदि पाँचों ऋत्विक् कुमारियों और यजमान की स्त्रियों से उपहास करते हैं' और अन्त में महीधर ने स्वयं लिख दिया कि 'यह सब अश्लील है।' और फिर मध्य में अङ्गुलियों से सङ्केत, स्त्रियों के शीघ्र चलने से उनकी योनि में हलहला शब्द होने, जब लिङ्ग योनि में प्रविष्ट हो तो योनि से वीर्य झरने, माता-पिता के पलङ्ग पर चढ़ने और योनि में मुष्टि के समान लिङ्ग को प्रविष्ट करने आदि की चर्चा विद्यमान है। ऐसी स्थिति में शिश्न, लिङ्ग, वीर्य और योनि शब्द के अन्य अर्थ कैसे लिये जा सकते हैं? तनिक आप ही और अर्थ लगाकर सारे लेख की सङ्गति लगाकर लिखने की कृपा करें और अन्य अर्थ करके महीधर के 'यह सब अश्लील है'—इस वाक्य की भी सङ्गति लगाकर दिखाएँ। हम दावे से कहते हैं कि प्रकरण के अनुसार यहाँ पर अन्य अर्थ नहीं हो सकते।

पोपजी—प्रत्येक आर्यसमाजी विद्वान् वेदमन्त्र के द्वारा ईश्वर से प्रार्थना किया करता है कि **'हे ईश्वर! तू वीर्य है, हमें वीर्य दे'** (आर्याभिविनय), तो आर्यसमाजी पण्डित ईश्वर से किस वीर्य को ग्रहण करना चाहते हैं? महाशय! यदि यहाँ वीर्य का अर्थ आपको अपना

ही अभीष्ट है तो क्या आपके निराकार ईश्वर ने आपके लिए वीर्य का कोई कुण्ड बना रक्खा है? मानना पड़ता है कि वेदमन्त्रों में वीर्य शब्द से शक्ति अर्थ ही ग्रहण किया जाता है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो गया कि यजुर्वेद के मन्त्रों के महीधर-अर्थ का भाव वह कदापि नहीं है, जोकि लाला मनसाराम ने लिखकर बेहूदा उपहास किया है।

तोपजी—आर्याभिविनय में लिखित प्रार्थना के वेदमन्त्र में न तो उपहास की चर्चा है और न ही इसे अश्लील लिखा हुआ है और न ही इस मन्त्र में कोई ऐसे शब्द हैं जो वीर्य का अर्थ मणि करने पर विवश करें। इसलिए प्रकरण के अनुसार इस वेदमन्त्र में वीर्य का अर्थ शक्ति ही है, जिसकी परमात्मा से प्रार्थना की गयी है, परन्तु महीधर के भाष्य में वीर्य के अर्थ शक्ति नहीं लिये जा सकते, अपितु वहाँ पर प्रकरणानुसार वीर्य का अर्थ मणि ही लिया जा सकता है—यह हम पहले सिद्ध कर चुके हैं, अतः महीधरभाष्य के जो कुछ अर्थ हमने लिखे हैं, वे सर्वथा सत्य और प्रकरण के अनुसार हैं। जब महीधर स्वयं कहते हैं कि ये मन्त्र अश्लील और परिहासपूर्ण हैं, तब फिर हमने इसमें अधिक क्या लिख दिया? हम भी इस बात का समर्थन करते हैं कि मन्त्र तो पवित्र और शिक्षादायक हैं, परन्तु इनपर महीधर का भाष्य अवश्य ही अश्लील और परिहासपूर्ण है।

रह गया आपका वीर्य का कुण्ड कहकर उपाहस करना, तो श्रीमन्! ये वीर्य के कुण्ड सनातनधर्म में पर्याप्त संख्या में विद्यमान हैं। पोती का मुख देखकर ब्रह्माजी का वीर्य स्खलित हो गया और वीर्य का कुण्ड भर गया। साम्ब को देखकर कृष्ण की स्त्रियाँ स्खलित हो गयीं, उनके वीर्य से कई कुण्ड भर गये। मोहिनी के रूप को देखकर महादेव का वीर्य स्खलित हो गया, जिनके वीर्य से नदियाँ चल गयीं और कुण्ड-के-कुण्ड भरकर सोना-चाँदी बन गया। कहिए, आपके लिए इतने वीर्य के कुण्ड पर्याप्त होंगे अथवा पुराणों में से और खोजकर पता बताऊँ?

पोपजी—महाशय! सनातनधर्मी वेदभाष्य दुराचार फैलानेवाले नहीं। यदि आप सभ्यता और सदाचार के विरुद्ध दुराचार फैलानेवाले भाष्य और आज्ञा देखना चाहते हैं तो स्वामी दयानन्द के भाष्य को देखें और स्वामीजी का सत्यार्थप्रकाश पढ़ें, इच्छा पूरी हो जाएगी।

तोपजी—सनातनधर्म का महीधर का वेदभाष्य हम दिखा चुके हैं कि वह सभ्यता और सदाचार के विरुद्ध है और संसार में दुराचार फैलानेवाला है और इससे दूसरे स्थान पर अट्ठारह पुराण—मद्यपान, मांस-भक्षण, व्यभिचार, चोरी करना और जुआ खेलना आदि दुराचार की शिक्षा देनेवाले हैं—यह सब हम अपनी पहली पुस्तक में विस्तारपूर्वक स्पष्ट कर चुके हैं।

रहा आपका यही दोषारोपण ऋषि दयानन्दजी के भाष्य और सत्यार्थप्रकाश पर लगाने का अनुचित प्रयत्न करना, वह आपका अपना ही दोष है, जैसेकि पीलिया के रोगी को सफेद रङ्ग की वस्तुएँ भी पीली ही दिखाई देती हैं, इस प्रकार पौराणिक दुराचार के रोग के कारण ऋषि दयानन्दकृत भाष्य और सत्यार्थप्रकाश भी आपको दोषयुक्त प्रतीत होते हैं, अन्यथा स्वामी दयानन्दकृत भाष्य और सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थ तो सभ्यता, शिष्टाचार, सदाचार और देशभक्ति की शिक्षाओं से कूट-कूटकर भरे हुए हैं।

पोपजी—सत्यार्थप्रकाश के लिए राजकीय निर्णय हो चुका है कि यह पुस्तक अश्लील है और इसमें दुराचार फैलानेवाली शिक्षा दी गयी है, जिसकी चर्चा नियोग-प्रकरण में की जा चुकी है।

तोपजी—हम नियोग-प्रकरण में ही इसका पूर्णरूप से उत्तर दे चुके हैं कि यह निर्णय सनातनधर्मियों ने किस धूर्तता, बेईमानी और धोखेबाज़ी से न्यायालय से प्राप्त किया है और

हम यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि वर्त्तमान सरकार का कानून वेद के अनुसार नहीं है, क्योंकि वर्त्तमान सरकार का कानून मद्य-पान, मांस-भक्षण, वेश्या-गमन, गोवध आदि-आदि पापों को अपराध घोषित नहीं करती, अतः वर्त्तमान कानून और उसके अन्तर्गत होनेवाले न्यायालयों के निर्णय हमारे धार्मिक विषयों में प्रभावक नहीं हो सकते। राज्य के निर्णयों में इस प्रकार के अनेक निर्णय विद्यमान हैं, जिनमें मद्य-पान करनेवालों, मांस-भक्षकों, वेश्या-गामियों और गोवध करनेवालों को निर्दोष घोषित करके छोड़ दिया गया, तो क्या हमारे सनातनधर्मी भाई न्यायालयों के निर्णय के कारण उपर्युक्त कर्मों को धर्म स्वीकार कर सकते हैं? कदापि नहीं। इसलिए सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध सरकारी निर्णय सत्यार्थप्रकाश की ख्याति में राईभर भी अन्तर नहीं डाल सकता।

रहा यह कहना और लिखना कि सत्यार्थप्रकाश में दुराचार फैलानेवाली शिक्षा दी गयी है, इस सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त है कि प्रत्येक व्यक्ति की वाणी स्वतन्त्र है, जो चाहे बकवास कर सकता है कि 'मैंने दस हाथ की हरड़ देखी है।' हाँ, यदि दावा करनेवाले का साहस हो तो तनिक मैदान में आये और सत्यार्थप्रकाश से एक शब्द भी ऐसा निकालकर दिखाये जो सभ्यता, नैतिकता और सदाचार के विरुद्ध हो। हम दावे से कह सकते हैं कि वह ऐसा करने में कदापि सफल नहीं हो सकता।

पोपजी—जब तक संसार में सत्यार्थप्रकाश है और गुदा-इन्द्रिय से साँप पकड़नेवाली आज्ञाओंवाला स्वामीजी का भाष्य विद्यमान है, तब तक आर्यसमाज अपना सिर ऊँचा नहीं कर सकता और न ही दुराचार की शिक्षा आर्यसमाज से दूर हो सकती है।

तोपजी—सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध आपने केवल मौखिक दावा किया था जिसका हमने ऊपर पूर्णरूप से खण्डन कर दिया है। अब रह गया वेदभाष्य का विषय। इसका भी आपने कोई अवतरण प्रस्तुत नहीं किया कि भाष्य में क्या लिखा हुआ है, जिसपर आपको आपत्ति है। यदि हम आपके सङ्केत के अनुसार भाष्य में यही लिखा मान लें कि 'साँपों को गुदा से पकड़ो' तो इसमें तो कोई भी आपत्तिजनक बात है ही नहीं, क्योंकि साँप पकड़ा ही गुदा की ओर से जाता है। यदि साँप को मुँह की ओर से पकड़ा जाए, तो वह पकड़नेवाले को डस ले, अतः साँप का गुदा अर्थात् पूँछ की ओर से ही पकड़ा जाना उचित है और यही वेदभाष्य ने बताया है, फिर पता नहीं आपको इसमें कौन-सी बात आपत्तिजनक दृष्टिगोचर हो रही है? तनिक प्रश्न की व्याख्या करके वेदभाष्य का पूरा पता अङ्कित करें जिससे आपको सन्तोषपूर्ण उत्तर दिया जा सके।

पोपजी—यदि आर्यसमाज इस दोष को दूर करना चाहता है तो आर्यसमाज को चाहिए कि वह सत्यार्थप्रकाश को और नैतिकता से गिरे हुए स्वामीजी के कई मन्त्रों के भाष्य को त्यागकर सच्चे सनातनधर्म की शरण में आकर पश्चात्ताप करे, तभी कल्याण होगा।

तोपजी—हम बता चुके हैं कि सत्यार्थप्रकाश में ऐसी कोई बात है ही नहीं जोकि सभ्यता, शिष्टता और नैतिकता के विरुद्ध हो और ऋषि दयानन्द के भाष्य में भी कोई ऐसा लेख नहीं है। हाँ, पौराणिक लोग ऋषि दयानन्द के लेखों को तोड़-मरोड़कर अपने स्वभाव के अनुसार महीधरभाष्य और पुराणों की अशिष्ट और अनैतिक शिक्षा की भाँति दूषित सिद्ध करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं, जिससे महीधरभाष्य और पुराणों की भाँति ही ऋषि दयानन्दकृत भाष्य और सत्यार्थप्रकाश आदि पुस्तकों को भी बदनाम किया जा सके, जैसाकि संस्कारविधि के गृहाश्रमप्रकरण में लिखित अथर्ववेद के मन्त्र पर ऋषि दयानन्दजी के भाष्य को दुराचार की शिक्षा देनेवाला कहकर बदनाम करने का प्रयत्न किया गया। वस्तुतः यह अर्थ स्त्रियों को कुसंगति से रोकने की शिक्षा देता है, जैसाकि हम ऊपर सिद्ध कर चुके

हैं और पौराणिक लोग स्वामीजी के इस लेख को आक्षेप-योग्य सिद्ध करने में बुरी तरह असफल सिद्ध हुए हैं, अतः स्वामीजी का इस मन्त्र का भाष्य सोलह आने सही और युक्तियुक्त है।

परमात्मा इन पौराणिक पोपों को सुबुद्धि प्रदान करे जिससे ये लोग महीधरभाष्य और पुराणों के असभ्य, अशिष्ट और अनैतिक, दूषित लेखों को तिलाञ्जली देकर वैदिकधर्म की शरण में आकर कल्याण को प्राप्त हों।

१०. सन्तान उत्पन्न करने की विधि

सिद्धान्त—

रेतो मूत्रं वि जहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्। गर्भो जरायुणावृत उल्बं जहाति जन्मना।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥

—यजुः० १९।७६

पदार्थ—(**इन्द्रियम्**) पुरुष का लिङ्ग-इन्द्रिय (**योनिम्**) स्त्री की योनि में (**प्रविशत्**) प्रवेश करता हुआ (**रेतः**) वीर्य को (**वि, जहाति**) विशेषकर छोड़ता है, इससे अलग (**मूत्रम्**) प्रस्राव को छोड़ता है, वह वीर्य (**जरायुणा**) जरायु से (**आवृतः**) ढका हुआ (**गर्भः**) गर्भरूप होकर जन्मता है। (**जन्मना**) जन्म से (**उल्बम्**) आवरण को (**जहाति**) छोड़ता है। वह (**ऋतेन**) बाहर के वायु से (**अन्धसः**) आवरण को निवृत्त करनेहारे (**विपानम्**) विविध पान के साधन (**शुक्रम्**) पवित्र (**सत्यम्**) वर्त्तमान में उत्तम (**इन्द्रस्य**) जीव के सम्बन्धी (**इन्द्रियम्**) धन को और (**इदम्**) इस (**पयः**) रस के तुल्य (**अमृतम्**) नाशरहित (**मधु**) प्रत्यक्षादि ज्ञान के साधन (**इन्द्रियम्**) चक्षुरादि इन्द्रिय को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राणी जो कुछ खाता-पीता है वह परम्परा से वीर्य होकर शरीर का कारण होता है। पुरुष का लिङ्ग-इन्द्रिय स्त्री के संयोग से वीर्य छोड़ता है और इससे अलग मूत्र को छोड़ता है। इससे जाना जाता है कि शरीर में मूत्र के स्थान से पृथक् स्थान में वीर्य रहता है और वह वीर्य जिस कारण सब अङ्गों की आकृति उसमें रहती है, इसी से जिसके शरीर से वीर्य उत्पन्न होता है, उसी की आकृतिवाला सन्तान होता है।

—:o:—

पोपजी—स्वामी दयानन्दजी ने अपने वेदभाष्य में लिखा है कि लिङ्ग को योनि में प्रविष्ट किया जाए। आर्यसमाज को ऐसी शिक्षा का प्रचार करते हुए लज्जा नहीं आती?

तोपजी—इस शिक्षा का प्रचार करते हुए लज्जा क्यों आये जबकि यह प्रकृति के नियम के अनुसार है और वेद प्राकृतिक नियम का वर्णन कर रहा है? यदि वेद ही सन्तान उत्पन्न करने के सम्बन्ध में शिक्षा नहीं करेगा तो और कौन करेगा? यह स्वामीजी का अपना लेख नहीं है अपितु यह वेदमन्त्र का भाष्य है और इसका यही अर्थ महीधर ने किया है। हाँ, लज्जा आने योग्य तो वह शिक्षा है जोकि पौराणिक है और प्राकृतिक नियम के सर्वथा विरुद्ध है, अर्थात् घोड़े के लिङ्ग को स्त्री की योनि में प्रविष्ट करना और पुरुष के लिङ्ग को मुख, नाक, कान आदि में और गुदा में प्रविष्ट करना तथा मनुष्य के लिङ्ग को पशुओं की योनि में प्रविष्ट करना आदि-आदि, जिसका पौराणिक साहित्य में स्थान-स्थान पर वर्णन है। स्वामीजी के वेदमन्त्र के भाष्य को गन्दा कहना महा नास्तिकपन है।

पोपजी—लाला साहब! कहीं आपके वेदों ने कोकशास्त्र की कमी को पूरा करने का ठेका तो नहीं लिया हुआ? वेद तो शुद्ध ईश्वरीय ज्ञान है। सन्तान उत्पन्न करने की विधियाँ

अन्य शास्त्रों में भी आपको मिल सकती हैं। महीधरजी ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए इस बात को ही सिद्ध किया है कि मूत्र और वीर्य एक स्थान से निकलने पर भी वीर्य का स्थान दूसरा है और जरायु से ढका हुआ गर्भ होकर जन्म लेता है। बतलाइए, इस वैज्ञानिक शिक्षा में क्या बुराई है ? महीधर का आश्रय लेकर स्वामीजी के दूषित भाष्य को सच्चा सिद्ध करना अन्याय है, क्योंकि स्वामीजी ने तो मन्त्र का भाष्य करते हुए स्पष्ट लिखा है कि पुरुष का लिङ्ग अर्थात् मूत्रेन्द्रिय स्त्री की योनि में प्रविष्ट होकर वीर्य को छोड़ता है।

तोपजी—कोकशास्त्र की कमी को पूरा करने का ठेका तो पौराणिकों ने ले-रक्खा है, जिनके जगन्नाथपुरी के मन्दिर की दीवारों पर मानव-आकार स्त्री-पुरुषों की तस्वीरें सर्वथा नग्न, भोग-विलास करती हुई खेंची गयी हैं और जिनके शिवालयों में महादेवजी का लिङ्ग पार्वती की भग में विराजमान होकर क्रियात्मक रूप से कोकशास्त्र की शिक्षा दे रहा है और जिनकी भागवत के दशम स्कन्ध में कृष्ण की गोपियों के साथ काम-क्रीड़ा और चीरहरण-लीला कोकशास्त्र को भी मात कर रही है और जिनके भाष्य में महीधर ने यजमान की स्त्री को घोड़े का लिङ्ग अपनी योनि में स्थापित करने की आज्ञा दी है, जिसमें पुरोहितों और कुमारियों का परस्पर अश्लील परिहास करना लिखा गया है।

वेद आपके और हमारे दो नहीं हैं। वेदों में तो केवल प्राकृतिक नियम के अनुसार सन्तान उत्पन्न करने की शिक्षा लिखी हुई है। क्या सन्तान उत्पन्न करने की शिक्षा पवित्र ईश्वरीय ज्ञान में सम्मिलित नहीं है ? और क्या वेदों के वर्णन किये बिना अन्य शास्त्रों में किसी विषय का वर्णन होना स्वीकार के योग्य हो सकता है ?

महीधर के जिस भाग की आपने चर्चा की है, वह तो स्वामीजी के भाष्य में भी वैसे-का-वैसा विद्यमान है, परन्तु यह वैज्ञानिक शिक्षा क्रियात्मकरूप तभी प्राप्त कर सकती है, जब मन्त्र के पहले भाग का वर्णन किया जाए, जिसका भाष्य स्वामीजी का और महीधर का एक ही है। लीजिए, हम उस भाग का महीधरभाष्य नीचे उद्धृत कर देते हैं—

इन्द्रियं पुंप्रजननं शिश्नं योनिं स्त्रीप्रजननं प्रविशत् सत् रेतो वीर्यं वि जहाति त्यजति। योनिप्रवेशादन्यत्र मूत्रं वि जहाति॥ —यजु:० १९।७६ पर महीधरभाष्य

अर्थ—पुरुष का लिङ्ग स्त्री की योनि में प्रविष्ट होकर वीर्य छोड़ता है और अन्यत्र मूत्र छोड़ता है।

अब तनिक ध्यानपूर्वक पढ़कर बतलाएँ कि स्वामीजी और महीधरभाष्य यहाँ एक-जैसा है या नहीं ? और इस मन्त्र का और कोई अर्थ किया भी नहीं जा सकता। प्राकृतिक नियम के अनुसार सन्तान उत्पन्न करने की विधि का वर्णन करने पर वेद को अपवित्र बताना पौराणिकों के नास्तिकपन और गन्देपन का प्रमाण है।

पोपजी—स्वामीजी ने महीधर को वाममार्गी बतलाकर उसके भाष्य को अपवित्र (दूषित) बताया है, परन्तु स्वयं स्वामीजी ने भाष्य करते हुए वाममार्ग की शिक्षा में कोई न्यूनता नहीं छोड़ी। यदि आपके विचार में महीधर वाममार्गी है तो स्वामीजी को किस मार्ग का नेता निश्चित करोगे ?

तोपजी—स्वामीजी की शिक्षा को वाममार्ग की शिक्षा बताना सबसे बड़ी मूर्खता है, क्योंकि स्वामीजी ने वेदमन्त्र का भाष्य करते हुए सन्तान उत्पन्न करने की शिक्षा दी है। महीधर के भाष्य को इसलिए दूषित बतलाया है कि उसमें प्रकृति के नियम के विरुद्ध घोड़े के साथ स्त्री का सम्भोग कराना लिखा है और पुरोहितों और कुमारियों के मध्य परस्पर परिहास करना लिखा है और स्वयं महीधर भी इसे अश्लील मानते थे, क्योंकि महीधर के भाष्य में व्यभिचार की शिक्षा है, इसलिए महीधर वाममार्गी था; और स्वामीजी के भाष्य

में, क्योंकि वेदानुकूल सन्तान उत्पन्न करने की शिक्षा है, इसलिए स्वामीजी राम-मार्गी और श्याम-मार्गी थे, अर्थात् जिस वैदिक शिक्षा पर श्रीराम और कृष्ण आचरण करते थे, उसी का वर्णन करनेवाले थे।

पोपजी—महाशय! सनातनधर्म के ग्रन्थों में तो कहीं भी लिङ्ग को मुख-कान आदि में प्रविष्ट करने का वर्णन नहीं है, परन्तु आपको अपने रोग के कारण ही ऐसा दृष्टिगोचर होता है। इसमें किसी का क्या दोष है?

तोपजी—इसमें आपका दोष है, क्योंकि आप सनातनधर्म के ग्रन्थों को देखे बिना ही सत्य घटनाओं से इन्कार कर रहे हैं। हमने अपनी पुस्तक में लिखा है कि 'भविष्यपुराण में लिखा है कि सूर्य ने अपनी स्त्री के मख और नाक में लिङ्ग प्रविष्ट कर दिया और शिवपुराण में लिखा है कि ऋषियों ने शिव के बीज को अञ्जनी के कान में डाल दिया।' ये दोनों बातें आपके पुराणों में विद्यमान हैं। लीजिए, हम पुराणों का मूल पाठ उद्धृत कर देते हैं—

कामातुरो हयो भूत्वा तत्र रेमे तया सह॥ —भविष्य० प्रति० ३, खण्ड ४, १८.३८

अश्वरूपेण मार्तण्डस्तां मुखेन समासदत्। मैथुनाय विचेष्टन्तीं परपुंसो विशंकया॥५५॥

सा तं विवस्वतः शुक्रं नासाभ्यां समधारयत्। देवौ तस्यामजायेतामश्विनौ भिषजां वरौ॥५६॥

—भवि० ब्राह्म० ७८.५५-५६

अर्थ—सूर्य काम से विवश होकर वहाँ घोड़ा बनकर अपनी स्त्री संज्ञा के साथ रमण करने लगा॥३८॥

सूर्य घोड़े का रूप धारण करके उस पर-पुरुष की शङ्का करनेवाली अपनी स्त्री के साथ सम्भोग करने के लिए मुख के द्वारा प्राप्त हुआ॥५५॥

उसने सूर्य के बीज को नाक के द्वारा धारण किया। इसमें वैद्यों में श्रेष्ठ देवता अश्विनीकुमार उत्पन्न हुए॥५६॥

तैर्गौतमसुतायां तद्वीर्यं शम्भोर्महर्षिभिः। कर्णद्वारा तथांजन्यां रामकार्यार्थमाहितम्॥६॥

ततश्च समये तस्माद्धनूमानिति नामभाक्। शम्भुर्जज्ञे कपितनुर्महाबलपराक्रमः॥७॥

—शिव० शतरुद्र० २०.६-७

अर्थ—उन महर्षियों ने उस महादेव के बीज को रामचन्द्रजी के कार्य के लिए गौतम की पुत्री अञ्जनी के कान के द्वारा अन्दर डाल दिया। उसके पश्चात् समय व्यतीत होने पर उस लड़की के पेट से हनुमान् नामवाला महाशक्तिशाली बन्दररूपधारी शम्भु उत्पन्न हुआ॥६-७॥

इन प्रमाणों को पढ़कर बतलाएँ कि हमारा लेख सत्य है या झूठा? यहाँ स्पष्ट लिखा है कि सूर्य ने अपनी स्त्री से मुख में भोग किया और उसने नाक से बीज को धारण किया और अञ्जनी के कान में प्रविष्ट कर दिया। पुराणों में तो स्पष्ट लिखा है, चमगादड़ की भाँति आपको दिखाई न दे तो हमारा क्या दोष है?

पोपजी—भविष्यपुराण में सूर्य का अपनी स्त्री के मुख-नाक में लिङ्ग प्रविष्ट करने की चर्चा बिल्कुल नहीं है। इस कथा को ब्रह्मपुराण में भी आप देख सकते हैं। भविष्य और ब्रह्मपुराण में स्पष्ट लिखा है कि सूर्य की स्त्री सूर्य के तेज को न सह सकती थी, इसलिए उसने डर से देवशक्ति के द्वारा घोड़ी का शरीर धारण कर लिया, क्योंकि वेद के अनुसार देवताओं में प्रत्येक प्रकार का शरीर धारण करने की शक्ति हुआ करती है। जब सूर्य ने योगदृष्टि से अपनी पत्नी को घोड़ी बने हुए देखा और वास्तविक भाव जाना तो सूर्य ने भी

घोड़े का शरीर धारण करके अपने शुक्र अर्थात् तेज का प्रकाश किया, जिससे वह सूर्य के तेज को ग्रहण करके उसे सहारने के योग्य हो गयी। भविष्यपुराण और ब्रह्मपुराण में लिङ्ग का तो नाम तक नहीं। लाला साहब को संस्कृत का प्रत्येक शब्द यदि लिङ्ग ही दिखाई देता हो तो इसमें किसी का क्या दोष है? लाला साहब! आपने सरासर झूठ लिखकर पुराण को और सनातनधर्म को व्यर्थ लाञ्छित करने का प्रयत्न किया है। शुक्र का अर्थ स्वामीजी ने भी यजुर्वेद (१९।७६) के भाष्य में पवित्र किया है और कई मन्त्रों में शुक्र शब्द का अर्थ करते हुए स्वामीजी ने तेज अर्थ ही किया है, तब भविष्यपुराण में ही शुक्र शब्द का लिङ्ग अर्थ करके जनता को धोखा देना चालबाजी नहीं तो और क्या है?

तोपजी—चालबाजियाँ हम नहीं करते, अपितु आप चालबाजियाँ करके जनता की आँखों में धूल झोंकना चाहते हैं। हम तो प्रमाण दे रहे हैं भविष्यपुराण का और आप छलाँगें मार रहे हैं ब्रह्मपुराण में। जब हम ब्रह्मपुराण का प्रमाण ही नहीं दे रहे तो फिर उसका प्रमाण प्रस्तुत करना चालबाजी और धूर्तता नहीं तो और क्या है? भविष्यपुराण में लिङ्ग का नाम तो नहीं, परन्तु यह तो लिखा है कि सूर्य ने कामातुर होकर घोड़ा बनकर अपनी स्त्री के मुख में सम्भोग किया, तो श्रीमन्! क्या सम्भोग लिङ्ग के बिना किसी और अङ्ग से भी किया जाता है और बीज लिङ्ग के बिना किसी और अङ्ग से भी निकलता है, जिसको कि संज्ञा ने नाक के द्वारा धारण करके दो पुत्र अश्विनीकुमार उत्पन्न कर दिये? सम्भव है सनातनधर्म में लिङ्ग के अतिरिक्त किसी और अङ्ग से भी सम्भोग की विधि प्रचलित हो, परन्तु संसार में तो लिङ्ग से ही सम्भोग किया जाता है।

हमें प्रत्येक शब्द में लिङ्ग दृष्टिगोचर नहीं होता, अपितु पौराणिक देवता अपने भक्तों के समक्ष और कोई भेंट प्रस्तुत कर ही नहीं सकते। महादेवजी ने अनसूया जैसी पतिव्रता स्त्री के समक्ष भी भेंट के रूप में लिङ्ग ही हाथ में पकड़कर प्रस्तुत किया और ऋषि-पत्नियों के समक्ष भी यही भेंट प्रस्तुत की। सनातनधर्म के देवता सनातनधर्म के भक्तों को यही बहुमूल्य भेंट प्रस्तुत करने में प्रवीण हैं, तभी तो प्रातःकाल ही सनातनधर्म के सब नर-नारी शिवालयों में जाकर इसी लिङ्ग के दर्शन करके प्रसन्न होते हैं।

हमें इससे इन्कार नहीं कि 'शुक्र' शब्द के अन्य भी अर्थ हो सकते हैं, परन्तु जहाँ पर काम से विवश होने, सम्भोग करने, उससे गर्भ होने और सन्तान उत्पन्न होने का वर्णन हो, वहाँ विषय के अनुरूप शुक्र शब्द के बीज के अतिरिक्त और अर्थ किये ही नहीं जा सकते और बीज लिङ्ग के बिना और किसी अङ्ग से निकलता नहीं, इसलिए सूर्य का अपनी स्त्री के मुख में सम्भोग करना और उसका नाक के द्वारा वीर्य धारण करना स्पष्टरूप से मुख और नाक में लिङ्ग प्रविष्ट करने का पर्यायवाची है।

हम पुराणों और सनातनधर्म को बदनाम नहीं करते, अपितु पुराण और सनातनधर्म स्वयं बेहूदा और बदनाम होने के योग्य हैं कि जिसमें इस प्रकार के बेहूदा, अश्लील और अप्राकृतिक लेख विद्यमान हैं। यदि आप अपयश से बचना चाहते हैं तो इन अष्टादश पुराणों को तिलाञ्जली देकर वैदिक धर्म की शरण में आ जाएँ, अन्यथा आपका अपयश से बचना सर्वथा असम्भव है।

पोपजी—लाला साहब ने शिवपुराण का झूठा प्रमाण देकर शिवजी के वीर्य को अञ्जनी के कान में डालने का वर्णन किया है। यह बड़ी भारी भूल है, क्योंकि मैं पहले लिख चुका हूँ कि वीर्य का तात्पर्य तेज भी होता है। प्रत्येक स्थान पर वीर्य का वही अर्थ कर लेना, जो लाला साहब को अभीष्ट है, अनुचित है। संस्कृत के शब्दों के कई अर्थ होते हैं, जैसे उदाहरण के रूप में 'सैंधव' शब्द को ही लीजिए। इसका अर्थ नमक और घोड़ा होता है,

परन्तु भोजन के अवसर पर इस शब्द का अर्थ नमक ही करना चाहिए, घोड़ा नहीं। 'हरि' शब्द के हिरन, घोड़ा और बन्दर आदि कई अर्थ हैं, परन्तु हरि शब्द का प्रत्येक स्थान पर बन्दर अर्थ ही करना सरासर ग़लती है। इसी प्रकार वीर्य शब्द का सर्वत्र एक ही अर्थ करना अज्ञानता है। ऋषियों ने भगवान् शङ्कर के तेजरूपी उपदेश को ही अञ्जनी को श्रवण कराया था। लाला साहब! इससे आपका मिशन (उद्देश्य) पूरा नहीं हो सकता।

तोपजी—हमने प्रमाण ग़लत नहीं दिया, हमारा प्रमाण सर्वथा ठीक है। यह आपकी भूल है कि पुराण की कथा को पढ़े बिना यूँही झूठे जोड़-तोड़ से सनातनधर्म की रक्षा करना चाहते हैं। इस बात को हम भी जानते हैं कि संस्कृतभाषा में एक शब्द के कई अर्थ होते हैं और प्रकरण के अनुकूल जो अर्थ उचित हों वही ग्रहण किये जाते हैं, परन्तु जहाँ पर प्रकरण ही और हो वहाँ पर अन्य अर्थ लगाना सरासर ग़लती और अज्ञानता है। आपने इस कथा में वीर्य का अर्थ उपदेश लगाने की बहुत बड़ी मूर्खता की है। प्रथम तो वीर्य शब्द का अर्थ उपदेश होता ही नहीं, परन्तु यदि मान भी लिया जाए तो इस प्रकरण में तो वीर्य के अर्थ बीज के बिना और कोई हो ही नहीं सकते। तनिक शिवपुराण खोलकर शतरुद्रसंहिता ३, अध्याय २० में इस कथा को पढ़ने का कष्ट करें। वहाँ लिखा है कि "एक बार महादेवजी विष्णु के मोहिनी रूप को देखकर अत्यन्त कामातुर और विवश हो गये और मोहिनी के रूप के पीछे भागते हुए उन्होंने राम के कार्य के लिए अपना वीर्य पृथिवी पर गिरा दिया। सात ऋषियों ने उस वीर्य को एक पत्ते में डाल लिया और कान के द्वारा गौतम की लड़की अञ्जनी के अन्दर डाल दिया। तब कुछ समय के पश्चात् इससे हनुमान् की उत्पत्ति हुई जो अत्यन्त शूरवीर था।"

अब इस कथा को पढ़कर प्रकरण के अनुसार बतलाएँ कि क्या यहाँ वीर्य का अर्थ उपदेश हो सकता है? क्या उपदेश मोहिनीरूप के पीछे कामातुर होकर भागने से ही निकला करता है? और क्या इसे पत्ते में भी बन्द किया जाता है और क्या उस उपदेश से ही अञ्जनी के गर्भ हो गया, जिससे हनुमान् का जन्म हुआ? तनिक अपनी धोखेबाज़ी और धूर्तता पर शर्म करो। क्यों जनता को ग़लत मार्ग पर चलाने का ठेका लिया हुआ है? क्यों नहीं स्पष्टरूप से स्वीकार कर लेते कि पुराणों की शिक्षा अशिष्टतापूर्ण, अपवित्र और अप्राकृतिक है? मिश्रजी महाराज! सुमार्ग पर आ जाइए और पुराणों को तिलाञ्जली देकर वैदिक धर्म को स्वीकार कीजिए, तभी इन बेहूदा बकवासों से आपका छुटकारा हो सकता है, अन्यथा यूँही झूठे, निराधार जोड़-तोड़ से अब पौराणिक पन्थ का स्थिर रहना असम्भव है।

पोपजी—लाला मनसारामजी ने भागवत के प्रमाण से ब्रह्मा की गुदा में लिङ्ग प्रविष्ट करने के लिए राक्षस लोगों का भागना लिखा है। यह सर्वथा असत्य है। श्रीमद्भागवत में ऐसी बात का कहीं भी वर्णन नहीं। लाला साहब! इस प्रकार की अश्लील बातें लिखना श्रेष्ठ व्यक्तियों के लिए शोभा नहीं देता। आपने लज्जा को छोड़कर झूठे प्रमाण देकर धोखा देने का ठेका क्यों ले रक्खा है? फिर झूठ भी ऐसा जो सर्वथा असम्भव हो? क्या आपको आर्यसमाज की शिक्षा भी यही सिखाती है? क्या सभी स्वामी दयानन्दजी की भाँति ही आचरण करनेवाले हैं? मैं अधिक लिखना उचित नहीं समझता, विद्वानों के लिए सङ्केत ही पर्याप्त है। साहस हो तो श्लोक प्रस्तुत करें।

तोपजी—हमने श्रीमद्भागवत का जो प्रमाण दिया है, वह सोलह आने सत्य है। निःसन्देह हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस प्रकार की बेहूदा और अश्लील बातें भले मनुष्यों को शोभा नहीं देतीं, जैसीकि पुराणों में लिखी हुई हैं और हम इस बात का प्रबल समर्थन करते हैं कि जिस व्यक्ति ने इस प्रकार की बेहूदा और अश्लील बातों को

श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में लिखा है, निःसन्देह उसने लज्जा और शर्म छोड़कर और झूठे लेख लिखकर संसार को धोखा देने का ठेका ही ले-रक्खा है। इसीलिए तो आर्यसमाज कहता है कि ये अट्ठारह पुराण व्यासजी-जैसे आचरणशील विद्वान्, सदाचारी और योगी के लिखे नहीं हैं, क्योंकि इनमें सर्वथा झूठी, अश्लील और असम्भव बातें भरी पड़ी हैं। आर्यसमाज की शिक्षा हमें यही सिखाती है कि सत्य का प्रचार करो और झूठ का भण्डा सरे बाज़ार फोड़ दो।

यदि सब स्वामी दयानन्दजी की भाँति ही आचरण करनेवाले ब्रह्मचारी, योगी और वेद के प्रचारक होते तो आज संसार में इन पुराणों का चिह्न भी शेष नहीं होता। रोना तो इस बात का है कि ऋषि दयानन्द-जैसे ब्रह्मचारी, योगी, सदाचारी और वेद के प्रचारकों का महाभारत के पश्चात् अभाव हो गया और दुराचारी, मद्यपायी, मांसभक्षी व व्यभिचारी लोगों की बन आई और उन्होंने अपने दोषों को धर्म सिद्ध करने के लिए ऋषि-मुनि, महात्माओं और देवताओं पर मद्यपान, मांसभक्षण और व्यभिचार के दोष लगाकर इस प्रकार की पुस्तकें लिख डालीं। अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं, बुद्धिमान् के लिए सङ्केत के रूप में एक ही प्रमाण पर्याप्त है जैसाकि भागवतपुराण में वर्णन है कि ब्रह्माजी ने विष्णु के पास आकर दुहाई दी—

पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेषणेनासृजं प्रजाः। ता इमा यभितुं पापा उपाक्रामन्ति मां प्रभो॥

—भाग० ३.२०.२६

अर्थ—हे प्रभो! परमात्मन्! तुम मेरी रक्षा करो। तुम्हारी आज्ञा से मैंने जो प्रजा उत्पन्न की वही ये पापी होकर बलात्कार से मुझसे मैथुन करने के निमित्त मेरे पीछे लग रहे हैं।

—अनुवाद पं० रामस्वरूपजी ऋषिकुमार, सनातनधर्मपताका

अब आशा है कि आपकी सन्तुष्टि हो जाएगी कि हमारा काम झूठे प्रमाण देकर धोखा देना नहीं, अपितु यह कार्य पौराणिक पोपमण्डली का ही है। हमारा काम ठीक प्रमाण देकर जनता को पाखण्ड से सावधान करना है। क्या आपके विचार में राक्षसों का ब्रह्मा से मैथुन करने के लिए उनके पीछे भागने और ब्रह्मा की गुदा में लिङ्ग प्रविष्ट करने के लिए राक्षस लोगों का उनके पीछे भागने में कोई अन्तर प्रतीत होता है? कदापि नहीं, अतः हमारा लेख सोलह आने सत्य है, क्योंकि लेख के शब्दों में चाहे अन्तर हो, परन्तु परिणाम एक ही है।

पोपजी—लाला साहब! पुराणों में तो एक भी ऐसी कथा नहीं। क्या आप पुराणों को भी व्यर्थ कलङ्कित करके सत्यार्थप्रकाश की भाँति अश्लील और दुराचार सिखानेवाली पुस्तक सिद्ध करना चाहते हैं? परन्तु ध्यान रहे, आपके झूठे आरोप लगाने से पुराण सत्यार्थप्रकाश की भाँति अश्लील नहीं समझे जा सकते।

तोपजी—आपके इस लेख से एक कथा स्मरण हो आई। कहते हैं किसी दुराचारिणी स्त्री की उसके पति ने नाक काट दी। वह नकटी स्त्री बजाय इसके कि स्वयं लज्जित होती, अपने पति को ही नक्कू-नक्कू कहकर लज्जित और बदनाम करने का प्रयत्न करने लगी। ठीक वही अवस्था आपकी है। बजाय इसके कि आप पुराणों की अशिष्ट, असभ्य, अप्राकृतिक, अश्लील और बेहूदा कथाओं पर लज्जित हों, उलटा सत्यार्थप्रकाश को बदनाम करने का प्रयत्न करने लगे। भला! कहाँ वैदिक सचाई को संसार में फैलानेवाला सत्यार्थप्रकाश और कहाँ मद्यपान, मांसभक्षण और व्यभिचार आदि व्यसनों की शिक्षा देनेवाले भागवत आदि अष्टादश पुराण! कहाँ राजा भोज और कहाँ गङ्गवा तेली! पुराणों में एक नहीं ऐसी सैकड़ों कथाएँ विद्यमान हैं, जिनमें मुख, नाक, कान, गुदा आदि में लिङ्ग और बीज को प्रविष्ट करने का वर्णन है, अतः इस शीर्षक के आरम्भ में उद्धृत मन्त्र से पहली शिक्षा यही मिलती है

कि लिङ्ग को योनि के अतिरिक्त अन्यत्र प्रविष्ट नहीं करना चाहिए।

पोपजी—इन प्रश्नों में लाला साहब की अक़्ल (बुद्धि) का फ़ोटो ज्ञात हो गया है। लाला साहब को मैथुन के अतिरिक्त और कुछ दृष्टिगोचर ही नहीं होता और न ही ऐसा लिखने में इन्हें लज्जा आती है।

तोपजी—निःसन्देह हमें पुराणों में मैथुन के अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही नहीं देता और दिखाई भी कहाँ से दे जबकि पुराणों में सिवाय दुराचार की शिक्षा के औचित्य की बात है ही नहीं। जब पुराणों के बनानेवालों को ही पुराणों में इस प्रकार की बेहूदा, अनुचित, अप्राकृतिक और अश्लील बातों को लिखते हुए लज्जा नहीं आई तो उन्हें प्रकट करते हुए लज्जा करने से हमारा कार्य कैसे चल सकता है, जबकि हमने पुराणों की पोल को जनता के समक्ष प्रकट करने का ठेका लिया हुआ है। अभी तो आपको हमारी अक़्ल का फ़ोटो ही ज्ञात हुआ है, परन्तु इस पुस्तक को पढ़कर तो आपको तारे ही दिखाई देने लगेंगे। हमारे प्रश्नों में आपको क्या न्यूनता दिखाई दी? हमने यही लिखा है न कि इस वेदमन्त्र से पहली शिक्षा यह मिलती है कि मनुष्य के लिङ्ग को स्त्री की योनि में प्रविष्ट करना ही उचित है, पशुओं की योनि में मानव-लिङ्ग का प्रविष्ट करना अप्राकृतिक है, परन्तु पुराणों में पशुओं के साथ मनुष्यों के मैथुन करने के उदाहरण मिलते हैं जोकि शिष्टता, सभ्यता, मानवता और वेद के सर्वथा विरुद्ध हैं। बतलाइए, हमारे इन प्रश्नों में क्या दोष है? हाँ, यह ठीक है कि चोरों को कोतवाल की डाँट-डपट से घृणा स्वाभाविक बात है।

पोपजी—पाठकगण! नियोग प्रकरण में महर्षि शृङ्गी और कणाद आदि के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है और मैंने भूमिका में भी ऋषियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्पष्टरूप से बतलाया था कि ऋषि लोग मानसिक शक्ति से ही सन्तान उत्पन्न कर लेते थे। लाला साहब! इनके पिताओं ने किन्हीं पशुओं के साथ मैथुन नहीं किया। यदि आप में कुछ साहस है तो कृपा करके किसी पुस्तक का प्रमाण बतलाएँ, जिसमें इनके पिताओं का पशुओं के साथ मैथुन करने का वर्णन हो।

तोपजी—महाशयवृन्द! हमने शृङ्गी ऋषि और कणाद आदि के सम्बन्ध में वहीं सविस्तर उत्तर लिख दिया है और पोपजी की भूमिका का उत्तर देते हुए भी स्पष्ट बतला दिया है कि मानसिक शक्ति से सन्तान उत्पन्न की ही नहीं जा सकती। जब ऋष्यशृङ्ग हिरनी के पेट से, कणादमुनि उल्लूनी के पेट से, मण्डूक ऋषि मेंढकी के पेट से, शुकदेवजी तोती के गर्भ से और गौतममुनि खरगोशनी से उत्पन्न हुए, यह बात पुराणों में लिखी है, तब यह बात प्रत्येक बुद्धिमान् जानता है कि नर-मादा (पुं-स्त्री) के परस्पर मैथुन के बिना सन्तान होना सर्वथा असम्भव है। जब पौराणिक लोग उपर्युक्त पशुओं से मनुष्यों की उत्पत्ति मानते हैं तो उनके पिताओं का उन पशुओं से मैथुन करना स्पष्टरूप से सिद्ध है।

पोपजी—आपकी यह दलील कि भोग के बिना सन्तान नहीं हो सकती निराधार है, क्योंकि आपकी आदिसृष्टि के जवान-जवान जोड़ों के पिताओं ने कौन-सी स्त्रियों के साथ मैथुन किया था?

तोपजी—बलिहारी जाएँ आपकी सिद्धान्तों की समझ के! श्रीमन्! आदिसृष्टि में जो स्त्री और पुरुष जवान अवस्था में उत्पन्न होते हैं, वह ईश्वरीय सृष्टि है। उनके माता-पिता होते ही नहीं। वे सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर की ओर से बिना माता-पिता के ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु जैवी सृष्टि में यह बात सम्भव नहीं कि बिना पुरुष का सङ्ग किये केवल स्त्री से ही सन्तान पैदा हो जाए अथवा पुरुष बिना स्त्री के ही सन्तान उत्पन्न कर सके। जैवी सृष्टि में तो नर और मादा (पुरुष और स्त्री) के आपस में मिलने से ही गर्भ रहना सम्भव है।

पोपजी—और पं० राजारामजी ने निरुक्त के भाष्य में जो ऋग्वेद के मन्त्रों का अर्थ करते हुए अग्नि से अङ्गिरा आदि ऋषियों की उत्पत्ति का वर्णन किया है, इससे क्या अग्नि की लाट (लौ) के साथ भी सम्भोग की कल्पना करोगे।

तोपजी—हम पहले भी विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं कि पं० राजारामजी का लेख अनार्ष होने से प्रामाणिक नहीं है, अतः आर्यसमाज उसका उत्तरदायी नहीं है। हमने ऋषि दयानन्दजी का भाष्य देकर यह सिद्ध कर दिया था कि वेदों में उस स्थान पर किसी भी ऋषि की उत्पत्ति का वर्णन नहीं है और यह भी लिख दिया था कि वेद में 'जातवेदः' नाम विद्वान् और 'अङ्गिरः' नाम प्राणों का आया है, न कि अग्नि और अङ्गिरा ऋषि का। इसलिए आपका उपर्युक्त प्रमाण सर्वथा झूठा तथा बुद्धि और तर्क से शून्य है।

पोपजी—महाशयजी! ऋषियों की उत्पत्ति से ही घबरा गये? यद्यपि वेदों से भी आपके समाजी विद्वानों के भाष्य से ही सिद्ध किया गया है कि ऋषियों की उत्पत्ति पशुओं से नहीं हुई अपितु उस परम पिता जगदीश्वर से ही हुई है कि जिससे सारी सृष्टि प्रकट हुई है।

तोपजी—हमें घबराने की क्या आवश्यकता है? घबराहट तो आपको हो रही है कि जिनके लिए ऋष्यशृङ्ग, कणाद, गौतम आदि का हिरनी, उल्लूनी, खरगोशनी आदि के गर्भ से उत्पन्न होना, उनके पिताओं का पशुओं से मैथुन किये बिना सिद्ध करना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव हो रहा है। श्रीमन्! वेद के सम्बन्ध में हमारे लिए ऋषि दयानन्द का भाष्य ही प्रामाणिक है। यदि आप कुछ दिखलाना चाहते हैं तो इसमें से दिखलाएँ, अन्यथा पं० राजारामजी आदि के भाष्य आर्यसमाज के लिए प्रामाणिक नहीं हैं और न ही आर्यसमाज उनके लिए उत्तरदायी है।

आप बताइए, यदि उपर्युक्त ऋषियों की उत्पत्ति पशुओं से नहीं हुई तो क्या पुराणों में इनका हिरनी, उल्लूनी और खरगोशनी से उत्पन्न होना ग़लत लिखा है? परमात्मा की ओर से ईश्वरीय सृष्टि अर्थात् सर्गारम्भ में बिना माता-पिता के ऋषियों की उत्पत्ति सम्भव है, परन्तु जैवी सृष्टि में पुरुष के मैथुन के बिना स्त्री के पेट से उत्पत्ति होना परमात्मा के विधान के विरुद्ध है।

पोपजी—यह तो एक साधारण-सी बात है। परमात्मा तो सर्वशक्तिमान् हैं। वे जहाँ से भी चाहें जीवों को उत्पन्न कर सकते हैं। इनमें नर-मादा के मिलाप की आवश्यकता ही क्या है?

तोपजी—सर्वशक्तिमान् का यह अर्थ नहीं है कि उस परमात्मा का कोई विधि-विधान ही नहीं है। यदि परमात्मा को नर (पुरुष) के बिना मादा (स्त्री) से और मादा के बिना नर से मिलाप किये बिना ही सन्तान उत्पन्न करना अभीष्ट होता तो उसे नर-मादा का जोड़ा बनाने की आवश्यकता ही नहीं थी। प्राणियों में नर-मादा के जोड़े उत्पन्न करना ही इस बात को सिद्ध करता है कि परमात्मा को दोनों के मिलाप से ही सन्तान उत्पन्न करना अभीष्ट है।

पोपजी—आदि अमैथुनी सृष्टि में सबकी उत्पत्ति बिना माता-पिता के ही हुई थी, जिसे आप और आपके स्वामी दयानन्दजी आकाश से जवान-जवान जोड़े टपकने के रूप में स्वीकार करते हैं, परन्तु फिर भी आपको सन्देह ही रहा कि 'नर-मादा के मिलाप के बिना ईश्वर जीव पैदा करने की शक्ति नहीं रखता' जोकि नितान्त भूल है।

तोपजी—'सारी रात रोई, एक ही मरा और वह भी पड़ोसियों का गधा'—यह लोकोक्ति आपपर ही चरितार्थ होती है। पता नहीं जब आप पुस्तक लिखने बैठे थे तो अपनी अक़्ल को किसी दुकानदार के पास गिरवी रखकर काग़ज़, लेखनी, मसिपात्र आदि लाये थे अथवा भङ्ग पीकर बैठे थे कि आपके मस्तिष्क से एक भी बात अक़्ल और युक्ति की निकलती

हुई दिखाई नहीं देती। भला! यह तो बताएँ कि आर्यसमाज की कौन-सी पुस्तक में लिखा है कि "आदिसृष्टि में जवान-जवान जोड़े आकाश से टपके?" यदि नहीं लिखा तो इस बकवास से लाभ क्या? यदि साहस है तो आक्षेप का उत्तर दें, अन्यथा व्यर्थ की बकवास से प्रश्नों का उत्तर थोड़े ही आ जाएगा।

निःसन्देह हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि आरम्भिक अमैथुनी सृष्टि में सबकी उत्पत्ति बिना माता-पिता के हुई थी, परन्तु इससे हमारे प्रश्न का क्या उत्तर हुआ? क्योंकि सृष्टि के आरम्भ की उत्पत्ति होती ही बिना माता-पिता के है, इसीलिए तो इसे अमैथुनी या ईश्वरीय सृष्टि कहते हैं, परन्तु आदिसृष्टि के पश्चात् जैवी या मैथुनी सृष्टि में यह सम्भव नहीं कि बिना पुरुष के मिलाप के स्त्री को गर्भ हो जाए अथवा बिना मादा के मिलाप के नर स्वयं ही अपने बीज से सन्तान उत्पन्न कर सके। यदि ऐसा हो तो नर और मादा (पुरुष और स्त्री) का उत्पन्न करना ही व्यर्थ सिद्ध हो जाए। आपके विवाद-ग्रस्त पौराणिक ऋषि ऋष्यशृङ्ग, कणाद, गौतम और मण्डूक न तो सृष्टि के आरम्भ में हुए और न ही बिना माता-पिता के उत्पन्न हुए, अपितु पुराणों में हिरनी, उल्लूनी, खरगोशनी और मेंढकी इनकी माताओं के नाम स्पष्ट लिखे हैं और कुछ के पिताओं के नाम भी विभाण्डक आदि स्पष्टरूप में लिखे हुए हैं, तो फिर बतलाइए कि उनकी उत्पत्ति अमैथुनी सृष्टि से क्या सम्बन्ध रखती है? ईश्वर का नियम अटल है। वह अपने नियमों को स्वयं नहीं तोड़ता। सर्वप्रथम उद्धृत वेदमन्त्र से स्पष्ट प्रकट है कि जैवी सृष्टि में नर-मादा के लिङ्ग-योनि-संयोग से ही सृष्टि का उत्पन्न होना ईश्वरीय नियम है।

पोपजी—दूर क्यों जाते हो? अभी तक कलिकाल में भी उस सर्वशक्तिमान् पिता ने विचित्र उत्पत्तियों का क्रम बना रक्खा है जो आप जैसे हठधर्मियों के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण का उदाहरण प्रस्तुत कर रहा है। क्या आज तक किसी ने मोर और मोरनी को इकट्ठे होते देखा है? कदापि नहीं। मोर जब प्रसन्नता की अवस्था में नाचता है तो मस्ती की अवस्था में एक अनोखी ध्वनि उसके कण्ठ से निकलती है, जिसे सुनकर आस-पास की मोरनियाँ तीर की भाँति उसके पास पहुँच जाती हैं। इस मस्ती की अवस्था में मोर की आँखों से आँसू टपकते हैं, जिसके सम्बन्ध में कहावत है कि वह अपने पैर देखकर रोता है। अस्तु, जो कुछ भी हो, परन्तु उस समय उसके आँसुओं को मोरनी पी जाती है, बस, इन्हीं आँसुओं से उसे गर्भ ठहर जाता है और समय पर अण्डा उत्पन्न होता है। फिर, आनन्द की बात यह कि समय पाकर जब अण्डा फूटता है तो उस समय जो मोर का बच्चा होता है, उसमें उसी समय भागने की इतनी शक्ति होती है कि उसे कोई व्यक्ति पकड़ नहीं सकता।

तोपजी—"किसी चूहे को हल्दी की गाँठ मिल गयी, वह कहने लगा मैं पँसारी हूँ"—वही अवस्था आपकी है। "डूबते को तिनके का सहारा।" अब सनातनधर्म की रक्षा करने के लिए मोर-मोरनी का उदाहरण मरते हुए को अमृत के समान काम देगा! परन्तु आपके प्रदेश में मोर होते भी हैं? और आपने कभी मोर देखा भी है? क्या आपने यह बात अच्छी प्रकार अन्वेषण करके लिखी है? कहीं ऐसा न हो कि "परायी छाछ के भरोसे मूँछें मुँड़ी-मुड़ाई रह जाएँ!" भला, यदि किसी ने मोर-मोरनी को इकट्ठे होते हुए नहीं देखा तो इससे यह कैसे सिद्ध हो गया कि वे इकट्ठे होते ही नहीं? कई प्राणी गुप्तरूप से सम्बन्ध करते हैं। उदाहरण के रूप में कव्वा को ले-लें। क्या आपने कभी कव्वा-कव्वी को इकट्ठे होते देखा है? यदि नहीं देखा तो इससे यह कैसे सिद्ध हो जाएगा कि कव्वा-कव्वी इकट्ठे होते ही नहीं?

संसार में चार प्रकार की उत्पत्ति है—**उद्भिज** अर्थात् पृथिवी को फोड़कर पैदा होनेवाले

वृक्ष आदि, **स्वेदज** अर्थात् पसीने से पैदा होनेवाले मच्छर, मक्खी, जूँ आदि प्राणी, **अण्डज** अण्डे से पैदा होनेवाले और **जेरज**, जरायु में लिपटे हुए उत्पन्न होनेवाले। बस, प्राणियों की उत्पत्ति चार ही प्रकार की है। इनमें से प्रथम दो प्रकार की उत्पत्ति जलीय (जल-सम्बन्धी) है और अन्तिम दो प्रकार की उत्पत्ति पेशाबी (मूत्र-सम्बन्धी) है। मोर भी अण्डजों में सम्मिलित है, अतः उसकी उत्पत्ति भी पेशाबी ही है, अर्थात् नर और मादा के मिलाप से ही उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार मोर के सम्बन्ध में पाँवों को देखकर रोने की बात यार लोगों का वाग्विलास (हँसी-मज़ाक) है, वैसे ही मोर के आँसुओं से मोरनी के गर्भ ठहरने की बात भी वाग्विलास ही है। आपका इस वाग्विलास को सनातनधर्म के सिद्धान्तों को सिद्ध करने का आधार मान लेना भी एक मूर्खता और गँवारपन ही है।

यदि आपकी इस सारी कथा को ठीक भी मान लिया जाए, तो भी इस उदाहरण से आपका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इससे भी यह सिद्ध नहीं हो सकता कि नर का अंश मादा के अन्दर प्रविष्ट हुए बिना ही मादा को गर्भ हो सकता है। इस उदाहरण में भी मोर का वीर्य मोरनी में प्रविष्ट होकर ही मोरनी सन्तान उत्पन्न करने के योग्य होती है, चाहे वह वीर्य आँखों के मार्ग से बाहर आकर मोरनी के मुख के मार्ग से ही अन्दर जाना स्वीकार कर लें। जिस अङ्ग से सन्तान उत्पन्न करने का साधन वीर्य निकले उसका नाम लिङ्ग और जिसमें प्रविष्ट होकर गर्भ ठहरे उसी का नाम योनि है, अतः आपकी कथा को मानकर भी लिङ्ग-योनि के मिलाप के बिना सन्तान उत्पन्न होना सिद्ध नहीं हो सकता।

रह गया मोर के बच्चे का अण्डे से निकलते ही वेग से दौड़ना, सो प्रथम तो यह बात सर्वथा झूट है, क्योंकि हमारे प्रदेश के छोटे-छोटे बच्चे भी मोर के बच्चों को प्रायः पकड़ लाया करते हैं, परन्तु इस बात को ठीक भी मान लें, तो भी इससे सिद्ध क्या हुआ? सब पक्षियों के बच्चे उत्पन्न होते ही अन्न का चुग्गा लेने लग जाते हैं, परन्तु मनुष्य के बच्चे उत्पन्न होते ही अन्न नहीं खा सकते। यह अपनी-अपनी नस्ल की प्राकृतिक विशेषता है, इसलिए पक्षियों के उदाहरण से मनुष्य-सम्बन्धी किसी बात को सिद्ध करना केवल अज्ञानता, हठधर्मी और पागलपन है।

पोपजी—कहिए महाशयजी! जिस ईश्वर की सामर्थ्य का अन्त ऋषि लोग सहस्रों वर्षों की तपस्या करके भी नहीं पा सके, तो आप किस गिनती में हैं?

तोपजी—आप ईश्वर की अनन्त शक्ति का बहाना बनाकर अपनी असम्भव बात को सम्भव सिद्ध करना चाहते हैं। इससे तो किसी भी सिद्धान्त का निश्चय नहीं किया जा सकेगा, इसलिए यह केवल बहाने-बाज़ी है, क्योंकि ईश्वर का विधान चार वेद हैं, जिसमें ईश्वर ने प्राकृतिक नियमों का वर्णन किया है। उसी वेद में ईश्वर का यह नियम है कि जैवी सृष्टि में नर-मादा के मिलाप से ही सन्तान उत्पन्न हो सकती है। इसी नियम का उक्त वेदमन्त्र **(रेतो मूत्रं वि जहति)** वर्णन करता है। आपके विचार में यदि ऋषि लोग सहस्रों वर्षों तक तप करके भी ईश्वर की माया का अन्त नहीं पा सके, तो क्या ऋषियों के बनाये हुए सारे शास्त्र अपूर्ण और सन्दिग्ध हैं और इनके ग़लत होने की सम्भावना है? इससे तो पुराण आपके कथन से ही सन्दिग्ध, अपूर्ण और ग़लत सिद्ध हो गये। कुछ होश करो! इस प्रकार तो किसी काम को भी धर्म या अधर्म नहीं ठहराया जा सकता, अतः आपका यह बहाना केवल मूर्खता और अज्ञान का परिणाम है।

पोपजी—महाशय! मनसारामजी ने वज्रसूची उपनिषद् का प्रमाण देकर जो मण्डूक ऋषि की मेंढकी से उत्पत्ति बतलाई है, वह सर्वथा असत्य है। वज्रसूची उपनिषद् में तो मण्डूक ऋषि की उत्पत्ति की चर्चा तक भी नहीं। यह भी झूठा प्रमाण देकर धोखा दिया है।

तोपजी—**'खूए बदरा बहाना बिस्यार'**—''बुरे स्वभाववाले को बहाने बहुत बनाने आते हैं।'' अजी श्रीमन्! यदि मण्डूक ऋषि का मेंढकों से उत्पन्न होना वज्रसूची उपनिषद् में नहीं लिखा तो गौतम मुनि का खरगोश से और जम्बूक ऋषि का गीदड़ से पैदा होना तो वज्रसूची उपनिषद् में विद्यमान है, उसका आपने क्यों कोई उत्तर नहीं दिया? और मण्डूक ऋषि का मेंढक से उत्पन्न होना यदि वज्रसूची उपनिषद् में नहीं तो किसी पुराण में तो है? देखिए, भविष्यपुराण में क्या लिखा है—

माण्डव्यो मुनिराजस्तु मण्डूकीगर्भसम्भवः॥ —भवि० ब्राह्मपर्व ४२.२४

अर्थ—मुनिराज माण्डव्य मेंढकी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।

चूँकि वज्रसूची उपनिषद् और भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय ४२ में वर्ण-व्यवस्था पर बिल्कुल मिलता-जुलता वर्णन है, अतः हमारी पुस्तक में वज्रसूची उपनिषद् लिखा गया, अन्यथा भविष्यपुराण में यह प्रमाण हूबहू विद्यमान है। यह उद्धरण के लिखने की भूल है। इससे धोखा देना अभीष्ट नहीं है, क्योंकि बात सर्वथा सत्य है।

पोपजी—नवम्बर १९३१ की अंग्रेजी पत्रिका 'इण्डियन रिव्यू' में एक लेख छपा था, जिसमें स्पष्टरूप से बतलाया हुआ है कि सन्तान उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि पुरुष और स्त्री का मिलाप हो, अपितु मनुष्य पशुओं और बनस्पति अर्थात् बेल-बूटों में भी मानव-सन्तान पैदा कर सकते हैं। मनुष्यों को पशुओं से सन्तान उत्पन्न करने के लिए भोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि विचारों की शक्ति महान् होती है, अतः मानसिक शक्ति से ही सन्तान उत्पन्न हो सकती है, आदि-आदि। कहिए, महाशय! आपकी पूर्ण सन्तुष्टि हो गयी या नहीं?

तोपजी—हम इस बात का विश्वास नहीं कर सकते कि आजकल के प्रकाश के युग में भी कोई इस प्रकार की पागलों की-सी बातें लिख सकता है। आपको इस पत्रिका से वह लेख अंग्रेजी में उद्धृत करना चाहिए था, जिससे उसके वास्तविक अर्थ का पता लगता। यदि हम आपके कहने के अनुसार मान भी लें कि इस पत्रिका में यह लेख प्रकाशित हुआ है तो उसका लेखक भी विद्वानों की पंक्ति में खड़ा करने के योग्य नहीं गिना जा सकता। निश्चितरूप से वह भी पौराणिक जगत् की भाँति पागल ही होगा, अन्यथा पशुओं और वनस्पति में से मानव-सन्तान न कभी उत्पन्न हुई है और न हो सकती है और न होगी। क्या सारे संसार में एक भी ऐसा उदाहरण मिल सकता है कि किसी वैज्ञानिक ने पशु और वनस्पतियों से सन्तान उत्पन्न करके दिखाई हो? क्या कहीं 'इण्डियन रिव्यू' वाला पौराणिकों की मूर्खता से तो लाभ नहीं उठाना चाहता कि इन पागलों को तनिक-सा सहारा दे छोड़ो, कहीं ऐसा न हो कि ये पौराणिक गप्पों को छोड़कर बुद्धिमान् बन जाएँ और यह सोने की चिड़िया भारतवर्ष हमारे हाथ से निकल जाए! हमें तो यह इसी प्रकार का उपहास दिखाई देता है, वरन् मानसिक शक्ति से सन्तान उत्पन्न करना ऐसा ही असम्भव है, जैसाकि पौराणिकों का किसी उचित बात को मानना।

पौराणिकों की भी कैसी दयनीय स्थिति है कि पुराणों की बेहूदा व अप्राकृतिक बातों को सिद्ध करने के लिए किस प्रकार हाथ-पैर मार रहे है! डूबते को तिनके का सहारा! तनिक-सा किसी ने परिहास में कोई लेख लिख दिया कि पौराणिकों ने तुरन्त उसका सहारा पकड़ लिया। यदि सनातनधर्म का जीवन इन पत्रिकाओं के लेखों पर ही निर्भर रह गया है तो आज नहीं तो कल इसका अन्त अवश्य होगा। कृपा करके पुराणों और इनके समर्थन में लिखे गये परिहासपूर्ण लेखों का सहारा छोड़कर वेद की शरण में आओ, जिसमें ईश्वर के अटल विधान का वर्णन किया गया है कि ''जैवी सृष्टि में पुरुष का लिङ्ग स्त्री की योनि

में प्रविष्ट होकर वीर्य छोड़ता है, जिससे गर्भ होकर सन्तान उत्पन्न होती है।'' इस ईश्वरीय अटल सिद्धान्त को माने बिना आपका निर्वाह कदापि नहीं हो सकेगा।

पोपजी—लाला साहब! पुराणों में पशुओं के साथ सम्भोग करने की आज्ञा तो नहीं है, परन्तु स्वामी दयानन्दजी ने यजुर्वेदभाष्य के अध्याय २१, मन्त्र ६० में बकरी, भेड़ और बैल आदि से भोग करने की आज्ञा सब आर्यों को दी हुई है। पशुओं से सम्भोग करना आर्यसमाजियों को ही शुभ रहे।

तोपजी—हम पीछे स्वामी दयानन्दजी का भाष्य शब्दशः उद्धृत करके सिद्ध कर चुके हैं कि स्वामीजी ने अपने भाष्य में स्पष्टरूप से लिखा है कि धन-सम्पत्ति के लिए बकरी, भेड़ और बैल से भोग करो, अर्थात् उपयोग लो अर्थात्, बकरी, भेड़ और बैल का उचित रूप में प्रयोग करो। यहाँ पर भोग शब्द का अर्थ सम्भोग नहीं अपितु उचित प्रयोग है। प्रकरण के अनुसार भी यहाँ पर भोग शब्द का अर्थ सम्भोग नहीं लिया जा सकता, क्योंकि इस प्रकरण में न किसी के वीर्य के गिरने की चर्चा है और न ही बकरी, भेड़ अथवा बैल के गर्भ से किसी की उत्पत्ति का वर्णन है और न ही लिङ्ग-योनि आदि शब्दों का प्रयोग है, अपितु चिकने पदार्थों और धन-सम्पत्ति की प्राप्ति का वर्णन है, जोकि भेड़-बकरी के दूध और बैल का खेती में उपयोग करने से ही सम्भव हो सकता है, अतः यहाँ पर भोग शब्द का अर्थ मैथुन करना पौराणिक बेहूदापन ही है।

हाँ, पुराणों में पशुओं से मैथुन करने का वर्णन अवश्य है और वहाँ पर विषय के अनुरूप और अर्थ भी नहीं बन सकते, उदाहरणार्थ—यजमान की स्त्री का घोड़े के लिङ्ग को हाथ से पकड़कर अपनी योनि में डालना और उससे प्रार्थना करना कि मुझमें गर्भ धारण कर। पुरोहितों का घोड़े से कौसल्या का समागम करवाना, कन्दम ऋषि का हिरनी से सम्भोग करना, सूर्य का घोड़ी से मैथुन करना और अश्विनी कुमारों का उत्पन्न होना। विभाण्डक और व्यासजी आदि का हिरनी, तोती, गीदड़ी, खरगोशनी, उल्लूनी आदि से भोग करना और इनसे ऋष्यशृंग, शुकदेव, जम्बूक, गौतम और कणाद आदि का उत्पन्न होना। सारांश यह कि पुराणों में पशुओं से मैथुन करने के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं, अतः मिश्रजी! इस पौराणिक व्यसन को आर्यसमाज पर थोपने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। इस कार्य में पौराणिक लोगों को ही निपुणता प्राप्त है, अतः यह कार्य उन्हीं को शुभ हो।

पोपजी—प्रतीत होता है कि लाला साहब ने वाल्मीकि रामायण देखी तक नहीं। वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड के ४८वें सर्ग में इन्द्र का अहल्या से असमय में भोग करने की चर्चा तक नहीं।

तोपजी—वाल्मीकि रामायण को हमने नहीं देखा या आपने? झूठ बोलते हुए कुछ परमात्मा से डरा करो! देखिए, वाल्मीकि रामायम बालकाण्ड, सर्ग ४८ में कैसे स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि इन्द्र गौतम को अनुपस्थित देखकर गौतममुनि का रूप धारण करके उसके आश्रम में गया और गौतम की स्त्री अहल्या से इस प्रकार बोला—

ऋतुकालं प्रतीक्षन्ते नार्थिनः सुसमाहिते। संगमं त्वहमिच्छामि त्वया सह सुमध्यमे॥१८॥
मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन। मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात्॥१९॥

—वा० रा० बाल० ४८.१८-१९

अर्थ—रति (भोग) चाहनेवाले ऋतुकाल की बाट नहीं देखते, अतः हे सुन्दरी! मेरी मनःकामना पूर्ण करो। मैं तुम्हारे साथ समागम करना चाहता हूँ॥१८॥

हे राम! दुर्बुद्धि अहल्या गौतमरूपधारी इन्द्र को जानकर भी इन्द्र के साथ समागम करने

में लग गयी। अहल्या ने इस कारण जान लिया कि इन्द्र ही है कि ऋषि लोग कभी भी ऋतु के बिना अपनी स्त्री से समागम नहीं करते। —टीका पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, मुरादाबादी

अब तो हमारा लिखना ठीक है कि यजुर्वेद का यह मन्त्र तीसरी शिक्षा यह देता है कि स्त्री के साथ समागम ऐसे समय में किया जाए कि जब गर्भ ठहरने का समय हो, अर्थात् स्त्री रजोधर्म से निवृत्त हो चुकी हो। पौराणिकों को यह शिक्षा इसलिए बुरी प्रतीत होती है, क्योंकि पुराणों में ऐसी कथाएँ विद्यमान हैं जिनमें स्त्री से बिना अवसर समागम का वर्णन है, उदाहरणार्थ इन्द्र का अहल्या से बिना समय के सम्भोग और बृहस्पति का गर्भवती ममता से मैथुन, आदि-आदि।

पोपजी—महाशय! यह कथा देवी भागवत में है, परन्तु यह कथा आलङ्कारिक है।

तोपजी—पोपजी ने देवीभागवत को अपना सिर छिपाने के लिए एक चक्रव्यूह क़िला (दुर्ग) बना रक्खा है। जहाँ प्रश्न का उत्तर देने में अपने-आपको अयोग्य देखा तुरन्त देवीभागवत में जा छिपे। भला! इन भले मानुषों से कोई पूछे कि हम तो बात पूछ रहे हैं वाल्मीकि रामायण की और आप राग गा रहे हैं देवीभागवत का। क्या प्रश्नों का उत्तर इसी का नाम है? यदि यही उत्तर देने थे तो पुस्तक लिखने की क्या आवश्यकता थी? देखिए, यह कथा वाल्मीकि रामायण में बालकाण्ड, सर्ग ४८ में इस प्रकार लिखी है—

''गौतम नाम का एक महात्मा मुनि था। उसका आश्रम अत्यन्त सुन्दर था। वह गौतम उस आश्रम में अपनी स्त्री अहल्यासहित दीर्घकाल से तप करता था। एक बार गौतम को आश्रम में अनुपस्थित देखकर इन्द्र गौतम का रूप धारण करके उस आश्रम में गया और उसकी स्त्री अहल्या से इस प्रकार बोला—'हे सुन्दरी! सम्भोग की इच्छा रखनेवाले ऋतुकाल की प्रतीक्षा नहीं किया करते। हे पतली कमरवाली! मैं तेरे साथ मैथुन करना चाहता हूँ।' इन्द्र को गौतम का रूप धारण किया हुआ जानकर भी अहल्या इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए सम्भोग करने में लग पड़ी और सम्भोग से अत्यन्त प्रसन्न होकर इन्द्र से कहने लगी कि हे देव! मैं आपसे सम्भोग करके अत्यन्त प्रसन्न हुई हूँ। आप यहाँ से तुरन्त चले जाएँ। आप गौतम से मेरी और अपनी दोनों की रक्षा करें। इन्द्र ने हँसते हुए अहल्या से कहा—हे सुन्दरी! मैं तुझसे बहुत प्रसन्न हूँ। मैं जिधर से आया हूँ, उधर ही जाता हूँ। यह कहकर वह आश्रम से निकल गया। आश्रम से निकलते हुए इन्द्र ने गौतम को आते हुए देखा। गौतम को देखते ही इन्द्र के मुखमण्डल का रङ्ग उड़ गया। जब गौतम ने इन्द्र को अपना रूप धारण किये हुए देखा तो क्रुद्ध होकर उसे शाप दिया कि हे पापी! तूने मेरा रूप धारण करके यह पाप किया है, इसलिए तू निष्फल हो जाएगा। गौतम के शाप देते ही इन्द्र के दोनों अण्डकोश गिर पड़े। गौतम ने अहल्या को शाप दिया कि तू भी दीर्घकाल तक जड़ होकर रहेगी। जब इन्द्र ने देवताओं से अनुनय-विनय की तो देवताओं ने एक मेंढे के अण्डकोश काटकर इन्द्र के लगा दिये और अहल्या राम के पाँव पड़कर उस शाप से मुक्त हुई।''

अब कृपा करके इस कथा का अलङ्कार बनाकर दिखाएँ।

पोपजी—और यह कथा जैसी पुराणों में है, वैसी ही वेद में भी विद्यमान है, जिसका वर्णन हूबहू स्वामी दयानन्दजी ने भी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में किया हुआ है। देखिए, शतपथ काण्ड ३, प्रपाठक ३, अध्याय ३ में लिखा है कि इन्द्र ने गौतम की स्त्री से समागम किया और ऐतरेय आरण्यक में भी इस कथा की चर्चा है। महाशय! आपकी बतलाई हुई कथा का तो शब्दशः वर्णन वेदों में और स्वामीजी की 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में भी निकल आया। महाशयजी! अब कहाँ भागोगे?

तोपजी—आपका यह कहना सर्वथा झूठ है कि यह कथा जैसी पुराणों में है, वैसी ही

वेद में भी विद्यमान है, क्योंकि वेदों में इतिहास और कथाएँ नहीं हैं। वेद ईश्वरीय नियमों का वर्णन करते हैं। वेद सृष्टि के आदि में प्रकट हुए, अतः किसी की कथा का वर्णन वेदों में असम्भव है। हाँ, पोपों ने ऐसी लीला तो की है कि वेदों के कुछ शब्दों को दृष्टि में रखकर पुराणों में कपोलकल्पित, मनघड़न्त, बेहूदा कथाएँ घड़ मारी हैं और लोगों में यह प्रसिद्ध कर रखा है कि पुराणों की सब कथाएँ वेदों में भी विद्यमान हैं। वास्तव में वेदों में इस प्रकार की कथाओं का लवलेश भी नहीं है और वेदों के जिन शब्दों को लेकर पोपों ने ये कथाएँ घड़ी हैं, वेदों में उन शब्दों का अर्थ—ज्ञान और ईश्वरीय नियमों को प्रकट करनेवाला है। उदाहरण के रूप में उपर्युक्त कथा को ही ले-लीजिए। इसका वेदों या शतपथ आदि में नाम भी नहीं है। हाँ, शतपथ में इन्द्र, गोतम और अहल्या शब्द अवश्य विद्यमान हैं। शतपथ में इनके अर्थ—**इन्द्र का सूर्य, गोतम का चन्द्रमा** और **अहल्या का रात्रि** बताया गया है, जिनसे सूर्य और चन्द्रमा से दिन और रात्रि की विद्या का वर्णन करना अभीष्ट है, परन्तु पोपों ने इन शब्दों को ही लेकर पुराणों में गोतम की स्त्री अहल्या से इन्द्र के मैथुन करने की बेहूदा, अश्लील, शिष्टता के विरुद्ध, कल्पित कहानी घड़ डाली, जिसका खण्डन स्वामी दयानन्दजी ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में इस प्रकार किया है। तनिक ध्यान से पढ़कर अपने सन्देह को दूर करने की कृपा करें—

तथा च—कश्चिद्देहधारीन्द्रो देवराज आसीत्। स गोतमस्त्रियां जारकर्म कृतवान्। तस्मै गोतमेन शापो दत्तस्त्वं सहस्रभगो भवेति। तस्यै अहल्यायै शापो दत्तस्त्वं पाषाणशिला भवेति। तस्या रामपादरजः स्पर्शेन शापस्य मोक्षणं जातमिति। तत्रेदृश्यो मिथ्यैव कथाः सन्ति।

अर्थ—और भी कोई शरीरधारी देवताओं का राजा इन्द्र था। उसने गोतम की स्त्री अहल्या के साथ जारकर्म किया। गोतम ने उन दोनों को देखकर इस प्रकार शाप दिया—हे इन्द्र! तू सहस्र भगवाला हो जा, तथा अहल्या को शाप दिया कि तू पाषाणरूप हो जा। उस अहल्या का शाप राम के पाद-रज के छूने से छूट गया। पुराणों में इस प्रकार की कथाएँ सर्वथा मिथ्या हैं।

अब बतलाएँ, स्वामीजी ने इस कथा का समर्थन किया है या खण्डन? भविष्य में किसी पुस्तक का प्रमाण सोच-समझकर दिया करें।

पोपजी—यदि इस कथा को सांसारिक रूप में ही समझ लिया जाए तो भी इन्द्र का यह कर्म और धोखा हमारे लिए आचरण करने योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्र ने अहल्या के पति गोतम ऋषि का रूप धारण करके उसे धोखा दिया और वह पाप है, जिसका फल इन्द्र को शाप के रूप में और अहल्या को पत्थर बनना पड़ा, जिसका उद्धार त्रिलोकीनाथ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराज ने अपने चरणस्पर्श से बहुत समय पश्चात् किया। यदि ऐसे कर्म करने की आज्ञा धर्मशास्त्र में होती तो महाशयजी का इस कथा को प्रस्तुत करना कुछ अर्थ रखता था, परन्तु शास्त्र में तो ऐसे कर्म को पाप बतलाकर उसका दण्ड दिया गया है, जिससे भय के कारण लोग ऐसा बुरा कर्म न करें।

तोपजी—यह आपको मानना ही पड़ेगा कि पुराणों की कथाएँ सांसारिक इतिहास-रूप में ही हैं; पुराणों में ये कथाएँ अलङ्काररूप से नहीं हैं। यदि पुराणों की इन कथाओं को अलङ्काररूप मान लिया जाए तो पुराणों के अस्तित्व की आवश्यकता ही पौराणिक जगत् में नहीं रहती। आप चाहे कितनी भी रट लगाएँ कि इन्द्र आदि देवताओं के चरित्र अनुकरणीय नहीं हैं, परन्तु आपके ग्रन्थ तो डङ्के की चोट कहते हैं कि—'**महाजनो येन गतः स पन्थाः**' अर्थात् बड़े लोग (श्रेष्ठ पुरुष) जिस मार्ग से चलें वही मार्ग ठीक है।

भला! यह तो बतलाएँ कि इतिहास के लिखने का प्रयोजन क्या है? यही न कि पूर्वजों के चाल-चलन से परिचित होकर हम लोग उनसे शिक्षा ग्रहण करें। भला! जब कोई पौराणिक युवक पुराणों में यह पढ़ता है कि "देवताओं के राजा इन्द्र ने धोखे से गोतम की स्त्री से व्यभिचार किया" तो क्या उसके हृदय में पौराणिक देवताओं के प्रति कभी श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है? कदापि नहीं। इसलिए पुराणों में इस प्रकार के इतिहास कल्पित, झूठे और पूर्वजों को कलङ्कित करने के लिए ही लिखे गये हैं। पुराणों में ऐसे सैकड़ों इतिहास विद्यमान हैं, जिनमें पापकर्म करनेवालों को कोई दण्ड नहीं दिया गया और निरपराधों को दण्ड दिया गया। उदाहरण के रूप में बृहस्पति ने अपने बड़े भाई की स्त्री गर्भवती ममता से बलात् सम्भोग किया। बतलाइए, पुराणों में उनके लिए क्या दण्ड लिखा है? बृहस्पति को कि जिसने पाप किया कोई दण्ड नहीं दिया गया, परन्तु रोकनेवाले दीर्घतमा को अन्धा पैदा कर दिया गया। नारदजी झूठ बोलकर साम्ब को कृष्ण और कृष्ण की पत्नियों के पास ले-गये, जिससे कृष्ण की स्त्रियाँ स्खलित हो गयीं और उनका रज कपड़ों में से छनकर घास पर गिर पड़ा। अपराधी नारद को कोई दण्ड नहीं दिया गया और निरपराध साम्ब को कोढ़ी बना दिया गया, अतः पुराणों की ये कथाएँ किसी अवस्था में भी जनता के लिए शिक्षाप्रद और लाभकारी नहीं हो सकतीं।

हाँ, एक बात और बताते जाएँ, आपको अपना लेख स्मरण भी रहा करता है या नहीं? आप कहीं कुछ लिखते हैं और कहीं कुछ। आपने अपनी भूमिका में और प्रश्न १३ के उत्तर में तो यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'देवताओं की भोगयोनि होती है, उन्हें किसी भी पाप-पुण्य कर्म का फल नहीं मिलता।' अब यहाँ इन्द्र को पाप-कर्म का फल मिलना स्वीकार कर रहे हैं। आप अपनी पुस्तक 'सनातनधर्म विजय' के पृष्ठ ४५, पंक्ति ३ में लिखते हैं कि "वेद और धर्मशास्त्रों में धार्मिक आज्ञाओं की विधि और अधार्मिक कर्मों के निषेध का जब वर्णन आता है तब वहाँ मनुष्यजाति का ही ग्रहण होता है। देवयोनि के लिए वेद में न किसी कर्म से पाप बतलाया है और न ही किसी कर्म के करने से पुण्य का ही वर्णन किया है। देवयोनि में किये हुए किसी भी प्रकार के कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता। सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, बृहस्पति, अग्नि, वायु आदि देवताओं ने जो भी कर्म किये उन्हें किसी भी कर्म का फल नहीं मिल सकता। इन्द्र ने इन्द्रासन की रक्षा के लिए कई ऋषियों के तप नष्ट किये, परन्तु उसे कभी पाप नहीं लगा।" जब पुराणों में मद्यपान, मांस-भक्षण, व्यभिचार, झूठ बोलना, धोखा देना आदि-आदि अपराधों के अपराधी देवता ही हैं और आपके विचार के अनुसार उन्हें दण्ड मिलता नहीं, तो फिर पुराणों को पढ़ने से क्या धूल शिक्षा मिल सकती है? इस गोरखधन्धे को मस्तिष्क लगाकर सुलझाने का प्रयत्न करें। मिश्रजी! निःसन्देह पुराणों को छोड़ देना ही इस प्रश्न का उत्तर हो सकता है और किसी प्रकार से आपका कल्याण होना सम्भव नहीं।

पोपजी—और यही पुराणों के लेख महर्षि वेदव्यासजी महाराज की ईमानदारी, शुद्ध हृदय का जीता-जागता उदाहरण है कि पुराणों में सत्य-ही-सत्य का प्रकटीकरण है, वहाँ झूठ और छल-कपट की चर्चा तक नहीं। वे समाजी लेखक नहीं थे कि स्वामी दयानन्दजी एक वेश्या के विष देने से मर जाएँ, परन्तु इस सत्य पर पर्दा डाला जाए या 'दयानन्द छल-कपट दर्पण' के अनुसार स्वामी दयानन्दजी बाल्यावस्था में एक जाट के लड़के के साथ घर से निकल जाएँ और सौ समाजी लेखक इस सत्य को छिपाने का प्रयत्न करें, परन्तु पुराणों में ऐसा बिल्कुल नहीं है। वहाँ तो यदि किसी ने बुरा कर्म किया तो बुरा ही लिखा गया और यदि किसी ने अच्छा कर्म किया तो अच्छा ही लिखा गया। सचाई की विशेषता यदि

है तो पुराणों में है। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि बुरे कर्म को त्यागने और उत्तम कर्म के करने का उपदेश भी इसके साथ-साथ अवश्य हुआ है। हमारे धर्मशास्त्र में तो बुरे कर्मों को करने की एक भी आज्ञा नहीं। यह आर्यसमाज के धर्मशास्त्र को ही शुभ है कि एक गर्भवती को स्पष्ट शब्दों में आज्ञा दे चुका है कि 'हे गर्भवती! यदि तुमसे नहीं रहा जाता तो जाओ, किसी और पर-पुरुष से आनन्द लूटो।' महाशय! कुसमय इसी का नाम है।

तोपजी—कृपया पुराणों का लेखक बनाकर योगिराज महर्षि व्यासजी महाराज को कलङ्कित करने का दुष्प्रयत्न न करें, क्योंकि जिस ऋषि व्यास ने वेदान्तदर्शन-जैसा उत्तम कोटि का ग्रन्थ लिखा हो, जिसने योगदर्शन पर टीका की हो और जो गीता जैसे ग्रन्थ का रचयिता हो, वह (ऋषि व्यासजी) मद्यपान, मांसभक्षण, व्यभिचार की शिक्षा देनेवाले, ऋषि-मुनियों और देवताओं को लाञ्छित करनेवाले पुराणों के कर्त्ता कैसे माने जा सकते हैं? पुराणों का रचयिता निश्चय ही कोई बेईमान, दुरात्मा, मिथ्याभाषी, कुटिल हृदयवाला, ईर्ष्यालु व्यक्ति ही हो सकता है, न कि योगिराज, पवित्र हृदय, ईमानदार, सत्यवादी महर्षि व्यास-जैसा ऋषि-मुनि।

पुराणों में भी ऐसी ही सत्यता प्रकट की गयी है, जैसाकि आपने ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के सम्बन्ध में इस लेख में सत्य को प्रकट किया है। भला! बताएँ तो सही कि आर्यसमाज की कौन-सी प्रामाणिक पुस्तक में लिखा हुआ है कि 'ऋषि दयानन्दजी को एक वेश्या ने विष दिया और कि वे अल्पायु में एक जाट के लड़के के साथ भाग गये'? यदि आर्यसमाज की किसी प्रामाणिक पुस्तक में ऐसा नहीं लिखा है तो आप और जियालाल जैनी-जैसे आर्यसमाज के विरोधियों के लेख ऋषि दयानन्द को कलङ्कित करने में सफल नहीं हो सकते। हाँ, यह ठीक है कि वेश्याओं को उत्पन्न करनेवाले, वेश्याओं के संरक्षक, वेश्याओं से सहानुभूति रखनेवाले और वेश्याओं के दलालों में से एक जगन्नाथ नामक ब्राह्मण रसोइया ने स्वामीजी को विष दिया; और पौराणिकों के शिष्टता, सभ्यता एवं सदाचार को नष्ट करनेवाले, अश्लील, बेहूदा, दुराचार के स्रोत शिवलिङ्ग की पूजा से घृणा हो जाने के कारण स्वामीजी घर से भागे।

तनिक यह भी बतलाने की कृपा करें कि यह अवतरण आर्यसमाज की कौन-सी पुस्तक से उद्धृत किया है कि 'हे गर्भवती स्त्री! यदि तुमसे न रहा जाता हो तो जाओ किसी पर-पुरुष से आनन्द लूटो'? प्रतीत होता है कि लिखते समय आपके मस्तिष्क में अपने दादागुरु भरद्वाज की उत्पत्ति स्मरण हो आई होगी, क्योंकि जब देवताओं के गुरु पौराणिक वयोवृद्ध बृहस्पति ने अपने भाई उतथ्य की गर्भवती स्त्री ममता से दुराचार किया था तो उससे ही आपके दादागुरु भरद्वाज उत्पन्न हुए थे। गर्भवती स्त्री से आनन्द लूटकर सन्तान उत्पन्न करना पौराणिक पद्धति में ही वैध है, अन्यथा सत्यार्थप्रकाश में तो यह लिखा है कि 'गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के समय में पुरुष से वा दीर्घरोगी पुरुष की स्त्री से न रहा जाए तो किसी से नियोग करके उसके लिए पुत्रोत्पत्ति कर दे।' हमें तो सोलह आने (पूर्ण) विश्वास है कि जैसे आपने और जियालाल जैनी ने ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के सम्बन्ध में धोखेबाज़ी और छलकपट तथा मिथ्याभाषण करके ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज को कलङ्कित करने के प्रयत्न में 'दयानन्द छल-कपट दर्पण' और 'सनातनधर्म विजय' जैसी बेहूदा पुस्तकें लिख डाली हैं, उसी प्रकार सनातनधर्म के विभिन्न विरोधी और शत्रुओं ने भी सनातनधर्म के ऋषि-महर्षियों, देवताओं, पूर्वजों, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, इन्द्र, बृहस्पति, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, कृष्ण, राम आदि-आदि सदाचारी, विद्वान्, धर्मात्माओं पर मद्यपान, मांसभक्षण, वेश्यागमन, व्यभिचार, चोरी, झूठ, छल-कपट, द्यूत-क्रीड़ा (जुआबाज़ी)

आदि-आदि दुराचारों के दोष लगाकर उन्हें कलङ्कित करने के लिए भागवत आदि अष्टादश पुराण बना डाले हैं और उनमें आदि से अन्त तक छल-कपट और मिथ्याभाषण से काम लेकर सनातनधर्म और उसके पूर्वजों को अपमानित और लाञ्छित किया गया है। हाँ, इसमें इतना अन्तर अवश्य है कि आर्यसमाज अपने विरोधियों के लेखों को बूट की ठोकर लगाकर गन्दी नाली में बहा देता है और सनातनधर्म ने अष्टादश पुराणों को अपना धर्मग्रन्थ स्वीकार करके मरा हुआ साँप अपने गले में डाल लिया है।

यदि सनातनधर्म भी इस मरे हुए साँप को गले से उतारकर अग्नि में झोंक दे तो आज आर्यसमाज और सनातनधर्म दोनों भाई मिलकर ऋषियों, महर्षियों और पूर्वजों के यश और गौरव को संसार में सूर्य की भाँति चमका दें और संसार का कोई मत-पन्थ इनके मुक़ाबले का साहस न कर सके, परन्तु यह बात इन विवेकहीनों को समझाए कौन? इन्हें तो पुराणों में लिखे ऋषि-महर्षियों और देवताओं पर मद्यपान, मांसभक्षण, चोरी, जारी, ठगी, दुराचार आदि के आरोप भी पुराणों की विशेषताएँ ही दिखायी देती हैं और ऐसी अवस्था में भी उन्हें पुराणों में से सचाई का गुण ही टपकता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

अच्छा भाई साहब! यदि आपके विचार में पुराणों में जो कुछ करतूतें ऋषि-मुनि और देवताओं के साथ जोड़ी गयी हैं, वे बिल्कुल सत्य हैं और पुराणों में जो कुछ है पूर्णरूप से सत्य का ही प्रकटीकरण है, तो हमारे तो जले हुए दिल से यही शब्द निकलेंगे कि धिक्कार है ऐसी करतूतें करनेवालों पर और धिक्कार है उन्हें ऋषि-मुनि और देवता स्वीकार करनेवालों पर और धिक्कार है उन्हें लिपिबद्ध करनेवाले अट्ठारह पुराणों पर और धिक्कार है उन पुस्तकों को धर्मपुस्तक माननेवाले सनातनधर्म पर और धिक्कार है उन पुस्तकों से उपदेश ग्रहण करने की आशा रखनेवालों पर!

पोपजी—हम पाठकों के ज्ञान के लिए इस कथा का आलङ्कारिक रूप भी बतलाकर समझाते हैं, क्योंकि समस्त संसार का आधार सूर्य है, अतः सूर्य का नाम इन्द्र है और रात्रि अहल्या है और चन्द्रमा अहल्या (रात्रि) का पति गोतम है। यहाँ रात्रि और चन्द्रमा का स्त्री और पुरुष के समान रूपकालङ्कार बतलाया है। चन्द्रमा अपनी स्त्री रात्रि से सब जीवों को प्रसन्न करता है और इस रात्रि का मित्र सूर्य (इन्द्र) है, अर्थात् जिसके उदित होते ही रात्रि समाप्त हो जाती है, मानो इन्द्ररूपी सूर्य अर्थात् दिन और अहल्यारूपी रात का आपस में मिलाप होता है। सूर्यरूपी इन्द्र अहल्यारूपी रात के पीछे भागता है, परन्तु इस अलङ्कार को न समझने से पुराणों पर टीका-टिप्पणी करना बहुत बड़ी भूल है। महाशय! पुराणों के तत्त्वों को किन्हीं विद्वानों से पढ़ने का प्रयत्न करें तभी पुराणों के अलङ्कार समझ में आ सकेंगे।

तोपजी—कहिए महाराज! जब पुराणों के अन्दर जिसने जो कर्म किया है वैसा ही सत्यता के साथ लिख दिया गया है तो अब आप खेंचातानी से इस कथा को अलङ्कार बनाने का कष्ट क्यों उठा रहे हो? यदि इन्द्र ने गोतम की पत्नी अहल्या से असमय में सम्भोग किया और वह भी उसकी स्वीकृति से किया तो आपकी बला से! जिसने जैसा कर्म किया वैसा फल पाया। अब आपको अलङ्कार बनाकर इस प्रत्यक्ष घटी हुई घटना को असम्भव बनाने की क्या आवश्यकता पड़ गयी? प्रतीत होता है कि आपका हृदय भी साक्षी दे रहा है कि यह कथा इन्द्र, गोतम और अहल्या को लाञ्छित करके सनातनधर्म को अपमानित करनेवाली है, अतः आप इसे अलङ्कार बनाकर सनातनधर्म को लाञ्छन से बचाने का प्रयत्न कर रहे हैं। आपका प्रयत्न शुभ है और हम भी यही चाहते हैं कि किसी-न-किसी प्रकार से अलङ्कारों की खाइयों में ही छिपकर सनातनधर्म का जीवन सुरक्षित रह सके।

परन्तु हमें यह बेल मुण्डे चढ़ती दिखाई नहीं देती, क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में जहाँ पर कोई क्रमवार कथा नहीं लिखी गयी है, केवल इन्द्र, गोतम और अहल्या शब्द विद्यमान हैं, वहाँ पर तो अलङ्कार बनना सम्भव हो सकता है, परन्तु जहाँ पर पुराणों में ऐतिहासिक ढङ्ग से क्रमवार कथा विद्यमान है, वहाँ पर अलङ्कार किसी भी अवस्था में नहीं बन सकता। आप सूर्य को रात्रि के पीछे भगा रहे हैं। कथा में भागने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। आप सूर्य को रात्रि का मित्र बता रहे हैं, परन्तु दिन और रात्रि का परस्पर बड़ा भारी विरोध है, ये दोनों एक स्थान पर ठहर ही नहीं सकते। उधर इन्द्र और अहल्या ने आपस में समागम करके खूब आनन्द लूटा। अस्तु, कुछ भी सही, आपने इन्द्र, अहल्या और गोतम का तो कुछ-न-कुछ टूटा-फूटा अलङ्कार घड़ लिया, परन्तु रामायण में तो लिखा है कि शतानन्द गोतम का पुत्र था जोकि राजा जनक का पुरोहित था। अञ्जनी गोतम की पुत्री थी जिससे हनुमान् पैदा हुए। अहल्या गोतम के शाप से पत्थर बनी, जिसका राम के चरणों के छूने से उद्धार हुआ। गोतम के शाप से इन्द्र के अण्डकोश झड़ गये, तब देवताओं ने मेंढे के अण्डकोश काटकर इन्द्र के लगाये। इन्द्र ने गोतम का रूप धारण किया आदि-आदि। इस पौराणिक कथा में ऐतिहासिक ढङ्ग से लिखी ऐसी अनेक बातें विद्यमान हैं, जिनका आपका दादागुरु भी अलङ्कार नहीं बना सकता। इसलिए हमारा लेख सर्वथा सत्य है कि विवादास्पद मन्त्र तो यह शिक्षा देता है कि स्त्री से उस समय मैथुन किया जाए, जब स्त्री के गर्भधारण करने का समय हो, अर्थात् जब स्त्री रजोधर्म से निवृत्त हो चुके, परन्तु पौराणिक जगत् में इस नियम का पालन आवश्यक नहीं है, अतः इन्द्र ने अहल्या से स्पष्ट शब्दों में कहा कि मैथुन की इच्छा रखनेवाले ऋतुकाल की प्रतीक्षा नहीं किया करते और अहल्या ने बिना ऋतुकाल के ही इन्द्र के साथ समागम किया तथा दोनों एक-दूसरे पर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

पोपजी—वाह! अर्थ करने में तो लाला साहब ने कमाल किया हुआ है, परन्तु ये भाव निकालने में भी खूब चतुर हैं। महाशयजी! ब्रह्मा और सती का वर्णन अलङ्काररूप से लिखा हुआ है, तनिक विवेक से भी काम लिया करें।

तोपजी—हम जो कुछ लिखते हैं, वह खूब सोच-विचारकर लिखते हैं। यदि हम विवेक से काम न लेते तो हम भी पौराणिक गोरखधन्धे में फँसे रहते। हमारा जो दावा है वह सत्य है कि विवादास्पद मन्त्र चौथी शिक्षा यह देता है कि वीर्य योनि में ही छोड़ने की वस्तु है; योनि से बाहर छोड़ने की वस्तु मूत्र है, वीर्य नहीं है, परन्तु पौराणिक जगत् में इसका पालन नहीं किया जाता, क्योंकि पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ मिलती हैं जिनमें वीर्य को योनि से बाहर छोड़ने का वर्णन है, जैसे उर्वशी को देखकर मित्र और वरुण का वीर्यपात हो गया। मित्र ने वीर्य को घड़े में डाल दिया और वरुण ने जल में डाल दिया। गोतम ने अपना बीज दौने में छोड़ दिया और ब्रह्मा ने अपना वीर्य यज्ञवेदि पर ही छोड़ दिया, जिसकी कथा शिवपुराण में रुद्रसंहिता खण्ड २, अध्याय १९-२० में इस प्रकार लिखी है कि "ब्रह्मा के एक पुत्र का नाम दक्ष प्रजापति था। उसकी स्त्री का नाम वीरिणी था। उसके गर्भ से दक्ष के एक पुत्री उत्पन्न हुई, जिसका नाम सती रक्खा गया। उस सती का विवाह महादेवजी के साथ निश्चित हुआ। जब विवाह का समय आया तो दक्ष ने ब्रह्मा से प्रार्थना की कि महाराज! यह विवाह आप ही करवाएँ। यह सुनकर ब्रह्माजी अपनी पोती सती का विवाह महादेवजी से करवाने लगे। परिक्रमा के समय सती के दोनों पाँव वस्त्र से बाहर हो गये। उन पाँवों को देखकर ब्रह्माजी काम के वशीभूत होकर उद्विग्न हो उठे। अन्ततः ब्रह्माजी ने सती का मुख देखने का उपाय सोचा। उन्होंने हवनकुण्ड में गीली लकड़ियाँ डाल दीं और घी थोड़ा डाला। इससे सारी वेदि धुआँधार हो गयी। तब महादेवजी

तो धूएँ से व्याकुल होकर आँखें मलने लगे और ब्रह्माजी ने अवसर पाकर झट वस्त्र उठाकर सती का मुख देख लिया। बार-बार मुख देखने से ब्रह्माजी काम के वशीभूत होकर संयम खो बैठे और उनका वीर्य वहीं धोती में निकल गया। ब्रह्माजी ने महादेव से डरते हुए उस वीर्य को छिपा लिया, परन्तु महादेवजी को पता लग गया और महादेवजी ने क्रुद्ध होकर त्रिशूल उठाया कि हे पापी! तूने मेरे विवाह में यह क्या पापकर्म किया? महादेवजी ब्रह्माजी को जान से मारने लगे थे, परन्तु देवताओं ने अनुनय-विनय करके ब्रह्माजी को क्षमा करा दिया। उस वीर्य से चार प्रकार के बादलों की उत्पत्ति हुई।''

भला, इस कथा में अलङ्कार कैसे बन सकता है? बनाकर तो दिखाएँ!

पोपजी—इस कथा में ब्रह्मा से तात्पर्य ब्रह्म है और सती का तात्पर्य प्रकृति है और वीर्य शक्ति का प्रतीक है, परन्तु इस अलङ्कार से आपकी मंशा पूर्ण नहीं हो सकती। ब्रह्मा कोई आर्यसमाजी नहीं था, जिसकी स्त्री को देखते ही ऐसी अवस्था हो जाती।

तोपजी—बस, बना लिया अलङ्कार? क्या इसी का नाम अलङ्कार है? श्रीमन्! क्या यहाँ केवल तीन ही शब्द थे, जिनका अर्थ करने से अलङ्कार बन गया? यहाँ पर तो क्रमवार ऐतिहासिक ढङ्ग से कथा विद्यमान है। इस सारी कथा का अलङ्कार बनाकर संगति लगाएँ। दक्ष, महादेव, गीली लकड़ियाँ, घी, पैर नङ्गे होना, मुख देखना, धुआँ होना, वीर्य निकलना, महादेव का मारने को दौड़ना, क्षमा करवाना, वीर्य से बादलों का उत्पन्न होना—तनिक इनका भी तो अलङ्कार बना दिया होता! बस, एक नाम सीख लिया अलङ्कार। जहाँ उत्तर नहीं सूझा, तुरन्त अलङ्कार के बिल में जा घुसे। अजी! ये अलङ्कार यूँ ही अटकलपच्चू बन जाया करते हैं अथवा इनका कोई विधि-विधान और नाम भी होता है? क्यों नहीं सीधे मुख से मान लेते कि ये पुराण सनातनधर्म के विरोधी वाममार्गियों द्वारा रचित हैं? इस प्रकार अलङ्कारों का बहाना बनाकर कब तक काम चलेगा? हमारा दावा इस कथा से स्पष्ट सिद्ध है कि पौराणिक जगत् में इस बात पर प्रतिबन्ध नहीं है कि वीर्य को योनि में ही छोड़ा जाए, अपितु पुराणों में वीर्य को योनि से बाहर छोड़ने के उदाहरण सर्वसुलभ हैं, जैसेकि इसी कथा में ब्रह्मा ने अपनी पोती सती का मुख देखकर अपने वीर्य को वेदि पर ही छोड़ दिया।

रहा आपका आर्यसमाजियों पर कटाक्ष करना, तो वह दावा सर्वथा निराधार है, क्योंकि आपने आर्यसमाज की किसी पुस्तक का प्रमाण देकर लिखने का साहस नहीं दिखाया और आप लिख भी नहीं सकते थे, क्योंकि आर्यसमाज में इस प्रकार का मसाला मिलना सम्भव नहीं है। हाँ, पुराणों में इस प्रकार की कथाएँ अनगिनत हैं जिनमें स्त्रियों को देखकर पौराणिक ऋषियों के वीर्यपात होने के उल्लेख स्पष्टरूप में विद्यमान हैं और ब्रह्मा का तो कहना ही क्या है! पौराणिक ब्रह्मा को तो यह असाध्य रोग है। सती के विवाह पर तो हुआ सो हुआ, परन्तु शिवपुराण, रुद्रसंहिता, पार्वतीखण्ड में पार्वती का शिव से विवाह कराते हुए फिर यही लीला प्रकट हुई कि पार्वती का मुख देखकर ब्रह्मा का वीर्यपात हो गया और ब्रह्मा ने इस वीर्य को पाँवों से मसल दिया, जिससे सहस्रों बालखिल्य ऋषि उत्पन्न हुए, जो तात-तात कहते हुए ब्रह्मा के पास दौड़े चले आये। कहिए, आवश्यकता हो तो पौराणिक ऋषियों के वीर्यपात होने की और दस-बीस कथाएँ पुराणों से निकालकर दिखाऊँ? आर्यसमाज पर किसी प्रकार का झूठा व्यङ्ग करने से पूर्व अपनी चारपाई के नीचे लाठी फेरकर देख लिया करें।

पोपजी—शिव और मोहिनी का चरित्र न जानने से ही लाला साहब अज्ञान में फँसे हुए हैं, क्योंकि यह कथा भी आलङ्कारिक है।

तोपजी—ठीक है महाराजजी! पुराणों के गूढ़ रहस्य जो हुए! वे सिवाय पौराणिकों के किसी और की समझ में थोड़े ही आ सकते है! तनिक सुनिए, भागवत आदि पुराणों में तो मोहिनी की कथा यूँ वर्णित की गयी है कि—''भस्मासुर नाम का एक राक्षस था। उसने महादेवजी की आराधना की। महादेवजी ने प्रसन्न होकर उसे एक कड़ा दिया कि जिसके सिर पर रखकर कहोगे कि 'भस्म', वही भस्म हो जाएगा। इस कड़े को प्राप्त करके भस्मासुर ने सोचा कि पहले महादेवजी को ही भस्म करके पार्वती को ही क्यों न प्राप्त करे! यह विचारकर वह महादेवजी की ओर बढ़ा। महादेवजी समझ गये और भागे। अब आगे-आगे महादेवजी और पीछे-पीछे भस्मासुर। महादेवजी दौड़कर विष्णुजी की शरण में आये कि मेरी रक्षा करो। विष्णु ने मोहिनी का रूप धारण करके भस्मासुर से कहा कि आपको महादेव के पीछे भागने की क्या आवश्यकता है, जब मैं ही आपके साथ जाने के लिए तैयार हूँ। बस, आप मुझे तनिक अपना नृत्य दिखाएँ। भस्मासुर ने नाचना आरम्भ किया। जब नाचते-नाचते भस्मासुर का कड़ेवाला हाथ सिर के ऊपर गया तो विष्णु ने कहा—'भस्म!' यह कहते ही भस्मासुर भस्म हो गया। विष्णु वह कड़ा लेकर महादेव के पास आये और कड़ा प्राप्त करने की सारी कथा सुनाई। तब महादेवजी ने कहा कि वह मोहिनीरूप मुझे भी दिखाओ! विष्णु ने कहा कि तुम्हारा विश्वास नहीं। अन्ततः महादेवजी वृक्ष पर चढ़ गये और विष्णु ने अपना मोहिनीरूप धारण किया। उसे देखकर महादेवजी वृक्ष से कूदे और मोहिनीरूप विष्णु के पीछे भागे। अब आगे-आगे मोहिनीरूप विष्णु और पीछे-पीछे महादेवजी। यूँ मोहिनी के पीछे-पीछे भागते-भागते महादेवजी का पारा निकल गया।''

इस कथा को पुराणों में विभिन्न प्रकार से वर्णित किया गया है। कहीं इस पारे (वीर्य) से समस्त धातुओं की उत्पत्ति बतलाई गयी है और कहीं इससे हनुमान्‌जी की उत्पत्ति वर्णित की गयी है। शिवपुराण शतरुद्रसंहिता, अध्याय २० में यूँ लिखा है कि—''एक बार महादेवजी ने विष्णु के मोहिनीरूप को देखा। मोहिनी के रूप को देखकर महादेवजी ने कामातुर होकर राम का कार्य सिद्ध करने के लिए अपना वीर्य गिरा दिया। उस वीर्य को सात ऋषियों ने आदरपूर्वक राम के कार्य के लिए पत्ते में सुरक्षित रख लिया। उन सात ऋषियों ने उस महादेव के बीज को राम का कार्य सिद्ध करने के लिए कान के द्वारा गोतम की पुत्री अञ्जनी के अन्दर डाल दिया। इस अञ्जनी से कुछ दिनों के पश्चात् हनुमान् उत्पन्न हुआ।''

यह है वह कथा जिसे हमने अपनी पुस्तक में लिखा है। भला! इस कथा का अलङ्कार कैसे बन सकता है?

पोपजी—विष्णु नाम परमात्मा का है मोहिनी भगवान् की माया है। समस्त संसार माया के जाल में जकड़ा हुआ है और मोहिनी को देखकर भी मनुष्य विवश हो जाता है। शिवजी से तात्पर्य जीवात्मा है, अर्थात् विष्णु परमात्मा ने मोहिनीरूप, अर्थात् माया का रूप धारण किया और शिवरूपी जीवात्मा माया के पीछे-पीछे भागने लगा। तात्पर्य यह कि जीवात्मा माया से लिप्तायमान होना चाहता है। इस भाव को पुराणों में सुन्दर कथा के द्वारा वर्णित किया गया है।

तोपजी—पक्षपात मनुष्य को सर्वथा अन्धा कर देता है और पक्षपाती मनुष्य सचाई को इतनी तिलाञ्जली दे देता है कि वह अपनी लिखी हुई बातों का भी विरोध कर बैठता है। श्रीमन्! आप भी पक्षपात से अन्धे होकर सचाई को अलङ्कारों में छिपाने के इतने पीछे पड़े हैं कि अपने लेखों को भी धता बता रहे हैं। देखिए, आपने अपनी पुस्तक के पृष्ठ ४१, पंक्ति १२ पर लिखा है कि—महाशय! ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी आदिसृष्टि के ऋषि नहीं

थे। वे तो साक्षात् ब्रह्म के ही तीन गुणों की तीन शक्तियों के तीन रूप हैं।'

इस लेख में तो आप शिव नाम परमात्मा का मानते हैं और अलङ्कार बनाते हुए शिव नाम जीवात्मा का बताने लगे! भला! बताएँ तो सही कि जीवात्मा का 'शिव' नाम कौन-से व्याकरण अथवा कोश के अनुसार है? और फिर यदि इस कथा को अलङ्कार मान लिया जाए तो इसमें जो रामचन्द्रजी के काम को सिद्ध करने के लिए महादेवजी ने वीर्य को पृथिवी पर छोड़ा और सप्त ऋषियों ने उसे पत्ते में रक्खा तथा अञ्जनी के कान में डाला और इससे हनुमान्जी की उत्पत्ति हुई—इन बातों का भी अलङ्कार बनाना चाहिए था। यह आधी कथा क्यों छोड़ दी? और क्या हनुमान्जी भी अलङ्कार का ही कोई भाग हैं? उनकी उत्पत्ति क्या हुई ही नहीं? महाराज मिश्रजी! क्यों एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा रहे हैं? पुराणों की कथाओं का अलङ्कार बनना तीन काल में भी सम्भव नहीं है। बात सीधी है, या तो पुराणों को मानना छोड़ दीजिए या इन कथाओं को हूबहू मानकर ही निर्वाह हो सकेगा। इन अलङ्कार-बाज़ियों से अब जनता को सन्तोष नहीं हो सकता।

पोपजी—भगवान् विष्णु के इस मोहिनी अवतार धारण करने का वर्णन यजुर्वेद सूक्त १७, अध्याय ४४ के मन्त्रों में भी स्पष्ट आता है, फिर आक्षेप क्यों?

तोपजी—हे परमात्मन्! इन पाखण्डियों का यह पाखण्ड कब तक चलता रहेगा और कब तक ये स्वार्थी लोग जनता की अज्ञानता से लाभ उठाकर हिन्दूजाति को धोखा देते रहेंगे? क्या आपके न्याय का डण्डा इनपर नहीं बरसेगा! क्यों नहीं? अवश्य बरसेगा और ऐसा बरसेगा कि पाप की नौका भरकर डूबती ही दिखाई देगी। क्यों न हो? इन लोगों ने क्या थोड़ा अन्धेर मचा रक्खा है कि दिन-दहाड़े सनातनधर्मी जनता को उल्लू बना रहे हैं? भला, कोई इन भले मानुषों से पूछे कि क्या यजुर्वेद में सूक्तों के विभाग हैं जो आपने सूक्त १७ लिखा है? और फिर यजुर्वेद में तो अध्याय ही केवल चालीस हैं, यह अध्याय ४४ का अवतरण कहाँ से दे डाला? यदि यही सनातनधर्म है कि जिसकी बात-बात में झूठ, पाखण्ड, धोखा और मिथ्याभाषण भरा हुआ है तो बिस्तरा-बोरिया बाँधकर तैयार रखिए। बस, अब ऐसे सनातनधर्म का अन्त सन्निकट ही है।

पोपजी—अब रहा प्रश्न पारा बह जाने का, सो पारे से तात्पर्य वीर्य नहीं अपितु तेज है। जैसाकि उस भगवान् के विराट् स्वरूप से सारे संसार की स्थिति बताई गयी है, अर्थात् भगवान् के विराट् रूप की हड्डियों से पहाड़, कानों से वायु, जिह्वा से समुद्र व नदियाँ आदि उत्पन्न हुईं, इसी प्रकार उस विराट् स्वरूप के विभिन्न अङ्गों से संसार की विभिन्न वस्तुएँ उत्पन्न हुईं और उसी विराट् स्वरूप के वीर्य अर्थात् तेज से सोना, चाँदी आदि धातुएँ उत्पन्न हुईं, जिसकी पुष्टि स्वयं भगवान् कृष्णचन्द्रजी गीता के ग्यारहवें अध्याय में यूँ करते हैं कि पर्वतों में मैं हिमालय हूँ, नदियों में समुद्र मैं हूँ और धातुओं में सोना मैं हूँ, अर्थात् समस्त तेजवाली वस्तुओं में तेज मैं हूँ। क्योंजी! अब भी वीर्य से आपका तात्पर्य वही रहेगा? यदि आप इसी हठ में हैं तो बताएँ कि आर्यसमाजी लोग 'आर्याभिविनय' में प्रतिदिन ईश्वर से यह प्रार्थना क्यों करते हैं कि 'हे ईश्वर!' तू वीर्य है, हमें भी वीर्य दे? वाह-वाह! अब तो आर्यसमाजियों के निराकार ईश्वर से भी वीर्य (पारा) बहने लगा!

तोपजी—भला, बतलाइए तो सही, यहाँ इतनी लम्बी-चौड़ी लबड़-धौं धौं से अर्थ क्या निकला? यहाँ पर विराट् रूप और गीता के पाठ का प्रयोजन ही क्या था? आपने पीछे इसी प्रश्न के उत्तर में शिव और मोहिनी की कथा में वीर्य नाम उपदेश का लिखा है जोकि अञ्जनी के कान में डाला गया। अब इससे सोना आदि धातुएँ बनने लगीं, तो क्या उपदेश से ही धातुएँ बन गयीं?

आपने अभी ऊपर बताया कि शिव नाम जीवात्मा का है और अब बताते हैं कि विराट् स्वरूप के तेज से सोना-चाँदी आदि धातुएँ बन गयीं। अजी! पारा निकला शिव के यहाँ, विराट् कहाँ से आ कूदा? आपका यह सारा प्रयत्न इस बात को सिद्ध करने के लिए है कि वीर्य का अर्थ तेज भी होता है। हमें इस बात से पहले ही इन्कार नहीं है कि वीर्य शब्द के बहुत-से अर्थ हो सकते हैं, परन्तु प्रकरण के अनुसार जहाँ जो अर्थ उचित होगा, वही लिया जाएगा। हमने यहाँ पर पौराणिक जगत् में वीर्य को योनि से बाहर बिखरने की दो पौराणिक कथाएँ दी हैं—एक, ब्रह्मा का अपनी पोती का मुख देखकर वीर्यपात हो जाना और दूसरी, मोहिनी का रूप देखकर महादेवजी का वीर्य निकल जाना। इन दोनों कथाओं में प्रकरण के अनुकूल वीर्य शब्द के वीर्य के अतिरिक्त और कोई अर्थ हो ही नहीं सकते, क्योंकि पहली कथा में वीर्य के निकलने से ब्रह्मा का उसे छिपाना और महादेवजी का क्रुद्ध होकर उसे मारने के लिए दौड़ना और पापकर्म बताना तथा उस वीर्य से चार प्रकार के बादलों का उत्पन्न होना और दूसरी कथा में महादेवजी के वीर्य को सप्त ऋषियों का पत्ते में रखना तथा अञ्जनी के कान में डालना और उससे हनुमान् का उत्पन्न होना आदि-आदि ऐसी घटनाएँ हैं जिनकी विद्यमानता में वीर्य शब्द का मणि के अतिरिक्त और कोई अर्थ सङ्गत हो ही नहीं सकता।

हाँ, आपने जो 'आर्याभिविनय' से वेदमन्त्र की प्रार्थना बतलाई है उसमें वीर्य के तेज और शक्ति अर्थ ही लिये जाएँगे, क्योंकि यहाँ कोई ऐसा प्रकरण नहीं जिसके कारण मणि अर्थ लिया जा सके। यदि वहाँ भी यह लिखा होता कि आर्यों का ईश्वर पौराणिक मोहिनी के पीछे भागा और भागते हुए उसका पारा निकल गया, तब ऋषियों ने उस पारे को उठाकर सनातनधर्म सभा के कान में डाल दिया, जिससे सनातनधर्म मण्डल पैदा हो गया, तो हमें भी वहाँ पर वीर्य का अर्थ मणि ही मानना पड़ता, परन्तु वहाँ पर ऐसा कोई प्रकरण नहीं है जो हमें वीर्य के तेज और शक्ति अर्थ लेने से रोक सके और उपर्युक्त पौराणिक कथाओं में वीर्य का अर्थ मणि के अतिरिक्त और कुछ लिया ही नहीं जा सकता। इसलिए मिश्रजी महाराज! इस वेदमन्त्र की चारों शिक्षाओं पर गम्भीर चिन्तन और मनन करें।

वेद ईश्वर का ज्ञान है, वह प्राकृतिक नियमों का प्रतिपादन करता है। सन्तान उत्पन्न करना एक अत्यन्त आवश्यक और पवित्र कर्म है, अतः वेद का इसके सम्बन्ध में शिक्षा देना अत्यावश्यक था, जोकि उपर्युक्त वेदमन्त्र के द्वारा ईश्वर ने सब मनुष्यों के लिए दी है। आपके अट्ठारह पुराणों में सैकड़ों ऐसी गन्दी, अप्राकृतिक और अश्लील कथाएँ विद्यमान हैं जिनमें ऋषियों और देवताओं का आचरण उपर्युक्त वेदमन्त्र से विरुद्ध वर्णित किया गया है, अतः आप पुराणों की इन गन्दी कथाओं को अलङ्कारों की आड़ में छुपाने के प्रयत्न को तिलाञ्जलि देकर पवित्र वैदिक धर्म की शरण में आने की कृपा करें और अपने जीवन को देश, धर्म और जाति की सेवा में लगाकर सफल करें।

११. भोग

सिद्धान्त—

सूपस्थाऽअद्य देवो वनस्पतिरभवदश्विभ्यां छागेन सरस्वत्यै मेषेणेन्द्राय ऽऋषभेणाक्षँस्तान् मेदस्तः प्रति पचतागृभीषतावीवृधन्त पुरोडाशैरपुरश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा सुरासोमान्॥

—यजुः० २१।६०

पदार्थ—हे मनुष्यो! जैसे (**अद्य**) आज (**सूपस्था**) भली-भाँति समीप स्थिर होनेवाले और (**देवः**) दिव्य गुणोंवाला पुरुष (**वनस्पतिः**) वट-वृक्ष आदि के समान जिस-जिस

(**अश्विभ्याम्**) प्राण और अपान के लिए (**छागेन**) दुःख-विनाश करनेवाले छेरी आदि पशु से (**सरस्वत्यै**) वाणी के लिए (**मेषेण**) मेढा से (**इन्द्राय**) परमैश्वर्य के लिए (**ऋषभेन**) बैल से (**अक्षन्**) भोग करें—उपयोग लें (**तान्**) उन (**मेदस्तः**) सुन्दर, चिकने पशुओं के (**प्रति**) प्रति (**पचता**) पचाने योग्य वस्तुओं का (**अगृभीषत**) ग्रहण करें (**पुरोडाशैः**) प्रथम संस्कार किये हुए उत्तम अन्नों से (**अवीवृधन्त**) वृद्धि को प्राप्त हों (**अश्विना**) प्राण-अपान, (**सरस्वती**) प्रशंसित वाणी (**सुत्रामा**) भली-भाँति रक्षा करनेहारा (**इन्द्रः**) परमैश्वर्यवान् राजा (**सुरासोमान्**) जो अर्क खींचने से उत्पन्न हों, उन ओषधि-रसों को (**अपुः**) पीवें, वैसे आप होओ।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जो मनुष्य छेरी आदि पशुओं के दूध आदि से प्राण-अपान की रक्षा के लिए चिकने और पके हुए पदार्थों का भोजन कर उत्तम रसों को पीके वृद्धि को पाते हैं, वे अच्छे सुख को प्राप्त होते हैं।

—:o:—

पोपजी—स्वामीजी ने यजुर्वेद के भाष्य में लिखा है कि—'हे मनुष्यो! तुम ऐशो-इशरत (भोग-विलास) के लिए बैल से भोग करो।' यह कितनी गन्दी शिक्षा है!

तोपजी—कुछ लोगों का यह नियम होता है कि 'चाहे कपड़ा फाड़कर गले में डालना पड़े और चाहे घड़ा फोड़कर गले में डालना पड़े, चाहे गधे की सवारी करनी पड़े—जिस किसी प्रकार से भी मनुष्य प्रसिद्ध हो जाए।'[1] प्रतीत होता है कि पोपजी भी ऐसे ही मनुष्यों की गिनती में हैं। उन्हें चाहे झूठ बोलना पड़े, चाहे आत्मा का हनन करना पड़े, चाहे शब्दों को तोड़-मरोड़कर लेखक की इच्छा के विरुद्ध अर्थ घड़ना पड़े, परन्तु आर्यसमाज पर आक्षेप करके पाँचों सवारों में सम्मिलित होने पर तुले हुए हैं, अन्यथा उपर्युक्त आक्षेप इतना अर्थहीन और व्यर्थ है कि जिसका आधार ही कुछ नहीं है।

आप पहले तो यह बतलाएँ कि 'ऐशो-इशरत' आपने स्वामीजी के कौन-से शब्दों के अर्थ किये हैं? क्या ऐश्वर्य के अर्थ एशो-इशरत (भोग-विलास) होते हैं? ऐसे अर्थ समझने पर शर्म से डूब मरना चाहिए, परन्तु आपके पास शर्म का क्या काम? लीजिए, हम आपको बतलाते हैं कि 'ऐश्वर्य' का अर्थ है 'दौलतमन्दी' (समृद्धि) और फिर 'भोग करें' का अर्थ **स्वामीजी** ने भाष्य में ही लिख दिया है कि 'उपयोग लें', अर्थात् उचित रीति से प्रयोग करें, अतः इस वाक्य का स्पष्ट अर्थ हो गया कि मनुष्य लोग ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए (समृद्धि के लिए) बैल से उचित कार्य लें और फिर **स्वामीजी** ने मन्त्र का अर्थ करने के पश्चात् उसके भावार्थ में लिखा है कि ''छेरी (बकरी) आदि पशुओं के दूध आदि से चिकने और पके हुए पदार्थों का प्रयोग करनेवाला सुख को प्राप्त होता है।''

अब कृपा करके बतलाइए कि इसमें अश्लील शिक्षा कौन-सी है? इस मन्त्र में तो स्पष्टरूप से यह शिक्षा दी है कि मनुष्यों को चाहिए कि वे बकरी, भेड़, बैल आदि पशुओं को उचित रूप से काम में लाकर घी, दूध अन्न आदि से ऐश्वर्यशाली बनें। श्रीमन्! इस मन्त्र में तो कोई अश्लील शिक्षा है नहीं। प्रतीत होता है कि आपके मस्तिष्क में ही पौराणिक गन्दगी (मलिनता) भरी हुई है, जिसमें से आपको सदा बदबू आती रहती है और आप अपने मस्तिष्क की गन्दगी को भूलकर यह समझने लग पड़ते हैं कि बाहर से ही गन्दगी

१-१. यह वाक्य निम्न श्लोक का भावार्थ है—

घटं भित्वा पटं छित्वा कृत्वा गर्दभरोहणम्। येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्॥

की दुर्गन्ध आ रही है, जोकि आपका भ्रम है। यदि आप अपने मस्तिष्क को पौराणिक गन्दगी से खाली कर दें तो आपका यह रोग सदा के लिए दूर हो जाए।

पोपजी—लाला मनसारामजी ने खूब भाव निकाला। लाला साहब! स्वामीजी की मन्शा 'उचित प्रयोग होता' तो वही स्पष्ट अर्थ लिखते। क्या उत्तम न्याय है! यदि आर्यसमाजी पुस्तकों में 'भोग' की चर्चा आये तो उसका अर्थ 'उचित प्रयोग हो' और वही भोग शब्द यदि सनातनधर्म की पुस्तक में आ जाए तो उन्हें मैथुन (समागम) दीख पड़े। महाशयजी! ये चालाकियाँ तो अक़्ल के अन्धों के सामने ही चलेंगी। अब भोग का अर्थ समागम क्यों नहीं लगाते? क्या घर में लगी है, इसलिए? अस्तु, तुम्हारे अधिकार की बात नहीं, सब बुद्धि का ही दोष है। मनुष्य जैसा होता है, उसे दूसरे भी वैसे ही दृष्टिगोचर होते हैं।

तोपजी—भाव हमने नहीं निकाला, वरन् भाष्य में स्वयं स्वामीजी का लिखा हुआ है कि 'उपयोग लें' अर्थात् उचित प्रयोग करें। यदि लिखा हुआ न भी हो, तो भी मन्त्र के अर्थ को भावार्थसहित पढ़कर 'भोग' शब्द का यहाँ पर और कोई अर्थ हो ही नहीं सकता। देखिए, अमरकोश [३।३।२३] में भोग शब्द के क्या अर्थ लिखे हैं—

भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च॥

अर्थ—भोग यह एक नाम 'सुख, पण्य स्त्री, हाथी-घोड़े आदि के सेवकों की भृतिः=वेतन, पालन और भोजन देने' का है।

इस प्रकार अमरकोश के अनुसार भोग शब्द के पाँच अर्थ हैं—१. सुख, २. कञ्जरी, ३. हाथी-घोड़ों की सेवा करनेवाले सेवकों का वेतन, ४. पालन और ५. भोजन देना। शेष कर्मों के फल का नाम भी भोग है। पाँचों इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में लगने का नाम भी भोग है, जिसमें समागम भी सम्मिलित है।

अर्थ प्रकरण के अनुसार किये जाते हैं। इसमें सनातनधर्म अथवा आर्यसमाज का कोई प्रश्न नहीं है। यदि प्रकरण इस प्रकार का होगा कि जिसमें सम्भोग की समस्त सामग्री के वर्णन के साथ भोग शब्द आएगा तो वहाँ पर भोग का अर्थ समागम ही लिया जाएगा, चाहे वह ग्रन्थ सनातनधर्म का हो, चाहे आर्यसमाज का हो, अन्यथा जो अर्थ प्रकरण के अनुकूल ठीक होंगे, वे ही लिये जाएँगे। यहाँ पर उपर्युक्त मन्त्र के अर्थों में भोग का अर्थ मैथुन कभी नहीं लिया जा सकता, क्योंकि प्रथम तो यजुर्वेद [१८।७६], जिसका वर्णन प्रश्न-संख्या दस में आ चुका है, नियम निश्चित करता है कि "लिङ्ग को ऐसी योनि में प्रविष्ट करके वीर्य छोड़ना चाहिए कि जिसमें वीर्य गर्भ की अवस्था धारण करके सन्तान के रूप में उत्पन्न हो सके।" इसलिए बैल आदि पशुओं के साथ मैथुन करने का वेद स्वयं खण्डन करता है। दूसरे, स्वामी दयानन्दजी के भाष्य को जो हमने प्रश्न के आरम्भ में शब्दार्थ-सहित दे दिया है, पढ़कर सम्भोग के अर्थ लग ही नहीं सकते, क्योंकि वहाँ पर प्रकरण के अनुसार सम्भोग की सामग्री विद्यमान नहीं है, अपितु दूध, अन्न आदि के प्रयोग का वर्णन है, जोकि बकरी, बैल आदि के उचित उपयोग से प्राप्त किये जा सकते हैं। यदि कोई कहे कि 'राजा राज्य भोग रहा है' तो क्योंकि यहाँ पर राज्य कोई सम्भोग करने की वस्तु नहीं है, अतः यहाँ भोग का अर्थ 'उचित प्रयोग' ही होगा। इसी प्रकार "पुजारी बाबा देवी-देवताओं को भोग लगा रहा है", क्योंकि यहाँ पर देवी-देवता सम्भोग के योग्य नहीं, अतः भोग का अर्थ भोजन कराना लिया जाएगा। इसी प्रकार 'समृद्धि के लिए बैल से भोग करें', इस वाक्य में भी क्योंकि बैल के साथ मैथुन करना अप्राकृतिक है, अतः 'भोग' का अर्थ उचित प्रयोग ही लिया जोगा। मिश्रजी महाराज! इस प्रकार की चालाकियाँ अक़्ल के अन्धे [विवेक-शून्य] पौराणिकों में ही चल सकती हैं, आर्यसमाजी इन चालाकियों को भली-भाँति जानते

हैं कि आप ऋषि दयानन्दजी के भाष्य पर बैल के साथ मैथुन का दोष लगाकर पौराणिक व्यभिचार—यजमान की स्त्री का घोड़े के साथ सम्भोग, किन्दम ऋषि का हिरनी से मैथुन, सूर्य का घोड़ी से समागम आदि-आदि को उचित सिद्ध करने के प्रयत्न में हैं, परन्तु आपका यह प्रयत्न सफल नहीं हो सकता, क्योंकि ऋषि दयानन्दजी के भाष्य में इस प्रकार की गन्दी, अप्राकृतिक और अश्लील बातों का मिलना सर्वथा असम्भव है।

पोपजी—लाला साहब! पुजारियों का देवताओं को भोग लगाना आपके सिद्धान्त को सिद्ध नहीं करता। भोग करने में और लगाने में आकाश-पाताल का अन्तर है। तनिक उर्दू व्याकरण भी पढ़ें। 'राजा राज भोग रहा है अथवा पुजारी देवताओं को भोग लगा रहा है' इसमें सम्भोग अर्थ नहीं हो सकता। तनिक बुद्धि से भी काम ले-लिया करें, परन्तु स्वामी दयानन्द ने तो स्पष्ट लिखा है कि 'हे आर्यो! तुम धन, बुद्धि और वाणी की उन्नति के लिए बैल, भेड़ और बकरी से भोग करो।' इस लेख से तो 'उचित प्रयोग' का भाव सिद्ध नहीं हो सकता—

सचाई छिप नहीं सकती बनावट के उसूलों से।
कि खुशबू आ नहीं सकती कभी काग़ज़ के फूलों से॥

तोपजी—मिश्रजी महाराज! हम तो अक़्ल से काम लेकर ही बतला रहे हैं कि जहाँ पर प्रकरण में मैथुन की सामग्री विद्यमान हो, वहाँ पर भोग का अर्थ मैथुन लिया जाएगा और जहाँ पर सम्भोग की सामग्री उपस्थित न हो, वहाँ पर जैसा प्रकरण होगा, वैसा ही भोग शब्द का अर्थ भी लिया जाएगा। अक़्ल को तो आपने पूर्णरूप से बेच खाया है कि भोग शब्द को देखते ही प्रकरण के विरुद्ध मैथुन अर्थ करने लग पड़ते हैं।

उर्दू व्याकरण की बात भी खूब कही! श्रीमन्! '**को**' और '**से**' के प्रयोग से वाक्य के अर्थों में अन्तर नहीं पड़ा करता। ये शब्द तो विभक्तियों के अनुसार प्रयुक्त किये जाते हैं। अर्थों में अन्तर पड़ता है पिछले-अगले प्रकरण की अनुकूलता से। उदाहरण के रूप में देखिए, 'राजा राज भोग रहा है' और 'पुजारी देवताओं को भोग लगा रहा है'—इन दोनों वाक्यों में क्योंकि राज्य और देवता ये दोनों सम्भोग करने के योग्य वस्तुएँ नहीं हैं, अतः यहाँ पर भोग शब्द के अर्थ मैथुन नहीं लिये जा सकते। यदि यहाँ पर ही ये दोनों वाक्य इस प्रकार हों कि "ब्रह्मदेश के राजा ने दस रानियों से विवाह किया है, अब वह राजा दिन-रात रानियों को भोग रहा है, इनमें से इसके दस पुत्र उत्पन्न हुए हैं।" "अमुक मन्दिर का पुजारी महाधूर्त है, शराब पीता है, मांस खाता है और दिन-रात मन्दिर के अन्दर पुजारी स्त्रियों को भोग लगा रहा है; अतः मन्दिर में रखने के योग्य नहीं है।" तो यहाँ भी भोग शब्द का अर्थ मैथुन ही लिया जाएगा, क्योंकि इन वाक्यों में स्त्रियाँ भोग के योग्य पदार्थ हैं और आगे-पीछे का प्रकरण भी सम्भोग को ही सिद्ध करता है।

अब आपके लिखने के अनुसार स्वामीजी ने लिखा है कि—'हे आर्यो! तुम धन, बुद्धि और वाणी की उन्नति के लिए बैल, भेड़ और बकरी से भोग करो।' इस वाक्य से भोग शब्द का अर्थ मैथुन नहीं लिया जा सकता, क्योंकि प्रथम तो बैल, भेड़ और बकरी मैथुन करने के योग्य पदार्थ नहीं है, दूसरे, इनके साथ मैथुन करने से धन, बुद्धि और वाणी की उन्नति कैसे होगी? अतः प्रकरण के अनुसार यहाँ भोग शब्द का अर्थ 'उचित प्रयोग' ही संगत होगा। भेड़-बकरी के दूध के प्रयोग से और बैल का खेती में प्रयोग करने से धन, वाणी और बुद्धि की उन्नति सम्भव है, अतः स्वामीजी का वेदभाष्य सर्वथा प्राकृतिक नियमों के अनुकूल, शुद्ध, पवित्र और ठीक है, वह आपकी इस प्रकार की व्यर्थ की शङ्काओं से कलङ्कित नहीं हो सकता और न वैदिक धर्म बदनाम हो सकता है।

न करते बहस पौराणिक कभी युक्ति माक़ूलों[1] से।
न वैदिक धर्म हारेगा कभी शंका फ़ुज़ूलों[2] से॥

पोपजी—महाशय साहब ने किन्दम ऋषि की महाभारत में वर्णित कथा का पता नहीं लिखा, अतः इस कथा का उत्तर केवल महाशयजी की बताई कथा से ही दिया जाता है। महाशयजी! आपके कथनानुसार किन्दम ऋषि ने अपनी योगशक्ति से हिरन का रूप धारण करके हिरनी से सम्भोग किया था, न कि ऋषिरूप से, अतः आप कोई ऐसा श्लोक या प्रमाण प्रस्तुत करें, जिसमें पशुओं के साथ सम्भोग करने की आज्ञा हो।

तोपजी—हमने पता लिखा है कि—"जब राजा पाण्डु शिकार खेलने वन में गया तो उसने एक हिरन पर तीर चलाया। आगे जाकर देखा कि किन्दम नामक एक ऋषि पाँव पर पट्टी बाँध रहा है आदि-आदि।" अब यदि आप महाभारत को उठाकर देखने का कष्ट ही न करें तो इसका क्या उपचार!

योग की बात भी आपने खूब कही! क्या योगियों के ये कार्य हैं कि वे शरीर बदल-बदलकर पशुओं से मैथुन करते रहें और फिर भी यथावत् योगी बने रहें? प्रथम तो यह बात ग़लत है कि योगी शरीर बदल सकता है। दूसरे, योगियों का काम पशुओं से मैथुन करना नहीं है। तीसरे, आपकी इस युक्ति को एक क्षण के लिए स्वीकार भी कर लें कि उन्होंने हिरन का रूप धारण करके हिरनी से मैथुन किया था, ऋषिरूप से नहीं, तब भी अपराधी ऋषि को ही मानना पड़ेगा, क्योंकि वह शरीर को बदलने में स्वतन्त्र है। उसने मैथुन करने के लिए ही शरीर को बदला; अतः किन्दम ऋषि पशुओं के साथ मैथुन करने के अपराध से मुक्त नहीं ठहराये जा सकते। लीजिए, हम प्रमाण और श्लोक भी प्रस्तुत कर देते हैं—महाभारत आदिपर्व अध्याय ११८ में इस प्रकार लिखा है कि—

अहं हि किन्दमो नाम तपसा भावितो मुनिः। व्यपत्रयन्मनुष्याणां मृग्यां मैथुनमाचरम्॥
—गीताप्रेस संस्करण में ११७.२८

अर्थ—मैं एक तपस्वी मुनि हूँ, मेरा नाम किन्दम है। मनुष्य की लज्जा आने के कारण से मैं हिरणी से मैथुन कर रहा था।

शेष, पुराणों के, पशुओं के साथ मैथुन के बहुत-से प्रमाण प्रश्न—संख्या १० के उत्तर में लिख दिये हैं, वहाँ पढ़कर अपनी सन्तुष्टि कर लें।

पोपजी—हम पहले भी लिख आये हैं कि किसी व्यक्ति या ऋषि का कर्म धर्म नहीं माना जा सकता। महाशय साहब! आपके स्वामी दयानन्दजी ने एक शव को चीरा था तो क्या स्वामीजी का वह कर्म आर्यसमाज के लिए धर्म ठहराया जा सकेगा कि प्रत्येक आर्यसमाजी शवों को चीरा ही करे? यद्यपि स्वामी दयानन्द का कर्म उनके आर्यसमाज के संस्थापक होने के कारण अनुकरण के योग्य समझा जाना चाहिए।

तोपजी—हम पहले ही इस बात को सिद्ध कर आये हैं कि ऋषियों का चाल-चलन भी धर्म-अधर्म को जानने में कसौटी है, शर्त यह है कि वह आचार वेद और वेदानुकूल स्मृति के विरुद्ध न हो और सनातनधर्म का तो यह सिद्धान्त है कि "वेदों के मन्त्रों में विरोध है, स्मृतियों में भी विरोध है, प्रत्येक ऋषि का मत भी भिन्न-भिन्न है, धर्म का तत्त्व गुफा में रक्खा हुआ है, अतः महाजन जिस मार्ग से चलें वही धर्म का मार्ग है।" इस सम्बन्ध में हम धर्म की कसौटियों के विषय में विस्तारपूर्वक लिख आये हैं। सनातनधर्म के लिए तो ऋषियों का आचरण ही धर्म की कसौटि है, परन्तु आर्यसमाज ऋषियों के आचरण को

---

१. उचित। २. व्यर्थ।

धर्म में वहाँ तक प्रमाण मानता है, जहाँ तक वह वेद के विरुद्ध न हो।

ऋषि दयानन्द ने जो शव को चीरा था, वह पुस्तकों में मनुष्य के शरीर की बनावट के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा था, उसके साथ मानव-शरीर का मुक़ाबला करने के लिए चीरा था, अतः स्वामीजी का वह कर्म वेद के विरुद्ध नहीं था, अतः कोई आर्यसमाजी भी पुस्तकों के साथ तुलना करने के लिए किसी शव को चीरे तो कोई पाप की बात नहीं है। हम ऋषि दयानन्द के इस कर्म को शरीर-शास्त्र की शिक्षा पानेवाले विद्यार्थियों के लिए आचरण के योग्य समझते हैं। क्या आप भी सनातनधर्म के सिद्धान्त के अनुसार किन्दम ऋषि के कर्म को आचरण के योग्य समझते हैं? यदि नहीं तो उन्हें ऋषि कहकर ऋषियों को कलङ्कित मत कीजिए।

पोपजी—लाला साहब! योगियों में अनेक प्रकार के शरीरों को धारण करने की शक्तियाँ हुआ करती हैं, जिनका वर्णन महाभारत आदि धर्मग्रन्थों में स्थान-स्थान पर किया जा चुका है। इस कथा में तो क्या, सारे पुराणों में पशुओं से भोग करने की आज्ञा बिलकुल नहीं है।

तोपजी—सर्वप्रथम तो यह बात झूठ है कि योगी अनेक प्रकार के शरीर धारण कर सकता है। यदि दुर्जनतोषन्याय से एक क्षण के लिए मान भी लें, तो भी योगी चाहे कोई भी शरीर धारण करके चोरी, जारी, ठगी, धूर्तता करे उसका अपराधी योगी ही होगा, शरीर नहीं, क्योंकि कर्म करनेवाला योगी का आत्मा है और अपनी स्वतन्त्रता से शरीर बदलकर पशुओं से मैथुन करता है। पौराणिक जगत् में अश्वमेधयज्ञ में यजमान की पत्नी का घोड़े के साथ समागम कराने की आज्ञा विद्यमान है और राजा दशरथ की स्त्री का क्रियात्मकरूप से पुरोहितों ने घोड़े से समागम करवाया। इससे अधिक और किस प्रमाण की आवश्यकता है?

पोपजी—हाँ, यदि पशुओं से मैथुन करने की आज्ञा देखनी हो अपने स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य देखिए, सन्तुष्टि हो जाएगी। देखिए, यजुर्वेदभाष्य [२१।६०] में दुःखनाश करने के लिए बकरी से, बुद्धि के लिए भेड़ से और धन-सम्पत्ति के लिए बैल से भोग करना लिखा है। वाह! क्या सुन्दर उपदेश है!

लाला मनसारामजी! इस वेदमन्त्र में पशुओं से मैथुन करने की आज्ञा ही नहीं, अपितु बकरी की मादा योनि में और बैल की गुदा में ही लिङ्ग प्रविष्ट करने की स्वामीजी की आज्ञा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि आर्यसमाज में इस मन्त्र के अनुसार नर और मादा दोनों के साथ भोग करने का वैदिक विधान है। क्या स्वामीजी के इस गन्दे भाष्य की पुष्टि के लिए ही पुराणों की मनमानी झूठी कथाएँ लिखकर पशुओं से सम्भोग और गुदा में लिङ्ग प्रविष्ट करना बताते हो?

तोपजी—हम इस बात को पूर्णरूप से युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध कर चुके हैं कि स्वामीजी के इस भाष्य में भोग शब्द का अर्थ 'उचित प्रयोग' ही है; क्योंकि प्रथम तो बैल, भेड़ और बकरी मैथुन करने के पदार्थ नहीं हैं। दूसरे, इनके साथ मैथुन करने से दुःख का नाश, बुद्धि और धन-सम्पत्ति की समृद्धि नहीं हो सकती, प्रत्युत भेड़-बकरी के दूध के प्रयोग करने से और बैल का कृषि आदि कार्यों में उचित प्रयोग करने से दुःख का भी नाश होता है और बुद्धि तथा धन-सम्पत्ति की भी समृद्धि होती है। इस बात को स्वामीजी ने मन्त्र के भावार्थ में भी स्पष्ट कर दिया है, परन्तु आपके मस्तिष्क में पौराणिक गन्दगी भरी हुई है और आपको पुराणों के संस्कार के अनुसार 'यजमान की स्त्री घोड़े के लिङ्ग को स्वयं पकड़कर अपनी योनि में प्रवष्टि करे' इस बात को स्मरण करके स्त्री की योनि में घोड़े का लिङ्ग प्रविष्ट होना और 'राक्षस लोग ब्रह्मा के पीछे-पीछे मैथुन करने के लिए भागे' इससे पुरुष की गुदा में लिङ्ग को प्रविष्ट करने का रोग तंग कर रहा है, अतः आपको सब

और पशुओं से मैथुन और गुदा में लिङ्ग प्रविष्ट करने के दृश्य हर समय दृष्टिगोचर होते हैं। क्यों न हो, जिसे पीलिया का रोग हो उसे सर्वथा श्वेत वस्तु भी पीली ही दृष्टिगोचर हुआ करती है। इसीलिए आपपर पुराणों की शिक्षा का संस्कार होने के कारण ऋषि दयानन्द के शुद्ध-पवित्र भाष्य में भी गन्दी बातें ही दिखाई देती हैं, अन्यथा ऋषि ने तो आप-जैसों के बेहूदा विचारों को दृष्टि में रखते हुए स्पष्टरूप से 'भोग करें' के आगे 'उपयोग लें' शब्द लिख दिये हैं जिनका तात्पर्य यह है कि उचित प्रयोग करें अर्थात् बैल, भेड़, बकरी से उचित कार्य लें। परमात्मा आपकी बुद्धि को ठीक करें और आपको सन्मार्ग पर चलाएँ।

पोपजी—लाला साहब! तनिक बुद्धि से काम लो। पुराणों में तो ऐसे गन्दे और सभ्यता से गिरे हुए उपदेश नहीं हैं। ऐसे उपदेश स्वामीजी के वेदभाष्य में ही पर्याप्त हैं। वहाँ ही देखकर आचरण करने का प्रयत्न करें तभी वैदिकधर्मी कहला सकोगे, परन्तु कहीं गुदा से साँप पकड़ने का प्रयत्न न कर बैठना जैसीकि स्वामीजी ने आज्ञा दी है। अवलोकन कीजिए, यजुर्वेद, दयानन्दभाष्य, अध्याय २५, मन्त्र ७—'हे मनुष्यो! स्थूल गुदा-इन्द्रियों के साथ वर्त्तमान, कुटिल (कुण्डलीवाले) साँपों को ले-आओ'।[१] क्योंजी! इच्छा पूर्ण हो गयी!

तोपजी—अब यह डींग कब तक मारी जा सकेगी कि पुराणों में अश्लील और सदाचार से गिरे हुए उपदेश नहीं हैं? अब तो पुराणों की पोल जनता के समक्ष आ गयी है। वह कौन-सा ऋषि, देवता या मनुष्य है, जिसे पुराणों ने मद्यपान, मांसभक्षण, व्यभिचार, चोरी, झूठ, जुआ, छल-कपट आदि के आरोप लगाकर कलङ्कित नहीं किया है? इसके प्रमाण हम पीछे लिख चुके हैं और शेष आगे पुराणों के विषयों में लिखेंगे।

ऋषि दयानन्दजी का वेदभाष्य शुद्ध, पवित्र तथा निरुक्त और व्याकरण के अनुसार है। इसमें से आप एक भी ऐसी बात दिखाने में सफल नहीं हो सकते जो सदाचार और शिष्टता से गिरी हुई हो। हाँ, यह सम्भव है कि आप भाष्य का कोई अधूरा अवतरण लिखकर जनता को धोखे में डालने का प्रयत्न करें, जैसाकि आप पौराणिक लोगों का स्वाभाविक गुण है और जैसाकि आपने यजुर्वेद [२५।७] का अवतरण देकर उपहास करने का प्रयत्न किया है, परन्तु श्रीमन्! इस मन्त्र में तो कोई सदाचार से गिरी हुई बात नहीं है।

यहाँ वैद्यक का विषय चल रहा है। मनुष्य का पक्वाशय (मेदा) बिगड़ जाने से या विशेष जलवायु के कारण मनुष्य के पेट में कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। ये कृमि तीन प्रकार के होते हैं। एक को चमूने (चिनूने) कहते हैं, जोकि बालकों के मीठा आदि अधिक खाने से पड़ जाते हैं। ये गुदा में लड़ते हैं और बालकों को तंग करते हैं। दूसरे, लगभग एक-एक इञ्च लम्बे और जौ से तनिक मोटे होते हैं और पाखाने के साथ बहुत-सी मात्रा में सफेद रंग के निकलते हैं, इन्हें कद्दूदाना कहते हैं। तीसरे, बड़े लम्बे-लम्बे होते हैं, इन्हें साँप कहते हैं। चूँकि इन तीनों प्रकार के कीड़ों के आँखें नहीं होतीं, अतः वेद में इन्हें अन्धे साँपों के नाम से लिखा है और चूँकि ये होते भी गुदा में ही हैं, अतः वैद्यों के लिए वेद का आदेश है कि जब ऐसे रोगियों की चिकित्सा करो तो अन्धे साँपों को गुदा से पकड़ो अर्थात् इन अन्धे कीड़ों को उनकी गुदा से निकाल दो। यह है वेद का अभीष्ट जोकि एक अत्यन्त लाभदायक और शिक्षाप्रद लेख है, जिसपर आपने अपने चुलबुले स्वभाव के कारण उपहास करने का प्रयत्न किया है, परन्तु धूलि उड़ाने से चाँद कभी भी छिपता नहीं।

---

१. पाठकगण! पोपजी ने जो अर्थ किया है, यहाँ भी साँपों को गुदा से पकड़ने की बात तो कहीं भी नहीं है। हाँ, स्थूल गुदा-इन्द्रिय के साथ वर्त्तमान अर्थात् स्थूल पूँछवाले साँपों को लाने की—पकड़ने की बात अवश्य कही है।

हाँ, यदि आपका तात्पर्य गुदा से अन्धे साँपों को पकड़ने से अपने स्वभाव के अनुसार कुछ और ही है, तो इस प्रकार के लेख पुराणों में बहुत हैं। यदि आपको गुदा से अन्धे साँपों को पकड़ने का चाव है तो इसका समर्थन पुराणों में मिल सकता है, आपको घबराने की आवश्यकता नहीं है। अर्जुन ने कृष्ण के अन्धे साँप को गुदा से पकड़ा, नारद ने तालध्वज राजा के अन्धे साँप को गुदा से पकड़ा और राक्षस लोग अपने अन्धे साँपों को ब्रह्मा की गुदा से पकड़वाने के लिए भागे, परन्तु ब्रह्मा स्वयं भाग खड़े हुए। प्रतीत होता है कि ब्रह्माजी को आपकी भाँति अन्धे साँपों को गुदा से पकड़ने का चाव नहीं था, अन्यथा भागने की क्या आवश्यकता थी!

कहिए, आपके उद्देश्य के अनुसार अन्धे साँपों को गुदा से पकड़ने का लेख पुराणों में से और निकालकर प्रस्तुत करूँ अथवा इतने से ही तृप्ति हो गयी होगी? भले मनुष्यो! क्यों व्यर्थ इधर-उधर भटक रहे हो और ऋषि-मुनि, महात्माओं और देवताओं को बदनाम करनेवाले पुराणों को मानकर सनातन वैदिक धर्म को अन्य जातियों की दृष्टि में क्यों अपमानित कर रहे हो और उनके समर्थन के लिए व्यर्थ ही ऋषि दयानन्द के भाष्य पर झूठे आरोप लगाकर विद्वानों की दृष्टि में उपहास के पात्र क्यों बन रहे हो? आओ, इन पुराणों को तिलाञ्जलि देकर पवित्र वैदिक धर्म की शरण गहो ताकि आपका और आपके सनातनधर्म का कल्याण हो जाए और आपके धर्म पर आक्षेप करनेवाले ईसाई और मुसलमान आदि मच्छरों की भाँति भागते हुए दिखाई दें, अतः इस आर्यजाति पर दया करो। इन पुराणों को धर्म-ग्रन्थ मानने के कारण पर्याप्त अपमानित हो चुके हो और करोड़ों लाल अपनी गोद से अन्यों को दे चुके हो। अब भी उसे पुराणों के चक्कर में रखकर उसके अस्तित्व को संसार से निःशेष (नष्ट) करने का दूषित प्रयत्न मत करो।

१२. धायी

सिद्धान्त—

ऐसा पदार्थ उसकी माता या धायी खावे कि जिससे दूध में भी उत्तम गुण प्राप्त हों। प्रसूता का दूध छह दिन तक बालक को पिलावे, पश्चात् धायी पिलाया करे, परन्तु धायी को उत्तम पदार्थों का खान-पान माता-पिता कराएँ। जो कोई दरिद्र हो, धायी न रख सकें तो वे गाय वा बकरी के दूध में उत्तम ओषधि जोकि बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य करनेहारी हों उनको शुद्ध जल में भिगो, औंटा, छानके दूध के समान जल मिलाके बालक को पिलावें। जन्म के पश्चात् बालक और उसकी माता को दूसरे स्थान जहाँ का वायु शुद्ध हो, वहाँ रक्खें, सुगन्धित और दर्शनीय पदार्थ भी रक्खें और उस देश में भ्रमण कराना उचित है कि जहाँ का वायु शुद्ध हो और जहाँ धायी, गाय, बकरी आदि का दूध न मिल सके, वहाँ जैसा उचित समझें वैसा करें, क्योंकि प्रसूता स्त्री के शरीर के अंश से बालक का शरीर होता है, इसी से स्त्री प्रसव-समय निर्बल हो जाती है। उस समय उसके दूध में भी बल कम होता है, इसलिए प्रसूता स्त्री दूध न पिलावे। दूध रोकने के लिए स्तन के छिद्र पर उस ओषधि का लेप करे, जिससे दूध स्रवित न हो। ऐसा करने से दूसरे महीने में स्त्री पुनरपि युवती हो जाती है। तब तक पुरुष ब्रह्मचर्य से वीर्य का निग्रह रक्खे। इस प्रकार जो स्त्री वा पुरुष करेगा, उनके उत्तम सन्तान, दीर्घायु, बल-पराक्रम की वृद्धि होती रहेगी।

—सत्यार्थप्रकाश, द्वितीयसमुल्लास

—:o:—

पोपजी—स्वामीजी ने लिखा है कि "बच्चे के उत्पन्न होने पर छह दिन तक माता का दूध पिलाया जावे, फिर उसके पश्चात् धायी दूध पिलावे और माता के स्तनों पर ऐसी ओषधि लगा दे, जिससे दूध निकलना बन्द हो जाए। दायी के अतिरिक्त बकरी, गाय आदि का दूध भी पिलाना चाहिए।"

तोपजी—स्वामीजी ने धायी का रखना अनिवार्य नहीं लिखा, अपितु स्पष्टरूप से लिखा है कि जो धायी न रख सकें वे गाय, बकरी आदि का दूध पिलावें और जो इसका भी प्रबन्ध न कर सकें तो जैसा उचित समझें वैसा करें। धायी का दूध पिलाने के लिए स्वामीजी ने तर्क दिया है कि चूँकि माता के शरीर से बच्चे का शरीर बनता है, इसलिए प्रसूता अवस्था में स्त्री निर्बल हो जाती है, यदि वह दूध पिलावेगी तो और अधिक निर्बल हो जावेगी।

स्वामीजी ने यह सब लेख वेद और शास्त्र के आधार पर ही लिखा है। धायी नियत करने की आज्ञा यजुर्वेद [१२।२] में स्पष्टरूप से विद्यमान है। मन्त्र में **'धापयेते शिशुमेकम्'** ये शब्द विद्यमान हैं, जिनका अर्थ यह है कि जैसे जननी माता और धायी बालक को दूध पिलाती हैं, वैसे ही दिन और रात्रि सबकी रक्षा करते हैं। इसकी व्याख्या सुश्रुत ने पूर्णरूप से की है। देखिए—

धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम्। चतू रात्रात्त्रिरात्राद्वा स्त्रीनां स्तन्यं प्रवर्तते ॥२३॥

तस्मात्प्रथमेऽह्नि मधुसर्पिरनन्तामिश्रं मन्त्रपूतं त्रिकालं पाययेत्, द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं सर्पिस्तृतीये च। ततः प्राङ् निवारितस्तन्यं मधुसर्पिः स्वपाणितलसम्मितं द्विकालं पाययेत् ॥२४॥

—सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थानम् १०।२३, २४[१]

अर्थ—प्रसूता स्त्री के हृदय की नाड़ियों के मुख खुल जाते हैं, अतः तीन या चार रात्रि व्यतीत हो जाने के पश्चात् स्त्री के स्तनों में दूध उतर आता है। इसलिए प्रथम दिन शहद और घी में अनन्तमूल मिलाकर मन्त्र पढ़कर तीन बार बालक को पिलावे। दूसरे दिन लक्ष्मणा से सिद्ध किया हुआ घी-शहद मिलाकर पिलावे। तीसरे दिन भी ऐसा ही करे। चौथे दिन स्तनों में से कुछ दूध निकाल डाले और दो समय थोड़ा दूध प्रसूता के स्तनों से पिलावे तथा शहद और घी पाणितल (हाथ की हथेली जितना) दोनों समय चटाए।

ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा ॥७॥

—चौखम्बा संस्करण १०।२७

अर्थ—तत्पश्चात् दसवें दिन माता-पिता मङ्गलाचारपूर्वक तथा स्वस्तिवाचन करके अभीष्ट अथवा नक्षत्र के अनुसार बालक का नाम रखें।

ततो यथावर्णं धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्यमवयस्कामरोगां शीलवतीमचपलाम- लोलुपामकृशामस्थूलां प्रसन्नक्षीरामलम्बौष्ठीमलम्बोर्ध्वस्तनीमव्यङ्गामव्यसनिनीं जीवद्वत्सां दोग्ध्रीं वत्सलामक्षुद्रकर्मिणीं कुले जातामतो भूयिष्ठैश्च गुणैरन्वितां श्यामामारोग्यबलवृद्धये बालस्य ॥३८॥

तत्रोर्ध्वस्तनी करालं कुर्यात् लम्बस्तनी नासिकामुखं छादयित्वा मरणमापादयेत् ॥३९॥

—चौखम्बा संस्करण १०।२७-२८

अर्थ—इसके पश्चात् अपने वर्ण के अनुसार धायी की योजना करनी चाहिए। वह धायी मध्यम शरीरवाली, मध्यम अवस्थावाली, नीरोग, उत्तम स्वभाववाली, अचञ्चला और लोभरहित होनी चाहिए। वह न बहुत दुबली हो, न बहुत मोटी हो, स्वच्छ दूधवाली हो। उसके ओठ लम्बे न हों, स्तन भी लम्बे या ऊर्ध्व न हों। उसका कोई अङ्ग कम न हो, उसमें कोई व्यसन

१. चौखम्बा संस्कृत संस्था वाराणसी द्वारा प्रकाशित संस्करण में श्लोक-संख्या १६-१७ है।

न हो, उसके बालक जीते रहते हों, यथेष्ट दूधवाली हो, बालक पर प्रेम रखनेवाली हो, नीच कर्म करनेवाली न हो, उत्तम कुल में उत्पन्न होने के कारण बहुत गुणों से युक्त एवं श्यामा (सुन्दर रूपवाली) हो। इस प्रकार की धायी बालक के आरोग्य और बल की वृद्धि करनेवाली होती है। ऊर्ध्व स्तनवाली धायी का दूध पिलाने से बालक कराल (भयङ्कर) मुखवाला होता है। बड़े स्तन होने पर बालक की नाक और मुख ढक जाने के कारण बालक का मरण तक हो सकता है।

ततः प्रशस्तायां तिथौ शिरः स्नातमहतवाससमुदङ्मुखं शिशुमुपवेश्य धात्रीं प्राङ्मुखीं चोपवेश्य दक्षिणं स्तनं धौतमीषत्परिश्रुतमभिमन्त्र्य मन्त्रेणानेन पाययेत् ॥४०॥

—चौखम्बा संस्करण १०।२९

अर्थ—तत्पश्चात् किसी शुभ दिन में धायी को सिर-सहित स्नान कराकर, उत्तम वस्त्र पहनाकर, पूर्वाभिमुख बैठाकर उसकी गोद में उत्तराभिमुख बालक का स्थापन करके धायी के दायें स्तन को धोकर और उसका थोड़ा-सा दूध निकालकर निम्नलिखित मन्त्र से अभिमन्त्रित करके पिलाना चाहिए।

सुश्रुत की इस व्याख्या में आपके सारे प्रश्नों का उत्तर विद्यमान है। पहले चार दिन तो लिखा है कि दूध उतरता नहीं, इसलिए न पिलावे और दसवें दिन नामकरण करने के पश्चात् धायी की योजना कर दे, अतः माता का दूध छह ही दिन बालक ने पिया, फिर धायी का पीने लगा। ओषधियों के प्रयोग का भी विधान है जैसाकि अनन्तमूल और लक्ष्मणा का वर्णन लिखा गया है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि धात्री की योजना करना वेद और सुश्रुत के सर्वथा अनुकूल है, इसीलिए स्वामीजी ने धायी की योजना करने का वर्णन सत्यार्थप्रकाश में किया है।

पोपजी—स्वामीजी का यह लेख हूबहू ईसाइयों के धर्म के अनुसार है। माता की दुर्बलता की भी खूब सूझी!

तोपजी—पक्षपात मनुष्य को अन्धा कर देता है, मिश्रजी! स्वामीजी का यह लेख तो वेद और सुश्रुत के सर्वथा अनुकूल है। हाँ, यदि ईसाइयों ने भी हमारे इन्हीं ग्रन्थों से ले-लिया हो तो आश्चर्य की बात नहीं। स्वामीजी ने धायी रखने का जो कारण दिया है, उसका आप खण्डन नहीं कर सकते। स्वामीजी का लेख सोलह आने सत्य है कि बच्चे का शरीर माता के शरीर से बनता है, इसलिए प्रसूता-अवस्था में माता निर्बल हो जाती है, अतः धायी दूध पिलावे और इसी बात को दृष्टि में रखकर वेद और सुश्रुत ने भी धायी की आज्ञा दी है।

पोपजी—लाला साहब ने यजुर्वेद का प्रमाण देकर जो धायी का दूध पिलाना लिखा है, वह सर्वथा झूठा है। इस मन्त्र में धायी के दूध पिलाने की चर्चा तक नहीं है, अपितु लाला साहब ने इस मन्त्र का सारा ही अर्थ ग़लत किया है। महीधर, उव्वट और पं० ज्वालाप्रसाद आदि समस्त भाष्यकारों ने इस मन्त्र में शिक्यपाश[१] का वर्णन किया है, दूध पिलाने या धायी आदि की इसमें चर्चा तक नहीं है।

तोपजी—हमने धायी के सम्बन्ध में यजुर्वेद [१२।२] का प्रमाण दिया था, उसमें धायी का वर्णन विद्यमान है। मन्त्र के शब्द ये हैं—

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकः समीची॥

अर्थ—जैसे एक बालक को दो माता दूध पिलाती हैं, वैसे ही एक विचार से जाने हुए

१. छींका।

अन्धकार और प्रकाश दो विभिन्न गुणोंवाले रात और दिन भी सबकी रक्षा करते हैं।

कैसे स्पष्ट शब्दों में वेद ने दो माता अर्थात् एक जननी और एक धायी के दूध पिलाने का वर्णन किया है! आपके उव्वट और महीधर ने भी यहाँ पर **'शिशुं बालं मातापितराविव'** अर्थात् जैसे बालक को माता और पिता **'धापयेते पाययेते'** दूध पिलाते हैं—यही अर्थ किया है; परन्तु महीधर और उव्वट को यह समझ नहीं आई कि पिता कैसे दूध पिला सकता है? मन्त्र में तो दो के दूध पिलाने का वर्णन है। इस बात को ऋषि दयानन्द ने स्पष्ट किया कि जैसे बालक को दो माताएँ अर्थात् जननी और धायी दूध पिलाती हैं। वेदों के अर्थों में ऋषियों का मस्तिष्क ही काम कर सकता है, महीधर और उव्वट जैसे वाममार्गियों का नहीं, अतः हमने जो अर्थ दिये हैं, वे सर्वथा ठीक हैं। इस मन्त्र में आपके कपोलकल्पित शक्तिपाश की चर्चा महीधर और उव्वट ने भी नहीं की, पता नहीं आपको कहाँ से वहम हो गया?

पोपजी—वरन् स्वामी दयानन्दजी ने यजुर्वेद [८।५१] में स्पष्ट लिखा है कि बालक अपनी माता का ही दूध पीये। जब स्वामी दयानन्दजी स्वयं वेदभाष्य में बालक के लिए अपनी माता का ही दूध पीने की आज्ञा देते हैं, तो कहिए स्वामी दयानन्दजी महाराज का वेदभाष्य ठीक मानें या सत्यार्थप्रकाश?

तोपजी—स्वामीजी का वेदभाष्य और सत्यार्थप्रकाश तो दोनों ही ठीक हैं, परन्तु आपके मस्तिष्क में विकार अवश्य है, जिसे ठीक करने की अत्यन्त आवश्यकता है। स्वामीजी ने धायी का दूध पिलाना अनिवार्य रूप में नहीं लिखा है, अपितु जो धायी न रख सके वह जैसा उचित हो वैसा करे, अर्थात् माता का दूध ही पिलाए। वेद में धायी का दूध पिलाना भी लिखा है और माता का दूध पिलाना भी लिखा है, जैसा उचित हो किया जा सकता है। यह परस्पर विरोध नहीं है अपितु विकल्प है, अर्थात् विरोध नहीं है, अपितु अपनी इच्छा पर निर्भर है।

आपने अपने लेख में **'ही'** शब्द अपनी ओर से मिलाकर बेईमानी की है, अन्यथा स्वामीजी ने तो लिखा है कि 'उक्त गुणवाला पुत्र उस अपनी माता का दूध पीवे।' यहाँ यह नहीं लिखा कि माता का ही दूध पीवे और फिर स्वामीजी तो यजुर्वेद [१२।२] के अर्थ में जननी और धायी दोनों को ही माता मानते हैं, अतः स्वामीजी का लेख सर्वथा सत्य है। यदि आपके विचार में माता को ही दूध पिलाना चाहिए तो फिर कृष्ण को यशोदा का दूध क्यों पिलाया गया? आप कहेंगे कि आवश्यकतावश पिलाया गया। बस, इसी प्रकार से स्वामीजी ने भी वेदशास्त्र के अनुसार आवश्यकतावश ही धायी की योजना करना लिखा है।

पोपजी—आयुर्वेद के ग्रन्थों—सुश्रुत और चरक में तथा गरुडपुराण में धायी का दूध पिलाने का वर्णन ऐसी अवस्था में किया है जबकि बालक की माता रोगी हो जाए और रुग्णा माता का दूध बच्चे के लिए हानिकारक हो। ऐसी अवस्था में बच्चे को धायी का दूध या गाय-बकरी का दूध पिलाया जाए और धायी का दूध शुद्ध करने के लिए बिदारीकन्द आदि का नुस्खा भी लिखा गया है, परन्तु इन ग्रन्थों में माता का दूध बन्द करके धायी का दूध पिलाने की आज्ञा नहीं है।

तोपजी—आपका यह कहना सर्वथा ग़लत है कि ''सुश्रुत और गरुडपुराण में बालक की माता के रोगी होने पर धायी का दूध पिलाने का वर्णन है।'' क्योंकि इन पुस्तकों में ऐसा लिखा हुआ कहीं भी नहीं मिलता और न ही आपने अपने कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण ही प्रस्तुत किया है। सुश्रुत में धायी का जो विषय है, वह हमने ऊपर उद्धृत कर

दिया है। इसमें कहीं भी नहीं लिखा कि माता के रोगी होने पर धायी का दूध पिलाया जाए, अपितु वहाँ तो दस दिन के पश्चात् नियमानुसार संस्कारपूर्वक मन्त्रों के साथ धायी का दूध पिलाना लिखा है। अब तनिक गरुडपुराण भी देख लीजिए। यहाँ भी आपकी बात की चर्चा तक भी नहीं है—

विदारीकन्दस्वरसं मूलं कर्पासजं तथा। धात्री स्तन्यविशुद्ध्यर्थं मुद्गयूपरसाशिनी ॥१३॥
कुष्ठा वचाभया ब्राह्मी मधुराभौद्रसर्पिषा। वर्णायुः कान्तिजननं लेह्यं बालस्य दापयेत् ॥१४॥
स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत्॥ —गरुडपु० आचारकाण्ड १७२।१३-१५

अर्थ—धात्री के दूध को शुद्ध करने के लिए विदारीकन्द आदि का रस धायी को पिलाया जावे और मूँगी आदि के रस का भी प्रयोग कराया जाए। कूठ, वच, हरड़ और ब्राह्मी आदि औषधियों की शहद और घी के साथ बनी हुई चटनी बालक को चटाने से रङ्ग (शरीर-सौन्दर्य), आयु और तेज उत्पन्न करती है। धायी के दूध के अभाव में बकरी या गाय का दूध माता या धायी के दूध-जैसा बनाकर पिलाना चाहिए।

इसमें माता के रोगी होने की चर्चा कहाँ है? इसमें तो स्पष्ट लिखा है कि धायी के दूध में गुण उत्पन्न करने के लिए विदारीकन्द आदि का रस दिया जाता है और बच्चे की आयु और तेज बढ़ाने के लिए शहद और घी के साथ कूठ आदि की चटनी बनाकर बालक को देनी चाहिए और माता या धायी का दूध न होने पर बकरी या गाय का दूध देना चाहिए, परन्तु इसमें पानी मिलाकर माता या धायी के दूध-जैसा बना लेना चाहिए। इस गरुडपुराण के लेख में स्वामीजी का सारा लेख आ जाता है, अतः स्वामीजी का लेख ठीक और आपका सर्वथा ग़लत है। यदि थोड़ी देर के लिए आपकी बात मान लें कि माता के रोगी होने पर धायी का दूध पिलाना चाहिए तो इससे भी हमारे सिद्धान्त की हानि नहीं होती, क्योंकि माता का दुर्बल होना भी तो एक प्रकार का रोग ही है और स्वामीजी भी धायी रखना आवश्यक नहीं अपितु ऐच्छिक मानते हैं।

पोपजी—महाशय! दूध का प्रभाव बहुत प्रबल होता है। आपको ज्ञात होगा कि राजा मानसिंह के रोने पर एक सेविका ने अपना दूध पिला दिया था। जब राजा मानसिंह की माता ने आकर देखा तो नौकरानी (सेविका) पर अत्यन्त क्रुद्ध होकर बोली कि तूने बहुत बुरा काम किया है। यह कहकर उसने राजा मानसिंह को उलटा लटकाकर दूध निकालने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया, परन्तु सारा दूध न निकल सका। तब रानी ने कहा कि इस दूध के कारण से ही यह लड़का जातिद्रोही और नीच विचारोंवाला होगा, फलस्वरूप ऐसा ही देखने में आया। दूध का प्रभाव व्यर्थ नहीं गया। यदि स्वामीजी इस भाव को समझते तो वेदों के विरुद्ध माता का दूध बन्द करके धायी आदि का दूध पिलाने की आज्ञा न देते।

तोपजी—हाँ जी! ठीक है। इस भाव को न तो स्वामीजी ने समझा और न ही यह भाव सुश्रुत की समझ में आया और इस भाव को गरुडपुराण के बनानेवाला भी न समझ सका। यह भाव केवल आपकी समझ में आया है। क्यों न हो 'आँखों से अन्धे नाम नयनसुख' वाली लोकोक्ति किसी ने आप-जैसों के लिए बनाई प्रतीत होती है। श्रीमन्! विवेक, बुद्धि और विचार से काम लें। शारीरिक वस्तु का प्रभाव शरीर पर पड़ता है और आत्मिक विचारों का प्रभाव आत्मा पर पड़ता है। बच्चे का शक्तिशाली या निर्बल होना, रोगी या स्वस्थ होना तो दूध के उत्तम या निकृष्ट होने पर निर्भर है, परन्तु वीर या भीरु, शूरवीर या स्फूर्तिविहीन होना और स्वामीभक्त या देशद्रोही होना आदि-आदि पालन करनेवाले के आत्मिक विचारों पर निर्भर होता है। इसलिए बच्चे में शारीरिक स्वास्थ्य और शक्ति उत्पन्न करने के लिए तो स्वस्थ धायी अथवा माता की और उसके दूध में भोजन द्वारा स्वास्थ्य

और शक्ति के गुणों को उत्पन्न करने की आवश्यकता है और बच्चे को वीर, स्वामीभक्त, शिष्ट, बुद्धिमान्, दीप्तमस्तिष्क बनाने के लिए उक्त गुणों से सुभूषित माता अथवा धायी की आवश्यकता है। यदि दूध पीने से दूध पिलानेवाली का आत्मिक प्रभाव भी मनुष्यों पर प्रभावक हो सके तो गाय, भैंस, बकरी आदि का दूध प्रयुक्त करनेवाले सब मनुष्यों में पाशविकता आ जाए और वे पशुओं की भाँति ही अज्ञानी, मूर्ख और माता, बहिन, पुत्री से मैथुन करनेवाले बन जाएँ, परन्तु ऐसा नहीं होता, अपितु दूध का शारीरिक प्रभाव ही मनुष्य पर पड़ता है। आत्मिक प्रभाव आत्मा का ही पड़ सकता है, अतः सुश्रुत ने लिखा है कि **'यथावर्णं धात्रीमुपेयात्'**—धायी गुण-कर्म-स्वभाव से अपने वर्ण की हो।

देखिए, श्रीकृष्णजी महाराज का यशोदा के दूध से पालन-पोषण हुआ, परन्तु वे बड़े शूरवीर, धर्मात्मा, योगी और विद्वान् हुए; और कर्ण रथवान् (सूत) की स्त्री राधा का दूध पीकर पालित व पोषित हुए, वे भी बड़े भारी विद्वान्, वीर और दानी बने। यद्यपि यशोदा और राधा का जन्म वैश्य के कुल का था, परन्तु उन दोनों के गुण-कर्म-स्वभाव क्षत्रियों के थे, अतः उनके दूध से कृष्ण और कर्ण में शक्ति और नीरोगता उत्पन्न हुई तो उनकी आध्यात्मिक शिक्षा से कृष्ण और कर्ण में विद्या, धर्म और वीरता उत्पन्न हुई, अतः आपके दिये हुए मानसिंह के इतिहास में केवल बाँदी के दूध से उसका जातिद्रोही बनना सर्वथा झूठ बात है। हाँ, उसका सदा नीच विचारोंवाली बाँदियों के सङ्ग में रहना उसकी भीरुता और देशद्रोही होने का कारण माना जा सकता है, अतः स्वामीजी ने, सुश्रुत और गरुडपुराण ने जो अपने वर्ण के अनुसार धायी रखना लिखा है, वह सर्वथा सत्य और वेदानुकूल है।

पोपजी—महाशय! गरुडपुराण में जो नुस्खे लिखे हैं, वे रोग को दूर करने के लिए प्रयुक्त किये जाने चाहिएँ। पुराणशास्त्रों में प्रत्येक प्रकार की शिक्षाएँ विद्यमान हैं, अतः यदि गरुडपुराण में ऐसी ओषधियाँ लिखी गयी हैं तो इसमें कोई बुराई की बात नहीं, क्योंकि हमारे धर्मशास्त्र सर्वाङ्गपूर्ण हैं। इनमें प्रत्येक बात का होना आवश्यक है।

तोपजी—यह बात सर्वथा झूठ है कि गरुडपुराण में सभी नुस्खे रोगों को दूर करने के लिए ही लिखे गये हैं, प्रत्युत गरुडपुराण में तो कई-एक ऐसी बातें लिखी गयी हैं जिनका रोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के रूप में लिङ्ग और स्तनों को बढ़ाने के नुस्खे किस रोग की ओषधियाँ हैं? हम गरुडपुराण में से कुछ नुस्खे लिखते हैं, जिससे आपको वास्तविकता प्रकट हो जाए।

१. विदारीकन्द के चूर्ण को शहद और घी मिलाकर चाटनेवाला दस स्त्रियों से मैथुन कर सकता है। —गरुडपु० आचारकाण्ड १७२.२८

२. गोदन्ती हरताल को काकजिह्वा के साथ मिला और चूर्ण बनाकर जिसके सिर पर डालो बस, वही वश में हो जाएगा। —वही १७८.३

३. खञ्जरीट के मांस को शहद के साथ पीसकर यदि ऋतुकाल में योनि पर लेप कर लिया जाए तो मनुष्य वश में हो जाता है। —वही १७८.५

४. यदि कोई मनुष्य एक पल पुराने गुड़ को खा लेवे तो एक सहस्र स्त्रियों से भोग कर सकता है, इतना शक्तिशाली हो जाएगा। —वही १८२.२

५. कौन-से पक्ष में कौन-सी तिथि में स्त्री के कौन-से अङ्ग में कामदेव रहता है, इसकी विस्तार से व्याख्या की गयी है। —वही १७८.१६-१८

६. ढाक के बीजों को शहद में पीसकर यदि रजस्वला स्त्री पी लेवे तो उसे न ऋतुस्राव होगा और न गर्भ ही रहेगा। —वही १७८.२८

बतलाइए, ये नुस्खे किस-किस रोग को दूर करते हैं? यदि आपके पुराणों में इस प्रकार की बातें होनी आवश्यक हैं और वे पुराणों को सर्वाङ्गपूर्ण बनाती हैं तो यदि सत्यार्थप्रकाश में लिखा गया कि "दूध रोकने के लिए स्तन के छिद्र पर उस ओषधि का लेप करे जिससे दूध स्रवित न हो" तो यह आपको आक्षेपजनक क्यों प्रतीत हुआ? यदि पुराणों में गन्दी, अश्लील और दुराचार फैलानेवाली बातें शिक्षा के लिए लिखी गयी हैं तो सत्यार्थप्रकाश में लिखी हुई सर्वसाधारण स्त्रियों के लिए आवश्यक और लाभदायक बात आक्षेप-योग्य क्यों? स्वामीजी का लेख युक्तियुक्त, सर्वथा सत्य और संसार के लिए लाभकारी है।

पोपजी—भगवान् श्रीकृष्णजी को यशोदा ने धायी के रूप में दूध नहीं पिलाया था, प्रत्युत उसने माता के रूप में ही भगवान् को दूध पिलाकर पुत्र की भाँति पाला था और देवकी ने दूध बन्द करने के लिए स्तनों पर कोई ओषधि नहीं लगाई थी, क्योंकि भगवान् के अवतार धारण करते ही वसुदेवजी इन्हें गोकुल ले-गये थे। इन्होंने अपनी माता देवकी का एक बार भी दूध नहीं पिया था, अतः उनके स्तनों में दूध का सञ्चार ही नहीं हुआ था तो ओषधि से दूध बन्द करने की आशा करना सरासर ग़लती है।

तोपजी—आप तो मानते थे कि दूसरे का पैदा किया हुआ पुत्र अपना पुत्र नहीं बन सकता, अब यह कैसे मानने लगे कि यशोदा ने अपना पुत्र बनाकर ही कृष्ण को दूध पिलाया था? अजी भगवन्! किसी प्रकार से ही पिलाया, परन्तु आपके विचार में तो यशोदा तो गोप अहीर वैश्य वंश की थी और कृष्णजी क्षत्रिय थे। तब यशोदा के दूध का मानसिंह की भाँति कृष्ण पर प्रभाव क्यों न पड़ा? और 'सनातनधर्म विजय' पुस्तक के पृष्ठ ९८, पंक्ति १० में आपने स्वयं स्वीकार किया है कि "यद्यपि भगवान् कृष्ण नन्द के घर में पले और पालन-पोषण की दृष्टि से उन्हें पिता मानते रहे, परन्तु नन्द के पुत्र नहीं कहलाये।" आपके इस लेख से स्पष्ट सिद्ध हो गया कि यशोदा भी पालन-पोषण के दृष्टिकोण से ही माता मानी जाती थी, अन्यथा देवकी के समान उसका पद नहीं था। स्वामीजी ने भी जननी और धायी दोनों को ही माता लिखा है। बस, इसी प्रकार से यशोदा पालन-पोषण करनेवाली धायी के समान माता थी न कि जननी, अर्थात् उत्पन्न करनेवाली माता। अजी! भगवान् कृष्ण तो पैदा होते ही गोकुल पहुँच गये थे, परन्तु उनके बदले में यशोदा की लड़की एकानंशा देवकी का दूध पिया करती थी। ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्णजन्म खण्ड ४, अध्याय ४, श्लोक १३०-१३२ में लिखा है कि वसुदेव के कहने से कंस ने इसे जीवित छोड़ दिया था और युवती होने पर इस लड़की एकानंशा का विवाह वसुदेव ने दुर्वासा ऋषि के साथ कर दिया था। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि देवकी के दूध का सञ्चार भी हुआ और एकानंशा का पालन-पोषण भी हुआ और अन्त में देवकी को निश्चय ही स्तनों के छिद्र पर कोई ओषधि लगाकर दूध बन्द करना पड़ा होगा। श्रीमन्! यदि कारणवश कृष्ण ने एक बार भी माता का दूध नहीं पिया और यशोदा के दूध से ही उनका पालन-पोषण हुआ तो स्वामीजी ने तो फिर भी छह दिन तक माता का दूध पीना लिखा है और आवश्यकता होने पर धायी रखना लिखा है, वह आपको क्यों खटकता है?

पोपजी—महाशय साहब! बच्चों का दूध बन्द करने के लिए सबकी सब माताएँ स्तनों पर लेप नहीं लगाया करतीं। हाँ, आर्यसमाज में ऐसी कुछ विधि हो तो हम कुछ कह नहीं सकते।

तोपजी—सारे भारतवर्ष में प्रायः स्त्रियों में यह प्रथा है कि वे बच्चों का दूध छुड़ाने के लिए अपने स्तनों पर किसी-न-किसी ओषधि का लेप लगाती हैं। इसमें आर्यसमाज और सनातनधर्म में भेद करना अशिष्टता और असभ्यता है। हम चकित हैं कि आप लेप से इतने

क्यों बिदकते हैं? अहो! याद आ गया। आपको इस प्रकार के साधारण लेपों से घृणा है। सनातनधर्म के स्त्री-पुरुष तो गरुडपुराण में वर्णित किये गये लेपों को पसन्द करते हैं, जिनका वर्णन गरुडपुराण, आचारकाण्ड में निम्नाङ्कित अध्यायों में यूँ है—

१. बेरी के पत्तों के लेप से फटी हुई योनि ठीक हो जाती है।
—गरुडपु० आचारकाण्ड १७२।४

२. लोध और तूँबी के लेप से योनि कठोर हो जाती है। —वही १७२।४

३. जौ, तिल और सेंधा नमक का लेप करने से लिङ्ग, हाथ, स्तन और कानों की वृद्धि होती है। —वही १७१।१७

४. कड़वा तेल, भिलावे और अनार के लेप से लिङ्ग खूब बढ़ता है। —वही १७६।१८

५. जो पुरुष स्त्री से मैथुन करने लगे वह अपनी लिङ्ग इन्द्रिय को बायें हाथ में पकड़कर स्त्री के बायें हाथ को वीर्य से लिस कर दे तो वह स्त्री वश में हो जाएगी। वह अन्य किसी पुरुष के पास मैथुन के लिए नहीं जाएगी। —वही १८०।३

६. सेंधा नमक, काला नमक, मछली का पित्ता—इन्हें घी और शहद में मिलाकर स्त्री अपनी भग पर लेप करे तो जो व्यक्ति उससे मैथुन करेगा वह और किसी स्त्री से सम्भोग नहीं करेगा।

७. शङ्खपुष्पी, वचा, जटामांसी, सोमलता आदि को लेकर और भैंस के मक्खन में इनका गुटका बनाकर स्त्री अपनी योनि में रक्खे तो दस बार प्रसूता हुई स्त्री भी फिर से कन्या बन जाती है। —वही १८०।६-८

८. सेंधा नमक और कबूतर की बीठ को रगड़कर शहद में मिलाकर यदि पुरुष लिङ्ग पर लेप करे तो स्त्री वश में हो जाए। —वही १८५।१६

९. जो व्यक्ति अपने वीर्य को बाएँ हाथ में निकालकर उससे स्त्री के बाएँ पैर पर लेपर कर दे तो वह उस स्त्री का प्यारा बन जाता है। —वही १८५।१५

भला! सनातनधर्म के जिन स्त्री-पुरुषों को इस प्रकार के लेपों का व्यसन हो, वे ऋषि दयानन्द के दूध बन्द करनेवाले लेप को कैसे पसन्द कर सकते हैं?

पोपजी—जब स्वामीजी यजुर्वेद में स्वयं ही लिखते हैं कि बालक को माता का ही दूध पिलाना चाहिए तो वेद की आज्ञा के विरुद्ध कौन मूर्ख व्यक्ति माता का दूध बन्द करके धायी का दूध पिलाना उचित समझ सकता है? स्पष्ट है कि स्वामीजी का यह लेख अपने ही वेदभाष्य के विरुद्ध है।

तोपजी—हम यह बात पीछे सिद्ध कर चुके हैं कि स्वामीजी के भाष्य में **'ही'** शब्द मिलाना पोपजी की शरारत है, अन्यथा स्वामीजी ने यजुर्वेद [१२।२] के भाष्य में स्पष्टरूप से धायी का विधान बतलाया है और दूसरे स्थान—यजुर्वेद [८।५१] के भाष्य में लिखा है कि 'बालक अपनी माता का दूध पीये' और अध्याय १२, मन्त्र २ में 'एक बालक को दो माता दूध पिलाती हैं'—ऐसा लिखा है, अर्थात् एक जननी माता—उत्पन्न करनेवाली और दूसरी धायी माता—दूध पिलानेवाली। इन दोनों मन्त्रों में कोई विरोध नहीं है। परिणाम यह है कि वेद की आज्ञा आवश्यकता होने पर धायी रखने की है। इसी का स्वामीजी ने वर्णन किया है, जो सर्वथा वेदानुकूल है। इसी का वर्णन सुश्रुत और गरुडपुराण ने किया है और इसी को वसुदेव ने आवश्यकतावश कृष्ण को एक बार भी देवकी का दूध न पिलाकर यशोदा का दूध पिलाते हुए क्रियात्मक रूप दिया है। हम तो इन पूर्वजों के लेखों और आचरण को वेद के अनुकूल समझते हैं। आप इस लेख लिखनेवाले सुश्रुत और व्यासजी को और

इसपर आचरण करनेवाले वसुदेवजी को चाहे मूर्ख कहें चाहे कुछ और गालियाँ दें, क्योंकि पौराणिक लोगों का पुराना व्यवसाय ही ऋषि, महर्षि और पूर्वजों को गाली देना है। हम तो आपकी इस वर्णन-शैली को बुरा ही समझते हैं।

पोपजी—शास्त्रार्थ में केवल इतने ही प्रश्न किये गये थे, जिनके उत्तर पं० लोकनाथजी तो न दे सके थे, परन्तु खेद! बड़ी डींग मारनेवाले लाला मनसारामजी भी सफल न हो सके।

तोपजी—पं० लोकनाथजी ने पं० श्रीकृष्णजी के प्रश्नों का न्यायशास्त्र के प्रमाण देकर दावा युक्ति और तर्कशून्य सिद्ध किया और पं० श्रीकृष्ण शास्त्री को ललकारा कि वेद के मन्त्र देकर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों को वेद के विरुद्ध सिद्ध करो, अन्यथा प्रतिज्ञाहानि-निग्रहस्थान में आकर तुम्हारी पराजय हो चुकी है। पं० लोकनाथजी के प्रबल प्रहार से पं० श्रीकृष्णजी सिर पर पाँव रखकर जाखल मण्डी से ऐसे भागे कि फिर कभी उधर की ओर मुँह करके भी सोने का साहस नहीं हुआ।

शेष रह गयी हमारी बात, सो प्रत्यक्ष में प्रमाण की क्या आवश्यकता है! हमारी छोटी-सी पुस्तक 'शास्त्रार्थ जाखल' ने पौराणिक पोपगढ़ की नींवें हिला दीं और हमारी पुस्तक को पढ़कर पौराणिकों का रोना, चीखना, हाय-हुल्लड़ मचाना, बेहूदा और अश्लील गालियाँ देना हमारी सफलता की मुँह बोलती तस्वीर है और सनातनधर्म की सारी शक्तियों का इकट्ठा होकर हमारी पुस्तक के उत्तर में 'सनातनधर्म विजय' जैसी झूठी, अश्लील, बेहूदा और मिथ्या वर्णनों से भरपूर पुस्तक प्रकाशित करना पौराणिक पोपगढ़ के दीवाले का प्रकट प्रमाण है।

१३. निष्कलङ्क दयानन्द

सिद्धान्त—

मौरवी राज्य टंकारा गाँव में संवत् १८८१ विक्रमी तदनुसार १८२५ में ऋषि दयानन्द का जन्म एक परम कुलीन, धनाढ्य, औदीच्य ब्राह्मणकुल में हुआ था। चूँकि इनके पिता श्री कर्षणजी त्रिवेदी कट्टर शैव थे, उन्होंने बहुत प्रयत्न किया कि उनका पुत्र मूलशङ्कर भी इसी शैवमत का माननेवाला बने, परन्तु उनके सारे प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुए। वे इस विचित्र पुत्र की विचित्र तर्क रखनेवाली बुद्धि के क्षेत्र (खेत) में मूर्त्तिपूजा की जड़ किसी प्रकार भी जमा न सके। उसे तो मृत्यु के जीतने और सच्चे शिव के दर्शन की धुन थी। उसके माता-पिता और धन-धान्य से भरे हुए घर में उस धुन को पूरा करने की शक्ति कहाँ थी? परिणाम यह हुआ कि वह शैशव-अवस्था में ही घर-बार छोड़कर विरक्त संन्यासी बन बैठा। वन-वन और पर्वत-पर्वत में वह शिव को ढूँढता फिरा और अन्त में उसकी इच्छा पूर्ण हुई। धौलगिरि के हिमाच्छादित उच्च शिखर पर उसे अपने अन्तर्हृदय में जगदाधार शिवशङ्कर के दर्शन हुए। इस समय योगसाधन और तीव्र वैराग्य होने पर भी बाल ब्रह्मचारी दयानन्द के हृदय में अनेक शङ्काएँ बनी हुई थीं। उन्हें दूर करने के लिए मथुरा पहुँचकर उन्होंने सच्चे गुरुवर विरजानन्दजी का शिष्यत्व प्राप्त किया। यहाँ गुरुकृपा से उन्होंने थोड़े समय में ही सब शास्त्रों की योग्यता प्राप्त कर ली और उनकी सब शङ्काएँ दूर हो गयीं।

सन् १८५७ के प्रसिद्ध स्वतन्त्रता-संग्राम की अग्नि की ज्वालाएँ उस समय मन्द पड़ चुकी थीं। शूरवीर नाना साहब और वीर सेनापति ताँत्याटोपे के प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हो चुके थे। बन्दनीया लक्ष्मीबाई युद्धभूमि में शत्रुओं के छक्के छुड़ाकर यमुना के तट पर अग्नि में भस्म होकर अपना बलिदान दे चुकी थी। सहस्रों देशभक्त स्वतन्त्रता की बलिवेदि पर अपना

जीवन बलिदान कर चुके थे। देशी सेनाएँ पराजित होकर इधर-उधर जा छुपी थीं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की धाक भारतवर्ष में जम चुकी थी। भूखे अंग्रेज सैनिक निर्दयता से निरपराध बच्चों और जवानों को पकड़-पकड़कर फाँसी पर लटका रहे थे। सारा भारतवर्ष अत्याचार की आग में धायँ-धायँ करके जल रहा था। पराजित भारतवासी भीरु कबूतर की भाँति आँखें बन्द किये हुए निराश बैठे थे। ऐसे समय में सहसा बन्धमोचक आर्यपुत्र दयानन्द की गम्भीर गर्जना सुनाई दी।

सारा देश उत्साह के साथ इस नवोदित सूर्य की ओर निहारने लगा। यद्यपि देशी सेनाओं के पराजय के समाचारों ने देशभक्त दयानन्द के हृदय को दुःखी कर दिया था, तथापि वे जानते थे कि जब तक हिमालय से लेकर लङ्का तक और कच्छ से ब्रह्मा तक सम्पूर्ण आर्यावर्त्त में एक धर्म, एक भाषा, एक उद्देश्य और एक वेश नहीं हो जाता, जब तक सैकड़ों वर्षों के पड़े हुए कुप्रभाव और देश को नष्ट करनेवाले अविद्यापूर्ण विचार दूर नहीं हो जाते तब तक भारतवासियों को स्वतन्त्रता के प्रत्येक संग्राम में पराजय मिलती रहेगी। इसीलिए ऋषि दयानन्द उन सभी दुष्ट विचारों, प्रथाओं और झूठे सिद्धान्तों के विरुद्ध तर्क और युक्ति का कुल्हाड़ा हाथ में लेकर निर्भीकतापूर्वक खड़े हुए थे। उनके इस महान् उद्देश्य को न समझकर मूर्ख जनता ने जहाँ-तहाँ उनका विरोध किया। उन्हें विष दिया गया। उन्हें मार डालने के षड्यन्त्र किये गये और कीचड़, ईंट, पत्थरों के द्वारा पग-पग पर उन्हें अपमानित और आहत (घायल) किया गया, परन्तु परोपकारी दयानन्द की तीव्रता कुछ भी मन्द न हुई। बाधाएँ आने पर वे और दृढ़, अटल और प्रचण्ड हो गये। उनके अन्तर्हृदय में उमड़ते हुए दयासिन्धु ने प्रत्येक शत्रु को क्षमा किया और लगातार तेईस वर्ष तक भारत के ग्राम-ग्राम, नगर-नगर में घूमकर सनातन वैदिक धर्म का सच्चा सन्देश सोती हुई और निराश जनता के कानों में गुँजा दिया। आर्यावर्त्त का कोना-कोना उस सच्चे सन्देश की गूँज से गूँज उठा, परन्तु अन्त में दिन का अन्त भी आ पहुँचा। अपनी तीव्र किरणों से सभी दिशाओं को आलोकित करके सूर्य पश्चिम में जाकर अस्त हो गया। सम्प्रदायवादियों का षड्यन्त्र अन्ततः काम कर गया। अपने रसोइए के हाथों दूध में पिसा हुआ काँच पीकर ऋषि दयानन्द दीपावली की सायंकाल अपनी इहलीला को समाप्त करके 'भगवन्! तेरी इच्छा पूर्ण हो' कहते हुए परमात्मा की गोद में चले गये।

जिस परोपकारी दयानन्द ने सम्पूर्ण संसार को प्रेम का महान् सन्देश सुनाने और वैर-विरोध के कारण उत्पन्न हुए दुःखों से मनुष्यों को छुड़ाने के लिए आज से (सन् १९३३) लगभग अर्ध शताब्दी पूर्व संगठन के मूलमन्त्र का उद्घोष भारतवर्ष के आकाश में किया था और जो दयानन्द जगत् में प्रेम, दया और भ्रातृभाव की दिव्य भावनाओं को पुनः प्रचलित करने और हानिप्रद भावनाओं को नष्ट करने के उद्देश्य से ही कार्यक्षेत्र में उतरे थे, ऐसे महापुरुष का आदर करना तो दूर रहा, कितने ही संकुचितहृदय मनुष्यों ने उन्हें अपमानित और कलङ्कित करने का घृणित प्रयास किया। पौराणिक, देवसमाजी, जैनी, मुसलमान और ईसाई सम्प्रदायों के कितने ही मनुष्यों ने अपने स्वार्थ में रोड़ा अटकता हुआ देखकर उन्हें सब प्रकार से कलङ्कित करने का प्रयत्न किया। इनके जन्म-स्थान, कुल, योग्यता और कहीं-कहीं अखण्ड ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में भी इन लोगों की क्षुद्र लेखनी ने अश्लील लेख लिखे और अब तक भी लिखे और लिखवाये जा रहे हैं।

दुर्भाग्य से ये प्रायः वे ही लोग हैं जिनके जीवन का उद्देश्य महापुरुषों को कलङ्कित और लाञ्छित करने के सिवाय और कुछ नहीं है। इन बेचारों (निःसहाय, निरुपाय) को नदियों के किनारों पर रहनेवाली टिटहरी की भाँति अपने निर्बल, छोटे और बोदे पन्थरूपी

शरीर पर प्रबल, दृढ़, शक्तिशाली और सच्चे वैदिक धर्मरूपी आकाश के गिरने की शङ्का सदा बनी रहती है, अतः वे अपनी मुँहफट, अश्लील लेखन और व्यर्थ की बकवासरूप निर्बल टाँगों को आकाश की ओर उठाकर अपने मिथ्या विचार से उसे रोकने का प्रयत्न किया करते हैं, परन्तु संसार जानता है कि उस असहाय, निर्बल, दीन-हीन, साम्प्रदायिक टिटहरी के प्रयत्नों से उस अनन्त, निर्मल वैदिक धर्मरूप आकाश की महिमा में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता, अपितु वह तो उसकी ओर दयापूर्ण दृष्टि से देखता हुआ परमात्मा से इस निःसहाय, निर्बल, साम्प्रदायिक टिटहरी के लिए उत्तम मेधाबुद्धि की मौन प्रार्थना ही किया करता है, तब फिर हम भी परम दयालु परमात्मा से इस प्रकार के संकुचितहृदय, निर्बुद्धि लोगों के लिए क्यों न मङ्गल बुद्धि ही की कामना करें। परमात्मा इन्हें सद्बुद्धि प्रदान करे!

—दयानन्द जन्मस्थान निर्णय तथा टंकारा शताब्दी

प्रकाशक—विजयशङ्कर मूलशङ्कर, मन्त्री—श्री दयानन्द जन्मशताब्दी सभा, बम्बई

—:o:—

पोपजी—लाला साहब का विचार शेखचिल्ली के काल्पनिक दुर्गों की भाँति ही कच्चा है। स्वामीजी की प्रशंसा आप ही न करें तो और कौन करेगा? महाशय! सनातनधर्म के ऋषि-मुनि आपके कहने से कलङ्कित नहीं हो सकते और स्वामीजी ठीक ही उनकी सूची में सम्मिलित होने के योग्य नहीं हैं।

तोपजी—हमारा लेख शेखचिल्ली के काल्पनिक दुर्गों (हवाई किले) के समान नहीं, अपितु चित्तौड़ के दुर्ग की भाँति पूर्णरूप से सत्य और दृढ़ है। किसी धर्म पर टीका-टिप्पणी करने के लिए उन्हीं पुस्तकों पर आक्षेप किये जा सकते हैं, जो पुस्तकें (ग्रन्थ) उस धर्म में प्रामाणिक माने गये हों और किसी धर्म के संस्थापक के उसी जीवन-चरित पर आक्षेप करके उस धर्म के संस्थापक पर आक्षेप किये जा सकते हैं जो जीवन-चरित उसी धर्मवालों ने अपने संस्थापक का लिखा हो। किसी धर्म के विरोधियों के लेखों में से प्रमाण प्रस्तुत करके उस धर्म अथवा उस धर्म के संस्थापक के जीवन पर आक्षेप करके अपने को सफल समझना ही शेखचिल्ली के काल्पनिक दुर्गों को विजित करने और हाथी के पैरों को पगों में चक्की बाँधकर हिरन का कूदना बताने की भाँति पागलपन का प्रमाण है। प्रत्येक धर्म के माननेवाले ऐसे बुद्धिमान् नहीं होते कि अपने पूर्वजों के इतिहास को रुचिकर, सुन्दर और शिक्षाप्रद रूप में लिखकर अपने पूर्वजों का नाम उज्ज्वल कर सकें। उदाहरण के रूप में पौराणिक धर्म को ही लीजिए। क्या पौराणिकों ने अपने पूर्वजों के इतिहास को अष्टादश पुराणों के रूप में लिखकर अपने पूर्वजों को जनता के समक्ष बुद्धिमान्, विद्वान् और सदाचारी प्रकट करके अपने पूर्वजों का नाम संसार में समुज्ज्वल किया है? कदापि नहीं! अपितु पौराणिकों ने तो अष्टादश पुराणों के रूप में अपने पूर्वजों का इतिहास लिखकर उन्हें मद्यप (शराबी), मांसभक्षी, व्यभिचारी, चोर आदि-आदि बताकर जनता के समक्ष उनकी भरपेट निन्दा की है।

मिश्रजी! निःसन्देह सनातनधर्म के ऋषि-मुनियों का हमारे कहने से कलङ्कित होना असम्भव था, परन्तु इस कमी को आपने स्वयं पूरा कर दिया और सनातनधर्म के पूर्वजों, ऋषि-मुनियों की काली करतूतों की काली तस्वीर स्वयं आपके पुराणों ने ही जनता के समक्ष प्रस्तुत कर दी। निःसन्देह ऋषि दयानन्द को पौराणिक ऋषियों की काली सूची में सम्मिलित नहीं किया जा सकता, क्योंकि आर्यसमाज की प्रामाणिक पुस्तकों में ऋषि दयानन्दजी को पूर्णरूप से निष्कलङ्क, बाल ब्रह्मचारी, योगी और परोपकारी वर्णित किया गया है, जैसाकि

हम ऊपर दिखा भी चुके हैं और स्वामी दयानन्दजी के चरित्र में इस प्रकार की एक भी बात मिलनी असम्भव है कि जिसके आधार पर ऋषि दयानन्दजी को तिरस्कृत किया जा सके।

पोपजी—स्वामीजी के जीवन की पवित्र करतूतें देखनी हों तो 'रमा-महर्षि-संवाद' नामक पुस्तक लेखक कविरत्न पं० अखिलानन्दजी महाराज, 'हिन्दू कार्यालय, अमरोहा, जिला कानपुर' से एक आना (छह नये पैसे) में मँगवाकर देख लें। इसके पढ़ने से ही आपकी पूरी सन्तुष्टि हो जाएगी। (इस 'रमा महर्षि संवाद' नामक पुस्तक को छपवाने का अधिकार श्री सनातनधर्म सभा फ्री ट्रैक्ट सोसाइटी, अमृतसर को मिल चुका है, जो आवश्यकता पड़ने पर प्रकाशित की जाएगी। यदि प्रेमी सज्जनों ने शीघ्र इच्छा प्रकट की तो शीघ्र भी सेवा की जा सकेगी)।

तोपजी—तनिक यह तो बता दिया होता कि क्या 'रमा-महर्षि-संवाद' पुस्तक के लेखक पं० अखिलानन्दजी आर्यसमाजी हैं या सनातनधर्मी? यदि सनातनधर्मी हैं तो उनके द्वारा लिखी हुई पुस्तक आर्यसमाज के लिए प्रामाणिक कैसे हो सकती है और उनकी पुस्तक का प्रमाण आर्यसमाज के समक्ष प्रस्तुत करना केवल अज्ञानता नहीं तो क्या है? क्या आप पं० अखिलानन्द की लिखी 'दयानन्द दिग्विजय', 'दयानन्द लहरी' आदि पुस्तकों को सनातनधर्म के लिए प्रमाण मानने के लिए तैयार हैं, जोकि उन्होंने आर्यसमाजी होते हुए स्वामी दयानन्दजी की प्रशंसा में लिखी थीं? यदि आप 'दयानन्द दिग्विजय' और 'दयानन्द लहरी' को प्रामाणिक मानने को तैयार नहीं हैं तो हम 'रमा महर्षि संवाद' को प्रमाण कैसे मान सकते हैं और इसका प्रमाण हमारे लिए क्या मूल्य रखता है?

यदि हम आपके लिए ईसाई और मुसलमानों की सनातनधर्म के विरुद्ध लिखी हुई पुस्तकों 'तोहफ़ा उल हिन्द', 'सीता का छिनाला', 'राम-परीक्षा', 'कृष्ण-परीक्षा', आदि-आदि पुस्तकों के प्रमाण दें तो क्या आप इन पुस्तकों को प्रमाण मानेंगे? कदापि नहीं। इसलिए सिद्धान्त यही है कि जो धर्म जिस पुस्तक को मुस्तनद मानता है, उसके लिए उसी पुस्तक का प्रमाण दिया जा सकता है, विरोधियों की लिखी हुई पुस्तकें प्रामाणिक नहीं मानी जा सकतीं। हम आपके लिए पुराणों का प्रमाण इसलिए देते हैं कि आप पुराणों को प्रामाणिक मानते हैं। यदि आप भी यह घोषणा कर दें कि पुराण हमारे लिए प्रामाणिक नहीं, अपितु ये सनातनधर्म के विरोधियों के लिखे हुए ग्रन्थ हैं, तो हम आज से ही आपके लिए पुराणों के प्रमाण देना तुरन्त बन्द कर देंगे।

पोपजी—जिस स्वामी के पिता का नाम और गाँव का नाम आज तक भी ज्ञात नहीं हुआ और जिसके कुल का जीवन-निर्वाह नाच और गाने पर निर्भर है, उस कलियुगी ऋषि की गिनती प्राचीन महर्षियों में किस प्रकार हो सकती है?

तोपजी—जब कोई व्यक्ति संन्यास लेता है तो उसका नाम परिवर्तित कर दिया जाता है तथा यज्ञोपवीत और चोटी भी उतार दी जाती है और कपड़े रङ्ग दिये जाते हैं। इसके पश्चात् उसका गुरु ही माता-पिता और कुल होता है। संन्यास-आश्रम की मर्यादा के अनुसार उन्हें पिछला कुल और माता-पिता आदि का नाम बताने का निषेध होता है। स्वामी दयानन्दजी को अपना पिछला वंश और नाम-धाम बताने में पहली रुकावट तो यह थी; और दूसरी रुकावट का वर्णन उन्होंने स्वयं किया है कि ऐसा करने से मैं देश के उपकार का काम न कर सकूँगा; इसलिए स्वामीजी ने अपने पूर्व-वंश और नाम-धाम का लोगों को पता नहीं दिया। बाद में बहुत-से लोगों ने छान-बीन की और अन्ततः आर्यसमाज ने टंकारा में एक बहुत बड़ा उत्सव मनाया तथा पूर्णरूप से अन्वेषण किया और स्वामी दयानन्दजी

के वंश, सम्पत्ति व मन्दिर, घर तथा सम्बन्धियों का पता लगा लिया और शताब्दी के मन्त्री की ओर से एक पुस्तक प्रकाशित की गयी जिसका नाम **'दयानन्द जन्म-स्थान निर्णय'** है। इसमें ठोस, लिखित प्रमाणों के साथ यह सिद्ध कर दिया गया है कि स्वामीजी का पहला नाम मूलशङ्कर और उनके पिता का नाम कर्षणजी त्रिवेदी था। वे औदीच्य ब्राह्मण थे। वे बहुत धनाढ्य थे। वे टंकारा के बहुत बड़े जमेदार होने के साथ-साथ रियासत की ओर से कलैक्टर नियत थे और उनके अधीन रियासत के पर्याप्त सिपाही भी रहते थे। पूर्ण अन्वेषण के पश्चात् अब ये बातें सर्वथा निश्चित हो चुकी हैं और अब स्वामीजी के पूर्ववंश तथा नाम-धाम के सम्बन्ध में तनिक भी सन्देह नहीं है। जिसे यह पुस्तक पढ़नी हो वह विजयशङ्कर मूलशङ्कर, मन्त्री दयानन्द-जन्मशताब्दी, बम्बई से मँगाकर पढ़ सकते हैं।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि 'दयानन्द-जन्मशताब्दी टंकारा' ने स्वामीजी के वंश, पिता, निवास-स्थान आदि का पता पूर्णरूप से लगा लिया है तथापि यदि स्वामीजी के वंश का पता न भी हो तो इससे स्वामी दयानन्दजी पर क्या दोष आता है? आर्यसमाज वर्णों और आश्रमों को गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार मानता है, जन्म से नहीं। यदि स्वामीजी का जन्म किसी नीच-से-नीच कुल में भी मान लिया जाए तो भी आर्यसमाज मानता है कि ऋषि दयानन्द गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार ब्राह्मण, संन्यासी, ऋषि और महर्षि थे। स्वामीजी का किसी नीच कुल में पैदा होकर भी ब्राह्मण और महर्षि की पदवी प्राप्त करना आर्यसमाज की दृष्टि में प्रशंसनीय है, न कि निन्दनीय। यदि व्यासजी धीवरी के पेट से, पराशर चाण्डाली के पेट से, वसिष्ठजी कंजरी के पेट से, मन्दपाल मुनि मल्लाहिन के पेट से और वाल्मीकि मुनि भीलनी के पेट से पैदा होकर ब्राह्मण और ऋषि-मुनि बन सकते हैं तो स्वामीजी को ब्राह्मण और ऋषि-मुनि मानने में क्या रुकावट हो सकती है?

अब रह गयी यह बात कि स्वामीजी के कुल का जीवन-निर्वाह नाचने और गाने पर निर्भर था। यद्यपि यह सर्वथा ग़लत है और आर्यसमाज की किसी भी प्रामाणिक पुस्तक में लिखा हुआ नहीं है तथापि इससे स्वामीजी के जीवन पर क्या आक्षेप आता है? स्वामी दयानन्दजी के पिता सनातनधर्मी थे और सनातनधर्म में नाचने को बुरा नहीं समझा जाता, परिणामस्वरूप कृष्णजी गोपियों के साथ खूब नाचते थे। महादेवजी डमरू बजाकर नाचा करते थे। अर्जुन ने विराट के महलों में विराटकुमारी को नृत्य करना सिखलाया। देवयानी नाचकर कच को प्रसन्न किया करती थी। राम भी नाचकर महादेवजी को प्रसन्न किया करते थे। इसके अतिरिक्त सनातनधर्म तो सिद्धान्तरूप से इसकी शिक्षा को प्रशंसनीय मानता है। अवलोकन कीजिए—

प्रातरुत्थाय यः शिष्यानध्यापयति यत्नतः। वेदं शास्त्रं नृत्यगीतं कस्तेन सदृशः कृती॥

—भविष्य० उत्तर० ४, १७४.१६

अर्थ—प्रात:काल उठकर जो गुरु अपने शिष्यों को प्रयत्नपूर्वक वेद, शास्त्र, नाचना और गाना सिखाता है, उस-जैसा श्रेष्ठ कौन हो सकता है?

फिर ऐसी स्थिति में यदि स्वामी दयानन्द के वंश का निर्वाह नाचने पर भी मान लिया जाए तो सनातनधर्म को आपत्ति क्या है? और फिर किसी के माता-पिता का उसके पुत्रों पर क्या आक्षेप? वसिष्ठ की माता कंजरी थी, परन्तु इससे वसिष्ठजी पर क्या आपत्ति हो सकती है? अत: स्वामी दयानन्दजी पर इनके जन्म अथवा इनके वंश के व्यवसाय के सम्बन्ध में आक्षेप करना सर्वथा निर्मूल है।

पोपजी—मुर्दा (शव) चीरनेवाले, **बैल में घुसनेवाले** और रमाबाई विधवा स्त्री को अपने खर्च से कलकत्ते से बुलाकर अपने पास रखनेवाले और एक वेश्या द्वारा यौवनावस्था में

बहुत बुरी भाँति मरनेवाले आपके स्वामी दयानन्द महाराज की गणना भला ऋषियों और मुनियों में कैसे की जा सकती है? परमात्मा ऐसे ऋषि से दूर ही रक्खे।

तोपजी—शव चीरना और वह भी वैद्यक की पुस्तकों में वर्णित शारीरिक बनावट की तुलना करने के लिए, यह कोई अपराध नहीं है। आजकल चिकित्सालयों में सैकड़ों शव चीरे जाते हैं और सनातनधर्मी, आर्यसमाजी और प्रत्येक मत-पन्थ को माननेवाले डॉक्टर शवों को चीरते हैं, इसमें आपने पाप क्या समझा जो आक्षेप करने पर उतारू हो गये? श्रीमन्! वैद्यक की पुस्तकों के साथ तुलना करने के लिए शव का चीरना पाप नहीं है, अपितु सनातनधर्म में जो अजामेध, गोमेध, अश्वमेध, नरमेध यज्ञों के नाम से बकरी, गौ, घोड़ा और मनुष्यों को मारकर उन्हें चीरकर उनकी चर्बी निकालकर हवन करने का विधान है, वह महापाप है। स्वामीजी का यह कर्म प्रशंसनीय और अनुकरणीय है।

दूसरी बात स्वामीजी का भङ्ग पीकर पत्थर के बने हुए अन्दर से खोखले बैल में घुसकर बैठना—यह भी कोई आक्षेप के योग्य बात नहीं है, क्योंकि उनका यह कर्म सनातनधर्मी होने के समय का है। सनातनधर्मी भङ्ग पीना पाप नहीं समझते, इसलिए सनातनधर्म के मन्दिरों में भङ्ग के खूब रगड़े लगते हैं और सनातनधर्म के कई उपदेशक भी पीते हैं। स्वामीजी ने यदि सनातनधर्म में रहते हुए भङ्ग पी हो तो इसका उत्तरदायित्व सनातनधर्म पर है न कि आर्यसमाज पर।

रही पत्थर के बैल की मूर्त्ति के पेट में घुसने की बात, यह भी कोई असम्भव बात नहीं है, क्योंकि पत्थर के बैल की इतनी बड़ी खोखली मूर्त्ति होना सम्भव है जिसके पेट में घुसकर मनुष्य बैठ या लेट सके। भला! इसमें आपत्तिजनक बात क्या हुई? यदि सनातनधर्म की पुस्तकों को देखा जाए तो उनमें इस प्रकार की असम्भव बातें मिल जाती हैं, जिनपर आक्षेप किया जा सके। उदाहरण के रूप में शिवपुराण, रुद्रसंहिता, युद्धखण्ड अध्याय ४७ और ४८ में लिखा है कि महादेवजी शुक्राचार्य को फल की भाँति निगल गये और शुक्राचार्य सौ वर्ष तक महादेवजी के पेट से बाहर निकलने का मार्ग खोजते रहे, परन्तु सफल न हो सके। अन्त में लिङ्ग-इन्द्रिय के मार्ग से बाहर निकले, तभी से उनका नाम शुक्राचार्य हुआ। भविष्य-पुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय १७ में वर्णित है कि इन्द्र अंगुष्ठमात्र छोटा-सा बनकर दिति के योनिमार्ग से उसके पेट में घुस गया और उसके गर्भ के टुकड़े-टुकड़े कर दिये तथा पुनः योनिमार्ग से बाहर निकलकर दिति को नमस्कार किया। कच शुक्राचार्य के पेट में प्रविष्ट हो गया और पेट चीरकर बाहर निकाला गया आदि-आदि। पुराणों में ऐसी सैकड़ों कथाएँ मिल सकती हैं। जिस सनातनधर्म में उपर्युक्त बातें सम्भव हो सकती हैं, उसे ऋषि दयानन्दजी के सनातनधर्म में होते हुए पत्थर के बने हुए खोखले बैल के पेट में घुस जाने पर आक्षेप करने का क्या अधिकार है?

तीसरी बात स्वामीजी की मृत्यु की है कि 'स्वामीजी यौवनावस्था में एक वेश्या के द्वारा बुरी भाँति मरे।' आर्यसमाज के ग्रन्थों में यह स्पष्ट लिखा है कि स्वामीजी महाराज ने जोधपुर में मुसलमानों और सनातनियों का खूब खण्डन किया। उधर राजा का एक वेश्या के साथ सम्बन्ध था। उसके महलों में आने का स्वामीजी को पता लगा तो स्वामीजी ने राजा को फटकारा, जिसपर राजा ने वेश्या को बुलाना छोड़ दिया। इसपर वेश्या रुष्ट हो गयी और हिन्दू तथा मुसलमान तो पहले ही रुष्ट थे। सबने षड्यन्त्र करके रसोइए के द्वारा पिसा हुआ काँच मिलाकर विष के साथ स्वामीजी को दिलवाया, जिससे स्वामीजी की मृत्यु हुई। भला! इससे स्वामीजी पर क्या आक्षेप आ सकता है? स्वामी शंकराचार्य को जैनियों ने विष दे दिया था, जिससे उनकी मृत्यु स्वामीजी से भी कम अवस्था में हुई। कृष्णजी

की मृत्यु एक भील का तीर लगने से हुई और श्री रामचन्द्रजी की मृत्यु सरयू में डूब जाने के कारण हुई। भला! बताइए तो सही, इसमें मरनेवालों पर क्या दोष लगाया जा सकता है? ऋषि दयानन्द का रसोइया विश्वासघाती सिद्ध हुआ, जिसने षड्यन्त्रकारियों से मिलकर ऋषि को दूध में पिसा हुआ काँच मिलाकर विष के साथ पिला दिया। इससे ऋषि दयानन्द पर क्या दोष मँढ़ा जा सकता है?

अब चौथी बात रमाबाईवाली रह गई। इसके सम्बन्ध में आर्यसमाज की पुस्तकों में लिखा है कि 'स्वामीजी को इस बात का बड़ा ध्यान था कि भारतवर्ष की स्त्रियों में प्रचार करके उनका सुधार किया जाए, परन्तु स्त्रियों में प्रचार के लिए किसी पढ़ी-लिखी स्त्री की आवश्यकता थी। इसी उद्देश्य से स्वामीजी रमाबाई से पत्र-व्यवहार कर रहे थे।' स्वामीजी का जो पत्र रमाबाई के नाम गया उसका अनुवाद नीचे दिया जाता है—

"मैंने सुना है कि आप विवाह के लिए स्वयंवरविधि से अपने तुल्य गुण-कर्म-स्वभाववाले किसी कुमार को चाहती हैं, यह सत्य है वा नहीं। क्या ऐसा किये बिना ब्रह्मचर्य में रहना कठिन है? जैसे आर्यावर्त्त की रहनेवाली सती विदुषी गार्गी आदि कुमारियाँ ब्रह्मचारिणी रहकर स्त्रियों को जितना लाभ पहुँचा गयीं, इतना विवाह करने पर अनेक रुकावटों के कारण नहीं पहुँचाया जा सकता। अपने समान उत्तम पुरुष को प्राप्त करके विवाह करके जैसे अनेक स्त्रियाँ सन्तानोत्पत्ति करके उनके पालन आदि गृहकार्यों में लगी रहती हैं, वैसी ही आपकी भी इच्छा है अथवा कन्याओं को पढ़ाने और स्त्रियों में उपदेश करने की इच्छा है? आप बङ्गदेश में ही रहती हैं और स्थानों में नहीं जातीं, इसका क्या कारण है? जितना उपकार सर्वत्र आने-जाने से हो सकता है, उतना एक स्थान पर रहने से नहीं होता, यह मेरा विश्वास है। यदि आपकी इच्छा हो कि उपदेश के लिए सर्वत्र यात्रा करें तो यहाँ के रहनेवाले आर्यपुरुष आपके सर्वत्र यात्रा के अर्थ और योगक्षेम के लिए धन का प्रबन्ध कर देंगे। इसमें कुछ भी शङ्का नहीं है।"

—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पूर्णसंख्या २९५

इसके उत्तर में रमाबाई ने जो पत्र स्वामीजी को भेजा उसका अनुवाद निम्न है—

"आपका पत्र मिला, हृदय को प्रसन्नता हुई। जैसाकि लोगों में प्रसिद्ध है मैं आज तक कुमारी हूँ और जब तक जीऊँगी कुमारी ही रहूँगी, यह मेरी इच्छा है। भविष्य में क्या होगा यह भाग्य की बात है, मैं नहीं जानती। सनातन भारतवर्ष की भूषण स्त्रीरत्न गार्गी आदि आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर और ब्रह्मविद्या पढ़कर जैसे अपनी जाति और देश की उन्नति कर गयीं, उनकी भाँति इतने बड़े कार्य का ग्रहण करना भी मेरी जैसी बालिका के लिए कठिन बात है। यह न हो सकेगा। मैं केवल आपकी सेवा में आकर दर्शन करना और ज्ञान प्राप्त करना चाहती हूँ।"

—वही, भाग ४, पूर्ण० १२४

इस पत्र-व्यवहार के पश्चात् रमाबाई मेरठ में आई तो स्वामीजी को पता लगा कि रमाबाई एक महाराष्ट्रियन की पुत्री थी। वह संस्कृत की पण्डिता थी। संस्कृत धाराप्रवाह बोलती थी। वह कुछ स्वतन्त्र विचारों की थी। वह बंगाली कायस्थ के साथ विवाह करना चाहती थी, अतः परिवारवालों ने उसे घर से निकाल दिया था। वह कलकत्ता से मेरठ आई थी। उस समय उसके साथ एक सेवक एक सेविका और एक बङ्गाली महाशय था। सम्भवतः वह वही था जिसके साथ वह विवाह करना चाहती थी। रमाबाई ने मेरठ में अनेक व्याख्यान दिये। उन दिनों में पं० भीमसेनजी, पं० ज्वालादत्तजी, पालीरामजी और श्रीमान् ज्योतिःस्वरूपजी ने स्वामीजी से वैशेषिकदर्शन पढ़ना आरम्भ किया था। श्रीमती रमाबाई भी साथ ही पढ़ा करती थी। स्वामीजी ने रमाबाई से कहा कि 'आपको छोड़कर मैंने आज तक

सामने बिठाकर किसी स्त्री को उपदेश नहीं किया। आपको सामने बिठाकर उपदेश सुनने का अवसर केवल इसलिए दिया गया है कि आप बड़ी पण्डिता हैं। सम्भव है कि मेरे वचन सुनकर आप सारा जीवन ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके अपने जीवन को स्त्रियों के उद्धार में लगा दें।' रमाबाई ने कहा कि 'महाराज! गृहस्थ लोग भी तो उपकार का काम कर सकते हैं।' स्वामीजी ने कहा कि 'गृहस्थ के धन्धों में फँसकर मनुष्य उतना उपकार का काम नहीं कर सकता।' जैसे बुखारवाले को सुन्दर भोजन भी अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार रमाबाई को वह उपदेश अच्छा न लगा और वह एक मास तक उपदेश सुनकर तथा पढ़कर कलकत्ता लौट गयी। जाते समय स्वामीजी ने उसे अपनी समस्त पुस्तकों की एक-एक प्रति दी और आर्यसमाज ने रमाबाई का यात्रा-व्यय और उत्साह-वृद्ध्यर्थ एक सौ पच्चीस रुपये रोकड़ा और दस रुपये का एक मूल्यवान् थान उसकी भेंट किया।

ये हैं वे घटनाएँ जो आर्यसमाज की पुस्तकों में अङ्कित हैं। प्रथम तो आपका यह कहना ग़लत है कि वह विधवा थी। उसने अपने पत्र में स्पष्ट लिखा है कि मैं कुमारी हूँ। दूसरे, उसके साथ दो पुरुष और एक स्त्री थी, जिनमें वह व्यक्ति भी था जो रमाबाई से विवाह करने का इच्छुक था और रमाबाई अपने साथियों-सहित नगर में रहती थी और स्वामीजी बाहर कोठी में रहते थे। अध्ययन के समय भी पं० भीमसेनजी आदि साथ पढ़ा करते थे और फिर स्वामीजी यह चाहते थे कि रमाबाई ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके भारतवर्ष की स्त्रियों में प्रचार का कार्य करे। भला! इसमें वह कौन-सी बात है जो आपत्तिजनक है? जब तक पुस्तकों में उस प्रकार के स्पष्ट शब्द विद्यमान न हों तब तक किसी भी स्त्री या पुरुष की नीयत पर सन्देह नहीं किया जा सकता। क्या साहस कि महर्षि दयानन्दजी के सम्बन्ध में इस प्रकार की शङ्का व सन्देह किया जा सके!

देखिए, सीता दस मास रावण के अधिकार में रही, परन्तु उसके चाल-चलन पर सन्देह नहीं किया जा सकता। ऐसे ही सीता वाल्मीकि की कुटिया पर अकेली रही और दो पुत्र भी वहीं उत्पन्न हुए, परन्तु इससे वाल्मीकि के चाल-चलन पर सन्देह नहीं किया जा सकता। राम सीता को लक्ष्मण के पास अकेली छोड़कर हिरन के पीछे चले गये, परन्तु इससे लक्ष्मण का चाल-चलन सन्दिग्ध नहीं माना जा सकता। विश्वामित्र की पुत्री शकुन्तला अकेली कण्व मुनि की कुटिया में रही। कुन्ती तेरह वर्ष तक विदुर के घर में रही। अर्जुन एक वर्ष तक अकेली उत्तरा कुमारी को विराटनगर में नाचना-गाना सिखाता रहा। देवयानी एकाकी कच को नाच-गान करके प्रसन्न करती रही, परन्तु क्या इससे कण्वमुनि, विदुर, अर्जुन और कच के चाल-चलन पर किसी प्रकार का सन्देह किया जा सकता है?

शिवपुराण, शतरुद्रसंहिता ३, अध्याय २८ में एक कथा आती है कि—"एक भील जङ्गल में कुटिया बनाकर अपनी स्त्री-सहित रहता था। उसका नाम आहुक था। उसकी स्त्री का नाम आहुका था। वे शिवजी के भक्त थे। एक बार शिवजी संन्यासी का रूप धारण करके उनकी कुटी पर गये। संन्यासी ने भील से कहा कि इस जङ्गल में हिंसक पशु बहुत हैं। मैं रात्रि में कुटी में रहूँगा, प्रातः चला जाऊँगा। आप मुझे स्थान दें, परन्तु भील ने कहा—'महाराज! स्थान बहुत कम है, तीन का निर्वाह नहीं हो सकता।' यह सुनकर संन्यासी जाने को तैयार हुआ तो भील की स्त्री ने भील से कहा कि मैं बाहर सो जाऊँगी, आप और संन्यासी अन्दर सो जाएँ, संन्यासी को निराश न करें। अन्ततः भील ने निश्चय किया कि स्त्री को बाहर छोड़ना ठीक नहीं और संन्यासी का निराश जाना भी अच्छा नहीं, अतः मेरी स्त्री और संन्यासी कुटी के अन्दर सोएँ और मैं बाहर रहूँ। तब भील अपनी स्त्री और संन्यासी को कुटिया में सुलाकर स्वयं हथियार लेकर बाहर बैठ गया। रात्रि में हिंसक पशु आये।

भील ने पर्याप्त मुक़ाबला किया, परन्तु अन्ततः उन हिंस्र पशुओं ने उस भील को मारकर खा लिया।''

यद्यपि इस कथा में एक संन्यासी का एक स्त्री-सहित कुटिया में सोने का वर्णन है, परन्तु किसी प्रकार के सन्दिग्ध लेख के बिना उस संन्यासी के चाल-चलन पर सन्देह नहीं किया जा सकता। ठीक इसी प्रकार महर्षि दयानन्दजी पर बिना किसी प्रकार की बात के शङ्का व सन्देह करना पाप है। स्वामीजी ने रमाबाई को केवल इसलिए बुलाया था कि वह ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके भारत की नारियों में प्रचार का कार्य करे, इसीलिए उसे पढ़ाना आरम्भ किया। वह अकेली नहीं थी और न ही अकेली पढ़ती थी और न ही स्वामीजी ने उस अकेली से कभी वार्त्तालाप ही किया, फिर ऐसी स्थिति में स्वामीजी पर किसी प्रकार का कलङ्क लगाना पौराणिक लोगों का पामरपन नहीं तो और क्या है ? हम पं० अखिलानन्दजी-रचित 'दयानन्द-दिग्विजय' से दो श्लोक यहाँ उद्धृत करते हैं, जिससे आपको पता लगेगा कि जो पं० अखिलानन्दजी इस समय स्वामीजी के विरुद्ध लिख रहे हैं, वे स्वामीजी के सम्बन्ध में क्या विचार रखते थे—

अभूदभूमिः कलिकालकर्मणामशेषसौन्दर्यनिवासवासवः।
जगत्त्रये दर्शितवेदभास्करप्रभो दयानन्द इति प्रतापवान्॥ ९॥

अर्थ—जिनमें कलिकालजन्य पापों का नाम तक नहीं, जो समस्त सुन्दरताओं के निवास से अति रुचिर थे, जो तीनों लोकों में वेदरूपी सूर्य का प्रकाश फैलाते थे, ऐसे परम प्रतापी एक ऋषि दयानन्द हुए।

विजित्य यो मन्मथप्रयत्नतो जितेन्द्रियत्वादिह योगमागतः।
तृतीयनेत्रज्वलनप्रयासितां जहास वेगान्नितरां कपर्दिनः॥ १०॥

—पं० अखिलानन्दकृत दयानन्ददिग्विजयम्, सर्ग १

अर्थ—योग को प्राप्त होकर जिन्होंने इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा सहज ही में कामदेव को जीतकर महादेव के तीसरे नेत्र से निकली हुई अग्निज्वाला से उसका भस्म होना हँस दिया। [अर्थात् तुच्छ बना दिया]।

इन श्लोकों से पता लगता है कि ऋषि दयानन्दजी तो वही पहले थे, वही अब हैं। इनमें तो कोई अन्तर नहीं आया, परन्तु पं० अखिलानन्दजी में ही अन्तर आ गया है और वे अब अपनी आत्मा में आये हुए ऐबों को पीलिया के रोगी की भाँति निष्कलङ्क दयानन्द में भी देख रहे हैं। परमात्मा इन पौराणिकों को सुमति प्रदान करें कि वे अपने पूर्वजों को कलङ्कित करने की पुरानी बुरी लत को छोड़कर सन्मार्ग पर आ जाएँ और पूर्वजों का आदर करते हुए देश, धर्म और जाति के लिए हितकर सिद्ध हो सकें।

पोपजी—पाठकगण! अब हम महाशयजी के उन प्रश्नों को लिखते हैं कि जिनमें उन्होंने कई ऋषियों और देवताओं को कलङ्कित करने का व्यर्थ प्रयत्न किया है।

तोपजी—ऋषि-मुनि और देवताओं को कलङ्कित करना हमारा अथवा आर्यसमाज का काम नहीं है। यह काम तो पुराणों और पौराणिक पण्डितों का है। हम शिवपुराण में से ऋषियों और देवताओं को कलङ्कित करनेवाला वह पाठ शब्दशः नीचे उद्धृत कर देते हैं। शिवपुराण उमासंहिता, अध्याय ४ में लिखा है कि ''शिवजी महाराज सब मनुष्यों से पूजने के योग्य हैं और उनकी माया कहने में नहीं आ सकती। यह सारा जगत् उनकी माया के अधीन है। शिवजी महाराज ने कामदेव की सहायता से विष्णु आदि सब शक्तिशालियों को रगड़ दिया है।''

१. शिव की माया से मोहित होकर विष्णु ने अनेक बार दूसरों की स्त्रियों से समागम किया।

२. देवताओं का राजा इन्द्र गोतम की स्त्री पर मुग्ध हो गया, उसके साथ पाप किया और मुनि के शाप को प्राप्त हुआ।

३. जगत् में श्रेष्ठ अग्नि को भी शिव की माया ने अभिमान के कारण काम के अधीन कर दिया और फिर उसने ही उसका उद्धार किया।

४. जगत् का प्राण-वायु भी शिव की माया से मोहित हो गया और उसने पर-स्त्री से सम्भोग किया।

५. प्रचण्ड किरणोंवाला सूर्य भी शिव की माया से मोहित हो गया। बहुत शीघ्र ही घोड़ी को देखकर काम से व्याकुल हो गया और घोड़े का रूप धारण किया।

६. चन्द्रमा भी शिव की माया से मोहित होकर काम में फँस गया और उसने गुरु की स्त्री तारा का हरण कर लिया तथा उससे समागम किया और उसने (शिव ने) ही उसका उद्धार किया।

७. प्राचीनकाल में घोर तप में बैठे हुए मित्र और वरुण भी शिव की माया से मोहित हो गये और युवति स्त्री उर्वशी को देखकर दोनों स्खलित हो गये। मित्र ने अपना वीर्य घड़े में डाल दिया और वरुण ने अपना वीर्य पानी में डाल दिया। तब घड़े से मित्र का पुत्र वसिष्ठ उत्पन्न हुआ और अग्नि के समान तेजवाला अगस्त्य मुनि वरुण का पुत्र हुआ।

८. ब्रह्मा का पुत्र दक्ष शिव की माया से मोहित हो गया और अपने भाइयों-सहित अपनी बहिन से भोग करने की इच्छा करने लगा।

९. और ब्रह्मा भी शिव की माया से मोहित होकर बहुत बार अपनी और दूसरों की पुत्रियों को भोगने की इच्छा करने लगा।

१०. महायोगी च्यवन भी शिव की माया से मोहित हो गया। उसने सुकन्या को हर लिया और उसके साथ कामभोग में मस्त हो गया।

११. कश्यप शिव की माया से मोहित होकर कामवश राजा सुधन्वा की कन्या को माँगने लगा।

१२. गरुड़ भी शिव की माया से मोहित होकर शाँडली-कन्या को ले-जाने की इच्छा करने लगा, उसे (शाँडली को) ज्ञात होने पर इसके (गरुड़ के) दोनों पक्ष (पंख) जल गये।

१३. विभाण्डक मुनि स्त्री को देखकर काम-मोहित हो गया। तब शिव की आज्ञा से उसका पुत्र ऋष्यशृङ्ग हिरनी से उत्पन्न हुआ।

१४. गोतम मुनि शिव की माया से मोहित होकर शारद्वती को नग्न देखकर बह गये। उनका वीर्य स्खलित हो गया। उन्होंने अपना वीर्य दोने में डाल दिया जिससे द्रोणाचार्य पैदा हुए।

१५. महायोगी पराशर को भी शिव की माया ने मोहित कर दिया और उन्होंने मल्लाह की पुत्री मत्स्योदरी से काम-क्रीड़ा की, जिससे व्यासजी की उत्पत्ति हुई।

१६. विश्वामित्र भी शिव की माया से मोहित होकर वन में काम के वशीभूत होकर मेनका से रमण करने लगा।

१७. रावण भी शिव की माया से मोहित होकर कामी बन गया और सीता को चुरा लाया।

१८. शिव की माया से मोहित बृहस्पति ने अपने भाई उतथ्य की गर्भवती स्त्री ममता से बलात् भोग किया जिससे भरद्वाज मुनि उत्पन्न हुए।

''यह महात्मा शङ्कर की माया का प्रभाव है जोकि मैंने वर्णित कर दिया है; और क्या सुनना चाहते हो?''

अब आपके उत्तरों को भी देख लेते हैं कि आप इन बातों का क्या समाधान करते हैं। ये आप लोगों के अपने ही बोये हुए काँटें हैं। हमारी मानो तो इन काँटों के वृक्ष अष्टादश पुराणों को जड़ से ही काट फेंको, तब आपका कल्याण हो सकेगा, अन्यथा व्यर्थ के मिष और बहानों से समाधान असम्भव बात है।

पोपजी—इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर हम पूर्व भी लिख चुके हैं कि अमैथुनी सृष्टि के अर्थात् मानसिक सृष्टि के जितने भी ऋषि-मुनि और देवता हुए हैं, उनकी उत्पत्ति विचित्र ही हुई थी। मैंने ऋग्वेद के मन्त्रों से और आर्यसमाज के वेदभाष्यकार माननीय पं० राजारामजी प्रोफेसर डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर के लेख के अनुसार कई ऋषियों और देवताओं की उत्पत्ति को अग्नि और जल व पात्र व कोयले व भस्म आदि से सिद्ध किया है। जब वेद वीर्य को अग्नि में डालने और पात्र व जल में डालने से ऋषियों की उत्पत्ति का उपाय बतलाता है तो उन्हीं ऋषियों की उत्पत्ति को पुराणों में उसी रूप में देखकर उपहास करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है?

तोपजी—हमारे प्रश्नों पर आपके बेहूदा उत्तरों का हम वहीं खण्डन कर चुके हैं कि अमैथुनी सृष्टि का नाम ईश्वरीय सृष्टि है; मानसी सृष्टि कोई होती ही नहीं, क्योंकि ईश्वर के मन नहीं होता और ऋषि-मुनि बिना स्त्री-सम्भोग के सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकते। इसलिए इनकी उत्पत्ति उसी प्रकार हुई है जैसे आजकल दूसरे मनुष्यों की उत्पत्ति होती है। विचित्र उत्पत्तियों का वर्णन करना पुराणों की गप्पाष्टक लीला है। हम पण्डित राजारामजी के अर्थ का भी वहीं खण्डन कर चुके हैं कि वह ग़लत और अनार्ष है और उसकी तुलना में ऋषि दयानन्दजी का भाष्य प्रस्तुत करके सिद्ध कर चुके हैं कि उन मन्त्रों में अग्नि, जल, पात्र, कोयला, भस्म आदि से ऋषियों की उत्पत्ति की चर्चा तक भी नहीं है और न ही वेद वीर्य को अग्नि, जल, पात्र आदि में डालने को ऋषियों की उत्पत्ति का साधन मानता है। इसलिए पुराणों के इस प्रकार के सब गपोड़े वेद के सर्वथा विरुद्ध और उपहास के योग्य हैं।

हमारी बुद्धिमत्ता पर सन्देह करना तो स्पष्ट आपकी ग़लती है, क्योंकि हमने तो पुराणों की गन्दी, बेहूदा, उपाहास योग्य बातों का उपहास उड़ाया है। हाँ, आपको अपनी मूर्खता पर रोने की महती आवश्यकता है, क्योंकि हम पूछ कुछ रहे हैं और आप पागलों की भाँति संज्ञा-शून्य होकर उत्तर कुछ दे रहे हैं। हमने तो पुराणों में वर्णित ऋषियों के चाल-चलन पर टीका-टिप्पणी की है और आप उत्तर में ऋषियों की उत्पत्ति का वर्णन कर रहे हैं। भला! बताइए तो सही आपके इस उत्तर का हमारे प्रश्न के साथ क्या सम्बन्ध है? इस समय हमें इससे सरोकार नहीं कि ऋषियों की उत्पत्ति कैसे हुई, अपितु प्रयोजन यह है कि पुराणों में उक्त ऋषि-मुनियों पर दुराचार का दोषारोपण किया गया है। जब पौराणिकों की यह अवस्था है कि वे अपनी ही पुस्तकों में अपने ही ऋषि-मुनियों का इस पराकाष्ठा तक अपमान कर सकते हैं तो यदि ये लोग ऋषि दयानन्दजी पर व्यर्थ, झूठे दोष लगाकर उन्हें कलङ्कित करने का प्रयत्न करें तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है?

पोपजी—स्वामी दयानन्दजी के सर्गारम्भ के जवान-जवान जोड़े माता-पिता के बिना ही पैदा होकर आपस में भाई-बहिन होते हुए अपने भाई-बहनों पर मस्त होकर विवाह

करके सन्तान उत्पन्न करें तब महाशय साहब चूँ तक न करें, परन्तु ब्रह्मा के पुत्र दक्ष आदि जोकि सर्गारम्भ के ऋषि थे, उनके जीवन के सम्बन्ध में आलोचना करने के लिए तुरन्त तैयार हो जाएँ?

तोपजी—हम चकित हैं कि आपकी बुद्धि ठिकाने है या नहीं। जब आप स्वयं स्वीकार कर रहे हैं कि सर्गारम्भ के जवान-जवान जोड़े माता-पिता के बिना उत्पन्न होते हैं तो फिर इनका भाई-बहिन का रिश्ता कैसे हुआ? श्रीमन्! बहिन-भाई आदि के रिश्ते नस्ली (कुल, गोत्र) सम्बन्ध से हुआ करते हैं; वे मैथुनी सृष्टि में ही हो सकते हैं। अमैथुनी सृष्टि में कोई किसी के बीज या गर्भ से पैदा नहीं होता, अतः उनके परस्पर नस्ली सम्बन्ध न होने के कारण उनके भाई-बहिन आदि के रिश्ते नहीं होते, परन्तु दक्ष तो ब्रह्मा का नस्ली पुत्र था। वह ब्रह्मा के वीर्य और शरीर से उत्पन्न हुआ था और सरस्वती भी ब्रह्मा के शरीर से पैदा हुई थी, अतः दक्ष और सरस्वती का वंशगत सम्बन्ध होने से भाई-बहिन का रिश्ता था। सर्गारम्भ में उत्पन्न होनेवाले जवान-जवान जोड़ों में भाई-बहिन का वंशगत रिश्ता न होने के कारण उनका आपस में विवाह आक्षेप योग्य नहीं, परन्तु दक्ष और सरस्वती का वंशगत रिश्ता होने के कारण आपस में भाई-बहिन का सम्बन्ध था। ऐसी स्थिति में दक्ष का अपनी बहिन पर अनुरक्त होना आक्षेप योग्य है।

पोपजी—'रमा-महर्षि-संवाद' के अनुसार स्वामी दयानन्दजी रमाबाई पर मस्त होकर उसे अपने खर्च पर कलकत्ते से बुलाएँ और अपने पास रक्खें, प्रत्युत उसके धर्म को बलात् नष्ट करें, तब मौन धारण कर लें, परन्तु पुराणों पर बगलें बजाएँ [खूब खुशी मनाएँ]!

तोपजी—'रमा-महर्षि-संवाद' कोई आर्यसमाज की पुस्तक नहीं है, अपितु आर्यसमाज के विरोधी पण्डित अखिलानन्द की बनाई हुई है, जिसमें किसी आर्यसमाज की पुस्तक का सन्दर्भ अङ्कित नहीं है। इसलिए इसका उद्धरण प्रस्तुत करना केवल मूर्खता, अज्ञान और बेहूदापन है। किसी के धर्म को बलात् भ्रष्ट करना सनातनधर्म का ही पुरातन व्यवसाय है, आर्यसमाज या ऋषि दयानन्द का नहीं। बृहस्पति ने ममता का, चन्द्रमा ने तारा का, पराशर ने सत्यवती का, सूर्य ने कुन्ती का और ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव—तीनों ने अनसूया का धर्म बलात् नष्ट किया। हम पोपमण्डल को डङ्के की चोट चैलैंज करते हैं कि वे आर्यसमाज की किसी पुस्तक से ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में एक शब्द भी ऐसा निकालकर दिखाएँ कि जिससे ऋषि के जीवन पर कोई दोषारोपण हो सके, अन्यथा निष्कलङ्क दयानन्द को अपने पौराणिक, काली करतूतें करनेवाले ऋषि, देवता और अवतारों में सम्मिलित करने का व्यर्थ प्रयत्न न करें।

पोपजी—अस्तु, महाशय साहब! ऋषि-मुनियों और देवताओं के चरित्रों की तुलना मनुष्यों से करना अनुचित है। ये सब अमैथुनी सृष्टि के होने के कारण मानवधर्म के सिद्धान्तों के पालन करने के लिए बाध्य नहीं हो सकते, चूँकि देवयोनि भोगयोनि है। भोगों को भोगने के लिए ही देवयोनि पूर्वजन्मों के कर्मों के अनुसार मिला करती है।

तोपजी—आप भी विचित्र सिद्धान्तविहीन व्यक्ति है! क्या ऋषि-मुनि और देवता मनुष्य नहीं होते? और क्या अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न होनेवाले भी मनुष्य नहीं होते? और क्या ये दोनों ही मानवता से बहिष्कृत हैं? वाह महाराज! पुस्तक का उत्तर लिखने खूब बैठे कि सब ऋषि-मुनियों को मानवता से ही वञ्चित कर दिया। अजी श्रीमन्! ऋषि-मुनि, देवता और मनुष्य सब वैदिक धर्म के नियमों में आबद्ध हैं। यदि आबद्ध न हों तो इन्हें दण्ड न मिले। विष्णु को वृन्दा से सम्भोग करने का दण्ड मिला कि वे पत्थर हो गये। ब्रह्मा को पुत्री के पीछे भागने का दण्ड मिला कि उसका पाँचवाँ मुख लुप्त हो गया और पूजा बन्द

हो गयी। इन्द्र को अहल्या के साथ भोग का दण्ड मिला कि उसके अण्डकोश गिर गये, आदि-आदि। यदि ये मनुष्य की भाँति वैदिक धर्म से आबद्ध न होते तो इन्हें दण्ड क्यों मिलता? भोगयोनि तो पशु-पक्षी हैं, जो पिछले कर्मों का फल भोगते हैं और कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं हैं। ऋषि-मुनि और देवता पशुओं की भाँति भोगयोनि नहीं हैं, अपितु वे कर्म, और भोगयोनि, अर्थात् उभययोनि हैं, जो कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र हैं, अतः आपकी उपर्युक्त कल्पना सर्वथा ग़लत है।

पोपजी—यदि च्यवन ऋषि ने व कश्यप ऋषि ने तथा गरुड़ ने कामवश होकर राजाओं की कन्याओं से विवाह कर लिया तो इसमें बुराई की बात ही क्या है? इनमें से किसी ऋषि ने भी आपके स्वामी की भाँति किसी विधवा का धर्मभ्रष्ट तो नहीं किया था, जिसके पूर्ण वृत्तान्त उपर्युक्त पुस्तक (रमा-महर्षि-संवाद) से स्पष्ट प्रकट हैं।

तोपजी—हम सिद्ध कर चुके हैं कि उपर्युक्त पुस्तक 'रमा-महर्षि-संवाद' सनातनधर्म के पण्डितों की ही बनाई हुई है, जिसमें अष्टादश पुराणों की भाँति ही ऋषि दयानन्दजी को कलङ्कित करने का प्रयत्न किया गया है। इसका लेख सर्वथा असत्य, निराधार और बेहूदा है। आर्यसमाज इसका उत्तरदायी नहीं है।

रही बात च्यवन व कश्यप ऋषि और गरुड़ की, सो यदि इन महानुभावों ने राजाओं की कन्याओं से विवाह किया होता तो इसमें आपत्तिजनक बात ही क्या थी? आक्षेपजनक बात तो यही है कि उन्होंने विवाह से पूर्व ही बलात् कुकर्म किया। इस अध्याय में कहीं भी नहीं लिखा कि उन्होंने विवाह किया। यदि विवाह किया होता तो गरुड़ के पंख क्यों भस्म हो जाते? और च्यवन के विषय में यह क्यों लिखा गया कि उसने सुकन्या को हर लिया? तथा कश्यप के सम्बन्ध मे यह क्यों लिखा कि इसने राजा से कन्या की याचना की।

अब रह गयी धर्मभ्रष्ट करने की बात, तो हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि पौराणिक ऋषि-मुनि और देवताओं को बलात् धर्मभ्रष्ट करने के सिवाय और आता ही कुछ नहीं था। इनके पूर्ण वृत्तान्त अष्टादश पुराणों में स्पष्ट प्रकट हैं।

पोपजी—काम के अधीन हुए बिना तो मनुष्य को विवाह करने की इच्छा ही नहीं हो सकती। कहिए, महाशय! आपके वेद की आज्ञा के अनुसार जब जवान लड़कियों का स्वयंवर होता है, तो क्या उस समय उन्हें अथवा इकट्ठे हुए-हुए जवानों में काम की इच्छा नहीं होती? कौन ऐसा शरीरधारी है जो काम के अधीन नहीं होता? क्या आक्षेप करनेवाले साहब ने काम से मस्त हुए बिना ही अपना.....विवाह किया था?

तोपजी—हम विवाह के सम्बन्ध में आपसे प्रश्न नहीं कर रहे। हम तो जारकर्म और पर-स्त्री से व्यभिचार के सम्बन्ध में प्रश्न कर रहे हैं। हमने शिवपुराण से जो सब ऋषियों के आचरण की सूची एक ही स्थान पर दी है, क्या उसमें एक के भी विवाह करने की चर्चा है? कदापि नहीं। वहाँ तो व्यभिचार, पर-स्त्री-गमन, पर-स्त्री-हरण और स्खलित होने के वृत्तान्त हैं और इसी में शिव की माया की प्रशंसा है, फिर पता नहीं आप विवाहों की चर्चा क्यों ले-बैठे? क्या ममता से बृहस्पति का विवाह हुआ था? क्या पराशर से सत्यवती का विवाह हुआ था? और क्या वृन्दा से विष्णु का विवाह हुआ था? कदापि नहीं, अपितु इन बृहस्पति, पराशर और विष्णु ने ममता, सत्यवती और वृन्दा से बलात् व्यभिचार ही किया था। इसका उत्तर देने की कृपा करें। विवाह की आड़ में प्रश्नों का उत्तर देने से मुँह न छिपाएँ। पोपजी महाराज! स्वयंवर के लिए लड़के-लड़कियों का इकट्ठा होना या हमारा विवाह कराना आक्षेप के योग्य नहीं हो सकता। आक्षेप के योग्य तो किसी का भी व्यभिचार,

पर-स्त्री-हरण, पर-स्त्री-गमन और स्खलित होना ही हो सकते हैं।

पोपजी—शिवपुराण से अग्नि, वायु आदि देवताओं का व्यभिचार सिद्ध करना धोखा देना है। महाशय के विचार के अनुरूप उन्होंने किसी स्त्री से व्यभिचार नहीं किया। इन देवताओं के द्वारा स्त्रियों के भोग का वर्णन केवल पुराणों में ही नहीं आता अपितु अथर्ववेद काण्ड १४, अनुवाक ४ में स्पष्टरूप से वर्णित हुआ है कि अग्नि, वायु, जल, बृहस्पति आदि देवता प्रत्येक कुमारी कन्या को पहले भोगते हैं, इसीलिए इन देवताओं को स्त्रियों का पति अर्थात् रक्षक माना गया है। इस बात को लाला मनसाराम साहब ने नियोग प्रकरण में स्वयं भी स्वीकार किया है और तुलसीरामजी स्वामी ने भी 'भास्करप्रकाश' के नियोग प्रकरण में इस मन्त्र का यही अर्थ किया है, परन्तु इस मन्त्र का और पुराणों का यह तात्पर्य बिल्कुल नहीं कि ये देवता कन्याओं से व्यभिचार करते हैं, अपितु इसका भाव यह है कि अग्निदेवता अर्थात् सूर्य का प्रकाश और वायु अर्थात् हवा और जल देवता प्रत्येक स्त्री-पुरुष से भोग अर्थात् स्पर्श करते हैं और इन्हीं के स्पर्श से शरीर सुन्दर, दृढ़ और पूर्ण होता है, इसलिए इन्हें पति अर्थात् रक्षक बताया गया है। कोई ऐसी स्त्री या पुरुष नहीं, जिसके शरीर को अग्नि आदि देवता न भोगते हों, फिर बेहूदा कल्पना करना वेद और शास्त्रों से अनभिज्ञता को ही सूचित करता है।

तोपजी—शिवपुराण में तो स्पष्टरूप से इन देवताओं का काम के अधीन होकर दूसरों की स्त्रियों से व्यभिचार करने का ही वर्णन किया गया है। इससे इन्कार करना जनता को धोखा देना है। कृपा करके पुराणों की रक्षा करते-करते वेदों को कलङ्कित करने का प्रयत्न न करें। अथर्ववेद के चौदहवें काण्ड में केवल दो ही अनुवाक हैं और आप चौथे अनुवाक की बात कह रहे हैं। यदि आपका तात्पर्य चौथे काण्ड से हो तो उसमें इस प्रकार का कोई मन्त्र है ही नहीं जो देवताओं का स्त्रियों से भोगने का वर्णन करता हो; और न ही हमने अपनी पुस्तक में चौदहवें काण्ड का कोई मन्त्र दिया है और न पं० तुलसीरामजी ने ही ऐसे किसी मन्त्र के अर्थ किये हैं। पता नहीं आप लोगों को झूठ लिखते हुए लज्जा क्यों नहीं आती और आप लोग इतना उत्तरदायित्वरहित कार्य क्यों करते हैं। आपके लेख से प्रतीत होता है कि आपको उस मन्त्र से धोखा लगा है जो ऋषि दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के नियोग-प्रकरण में ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ८५, मन्त्र ४० लिखा है। वह मन्त्र यह है—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥

—ऋ० १०।८५।४०

अर्थ—हे स्त्रि! जो तेरा पहला विवाहित पति तुझे प्राप्त होता है उसका नाम सुकुमारतादि गुणयुक्त होने से सोम, जो दूसरा नियोग से प्राप्त होता है वह एक स्त्री से सम्भोग करने से गन्धर्व, जो दो के पश्चात् तीसरा पति होता है वह अत्युष्णतायुक्त होने से अग्निसंज्ञक और जो तेरे चौथे से लेकर ग्यारहवें तक नियोग से पति होते हैं, वे मनुष्य नाम से कहाते हैं।

इस मन्त्र में यह वर्णन है कि स्त्री को ग्यारह तक पति से नियोग करने की आज्ञा है। इसी बात को अधिक दृढ़ करने के लिए अथर्ववेद चौदहवें काण्ड में दूसरे अनुवाक का तीसरा मन्त्र इस प्रकार है—

सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेपरः पतिः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥

—अथर्व० १४।२।३

अर्थ—स्त्री पहले सोम की धर्मपत्नी बनती है और हे स्त्रि! तेरा जो दूसरा पति है उसका नाम गन्धर्व है, तेरे तीसरे पति का नाम अग्नि है और चौथे से आगे जो तेरे पति हैं, उनका

नाम मनुष्य है।

इन दोनों मन्त्रों में सोम, गन्धर्व, अग्नि और मनुष्य—ये चार नाम आते हैं जोकि क्रमशः स्त्री के पतियों के नाम हैं। इन मन्त्रों में न तो देवता शब्द का नाम व चिह्न है और न ही वायु, जल, बृहस्पति और सूर्य का वर्णन है और न ही इसमें देवताओं का स्त्रियों से भोग करने की लेशमात्र भी चर्चा है। फिर न जाने क्यों आप व्यर्थ में वेदों को पुराणों की शिक्षा के अनुरूप बताकर वेदों को कलङ्कित करने के दूषित प्रयत्न में लगे हुए हैं।

अजी! पौराणिक देवताओं की तो लीला ही विचित्र है। उन्हें किसी स्त्री की रक्षा तो क्या करनी थी, इतना ही पर्याप्त है कि उनके हाथों से पौराणिक देवियों का सतीत्व सुरक्षित रह सके। क्या वही सूर्य स्त्रियों की रक्षा करनेवाला है जिसने कुमारी कुन्ती के गर्भ कर डाला और क्या वही बृहस्पति स्त्रियों का रक्षक है, जिसने अपने बड़े भाई उतथ्य की गर्भवती स्त्री ममता से बलात् व्यभिचार किया? क्या वही वायु स्त्रियों की रक्षा करेगा, जिसने पर्वत की चोटी पर खड़ी हुई अञ्जनी के गर्भ कर डाला और कुन्ती को भीमरूप पुत्र दिया? और क्या वही अग्नि स्त्रियों की रक्षा करेगा कि जिसका ब्रह्मवैवर्त-पुराण खण्ड ४, अध्याय १३१ में वर्णन है कि—

"एक दिन सारे देवता स्वर्ग की सभा में बैठे थे। वहाँ पर अप्सराएँ नृत्य और गान कर रही थीं। सुन्दरी रम्भा को देखकर अग्नि का वीर्यपात हो गया। अग्नि ने लज्जा के कारण उसे वस्त्र से छिपा लिया। थोड़ी ही देर में वस्त्रों के अन्दर से सोने का ढेर चमकता हुआ दृष्टिगोचर हुआ जो बढ़ते-बढ़ते सुमेरु पर्वत बन गया। इसीलिए अग्नि को लोग 'हिरण्यरेतः' कहते हैं।"

और जिसका वर्णन शिवपुराण रुद्रसंहिता, कुमारखण्ड, अध्याय २ में यूँ आता है कि—

"महादेवजी पार्वती से भोग कर रहे थे कि देवताओं ने द्वार पर आकर आवाज़ लगाई। महादेवजी बाहर आये तो उनका पारा भूमि पर बह गया। अग्नि ने कबूतर बनकर उसे चुग लिया। ऋषियों की पत्नियाँ स्नान करके अग्नि तापने लगीं तो इन्हें अग्नि से गर्भ हो गया जिनसे कार्तिकेय का जन्म हुआ।"

कहिए, यदि आवश्यकता हो तो पुराणों से देवताओं की और भी करतूतें वर्णित कर दी जाएँ। क्या इन देवताओं से स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा की आशा की जा सकती है? हमने बिल्कुल ठीक लिखा है कि जिन पौराणिकों ने पुराणों में अपने ही देवी, देवता और ऋषि-मुनियों पर चोरी, जारी, ठगी, मद्यपान आदि का दोष लगाकर उन्हें कलङ्कित कर रक्खा है, उनसे क्या आशा हो सकती है कि वे ऋषि दयानन्द को कलङ्कित करने का प्रयत्न न करें?

पोपजी—विष्णु भगवान् का शिव की माया से काम के अधीन होने का तात्पर्य यह है कि विष्णु, अर्थात् सत्त्वगुणशक्ति शिव की माया अर्थात् तमोरूप शक्ति की माया के प्रभाव से सत्त्वगुण जब तमोगुणी हो जाता है तभी मनुष्य की काम में चेष्टा होती है और पुरुष काम से अन्धा हो जाता है। यह कथा मनुष्य को तमोगुण की निवृत्ति का ही उपदेश करती है।

तोपजी—बहुत खूब (अत्युत्तम)! यदि आप विष्णु के अस्तित्व से ही इन्कार कर देंगे और इस कथा को अलङ्कार बना देंगे तो आपके शालिग्राम और तुलसी की भी साथ में ही बिल्टी हो जाएगी। श्रीमन्! शिवपुराण में तो स्पष्ट लिखा है कि "विष्णु ने शिव की माया से मोहित होकर अनेक बार पर-स्त्रियों के साथ व्यभिचार किया।" शिवपुराण का संकेत उस विष्णु की ओर है, जिसने जलन्धर का रूप धारण करके वृन्दा से व्यभिचार किया

और वृन्दा के शाप से विष्णुजी शालिग्राम पत्थर बन गये तथा वृन्दा तुलसी बन गयी, जिनकी पूजा सनातनधर्म में आज भी प्रचलित है। शिवपुराण का संकेत उस विष्णु की ओर है जिसने ब्रह्मा और महादेव के साथ-साथ अनसूया को बलात् मैथुन के लिए पकड़ा था। शिवपुराण का संकेत उस विष्णु की ओर है जिसने अपनी माता से विवाह कर लिया था। फिर शिवपुराण का संकेत उस विष्णु की ओर है कि जिसने कृष्ण का रूप धारण करके सोलह हज़ार एक सौ आठ गोपियों से कामक्रीड़ा की, कुब्जा से भोग किया। कुब्जा को रात-भर इतना रगड़ा कि प्रातःकाल तक बेचारी के प्राण-पखेरू ही उड़ गये। यदि इन सब बातों को आप अलङ्कार बनाने का प्रयत्न करेंगे तो सनातनधर्म की तो लुटिया ही डूब जाएगी और फिर यह प्रकरण इस प्रकार का है कि यह ऐतिहासिक ढङ्ग से लिखा हुआ है, अतः इसका अलङ्कार बन ही नहीं सकता, अतः श्रीमन्! इन अलङ्कारबाज़ियों से सनातनधर्म की रक्षा हो चुकी!

पोपजी—लाला मनसारामजी द्वारा इन्द्रदेव का अहल्या से मैथुन करना, सूर्यदेव का घोड़ा बनकर घोड़ीरूप अपनी स्त्री से भोग करना, मित्र और वरुण का अप्सरा को देखकर मस्त होने से जल और पात्र में वीर्य डालकर अगस्त्य और वसिष्ठ को उत्पन्न करना और पराशर महर्षि का मल्लाह की पुत्री पर मुग्ध होने का वर्णन और विभाण्डक ऋषि के द्वारा ऋष्यशृङ्ग के उत्पन्न करने का वर्णन करके पुराणों को अश्लील सिद्ध करना और ऋषि-मुनियों को कलङ्कित करने का व्यर्थ प्रयत्न करना ही है। क्या रत्नों की चमक कभी धूलि उड़ाने से भी कम हो जाती है? कदापि नहीं। इन प्रश्नों के सर्वाङ्गपूर्ण उत्तर पहले लिखे जा चुके हैं। पाठक प्रश्न-संख्या ३, अर्थात् नियोग-प्रकरण में देख सकते हैं।

तोपजी—क्यों साहब! आपने यहाँ पर अलङ्कारबाज़ी को क्यों छोड़ दिया? यहाँ तो सारा प्रकरण एक ही है—शिवपुराण का एक ही अध्याय है। यदि वहाँ पर विष्णु नाम सत्त्वगुणी शक्ति और शिव नाम तमोगुण शक्ति का बन सकता है तो यहाँ भी तो किसी अलङ्कार की टाँग तोड़कर सूर्य, घोड़ी, मित्र, वरुण, अप्सरा, जल, पात्र, वसिष्ठ, पराशर, मल्लाह की पुत्री, विभाण्डक, हिरनी, ऋष्यशृङ्ग आदि शब्दों के भी कोई अर्थ करने थे? और यदि यहाँ पर ऐतिहासिक क्रम के कारण कोई अलङ्कार नहीं बन सकता तो आपका उपर्युक्त काल्पनिक अलङ्कार भी विष्णु को व्यभिचार के दोष से मुक्त नहीं कर सकता।

ऋषि-मुनियों को कलङ्कित करने का हमारा प्रयत्न नहीं है। हम तो इन ऋषि-मुनियों को निष्कलङ्क दयानन्द की भाँति निष्पाप समझते हैं, परन्तु ये आपके पुराणों की ही करतूतें हैं कि इन बहुमूल्य रत्नों को कीचड़, धूलि और गन्दगी में डालकर अपवित्र कर रक्खा है। यदि इनकी चमक को स्थिर रखने की इच्छा है तो इन्हें पुराणों की गन्दगी से निकालकर वैदिक धर्म के जल में धो डालिए। आपने-नियोग प्रकरण में इन पौराणिक कथाओं को सत्य सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया है हमने भी उसका सन्तोषजनक उत्तर वहीं दे दिया है कि ये पौराणिक दूषित कथाएँ वाममार्गी लोगों ने ऋषि-मुनि और देवताओं को कलङ्कित करने के लिए ही घड़ी हैं। इनका वेदों में नाम व चिह्न भी नहीं है।

पोपजी—लाला मनसारामजी ने चन्द्रमा का अपने गुरु बृहस्पति की स्त्री तारा से जो नियोग करने का वर्णन करके पुराणों की आलोचना की है, वह व्यर्थ है, क्योंकि यह आलङ्कारिक कथा है। इसके समझने के लिए बुद्धि की अधिक आवश्यकता है। हम पाठकों के ज्ञान के लिए इसकी व्याख्या कर देते हैं।

तोपजी—हमने अपनी पुस्तक में यह कहीं भी नहीं लिखा कि चन्द्रमा ने अपने गुरु की पत्नी तारा से नियोग किया, क्योंकि नियोग तो वेदानुकूल, पञ्चायत के नियमों को पूर्ण

करने पर आचरण में आनेवाली एक पवित्र विधि है और चन्द्रमा ने अपने गुरु की पत्नी तारा को बलात् पकड़कर उससे व्यभिचार किया। भला! इस घृणित कर्म की नियोग जैसी पवित्र प्रथा के साथ क्या तुलना! इस कथा को किसी भी स्थिति में अलङ्कार नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि इसके साथ चन्द्रवंशी कुल का सम्बन्ध है, जिसमें कि कुरु और पाण्डु हुए हैं। इस कथा को अलङ्कार मानने से इस वंश का अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकता। देखिए, यह कथा भविष्यपुराण उत्तरपर्व, अध्याय ९९ में वर्णित की गयी है कि—

"प्रजापति की पुत्री और वृत्र की बहिन तारा का विवाह बृहस्पति के साथ हुआ जोकि देवताओं का गुरु था। इसे (तारा को) एक बार चन्द्रमा ने देखा। वह इसके रूप पर मोहित हो गया और बोला कि तारे! शीघ्र आ, विलम्ब मत कर। तारा ने बहुत कहा कि मैं तेरे गुरु की पत्नी हूँ, परन्तु चन्द्रमा ने काम के वशीभूत होकर उसे बलात् पकड़ ही लिया और अपने घर में रख लिया। बृहस्पति ने सब देवताओं को इकट्ठा करके चन्द्रमा से लड़ाई की, परन्तु इसमें भी बृहस्पति हार गया। अन्ततः ब्रह्मा मध्यस्थ बना और चन्द्रमा को कहा कि गुरु की स्त्री उसे लौटा दो। चन्द्रमा स्त्री को ले-आया और कहा कि इसके जो गर्भ है, वह मेरा है, अतः लड़का मैं लूँगा। बृहस्पति ने झगड़ा किया कि लड़का मुझे मिलना चाहिए। अन्त में ब्रह्मा ने तारा से पूछा कि गर्भ किसका है? वह बेचारी लज्जा के कारण कुछ नहीं बोली और गर्भ को गिरा दिया। जब लड़का उत्पन्न हुआ तो ब्रह्मा ने उससे पूछा कि तू किसका है तो लड़के ने कहा—मैं चन्द्रमा का हूँ। अन्ततः ब्रह्मा ने निर्णय कर दिया कि लड़का चन्द्रमा को दे दिया जाए और स्त्री बृहस्पति को लौटा दी। दोनों प्रसन्नचित होकर अपने-अपने घर चले गये। इस लड़के का नाम बुध था।"

फिर भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय १७ तथा उत्तरपर्व अध्याय ५४ में लिखा है कि "बुध ने इला नाम की स्त्री से विवाह करके चन्द्रवंश कुल का सूत्रपात किया।"

अब हम आपकी बुद्धि की भी परीक्षा करेंगे कि आप इस ऐतिहासिक कथा का अलङ्कार किस प्रकार बना सकते हैं।

पोपजी—आकाशमण्डल के सितारों में एक मङ्गल नाम का सितारा भी है, जिसे 'सूर्यसिद्धान्त' नामक ग्रन्थ में पृथिवी का पुत्र कहा गया है, अर्थात् पृथिवी का कुछ भाग पृथक् होकर मङ्गल बना हुआ है। इसी प्रकार बुध सितारे को चन्द्रमा का पुत्र माना गया है। बृहस्पति सूर्य देवता का नाम है, क्योंकि चन्द्रमा स्वयं प्रकाश नहीं है अपितु सूर्य की सुषुम्णा नामक किरण के समागम से चन्द्रमा प्रकाशित होता है। ऐसा ऋग्वेद में वर्णन किया गया है और इसी बात का वर्णन पं० राजाराम ने निरुक्त के भाष्य में किया है। इसी रिश्ते से चन्द्रमा सूर्य का शिष्य माना जाता है। ग्रीष्म ऋतु में जबकि सूर्य अपनी प्रचण्डता में होता है तो सितारों में 'रोहिणी' नामक सितारा इसके निकट होने के कारण इसी रोहिणी तारे को बृहस्पति की पत्नी माना गया है और चूँकि शरद् ऋतु में रोहिणी तारा सूर्य के दक्षिण की ओर होने से दूर होकर चन्द्रमा के निकट प्रतीत होता है, इसलिए कहा जाता है कि चन्द्रमा ने बृहस्पति की स्त्री से समागम, अर्थात् मिलाप किया। इन्हीं के निकट बुध नाम का सितारा प्रकट होता है। आलङ्कारिक कथाओं के भाव को न जानने के कारण व्यर्थ आलोचना करना सरासर अज्ञान और स्वार्थ है।

तोपजी—शिवपुराण उमासंहिता, अध्याय ४ में पौराणिक ऋषि और देवताओं की काली करतूतों की सूची एक ही स्थान पर दी गयी है। यदि उस सारे अध्याय को ही अलङ्कार बनाया जाता तो सनातनधर्म के सब ऋषि और देवताओं का मलियामेट हो जाता। पोपजी

ने उस अध्याय में से कुछ का अलङ्कार बनाने का प्रयत्न किया है, जो सर्वथा ग़लत है, क्योंकि एक ही प्रकरण में से कुछ को अलङ्कार और कुछ को ऐतिहासिक स्वीकार करना केवल हठ और दुराग्रह है, अतः उपर्युक्त अलङ्कार ग़लत है। आपने लिखा है कि बृहस्पति नाम सूर्य का है, यह सर्वथा असत्य है। यदि नक्षत्रों में देखें, तो भी सूर्य पृथक् नक्षत्र है और बृहस्पति भिन्न तारा है। इसीलिए दोनों के नाम से बृहस्पति और आदित्य दो वार भी पृथक्-पृथक् हैं और यदि पौराणिक व ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखो, तो भी दोनों पृथक्-पृथक् हैं। सूर्य वह है जिसने कुमारी कुन्ती में गर्भाधान किया और जिससे कर्ण उत्पन्न हुआ, जिसने अपनी भतीजी संज्ञा से विवाह किया जिससे सूर्यवंश चला, जिसने घोड़ी से समागम किया। बृहस्पति वह है जिसने अपने बड़े भाई उतथ्य की गर्भवती स्त्री ममता से समागम किया, जिससे भरद्वाज पैदा हुआ। सूर्य और बृहस्पति को एक बताना जनता को धोखा देना है।

भला! चन्द्रमा को तो इसलिए सूर्य का शिष्य मान लिया गया कि चन्द्रमा सूर्य की किरण से प्रकाशित होता है, परन्तु पुराणों में बृहस्पति को सम्पूर्ण देवताओं का गुरु माना गया है, तो क्या सब सितारे सूर्य से ही प्रकाश लेते हैं? कदापि नहीं। इसलिए भी बृहस्पति सूर्य का नाम नहीं है, अतः आपका यह सारा बना-बनाया अलङ्कार बिगड़ गया और फिर आपने यह नहीं बतलाया कि बुध ने इला नाम की स्त्री से विवाह करके चन्द्रवंशी कुल का सूत्रपात किया—यह अलङ्कार में कैसे सङ्गत हो सकता है? क्योंकि इसी वंश में कुरु और पाण्डु हुए, क्या वे भी सब अलङ्कार ही थे? इसलिए श्रीमन्! पौराणिक ऐतिहासिक कथाओं को अलङ्कार बनाकर आपके पुराणों का अस्तित्व स्थिर रहना कठिन बात है। इस जोड़-तोड़ की अपेक्षा उन्हें वैसे ही नमस्कार करके विदा कर दो तो अधिक उत्तम है। इन अलङ्कारबाज़ियों से पौराणिक देवताओं को निष्कलङ्क सिद्ध करना कठिन कार्य है।

पोपजी—लाला साहब ने प्रश्न किया था कि ब्रह्मा अपनी पुत्री के पीछे व्यभिचार करने के लिए भागा। महाशय! इस कथा का वर्णन वेदों में भी इसी प्रकार मिलता है। देखिए, ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त १६४, मन्त्र ३३ और ऐतरेयब्राह्मण खण्ड ३३ और ३४, तथा शतपथब्राह्मण काण्ड १०, अध्याय २; निरुक्त अध्याय ४, खण्ड २१ में स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्मा अपनी पुत्री के पीछे-पीछे काम की इच्छा से भागा। कहिए, महाशय! आप तो इस कथा को प्रस्तुत करके पुराणों को अपवित्र किया करते थे, परन्तु यह कथा हूबहू आपके वेदों में से निकल आई। ऋग्वेद के मन्त्र का अर्थ निरुक्त में आर्यसमाजी विद्वान् राजारामजी ने भी यही किया है।

तोपजी—डूबते को तिनके का सहारा। भला! पोपजी से कोई पूछे कि पुराणों की दूषित और दुराचारपूर्ण कथा से उपर्युक्त प्रमाणों का क्या सम्बन्ध है? इन प्रमाणों में तो न कहीं ब्रह्मा का नाम व चिह्न है और न सरस्वती की चर्चा है, अपितु इन प्रमाणों में तो प्रजापति अर्थात् सूर्य, पृथिवी और मेघ आदि के द्वारा पदार्थविद्या का वर्णन है। हम पोपजी को डबल चैलैंज देते हैं कि वे उपर्युक्त प्रमाणों में से यह निकालकर दिखाएँ कि ब्रह्मा अपनी पुत्री सरस्वती के पीछे भागा, अन्यथा व्यर्थ में वेदों और शास्त्रों में पौराणिक कथाएँ बताकर जनता को धोखा देने की दूषित कुचेष्टा न करें।

पोपजी—केवल इतना ही नहीं अपितु उपनिषदों में भी वर्णन आता है कि ब्रह्मा ने सोचा कि मैं अकेला हूँ, मुझे अधिक होना चाहिए कि वह अपनी इच्छा से बहुत हो गया। तब उसने अपने शरीर के दो भाग किये, दाहिने भाग से पुरुष जिसे ब्रह्मा कहा जाता है और बायें भाग से सरस्वती नाम की स्त्री बनाई गयी, आदि-आदि।

तोपजी—हम चकित हैं कि आप लोगों को 'पुराणों की दूषित कथाओं का शास्त्रों में

विद्यमान होना' सिद्ध करने का पागलपन क्यों हो गया है? भला! उपनिषद् जैसी ब्रह्मविद्या की पुस्तकों में इस प्रकार की अश्लील, भ्रष्ट और बेहूदा कथाएँ कैसे हो सकती हैं? आपने अपनी निर्बलता को छिपाने के लिए उपनिषद् का सन्दर्भ नहीं दिया कि कौन-से उपनिषद् में कहाँ पर ब्रह्मा और सरस्वती का वर्णन है; परन्तु हम आपको बताना चाहते हैं कि इस प्रकार का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् के चौथे ब्राह्मण में आता है, किन्तु वहाँ ब्रह्मा और सरस्वती का नाम व चिह्न भी नहीं है और न ही पीछे भागने का वर्णन है। इस स्थान पर तो केवल ब्रह्म से ही संसार के उत्पन्न करने का वर्णन है।

पोपजी—ब्रह्मा ने सरस्वती को सृष्टि उत्पन्न करने के लिए ही अपने शरीर से उत्पन्न किया था। केवल पुत्री कहनेवालों से हम पूछते हैं कि यदि सरस्वती वस्तुतः ब्रह्मा की पुत्री थी, तो उसकी माँ कौन-सी थी, जिसके गर्भ से सरस्वती उत्पन्न हुई थी? केवल शरीर से उत्पन्न होने के नाते से सरस्वती को पुत्री मानना सर्वथा ग़लत है। ऐसा मानने पर तो पुरुष के शरीर से पैदा होनेवाली जूँएँ आदि अगणित जीव पुत्रियाँ माननी पड़ेंगी, जिनका मारना अपनी पुत्री का रक्त बहाने के तुल्य है।

तोपजी—निःसन्देह! ब्रह्मा अपनी पुत्री के पीछे भागा और भागा भी कामातुर होकर! यह कथा पुराणों में अनेक प्रकार से वर्णित की गयी है। पुत्री का नाम कहीं सरस्वती है, कहीं सन्ध्या है और कहीं शारदा है। हम सरस्वती को जो ब्रह्मा की पुत्री कहते हैं तो वह पुराणों के अनुसार ही कहते हैं। पुराणों में स्पष्टरूप से पुत्री लिखा हुआ विद्यमान है। देखिए, शिवपुराण रुद्रसंहिता, सतीखण्ड, अध्याय ३ में लिखा है कि "ब्रह्मा के मन से एक अत्यन्त सुन्दरी स्त्री उत्पन्न हुई। उसका नाम सन्ध्या था। उसके सौन्दर्य को देखकर ब्रह्मा और ब्रह्मा के पुत्र मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, अङ्गिरस, ऋतु, वसिष्ठ, नारद, दक्ष और भृगु आदि सब उस लड़की पर अनुरक्त हो गये और उसका सतीत्व भङ्ग करने को तैयार हुए तो सन्ध्या ने महादेवजी की सेवा में रक्षा के लिए प्रार्थना की"—

रक्ष रक्ष महादेव पापान्मां दुस्तरादितः। मत्पितायं तथा चेमे भ्रातरः पापबुद्धयः॥

—शिव० रुद्रसं० २—३।३५

अर्थ—हे महादेवजी! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो, क्योंकि मेरे पिता और मेरे भाई पाप की बुद्धिवाले हो गये हैं।

इस प्रार्थना को सुनकर महादेवजी प्रकट हो गये और ब्रह्मा को इस प्रकार डाँटा कि—

अहो ब्रह्मंस्तव कथं कामभावस्समुद्गतः। दृष्ट्वा च तनयां नैव योग्यं वेदानुसारिणाम्॥३९॥
यथा माता च भगिनी भ्रातृपत्नी तथा सुता। एताः कुदृष्ट्या द्रष्टव्या न कदापि विपश्चिता॥४०॥

—वही ३।३९।४०

अर्थ—अहो हे ब्रह्मन्! तुममें यह कामभाव कैसे उत्पन्न हो गया? वेदानुसार चलनेवालों के लिए यह योग्य नहीं है कि वे पुत्री को देखकर उसपर अनुरक्त हो जाएँ। जैसी माता, बहिन और भाई की पत्नी होती है, वैसी ही पुत्री होती है, इन्हें कुदृष्टि से कभी नहीं देखना चाहिए।

महादेव की यह डाँट सुनकर ब्रह्मा लज्जा से पानी-पानी हो गया। उसके पसीने से अग्निष्वात पितर पैदा हुए और सन्ध्या को देखकर लड़कों का जो वीर्य भूमि पर गिर पड़ा था, उससे भी अनेक प्रकार के पितरों के गण उत्पन्न हो गये।

यही वह प्रकरण है, जिसे दृष्टि में रखकर शिवपुराण ने लिखा है कि शिव की माया से मोहित होकर ब्रह्मा ने अपनी पुत्री से और दक्ष ने भाइयों-सहित अपनी बहिन से मैथुन

करने की इच्छा की। इस प्रकार पुराण स्वयं उसे ब्रह्मा की पुत्री और दक्ष की बहिन बता रहे हैं, न कि हम; अतः जो कुछ पूछना चाहें वह ब्रह्मा की पुत्री बतानेवाले पुराणों से ही पूछें। हमारी दृष्टि से तो लड़की का ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न होना पुत्री के रिश्ते के लिए पर्याप्त प्रमाण है।

जूँओं के उदाहरण ने तो आपकी योग्यता का भण्डा सरे-बाजार फोड़ दिया। बस, इसी तर्क के गर्व पर आर्य-पिण्डतों से मुक़ाबला करने का दम भरते थे? श्रीमन्! पुत्र और पुत्री उसका नाम है जो संसार में वंश-परम्परा को स्थिर रखने का आधार बने, जिससे सन्तति आगे चले। क्या जूँएँ मनुष्य-सन्तति को संसार में स्थिर रखने का साधन बन सकती हैं? कदापि नहीं, अतः जूँ आदि क्षुद्र जन्तुओं को पुत्र-पुत्री का पद नहीं दिया जा सकता और सरस्वती, शारदा या सन्ध्या अवश्य ही ब्रह्मा की पुत्री थी।

पोपजी—यदि शरीर से पैदा होनेवाली जूँएँ पुत्रियाँ नहीं मानी जा सकतीं तो शरीर से पैदा होने के कारण सरस्वती भी ब्रह्मा की पुत्री नहीं मानी जा सकती। सरस्वती ब्रह्मा की धर्मपत्नी थी और सृष्टि को उत्पन्न करने के लिए ही पैदा की गयी थी।

तोपजी—जूँएँ क्योंकि मानव-सन्तति को (वंश-परम्परा को) चालू रखने का साधन नहीं, अतः उन्हें पुत्रियाँ नहीं माना जा सकता और सरस्वती, शारदा अथवा सन्ध्या, क्योंकि वंश-परम्परा को स्थिर रखने में साधन सिद्ध हुई, अतः वह ब्रह्मा की पुत्री ही थी। भला! यह तो बतलाने की कृपा करें कि जब ब्रह्मा के शरीर से पैदा हुए मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, अङ्गिरस, क्रतु, वसिष्ठ, नारद, दक्ष और भृगु ब्रह्मा के लड़के और पुत्र थे तो ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न हुई सरस्वती या शारदा अथवा सन्ध्या ब्रह्मा की लड़की और पुत्री क्यों नहीं हुइ? श्रीमन्! वह लड़की थी तो ब्रह्मा की पुत्री ही, परन्तु यह ब्रह्मा की इच्छा पर निर्भर है कि वह उसे धर्मपत्नी बनाएँ, चाहे उससे सृष्टि उत्पन्न करें। ब्रह्मा ने ऐसा घृणित कार्य किया तभी तो पुराणों ने भी इसे प्रमाणित कर दिया और लिख दिया कि ब्रह्मा ने पुत्री से मैथुन की इच्छा की; और यदि यह कार्य घृणित न होता तो महादेवजी ब्रह्मा को क्यों डाँट बताते और लड़की क्यों महादेव से रक्षा की प्रार्थना करती तथा ब्रह्मा और उसके लड़के क्यों लज्जित होते? श्रीमन्! पुराणों की लीला ही अपार है! इनमें बेटी, बहिन और माँ से विवाह करके भी सन्तान उत्पन्न करना घृणित नहीं है।

पोपजी—स्वामी दयानन्दजी के इकट्ठे उत्पन्न हुए-हुए जवान-जवान जोड़ों ने भाई-बहिन होने पर भी परस्पर विवाह करके सन्तान उत्पन्न की और उनके लड़के-लड़कियों को भी अपने ही गोत्र और कुल में विवाह करने पड़े। आपके मत में भी भाई-बहनों का विवाह हो तो कोई शङ्का नहीं, परन्तु ब्रह्मा और सरस्वती के इतिहास पर ही शङ्का करना पक्षपात है।

तोपजी—हम बार-बार लिख चुके हैं कि सर्ग के आरम्भ में (आदि-सृष्टि में) जवान-जवान जोड़े किसी के शरीर से उत्पन्न नहीं हुए थे, अतः इनका परस्पर वंशगत रिश्ता नहीं था और न ही कोई किसी की माँ, बहिन, बेटी थी। आपस में विवाह करने के पश्चात् जब इनके सन्तानें हुईं तो उन सन्तानों के विवाह भी एक-दूसरे की सन्तानों के साथ हुए; उनके गोत्र और वंश एक नहीं थे, क्योंकि वे एक ही पूर्वज की सन्तति नहीं थे, अतः वैदिक धर्म पर यह आक्षेप नहीं हो सकता, पौराणिक मत पर हो सकता है, क्योंकि इसमें एक ही पूर्वज की सन्तानों में विवाह वैध है।

पोपजी—सृष्टि के आरम्भ में तो सब मतों में यही बात पाई जाती है। मुसलमान और ईसाइयों में भी ईश्वर ने एक मुट्ठीभर धूलि से आदम को बनाया और आदम की बाईं पसली

से माई हव्वा उत्पन्न हुई। यह भी आपके विचार के अनुसार आदम की पुत्री मानी जानी चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं। तो फिर क्या आदम ने इसी लड़की हव्वा से विवाह करके सन्तान उत्पन्न की? नहीं; वह उनकी स्त्री थी जैसीकि सरस्वती ब्रह्मा की धर्मपत्नी थी। यह तुम्हारी समझ का फेर है। संसार में कोई ऐसा मत या पन्थ नहीं जिसमें आरम्भिक सृष्टि के ऐसे विवाहों का वर्णन न हो, तो पिर ब्रह्मा पर टीका-टिप्पणी करना और विष्णु भगवान् के सम्बन्ध में अपनी माँ से और शिवजी का अपनी बहिन से विवाह करने पर उनपर आक्षेप करना मूर्खता है।

तोपजी—आपके इस लेख को पढ़कर हमें संस्कृत का एक श्लोक स्मरण हो गया—

उष्ट्राणां विवाहेषु गीतं गायन्ति गर्दभाः। परस्परं प्रशंसन्ति अहो रूपमहो ध्वनिः॥

अर्थ—ऊँटों के विवाह में गधे गीत गाते हैं और परस्पर एक-दूसरे की प्रशंसा करते हैं। गधे ऊँटों की ओर संकेत करके कहते हैं कि क्या उत्तम रूप है और ऊँट गधों की ओर संकेत करके कहते हैं कि गाने में कैसे उत्तम स्वर है!

बस, यही स्थिति पुराण और कुरआन की है। आप कुरआन की शिक्षा का समर्थन और प्रशंसा करें और मुसलमान पुराणों की शिक्षा का समर्थन और प्रशंसा करें, क्योंकि सटल्लेबाज़ी में दोनों का विषय एक ही है। हमें आदम की उत्पत्ति पर कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में प्रत्येक को मनुष्यों की उत्पत्ति बिना माता-पिता के माननी पड़ती है, परन्तु हव्वा की उत्पत्ति पर हमारा वही आक्षेप विद्यमान है जोकि ब्रह्मा और उसकी पुत्री पर है, क्योंकि जिस धूलि से आदमी को उत्पन्न किया था क्या उसी धूलि से हव्वा और अन्य बहुत-सी स्त्रियों को उत्पन्न नहीं किया जा सकता था? जब हव्वा आदम के शरीर से उत्पन्न हुई तो वह भी आदम की पुत्री क्यों न हुई? इसलिए जैसे पौराणिक सृष्टि-उत्पत्ति असम्भव और बुद्धि के विरुद्ध है, वैसे ही कुरआन और इञ्जील में वर्णित सृष्टि की उत्पत्ति भी असम्भव और तर्कशून्य है। जैसे सरस्वती, शारदा या सन्ध्या ब्रह्मा की पुत्री थी, वैसे ही हव्वा भी आदम की पुत्री थी और जैसे हमारी आपत्ति ब्रह्मा पर है वैसी ही आदम पर भी है। यह आपकी मूर्खता है कि आप इस्लाम का उदाहरण देकर अपना स्पष्टीकरण करना चाहते हैं। संसार में वैदिक धर्म ही ऐसा है जिसमें इस प्रकार के विवाहों का वर्णन नहीं है, अतः ब्रह्मा का पुत्री से, विष्णु का माँ से, महादेव का बहिन से विवाह कराने पर टीका-टिप्पणी करनेवाले की मूर्खता नहीं, अपितु पूर्वजों के सम्बन्ध में इस प्रकार की बेहूदा बातें लिखनेवाले अट्ठारह पुराणों और उन्हें ठीक माननेवाले पौराणिक लोगों की अज्ञानता, मूर्खता और बेहूदापन है।

पोपजी—महाशय! जब भगवान् विष्णु और शिव महाराज को स्वामीजी ने भी ईश्वर माना है और वेदों में भी असंख्य मन्त्रों में ब्रह्मा, विष्णु और महादेव को ईश्वर माना गया है और इन सत्त्व, रज और तमोगुणवाली तीन शक्तियों को ब्रह्म माना जाता है तो फिर इनके माता-पिता मानना महा भूल है। आप विष्णु भगवान् के पिता का नाम नहीं बतला सकते और शिवजी के माता-पिता का नाम बतलाना भी असम्भव है और न ही उनके कोई माता-पिता थे तो फिर इनका माँ, बहिन और पुत्री से विवाह करने पर वादविवाद करना सरासर मूर्खता ही नहीं अपितु कमीनापन, मूढ़ता और अज्ञानता है।

तोपजी—स्वामीजी ने वेदों में आये हुए ब्रह्मा और विष्णु शब्दों को ईश्वर का गुणवाची नाम स्वीकार किया है। पुराणों में वर्णित शरीरधारी ब्रह्मा, विष्णु और शिव को परमेश्वर स्वीकार नहीं किया; और वेदों में भी ब्रह्मा, विष्णु और शिव शब्दों से पौराणिक देवताओं का वर्णन नहीं है, अपितु इन शब्दों से ईश्वर के गुणों का ही वर्णन किया गया है। यह

मूर्खता, कमीनापन, मूढ़ता, अज्ञानता और बेहूदगी भी पुराणों ने ही की है कि जिन्होंने ब्रह्मा, विष्णु और महादेव का पुत्री, माँ और बहिन से विवाह करना लिख दिया है और पुराणों ने इनके माता-पिता का भी वर्णन किया है। देखिए, भविष्य-पुराण में जहाँ सूर्य से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है, वहाँ सूर्य को ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव का पिता स्वीकार किया गया है; और जहाँ देवीभागवत में देवी से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गयी है, वहाँ देवी को ब्रह्मा, विष्णु और शिव की माता स्वीकार किया गया है और देवी से ही उत्पन्न हुई लड़कियों का उनसे विवाह होना भी लिखा है। पुराणों की इन्हीं कथाओं को दृष्टि में रखकर भविष्य-पुराण ने लिखा है—

स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा विष्णुदेवः स्वमातरम्। भगिनीं भगवान् शंभुर्गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात्॥

—भविष्य० प्रतिसर्गपर्व० ३, १८.२७

अर्थ—ब्रह्मा अपनी पुत्री को, विष्णु अपनी माता को और महादेव अपनी बहिन को धर्मपत्नी बनाकर श्रेष्ठ गति को प्राप्त हो गये।

निःसन्देह हम आपका समर्थन करते हैं कि पुराणों का ब्रह्मा, विष्णु और महादेव को शरीरधारी मनुष्य मानना और इनके माता-पिता आदि का वर्णन करना तथा इनके साथ इस प्रकार की अश्लील बातों का जोड़ना महाभूल है और मैं आशा करता हूँ कि आप इस भूल को शीघ्र ही छोड़कर वैदिक धर्म को स्वीकार करके अपने को कृतार्थ करेंगे।

पोपजी—लाला मनसारामजी ने बृहस्पति का अपने भाई की गर्भवती स्त्री ममता से भोग करके भरद्वाज की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए जो उपहास किया है, यह वेदों के मर्म को न समझने का दोष है। निर्मल और निर्भ्रान्ति बुद्धि से ही शास्त्रों का तत्त्व समझ में आता है।

तोपजी—श्रीमन्! सर्वथा सत्य बात है। हमने तो यह कथा पुराणों में ही पढ़ी है और आपके दादागुरु भरद्वाज की उत्पत्ति ही इस प्रकार हुई है, अतः जितना इस मर्म को आप जान सकते हैं, हम थोड़े ही समझ सकते है! हमारी मोटी बुद्धि के अनुसार तो देवताओं के गुरु बृहस्पति का भाई की गर्भवती स्त्री ममता से भोग करना, लड़के का अन्दर से मना करना, उसका (बृहस्पति का) बलात् समागम करना, वीर्य का गिरना और भरद्वाज का उत्पन्न होना—असम्भव-सी बात है। आप अपनी निर्मल बुद्धि से समझाने की कृपा करें।

पोपजी—संसार में नारीशक्ति और नरशक्ति कई रूपों में विद्यमान हैं। इन दोनों शक्तियों के संयोग का नाम मैथुन है। जैसे वृक्षों में मञ्जरी आदि नारीशक्ति है और उसी वृक्ष से उत्पन्न होने के कारण उसकी पुत्री मानी जाती है और वही वृक्ष अपनी नरशक्तिरूप श्वेत अंश से संयोगरूप मैथुन करता है, तभी फल लगते हैं, परन्तु इस वृक्ष को कोई भी व्यभिचारी नहीं कहता। उसी पुत्रीरूप मञ्जरी से वृक्ष पैदा हो जाता है, परन्तु इसे कोई बुरा नहीं समझता। जैसे गौ से बछड़ा उत्पन्न होता है, वही बछड़ा बड़ा होकर प्रायः उसी गौ से मैथुन करता है, परन्तु बछड़े और गौ को व्यभिचार का दोष नहीं लगता। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार तिर्यक्-योनि में शास्त्रों के बतलाये हुए पुण्य और पाप नहीं लगते इसी प्रकार मनुष्य-योनि से उच्च देवयोनि में भी पाप-पुण्य मनुष्य के बराबर नहीं लग सकते, क्योंकि देवयोनि भोगयोनि है, मनुष्य कर्मयोनि है। किसी धर्मशास्त्र में देवताओं के लिए पाप और पुण्य की व्यवस्था नहीं दी गयी और न ही पुरुषों की भाँति देवता स्थूल शरीर से भोग करते हैं और न ही देवताओं के चरित्रों का पुरुष अनुकरण कर सकते हैं।

महाशय दलपतराय के 'दयानन्द-चरित्र' के पृष्ठ ६० पर लिखा है कि स्वामी दयानन्द एक साँड के पेट में घुस गया और पृष्ठ ९५ पर लिखा है कि स्वामीजी ने शव को चीरने-फाड़ने का काम किया और स्वामीजी के भङ्ग की तरङ्ग में मस्त होकर नग्न होकर गङ्गा

की रेती में पड़े रहने का वर्णन किया गया है, तो क्या कोई आर्यसमाजी अथवा कोई आर्यसंन्यासी साँड के पेट में घुस सकेगा अथवा शव के चीरने-फाड़ने का काम करेगा या जवानी की अवस्था में नग्न रहेगा? कोई नहीं। जब मैथुनी सृष्टि में पैदा हुए-हुए स्वामीजी का अनुकरण भी आजकल के आर्यसमाजी नहीं कर सकते और न ही उसे बुरा मानते हैं, तो अमैथुनी सृष्टि के ऋषियों और देवताओं के सम्बन्ध में ही व्यर्थ टीका-टिप्पणी करना कैसे उचित समझा जा सकता है?

तोपजी—वाह महाराज पोपजी वाह! वेदों का तत्त्व खूब समझाया! क्या इसी बुद्धि का नाम निर्मल और निर्भ्रान्त बुद्धि है, जिसका प्रदर्शन उपर्युक्त लेख में किया गया है, यदि हाँ? तो फिर मूर्खता, अज्ञानता और मूढ़ता किस प्रकार की बुद्धि का नाम है? श्रीमन्! कर्मों की दृष्टि से योनियाँ तीन प्रकार की होती हैं—१. कर्मयोनि, २. भोगयोनि, ३. उभययोनि। इनमें से कर्मयोनि में वे लोग गिने जाते हैं जिनके पिछले कोई कर्म शेष नहीं हैं, जिन कर्मों का फल मिले। ये भविष्य में स्वतन्त्रता से कर्म करते हैं। इनमें प्रायः राम, कृष्ण, शङ्कराचार्य आदि ऋषि-मुनि, महात्मा, योगी—जिन्हें देवता की पदवी दी जा सकती है, सम्मिलित हैं। २. भोगयोनि में वे पशु-पक्षी और वृक्ष सम्मिलित हैं जोकि पूर्व किये हुए कर्मों का फल भोगते हैं और भविष्य के लिए कोई पाप-पुण्य का कार्य नहीं कर सकते। इनमें मनुष्य-शरीरधारियों के अतिरिक्त शेष सभी प्राणी सम्मिलित हैं। ३. उभययोनि में सर्वसाधारण मनुष्य हैं जोकि पूर्वकृत कर्मों का फल भोगते हैं और भविष्य के लिए स्वतन्त्रता से पाप-पुण्य के काम भी करते हैं, अतः साधारण मनुष्यों से उच्च पदवीवाले ऋषि-महर्षि, विद्वान्, योगी, देवता लोग कर्मयोनि में तो माने जा सकते हैं, परन्तु पशुओं और वृक्षों की भाँति भोगयोनि में नहीं माने जा सकते, क्योंकि भोग-योनिवाले वृक्ष और पशु-पक्षी कोई स्वतन्त्र कर्म नहीं करते, प्रत्युत जन्म से परमात्मा ने जैसा इनका स्वभाव बना दिया है, वैसा ही कर्म करते हैं। धर्म-अधर्म का ज्ञान देनेवाला शास्त्र भी परमात्मा ने इन्हें नहीं दिया है, जिसे जानकर वे अधर्म से बचें और धर्म के काम करें, अतः उन्हें अपने किये कर्मों का कोई फल नहीं मिलता, परन्तु देवताओं के लिए ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि पुराणों में देखा जाता है कि देवतागण स्वतन्त्रता से कार्य करते हैं। वे सभाएँ करते हैं, युद्ध करते हैं, उपदेश करते हैं, चोरी करते हैं, व्यभिचार करते हैं, शराब पीते हैं, मांस खाते हैं और उन कर्मों के फलस्वरूप शाप आदि से फल भी भोगते हैं, जैसाकि हम पहले विस्तारपूर्वक भूमिका के उत्तर में लिख आये हैं, अतः देवताओं के लिए वृक्षों और गौ-बछड़े आदि पशुओं का दृष्टान्त देना केवल अज्ञानता और मूर्खता है।

आपका यह कहना भी सर्वथा झूठ और धोखा देना है कि देवता पुरुषों की भाँति स्थूल शरीर से भोग नहीं करते। यदि बृहस्पति ने स्थूल शरीर से ममता के साथ भोग नहीं किया था तो उसका स्थूल वीर्य कहाँ से गिर पड़ा था और इससे स्थूल भरद्वाज कैसे पैदा हो गये? और गर्भ में पड़े लड़के ने पाँव की एड़ियाँ जोड़कर किसे रोका था? इन्द्र के अण्डकोश जो गोतम के शाप से गिर पड़े थे, क्या वे स्थूल नहीं थे? उनके स्थान पर मेंढे के अण्डकोश काटकर इन्द्र के लगाये गये; यदि इन्द्र का शरीर स्थूल न था तो मेंढे के स्थूल अण्डकोश काटकर किस लिए लगाये थे? अतः देवता लोग मनुष्यों की भाँति ही स्थूलशरीर से काम करते हैं और उनकी भाँति ही वेद-शास्त्रों की मर्यादाओं में आबद्ध होने के कारण उन्हें पुण्य और पाप का फल भी सुख-दुःखरूप में मिलता है। यह पुराणों के लेख से स्पष्ट सिद्ध है।

रहा आपका यह लिखना कि 'मनुष्य देवताओं के कर्मों का अनुकरण नहीं कर

सकते'—आपकी यह बात भी सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि जब देवगण भी वेद-शास्त्र के नियमों में बँधे हुए हैं और उन्हें भी पुण्य या पाप-कर्मों का फल सुख या दु:ख मिलता है तो इनके जो भी आचरण वेदानुकूल होंगे वे हमारे लिए अनुकरणीय होंगे और जो वेद-विरुद्ध होंगे वे अनुकरणीय नहीं होंगे। देखिए, इस बात का आपके आत्मपुराण अध्याय चार में इस प्रकार उल्लेख है कि ''विद्या ने हिरण्यगर्भ से यूँ कहा कि हे हिरण्यगर्भ! तुम्हारे लिए अपने पुत्र को खा जाना उचित नहीं है, क्योंकि सब लोगों को धर्ममर्यादा में स्थापित करने के लिए तुम्हारा जन्म हुआ है, अत: तुम सबके गुरु हो। यदि तुम्हीं मर्यादा को तोड़ दोगे तो फिर कौन जीव मर्यादा का पालन करेगा? कोई भी जीव पालन नहीं करेगा।'' धर्म-अधर्म को परखने की चार कसौटियों में इस बात को हमने बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि ऋषि-महर्षि, महात्मा, देवता लोगों के वेदानुकूल आचरण हमारे लिए अनुकरणीय हैं। इसी प्रकार स्वामी दयानन्दजी के आचरण भी हमारे लिए अनुकरणीय हैं, शर्त यह है कि वे वेद के विरुद्ध न हों।

स्वामीजी पत्थर के बने हुए खोखले बैल में कारणवश प्रविष्ट हो गये थे। यदि ऐसा पत्थर का बना हुआ खोखला बैल कहीं हो और हमें भी आवश्यकता पड़े तो हमारे लिए भी उसमें घुस जाना कोई पाप नहीं है। स्वामीजी ने वैद्यक की पुस्तकों में वर्णित मनुष्य के शरीर की बनावट की वास्तविक मानवशरीर से तुलना करने के लिए एक शव को चीरा था; यदि हमें भी ऐसी आवश्यकता हो तो हमारे लिए भी शव को चीरना पाप नहीं है। यदि स्वामीजी ने अपने पौराणिक काल में भङ्ग पीकर गङ्गा की रेती पर नग्न होकर लेट लगाई हो तो उनका यह कर्म वेदविरुद्ध होने से हमारे लिए अनुकरणीय नहीं है। निष्कर्ष यह है कि ऋषि-मुनि, देवता, महात्मा, योगियों के जो आचरण वेदानुकूल हों वे हमारे लिए अनुकरणीय और जो आचरण वेद के विरुद्ध हों वे अनुकरणीय नहीं हैं, त्याज्य हैं। यद्यपि ऋषि-मुनि और देवताओं के वेदविरुद्ध आचरण हमारे लिए अनुकरणीय नहीं हैं; तथापि ऋषि-मुनियों और देवताओं के ऐसे आचरण प्रशंसनीय भी नहीं हैं, अत: देवताओं के गुरु बृहस्पति का अपने भाई की गर्भवती स्त्री ममता से मैथुन करना अत्यन्त घृणित और महान् पाप था जिसे आप इतनी लम्बी लबड़धौंधौं (व्यर्थ की गप्पबाज़ी) के पश्चात् भी प्रशंसनीय सिद्ध करने में पूर्णरूप से असफल हुए हैं।

पोपजी—विश्वामित्र ने सहस्रों वर्ष तप किया और तप नष्ट करने के लिए इन्द्रदेव ने अप्सरा भेजकर इनका तप नष्ट किया और मेनका नाम की अप्सरा से तप भङ्ग हो जाने पर ऋषि विश्वामित्रजी को पुन: प्रायश्चित्तरूप तप करने की आवश्यकता पड़ी। बतलाइए, महाशय! इसमें पुराणों की क्या बुराई है? इससे दो शिक्षाएँ मिलती हैं—एक यह कि मनुष्य को कभी भी कामासक्त नहीं होना चाहिए; और दूसरी यह कि जो मनुष्य काम के अधीन हो जाता है, वह अपनी सभी शक्तियों को नष्ट कर देता है, अत: अपने-आपको संयम में रखना चाहिए। यदि किसी कारण से मनुष्य ग़लती कर दे तो उसकी निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए।

तोपजी—यहाँ पर यह प्रकरण ही नहीं है कि विश्वामित्र के इस कर्म से क्या शिक्षा मिलती है। इन्द्र और विश्वामित्र ने यह कर्म आपको शिक्षा देने के लिए तो नहीं किया था। यदि आप किसी बुरे कर्म से उत्तम शिक्षा ग्रहण करें तो इससे वह कर्म प्रशंसनीय नहीं बन सकता। आप चाहे कोई शिक्षा ग्रहण करें, परन्तु आप यह स्वीकार करते हैं कि विश्वामित्र ने वन में मेनका नाम की वेश्या के साथ व्यभिचार अवश्य किया था। हमारा दावा यह था कि ''सनातनधर्म के पण्डितों को अब यह धुन लगी हुई है, क्योंकि सनातनधर्म

का कोई भी ऋषि-मुनि और देवता ऐसा नहीं है कि जिसपर पौराणिकों ने पुराणों में व्यभिचार का आरोप न लगाया हो; फिर आर्यसमाज का प्रवर्तक महर्षि दयानन्द क्यों निष्कलङ्क रह जाए? अतः वे ऋषि दयानन्दजी पर भी आरोप लगाकर उन्हें कलङ्कित करना चाहते हैं, परन्तु ऐसा करना असम्भव है, क्योंकि जिन पुराणों में ऋषि-मुनि और देवताओं पर दुराचार के आरोप लगाये गये हैं, उन पुराणों को सनातनधर्म अपना धर्मग्रन्थ मानता है और जिन पुस्तकों में ऋषि दयानन्द को बदनाम करने का प्रयत्न किया जाता है, वे पुस्तकें आर्यसमाज के विरोधी मुसलमान, सनातनधर्मी और जैनमतवालों की लिखी हुई हैं, जोकि आर्यसमाज के लिए प्रामाणिक नहीं हैं और आर्यसमाज की पुस्तकों से पौराणिक पोपमण्डल एक भी ऐसा प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकता कि जिससे ऋषि दयानन्दजी के जीवन पर कोई भी आरोप लगाया जा सके। इसलिए ऋषि दयानन्दजी को पौराणिक ऋषियों की सूची में सम्मिलित करने के सङ्कल्पों में पौराणिक पोपमण्डल कदापि सफल नहीं हो सकता।''

हमारे इस दावे का पोपजी खण्डन नहीं कर सके और न ही आर्यसमाज की पुस्तकों से एक भी ऐसा प्रमाण प्रस्तुत कर सके जिससे ऋषि दयानन्द के जीवन पर कोई दोषारोपण हो सके। एक ही स्थान पर पौराणिक ऋषियों के दुराचार की जो लम्बी सूची हमने शिवपुराण से दिखाई थी, उसपर पर्दा डालने के लिए पोपजी ने बहुत हाथ-पाँव मारे— कहीं अलङ्कारबाज़ी बनाने का प्रयत्न किया, कहीं वेदों में से सिद्ध करने का प्रयत्न किया, कहीं यह सिद्ध करना चाहा कि देवता भोगयोनि हैं, उन्हें ऐसे कर्मों का पाप नहीं लगता, कहीं विवाह सिद्ध करने का असफल प्रयास किया और कहीं अपनी रक्षा के लिए मुसलमानों की शरण ली और कहीं इन कुकर्मों से शिक्षा निकालने बैठ गये, परन्तु वे ऋषि-मुनि और देवताओं को स्पष्टरूप से व्यभिचारी वर्णन करनेवाले पुराणों के लेख पर किसी प्रकार भी अपनी चालाकी, धोखेबाज़ी और मिथ्या भाषण से पर्दा डालने में सफल नहीं हो सके। ऋषि दयानन्द निष्कलङ्क थे, वे निष्कलङ्क ही सिद्ध हुए। हिन्दूजाति पर उनका उपकार विरोधियों को भी स्वीकार करना पड़ा। हम ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में पं० अखिलानन्द की सम्मति 'दयानन्द-दिग्विजय' से उद्धृत कर चुके हैं। अब आर्यसमाज के कट्टर विरोधी, ऋषि दयानन्दजी के भरपेट निन्दक जियालाल जैनी की सम्मति भी पढ़ें जो उन्होंने अपनी पुस्तक 'दयानन्द छल-कपट दर्पण' के पृष्ठ २८९ से २९१ तक पर दी है। वे लिखते हैं कि—

''आर्यसमाजों ने हमारे सहस्रों पढ़े-लिखे विद्वान् व्यक्तियों को ईसाई होने से बचाया है, अतः हम इनके प्रचारक का धन्यवाद करते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अंग्रेजी-शिक्षाप्राप्त लोगों को, जो शिक्षा पाते ही प्रायः ईसाई या नास्तिक बनकर बह जाते थे, रोका। धन्यवाद है उस पुरुष को जिसने सर्वस्व और सांसारिक स्वार्थ छोड़कर तथा अनेक प्रकार से लोगों की निन्दा का लक्ष्य बनकर अन्त में इस धर्मकार्य में अपना जीवन तक बलिदान कर दिया और स्वामीजी ने ईसाईरूपी कसाइयों से हिन्दूजातिरूपी चिड़िया को बचाया, परन्तु इनका धन्यवाद हिन्दू तभी करेंगे जब उन्हें इस बात का ज्ञान प्राप्त होगा।''

इससे सिद्ध होता है कि ऋषि दयानन्द भारत के उद्धारक, वेद-प्रचारक और पाखण्ड-निवारक थे, अतः सब मिलकर जयघोष लगाएँ—

जो बोले सो अभय। निष्कलङ्क दयानन्द की जय!

पोपजी—पं० लोकनाथजी ने शास्त्रार्थ में भगवान् कृष्णचन्द्रजी की चीरहरण-लीला का वर्णन करते हुए उपहास किया है, परन्तु ऐसा करना पण्डितजी की पुराणों के विषय में अज्ञानता का ही परिणाम हो सकता है।

तोपजी—पण्डित लोकनाथजी ने केवल चीरहरण-लीला का वर्णन ही नहीं किया,

अपितु चीरहरण-लीला की वह तस्वीर भी दिखाई थी जिसमें गोपियाँ सर्वथा नग्न खड़ी हुई, ऊपर को हाथ उठाये हुए कृष्ण से वस्त्र माँग रही हैं। उपहास करना हमारा काम नहीं, यह तो रोने की बात थी कि योगिराज कृष्ण पर ऐसा भीषण आरोप लगाया जाए कि चित्र को देखते ही पौराणिक सभ्यता का चित्र जनता के समक्ष आ गया और पौराणिक लोग लज्जा के कारण पानी-पानी हो गये तथा कोलाहल करके उत्सव में गड़बड़ पैदा करनी चाही, परन्तु सफल नहीं हुए। यह पण्डितजी की अज्ञानता नहीं अपितु पुराणों की असभ्यता, अशिष्टता, अश्लीलता और पूर्वजों को कलङ्कित करने की मानसिकता का परिणाम है।

पोपजी—चूँकि भागवत के दशम स्कन्ध में जहाँ पर चीरहरण-लीला का वर्णन है, वहाँ स्पष्ट लिखा है कि क्योंकि गोपों की छोटी-छोटी कुमारी कन्याएँ भगवान् कृष्ण की प्राप्ति के लिए व्रत किया करती थीं और स्नान करके प्रार्थना किया करती थीं कि हे भगवति! हमें भगवान् श्रीकृष्ण पतिरूप में प्राप्त हों। ऐसी कुमारी लड़कियों का पित के लिए प्रार्थना करना अनुचित नहीं समझा जा सकता। अस्तु! भगवान् ने जब देखा कि मेरी प्राप्ति के लिए ये व्रत तो करती हैं, परन्तु ये जल में नग्न होकर स्नान करने से वरुणदेवता का अनादर करती हैं और शास्त्रों में नग्न होकर स्नान करना पाप बतलाया है, इसीलिए भगवान् ने अपनी भक्त गोप-कन्याओं को शिक्षा देने के लिए चीरहरण किये थे।

तोपजी—गोपों की वे कन्याएँ छोटी-छोटी थीं या नवयुवतियाँ, यह तो चीरहरण-लीला के चित्रों, उनके स्तन आदि अङ्गों को देखकर ही पता लग जाता है और कुमारी कन्याओं का भगवती से इस प्रकार पति-प्राप्ति की प्रार्थना करना भी उनके हार्दिक प्रेम व अनुराग को प्रकट करता है। यह ठीक है कि नग्न होकर नहाना पाप है, परन्तु यह भी कोई शिक्षा का ढङ्ग है कि उन्हें सर्वथा नग्न होकर बाहर आने के लिए विवश किया जाए और जब वे बेचारी अपने आगे-पीछे हाथों से अपनी गुप्त इन्द्रियों को ढककर बाहर आएँ तो कृष्णजी कहें कि यह ठीक नहीं, हाथ ऊपर करके वस्त्र माँगो तब मिलेंगे। क्या पौराणिक अब भी इस बात को धर्म ही समझेंगे—यदि कोई नदी में नग्न होकर स्नान करनेवाली इनकी युवति कन्याओं के वस्त्र उठाकर उन्हें शिक्षा देने का शुभ कार्य करे? कदापि नहीं। इसलिए कृष्णजी का कन्याओं को शिक्षा देने का यह ढंग कदापि प्रशंसनीय नहीं माना जा सकता, प्रत्युत यह ढङ्ग अत्यन्त निन्दनीय, सभ्यता और शिष्टता के सर्वथा विरुद्ध है। भला! वरुणदेवता के अपमान का तो यह दण्ड दिया गया कि वे जल से नङ्गी बाहर निकाली गयीं, परन्तु उनके नग्नरूप में जल से बाहर आने के कारण जो सूर्यदेवता का अपमान हुआ उसका उन्हें क्या दण्ड दिया गया? अतः यह सारी कथा ही मिथ्या है।

पोपजी—चीरहरण करने के समय भगवान् कृष्ण की अवस्था छह वर्ष की थी। इस छोटी अवस्था में उनपर ऐसा दोषारोपण करना अनुचित है और न ही छह वर्ष के बालक में कामवासना का विचार ही किया जा सकता है। यदि इस छोटी अवस्था में भगवान् ने लड़कियों को नग्न देखा तो बड़े आश्चर्य की बात नहीं। आजकल भी हम देखते हैं कि छह वर्ष के बच्चे से कोई स्त्री लज्जा नहीं करती और न ही छह वर्ष का बालक कामभाव से किसी स्त्री को देख सकता है। प्रायः छह वर्ष के बालक स्त्रियों के साथ ही सोया करते हैं, परन्तु इसे कभी भी बुरा नहीं समझा जाता, फिर भगवान् कृष्णजी पर व्यर्थ टीका-टिप्पणी क्यों की जाती है?

तोपजी—आपने अपनी पुस्तक के पृष्ठ ६२ पर तो लिखा है कि चीरहरण के समय कृष्ण की अवस्था चार वर्ष की थी और अब लिखते हैं कि छह वर्ष की थी। इन दोनों बातों में से सत्य कौन-सी है? सत्य है **'दरोग़ गो रा हफ़्ज़ा न बाशद'**—झूठे व्यक्ति की

स्मरणशक्ति ठीक नहीं होती। इससे पता लगता है कि आप लोग इस प्रकार की मिथ्या (झूठी) कल्पनाएँ करने में लगे रहते हैं। जिस बच्चे को छह वर्ष की अवस्था में यह ज्ञान हो सकता है कि जल में नग्न होकर स्नान करना पाप है और जो छह वर्ष का बच्चा शिक्षा देने के विचार से चीरहरण जैसे कार्य करता है, उस बच्चे में कामभाव उत्पन्न होना क्या असम्भव हो सकता है? वे छह वर्ष के बच्चे और हुआ करते हैं जो माता के साथ सोया करते हैं और जिनसे स्त्रियाँ लज्जा नहीं करतीं। कृष्णजी तो ऐसे बच्चे थे जिन्होंने चीरहरण-लीला से भी बहुत समय पूर्व राधा से विधिवत् विवाह करके खूब जी भरकर विषयभोग भी कर लिया था। यह बात हम पृष्ठ ८३-८४ पर अच्छी प्रकार सिद्ध कर चुके हैं। हमारे विचार में तो यह सारी घटना ही श्रीकृष्णजी के पवित्र और सदाचारपूर्ण जीवन पर पौराणिकों की ओर से लगाया हुआ एक कलङ्क का टीका है जोकि पुराणों को नदी में बहाने पर ही दूर हो सकता है।

पोपजी—यदि कहें कि भगवान् तो ईश्वर माने जाते हैं, ईश्वर ने स्त्रियों को नंगा क्यों देखा और वस्त्रों की चोरी क्यों की? महाशय! यदि आप भगवान् कृष्ण को ईश्वर मानते हैं तो झगड़ा समाप्त हो गया। ईश्वर तो प्रत्येक स्त्री को प्रत्येक अवस्था में देखता है। कोई स्त्री ऐसी नहीं मिलती जिसे सर्वान्तर्यामी प्रभु नग्न न देखते हों। यदि भगवान् ने नग्न स्त्रियों को देख लिया तो क्या बुरा हुआ? चोरी सदा दूसरों की वस्तुओं को लेने से हुआ करती है, परन्तु भगवान् पर चोरी का दोषारोपण करना अनुचित है, क्योंकि संसार की सभी वस्तुएँ भगवान् की ही होती हैं। अपनी किसी वस्तु को लेना चोरी नहीं ठहराई जा सकती, तो भगवान् ने यदि शिक्षा देने के लिए वस्त्र उठा लिये, तो उन्हें चोर कहना भूल है। भगवान् की इस लीला पर आक्षेप करनेवालों को इसी पुस्तक के पृष्ठ ६२ का चीरहरण-लीला के सम्बन्ध में न्यायालय का निर्णय पढ़कर लज्जित होना चाहिए।

तोपजी—इस व्यर्थ और निराधार लेख से क्या लाभ हुआ? जब आर्यसमाज ईश्वर के अवतार लेने का प्रबल विरोधी है तो उसकी ओर से कृष्ण को ईश्वर स्वीकार करना, कल्पित करके उत्तर लिखना अज्ञानता, मूर्खता और पागलपन नहीं तो और क्या है? श्रीकृष्णजी का जन्म सर्वसाधारण मनुष्यों की भाँति वसुदेव का वीर्य और देवकी का रज मिलकर, गर्भ होकर कारागार में हुआ और साधारण मनुष्यों की भाँति ही नन्द के घर में उनका पालन-पोषण हुआ। वे मक्खन, दही और दूध चुराकर खाते रहे, गौएँ चराते रहे। गोपियों की मटकी फोड़ना, अङ्गिया टटोलना, स्तन मरोड़ना, वस्तुएँ चुराना, भोग-विलास करना आदि पापकर्म करते रहे। लड़ाई-झगड़े, उपद्रव, छल-कपट, मक्कारी और धोखेबाज़ियों से लोगों को मारते-मरवाते रहे। उन्होंने अपने सहस्रों विवाह करवाये तथा सहस्रों सन्तानें पैदा कीं, सैकड़ों की स्त्रियों का हरण किया और अन्त में एक भील के तीर से मारे गये और अर्जुन ने उनके शरीर को लकड़ियों में रखकर उनका दाहकर्म कर दिया। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त कृष्ण को ईश्वर-अवतार की पदवी देना नितान्त अज्ञानता, दुराग्रह और स्वार्थ नहीं तो और क्या है? यदि वे ईश्वर का अवतार होते तो उन्हें जल से बाहर सामने खड़ी नग्न स्त्रियों को देखने की क्या आवश्यकता थी? किसी विशेष वस्तु को देखने की उत्कण्ठा ने ही उनसे यह अश्लील चेष्टा करवाई होगी। जिस वस्तु में ईश्वर पहले ही व्यापक हो, उसे प्राप्त करने के लिए चोरी जैसी घृणित चेष्टा की क्या आवश्यकता थी? ईश्वर स्वीकार करने पर कृष्ण की ये दोनों चेष्टाएँ अनावश्यक व अश्लील कर्म सिद्ध होते हैं।

शेष रह गया आपका न्यायालय का निर्णय, सो आपके पौराणिक वकीलों ने चीरहरण-लीला को धार्मिक पुस्तकों का एक दृश्य बताकर जिस प्रकार से गिड़गिड़ाकर न्यायालय

का निर्णय प्राप्त किया है, उसकी वास्तविकता हमने पृष्ठ ८४-८५ पर सम्यक् रूप से प्रकट कर दी है और धर्म में हस्तक्षेप न करने के कारण सरकार के न्यायालय के निर्णय से क्या चीरहरण-जैसी अश्लील कथा और तस्वीर कहीं ठीक मानी जा सकती है? अतः कृष्ण को कलङ्कित करनेवाले अष्टादश पुराणों को छोड़ दो और आर्यसमाज की इस बात को स्वीकार करो कि "कृष्णजी महाराज सत्यवादी, धर्मात्मा, सदाचारी और योगिराज थे और उनके सम्बन्ध में पुराणों ने जो कुछ भी लिखा है वह पाखण्डी, दुराचारी, धूर्त और पामर वाममार्गियों की बेहूदा करतूत है।"

आदरणीय पाठकगण! पं० श्रीकृष्ण शास्त्री ने सनातनधर्म की ओर से आर्यसमाज पर जो प्रश्न किये थे, उनका उत्तर देते हुए पं० लोकनाथजी ने जनता पर स्पष्टरूप से यह प्रकट कर दिया था कि पण्डित श्रीकृष्ण का दावा यह है कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं, परन्तु पण्डितजी ने अपने प्रश्नों में से किसी एक के साथ भी वेदमन्त्र का उद्धरण देकर यह सिद्ध नहीं किया कि स्वामीजी का अमुक लेख अमुक वेदमन्त्र के विरुद्ध होने से स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं। पं० लोकनाथजी के ऐसा कहने के पश्चात् पं० श्रीकृष्ण शास्त्री ने जिस-जिस प्रश्न के साथ वेदमन्त्र देकर अपने दावे को सिद्ध करने का प्रयत्न किया, पं० लोकनाथजी ने उस-उस प्रश्न का सटीक उत्तर दिया; और जिन प्रश्नों का श्रीकृष्ण शास्त्री ने अपने दावे के अनुसार वेदमन्त्र देकर स्थापन नहीं किया, उन-उन प्रश्नों के पं० लोकनाथजी ने उत्तर देने की आवश्यकता ही नहीं समझी, क्योंकि बिना प्रमाण का दावा एकपक्षीय ही रद्द कर देने योग्य होता है और अन्त में पं० लोकनाथजी ने यह सिद्ध कर दिया कि न्यायशास्त्र के अनुसार पं० श्रीकृष्ण शास्त्री प्रतिज्ञाहानि-निग्रहस्थान में उतरकर पराजित हो चुके हैं।

हमने शास्त्रार्थ को ठीक उसी समय लिखा और उसे उसी रूप में प्रकाशित कर दिया और शास्त्रार्थ को लिखने के पश्चात् अपनी ओर से पं० श्रीकृष्ण के प्रश्नों में से प्रत्येक प्रश्न का विस्तृत उत्तर युक्ति और प्रमाणों के साथ पूर्णरूप से लिख दिया और शास्त्रार्थ में निर्धारित विषय के अनुसार पुराणों पर भी प्रश्न लिख दिये। हमारी उस छोटी-सी पुस्तक ने सनातनधर्म के कैम्प में बम्ब का काम किया और सारे सनातनधर्म में भूकम्प-सा आ गया। अन्त में, सनातनधर्म के सब ठेकेदारों ने पोपावतार कुञ्जलालजी को हमारी पुस्तक का उत्तर लिखने के लिए विवश किया। मिश्र कुञ्जलालजी ने पं० श्रीकृष्ण शास्त्री की इस दुर्बलता का अनुभव किया और आरम्भिक चार प्रश्नों के साथ अपनी ओर से वेदमन्त्र लिख दिये। शेष प्रश्नों के साथ वेदमन्त्र लिखकर अपने दावे को सिद्ध करने में वे भी असफल रहे। मिश्रजी ने कितने ही उद्धरण ग़लत लिखे, कितनों ही के पते ग़लत लिखे, कितने ही ग्रन्थों के नाम से काल्पनिक उद्धरण लिख दिये और हमारे द्वारा दिये गये कितने ही उद्धरणों की विद्यमानता से व्यर्थ ही स्पष्ट इन्कार कर दिया। कितने ही स्थानों पर 'सवाल गन्दुम और जवाब चीना' को चरितार्थ करते हुए कुछ-का-कुछ उत्तर दिया तथा कितने ही मन्त्रों और श्लोकों के अर्थ कपोलकल्पित लिख दिये। कितने ही स्थानों पर आर्यसमाज को गालियाँ दीं, कितने ही स्थानों पर हमपर व्यक्तिगत आक्षेप करके अपने हृदय की अग्नि को शान्त किया। पुस्तक में कितने ही स्थानों पर अपने ही सिद्धान्त का स्वयं खण्डन कर दिया। कहीं पर भाषाओं की कल्पना की, कहीं रूपों की ओट ली और कहीं पर भाव की शरण में गये, कहीं पर अलङ्कारों की खाइयों में छिपने का प्रयत्न किया, कहीं पुराणों को इतिहास माना और कहीं इतिहास से इन्कार कर दिया, कहीं देवताओं के चरित्र से शिक्षा ग्रहण करने की बात कही तो कहीं देवताओं को भोगयोनि बताकर जान छुड़ानी चाही। निष्कर्ष यह

कि सहस्रों चालें चलीं, सहस्रों धूर्तताएँ कीं, सहस्रों झूठ बोले, सहस्रों छल-कपट किये, परन्तु इतना करने पर भी हमारी पुस्तक का उत्तर देने में बुरी भाँति असफल हुए हैं और सनातनधर्म की स्थिति को स्पष्ट करने में भी असफल सिद्ध हुए हैं, क्योंकि सत्य अन्ततः सत्य है, वह कभी भी बनावटी युक्तियों से छिपाया नहीं जा सकता और अन्ततः सत्य की ही विजय होती है और हुई। स्वामी दयानन्दजी के ग्रन्थ कसौटी पर कसे जाने से सोलह आने वेदों के अनुकूल सिद्ध हुए, अतः आर्यसमाज का बोलबाला हो गया।

अब इसके आगे हमने पुराणों पर जो आक्षेप किये थे, उनका उत्तर पोपजी ने देने का प्रयत्न किया है, हम उन उत्तरों की छान-बीन अगले पृष्ठों में करेंगे और पाठकों से प्रार्थना करेंगे कि वे हमारे तर्कों को ध्यान से पढ़कर वास्तविकता को जानें और आनन्द उठाएँ।

पौराणिक मत की डफ़ली (खंजरी)

महाशय सन्तरामजी 'भजनोपदेशक'
आर्यप्रतिनिधि सभा, पञ्जाब

हे पौराणिक भाइयो बातें बनाना छोड़ दो, सत्यमार्ग ग्रहण कर लो लड़खड़ाना छोड़ दो।
मानते हो सर्वव्यापक गर प्रभु को दोस्तो, फिर बिठा मन्दिर में तुम मूरत बनाना छोड़ दो।
कर्म के अनुसार पाता जन्म है गर जीव यह, कर बहाना श्राद्ध का फिर खीर खाना छोड़ दो।
जन्म से ही वर्ण गर तुम मानते हो मित्रवर, व्यास-वसिष्ठ आदि को फिर ब्राह्मण बताना छोड़ दो।
बालविधवाओं की शादी के मुखालिफ हो अगर, बूढ़ों का फिर पोपजी तुम ब्याह कराना छोड़ दो।
गर समुद्र-यात्रा को मानते हो पाप तुम, अफरीका में प्रचार को फिर मित्र जाना छोड़ दो।
अम्बिका अम्बालिका से व्यासजी करते नियोग, पढ़ महाभारत को फिर खिल्ली उड़ाना छोड़ दो।
दस सिरोंवाला था रावण गणेश मिट्टी से बना, बस करो अब पोपजी गप्पें सुनाना छोड़ दो।
अब पौराणिक मत की मित्रो दाल गल सकती नहीं, यह पौराणिक मत है झूठा फ़साना छोड़ दो।
फट चुकी डफली पौराणिक बेसुरी अब हो गयी, गीत गाओ वेद के डफली बजाना छोड़ दो।
ये नहीं दुश्मन तुम्हारे, हैं स्नेही आपके, आर्यों से दोस्तो लड़ना-लड़ाना छोड़ दो।
आओ मिलकर शिद्दत[१] से प्रचार वेदों का करें, फूट से दुश्मन की ताकत को बढ़ाना छोड़ दो।

१. तीव्रता।

पौराणिक पाखण्ड का मुँह काला

१. पुराणों में मद्यपान

सिद्धान्त—

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्। ऊधर्न नग्ना जरन्ते। —ऋ० ८।२।१२

अर्थ—जिस प्रकार दुष्टमद से युक्त लोग परस्पर लड़ते हैं, उसी प्रकार दिल खोलकर शराब पीनेवाले लोग भी लड़ते हैं और नङ्गों की भाँति रातभर बड़बड़ाया करते हैं।

इस वेदमन्त्र में शराब पीने का निषेध है। इसी प्रकार अथर्ववेद काण्ड ६, सूक्त ७०, मन्त्र १[१] में भी शराब पीने को पाप बताया गया है, अत: शराब पीना वेद के विरुद्ध और पाप है, परन्तु पुराणों में इस प्रकार के इतिहास मिलते हैं, जिनमें मद्यपान करनेवालों के लिए किसी दण्ड का विधान नहीं किया गया। जैसे—भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय ७३, श्लोक २१-२२[२] में लिखा है कि कृष्णजी अपनी स्त्रियों के सहित शराब पीकर मस्त हो रहे थे और वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग ९१, श्लोक ५२[३] में लिखा है कि भरद्वाज मुनि ने भरत और उसकी सेना के लिए शराब प्रस्तुत की। इससे सिद्ध है कि पुराणों की शिक्षा वेदों के विरुद्ध है।

—:o:—

पोपजी—लाला साहब ने भविष्यपुराण का प्रमाण देकर श्रीकृष्ण पर जो दोष लगाया है वह सरासर मिथ्या प्रतीत होता है, क्योंकि लालासाहब ने सचाई का पाठ पढ़ा ही नहीं, अन्यथा ऐसा नितान्त झूठ नहीं लिखते। भविष्यपुराण में सुरा[४] शब्द आया है जिसका अर्थ सोमरस है। इसे ऋषि लोग एक लता से तैयार किया करते थे। यह वही सुरा या सोम है जिसका वर्णन स्वामी दयानन्दजी ने 'आर्याभिविनय' पुस्तक में किया है कि ''हे ईश्वर! हमने सोमरस तैयार किया है, आप इसका पान करो।'' सुरा शब्द का शराब अर्थ करके भगवान्

---

१. **यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने। यथा पुंसो वृषण्यत: स्त्रियां निहन्यते मन:।**
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से निहन्यताम्॥ —अथर्व० ६.७०.१
अर्थ—निश्चय ही मांस भक्षण करनेवाले का और उसी प्रकार शराब पीनेवाले का तथा जुए के खेल में पाशों के प्रेमी का और वीर्यसेचन की इच्छा करनेवाले स्त्री में आसक्त पुरुष का मन:=ओज, तेज, सत्त्व—सब-कुछ समाप्त हो जाता है, अत: इन व्यसनों और पापों से बचता हुआ हे प्रगतिशील योगिन्! तू अपने मन को—इच्छा, सङ्कल्प और कामना को परमेश्वर में स्थिर कर।

२. मूल श्लोक ये हैं—
भूषितानां वरस्त्रीणां चार्वङ्गीनां विशेषत:।
ताभि: संपीयते पानं शुभगन्धान्वितं शुभम्॥२१॥
एतस्मिन्नन्तरे बुद्धा मद्यपानात् तत: स्त्रिय:॥२२॥ —भवि० ब्राह्म० ७३.२१-२२

३. **सुरां सुरापा: पिबत पायसं च बुभुक्षिता:।**
मांसानि च सुमेध्यानि भक्ष्यन्तां यो यदिच्छति॥

४. यह बात बिल्कुल झूठ है। इस प्रसङ्ग में 'सुरा' शब्द है ही नहीं। यहाँ तो **'संपीयते पानम्'**, **'मद्यपानात्'** शब्द आये हैं। यहाँ पोपजी के मिथ्या भाषण की पराकाष्ठा है। —जगदीश्वरानन्द

पर दोष लगाना पक्षपात का चिह्न है। शतपथब्राह्मण, ऋग्वेद और अथर्ववेद के कई मन्त्रों में सुरा अर्थात् सोम की अत्यन्त प्रशंसा की गयी है और उसे देवताओं का अन्न बताया गया है, इसलिए भगवान् श्रीकृष्णजी इसका सेवन किया करते थे।

तोपजी—हम श्रीकृष्णजी पर दोष लगानेवालों में से नहीं हैं। हम तो श्रीकृष्णजी को योगिराज मानते हैं। ऋषि-मुनियों और देवताओं पर दोषारोपण का अनिष्टकर व्यसन तो पुराणों को ही है। हमें इससे इन्कार नहीं कि सुरा शब्द का अर्थ वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों और गृह्यसूत्रों में सोमरस भी आता है, परन्तु शराब अर्थ भी आता है, जैसाकि ऊपर ऋग्वेद के मन्त्र में 'सुरा' शराब का वाचक है और अथर्ववेद (६।७०।१) में **'यथा मांसं यथा सुरा यथा अक्षाः'** इत्यादि व्यसनों का वर्णन है कि जैसे मांस और शराब व्यसन है, वैसे ही जुआ भी व्यसन है। यहाँ सुरा शब्द व्यसनों में परिगणित होने के कारण शराब का वाचक है। साधारण संस्कृतभाषा के ग्रन्थों में भी सुरा नाम शराब ही का है। मनुस्मृति में वर्णन है कि—

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह॥

—मनु० ११।५४

अर्थ—ब्राह्मण की हत्या, शराब का पीना, सुवर्ण की चोरी, गुरु की स्त्री से भोग और इन कामों को करनेवालों के साथ सम्बन्ध रखना—ये पाँच महापातक हैं।

यहाँ पातकों में गिनती होने के कारण सुरा नाम शराब का ही है।

मनुस्मृति अध्याय ११, श्लोक ९० से ९५ तक सुरा शब्द से शराब का पीना पाप बतलाया है और अन्त में इसे राक्षसों का भोजन बताया है—

यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुराऽऽसवम्। तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः॥

—मनु० ११।९५

अर्थ—मद्य, मांस और सुरा तथा आसव—यह यक्ष, राक्षस और पिशाचों का अन्न अर्थात् भोजन है। देवताओं की हवि अर्थात् यज्ञशेष खानेवाले ब्राह्मण को इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

यहाँ भी सुरा नाम शराब का ही है। निष्कर्ष यह कि सुरा नाम सोमरस और शराब दोनों का ही है, परन्तु प्रकरण और विषय के अनुसार अर्थ लिये जाते हैं।

अब हम भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व, अध्याय ७३ से वह कथा शब्दशः प्रस्तुत कर देते हैं जिससे जनता को वास्तविकता का पता लग जाए। कथा इस प्रकार है—

कृष्णजी की एक स्त्री का नाम जाम्बवती था। उसके पेट से एक लड़का था, जिसका नाम साम्ब था। वह अत्यन्त सुन्दर था। जब कभी नारदजी श्रीकृष्ण से मिलने के लिए द्वारिका में आते थे तो सब बालक नारद का सम्मान करते थे, परन्तु साम्ब उनका आदर-सम्मान न करता था, अतः नारद बदला (प्रतीकार) लेने की खोज में थे। एक दिन की बात है—

तस्मिन्नहनि देवोऽपि सहान्तःपुरिकैर्जनैः। अनुभूय जलक्रीडां पानमासेवते रहः॥

अर्थ—उस दिन श्रीकृष्णजी भी अपनी सभी रानियों के साथ जलक्रीड़ा करने के पश्चात् एकान्त में शराब पी रहे थे।

और उस सुन्दर उद्यान में अपनी स्त्रियों के साथ रमण कर रहे थे और रमण करते हुए—

ताभिः संपीयते पानं शुभगन्धान्वितं शुभम्॥ २१॥

एतस्मिन्नन्तरे बुद्ध्वा मद्यपानात्ततः स्त्रियः॥ २२॥

अर्थ—उन स्त्रियों के साथ सुगन्धित शराब पी रहे थे। इतने में ही शराब पीने के पश्चात् स्त्रियों को चेतना आई।

तब नारद ने जाकर साम्ब से कहा कि हे कुमार! तुम्हें कृष्णजी बुला रहे हैं। वह नारद के छल को न समझकर नारद के कहने से उद्यान में चला गया। वहाँ जाकर उसने कृष्णजी और माताओं को प्रणाम किया। तब साम्ब को देखकर उन स्त्रियों का मन डोल गया, क्योंकि वे सब-की-सब साम्ब के सौन्दर्य पर अनुरक्त हो गयीं। ऐसी स्थिति में—

मद्यदोषात्ततस्तासां स्मृतिलोपात्तथा नृप ॥२६॥
स्वभावतोऽल्पसत्त्वानां जघनानि विसुस्रुवुः ॥२७॥

अर्थ—हे राजन्! शराब पीने से उन स्त्रियों की स्मृति के लोप हो जाने से और स्वभाव से निर्बल होने के कारण उन स्त्रियों की जाँघें टपकने लगीं, अर्थात् सब स्खलित हो गयीं।

पुराणों में ऐसा भी वर्णन किया गया है कि सुन्दर युवक को देखकर ब्रह्मचारिणी स्त्री की भी योनि टपकने लगती है। संसार में भी यह देखा जाता है कि बहुत अधिक शराब पीने से लज्जाशील स्त्रियाँ भी लज्जा छोड़ देती हैं। चिकने मांस का भोजन करने से और शराब पीने से स्त्रियों में कामदेव की उत्पत्ति हो जाती है, क्योंकि—

सीधुप्रयुक्तं शुक्रेण सततं साधु हीच्छता। मद्यं न पेयमत्यर्थं पुरुषेण विपश्चिता ॥३१॥

अर्थ—शुक्राचार्य ने शराब पीकर लोगों की भलाई के लिए उपदेश किया कि बुद्धिमान् लोगों को अधिक शराब नहीं पीनी चाहिए।

नारद भी साम्ब के पीछे ही शीघ्रतापूर्वक गया। नारद को आते हुए देखकर कृष्ण और उनकी स्त्रियाँ सहसा खड़ी हो गयीं। चूँकि वे शराब के नशे में चूर थीं, इसलिए—

तासामथोत्थितानां तु वासुदेवस्य पश्यतः। भित्वा वासांसि शुभ्राणि पत्रेषु पतितानि तु ॥३४॥

अर्थ—उन स्त्रियों के उठते हुए कृष्ण के देखते हुए ही उनके शुभ्र वस्त्रों में से छन-छनकर उनका रज भूमि पर घास और पत्तों पर गिर पड़ा।

यह देखकर कृष्ण को क्रोध आया तो साम्ब को शाप दिया कि तू कोढ़ी हो जा और स्त्रियों को शाप दिया कि तुम लुटेरों के द्वारा छीनी जाओगी।

इस कथा में पान, मद्य, सीधु, सुरा और आसव इतने शब्द आये हैं और प्रकरण के अनुसार इनके शराब के अतिरिक्त और कोई अर्थ हो ही नहीं सकते, क्योंकि स्त्रियों का चेतना में आना और स्मृति न रहने से पुत्र को भूल जाना तथा कामातुर होकर उनका वीर्य (रज) निकल जाना और शुक्राचार्य का इसके सेवन का निषेध करना आदि बातें सिद्ध करती हैं कि यहाँ पर सोमरस का वर्णन नहीं है, अपितु शराब का ही वर्णन है, इसलिए पुराणों का यह लेख वेदों के सर्वथा विरुद्ध है।

पोपजी—दूसरा प्रमाण वाल्मीकि रामायण का देकर जो भरद्वाज मुनि के द्वारा भरत की सेना को शराब प्रस्तुत करने का दिया है, वह भी कोरा झूठ है। रामायण में तो इस बात की चर्चा तक नहीं है। पता नहीं लाला मनसारामजी यह बिना पर (पंख) की कहाँ से ले-उड़े हैं और सुनी-सुनाई बेहूदा गप्पें लिखकर पुराणों को कलङ्कित करने का प्रयत्न किया है।

तोपजी—कोरे गपोड़े मारना और सर्वथा निराधार बातें बनाना तो आप लोगों का काम है, जो बिना पुस्तक पढ़े ही दावा कर देते हैं। तनिक कष्ट उठाकर वाल्मीकि रामाण का दर्शन तो कर लिया होता! लीजिए, हम आपको बतलाते हैं कि वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड सर्ग ९१ में इसी प्रकार अङ्कित है कि भरद्वाज ने भरत का आतिथ्य करते

हुए कहा कि—

सुरां सुरापाः पिबत पायसं च बुभुक्षिताः। मांसानि च सुमेध्यानि भक्ष्यन्तां यो यदिच्छति॥५२॥

अर्थ—शराब पीनेवाले शराब पीएँ और भूखे लोग खीर खाएँ और पवित्र मांसों में से जिसकी जो इच्छा हो खाए।

यहाँ मांस शब्द के साथ वर्णन होने से स्पष्टरूप से सुरा शब्द से शराब का वर्णन करना ही अभीष्ट है। अब बतलाइए कि सुनी-सुनाई बेहूदा गप्पें आप मारते हैं या हम? और इस प्रकार के बेहूदा दोष लगाकर पूर्वजों को कलङ्कित हम करते हैं या आप? चूँकि शराब पीना वेद के विरुद्ध और पाप है और पुराणों के लेखों में पूर्वजों (वृद्धों और महापुरुषों) में शराब का पीना पाया जाता है, अतः पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

पोपजी—सज्जनो! पुराणों में कहीं भी शराब पीने का वर्णन नहीं है, अतः पुराण वेद के विरुद्ध नहीं हैं। लाला साहब के दोनों प्रमाण झूठे और निराधार सिद्ध हुए हैं, अतः पुराण सर्वथा वेदानुकूल हैं।

तोपजी—आप पुराणों की व्यर्थ वकालत (समर्थन) करते हैं। पुराणों में शराब ही क्या, समस्त दुराचारों का समर्थन विद्यमान है। पुराण सनातनधर्म के ग्रन्थ नहीं हैं, अपितु वे सनातनधर्म के विरोधी वाममार्गियों की रचना हैं जोकि उन्होंने सनातनधर्म के पूर्वजों को कलङ्कित करने के लिए ऋषि-मुनियों के नाम से बना डाले हैं। वाममार्गियों ने पुराणों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों—मनुस्मृति, रामायण, महाभारत आदि में भी पौराणिक शिक्षा का प्रक्षेप कर दिया है। चूँकि पुराणों में मद्यपान की शिक्षा विद्यमान है, अतः पुराण वेद के सर्वथा विरुद्ध हैं। हमने जो दो प्रमाण अपनी पुस्तक में दिये थे वे सर्वथा सत्य हैं। उनके अतिरिक्त कुछ और प्रमाण भी अङ्कित कर देते हैं।

१. वन में जाते हुए मार्ग में सीता ने यमुना नदी को सम्बोधित करके इस प्रकार कहा कि—

यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च। स्वस्ति प्रत्यागते रामे पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम्॥

—वा० रा० अयो० ५५।२०

अर्थ—राम के अयोध्या नगरी में सुखपूर्वक लौट आने पर मैं सौ घड़े शराब और एक सहस्र गौओं से तेरा यज्ञ करूँगी।

२. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ७६ में लिखा है कि राक्षस लोगों ने कच को जलाकर, पीसकर तथा शराब में मिलाकर शुक्राचार्य को पिला दिया। तब शुक्राचार्य ने यह मर्यादा निर्धारित की कि आज से जो ब्राह्मण शराब पीएगा उसे ब्रह्महत्या का पाप लगेगा। इससे सिद्ध है कि शुक्राचार्य से पूर्व शराब का पीना पाप में सम्मिलित नहीं था, तभी तो शुक्राचार्य ने शराब पी थी।

३. मनुस्मृति में लिखा है—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेष भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥

—मनु० ५.५६

अर्थ—न मांस-भक्षण में पाप है और न शराब पीने और व्यभिचार करने में ही कोई पाप है। यह तो प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, यदि इन्हें छोड़ दे तो महापुण्य का कार्य है।

इस श्लोक में मांस, शराब और व्यभिचार के प्रति घृणा करने को पुण्य बताया है, परन्तु प्रवृत्ति को पाप नहीं बताया।

४. महाभारत मौसलपर्व में स्पष्टरूप से वर्णन किया गया है कि यादवों में शराब पीने का व्यापक प्रचलन था और इस शराब पीने से ही वे आपस में लड़कर नष्ट हो गये।

५. वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग ३३ में अङ्कित है कि बाली के मरने के पश्चात् राजा बनकर सुग्रीव ने स्त्रियों-सहित खूब शराब पी।

६. भविष्यपुराण, उत्तरपर्व, अध्याय ६१, श्लोक ४५ में लिखा है कि देवी की शराब और मांस से पूजा करनी चाहिए।

७. भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व, अध्याय ५७ में उल्लेख है कि सूर्य की शराब और मांस से पूजा करनी चाहिए।

निष्कर्ष यह कि पौराणिक साहित्य में सैकड़ों प्रमाण विद्यमान हैं जिनमें मद्यपान की आज्ञा दी गयी है। चूँकि शराब पीना वेद के विरुद्ध है, अतः अष्टादश पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

२. पुराणों में मांस-भक्षण

सिद्धान्त—

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥

—अथर्व० ६।१४०।२

अर्थ—तुम चावल खाओ। तुम जौ, माष (उड़द) और तिल खाओ। तुम्हारी समृद्धि के लिए, नाना प्रकार के रत्न प्राप्त करने के लिए तुम्हारा यही भाग रखा गया है। दाँतों के द्वारा तुम माता और पिता को—मादा और नर प्राणियों को मत मारो, अर्थात् उपर्युक्त अन्न खाओ और किसी भी प्राणी को हानि मत पहुँचाओ।

पुष्टिं पशूनां परिजग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात्॥ —अथर्व० १९।३१।५

अर्थ—दो पैरवाले (मनुष्य और पक्षी) और चार पैरवाले पशुओं से तथा जौ-चावल आदि नाना प्रकार के धान्यों से मैं पुष्टि ग्रहण करता हूँ। ज्ञान का स्वामी, सर्वजगदुत्पादक और सबका स्वामी परमात्मा मुझे पशुओं का दूध और ओषधियों का रस प्रदान करे।

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ —अथर्व० २।२४।१

अर्थ—हे नीच हिंसक! हे वध करनेवाले! हे सर्वभोजियो! तुम्हारे अनुयायी लौट जाएँ, तुम्हारा हथियार लौट जाए। तुम जिसके सम्बन्धी हो उसे खाओ। जिसने तुम्हें भेजा है, उसे खाओ। अपना मांस खाओ।

इस मन्त्र में मांसभक्षण को भीषण पाप बताया गया है।

चूँकि उपर्युक्त मन्त्रों में मनुष्यों का भोजन अन्न, दूध और वनस्पतियाँ वर्णित की गयी हैं और मांस खाने का निषेध किया गया है, अतः मांस का खाना वेद के विरुद्ध और पाप है; परन्तु पुराणों में मांस खाने के इतिहास भरे पड़े हैं, इसलिए पुराण वेद के विरुद्ध हैं।

—:o:—

पोपजी—पाठकगण! वेदों में दो मार्गों का वर्णन है—एक, निवृत्ति-मार्ग अर्थात् सत्त्वगुण भाव से संसार से विरक्त होकर मुक्ति प्राप्त करना; दूसरा, प्रवृत्ति-मार्ग, अर्थात् अग्नि और तमोगुणी प्रकृति से वेदों के अनुसार यज्ञ करके स्वर्ग आदि की प्राप्ति। वेदों और शास्त्रों में निवृत्ति-मार्ग की बड़ी प्रशंसा की गयी है, परन्तु दूसरा मार्ग, अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग भी वैदिक

है। वेदों में कई प्रकार के पशु-यागों को करने की आज्ञाएँ मिलती हैं।

तोपजी—वेदों में प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग के अर्थ हैं कि प्रवृत्ति अर्थात् सांसारिक कार्यों में पूर्णता प्राप्त करना और निवृत्तिमार्ग अर्थात् सांसारिक कार्यों को छोड़कर केवल ब्रह्म की खोज में मग्न हो जाना। प्रवृत्तिमार्ग का यह अर्थ कदापि नहीं है कि पशुओं को मारकर उनके मांस से यज्ञ किये जाएँ, क्योंकि वेद में यज्ञों को 'अध्वर' लिखा है और निरुक्त में अध्वर का अर्थ किया गया है कि जिसमें किसी प्रकार की हिंसा न हो और यज्ञ का अर्थ है कि जिस कर्म में विद्वानों की पूजा की जाए, श्रेष्ठों की सङ्गति की जाए और दान किया जाए—उस कर्म का नाम यज्ञ है। न तो पशुओं को मारकर उनके मांस से हवन करने का नाम यज्ञ हो सकता है और न ही वेदों में उनका वर्णन है। यह सब पौराणिक वाममार्गियों की लीला है, जिन्होंने यज्ञों के नाम से पशुओं को मारना, उनके मांस से हवन करना और खाना आरम्भ किया और पुराणों में अनेक ऋषियों पर दोषारोपण किया तथा वाममार्गी टीकाकारों ने ही वेदों को कलङ्कित करने के लिए वेदों की इस प्रकार की टीकाएँ कीं जिन टीकाओं में उपर्युक्त यज्ञों को वैध ठहराया गया। पशुओं को मारकर उनके मांस से यज्ञ करने और उनके मांस को खाने की पौराणिक प्रथा वेदों के सर्वथा विरुद्ध और महापाप है और इसे वैदिक बताना भी महामूर्खता है।

पोपजी—जैसेकि स्वामी दयानन्दजी ने भी अपने सत्यार्थप्रकाश संवत् १८७५ के पृष्ठ १४८ पर स्पष्ट लिखा हुआ है कि[१] "गोमेध, अश्वमेध आदि वैदिक पशुयज्ञ अवश्य करने चाहिएँ और इन यज्ञों के करने से बड़ा भारी उपकार होता है।"

तोपजी—आपका कर्त्तव्य था कि आप अपने दावे को सिद्ध करने के लिए कोई वेदमन्त्र प्रस्तुत करते, परन्तु आपने अपने समर्थन में वह सत्यार्थप्रकाश प्रस्तुत किया है जिसे स्वामीजी ने अपने जीवनकाल में ही अप्रामाणिक घोषित करके अग्नि की भेंट कर दिया था, क्योंकि प्रथम बार सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि स्वामीजी की देख-रेख में मुद्रित नहीं हुए, अतः उनके अन्दर भी पौराणिक वाममार्गियों को अपनी लीला प्रविष्ट करने का अवसर मिल गया, परन्तु जब स्वामीजी को पता लगा तो स्वामीजी ने उसी समय उन पुस्तकों को वेद के विरुद्ध समझकर अग्नि में झोंक दिया और निम्न विज्ञापन जनता को सावधान करने के लिए संवत् १९३५ तदनुसार १८७८ में प्रकाशित और प्रचारित किया—

विज्ञापन

सबको विदित हो कि जो-जो बातें वेदों की और उनके अनुकूल हैं, उनको मैं मानता हूँ, विरुद्ध बातों को नहीं। इससे जो-जो मेरे बनाये सत्यार्थप्रकाश वा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तकों के वचन बहुत-से मिलते हैं, वे उन-उन ग्रन्थों के मतों को जानने के लिए लिखे हैं। उनमें से वेदार्थ के अनुकूल का साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध का अप्रमाण मानता हूँ। जो-जो बातें वेदार्थ से निकलती हैं, उन सबका प्रमाण करता हूँ, क्योंकि वेद ईश्वरवाक्य होने से सर्वथा मुझको मान्य है और जो-जो ब्रह्माजी से लेकर जैमिनि मुनिपर्यन्त महात्माओं के बनाये वेदार्थ-अनुकूल ग्रन्थ हैं, उनको भी मैं साक्षी के

---

१. झूठ बोलना और झूठे प्रमाण देना पोपजी की रग-रग में भरा है। आदिम सत्यार्थप्रकाश में 'वैदिक पशुयज्ञ' शब्द है ही नहीं। वहाँ का पाठ है—"अश्वमेध और गोमेध का जो करना उससे बड़ा संसार का उपकार है, सो पहले कह दिया।" इसमें क्या दोष है? महर्षि 'अश्व' और 'गोमेध' से घोड़े और गाय का वध नहीं मानते, अपितु राष्ट्र का निर्माण और भूमि का शोधन आदि मानते हैं।
—जगदीश्वरानन्द

समान मानता हूँ। "और जो सत्यार्थप्रकाश के ४२ पृष्ठ और २५ पंक्ति में पित्रादिकों में से जो कोई जीता हो, उसका तर्पण न करे और जितने मर गये हैं उनका तो अवश्य करे तथा पृष्ठ ४७, पंक्ति २१ में "मरे भये पित्रादिकों का तर्पण और श्राद्ध करता है", इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय में जो कुछ छापा गया है, सो लिखने और शोधनेवालों की भूल से छप गया है।" इसके स्थान में ऐसा समझना चाहिए कि "जीवितों की श्रद्धा से सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना यह पुत्रादि का परमधर्म है और जो-जो मर गये उनका नहीं करना, क्योंकि न तो कोई मनुष्य मरे हुए जीव के पास किसी पदार्थ को पहुँचा सकता और न मरा हुआ जीव पुत्रादि के दिये पदार्थों को ग्रहण कर सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीते पिता आदि की प्रीति से सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध है, अन्य नहीं। इस विषय में वेदमन्त्रादि का प्रमाण 'भूमिका' के ११ अंक के पृष्ठ २५१ से लेकर १२ अंक के २६७ पृष्ठ तक छपा है, वहाँ देख लेना।" —[1]ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, प्रथम भाग पृ० १५४-१५५, रा० ला० क० ट्रस्ट

अब कहिए, जिस पुस्तक को स्वामीजी ने रद्द कर दिया हो और जिस पुस्तक को आर्यसमाज सामूहिकरूप से अप्रामाणिक मानता हो, उसका आर्यसमाज के समक्ष प्रमाण देना धोखा देना नहीं तो और क्या है?

पोपजी—इतना ही नहीं, अपितु स्वामीजी ने यजुर्वेद अध्याय १९ मन्त्र २० के भावार्थ में स्पष्ट लिखा है कि "जो इस संसार में बहुत पशुओंवाला होम करके उस बचे हुए मांस को खानेवाला और वेदों को जाननेवाला जो पुरुष यज्ञ करता है, वह प्रसन्नता को प्राप्त करता है।"

तोपजी—झूठ बोलते हुए लज्जा तो नहीं आती? बताइए तो सही मांस शब्द आपने कहाँ से लिख दिया? हम पोपजी को चैलैञ्ज करते हैं कि वे ऋषि दयानन्दजी के भाष्य से 'मांस' शब्द निकालकर दिखाएँ। इस भाष्य में स्पष्ट कहा गया है कि "जो इस संसार में बहुत पशुओंवाला, होम करके हुतशेष का भोक्ता, वेदवित् और सत्य-क्रियाओं का कर्त्ता मनुष्य होवे, सो प्रसन्नता को प्राप्त होता है।" इसकी विस्तृत व्याख्या और उत्तर इसी पुस्तक के पृष्ठ ३३-३४ पर ध्यानपूर्वक पढ़ें, आपकी सन्तुष्टि हो जाएगी। हवन वही मनुष्य कर सकता है जिसके पास पशु अधिक होने के कारण घी पर्याप्त हो। मांस का हवन करना वेद के विरुद्ध और महापाप है।

पोपजी—सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ २८२ पर स्वामीजी ने लिखा है कि खेती की हानि करनेवाले हिरन आदि को अवश्य मारना चाहिए और उनका मांस कोई खानेवाला खावे तो संसार की कुछ हानि नहीं होती।

तोपजी—धोखा देना और मिथ्या भाषण करना इसी का नाम है कि 'हिरन आदि' अपनी ओर से मिला दिया और 'अवश्य' शब्द भी बढ़ा दिया तथा अगला पाठ छोड़ दिया कि कहीं पोल न खुल जाए। देखिए, सत्यार्थप्रकाश का मूलपाठ यह है—

"यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों उनको दण्ड देवें और प्राण से भी वियुक्त कर दें।

प्रश्न—फिर क्या उनका मांस फेंक दें?

उत्तर—चाहे फेंक दें, चाहे कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें वा जला देवें, अथवा कोई मांसाहारी खावे तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती, किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव

---

१. यह पता मूल ग्रन्थ में नहीं था। पाठकों को देखने में सरलता हो, इसलिए हमने लिख दिया है। —जगदीश्वरानन्द

मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है। जितना हिंसा, चोरी, विश्वासघात, छल-कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है, वह अभक्ष्य [है]।''

अब बताइए, इस लेख से मांस-भक्षण कहाँ सिद्ध हुआ? इसका विशेष विवरण पूर्व ३२ पृष्ठ पर देखें।

पोपजी—संस्कारविधि में स्वामीजी ने उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के लिए आर्यों को आदेश दिया है कि गर्भाधान से पूर्व पुरुष और स्त्री को खिचड़ी और मांस अवश्य खिलाना चाहिए जिससे सन्तान बलिष्ठ हो।

तोपजी—उपर्युक्त लेख वर्त्तमान संस्कारविधि में जिसको कि आर्यसमाज प्रामाणिक मानता है, बिल्कुल नहीं है। यदि आपका तात्पर्य उस संस्कारविधि से है जो पूर्व-विज्ञापन के अनुसार रद्द करके अग्नि की भेंट की जा चुकी है तो उसका प्रमाण हमारे लिए क्या मूल्य रखता है? हम ऐसी पुस्तकों को जिनमें मांस खाने की आज्ञा हो, ठोकर से गन्दी नाली में फेंकने और अग्नि में जलाने के योग्य समझते हैं, अतः हमारे लिए यह प्रमाण देना सर्वथा व्यर्थ है।

पोपजी—इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि मांस से हवन करना और हवन से बचे हुए मांस को खाने की आज्ञा अपने यजुर्वेदभाष्य के अनुसार दयानन्दजी ने भी आर्यसमाज को दी हुई है, प्रत्युत स्वामी दयानन्दजी ने सन्तान के उत्तम होने के लिए मांस का खाना अनिवार्य ठहराया है।

तोपजी—हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि पोपजी ने प्रमाण सर्वथा ग़लत दिये हैं। स्वामी दयानन्दजी की किसी पुस्तक में भी मांस खाने की आज्ञा नहीं है। रद्द किये हुए अप्रामाणिक सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि में जो मांस का लेख है वह भी पाखण्डी पौराणिकों की कूटनीति से पुस्तकों में प्रविष्ट हुआ, जिसका ज्ञान होते ही स्वामीजी ने उन पुस्तकों को दियासलाई दिखा दी और उन्हें दूसरी बार अजमेर में छपवाया गया। आर्यसमाज मांस-भक्षण को वेद के विरुद्ध और पाप मानता है।

पोपजी—और स्वामीजी का यजुर्वेदभाष्य तथा सत्यार्थप्रकाश के लेख जब आर्यसमाजियों को मांस खाने की प्रेरणा देते हैं, अपितु मांस को प्रधानता देते हैं, जिससे आर्यसमाज में अब तक दो पार्टियाँ—मांस-पार्टी और घास-पार्टी बराबर चली आ रही हैं तो सनातनधर्मियों पर ही व्यर्थ की टीका-टिप्पणी करना कहाँ का न्याय है?

तोपजी—आर्यसमाज की किसी पुस्तक में मांस खाने की आज्ञा नहीं है। आर्यसमाज में दो पार्टियाँ मांस के कारण नहीं, क्योंकि दोनों पार्टियों की प्रामाणिक पुस्तकें एक ही हैं, जिनमें मांस-भक्षण को पाप वर्णित किया गया है। दो पार्टियाँ शिक्षा-पद्धति में मतभेद के कारण हैं, इसलिए एक पार्टी का नाम कॉलेज-पार्टी और दूसरी का नाम गुरुकुल-पार्टी है। इनका मांस-पार्टी और घास-पार्टी नाम रखना भी वाममार्गी पौराणिक पोपों का पामरपन ही है।

अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों में मांस-भक्षण का कितना प्रबल खण्डन किया गया है—

१. मद्य-मांस आदि के सेवन से अलग रहें। —सत्यार्थप्रकाश, द्वितीयसमुल्लास

२. ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस......आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें।
—सत्यार्थप्रकाश, तृतीयसमुल्लास

३. जो मादक और हिंसाकारक द्रव्यों को छोड़के भोजन करनेहारे हों वे हविर्भुज।
—सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थसमुल्लास

४. जब मांस का निषेध है, तो सर्वथा ही निषेध है। —सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थसमुल्लास

५. मद्य-मांसादि वर्जित कर आत्मा ही के सहाय से विचरता रहे।
—सत्यार्थप्रकाश, पञ्चमसमुल्लास

६. हाँ, इतना कारण तो है कि जो लोग मांस-भक्षण और मद्य-पान करते हैं उनके शरीर और वीर्य आदि धातु भी दुर्गन्ध आदि से दूषित होते हैं। —सत्यार्थप्रकाश, दशमसमुल्लास

७. किन्तु इनके मद्य-पान आदि दोषों को छोड़ गुणों को ग्रहण करें।
—सत्यार्थप्रकाश, दशमसमुल्लास

८. हाँ, इतना अवश्य चाहिए कि मद्य-मांस का ग्रहण कदापि भूलकर भी न करें।
—सत्यार्थप्रकाश, दशमसमुल्लास

९. हाँ, मुसलमान, ईसाई आदि मद्य-मांसाहारियों के हाथ के खाने में आर्यों को भी मद्य-मांसादि खाना-पीना अपराध पीछे लग पड़ता है। —सत्यार्थप्रकाश, दशमसमुल्लास

१०. **'वर्जयेन्मधु मांसं च'** (मनु०)—मद्य और मांस को छोड़ दे।
—सत्यार्थप्रकाश, दशमसमुल्लास

११. और मद्य-मांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्य-मांस आदि के परमाणुओं से ही पूरित है, उनके हाथ का न खावें। —सत्यार्थप्रकाश, दशमसमुल्लास

१२. अथवा कोई मांसाहारी खावे तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती, किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है। —सत्यार्थप्रकाश, दशमसमुल्लास

१३. उन्होंने मद्यपान, गोमांस आदि का खाना-पीना स्वीकार किया, उसी समय से भोजन आदि में बखेड़ा हो गया। —सत्यार्थप्रकाश, दशमसमुल्लास

१४. जैसेकि मद्य, मांस-सेवन, बाल्यावस्था में विवाह एवं स्वेच्छाचार आदि दोष बढ़ जाते हैं। —सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लास

१५. पश्चात् जब विषयासक्त हुए तो मांस-मद्य का सेवन गुप्त-गुप्त करने लगे।
—सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लास

१६. 'यज्ञ में मांस खाने में दोष नहीं' ऐसी पामरपन की बातें वाममार्गियों ने चलाई हैं। —सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लास

१७. 'मांसभक्षण करने, मद्य पीने, पर-स्त्री गमन करने आदि में दोष नहीं है' यह कहना छोकड़पन है। —सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लास

१८. दुष्ट पुजारियों को धन देते हैं, वे उस धन को वेश्या, पर-स्त्रीगमन, मद्य-मांसाहार, लड़ाई-बखेड़े में व्यय करते हैं, जिससे दाता के सुख का मूल नष्ट होकर दुःख होता है।
—सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लास

१९. मांस नहीं खाते, न मद्य पीते हैं, फिर अच्छे क्यों नहीं?
—सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लास

२०. और जो मांस खाना है यह भी उन्हीं वाममार्गी टीकाकारों की लीला है, इसलिए उनको राक्षस कहना उचित है, परन्तु वेदों में कहीं मांस का खाना नहीं लिखा।
—सत्यार्थप्रकाश, द्वादशसमुल्लास[1]

---

१. ये सभी उद्धरण अजमेर-मुद्रित 'सत्यार्थप्रकाश' के सातवें संस्करण से दिये गये हैं। इन उद्धरणों के आगे पृष्ठ और पंक्ति भी दी गयी थी, उसे अनुपयोगी समझकर हटा दिया है, क्योंकि भिन्न-भिन्न संस्करणों में पृष्ठ-संख्या भिन्न है। वैसे ये सभी उद्धरण ठीक हैं, हमने सभी का मिलान कर लिया है। **—जगदीश्वरानन्द**

२१. मांस, रूखा—शुष्क अन्न मत खावे और मद्य आदि मत पीवे।

—संस्कारविधि, वेदारम्भ-संस्कार

२२. स्वामीजी ने एक पुस्तक 'गोकरुणानिधि' लिखी है जिसमें पशुओं की रक्षा करने के लाभ और उनका वध करने की हानियाँ वर्णित की गयीं हैं और मांस खाने का प्रबल खण्डन युक्ति और प्रमाणों से किया है। उनमें से हम केवल एक प्रश्नोत्तर यहाँ दे रहे हैं—

"**हिंसक**—जिस देश में सिवाय मांस के अन्य कुछ नहीं मिलता, वहाँ वा आपत्काल में अथवा रोगनिवृत्ति के लिए मांस खाने में दोष नहीं होता।

रक्षक—यह आपका कहना व्यर्थ है, क्योंकि जहाँ मनुष्य रहते हैं, वहाँ पृथिवी अवश्य होती है। जहाँ पृथिवी है, वहाँ खेती व फल-फूल आदि होते हैं और जहाँ कुछ भी नहीं होता वहाँ मनुष्य रह भी नहीं सकते और जहाँ ऊसर भूमि है, वहाँ मिष्ट जल और फलाहार आदि के न होने से मनुष्यों का रहना भी दुर्घट है और आपत्काल में भी अन्य उपायों से निर्वाह कर सकते हैं, जैसे मांस न खानेवाले करते हैं और बिना मांस के रोगों का निवारण भी ओषधियों से यथावत् होता है, इसलिए मांस खाना अच्छा नहीं।"

२३. हे मनुष्यो! सब यज्ञों में अग्नि आदि को ही पशु जानो, किन्तु प्राणी इन यज्ञों में मारने योग्य नहीं, न होमने योग्य हैं, जो ऐसा जानकर सुगन्धि आदि अच्छे-अच्छे पदार्थों को भली-भाँति बना आग में होम करनेहारे होते हैं.....वे सत्कारयुक्त होते हैं।

—यजुर्वेदभाष्य २३।१७ का ऋषिकृत भावार्थ

२४. हे शक्तिमन्! जो स्त्रियों के बीच प्राणियों का मांस खानेवाला व्यभिचारी पुरुष वा पुरुषों के बीच उक्त प्रकार की व्यभिचारिणी स्त्री वर्तमान हो, उस पुरुष और स्त्री को बाँधकर, ऊपर को पग और नीचे को शिर कर, ताड़ना करके अपनी प्रजा के मध्य उत्तम सुख को धारण करो और अपने प्रकट न्याय को भली-भाँति चलाओ।

—ऋषिकृत यजुर्वेदभाष्य २३।२१

ये हमने थोड़े-से प्रमाण ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों में से दे दिये हैं। इसी प्रकार के सैकड़ों प्रमाण विद्यमान हैं, जिनमें मांस खाने और यज्ञ में पशुओं के मारने तथा उनका होम करने को पाप बताया गया है। इतने स्पष्ट प्रमाणों की विद्यमानता में भी धोखा देना, मिथ्याभाषण और लेख को तोड़-मरोड़कर आर्यसमाज के ग्रन्थों से मांस-भक्षण सिद्ध करना अपनी आत्मा को बेचना नहीं तो और क्या है?

पोपजी—महाशय! सनातनधर्म में शाक्त आदि वैदिक सम्प्रदायों में आरम्भ से ही पशुयज्ञों का विधान पाया जाता है। आपने पहले जो अथर्ववेद का प्रमाण दिया था उसमें निवृत्तिमार्ग की और मांस न खाने की अधिक प्रशंसा की गयी है, परन्तु साथ ही प्रवृत्तिमार्ग का निषेध भी नहीं है, अतः हम सनातनधर्मी देवताओं के लिए बलि आदि का विधान वैदिक मानते हैं।

तोपजी—यूँ सीधी तरह से स्वीकार कीजिए कि सनातनधर्म यज्ञों में पशुओं का वध करने और उनका मांस खाने को वेद के अनुसार मानता है। भला! हमने जो प्रमाण दिया वह तो निवृत्तिमार्गवालों के लिए है। तनिक कोई ऐसा मन्त्र भी तो वेद में से बताया होता जो प्रवृत्तिमार्गवालों के लिए यज्ञों में देवताओं के नाम से पशुओं की बलि देकर उनका मांस खाने की आज्ञा देता हो। केवल मौखिक जोड़-घटा से तो आपका देवताओं के लिए पशुओं की बलि देना वैदिक विधान नहीं माना जा सकता। कृपा करके अपने पौराणिक दुर्व्यसनों—मद्यपान, मांसभक्षण और व्यभिचार आदि को वैदिक विधान बताकर वेदों को तो कलङ्कित

करने का दूषित प्रयत्न न करें।

पोपजी—वाल्मीकि रामायण का प्रमाण देकर जो आपने रामचन्द्रजी द्वारा हिरन मारकर हवन करने का वर्णन किया है, वह आपके ही स्वामीजी के यजुर्वेद-भाष्य के अनुकूल मान्य होने से वेदों के अनुसार ही है। इसपर आपकी टीका-टिप्पणी सरासर निराधार है। स्वामीजी ने हिरन आदि पशुओं को मारने की आज्ञा यजुर्वेदभाष्य में कई स्थानों पर दी हुई है। देखिए, यजुर्वेद १३।४८ के भाष्य में स्वामीजी ने घोड़े आदि एक खुरवाले पशुओं की रक्षा करने और खेती को हानि पहुँचानेवाले पशुओं को मारने की स्पष्ट आज्ञा दी हुई है।

तोपजी—स्वामीजी के वेदभाष्य से रामचन्द्रजी के कर्म को वैदिक सिद्ध करना निर्लज्जता की पराकाष्ठा है। आपको सनातनधर्म का कोई वेदभाष्य प्रस्तुत करके सिद्ध करना चाहिए था। स्वामीजी ने पशुओं को मारकर होम करना कहीं भी नहीं लिखा। देखिए, हम स्वामीजी का भाष्य शब्दशः उद्धृत कर देते हैं—

''मनुष्यों को उचित है कि एक खुरवाले घोड़े आदि पशुओं और उपकारक वन के पशुओं को भी कभी न मारें। जिनके मारने से जगत् की हानि और न मारने से सबका उपकार होता है उनका सदैव पालन-पोषण करें और जो हानिकारक पशु हों, उन्हें मारें।''

—यजुर्वेदभाष्य १३.४८

भला बतलाएँ, स्वामीजी के इस भाष्य से आपका क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ? इसमें तो यह लिखा है कि उपयोगी पशुओं का पालन-पोषण करना चाहिए और हानिकारक पशुओं को मारना चाहिए। मारने के भी दो अर्थ हैं—दण्ड देना अथवा जान से मार देना। हानिकारक प्राणी साँप, सिंह आदि की तो बात ही क्या हानिकारक तो मनुष्य भी मार दिये जाते हैं। इसलिए प्रजा को सङ्कट में डालनेवाले प्राणियों वा मनुष्यों को दण्ड देना या मारना राजा का सच्चा कर्त्तव्य और धर्म है। इसमें यह कहीं नहीं लिखा कि मारे हुए पशु का हवन करना चाहिए या उसका मांस खाना चाहिए, परन्तु रामचन्द्रजी की आज्ञा से लक्ष्मण ने जो मृग मारा वह हानिकारक होने के कारण नहीं मारा, प्रत्युत वह तो गृहप्रवेश-संस्कार के लिए मारा और राम ने स्वयं उसके मांस से हवन किया। देखिए, वाल्मीकि रामायण में लिखा है—

ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां यक्ष्यामहे वयम्॥ —वा० रा० अयो० ५३।२२

''मृग का मांस लाकर हम अपनी कुटि में हवन करेंगे, क्योंकि दीर्घायु चाहनेवालों के लिए ऐसा करना आवश्यक है। हे लक्ष्मण! शीघ्र मृग मारकर लाओ जिससे शास्त्रानुसार कार्य किया जाए। लक्ष्मण मृग मार लाया और उसका मांस तैयार किया और राम ने उस मांस से मन्त्र बोलकर हवन किया।''

रामचन्द्रजी का यह कर्म वेदों के अनुकूल सिद्ध नहीं किया जा सकता।

पोपजी—और यजुर्वेद [१३।५१] में भी सेही आदि तथा हिरनों को मारने की आज्ञा दी है। यदि स्वामीजी के यजुर्वेद-भाष्य के अनुसार भगवान् रामचन्द्रजी ने हिरन को मारा तो आपके सिद्धान्त के अनुसार ही होने से आक्षेप करने योग्य नहीं।

तोपजी—आप रामचन्द्रजी के कर्म को वैदिक सिद्ध करने के लिए व्यर्थ ही ऋषि दयानन्दजी का भाष्य प्रस्तुत करने का कष्ट उठा रहे हैं। ऋषि दयानन्द के भाष्य से आपका स्वार्थ सिद्ध होना कठिन है। हाँ, यदि आप अपने ही वाममार्गी पौराणिक टीकाकार महीधर आदि की शरण में जाएँ तो वहाँ आपको घोड़े आदि पशुओं का यज्ञ में मारने का विधान मिलना सम्भव है। हम स्वामीजी के इस भाष्य को भी अङ्कित कर देते हैं—

"मनुष्यों को उचित है कि बकरे और मोर आदि श्रेष्ठ पशु-पक्षियों को न मारें और इनकी रक्षा करके उपकार के लिए संयुक्त करें और जो अच्छे पशुओं और पक्षियों को मारनेवाले हों उन्हें शीघ्र ताड़ना देवें। हाँ, जो खेती को उजाड़नेहारे श्याही आदि पशु हैं, प्रजा की रक्षा के लिए उन्हें मारें।"

—यजुर्वेदभाष्य १३।५१

इस वेदमन्त्र के अनुसार तो रामचन्द्रजी का उपर्युक्त कर्म दण्ड के योग्य है, क्योंकि उन्होंने मृग को न तो प्रजा की रक्षा के लिए मारा और न ही वहाँ खेती को हानि पहुँचाने का प्रश्न था और न ही वह मृग श्याही था, क्योंकि श्याही एक लम्बे-लम्बे काँटोंवाला प्राणी होता है जो खेती को सर्वथा नष्ट कर देता है, अतः रामायण में वर्णित रामचन्द्रजी का उपर्युक्त कर्म वेद के सर्वथा विरुद्ध, पाप और घृणा के योग्य है।

पोपजी—परन्तु लाला साहब ने रामायण के अयोध्याकाण्ड का प्रमाण देकर जो भगवान् रामचन्द्रजी और महारानी सीताजी के मांस खाने का वर्णन किया है वह बिल्कुल झूठ है। रामायण में इसकी चर्चा तक भी नहीं है।

तोपजी—हम पोपमण्डल की भाँति उत्तरदायित्वहीन व्यक्ति नहीं जो अपनी पुस्तक में अशुद्ध प्रमाण लिखें। हमारा प्रमाण बिल्कुल ठीक है, परन्तु झूठ बोलने का ठेका आपने ले-रक्खा है जो विद्यमान लेख से इन्कार करते हैं। देखिए, वाल्मीकि रामायण में इस प्रकार लिखा है—

तां तथा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरिनिम्नगाम्। निषसाद गिरिप्रस्थे सीतां मांसेन छन्दयन्॥१॥
इदं मेध्यमिदं स्वादु निष्टप्तमिदमग्निना। एवमास्ते स धर्मात्मा सीतया सह राघवः॥२॥

—वा० रा० अयो० ९६।१-२

अर्थ—पर्वत से नीचे उतरती हुई उस मन्दाकिनी नदी को सीता को दिखाकर रामचन्द्रजी पर्वत की चोटी पर बैठ गये और सीता को मांस से प्रसन्न करने लगे और कहने लगे यह बहुत पवित्र है और यह अत्यन्त स्वादु है। यह आग से भुना हुआ है। इस प्रकार धर्मात्मा रामचन्द्रजी सीता के साथ बैठ गये।

इसपर गोविन्दराज टीकाकार लिखता है—

इदं शब्देन स्वभुक्तशेषमिति गम्यते।

यह कहने से कि यह स्वादु है और भुना हुआ है, प्रतीत होता है कि राम ने पहले स्वयं खाकर फिर बचा हुआ सीता को दिया था और है भी ठीक, अन्यथा स्वाद का पता कैसे लग सकता था?

यह है वह प्रमाण जिससे आप स्पष्ट इन्कार करके जान छुड़ाना चाहते हैं। रामायण में ये दो ही प्रमाण नहीं हैं और भी बहुत-से प्रमाण हैं जो आगे लिखे जाएँगे। श्रीमन्! इस विषय को आप जितना भी छेड़ेंगे उतना ही आपको लज्जित होना पड़ेगा, क्योंकि आर्यसमाज के प्रामाणिक ग्रन्थों में तो एक भी प्रमाण मांसभक्षण के समर्थन में मिलना कठिन है और आपके प्रत्येक ग्रन्थ में भरे पड़े हैं। इसका कारण यह है कि आप यज्ञ में देवताओं के नाम से बलि देकर मांसभक्षण को वेद के अनुकूल मानते हैं, परन्तु हम इस कर्म को पौराणिक वाममार्गियों का वेदविरुद्ध पामरपन मानते हैं।

पोपजी—मनुस्मृति के जो प्रमाण दिये गये हैं उनका उत्तरदायित्व केवल सनातनधर्म ही नहीं, प्रत्युत मनुस्मृति के प्रमाणों का उत्तरदायित्व आर्यसमाज पर भी है। क्या अनोखा ढङ्ग है कि नियोग के सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए और बलिवैश्वदेवयज्ञ की विधि के लिए कोई वेदप्रमाण न मिलने पर मनुस्मृति के ही प्रमाण को वेदाज्ञा मानकर नियोग

की आज्ञा देना और बलिवैश्वदेवयज्ञ करने की आज्ञा देना और मांसप्रकरण के मनुस्मृति के प्रमाणों को केवल सनातनधर्मियों के नाम ही मढ़ देना और इस प्रकरण के श्लोकों को घृणा की दृष्टि से देखना आपकी न्यायप्रियता का जीवित उदाहरण है।

तोपजी—चूँकि आर्यसमाज स्मृतियों को वहाँ तक प्रमाण मानता है जहाँ तक वे वेद के अनुकूल हों। जहाँ पर वे वेद के विरुद्ध हों वहाँ पर वे आर्यसमाज के लिए प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि वेद में नियोग और बलिवैश्वदेवयज्ञ की आज्ञा है, अतः मनुस्मृति का वह लेख जो नियोग और बलिवैश्वदेवयज्ञ का वर्णन करता है, वेद के अनुकूल होने से आर्यसमाज के लिए प्रमाण है, परन्तु क्योंकि वेद में मांसभक्षण का निषेध है, इसलिए मनुस्मृति का वह लेख जो मांस खाने का वर्णन करता है, वेद के विरुद्ध होने से आर्यसमाज के लिए प्रमाण नहीं है। यह कोई अनोखा ढङ्ग नहीं है, क्योंकि यह आर्यसमाज का पक्का सिद्धान्त है। चूँकि सनातनधर्मी इस कसौटी को मानते नहीं और जो कुछ संस्कृत में लिखा जाए उसे अन्धाधुन्ध आँखें बन्द करके प्रमाण मान लेते हैं; अतः मनुस्मृति के मांसवाले श्लोकों का उत्तरदायित्व उन्हीं पर पड़ता है। आर्यसमाज के दृष्टिकोण से वह वाममार्गियों की मिलावट है, अतः इस प्रकार का पौराणिक वाममार्गियों का प्रक्षेप किया हुआ मांसभक्षण का लेख पौराणिकों के लिए ही प्रमाण हो सकता है, आर्यसमाज के लिए नहीं। मनुस्मृति के वे वेद के विरुद्ध श्लोक ये हैं—

"मछली के मांस से पितर दो मास तक तृप्त होते हैं, हिरन के मांस से तीन मास और भेड़ के मांस से चार मास, पक्षियों के मांस से पाँच मास, बकरे के मांस से छह मास, पार्षत (चित्रमृग) के मांस से सात, एन (काले मृग) के मांस से आठ मास, रुरु मृग के मांस से नौ मास, भैंसे और सूअर के मांस से दस मास, खरगोश और कछुए के मांस से पितर ग्यारह मास तक तृप्त रहते हैं।"[1]

पोपजी—अस्तु, कुछ भी हो हम पाठकों के ज्ञान के लिए इसका रहस्य लिख देते हैं। सज्जनो! मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र प्रत्येक प्रकार के मनुष्यों के लिए धर्म की व्यवस्था देते हैं। मनुजी ने भील आदि और प्रवृत्तिमार्ग के पुरुषों को ही मांस के पिण्ड श्राद्ध में देने का वर्णन किया है, क्योंकि शास्त्रों की आज्ञा है कि जो जिस पुरुष का भक्ष्य अन्न होता है, उस पुरुष को वही अन्न देवताओं और पितरों को देना चाहिए, क्योंकि भील आदि मांसाहारियों का विशेष अन्न मांस ही हुआ करता है, अतः वे श्राद्ध करना चाहें तो मांस के पिण्ड से कर सकते हैं।

तोपजी—जब आप मानते हैं कि प्रवृत्तिमार्गवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को भी देवता और पितरों के निमित्त बलि देकर मांस खाने की आज्ञा है तो फिर आप व्यर्थ में भील की कल्पना क्यों कर रहे हैं? किसी धर्मशास्त्र में दो विरोधी बातों को धर्म नहीं बताया जा सकता, क्योंकि भील, राक्षस आदि के कर्म धर्म में नहीं गिने जा सकते, अपितु वे तो अधर्म होने के कारण दण्ड के योग्य ठहराये जा सकते हैं। शेष रहा भक्ष्य अन्न का प्रश्न! आपकी मान्यता के अनुसार प्रवृत्तिमार्गवाले ब्राह्मणों का भी भक्ष्य अन्न मांस है, जैसाकि मनुस्मृति अध्याय ५ श्लोक २२ से ३४ तक लिखा है—

---

१. मूल श्लोक (मनुस्मृति ३।२६८-२७०) ये हैं—

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हारिणेन तु। औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेन अथ पञ्च वै॥२६८॥
षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै। अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु॥२६९॥
दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः। शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु॥२७०॥

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः। भृत्यानां चैव वृत्त्यार्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा॥२२॥
यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः॥३१॥
नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः॥३३॥ —मनु० ५।२२, ३१, ३३

अर्थ—यज्ञ के लिए और अपने सेवकों के पालन-पोषण के लिए ब्राह्मणों को उत्तमोत्तम पशु एवं पक्षियों को मार लेना चाहिए, क्योंकि पहले अगस्त्यमुनि ने भी ऐसा किया था॥२२॥ यज्ञ में मांस खाना देवताओं की विधि मानी जाती है॥३१॥ विधि का जाननेवाला ब्राह्मण बिना किसी सङ्कट के विधि के बिना मांस न खाए॥३३॥

इन प्रमाणों से मांस तो पौराणिक सिद्धान्तों में ब्राह्मणों का भी अन्न माना गया है, अतः पौराणिक सिद्धान्तानुसार ब्राह्मण लोग भी पितरों को प्रसन्न करने के लिए मनुस्मृति की विधि के अनुसार मांस के पिण्ड दे सकते हैं, अतः यह आज्ञा सब पौराणिकों पर लागू है, आपका भील की कल्पना करना व्यर्थ और निराधार है।

पोपजी—मनुस्मृति के इन प्रमाणों में श्राद्ध के समय ब्राह्मणों को मांस खिलाने की आज्ञा नहीं है। वहाँ तो श्राद्ध में मांस के पिण्ड देने से पितरों की तृप्ति मानी गयी है, पिण्डों को कोई खाता नहीं, प्रत्युत वे जल में डाले जाते हैं।

तोपजी—यदि ब्राह्मण खा भी लें तो उनका क्या बिगड़ता है? यह आप झूठ बोलते हैं कि पिण्डों को खाने की आज्ञा नहीं है। देखिए मनुस्मृति [३।२१९] में खाने की आज्ञा लिखी है—

पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वशः। तेनैव विप्रानासीनान्विधिवत्पूर्वमाशयेत्॥
—मनु० ३।२१९

अर्थ—क्रमशः सभी पिण्डों से थोड़ी-थोड़ी मात्रा लेकर उसमें से पहले वहाँ बैठे हुए ब्राह्मणों को विधि के अनुसार खिलाये।

वाल्मीकि रामायण अरण्यकाण्ड सर्ग ११ में भी लिखा है कि एक ब्राह्मण के घर अगस्त्यमुनि ने श्राद्ध में मेंढे का मांस खाया।

यहाँ श्राद्ध करनेवाला और खानेवाला दोनों ब्राह्मण थे। इससे सिद्ध है कि पौराणिक ब्राह्मण श्राद्ध में मांस बनाते भी थे और खाते भी थे।

पोपजी—निवृत्ति-मार्गवालों के लिए भगवान् मनु ने मांस खाने का निषेध किया हुआ है और मांस न खानेवालों को महाफल का भागी बताया है।

तोपजी—आपका कहना सर्वथा झूठ है। यदि न खानेवालों को महाफल का भागी बतलाया है तो फिर न खानेवालों को दण्ड क्यों लिखा है? देखिए, वहाँ [मनु० ५।३५] लिखा है—

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः। स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम्॥

अर्थः—श्राद्ध, मधुपर्क और यज्ञ में प्रयुक्त किये गये मांस को जो मनुष्य नहीं खाता वह मरने के पश्चात् इक्कीस जन्म तक पशुओं की योनि में जाता है।

इसलिए आपकी कल्पना निर्मूल है।

पोपजी—लाला साहब ने भविष्यपुराण का प्रमाण देकर कथा करनेवाले ब्राह्मणों को मांस खिलाने का वर्णन किया है। यह सर्वथा झूठ है। भविष्यपुराण में कथा करनेवाले ब्राह्मणों को मांस खिलाने की चर्चा तक नहीं। वहाँ तो कथा करनेवाले ब्राह्मणों को दक्षिणा में सोना आदि देने का वर्णन है। लाला साहब ने झूठे प्रमाण देना अपना धर्म समझ रक्खा है।

तोपजी—हमारा दिया हुआ प्रमाण बिल्कुल सत्य है और भविष्यपुराण में इस प्रकार

लिखा है—

तस्मात्पूज्यो नृपश्रेष्ठ प्रथमं वाचको बुधैः ॥१४८॥
हिरण्यं च सुवर्णं च धनं धान्यं तथैव च ॥१५०॥
अन्नं चापि तथा पक्वं मांसं च कुरुनन्दन। दातव्यं प्रथमं तस्मै श्रावकैर्नृपसत्तम ॥१५१॥

—भवि० ब्राह्म० २१६।१४८, १५०, १५१

अर्थ—हे राजन्! बुद्धिमानों को पहले कथा करनेवाले की पूजा करनी चाहिए ॥१४८॥ सोना, धन और अन्न ॥१५०॥ पका हुआ अन्न और पका हुआ मांस हे कुरुनन्दन! हे नृपश्रेष्ठ! सेवकों को चाहिए कि वे पहले कथा करनेवाले इस ब्राह्मण को दें ॥१५१॥

अब बतलाइए, इसमें स्पष्टरूप से कथा करनेवाले ब्राह्मण को पका हुआ मांस देना लिखा है या नहीं?

पोपजी—शिवपुराण उमासंहिता अध्याय ३८ के श्लोक ९ से १२ तक के प्रमाण से सबके लिए गो-मांस खाने की आज्ञा बतलाना लाला साहब की बड़ी भारी भूल है। इस अध्याय में स्पष्ट लिखा है कि सत्यव्रत ने जङ्गल में, भूख से अतिदु:खी होकर वसिष्ठजी की गौ को प्रमाद और मोह से मारा था तथा उसका मांस खाया था, परन्तु वसिष्ठजी ने उसके ऐसे बुरे कर्म को जानकर उसे शाप दे दिया था और वह शाप के प्रभाव से त्रिशंकु हो गया था। यदि शिवपुराण में गौ को मारने की आज्ञा होती तो सत्यव्रत को पापी न लिखा जाता, प्रत्युत यहाँ तो पापी समझकर शाप देने का स्पष्ट वर्णन किया है कि इसने बहुत बुरा काम किया जोकि वेद, धर्म और शास्त्रों के सर्वथा विरुद्ध था। यदि एक दुष्ट व्यक्ति अपनी दुष्टता से ऐसा बुरा कार्य करता है तो यह सबके लिए अनुकरणीय नहीं हो सकता। पुराणों में जो ऐतिहासिक भाग है, वह धर्म की व्यवस्था के रूप में नहीं समझा जा सकता। यदि किसी ने बुरा कर्म किया है तो उसका फल भी उसे अवश्य भोगना पड़ा है।

तोपजी—आपने सत्यव्रत के इतिहास को ठीक-ठीक नहीं लिखा। हम सबसे पहले शिवपुराण से वास्तविक कथा को उद्धृत करते हैं। यह कथा शिवपुराण उमासंहिता अध्याय ३७, श्लोक ४७ से अध्याय ३८, श्लोक १९ तक है—

"त्र्य्यारुणि राजा का पुत्र सत्यव्रत था। उसने एक नगर के रहनेवाले की विवाहिता स्त्री का हरण कर लिया। इसपर पिता ने क्रुद्ध होकर उसे घर से बाहर निकाल दिया और वह राजा भी वैराग्यवान् होकर वन में तप करने चला गया। उस सत्यव्रत के पाप के कारण उस राज्य में बारह वर्ष तक वर्षा नहीं हुई। मुनि विश्वामित्र अपनी स्त्री और बच्चों को इस राज्य में छोड़कर तप करने चला गया। विश्वामित्र की स्त्री भूखी मरने लगी तो सत्यव्रत ने उसका पालन-पोषण किया। वह मृग, सूअर और भैंसों को मारकर उनका मांस विश्वामित्र के आश्रम में दे आता था। एक बार मांस न मिलने के कारण उसने वसिष्ठ की गौ को देखा। उसने क्रोध, लोभ और भूख के कारण उसे मार दिया और उसका मांस स्वयं भी खाया और विश्वामित्र के परिवार को भी खिलाया। इससे वसिष्ठ क्रुद्ध हो गया और उसने शाप दिया कि—

पितुश्चापरितोषेण गुरोर्दोग्ध्रीवधेन च। अप्रोक्षितोपयोगाच्च त्रिविधस्ते व्यतिक्रमः ॥१४॥
त्रिशंकुरिति होवाच त्रिशंकुरिति स स्मृतः ॥१५॥ —शिव० उमा० ३८.१४-१५

अर्थ—पिता को रुष्ट करने से, गुरु की गौ को मारने से और गौ को बिना शास्त्र की विधि के मारकर खाने से—तेरे तीन अपराध हैं, अतः तेरा नाम त्रिशंकु होगा।

उधर विश्वामित्र वापस आने पर उसपर बड़ा प्रसन्न हुआ तथा प्रसन्न होकर उसे वर

दिये—

अनावृष्टिभये चास्मिञ्जाते द्वादशवार्षिके। अभिषिच्य पितृराज्ये याजयामास तं मुनिः ॥१७॥
मिषतां देवतानां च वसिष्ठस्य च कौशिकः। सशरीरं तदा तं तु दिवमारोहयत्प्रभुः ॥१८॥

—शिव० उमा० ३८।१७-१८

अर्थ—उस राज्य में बारह वर्ष तक वर्षा न होने के कारण विश्वामित्र ने उस सत्यव्रत को पिता के राज्य पर बिठाकर उससे यज्ञ करवाया और देवताओं तथा वसिष्ठ के विरोध करने पर भी उसे शरीर-सहित स्वर्ग में पहुँचा दिया।

उसकी स्त्री का नाम सत्यरथा था, जिससे हरिश्चन्द्र उत्पन्न हुआ।''

अब इस कथा पर तनिक चिन्तन और मनन करें। वसिष्ठ ने त्रिशंकु को तीन कारणों से त्रिशंकु बनाया था—(१) स्त्री-हरण के कारण पिता के रुष्ट होने से, (२) गुरु की गौ को मारने से, (३) बिना विधि के मारने से। पहले कारण को छोड़ दीजिए, क्योंकि इसका गोवध के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। शेष दोनों कारणों से पता लगता है कि पौराणिक सिद्धान्त में गोवध का निषेध नहीं है, क्योंकि दूसरा कारण यह दिया है कि गुरु की गौ मारना, अतः इससे पता लगा कि गौ मारने को बुरा नहीं माना गया, प्रत्युत गुरु की गौ को मारना पाप माना गया। तीसरा कारण बताया बिना विधि के मारना, अतः इससे भी यही पता लगता है कि गौ को मारना बुरा नहीं है, प्रत्युत बिना विधि के मारना बुरा है। इन दोनों कारणों को दूर कर दिया जाए तो पता लगता है कि ''शास्त्रों के अनुसार प्रोक्षण करके यदि सामान्य गौ का वध किया जाए तो कोई पाप नहीं है।'' क्योंकि यदि प्रत्येक अवस्था में गौ का मारना पाप होता तो यह कहा जाता कि गौ मारने के पाप के कारण त्रिशंकु बना दिया गया, परन्तु ऐसा नहीं लिखा, अतः उपर्युक्त दोनों कारण पुराणों के सिद्धान्त में गोवध को वैध ठहराते हैं। इसलिए यह पौराणिक सिद्धान्त सब पौराणिकों पर लागू है।

और फिर विश्वामित्र के परिवार का मांस खाना और गौ के मांस को भी खा जाना इस बात को सिद्ध करता है कि पौराणिक ब्राह्मण-परिवारों में मांस और गो-मांस खाने को भी पाप नहीं माना जाता था, अन्यथा विश्वामित्र के परिवार को भी कोई दण्ड दिया जाना चाहिए था। इसके अतिरिक्त विश्वामित्र ने भी सत्यव्रत के इस कर्म को निन्दनीय नहीं समझा, अपितु इस कार्य को प्रशंसनीय समझकर उसे पिता के सिंहासन पर बैठाया तथा यज्ञ करवाया और उसे शरीर-सहित स्वर्ग में पहुँचा दिया। बतलाइए, इसमें सत्यव्रत को गोवध के बदले में क्या दुःख भोगना पड़ा और इस ऐतिहासिक भाग से सर्वसाधारण को क्या शिक्षा मिल सकती है? यही न कि गुरु की गौ को विधि के बिना मारना पाप है और अपनी गौ को विधि के अनुसार मारना पाप नहीं है। धिक्कार है ऐसे इतिहास पर! धिक्कार है ऐसी शिक्षा ग्रहण करने पर!! और धिक्कार है इस प्रकार की बेहूदा पुस्तकों को धर्मपुस्तक सिद्ध करने के लिए वकालत करने पर!!!

पोपजी—इसी प्रकार गर्ग ऋषि के शिष्यों अर्थात् विश्वामित्र के पुत्रों ने आत्मरक्षा के लिए जङ्गल में अपने गुरु गर्ग की गौ को मारकर खाया था और गुरु से आकर झूठ कह दिया था कि आपकी गौ को सिंह ने मार दिया है, परन्तु उसी अध्याय में श्लोक २० से २९ तक स्पष्ट लिखा है कि गौ की हत्या करने से ही ये बारह भाई पापी माने गये और तीन जन्म तक गौ के मारने के प्रायश्चित्तरूप पाप के कारण अत्यन्त दुःखी रहे। महाशय! जबकि शिवपुराण में ही उन्हें हत्यारा और पापी ठहराया गया है तो शिवपुराण में गौ के मारने की या गो-मांस खाने की विधि निकालना महाभूल और मूर्खता है।

तोपजी—महाभूल और मूर्खता उन पामर, पाखण्डी और धूर्त लोगों की है जोकि इस प्रकार की गो-घातक पुस्तकों को हिन्दुओं की धर्मपुस्तक मानने पर अड़े हुए हैं, क्योंकि इस कथा से भी यही परिणाम निकलता है कि पौराणिक मत में गो-वध वैध है। तनिक कथा का अवलोकन कीजिए—

''विश्वामित्र के पुत्र गर्ग ऋषि के शिष्य थे। वे गुरु की गौएँ चराया करते थे। गौ के साथ उसका बच्चा भी होता था। एक दिन मार्ग में भूख से तड़पते हुए बालकपन और मोह से उनकी इच्छा गौ को मारकर खाने की हो गयी। इनमें जो छोटा था वह पितरों का भक्त था। उसने कहा कि यदि तुम इस कार्य को अवश्य ही करना चाहते हो तो पितरों के लिए श्राद्ध करते हुए इस गौ को मारो, क्योंकि—

एवमेषा च गौर्धर्मं प्राप्स्यते नात्र संशयः। पितॄनभ्यर्च्य धर्मेण नाधर्मो नो भविष्यति ॥१८ ॥
एवमुक्ताश्च ते सर्वे प्रोक्षयित्वा च गां तदा। पितृभ्य कल्पयित्वा तु ह्युपायुञ्जत भारत ॥१९ ॥

—शिव० उमा० ४१। १८-१९

अर्थ—इस प्रकार यह गौ धर्म को प्राप्त होगी, इसमें सन्देह नहीं और धर्मपूर्वक पितरों की पूजा करके हमें भी पाप नहीं होगा ॥१८ ॥ इस प्रकार कहने पर उन सबने शास्त्र की विधि के अनुसार उस गौ का प्रोक्षण करके तथा पितरों के निमित्त कल्पना करके हे भारत! उसका प्रयोग कर लिया, अर्थात् उसका मांस खा लिया ॥१९ ॥

उस गौ को खाने के पश्चात् सब गुरु के पास आकर कहने लगे कि गौ तो सिंह ने मार दी है, आप यह बछड़ा सँभाल लें। गर्ग ने दुःखी होते हुए बछड़ा सँभाल लिया। तब ऐसा करने पर—

मिथ्योपचारतः पापमभूत्तेषां च गोघ्नताम् ॥ —शिव० उमा० ४१। २१

गौ को मारनेवाले उन विश्वामित्र के पुत्रों को झूठ बोलने का पाप लग गया। मरने के पश्चात् वे सातों भाई इस पाप से पशुओं की योनि में गये, परन्तु उन्हें अपने पूर्वजन्म का ज्ञान बना रहा, क्योंकि—

विप्रयोनौ तु यन्मोहान्मिथ्याऽपचरितं गुरौ। तिर्यग्योनौ तथा जन्म श्राद्धाज्ज्ञानं च लेभिरे ॥३५ ॥
पितृप्रसादाद्युष्माभिस्संप्राप्तं सुकृतं भवेत्। गां प्रोक्षयित्वा धर्मेण पितृभ्यश्चोपकल्पिताः ॥५० ॥

—शिव० उमा० ४१। ३५, ५०

अर्थ—ब्राह्मण की योनि में होते हुए जो उन्होंने मोह के कारण गुरु के साथ झूठा व्यवहार किया, इसलिए उनका जन्म पशुयोनि में हुआ, परन्तु क्योंकि श्राद्ध किया, इसलिए पूर्वजन्म का ज्ञान प्राप्त किया ॥३५ ॥ पितरों की कृपा से तुम्हें पुण्य प्राप्त होगा, क्योंकि तुमने धर्मपूर्वक प्रोक्षण करके पितरों के लिए गौ अर्पित की ॥ ५० ॥

अब इस कथा पर तनिक ध्यान दीजिए तो पता लगेगा कि उन सातों भाइयों को पाप इस बात का लगा कि उन्होंने गुरु के साथ झूठा व्यवहार किया, अन्यथा गौ को विधिपूर्वक पितरों के निमित्त मारने का तो उन्हें यह फल मिला कि उन्हें पशुयोनि में भी पूर्वजन्म का ज्ञान रहा और इस बात के लिए पितरों की कृपा से बड़ा धर्म—पुण्य प्राप्त हुआ। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि पौराणिक सिद्धान्तों में विधिपूर्वक प्रोक्षण करके पितरों के निमित्त गौ मारने और उसका मांस खाने की आज्ञा है। क्या इस प्रकार की गो-घातक पुस्तकों को धर्मग्रन्थ मानते हुए लज्जा नहीं आती?

पोपजी—यदि आप पुराणों में कहीं भी गोवध करने की आज्ञा बतला दें तो हम पुराणों को बिना किसी तर्क और बहाने के वेदों के विरुद्ध मानने के लिए तैयार हैं, परन्तु पुराणों

में ऐसे दुष्कर्म की आज्ञा कैसे हो सकती है? पुराणों में किसी पापी या दुराचारी के दुराचार का वर्णन देखकर पुराणों को वेदों के विरुद्ध ठहराना बहुत बड़ी मूर्खता है, क्योंकि पुराणों के इतिहास-अंश में प्रत्येक प्रकार के पापी और सदाचारी पुरुषों का वृत्तान्त दिया हुआ है।

तोपजी—किसी पुस्तक की लेखनशैली से उसके उद्देश्य का अनुमान लगाना बुद्धिमान् मनुष्यों का काम है। इतिहास भी किसी प्रयोजन से ही लिखा जाता है। इस बात को आपने भी अपनी पुस्तक से पृष्ठ ४१, पंक्ति १५ में स्वीकार किया है कि 'अच्छे इतिहास को ग्रहण करके धर्म का पालन करना और दुष्ट चरित्रों से बचने का प्रयत्न करना ही उचित है।'

इस सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त दोनों कथाओं में सत्यव्रत और गर्ग ऋषि के शिष्यों से ग्रहण तो यह किया जा सकता है कि 'विधिपूर्वक शास्त्रानुसार प्रोक्षण करके यज्ञ या पितरों के निमित्त गौ मारना और उसका मांस खाना धर्म है' और बचने की आवश्यकता इस बात से है कि 'बिना विधि के और गुरु की गौ मारना तथा गुरु से झूठा व्यवहार करना पाप है', क्योंकि पहले कर्म का चर्चित व्यक्तियों को उत्तम फल मिला और दूसरे कर्म का चर्चित व्यक्तियों को दण्ड भोगना पड़ा। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों कथाओं से पुराणों में गोवध की स्पष्ट आज्ञा विद्यमान है। आपको इसी से पुराणों को वेद के विरुद्ध मानकर उनसे सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिए।

आप भूलकर भी पुराणों के सम्बन्ध में दावा करने की मूर्खता न करें, क्योंकि संसार में कोई ऐसी बुराई, व्यसन, पाप, दुराचार नहीं है जिसकी आज्ञा पुराणों में विद्यमान न हो। लीजिए हम आपको गोवध की स्पष्ट आज्ञा भी पुराणों में दिखा देते हैं। अवलोकन कीजिए—

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम् ॥११२॥
देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥११३॥ —ब्रह्मवैवर्त० ४.११५.११२-११३

अर्थ—घोड़े का यज्ञ में मारना, गौ का यज्ञ में मारना, संन्यास लेना, श्राद्धों में मांस का प्रयोग करना, देवर से नियोग करके सन्तान उत्पन्न करना—इन पाँचों बातों का कलियुग में निषेध है।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पुराणों के अनुसार सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में इन पाँच कार्यों की खुली आज्ञा थी। कहिए, और क्या देखना चाहते हैं?

पोपजी—लाला साहब ने ब्रह्मवैवर्तपुराण के अवतरण से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पुराणों में गोमांस खाने के उदाहरण विद्यमान हैं, परन्तु हम यह पहले लिख चुके हैं कि किसी पुराण में गोमांस की तो बात ही क्या, मांस तक खाने की आज्ञा नहीं है।

तोपजी—आप भी विचित्र व्यक्ति है! साथ-साथ यह भी कहते जाते हैं कि प्रवृत्ति-मार्गवालों के लिए मांस खाने का निषेध नहीं है और यह वैदिक है और साथ ही यह भी कहते जाते हैं कि मांस खाने की आज्ञा नहीं है। दोनों में से आपकी कौन-सी बात ठीक मानी जाए? हम पुराणों में से मांस खाने और गोमांस खाने के कई उदाहरण लिख चुके हैं, लीजिए अब और लिखते हैं—

आद्यो मनुर्ब्रह्मपुत्रः शतरूपा पतिव्रता। धर्मिष्ठानां वरिष्ठश्च गरिष्ठो मनुषु प्रभुः ॥४५॥
स्वायंभुवः शंभुशिष्यो विष्णुव्रतपरायणः। जीवन्मुक्तो महाज्ञानी भवतः प्रपितामहः ॥४६॥
राजसूयसहस्रं च चक्रे वै नर्मदा तटे। त्रिलक्षमश्वमेधं च त्रिलक्षं नरमेधकम् ॥४७॥
गोमेधं च चतुर्लक्षं विधिवन्महदद्भुतम्। ब्राह्मणानां त्रिकोटीश्च भोजयामास नित्यशः ॥४८॥
पञ्चलक्षगवां मांसैः सुपक्वैर्घृतसंस्कृतैः। चर्व्यैश्चोष्यैर्लेह्यपेयैर्मिष्टद्रव्यैः सुदुर्लभैः ॥४९॥

—ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० ५४।४५-४९

अर्थ—आदि मनु ब्रह्मा का पुत्र था और उसकी पतिव्रता स्त्री शतरूपा थी। प्रभु आदि मनु धर्मात्मा और श्रेष्ठों में भी श्रेष्ठ थे। महादेव का शिष्य विष्णु का भक्त, ब्रह्मा का पुत्र आपका पर-दादा आदि मनु महाज्ञानी और जीवन्मुक्त था। उसने नर्मदा नदी के किनारे एक सहस्र राजसूययज्ञ, तीन लाख अश्वमेध यज्ञ, तीन लाख नरमेध यज्ञ और चार लाख गोमेध यज्ञ विधिपूर्वक किये। ये सभी यज्ञ अद्भुत थे। वह तीन करोड़ ब्राह्मणों को सदा पाँच लाख गौओं के अच्छी प्रकार पकाये हुए मांस तथा चबाने, चूसने, चाटने और पीने के दुर्लभ मीठे पदार्थों से भोजन कराया करता था।

फिर ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृतिखण्ड अध्याय ६१ में लिखा है कि—चन्द्रमा के पुत्र बुध ने युवति सुन्दरी घृताची में उत्पन्न हुई कुबेर की लड़की चित्रा से विवाह करके उसमें वीर्याधान किया; तब—

बभूव राजा चित्रायां चैत्रो वै मण्डलेश्वरः॥९५॥
सप्तद्वीपवतीं पृथ्वीं शास्ति वै धार्मिको बली। शतं नद्यो घृतानां च दध्नां नद्यः शतानि च॥९६॥
शतानि नद्यो दुग्धानां मधुनद्यश्च षोडश। दश नद्यश्च तैलानां शर्करा लक्षराशयः॥९७॥
मिष्टान्नानां स्वस्तिकानां लक्षराश्यश्च नित्यशः। पञ्चकोटिगवां मांसं सापूपं स्वन्नमेव च॥९८॥
एतेषां च नदीराशीर्भुञ्जते ब्राह्मणा मुने॥ —ब्रह्मवै० प्रकृति० ६१.९५-९९

अर्थ—चित्रा में चैत्र नामक मण्डलेश्वर राजा उत्पन्न हुआ, जोकि धर्मात्मा और बलशाली था तथा सातों द्वीपोंसहित पृथिवी पर राज्य करता था। उसके शासनकाल में घृत, दूध और दही की सौ-सौ नदियाँ, मधु की सोलह नदियाँ और तेल की दस नदियाँ बहती थीं। उसके यहाँ एक लाख शक्कर के ढेर तथा लड्डुओं और मिष्टान्नों की नित्य एक लाख राशि, पाँच करोड़ गोमांस के ढेर तथा मालपूआ आदि समेत सुन्दर भोजन बनता था। हे मुने! इन नदियों और राशियों का उपभोग ब्राह्मण लोग करते थे, अर्थात् प्रतिदिन ब्राह्मण खाते थे।

इसके अतिरिक्त रुक्मिणी के भाई रुक्मी ने अपने पिता भीष्मक को रुक्मिणी के विवाह की तैयारी करने के लिए कहा तो निम्न वस्तुएँ गिनवाईं। यह सब ब्रह्मवैवर्तपुराण में लिखा है—

गवां लक्षं छेदनं च हरिणानां द्विलक्षकम्। चतुर्लक्षं शशानां च कूर्माणां च तथा करु॥६१॥
दशलक्षं छागलानां भेटानां तच्चतुर्गुणम्। पर्वणि ग्रामदेव्यै च बलिं देहि च भक्तितः॥६२॥
एतेषां पक्वमांसं च भोजनार्थं च कारय। परिपूर्णं व्यंजनानां सामग्रीं कुरु भूमिप॥६३॥
—ब्रह्मवै० कृष्णजन्म० १०५.६१-६३

अर्थ—एक लाख गौओं का छेदन करो, दो लाख हिरनों को काटो और चार लाख खरगोश और उतने ही कछुओं का छेदन करो, दस लाख बकरों को मारो और इनसे चार गुणा अर्थात् चालीस लाख मेढों का वध करो। पर्व के दिन इनकी बलि ग्रामदेवी को भक्तिपूर्वक देनी चाहिए और उनका पका हुआ मांस भोजन के लिए तैयार करवाइए। हे राजन्! तरकारी और नमकीन भोजन की सामग्री भी पूर्णरूप से तैयार करो।

इतने प्रमाणों की विद्यमानता में आप पुराणों में गो-मांस से किसी भी अवस्था में इन्कार नहीं कर सकते।

पोपजी—चूँकि पुराण पाँच प्रकार के लक्षणों का वर्णन करते हैं (जिनका विस्तृत वर्णन भूमिका में आ चुका है), उनमें एक ऐतिहासिक भाग भी है। इतिहास में प्रत्येक प्रकार की उत्तम और निकृष्ट घटनाएँ जैसीकि उस समय में राजाओं, राक्षसों अथवा प्रजा द्वारा हुईं, लिखी गयी हैं। तात्पर्य यह कि उनके कर्मों को हूबहू लिखने में किसी की चाटुकारिता

अथवा किसी का पक्षपात नहीं किया गया, और यही प्रत्येक इतिहासज्ञ का धर्म है कि वह इतिहास लिखते समय धर्म को हाथ से न जाने दे, अतः ऐसा ही वेदव्यासजी ने किया। अब यदि किसी राक्षस-वृत्तिवाले दुष्ट ने मांस खा लिया तो उसके इस दुष्कर्म को छिपाना भी अधर्म था, अतः उसे वैसे-का-वैसा ही लिख दिया गया, परन्तु साथ ही उसके पाप के दण्ड का भी भली प्रकार वर्णन कर दिया। अब यदि कोई मूर्ख इस बात को लेकर चिल्लाये कि चूँकि अमुक दुष्ट ने मांस खाया है, अतः सबके लिए मांस खाने की आज्ञा है, तो इससे चिल्लानेवाले की नितान्त मूर्खता प्रकट होगी।

तोपजी—यद्यपि अट्ठारह पुराणों में इतिहास के लक्षण नहीं मिलते (जैसाकि इस भूमिका के उत्तर में विस्तार के साथ लिख आये हैं) तथापि यदि आपकी बात मान भी ली जाए तो भी इस इतिहास से पौराणिक धर्म में गोमांस खाना वैध सिद्ध होता है। उपर्युक्त ब्रह्मवैवर्तपुराण के तीनों प्रमाणों में से गोमांस का प्रयोग करनेवाला एक भी राक्षस नहीं है। पहले प्रमाण में आदि मनु ने जो जीवन्मुक्त और महाज्ञानी थे, ब्राह्मणों को मांस खिलाया। दूसरे प्रमाण में राजा चैत्र ने जोकि चन्द्रमा का पोता और धर्मात्मा था, ब्राह्मणों को मांस खिलाया। तीसरे प्रमाण में रुक्मिणी के भाई रुक्मी ने अपने पिता को रुक्मिणी के विवाह के लिए गो-मांस की तैयारी का प्रस्ताव प्रस्तुत किया और भरे दरबार में इस बात को किसी ने बुरा नहीं बतलाया। इस प्रकार यह बात स्पष्ट सिद्ध है कि इन सबमें से न कोई राक्षस था और न ही कोई राक्षस-वृत्तिवाला दुष्ट था। खिलानेवाले आदि मनु और राजा चैत्र तथा खानेवाले ब्राह्मण थे। ब्रह्मवैवर्तपुराण ने यहाँ पर किसी को कोई दण्ड भी नहीं लिखा, न खिलानेवाले को और न ही खानेवाले ब्राह्मणों को कोई दण्ड दिया गया। श्रीमन्! दण्ड क्यों दिया जाता जबकि यज्ञों में बलि देकर गौ आदि पशुओं का मांस प्रयोग करना पौराणिक धर्म में वैध है। चूँकि गो-मांस प्रयोग करनेवालों में से न कोई राक्षस था और न ही किसी को दण्ड दिया गया, इससे सिद्ध है कि पौराणिक गोमांस का इस प्रकार प्रयोग करना उचित समझते थे। इससे इन्कार करना नितान्त मूर्खता और पाजीपन है।

पोपजी—हाँ, मांस खाने के सम्बन्ध में यदि किसी पुराण में कोई विधिवाक्य दिखा दे कि प्राणिमात्र को मांस खाना चाहिए तो उसपर विचार किया जा सकता है, परन्तु पुराणों में ऐसे निन्दित कर्म के लिए कहीं भी कोई आज्ञा नहीं है।

तोपजी—पुराणों में एक क्या, सैकड़ों प्रमाण मिल सकते हैं जिनमें सनातनधर्म के सिद्धान्त के अनुसार यज्ञ, श्राद्ध और मधुपर्क में देवताओं के नाम से पशुओं को बलि देकर उनका मांस खाने की आज्ञा विद्यमान है। हम आपके मुख-मर्दन के लिए दो प्रमाण यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

विधिना या भवेद्धिंसा सा त्वहिंसा प्रकीर्तिता॥ —गरुड० आचार० २३८।३

अर्थ—जो हिंसा विधिपूर्वक की जाती है, वह हिंसा नहीं कहाती।

प्राणात्यये प्रोक्षितं च श्राद्धे च द्विजकाम्यया।
पितॄन्देवांश्चार्पयित्वा भुञ्जन्मांसं न दोषभाक्॥ —भविष्य० ब्राह्म० १८६।२९

अर्थ—जीवन के सङ्कट में पड़ जाने पर, यज्ञ में, श्राद्ध में और ब्राह्मणों की इच्छा से पितरों और देवताओं को अर्पण करके मांस खानेवाला दोष का भागी नहीं होता।

कहिए मिश्रजी! विधिवाक्य तो स्पष्टरूप ये पुराणों में विद्यमान हैं। अब पुराणों को तिलाञ्जली देने पर विचार करें।

पोपजी—अब हम गो-मांस पर विचार करते हैं, परन्तु पूर्व इसके कि पाठकों का ध्यान

इसकी वास्तविकता की ओर आकृष्ट किया जाए, हम यह बताना आवश्यक समझते हैं कि वेद-शास्त्र में गौ माता के लिए....आदि-आदि।

तोपजी—हम आपके प्रमाणों की पड़ताल किये बिना ही इस बात को स्वीकार करते हैं कि चारों वेदों, स्मृतियों और पुराणों में गौ का मारना महापाप वर्णन किया है। जैसाकि यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के प्रथम मन्त्र में ही गौ को '**अघ्न्या**' कभी न मारने योग्य बताया गया है, एवं अथर्ववेद [१।१६।४] में लिखा है कि 'जो हमारी गौ को मारे उसे गोली से मार देना चाहिए।' निष्कर्ष यह कि वेदों और शास्त्रों में ऐसे सैकड़ों प्रमाण विद्यमान हैं जिनमें गौ को मारना महापाप वर्णित किया गया है, परन्तु पौराणिक सिद्धान्त तो यज्ञ में मारे हुए पशुओं की हिंसा ही नहीं मानता, जैसेकि हमने ऊपर गरुडपुराण के प्रमाण से बताया है। इसलिए पौराणिक साहित्य में मृतक-श्राद्ध में, मधुपर्क में और यज्ञ में घोड़े को मारने का भी विधान है, जैसाकि ब्रह्मवैवर्त के प्रमाणों से स्पष्ट है।

पोपजी—इसके अतिरिक्त गो-रक्षा के सम्बन्ध में सैकड़ों प्रमाण वेदशास्त्रों में भरे पड़े हैं। यही कारण है कि हिन्दू गौ के शरीर में तेतीस करोड़ देवताओं का वास मानते हैं और इसे माता समझकर पूजते हैं। इन प्रमाणों की विद्यमानता में क्या किसी का मस्तिष्क यह स्वीकार करने के लिए तैयार होगा कि सत्ययुग और द्वापर के धर्मात्मा पुरुष कभी स्वप्न में भी धर्मशास्त्रों का उल्लङ्घन कर सकते थे? कभी नहीं, कभी नहीं। सत्ययुग के धर्मात्मा तो एक ओर, कलियुग के धर्म-कर्म से हीन पुरुष भी ऐसा पाप नहीं कर सकते।

तोपजी—बात तो आपने बुद्धिमत्ता की कही है कि जिस हिन्दूजाति की आधारशिला ही गोरक्षा पर अवलम्बित हो, उसके शास्त्रों में गोमांस के प्रयोग का वर्णन सर्वथा असम्भव है। बस, एक पग आगे और बढ़ाइए और कह दीजिए कि ''इसलिए जिन पुराण आदि ग्रन्थों में गौ को मारने और उनका मांस खाने का वर्णन मिलता है, वे सब पामर और पाजी वाममार्गियों की मिलावट हैं।'' बस, फिर सनातनधर्म का बेड़ा पार है, अन्यथा उपर्युक्त प्रमाणों की विद्यमानता में आपकी मौखिक दार्शनिकता कुछ काम नहीं दे सकती, क्योंकि पुराणों में लिखा है कि अश्वमेध, गोमेध, संन्यास धारण करना, श्राद्ध में मांस के पिण्ड देना और देवर से नियोग करके सन्तान उत्पन्न करना—ये पाँचों कलियुग में निषिद्ध हैं। कलियुग में निषिद्ध होने से स्पष्ट सिद्ध है कि सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में ये पाँच कार्य वैध थे। अब आप ही सोचें कि पाँचों कार्य यदि धर्म के हैं तो कलियुग में इनका निषेध क्यों? और यदि ये पाँच काम पाप के हैं तो फिर सत्ययुग आदि में इनकी आज्ञा क्यों? अतः मानना पड़ेगा कि पुराणों में गोमांस के प्रयोग का वर्णन तो अवश्य है, परन्तु वह धूर्त, अनाचारी, पापी, पामर वाममार्गियों की मिलावट है।

पोपजी—अब रहा प्रश्न यह कि फिर इसका तात्पर्य क्या हुआ, तो 'सुकर्मलोचन' ग्रन्थ के पढ़ने से पता लगता है कि फल-मांस शब्द से तात्पर्य फलों के गूदे और पशु-मांस से तात्पर्य पशुओं के दूध से है, इसलिए स्पष्ट सिद्ध हो गया कि इस शब्द का अर्थ गौ का दूध है, जिससे खोया आदि पदार्थ बनाकर ब्राह्मणों को खिलाये गये। इसपर भी यदि हठधर्मी अपने हठ पर दृढ़ रहे तो फिर इस प्रश्न को तनिक दलील की कसौटी पर परखा जाए कि इसमें कहाँ तक सत्यता और अनुरूपता है।

तोपजी—जहाँ पर केवल मांस शब्द हो वहाँ पर गूदा अर्थ किया जा सकता है, इससे हमें इन्कार नहीं है, परन्तु वह लौकिक संस्कृत में नहीं अपितु वैदिक संस्कृत में ही ऐसा अर्थ लिया जा सकता है, क्योंकि लौकिक संस्कृत में मांस शब्द फलों के गूदे के अर्थ में नहीं अपितु पशुओं के मांस के अर्थों में प्रयुक्त होता है, परन्तु पशुओं के नाम के साथ मांस

शब्द का अर्थ दूध होता है यह सर्वथा झूठ है, क्योंकि जहाँ मछली के मांस से दो मास और कछुए के मांस से ग्यारह मास तक तृप्ति होती है, वहाँ मांस से क्या गूदा अभीष्ट हो सकता है?

क्या मछली, हिरन, पक्षियों, बकरा, सूअर, भैंसा, खरगोश और कछुए के दूध होता है? यदि नहीं तो इन प्राणियों के नाम के साथ जो मांस शब्द आता है, उसका क्या अर्थ होगा? फिर रुक्मिणी के विवाह के अवसर पर तो गौ, मृग, खरगोश, कछुए, बकरे और मेढ़ों का छेदन करना लिखा है और देवी को बलि देकर मांस पकाना लिखा है। इसमें भी 'छेदन' शब्द के विद्यमान होते हुए दूध अर्थ हो ही नहीं सकता और कछुए आदि का तो दूध होता ही नहीं।

राजा चैत्र के यज्ञ में दूध की सौ नदियों का पृथक् वर्णन है, इसलिए वहाँ पर मांस नाम दूध का नहीं हो सकता; तथा आदि मनु के वर्णन में यज्ञों के साथ चार लाख गोमेध यज्ञों का वर्णन है, इसलिए यहाँ भी मांस नाम दूध का नहीं हो सकता। इसलिए आपकी और आपके घिसे-पिटे ग्रन्थ 'सुकर्मलोचन' की कल्पना पुराणों के मांस शब्द के सम्बन्ध में सर्वथा निर्मूल है, प्रत्युत यहाँ पर अनेक कारणों से गोमांस का अर्थ गौ का मांस ही है।

हमें पुराणों से व्यर्थ में गोमांस-भक्षण को सिद्ध करने का विचार बिल्कुल नहीं है, अपितु हम तो यह चाहते हैं कि हिन्दूशास्त्रों में इन शब्दों के कुछ और अर्थ करने में हमारे सनातनधर्मी भाई सफल हो जाएँ, परन्तु यह तब सम्भव हो सकता है जब सनातनधर्मी स्वयं मधुपर्क और श्राद्ध में देवताओं और पितरों के नाम से गौ आदि पशुओं की बलि देकर उनके मांस का प्रयोग करना धर्म न मानते हों। जब ये ऐसा मानते हैं, तो फिर इनका शब्दों के कुछ और अर्थ करके अपने स्वीकृत सिद्धान्त से इन्कार करना सरासर हठधर्मी और धोखा देना है। अब हम आपके तर्कों को भी बुद्धि की कसौटी पर परखकर देख लेते हैं।

पोपजी—यदि एक गौ का मांस कम-से-कम पन्द्रह व्यक्तियों के लिए पर्याप्त माना जाए तो पाँच करोड़ गौओं का मांस पिचहत्तर करोड़ व्यक्तियों के लिए पर्याप्त हो जाएगा। अब प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि पिचहत्तर करोड़ तो उस समय भारतवर्ष की जनसंख्या भी नहीं थी, फिर क्या आश्चर्य उस समय भारतवर्ष में पिचहत्तर करोड़ ब्राह्मण विद्यमान हों। फिर पता नहीं उन्हें बिठलाने के लिए कितने बर्तन और भोजन पकाने के लिए कितने मनों लकड़ियों की आवश्यकता पड़ी होगी। क्या विवेक इसे स्वीकार कर सकता है? कदापि नहीं। इससे प्रतीत होता है कि यह प्रश्न केवल भङ्ग की तरङ्ग में किया गया है, अन्यथा वास्तविकता कुछ और है।

तोपजी—यह प्रश्न भङ्ग की तरङ्ग में नहीं किया गया, अपितु अष्टादश पुराण ही भङ्ग की तरङ्ग में लिखे गये हैं। आप असम्भव का दोष लगाकर हमारे प्रमाणों को ग़लत सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयत्न कर रहे हैं। भला! पुराणों के लिए भी कोई बात असम्भव हो सकती है? जिन पुराणों में एक गौ के शरीर में ३३ करोड़ देवता निवास कर सकते हैं? उन पुराणों में पचहत्तर करोड़ ब्राह्मणों के भोजन का प्रबन्ध हो जाना कौन-सी बड़ी बात है! और फिर इन राजाओं को तो सारी पृथिवी का राजा लिखा हुआ है, केवल भारत का ही राजा नहीं, अतः ब्राह्मणों की संख्या भी कोई अधिक नहीं। जिन पुराणों में आदि-मनु अपने जीवन में दस लाख यज्ञ कर सकता है और इनमें सदा तीन करोड़ ब्राह्मणों को पाँच लाख गौओं का मांस-भोजन करा सकता है, उन के यहाँ उपर्युक्त संख्या क्या असम्भव है? और फिर ब्रह्मवैवर्त-पुराण, कृष्णजन्म खण्ड, अध्याय १०५, श्लोक ८१ में लिखा है कि—"**ब्राह्मणों के सौ करोड़** अर्थात् एक अरब ब्राह्मण कृष्ण की बारात में सम्मिलित हुए।" बिठलाने की

जो व्यवस्था और भोजन की लकड़ियों का जो प्रबन्ध इसमें सम्भव है, वही वहाँ सम्भव है। जिन पुराणों में अकेला अगस्त्यमुनि सारे समुद्र को पी सकता है, उन पुराणों में पाँच करोड़ गौओं के मांस के लिए इतने ब्राह्मणों की क्या आवश्यकता है। अगस्त्यमुनि जैसे तो सौ ब्राह्मण ही इस काम के लिए पर्याप्त हो सकते हैं।

हम तो प्रसन्न हैं कि आप पुराणों को विवेक की कसौटी पर परखने लग जाएँ, परन्तु इस अवस्था में तो पुराणों का नाम और चिह्न भी शेष नहीं रहेगा, क्योंकि विवेक का और पुराणों का इतना विरोध है जितना कि दिन और रात का। जहाँ बुद्धि का चक्र चला, पुराण लुप्त हो जाएँगे, फिर न गो-मांस रहेगा और न खानेवाले ब्राह्मण ही रहेंगे और न ही हमारा आक्षेप रहेगा। परमात्मा आपको प्रत्येक बात को बुद्धि से परखने की शक्ति प्रदान करें।

पोपजी—अब रहा ब्रह्मवैवर्त का विषय। एक ओर तो महाशयजी के कथनानुसार गो-मांस का वर्णन है और दूसरी ओर इसी प्रकरण में मनुजी महाराज के गौओं के पूजन करने और ब्राह्मणों को दान देने का वर्णन है। यही नहीं, प्रत्युत इसी ब्रह्मवैवर्तपुराण में स्पष्ट लिखा है कि जो पापी भारतवर्ष में गो-हत्या, ब्रह्म-हत्या, स्त्री-हत्या, मित्र-हत्या और भ्रूण-हत्या करता हो वह चौदह इन्द्रों की अवधिपर्यन्त कुम्भीपाक नरक में वास करता है आदि-आदि। अब ध्यान देने की बात यह है कि एक ओर तो ब्रह्मवैवर्तपुराण में गोरक्षा की आज्ञा है और दूसरी ओर महाशयजी के कथनानुसार गोमांस-भक्षण का वर्णन है। इसपर स्वाभाविक प्रश्न पैदा होगा कि एक प्रकरण में दो परस्पर विरोधी बातें क्यों? इसलिए मानना पड़ेगा कि एक ही स्थान पर एक ही लेखनी से दो परस्पर विरोधी बातों का होना नितान्त असम्भव और कल्पना से बाहर की बात है; और क्योंकि गौ की रक्षा होना वेद-शास्त्रों के अनुसार है, अतः गोमांस का वर्णन ठीक नहीं हो सकता, अतः इस शब्द का अर्थ कुछ और है।

तोपजी—आपने यहाँ वदतोव्याघात दोष से ही हमारी बात को ग़लत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु पौराणिक सिद्धान्त में ये दोनों बातें परस्पर विरोधी नहीं हैं, क्योंकि पौराणिक लोग विधि से गौ आदि पशुओं को मारने में और उनका मांस खाने में दोष नहीं मानते और बिना विधि के मारने में पाप मानते हैं, इसलिए ऊपर जो गो-हत्या करनेवाले के लिए दण्ड विधान किया है वह उसके लिए है जो बिना विधि के गौ को मारता है, क्योंकि पुराणों के सिद्धान्त में विधिपूर्वक मारना तो हिंसा है ही नहीं; और जहाँ पर मांस खाना लिखा है वहाँ पर यज्ञ में, मधुपर्क और श्राद्ध में देवता और पितरों को गो-मांस आदि की बलि देकर उनका मांस खाना लिखा है, अतः यह विरोध नहीं है। पौराणिक लोग जहाँ गौओं का दान देना धर्म मानते हैं वहाँ गोमेध यज्ञ में गौ का मारना भी धर्म मानते हैं, अतः पौराणिक सिद्धान्त के अनुसार ये दोनों बातें परस्पर विरोधी नहीं हैं, परन्तु पुराण तो परस्पर विरोधी बातों का घर हैं।

अब देखिए, अट्ठारह पुराणों को पौराणिक लोग व्यासजी की लेखनी से लिखे हुए मानते हैं, परन्तु उसी व्यासजी ने भागवत में लिखा है कि कृष्ण के बदले आई हुई नन्द की लड़की को कंस ने पत्थर पर पटककर मार दिया और उसी व्यासजी ने ब्रह्मवैवर्तपुराण में लिखा है कि कंस ने उस लड़की को वसुदेव के कहने से जीवित छोड़ दिया। उसका नाम एकानंशा था और उसका दुर्वासा ऋषि के साथ विवाह हुआ। उसी व्यास ने शिवपुराण में गणेश की उत्पत्ति पार्वती के मैल से लिखी और उसी व्यास ने ब्रह्मवैवर्तपुराण में गणेश की उत्पत्ति यूँ लिखी कि—शिवजी पार्वती से भोग कर रहे थे कि बाहर किसी ने पुकारा तो शिवजी उठे। उस समय उनका वीर्य पलङ्ग पर पार्वती के भग से बाहर निकल गया। शिवजी बाहर गये और पार्वती भी बाहर गयीं। उन्होंने वापस आकर देखा कि उसी वीर्य में एक बालक

लत-पत हुआ पड़ा है। वही गणेश था। उसी व्यास ने गणेश की मृत्यु शिवपुराण में शिवजी के त्रिशूल से लिखी और और उसी व्यास ने ब्रह्मवैवर्तपुराण में गणेश की मृत्यु शनिश्चर की कुदृष्टि से लिखी है। निष्कर्ष यह कि पुराणों में सहस्रों परस्पर विरोधी बातें विद्यमान हैं, अतः प्यारे मित्र! न तो ये पुराण एक लेखनी के लिखे हुए हैं और न ही व्यासजी के बनाये हुए हैं और न यहाँ मांस शब्द का अर्थ ही कोई और हो सकता है, इसलिए सन्मार्ग यही है कि मांस खाना वेद के विरुद्ध है और पुराणों में मांस खाने की शिक्षा विद्यमान है, अतः पुराण वेद के विरुद्ध हैं।

पोपजी—पुराण के लेख के अध्ययन से पता लगता है जिस स्थान पर शब्द 'गो-मांस' आता है उससे पहले और पश्चात् शहद, दही, तेल, शक्कर, पूड़े आदि उत्तम पदार्थों का वर्णन आता है। इससे प्रकट होता है कि उत्तम वस्तुओं के मध्य के शब्द से भी किसी उत्तम वस्तु से ही तात्पर्य हो सकता है, अन्यथा उत्तम वस्तुओं के मध्य में गो-मांस जैसे बुरे शब्द का आ जाना सरासर प्रकरण के सम्बन्ध-विच्छेद को प्रकट करता है, इसलिए भी इस शब्द का अर्थ मांस किसी अवस्था में भी ठीक नहीं हो सकता।

तोपजी—इस पूरे लेख को पढ़ने से पता लगता है कि इसमें दूध की सौ नदियों का भी वर्णन है और मांस का वर्णन दूध से अतिरिक्त है, अतः यह मांस दूध से भिन्न वस्तु है। यदि दूध का नाम ही मांस होता तो एक ही वस्तु का दो नामों से दो बार वर्णन आना असम्भव था और फिर हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि मांस नाम दूध का कदापि नहीं हो सकता। पौराणिक लोग देवता और पितरों के नाम से बलि देकर पशुओं के मांस को भी उत्तम पदार्थ ही मानते हैं, तभी तो गौ को यज्ञ में मारने का नाम गोमेध माना जाता है, अतः प्रकरण-अनुसार भी यहाँ पर गो-मांस शब्द का अन्य कोई अर्थ नहीं किया जा सकता।

पोपजी—उपर्युक्त वृत्तान्त, वेद-शास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से यही सिद्ध होता है कि इस शब्द का ठीक-ठीक अर्थ गौ का दूध है, जैसाकि ऊपर वर्णन किया जा चुका है।

तोपजी—हम भी ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि पौराणिक लोग यज्ञ, मधुपर्क और श्राद्ध में गौ आदि पशुओं को देवता और पितरों की बलि चढ़ाकर उनके मांस के प्रयोग को वैदिक मानते हैं और इस बात को पोपजी ने भी प्रवृत्ति-मार्ग के नाम से वैदिक स्वीकार किया है, अतः पौराणिकों के सिद्धान्त के अनुसार न इसमें असम्भव दोष आ सकता है और न ही विरोध है और न प्रकरण के विरुद्ध तथा इन प्रकरणों में मांस का दूध अर्थ भी असम्भव है। इन प्रकरणों में सर्वत्र गो-मांस के प्रयोग का ही वर्णन पुराणों में किया हुआ है।

पोपजी—अब रहा रुक्मिणी-कृष्ण के विवाह में बारात को गो-मांस खिलाने का वर्णन, तो यह सोलह आने झूठ है, क्योंकि रुक्मिणी को तो भगवान् हरण करके लाये थे, जिनके लाने में राक्षस-बुद्धि रुक्मी आदि से युद्ध अवश्य हुआ था। वहाँ न तो कोई बारात गयी और न ही विवाह की कोई तैयारी थी। महाशय साहब का इतना कोरा झूठ लिखना पता नहीं उनके किस जीवन के लिए पाप इकट्ठा हो रहा है। हाँ, शिशुपाल के विवाह के सम्बन्ध में मांस आदि तैयार करवाने का किसी दुष्टबुद्धि का प्रस्ताव हो तो असम्भव नहीं, क्योंकि उस बारात में राक्षस-बुद्धिवाले दुष्टों का सम्मिलित होना भी असम्भव नहीं कहा जा सकता।

तोपजी—हमारे लेख को झूठ बतलाना आपका पुराणों से अनभिज्ञ होने का प्रमाण है, क्योंकि ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्णजन्मखण्ड अध्याय १०५, श्लोक ६४ से अध्याय १०९, श्लोक ८ तक कृष्ण के विवाह का विस्तृत वर्णन है। विधिपूर्वक रुक्मिणी के पिता ने राजा उग्रसेन को विवाह का पत्र लिखा और उग्रसेन विधि-विधानानुसार बारात लेकर गया जिसमें तीन

करोड़ देवता और छह करोड़ मुनि भी थे तथा हाथी, घोड़े, रथ आदि सवारियों का तो ठिकाना ही क्या! इस बारात में सौ करोड़ अर्थात् एक अरब ब्राह्मण सम्मिलित थे, जैसे कि लिखा है कि '**विप्राणां शतकोटयः**' [१०५।८२]। (आप तो पिछत्तर करोड़ को ही असम्भव बता रहे थे, यहाँ बारात में केवल ब्राह्मण ही एक अरब थे और दूसरों का तो ठिकाना ही क्या था!) और विधि-विधानपूर्वक विवाह की तैयारी करके बारात कुण्डिनपुर पहुँची। मार्ग में रुक्मी और शिशुपाल से युद्ध हुआ और उन्हें जीतकर बारात नगर में प्रविष्ट हुई और विधिपूर्वक कृष्ण का रुक्मिणी के साथ पाणिग्रहण-संस्कार भीष्मक के गृह पर हुआ। ब्रह्मवैवर्तपुराण में रुक्मिणी के हरने की कोई चर्चा ही नहीं है। हमने ऊपर विवाह में मांस के सम्बन्ध में जो वर्णन किया है, उस सम्पूर्ण तैयारी के लिए रुक्मी ने अपने पिता से कहा था और राजा ने अपने पुत्र के कथनानुसार ही सारी तैयारी की थी। तनिक अवलोकन कीजिए—

राजा संभृतसंभारो बभूव सत्वरं मुदा। निमन्त्रणं च सर्वत्र चकार स सुताज्ञया॥

—ब्रह्मवै० कृष्णजन्म० १०५.६६

अर्थ—राजा ने अपने पुत्र की आज्ञा के अनुसार सब सामग्री तैयार कर ली और सर्वत्र निमन्त्रण भेज दिये।

जब भरे दरबार में रुक्मी ने विवाह की सामग्री तैयार करने की सूची बतलाई और किसी दरबारी ने या राजा ने उस सामग्री का विरोध नहीं किया, अपितु उसकी आज्ञा के अनुसार सारी तैयारी की गयी और कृष्ण की बारात में सब देवता, ब्राह्मण, ऋषि, मुनि, भीष्म, युधिष्ठिर आदि कौरव-पाण्डव सब सम्मिलित हुए और सबने भीष्मक के गृह पर भोजन किया तो बतलाइए, इसमें आपका सारा उपर्युक्त लेख झूठा होता है या नहीं? अतः इस बात को स्वीकार करो कि जिन पुराणों में कृष्ण के विवाह में गौ-मांस खाने का वर्णन है, वे सर्वथा वेद के विरुद्ध हैं।

रही आपकी यह बात कि राक्षस-बुद्धिवालों के लिए गौ-मांस की तैयारी का प्रस्ताव किया हो, तो श्रीमन्! यदि गो-मांसाहारी अतिथि किसी के यहाँ आने की सम्भावना भी हो, तो भी आतिथेय का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह अपने घर में अपने धर्म के विरुद्ध भोजन अतिथियों के लिए तैयार करवाये। ऐसे प्रस्ताव का तुरन्त खण्डन करने की आवश्यकता थी, परन्तु रुक्मी के प्रस्ताव का किसी ने विरोध नहीं किया। इससे सिद्ध है कि पुराणों के रचयिता के लिए गो-मांस का प्रयोग कोई अवैध कर्म या अवैध प्रस्ताव नहीं था।

पोपजी—महाशय साहब! किसी दुष्ट का दुष्ट कर्म सनातनधर्मियों के लिए विधिवाक्य नहीं हो सकता। यदि आपमें साहस है तो पुराणों से मांस-भक्षण का कोई विधिवाक्य प्रस्तुत करें। लाला साहब! पुराणों में तो ऐसी कोई आज्ञा है नहीं और न ही आप प्रस्तुत कर सकते हैं।

तोपजी—क्या आप आदि-मनु, राजा चैत्र और कृष्ण को सनातनधर्म के दृष्टिकोण से दुष्ट मानते हैं? यदि नहीं तो फिर इनका कर्म सनातनधर्म के लिए आचरण करने योग्य क्यों नहीं? विधिवाक्य की भी एक ही कही! हम पीछे कितने प्रमाण दे चुके हैं कि सनातनधर्म के सिद्धान्तानुसार यज्ञ, श्राद्ध और मधुपर्क में गौ आदि पशुओं की पितरों और देवताओं के नाम से बलि देकर उनका मांस खाना पाप नहीं है, अपितु न खानेवाला पाप का भागी है। यदि आपको और प्रमाण की आवश्यकता है तो लीजिए—

असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन। मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः॥

—मनु० ५।३६

अर्थ—मन्त्रों से संस्कार न किया हुआ पशु ब्राह्मण को कभी भी नहीं खाना चाहिए और मन्त्रों से संस्कार किये हुए पशु को सदा विधिपूर्वक खाया करे।

इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या हो सकता है?

पोपजी—हाँ, आर्यसमाज की मांसपार्टी 'आर्यमित्र' के लेखानुसार आर्यसमाज मन्दिरों में वेश्याओं के नाच, मद्यपान और गोमांस-भक्षण तथा स्वामी दयानन्दजी के मांस-भक्षण की आज्ञा देने पर पर्दा डालने के लिए जब तक दूसरों पर कलङ्क न लगाएँ तो आर्यसमाजियों की काली करतूतें कैसे छिपें?

तोपजी—आर्यसमाज में कोई मांसपार्टी नहीं है। यदि कोई व्यक्ति निजी रूप में मांस खाता हो तो वह आर्यसमाजी कहलाने का अधिकारी नहीं है। आर्यसमाज किसी के निजी कर्म का उत्तरदायी नहीं है। स्वामी दयानन्द ने कहीं भी मांस खाने की आज्ञा नहीं दी, अपितु सैकड़ों स्थानों पर मांस-भक्षण को वेदविरुद्ध और पाप बतलाया है। 'आर्यमित्र' ने उन लोगों का प्रबल खण्डन किया है जो लोग आर्यसमाज में आकर भी व्यसनों में फँसे रहते हैं। हमारे सिद्धान्त के अनुसार जिन समाजमन्दिरों में वेश्याओं का नाच, मद्यपान और मांस-भक्षण आदि कर्म किये जाते हों, न वे मन्दिर समाजमन्दिर कहलाने योग्य हैं और न इस प्रकार के कुकर्म करनेवाले आर्यसमाजी ही कहला सकते हैं, अपितु इस प्रकार के लोग भी वाममार्गियों की भाँति दुष्ट, पाजी और पामर कहलाने के ही अधिकारी हैं, अतः आर्यसमाज का मार्ग सीधा है कि मांस-भक्षण आदि वेदविरुद्ध और पाप है। आपको पुराणों के मद्यपान, मांस-भक्षण और दुराचार आदि काली करतूतों को छिपाने के लिए आर्यसमाज पर झूठे दोष लगाने में सफलता नहीं मिल सकती। हाँ, इन अष्टादश पुराणों को दियासलाई दिखाने से ही आपका जीवन ख़ुशहाल रह सकता है।

पोपजी—महाशय साहब! यदि मांस खाने की आज्ञा देखनी हो तो स्वामी दयानन्दजी के सत्यार्थप्रकाश संवत् १८७५ के पृष्ठ १४८ पर देखें। वहाँ गौ और गधी को बराबर माना है और गौ को मारकर गोमेध यज्ञ करना उत्तम समझा है और यज्ञ से संसार का लाभ बताया है।

तोपजी—स्वामी दयानन्दजी महाराज स्वयं सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण को दियासलाई दिखाकर उसके स्थान पर दूसरा संस्करण शुद्ध करके छपवा गये, क्योंकि प्रथम संस्करण में वाममार्गी पोपों ने अपनी पौराणिक शिक्षा प्रविष्ट कर दी थी। उसके सम्बन्ध में स्वामीजी ने दूसरे संस्करण की भूमिका के आरम्भ में ही स्पष्टरूप से लिख दिया है। जब सत्यार्थप्रकाश का संवत् १८७५ वाला प्रथम संस्करण आर्यसमाज को प्रमाण ही नहीं है तो उसमें से हमारे समक्ष कोई प्रमाण प्रस्तुत करना केवल मूर्खता और अज्ञान है।

पोपजी—और यजुर्वेद अध्याय १३, मन्त्र ३९ में स्वामी दयानन्दजी ने नीलगाय को मारने की स्पष्ट आज्ञा दी है।

तोपजी—स्वामी दयानन्द के भाष्य में नीलगाय आदि प्रजा को दुःख देनेवाले पशुओं को मारने की आज्ञा है और मारने के भी दो अर्थ हैं—दण्ड देना या प्राणों से भी रहित कर देना। राजा या राजपुरुषों का यह धर्म है कि जो पशु या मनुष्य प्रजा को दुःख दें—उन्हें दण्ड दिया जाए या जान से मार दिया जाए। इसमें मांस खाने का नाम व चिह्न भी नहीं है। यजुर्वेद की मूल भाषा को पढ़िए—

"हे राजपुरुषो! तुम लोगों को चाहिए कि जिन बैल आदि पशुओं के प्रभाव से खेती आदि काम, जिन गौ आदि से दूध-घी आदि उत्तम पदार्थ होते हैं कि जिनके दूध आदि से प्रजा की रक्षा होती है, उनको कभी मत मारो और जो जन इन उपकारक पशुओं को

मारें उनको राजादि न्यायाधीश अत्यन्त कड़ा दण्ड देवें और जो जंगल में रहनेवाले नीलगाय आदि प्रजा की हानि करें वे मारने योग्य हैं।''

अब बतलाइए, इस भाष्य से पौराणिक मांस-भक्षण का समर्थन कैसे हो सकता है?

पोपजी—और स्वामी दयानन्दजी संस्कारविधि संवत् १९३३ पृष्ठ १२ पर लिखते हैं—जो पण्डित, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाला और सब वेद-वेदाङ्गों को पढ़ने-पढ़ाने और सम्पूर्ण सुखों को भोगनेवाला पुत्र चाहे तो मांस के साथ भात पकाकर खाए और पृष्ठ ४३ पर लिखा है कि अन्न आदि का इच्छुक गोष्फन्द का मांस खाए और विद्या का इच्छुक तीतर का मांस खाए।

तोपजी—बिल्कुल झूठ, सफेद झूठ। संवत् १९३३ की छपी हुई संस्कार-विधि में उपर्युक्त पाठ में से एक शब्द भी नहीं है। हाँ, संस्कार-विधि के प्रथम संस्करण में पोपजी का दाव चल गया था और उसमें पौराणिक शिक्षा प्रविष्ट कर दी थी, जिसका पता लगने पर स्वामीजी ने विज्ञापन द्वारा उसका खण्डन कर दिया था और उन अशुद्धियों को ठीक करके दूसरा संस्करण प्रकाशित कर दिया था। पहले अप्रामाणिक संस्करण से प्रमाण देना आर्यसमाज के समक्ष कोई मूल्य नहीं रखता।

पोपजी—इसके अतिरिक्त सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ २८६ पर स्पष्ट लिखा है कि ''जो हानिकारक पशु व मनुष्य हों उन्हें दण्ड दो अथवा मार दो।'' फिर क्या करो? स्वामी दयानन्दजी महाराज आज्ञा देते हैं कि उनको कोई मांस खानेवाला खा लेवे तो कुछ भी दोष नहीं।

तोपजी—आपका धन्धा ही जनता को धोखा देना हो गया है। आप कहीं भी ठीक अवतरण [मूलपाठ] उद्धृत नहीं करते। स्वामीजी ने तो यह लिखा है कि—''यदि उनके मांस को कोई मांसाहारी खावे तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती, किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है; जितने पदार्थ हिंसा से प्राप्त होते हैं वे सब अभक्ष्य हैं।''

स्वामीजी के इस लेख का स्पष्टरूप से यह तात्पर्य है कि मुर्दे का मांस खाना भी पाप है, क्योंकि इससे स्वभाव हिंसक हो जाता है। भला! सत्यार्थप्रकाश के इस पाठ से पौराणिक मांस-भक्षण सिद्ध करना नितान्त मूर्खता नहीं तो और क्या है? तथा ''कुछ भी दोष नहीं'' ये शब्द अपनी ओर से लिखना धोखा देना नहीं तो और क्या है?

पोपजी—भला! जिनके गुरु बाबा प्रत्येक प्रकार का मांस खाने की आज्ञा दें, प्रत्युत मनुष्य तक के मांस को बुरा न समझें तो फिर ऐसे लोगों को पुराणों में मांस दृष्टिगोचर हो तो इसमें क्या दोष हो सकता है? कहावत प्रसिद्ध है कि—'बिल्ली को चूहों का सपना।'

तोपजी—स्वामीजी का एक लेख भी पोपजी ऐसा प्रस्तुत नहीं कर सके कि जिससे मांस-भक्षण की आज्ञा सिद्ध हो सके और हमने स्वामीजीकृत ग्रन्थों से बीसियों प्रमाण देकर सिद्ध कर दिया है कि ऋषि दयानन्दजी मांस-भक्षण को वेदविरुद्ध होने के कारण पाप मानते हैं, प्रत्युत स्वामीजी तो मांसाहारियों के हाथ का भोजन करने में भी दोष मानते हैं। हाँ, पुराणों में पितरों और देवताओं के नाम से गौ आदि पशुओं की बलि देकर उसका मांस खाना धर्म वर्णित किया गया है तथा न खानेवाले को दण्ड और पाप लिखा गया है। जिन पौराणिकों के यहाँ गो-मांस तक खाने की आज्ञा हो, वे यदि ऋषि दयानन्दजी के ग्रन्थों से मांस-भक्षण सिद्ध करने का प्रयत्न करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! क्योंकि पौराणिक लोग तो कुबड़ी बुढ़िया की भाँति यह चाहते हैं कि सारा संसार कुबड़ा हो जाए, परन्तु ये दुष्ट ऋषि दयानन्दजी के ग्रन्थों को कलङ्कित करने में सफल नहीं हो सकते। यदि इन

पौराणिकों की मांस-भक्षण में अधिक रुचि हो तो पुराण पर्याप्त रूप में इनकी इच्छा पूर्ण कर सकते हैं। हमने मांस-भक्षण-सम्बन्धी पुराणों के बहुत-से प्रमाण लिख दिये हैं; अपने भाइयों की इच्छापूर्ति के लिए कुछ और प्रमाण नीचे लिखे जाते हैं—

१. वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ५२ में लिखा है कि राम-लक्ष्मण ने भूख के कारण चार मृग मारे और एक वृक्ष के नीचे विश्राम किया।

२. वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ५५, श्लोक ३३ में लिखा है कि राम-लक्ष्मण मृगों को मारते हुए यमुना के वन में भ्रमण करते थे।

३. वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ४८, श्लोक ७, १०, १७—गुह ने गीला और सूखा मांस भरत को भेंट किया।

४. वाल्मीकि रामायण अरण्यकाण्ड सर्ग ४४, श्लोक २७—रामचन्द्रजी ने मारीच को मारकर फिर और जानवरों को मारकर उनका मांस लिया।

५. वाल्मीकि रामायण अरण्यकाण्ड सर्ग ४४, श्लोक २३—सीता ने रावण से कहा—तनिक ठहर जाओ, मेरा पति बहुत-सा मांस लाएगा।

६. वाल्मीकि रामायण अरण्यकाण्ड सर्ग ६८, श्लोक ३२-३३—राम ने जटायु के दाहकर्म के लिए बहुत-से मृग मारे।

७. महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २६४ में लिखा है कि "राजा विचक्षणु ने जब देखा कि ५३० ब्राह्मण लोग यज्ञ में गौओं और बैलों को मार रहे हैं और वे खम्भों की भाँति कट-कटकर गिर रहे हैं और गौएँ बुरी भाँति विलाप कर रही हैं, तब उन्हें दया आई और उन्होंने यज्ञ में गोवध बन्द कर दिया।"

८. महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २९ में लिखा है कि राजा रन्तिदेव के यज्ञ में इतने पशु मारे जाते थे कि उनके खून से नदी बह निकली जिसका नाम चर्मण्वती था। राजा रन्तिदेव की रसोई में प्रतिदिन बीस सहस्र एक सौ गौएँ मारी जाती थीं और उनका मांस खिलाया जाता था।

९. महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १४१ में लिखा है कि विश्वामित्र ने चाण्डाल के घर से कुत्ते की जाँघ चुराकर उसमें से यज्ञ में देवताओं और पितरों को भाग देकर उसका भक्षण किया।

१०. महाभारत वनपर्व अध्याय २०७ में लिखा है कि राजा सौदास ने मनुष्यों का मांस खाया।

११. महाभारत आश्वमेधिकपर्व अध्याय ८८ में लिखा है कि यज्ञ में बैलों को भी मारा गया।

१२. पारस्करगृह्यसूत्र प्रथमकाण्ड, कण्डिका तीसरी, सूत्र २६ से ३० तक में लिखा है—

आचान्तोदकाय शासमादाय गौरिति त्रिः प्राह ॥२६॥

प्रत्याह—**माता रुद्राणां दुहिता वसूनाᳬ स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः।**

प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥

मम चामुष्य च पाप्मानᳬ हिनोमि, इति यद्यालभेत ॥२७॥

अथ यद्युत्सृक्षेत् 'मम चामुष्य च पाप्मा हतः' 'ओमुत्सृज्यत तृणान्यत्तु' इति ब्रूयात् ॥२८॥

नत्वेव माᳬसोऽर्घः स्यात् ॥२९॥

अधियज्ञमधिविवाहं कुरुते त्येव ब्रूयात् ॥३०॥ —पार० गृह्य० १.३.२६-३०

अर्थ—विवाह में मधुपर्क के समय आचमन करके तीन बार गौ, गौ, गौ कहकर '**माता**

रुद्राणाम्' इस मन्त्र से गौ को मारे[१]। और यदि छोड़नी हो तो **'मम चामुष्य'** इस मन्त्र से छोड़ दे, परन्तु यह पूजा बिना मांस के नहीं होती। इसलिए यज्ञ में और विवाह में गौ को अवश्य मारना चाहिए।

यही बात हूबहू आश्वलायनगृह्यसूत्र प्रथम अध्याय कण्डिका २३ से २६ तक और गोभिलगृह्यसूत्र प्रपाठक ४, कण्डिका १० सूत्र १८ से २० तक में लिखी हुई है। इन सूत्रों में स्पष्टरूप से यज्ञ और विवाह में गो-मांस के प्रयोग की विधि वर्णन की गयी है।

१३. पारस्करगृह्यसूत्र प्रथमकाण्ड, कण्डिका १९ में अन्न-प्राशन संस्कार में भी बच्चे को मांस खिलाना लिखा है।

कहाँ तक वर्णन किया जाए! पौराणिक साहित्य में गौ आदि पशुओं को मारकर उनका मांस खाने के सैकड़ों नहीं सहस्त्रों प्रमाण विद्यमान हैं। चूँकि पशुओं को मारना और उनका मांस खाना वेद के विरुद्ध है, अतः अष्टादश पुराण वेदों के भी सर्वथा विरुद्ध हैं। महाभारत में भी लिखा है कि—

सुरा मत्स्यो मधु मांसमासवं कृशरौदनम्। धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतत् नैतद्वेदेषु कल्पितम्॥

—महा० शान्ति० २४६।९

अर्थ—शराब, मछली, मधु-शराब, मांस, आसव आदि वस्तुएँ यज्ञों में धूर्त लोगों ने प्रयुक्त करनी आरम्भ की हैं, ये वेद में कहीं नहीं लिखी हैं।

३. पुराणों में व्यभिचार

सिद्धान्त—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। —अथर्व० ११.५.१८

अर्थ—ब्रह्मचर्य को धारण करके कन्या जवान पति को प्राप्त करती है।

उत्सक्थ्याऽव गुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्।

यः स्त्रीणां जीवभोजनः। —यजु० २३.२१

अर्थ—हे शक्तिमन् राजन्! जो स्त्रियों के बीच प्राणियों का मांस खानेवाला व्यभिचारी पुरुष वा पुरुषों के बीच उक्त प्रकार की व्यभिचारिणी स्त्री वर्तमान हो उस पुरुष वा स्त्री को बाँधकर, ऊपर को पग और नीचे को सिर कर, ताड़ना करके, अपनी प्रजा के मध्य उत्तम सुख को धारण करो और अपने प्रकट न्याय को भली-भाँति चलाओ।

—ऋषि दयानन्द

परिणाम—वेद के अनुसार पञ्चायत के नियमों से स्त्री और पुरुष का जो विधिपूर्वक सम्बन्ध है, उसका नाम विवाह या नियोग है और वेद के विरुद्ध, गुप्तरूप से स्त्री और पुरुष का जो गुप्त अवैध सम्बन्ध है, उसका नाम व्यभिचार है, क्योंकि पुराणों में इस प्रकार के अवैध सम्बन्धों का बहुत वर्णन है, अतः पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

—:o:—

पोपजी—लाला साहब! सनातनधर्म में दुराचारी पुरुष और स्त्री के लिए वेद के अनुसार ही कई प्रकार के दण्ड और प्रायश्चित्त लिखे हुए हैं। व्यभिचार की खुली छूट आर्यसमाज में ही पाई जाती है।

---

१. मन्त्र तो कहता है कि **'मा गामनागामदितिं वधिष्ट'** निष्पाप और न मारने योग्य गौ को मत मारो, परन्तु स्वार्थी इस मन्त्र को पढ़कर गौ को मार रहे हैं। —जगदीश्वरानन्द

तोपजी—आपने पौराणिक दुराचार का दोष आर्यसमाज पर लगाना चाहा, परन्तु प्रमाण कोई न दे सके। इसलिए दावा बिना तर्क एकपक्षीय रद्द किया जाता है। रही बात यह कि पुराणों में दुराचारी पुरुष और स्त्री के लिए दण्ड-विधान है—यह भी सर्वथा मिथ्या है, अन्यथा आप बतलाने की कृपा करें कि कृष्णजी ने कुब्जा के साथ व्यभिचार किया, उसका कृष्ण को क्या दण्ड मिला? शिवजी ने जो महानन्दा कंजरी से व्यभिचार किया उसका शिवजी को क्या दण्ड मिला? ब्रह्मा, विष्णु, महादेव जो बिल्कुल नंगे होकर अनसूया पर टूट पड़े, इस कर्म का उन्हें क्या दण्ड दिया गया? बृहस्पति ने जो गर्भवती ममता से बलात् व्यभिचार किया उसका बृहस्पति को क्या दण्ड मिला? निष्कर्ष यह कि पुराणों में ऐसे सैकड़ों प्रमाण हैं जिनमें दुराचारी पुरुष और स्त्री को कोई दण्ड नहीं दिया गया, प्रत्युत पुराणों में तो वेश्यागमन और दुराचार की खुली आज्ञा है, जैसाकि हम आगे वर्णन करेंगे।

पोपजी—आपने जो शिवपुराण के प्रमाण से ब्रह्मा का पोती पर मस्त होने और अपनी पुत्री के पीछे भागने का वर्णन किया है, उसका उत्तर मैं पहले लिख चुका हूँ।

तोपजी—आपको तो उसका उत्तर क्या खाक देना था? उसका उत्तर तो आपके दादागुरु भरद्वाज भी नहीं दे सकते। आपने अलङ्कार की खाई में छिपकर अपनी जान बचानी चाही, परन्तु हमने वहीं आपका सिर कुचल दिया, अतः हमारा प्रश्न पूर्व की भाँति विद्यमान है कि शिवपुराण, रुद्रसंहिता, सतीखण्ड, अध्याय १९ में लिखा है कि "जब ब्रह्माजी अपनी पौत्री सती का विवाह महादेवजी से करवाने लगे तो उसका मुँह देखकर ब्रह्मा की धोती खराब हो गयी" और शिवपुराण रुद्रसंहिता, सतीखण्ड अध्याय २ में लिखा है कि "ब्रह्मा के मन से एक सुन्दर लड़की उत्पन्न हुई। ब्रह्मा और ब्रह्मा के पुत्र मरीचि आदि सब उसपर अनुरक्त हो गये और वे सब स्खलित हो गये।" कृपा करके इन कथाओं की फ़िलासफ़ी का वर्णन कीजिए।

पोपजी—लाला साहब ने शिवपुराण का प्रमाण देकर महादेवजी के विश्वेश्वरनाथ अवतार और कंजरी की कथा अधूरी ही लिखकर उनके व्यभिचार का वर्णन किया है, परन्तु यह बात सर्वथा मिथ्या है, आदि-आदि।

तोपजी—हमने कथा लिखी ही नहीं, अतः अधूरी का तो प्रश्न ही व्यर्थ है। हाँ, यह अवश्य लिखा था कि शिवजी ने महानन्दा कंजरी से व्यभिचार किया, वह सोलह आने सच है। हाँ, आपने अधूरी कथा लिखकर जान बचाने का प्रयत्न अवश्य किया है, परन्तु व्यर्थ। हम शिवपुराण शतरुद्रसंहिता अध्याय २६ से वह कथा हूबहू उद्धृत कर देते हैं, जिससे जनता सत्य और झूठ का अनुमान लगा सके। तनिक ध्यानपूर्वक पढ़ें, क्या लिखा है—

"नन्दीग्राम में कोई महानन्दा नाम की कंजरी रहती थी। वह शिव की भक्त थी और बहुत सुन्दरी थी और बहुत सुन्दर आभूषण उसने पहने हुए थे। गानविद्या में वह चतुर थी। उसके गाने से राजा लोग प्रसन्न होते थे। एक दिन शिवजी महाराज स्वयं वैश्य का रूप धारण करके उसकी परीक्षा लेने के लिए उसके मकान पर गये। उस वैश्य को आते देखकर कंजरी बड़ी प्रसन्न हुई और उसे अच्छे स्थान पर बैठाया। उस वैश्य के हाथ में सुन्दर कङ्कन देखकर वह लोभ से मुस्कराते हुए बोली—आपके हाथ में यह सुन्दर कङ्कन मेरे मन को हरता है। वैश्य ने कहा कि यदि यह कङ्कन तुम्हें अच्छा लगता है तो तुम पहन लो, परन्तु तुम इसका मूल्य क्या दोगी? इसपर कंजरी बोली कि—

वयं हि स्वैरचारिण्यो वेश्यास्तु न पतिव्रताः।
अस्मत् कुलोचितो धर्मो व्यभिचारो न संशयः॥ २१॥

अर्थ—हम दुराचार करनेवाली स्त्रियाँ हैं, पतिव्रता नहीं हैं। हमारे कुल का उचित धर्म व्यभिचार ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। यदि आपका हृदय चाहे तो इस कङ्गन के बदले में तीन दिन के लिए आपकी धर्मपत्नी बन सकती हूँ। वैश्य ने स्वीकार कर लिया और कंजरी ने तीन बार सूर्य और चन्द्रमा को साक्षी बनाकर इस वैश्य के हृदय को स्पर्श करके उसकी पत्नी बनने की प्रतिज्ञा की। तब वैश्य ने कंजरी को कङ्गन दे दिया और एक रत्न का बना हुआ शिवलिङ्ग कंजरी को सँभालकर रखने के लिए दिया। कंजरी ने वह शिवलिङ्ग लेकर नाचने के मण्डप में सावधानी से रख दिया, फिर दोनों समागम में लग गये।

सा तेन सङ्गता रात्रौ वैश्येन विटधर्मिणा। सुखं सुष्वाप पर्यङ्के मृदुतल्पोपशोभिते॥३०॥

अर्थ—वह कंजरी उस रात्रि में उस वैश्य के साथ एक ही पलङ्ग पर एकसाथ सुखपूर्वक, नरम बिछौने पर सो गयी। आधी रात में उस मण्डप में आग लग गयी और वह शिवलिङ्ग आग में जलकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। यह देखकर वैश्य को बहुत दुःख हुआ और वह चिता बनवाकर अग्नि में प्रवेश कर गया। इस दृश्य को देखकर वह भी अपनी प्रतिज्ञा के कारण अग्नि में प्रवेश करने लगी तो महादेव ने उसका हाथ पकड़ लिया और उसे सत्य-प्रतिज्ञावाली जानकर नौकर-चाकर परिवार के सहित परमपद को प्राप्त करा दिया।''

इस कथा में स्पष्टरूप से लिखा हुआ है कि कङ्गन देने के पश्चात् वैश्यरूपधारी महादेवजी उस कंजरी के साथ एक पलङ्ग पर समागम करते हुए सो गये और आधी रात तक सोते रहे। आधी रात्रि होने पर मकान को आग लगी। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि महादेवजी ने महानन्दा कंजरी से सम्भोग किया और क्योंकि वेश्यागमन तथा व्यभिचार वेद के विरुद्ध है, अतः पुराण वेद के विरुद्ध हैं।

पोपजी—लाला साहब ने जो शिवपुराण का प्रमाण देकर ब्रह्मा, विष्णु और महादेव का नंगे होकर, लिङ्ग हाथ में पकड़कर अनसूया के पास जाकर व्यभिचार करने का वर्णन किया है, वह सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि यह कथा शिवपुराण में इसी प्रकार है कि गङ्गा के किनारे आदि-आदि।

तोपजी—हमने शिवपुराण का प्रमाण नहीं दिया, अपितु भविष्यपुराण का दिया है और उसमें यह बात हूबहू ऐसे ही लिखी हुई है। आपकी अवस्था विचित्र और दयनीय है! हम पूछते हैं भविष्यपुराण की बात और आप उत्तर दे रहे हैं शिवपुराण से। देखिए, भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४ अध्याय १७ में यह कथा इस प्रकार लिखी है—

''किसी समय अत्रिमुनि अपनी पत्नी अनसूया-सहित गङ्गा के किनारे बड़ा भारी तप कर रहे थे, तब ब्रह्मा, विष्णु और महादेव भी अपने-अपने वाहनों पर सवार होकर अत्रिमुनि के पास आये और बोले—वर माँगो, परन्तु परमात्मा की भक्ति में मस्त अत्रिमुनि उनकी बात सुनकर कुछ भी नहीं बोले। उसके भाव को जानकर सनातनधर्म के तीनों देवता उसकी स्त्री अनसूया के पास आकर यूँ बोले—

लिङ्गहस्तः स्वयं रुद्रो विष्णुस्तद्रसवर्धनः। ब्रह्मा कामब्रह्मलोपः स्थितस्तस्या वशं गतः।
रतिं धेहि मदाघूर्णे नो चेत्प्राणांस्त्यजाम्यहम्॥७१॥
नैव किञ्चिद्वचः प्राह कोपभीता सुरान् प्रति॥७२॥
मोहितास्तत्र ते देवा गृहीत्वा तं बलात्तदा।
मैथुनाय समुद्योगं चक्रुर्मायाविमोहिताः॥७३॥

अर्थ—महादेव हाथ में लिङ्ग लेकर, विष्णु उसके रस को बढ़ाते हुए और ब्रह्मा वेद-ज्ञान का लोप करके उसके वश में खड़े हुए बोले—हे मस्त आँखोंवाली! हमें मैथुन का दान करो, अन्यथा हम प्राणों को त्याग देंगे। पतिव्रता अनसूया ऐसी बुरी पाप की बात सुनकर देवताओं के क्रोध से डरती हुई कुछ न बोली। जब वहाँ वे देवता मोहित होकर उसे बलात् पकड़कर उससे मैथुन करने का प्रयत्न करने लगे तब उस सती ने क्रोध में आकर उन्हें शाप दिया कि तुम मेरे पुत्र बनोगे और महादेव का लिङ्ग, ब्रह्मा का सिर और विष्णु के पैर पूजे जाएँगे।''

इस कथा में ब्रह्मा, विष्णु और महादेव का लिङ्ग हाथ में पकड़कर अनसूया से व्यभिचार करने का स्पष्ट वर्णन विद्यमान है। यहाँ लिङ्ग नाम किसी और चिह्न का नहीं हो सकता, क्योंकि विष्णु का इसे बढ़ाना और ब्रह्मा का वेद का ज्ञान लोप करना और अनसूया से मैथुन का दान माँगना और उसे बलात् मैथुन के लिए पकड़ना और लिङ्ग के साथ सिर तथा पैर का वर्णन होना सिद्ध करता है कि यहाँ पर लिङ्ग नाम मूत्रेन्द्रिय का ही है। अनसूया ने इस कथा में कोई वर नहीं माँगा, अपितु लिखा है कि वह चुप रही और बलात् मैथुन करने का उद्योग करने पर शाप दिया। हमने कथा को इसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत किया है, ग़लत रूप में प्रस्तुत नहीं किया। हाँ, आपने शिवपुराण के नाम से सर्वथा कल्पित कथा अवश्य लिखी है, परन्तु इस प्रकार की सटल्लेबाज़ी से वास्तविकता छिप नहीं सकती, इसलिए पुराणों में व्यभिचार की शिक्षा होने से पुराण वेद के विरुद्ध हैं।

पोपजी—लाला मनसारामजी ने भविष्यपुराण के प्रमाण से कृष्णजी के द्वारा कंजरी की मुक्ति का जो साधन बतलाया है, वह सर्वथा मिथ्या और निराधार है। भविष्यपुराण के इस अध्याय में कंजरी की चर्चा तक नहीं, आदि-आदि।

तोपजी—हमने कंजरियों की मुक्ति के सम्बन्ध में भविष्यपुराण उत्तरपर्व अध्याय १११ का प्रमाण अपनी पुस्तक में दिया है। वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई का मुद्रित हुआ भविष्यपुराण इस समय हमारे समक्ष पड़ा हुआ है। इसके उक्त अध्याय में हमारी बात के सम्बन्ध में लेख विद्यमान है। हम चकित हैं कि आपने इतनी स्पष्ट बात से इन्कार कैसे कर दिया? श्रीमन्! अब जनता मूर्ख नहीं रही जो पोपों के वाक्य को ही मानकर विश्वास कर लेगी। इस प्रकार केवल इन्कार का पाठ पढ़ने से प्रकाश के युग में अब सनातनधर्म का अस्तित्व स्थिर नहीं रह सकता। इस कथा में कोकिलाव्रत का नाम व चिह्न भी नहीं है, अपितु इस अध्याय में कामदान व वेश्याव्रत का वर्णन है। हम पोपजी के चैलैञ्ज को स्वीकार करते हैं और भविष्यपुराण की कथा हूबहू लिख देते हैं—

युधिष्ठिर ने कृष्णजी से इस प्रकार प्रश्न किया कि महाराज!

वर्णाश्रमाणां प्रभवः पुराणेषु मया श्रुतः।
पण्यस्त्रीणां समाचारं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ —भविष्य० उत्तर० १११.१

अर्थ—मैंने वर्णाश्रमों के धर्मों को पुराणों में सुन लिया है। मैं ठीक प्रकार से कंजरियों के धर्मों को सुनना चाहता हूँ। इनका कौन देवता है? क्या इनका व्रत है और किस धर्म का पालन करने से ये स्वर्ग को प्राप्त हो सकती हैं?

कृष्णजी ने उत्तर दिया कि—हे युधिष्ठिर! मेरी सोलह सहस्र रानियाँ अत्यन्त सुन्दरी और कामदेव का मानो घर ही थीं। उनके साथ एक बार मैं उद्यान में सरोवर के किनारे शराब पीने में मस्त था। उस समय उन मेरी स्त्रियों ने समीप में ही मार्ग में चलते हुए कामदेव के समान सुन्दर साम्ब को देखा। उसे देखकर कामदेव की वृद्धि से उन स्त्रियों के सब अङ्गों में विकार उत्पन्न हो गया। इस सारी बात को ज्ञान की आँख से देखकर मैंने उन्हें

शाप दिया कि तुम डाकुओं के हाथों में चली जाओगी। यह सब मेरी मृत्यु के बाद होगा। यह सुनकर वे सब रोकर पूछने लगीं कि—हे गोविन्द! यह कैसे होगा? आप-जैसे पति, द्वारिका-जैसी पुरी, रत्नों से भरे घरों, द्वारिका के रहनेवालों और सब कुमारों को छोड़कर हम सब संसारवालों से भोग करनेवाली कैसे बनेंगी और उस समय हमारी क्या अवस्था और क्या धर्म होगा तथा हमारा व्यवसाय क्या होगा? उन रोती हुई अपनी युवा स्त्रियों से मैंने कहा कि सन्ताप न करें। एक बार तुमने नारद को प्रमाण नहीं किया था, इसलिए नारद के और मेरे शाप से—

चौरैरपहृताः सर्वा वेश्यात्वं समवाप्स्यथ ॥१८॥

अर्थ—तुम सब चोरों से चुराई जाकर कंजरियाँ बनोगी।

उस समय तुम्हारा धर्म यह होगा कि तुम्हें एक के साथ ही भोग नहीं करना होगा। जो तुम्हें धन दे उसकी देवता के समान पूजा करना। जो कोई तुम्हें शुल्क दे वह चाहे सुरूप हो चाहे कुरूप हो तुम्हें उसके साथ सम्भोग करना पड़ेगा। यदि तुम उसके साथ छल करोगी तो तुम्हें ब्रह्महत्या का पाप लगेगा। तुम सब देवताओं के मन्दिरों में और ब्राह्मणों के घरों में निवास करोगी और उनकी दासी बनकर रहोगी, परन्तु सावधान! उन अपने ब्राह्मण स्वामियों के साथ व्यभिचार कभी न करना। तुम्हारी सन्तान उनकी सन्तान कहलाएगी। तुम्हारी मुक्ति के लिए व्रत बताता हूँ। जिस दिन आदित्यवार (रविवार) हो उस दिन अच्छी प्रकार स्नान करके कामदेव की मूर्त्ति की पूजा करो और कामदेव की अच्छी प्रकार पूजा करके—

अत्र चाहूय धर्मज्ञं ब्राह्मणं वेदपारगम्। अव्यंगावयवं पूज्य गन्धपुष्पादिभिस्तथा ॥४२॥
यथेष्टाहारभुक्तं च तमेव द्विजसत्तमम्। रत्यर्थं कामदेवोऽयमिति चित्तेऽवधार्य च ॥४४॥
यद्यदिच्छति विप्रेन्द्रस्तत्तत्कुर्याद्विलासिनी। सर्वभावेन चात्मानमर्पयेत्स्मितभाषिणी ॥४५॥
एवमादित्यवारेण सदा तद् व्रतमाचरेत्। तण्डुलप्रस्थदानं च यावन्मासांस्तु द्वादशः ॥४६॥

अर्थ—वहाँ एक धर्मात्मा, वेदपाठी ब्राह्मण को, जिसके सब अङ्ग ठीक हों, बुलाकर **उसकी सुगन्धित पुष्पों से पूजा** करके भोजन कराए। जब वह अच्छी प्रकार भोजन कर चुके **तब इसी ब्राह्मण के साथ** भोग करने के लिए यह कामदेव ही है, ऐसा हृदय में धारण करके **जिस-जिस प्रकार से ब्राह्मण** चाहे, उसी-उसी प्रकार से ब्राह्मण के साथ भोग-विलास करे। सम्पूर्ण भक्ति से अपनी देह को उसके अर्पित कर दे। इस प्रकार से प्रत्येक रविवार को यह व्रत करे और चावलों का एक प्रस्थ[१] दान भी बारह मास तक देती रहे। तेरहवें मास में इस ब्राह्मण को बहुत-सा दान देकर और इस ब्राह्मण की 'क इदं कोऽदात्' इस वेदमन्त्र से पूजा करके वह सब सामान ब्राह्मण के घर पहुँचा दे।

ततः प्रभृति योऽन्योऽपि रत्यर्थं गृहमागतः। स सम्यक् सूर्यवारेण समं पूज्यो यथेच्छया ॥५५॥
एवमेकं द्विजं शान्तं पुराणज्ञं विचक्षणम्। तमर्चयेत च सदा अपरं वा तदाज्ञया ॥५६॥

करोति या शेषमखण्डमेतत्कल्याणिनी माधवलोकसंस्था।
सा पूजिता देवगणैरशैषैरानन्दकृत्स्थानमुपैति विष्णोः ॥६२॥

अर्थ—तत्पश्चात् जो कोई और भी कामभोग की इच्छा से घर पर आ जाए उसकी भी रविवार के दिन के समान ही, उसकी इच्छा के अनुसार पूजा करे। इस प्रकार एक शान्त स्वभाव व पुराणों को जाननेवाले बुद्धिमान् ब्राह्मण की अथवा उसकी आज्ञा से किसी दूसरे

१. १६ माशे का एक कर्ष, ४ कर्ष का एक पल और ३२ पल का एक प्रस्थ होता है। आज की तोल के अनुसार लगभग २ किलो।

की सदा पूजा करे। जो कंजरी इस प्रकार से सम्पूर्णरूप से इस विधि का अनुष्ठान करती है, वह कृष्णलोक में सब देवताओं से पूजी जाकर विष्णु के सुखधाम को प्राप्त होती है।

इस प्रकार यह कथा हमारे लेख के अनुसार भविष्यपुराण में विद्यमान है। आशा है अब आप अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार व्यभिचार की शिक्षा देनेवाले भविष्य आदि अष्टादश पुराणों को वेद के विरुद्ध समझकर वितस्ता (झेलम) नदी में बहा देंगे और वैदिक धर्म की शरण में आ जाएँगे।

पोपजी—ब्रह्मवैवर्तपुराण का भी झूठा प्रमाण देकर कृष्णजी का कुब्जा से सम्भोग करना और उस सम्भोग के कारण ही कुब्जा की मृत्यु होने का वर्णन सर्वथा ग़लत किया है। इस कथा की चर्चा भागवतपुराण में भी विस्तृत रूप से मिलती है, परन्तु दोनों पुराणों में श्रीकृष्णजी का कुब्जा से समागम की चर्चा तक नहीं। लालासाहब! अधूरी कथा गढ़कर झूठ ही मनमानी, निराधार बात लिखना सभ्य व्यक्तियों के लिए उचित नहीं है।

तोपजी—आपने सनातनधर्म की पाठशाला से एक 'नहीं' का पाठ पढ़ लिया है और इसी में सनातनधर्म की विजय समझते हैं, परन्तु इन झूठी बातों, मिथ्या भाषणों और सत्य पर पर्दा डालने से सनातनधर्म की रक्षा थोड़े ही हो सकती है? यद्यपि हमने केवल ब्रह्मवैवर्तपुराण का प्रमाण दिया था, परन्तु आप भागवत में जा घुसे, फिर भी हम डंके की चोट से घोषणा करते हैं कि कृष्ण का कुब्जा के साथ दुराचार (सम्भोग) करना दोनों ही पुराणों में विद्यमान है। निःसन्देह यह योगिराज कृष्ण पर एक बेहूदा दोषारोपण है, परन्तु इस दोष को लगानेवाले आपके ही पुराण हैं। इस प्रकार की असभ्यता और अशिष्टता की शिक्षा पुराणों की ही करतूत है। हमने तो केवल उसे अङ्कित करने का अपराध किया है। हम सर्वप्रथम भागवत से इस कथा को लिखते हैं। देखिए, भागवतपुराण, दशम स्कन्ध अध्याय ४८ में यूँ लिखा है—

"तब कृष्णजी ने कामतप्त कुब्जा का सन्ताप जानकर उसका भला करने के लिए उसके घर गमन किया। उसका घर कामशास्त्र में वर्णित काम को भड़कानेवाले पदार्थों से भरा हुआ था। कुब्जा कृष्ण को आते हुए देखकर घबराई और झटपट उठकर कृष्ण की आसन आदि से पूजा की। तब कृष्णजी बिल्कुल नंगे होकर पलंग पर लेट गये। उधर कुब्जा भी स्नान, वस्त्र व आभूषणों से अलंकृत होकर कृष्ण से क्रीड़ा करने के लिए तैयार होकर कृष्ण के पास आई। तब—

आहूय कान्तां नवसंगमह्रिया विशंकितां कङ्कनभूषिते करे।
प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया॥ ६॥
साऽनङ्गतप्तकुचयोरुरसस्थाक्ष्णोर्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती।
दोर्भ्यां स्तनान्तर्गतं परिरभ्य कान्तमानन्दमूर्त्तिमजहादतिदीर्घतापम्॥ ७॥

अर्थ—तब कृष्णजी ने नवीन मिलन के संकोच से शंकिता सुन्दरी कुब्जा को अपने पास बुलाकर और उसके कङ्कणभूषित हाथ को पकड़कर उसे अपने पलंग पर डाल लिया और उसके साथ सम्भोग किया। इस कुब्जा ने श्रीकृष्ण के चन्दन का लेप किया था, यह उसी का फल था। उसने श्री अनन्त के चरणों को काम से सन्तप्त अपने हृदय, वक्षःस्थल और नेत्रों पर रखकर उन्हें सूँघते हुए अपनी काम-पीड़ा को दूर और अपनी मनःकामना को पूर्ण किया, फिर अपने हृदय के बीच में आनन्दमूर्त्ति प्रियतम को प्राप्त कर और उनकी भुजाओं का आलिंगन कर अपनी चिरकाल की विरह-व्यथा शान्त की। कुब्जा की प्रार्थना पर श्रीकृष्णजी कई दिनों तक इसके घर में इसी प्रकार से ही इसकी कामवासना पूर्ण करके तथा खूब भोग-विलास करके अपने घर चले गये।"

यह तो हुई भागवत की कथा। अब तनिक ब्रह्मवैवर्त की भी सुनिए। ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्णजन्म खण्ड ४, अध्याय ७२ में इस प्रकार वर्णन है कि—

"सूर्यास्त होने पर अक्रूरजी अपने घर चले गये और कृष्णजी भी किसी के घर चले गये। नन्द और बलदेवसहित कृष्णजी गोविन्दभक्त के यहाँ ठहरे। भक्त ने सबका सत्कार किया। जब सब पलङ्गों पर सो गये और कुब्जा भी सो गयी, तब कृष्णजी भी कुब्जा के घर गये। वहाँ जाकर कुब्जा को पलङ्ग पर सोये हुए देखा। कृष्णजी ने दासियों को नहीं जगाया, केवल कुब्जा को जगा लिया। उससे कृष्णजी ने कहा—हे सुन्दरि! निद्रा छोड़कर मुझे शृंगारदान दे, अर्थात् मेरे साथ मैथुन कर—

इत्युक्त्वा श्रीनिवासश्च कृत्वा तामेव वक्षसि। नग्नां चकार शृङ्गारं चुम्बनं चापि कामुकीम्॥५९॥
सा सस्मिता च श्रीकृष्णं नवसङ्गमलज्जिता। चुचुम्बे गण्डे क्रोडे तां चकार कमलां यथा॥६०॥
सुरतेर्विरतिर्नास्ति दम्पती रतिपण्डितौ। नानाप्रकारसुरतं बभूव तत्र नारद॥६१॥
स्तनश्रोणियुगं तस्या वीक्षितं च चकार ह। भगवान्नखरैस्तीक्ष्णैर्दशनैरधरं वरम्॥६२॥
निशावसानसमये वीर्याधानं चकार स। सुखसम्भोगभोगेन मूर्च्छामाप च सुन्दरी॥६३॥
अथाजगाम गोलोकाद्रथो भूषणभूषितम्। जगाम तेन तं लोकं धृत्वा दिव्यकलेवरम्॥६६॥

अर्थ—इतना कहकर कृष्ण ने उस कुब्जा को हृदय से लगाकर नंगा कर दिया और कामक्रीड़ा में उस कामुकी को चूम लिया। वह नवसमागम से लज्जित हुई। कुब्जा कृष्णजी को देखकर मुस्कराई। कृष्णजी ने उसे लक्ष्मी की भाँति गोद में लेकर उसके गाल को खूब चूमा, क्योंकि भोग करने की विद्या में दोनों पण्डित थे, अतः उनका मैथुन समाप्त ही न होता था। हे नारद! उन्होंने अनेक प्रकार से रतिक्रिया की। भगवान् कृष्ण ने अपने तेज नखों से उसके दोनों स्तनों को घायल कर दिया और तीक्ष्ण दाँतों से उसके ओष्ठों को काट डाला। रात्रि की समाप्ति पर कृष्ण ने वीर्याधान किया। वह कुब्जा आनन्ददायक भोग करने से चेतनाशून्य हो गयी। इसके पश्चात् गोलोक से एक रत्नजटित रथ आ गया और कुब्जा दिव्य शरीर धारण करके उस रथ में बैठकर गोलोक को चली गयी।"

इस ब्रह्मवैवर्तपुराण की कथा में कुब्जा से व्यभिचार और उसका मरकर गोलोक में जाने का स्पष्ट वर्णन है। फिर भी हम इसके मैथुन से मरने के सम्बन्ध में और प्रमाण देते हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्मखण्ड अध्याय १०६, श्लोक २२ में लिखा है—

कुब्जा मृता च संभोगाद्वाससा रजको मृतः॥२२॥

अर्थ—उस कृष्ण के भोग करने के कारण कुब्जा मरी और कपड़ों के कारण धोबी मरा। फिर इसी खण्ड अध्याय ११५, श्लोक ६२ में लिखा है—

आगत्य मथुरां कुब्जां जघान मैथुनेन च॥६२॥

अर्थ—कृष्णजी ने मथुरा में आकर मैथुन करके कुब्जा को मार डाला।

अब तो आपको कृष्ण का कुब्जा से मैथुन करना और मैथुन से कुब्जा की मृत्यु को ग़लत कहने का साहस तीन काल में भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि पुराणों में दुराचार की शिक्षा विद्यमान है, अतः अष्टादशपुराण वेदों के सर्वथा विरुद्ध हैं।

पोपजी—भविष्यपुराण में लाला साहब के बतलाये हुए अध्याय में साम्ब को देखकर भगवान् कृष्ण की सब स्त्रियों का अनुरक्त होना, उनका पारा बह जाना और घास में पारे के गिर जाने की चर्चा तक नहीं। कृपा करके पुराण का वह श्लोक प्रस्तुत करें। वहाँ तो शूरवीर और प्रभावशाली साम्ब का वर्णन किया है। महाशय! ऐसी निराधार झूठी बातें लिखकर क्यों पाप इकट्ठा कर रहे हो? अन्ततः आपको भी यह शरीर छोड़कर पापों का

फल भोगना है। अपने स्वार्थसाधन के लिए इतना बड़ा अपराध करना बहुत बुरा हुआ करता है।

तोपजी—बस आ गया अन्त आपका और सनातनधर्म—दोनों का। इसी शेख़ी (डींग) पर पुस्तक का उत्तर लिखने बैठे थे? यदि केवल 'नहीं' करते ही किसी प्रश्न का उत्तर हो सकता है, तो ढाई सौ पृष्ठ क्यों व्यर्थ किये? बस, एक नहीं को ही छापकर सनातनधर्मियों को अमृतधारा की भाँति समस्त रोगों की चिकित्सा बता देनी थी। हमारे सामने इस समय भविष्यपुराण विद्यमान है और इसमें यह कथा हूबहू विद्यमान है। पता नहीं आपने कभी भविष्यपुराण के दर्शन भी किये हैं या नहीं। यद्यपि इस कथा का 'मद्यपान के विषय' में वर्णन आ चुका है और वेश्याओं के मोक्ष में भी इसी कथा का वर्णन है, तो भी हम इस कथा को विस्तार के साथ यहाँ लिख देते हैं। सुनिए—

नारदमुनि कृष्णजी का दर्शन करने के लिए सदा द्वारिकापुरी में आया करते थे। यदुकुल के सारे कुमार प्रणाम आदि करके नारदजी की पूजा करते थे, परन्तु साम्ब अपने सौन्दर्य के अभिमान में नारद का सदा अपमान किया करता था। कृष्ण का यह पुत्र जाम्बवती स्त्री के पेट से था। नारद इस ताक में था कि साम्ब से अपने अपमान का बदला लिया जाए। एक दिन नारद ने श्रीकृष्ण से कहा कि आपकी सारी स्त्रियाँ आपके पुत्र साम्ब पर अनुरक्त हैं। कृष्ण ने कहा—मुझे इस बात पर विश्वास नहीं। नारदजी ने कहा—मैं आपको विश्वास दिला दूँगा। यह कहकर नारदजी स्वर्ग में चले गये। इस घटना के कुछ दिन पश्चात् नारदजी पुनः द्वारिका में आये। उस दिन कृष्णजी स्त्रियोंसहित मद्यपान करके उद्यान में जल-क्रीड़ा कर रहे थे। कृष्णजी स्त्रियों के साथ जल-क्रीड़ा करते हुए सुगन्धित मद्यपान कर रहे थे। इतने में स्त्रियों को कुछ चेतना आई। तब नारद ने जाकर साम्ब से कहा कि—हे साम्ब! तुम्हें कृष्णजी बुला रहे हैं, देर मत करो। नारद के छल को न समझकर साम्ब वहाँ गया जहाँ श्रीकृष्णजी बैठे थे और जाकर कृष्ण को प्रणाम किया—

एतस्मिन्नन्तरे तत्र यास्तु स्वल्पसात्त्विकाः। तं दृष्ट्वा सुन्दरं साम्बं सर्वाश्चुक्षुभिरे स्त्रियः॥ २५॥
न स दृष्टः पुरा याभिरन्तःपुरनिवासिभिः। मद्यदोषात्ततस्तासां स्मृतिलोपात्तथा नृपः॥ २६॥
स्वभावतोऽल्पसत्त्वानां जघनानि विसुस्रुवुः॥ २७॥
नारदोऽप्यथ तं साम्बं प्रेषयित्वा त्वरान्वितः। आजगाम तत्रैव साम्बस्यानुपदेन तु॥ ३२॥
आयन्तं ताश्च तं दृष्ट्वा प्रियं सौमनसमृषिम्। सहसैवोत्थिताः सर्वाः स्त्रियस्तं मद्विह्वलाः॥ ३३॥
तासामोत्थितां तु रजं वासुदेवस्य पश्यतः। भित्वा वासांसि शुभ्राणि पत्रेषु पतितानि तु॥ ३४॥

अर्थ—इतने में वहाँ जो थोड़े सामर्थ्यवाली स्त्रियाँ थीं, इस सुन्दर साम्ब को देखकर सबकी-सब चलायमान हो गयीं। राजप्रासाद में रहनेवाली जिन स्त्रियों ने पहले कभी साम्ब को नहीं देखा था, हे राजन्! मद्यपान के नशे और स्मृति के लुप्त हो जाने के कारण अल्प सामर्थ्यवाली स्त्रियों की जाँघें झड़ने लगीं। उधर नारद भी साम्ब को भेजकर शीघ्र ही साम्ब के पीछे-पीछे वहाँ पहुँच गया। उस प्यारे ऋषि नारद को आते हुए देखकर नशे में चूर सब स्त्रियाँ सहसा उठकर खड़ी हो गयीं। कृष्णजी के देखते हुए उठनेवाली उन स्त्रियों का वीर्य श्वेत कपड़ों में से छन-छनकर पत्तों पर गिर पड़ा।''

अब बतलाइए पोपजी महाराज! हमारा लेख मिथ्या और निराधार है अथवा आपका इन्कार निराधार, झूठ, छल और धोखेबाज़ी है। क्या आपको परमात्मा को जान नहीं देनी? यदि देनी है तो इस झूठ, छल-कपट, धोकेबाज़ी और सत्य पर पर्दा डालने के अपराध में आपको कौन-से घोर नरक में डाला जाएगा?

पोपजी—अस्तु! हम डंके की चोट से लिख सकते हैं कि किसी भी पुराण में व्यभिचार

की शिक्षा नहीं मिलती। यदि आप गन्दी और व्यभिचार की शिक्षा देखना चाहते हैं तो कृपा करके स्वामीजी का वेदभाष्य देखिए, जिसमें कई स्थानों पर स्त्रियों को अपने पति के होते हुए भी दूसरे पुरुषों के साथ सहवास करने की स्पष्ट आज्ञा है। इतना ही नहीं, वरन् सत्यार्थप्रकाश तो निरा व्यभिचार की शिक्षा देनेवाला सिद्ध हो चुका है, जिसमें गर्भवती स्त्री को भी दूसरे पुरुष से सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा दे दी गयी है। लाला साहब! पुराण व्यभिचार की शिक्षा फैलानेवाले नहीं हैं, अपितु सत्यार्थप्रकाश ही इस प्रचार के लिए पर्याप्त है। इस बात की पुष्टि के लिए इस पुस्तक के नियोगप्रकरण में सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में सरकारी निर्णय को देखें। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह सत्यार्थप्रकाश मैथुन की शिक्षा देने में और दुराचार सिखाने में पूरा कोकशास्त्र है।

तोपजी—नियोग की प्रथा वेदानुकूल तथा पञ्चायती विधि और विधान के अनुसार दोनों पक्षों के सम्बन्धियों की इच्छा से स्त्री और पुरुष की सहमति पर निर्भर होती है, इसलिए इसे व्यभिचार नहीं कहा जा सकता। यदि वेदानुकूल विधि और विधान के अनुसार अपनी पुत्री को दूसरे पुरुष के साथ सहवास करने की आज्ञा देना व्यभिचार नहीं कहा जा सकता तो वेदानुकूल विधि और विधान के अनुसार पञ्चायत के द्वारा स्त्री को भी दूसरे पुरुष से सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा देना व्यभिचार नहीं कहा सकता, अतः नियोग को अपवित्र और व्यभिचार की शिक्षा कहना दुराचारी और व्यभिचारी पुरुषों का ही काम हो सकता है, क्योंकि व्यासजी, पवन, धर्म, वायु, इन्द्र, अश्विनीकुमार, दीर्घतमा आदि-आदि ऋषियों ने अम्बिका, अम्बालिका, दासी, अञ्जनी, कुन्ती, माद्री और सुदेष्णा आदि स्त्रियों से नियोग करके धृतराष्ट्र, पाण्डु, विदुर, हनुमान्, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और कक्षीवान् आदि ऋषि-मुनि और महात्माओं को उत्पन्न किया था जोकि सनातनधर्म के दादागुरु थे, अत: सनातनधर्म के ऋषि-मुनियों और पतिव्रता स्त्रियों द्वारा आचरित नियोग को व्यभिचार कहना पौराणिकों का कमीनापन और पाजीपन है। सत्यार्थप्रकाश में इसी पवित्र सिद्धान्त का विस्तार के साथ वर्णन है।

गर्भवती स्त्री के पति को तो नियोग की आज्ञा सत्यार्थप्रकाश में है, परन्तु गर्भवती से व्यभिचार करके सन्तान पैदा करना सनातनधर्म में ही सम्भव हो सकता है, जैसाकि बृहस्पति ने अपने बड़े भाई की पत्नी गर्भवती ममता से बलात् व्यभिचार करके आपके दादागुरु भरद्वाजजी को उत्पन्न किया।

धर्माधर्म के लिए वर्त्तमान सरकार का विधान और उसके अन्तर्गत चलनेवाले न्यायालयों के निर्णय कोई मूल्य नहीं रखते, क्योंकि वे वेदविरुद्ध होने से स्मृति का दर्जा नहीं रखते। यह बात हम नियोग के प्रकरण में भी लिख चुके हैं। सत्यार्थप्रकाश वेदानुकूल सदाचार की शिक्षा देनेवाला ग्रन्थ है और यह हम डंके की चोट सिद्ध करते हैं कि पुराण व्यभिचार की शिक्षा देने में कोकशास्त्र को भी पीछे छोड़ देते हैं। कुछ उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं और कुछ उदाहरण और प्रमाण नीचे दिये जाते हैं। ध्यानपूर्वक पढ़ें और सही निष्कर्ष पर पहुँचने की कृपा करें—

१. जनमेजय की स्त्री यज्ञ के घोड़े को देखने के लिए गयी। इन्द्र ने घोड़े की ओट में ही उसे पकड़ लिया और उसके साथ इतना मैथुन किया कि वह मर गयी।

—ब्रह्मवै० कृष्णजन्म १४।४८-५१

२. इसी पुराण में कृष्णजन्म० ३०।८८ में लिखा है—

ग्राह्या चोपस्थिता स्त्री च गृहिणा न तपस्विना। त्यागे दोषः कामिनीनां शापभाक्पापभाग्गृही॥

अर्थ—आई हुई स्त्री को ग्रहण कर लेना चाहिए। यह नियम गृहस्थी के लिए है, तपस्वी

के लिए नहीं। उसके त्यागने में दोष है, वह गृहस्थ स्त्रियों से शापित और पापभागी होता है।

३. ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्मखण्ड अध्याय ३०, श्लोक ७७ में लिखा है—

रहस्युपस्थितां कान्तां न भजेद्यो जितेन्द्रियः। गात्रलोमप्रमाणाब्दं कुम्भीपाके वसेद् ध्रुवम्॥

अर्थ—जो जितेन्द्रिय पुरुष एकान्त में आई हुई स्त्री को छोड़ देता है, वह शरीर के बालों जितने वर्ष तक कुम्भीपाक नरक में निवास करता है।

४. इसी पुराण के इसी खण्ड अध्याय ३३, श्लोक ५२-५३ में लिखा है—

यदि तद् भारते दैवात्कामिनी समुपस्थिता॥ ५२॥
स्वयं रहसि कामार्ता न सा त्याज्या जितेन्द्रियैः।
त्यक्त्वा परत्र नरकं व्रजेदिति विडम्बितः॥ ५३॥

अर्थ—यदि भारतवर्ष में भी संयोगवश कोई कामिनी कामपीड़ित होकर एकान्त में आ जाए तो जितेन्द्रिय लोगों को वह छोड़नी नहीं चाहिए। यदि छोड़ दे तो निन्दा को प्राप्त होकर यहाँ भी और परलोक में भी दुःख पाता है।

५. भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ३, अध्याय २८ श्लोक ४६ में लिखा है कि—
''विश्वामित्र और ऋष्यशृङ्ग ने वेश्यागमन किया।''

६. भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय ९, श्लोक ५-६ में लिखा है कि—
''नारद ने कामवश होकर स्नान करती हुई लड़की को पानी में ही पकड़ लिया।''

७. शिवपुराण रुद्रसंहिता, युद्धखण्ड अध्याय ५२ में लिखा है कि कृष्ण के पोते अनिरुद्ध ने राक्षस बाण की लड़की के साथ व्यभिचार किया।

८. सूर्य के पुत्र ने एक ब्राह्मणी से बलात् सम्भोग किया। —ब्रह्मवैवर्त० १।१०।२२६

९. रति को देखकर ब्रह्माजी स्खलित हो गये। —ब्रह्मवै० १।४।१३

१०. दुर्वासा ने कन्दली नाम की स्त्री से दुराचार किया। —ब्रह्मवै० ४।२४।४६

११. विश्वकर्मा ने घृताची के साथ व्यभिचार किया। —ब्रह्मवै० ब्रह्मखण्ड १०।८७

१२. रम्भा को देखकर गन्धर्व का वीर्यपात हो गया। —ब्रह्मवै० ब्रह्म० १३।८

१३. मेनका को देखकर नारद का वीर्य बह गया। —ब्रह्मवै० ब्रह्म० २०।३९

१४. कुबेर के पुत्र नलकूबर ने रम्भा के साथ दुराचार किया।
—ब्रह्मवै० १।१४।३१ से ३३

१५. इन्द्र ने रम्भा के साथ दुराचार किया। —ब्रह्मवै० गणपति० अध्याय २०

१६. महादेवजी मृत स्त्री को एक वर्ष तक आलिङ्गन करते फिरे।
—ब्रह्मवै० ४।४३।१६-१७

१७. वराह ने वसुन्धरा के साथ व्यभिचार किया। —ब्रह्मवै० प्रकृति० ८।३१

निष्कर्ष यह कि अष्टादशपुराण व्यभिचार की कथाओं के आकर (कोश) हैं, क्योंकि व्यभिचार वेदों के विरुद्ध है, अतः अष्टादशपुराण वेदों के सर्वथा विरुद्ध हैं।

४. पुराणों में बेहूदा विवाह

सिद्धान्त—

अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥ —अथर्व० १८।१।११

अर्थ—हे सौभाग्यवाली! तू अन्य पति की इच्छा कर।

इस मन्त्र का भाव यह है कि स्त्री को ऐसे पति से विवाह करना चाहिए जो अपने

कुल से अन्य अर्थात् दूसरा हो—निकट सम्बन्धी न हो।

परमस्याः परावतो रोहिदश्वऽइहागहि। पुरीष्यः पुरुप्रियोऽग्ने त्वं तरा मृधः॥

—यजुः० ११।७२

अर्थ—हे पावक के समान तेजस्विन् विज्ञानयुक्तपते! अग्नि आदि पदार्थों से युक्त वाहनों से युक्त, पालने में श्रेष्ठ, बहुल मनुष्यों से प्रीति रखनेवाले आप इस गृहाश्रम में दूर देश से अत्युत्तम गुण, रूप और स्वभाववाली कन्या की कीर्ति सुनके आइए और उसके साथ दूसरों के पदार्थों की आकांक्षा करनेवाले शत्रुओं को तिरस्कार कीजिए। —महर्षि दयानन्द

इस मन्त्र का भी यही तात्पर्य है कि मनुष्य को दूर देश और दूर रिश्ते और दूर कुल में विवाह करना चाहिए, निकट रिश्तेदारी में विवाह नहीं करना चाहिए। इसी सिद्धान्त को मनुस्मृति में इस प्रकार वर्णित किया गया है—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥

—मनु० ३।५

अर्थ—जो लड़की पिता के गोत्र की न हो और माता और पिता दोनों की सपिण्ड न हो अर्थात् माता और पिता की सात पीढ़ियों तक इसके कुल का क्रम न मिलता हो, वह कन्या ही विवाह के लिए उचित है।

निष्कर्ष यह कि निकट रिश्ते में विवाह वेद के विरुद्ध हैं; परन्तु पुराणों में माता, बहिन और पुत्री आदि से विवाहों को वैध स्वीकार किया है, अतः पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

—:०:—

पोपजी—लाला साहब ने वेद और मनुस्मृति का उद्धरण देकर सिद्ध किया है कि विवाह पिता के गोत्र में और माता की छह पीढ़ियों में नहीं होना चाहिए, परन्तु सनातनधर्मी इस नियम के प्रतिबद्ध (पाबन्द) नहीं। लाला साहब का यह कहना स्वार्थपरता है, क्योंकि सनातनधर्म में ऐसे विवाह करने की आज्ञा ही नहीं।

तोपजी—निःसन्देह हमारा कहना सत्य है कि पौराणिक वेद की इस शिक्षा के पाबन्द नहीं हैं। इसमें हमारी स्वार्थपरता क्या है; जबकि पुराणों में माता, बहिन, पुत्री और भतीजी से विवाह को वैध और वेदानुकूल ठहराया गया। लीजिए, हम पुराणों के प्रमाण आपके समक्ष प्रस्तुत करते हैं। देखिए, भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय १८ में इस प्रकार लिखा है—

या तु ज्ञानमयी नारी वृणेद्यं पुरुषं शुभम्। कोऽपि पुत्रः पिता भ्राता स च तस्याः पतिर्भवेत्॥ २६॥
स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा विष्णुदेवः स्वमातरम्। भगिनीं भगवाञ्छम्भुर्गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात्॥ २७॥
इति श्रुत्वा वेदमयं वाक्यं चादितिसम्भवः। विवस्वान् भ्रातृजां संज्ञां गृहीत्वा श्रेष्ठवानभूत्॥ २८॥

अर्थ—जो ज्ञानवाली स्त्री हो, वह जिस भी श्रेष्ठ व्यक्ति को स्वीकार कर ले, वह चाहे उसका पिता लगता हो, चाहे उसका पुत्र लगता हो, चाहे भाई हो—निष्कर्ष यह कि कोई भी हो, वह उसका पति हो जाता है। ब्रह्मा ने अपनी पुत्री को, विष्णु ने अपनी माता को और भगवान् महादेव ने अपनी बहिन को ग्रहण करके श्रेष्ठता को प्राप्त कर लिया। इस वेदानुकूल बात को सुनकर अदिति के पुत्र सूर्य ने भी अपने भाई की पुत्री संज्ञा को ग्रहण करके श्रेष्ठता को प्राप्त कर लिया।

इसमें स्पष्ट लिखा है कि इस प्रकार के विवाह वेदानुकूल हैं और उनके करने में कोई पाप नहीं है, अपितु ऐसे विवाह करने से उत्तम गति प्राप्त होती है, जैसाकि ब्रह्मा ने पुत्री

से, विष्णु ने माता से, महादेव ने बहिन से और सूर्य ने भतीजी से विवाह करके उत्तम गति को प्राप्त कर लिया।

पोपजी—यह काम भी आर्यसमाज का ही रजिस्टर्ड है। स्वामीजी की आज्ञा है कि जब कोई स्त्री विधवा हो जाए तो वह अपने गोत्र के देवर से पुनर्विवाह या नियोग करके सन्तान उत्पन्न कर लेवे। लाला साहब! जबकि इस देवर की भाभी का विवाह बड़े भाई से हुआ था तो उसका गोत्र परिवर्तित किया गया था या नहीं? मानना पड़ता है कि विवाह के समय स्त्री के पिता का गोत्र वेदमन्त्रों द्वारा छुड़वाकर वर का ही गोत्र स्थिर किया जाता है, अर्थात् विवाह होने पर स्त्री का गोत्र वही होता है जो उसके पति का होता है। वही स्त्री जब विधवा हो जाती है तो देवर अपने पिता के गोत्रवाली अपनी भाभी से पुनर्विवाह या नियोग वेद और धर्मशास्त्र के विरुद्ध समाज में ही करता है, अतः निकट विवाह करने का वेदविरुद्ध दोष स्वामीजी की आज्ञानुसार आर्यसमाजियों पर ही लागू होता है, न कि सनातनधर्मियों पर।

तोपजी—सनातनधर्म माता, बहिन, पुत्री आदि से विवाह को वेदानुकूल मानता है, यह तो हमने ऊपर भविष्यपुराण के प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध कर दिया है। हमारे सिद्धान्त के अनुसार तो गोत्र गुरु के नाम से या कुल के आदिपुरुष के नाम से चलता है, जिसका अर्थ एक कुल का नाम है और जब किसी कुल के लड़के के साथ दूसरे कुल की लड़की का विवाह हो जाता है तो इसमें गोत्र परिवर्तन होने का अर्थ होता है कि वह लड़की पिता के कुल से पृथक् होकर पति के कुल की सदस्या बन जाती है, परन्तु वह उस कुल की वधू ही रहती है, उस कुल की पुत्री नहीं बन जाती, इसलिए जब उसका बड़े भाई से विवाह होता है तब भी वह उस कुल की वधू होती है और जब बड़े भाई की मृत्यु के पश्चात् छोटा भाई उससे पुनर्विवाह या नियोग करता है तब भी वह लड़की उस कुल या गोत्र की वधू ही रहती है। केवल कुल या गोत्र के बदल जाने से वह बहिन नहीं बन जाती, क्योंकि पति का कुल लड़की को पिता के कुल से दुल्हन (वधू) की स्थिति में लाता है, पुत्री की अवस्था में नहीं लाता। एक गोत्र अथवा एक कुल के सदस्य होने पर भी सब भाई या बहिन नहीं बन जाया करते, अपितु एक गोत्र या कुल के सदस्य होने पर भी सम्बन्ध भिन्न-भिन्न ही बने रहते हैं। उदाहरण के रूप में दादा, पिता, चाचा, भतीजा, भतीजी, ताया, पुत्र, पौत्र, बूआ, बहिन, बेटी, दादी, माता, स्त्री—ये सब एक गोत्र या कुल के होने पर भी सब बहिन या भाई नहीं बन जाते, अपितु सम्बन्ध के अनुसार रिश्ते सबके पृथक्-पृथक् ही रहते हैं, अतः हमारे सिद्धान्त के अनुसार देवर का भाभी के साथ पुनर्विवाह या नियोग बहिन के साथ विवाह का पर्यायवाची नहीं, अतः आर्यसमाज पर यह आक्षेप सर्वथा निराधार है। हाँ, यदि आपके सिद्धान्त के अनुसार गोत्र परिवर्तित होने से वह बहिन बन जाती है, तो प्रत्येक सनातनधर्मी अपनी बहिन से ही विवाह करके सन्तान उत्पन्न करता है। प्रत्येक स्थिति में बहिन से विवाह करना सनातनधर्म का ही रजिस्टर्ड व्यवसाय सिद्ध होता है, आर्यसमाज का नहीं।

पोपजी—लाला साहब ने भविष्यपुराण का जो प्रमाण दिया है, वह आदिसृष्टि के ऋषियों और देवताओं के लिए ही है, न कि सबके लिए।

तोपजी—भविष्यपुराण में यह कहीं भी नहीं लिखा है कि ऐसे विवाह आदिसृष्टि के ऋषियों और देवताओं के लिए ही होते हैं, अपितु भविष्यपुराण में तो स्पष्ट लिखा हुआ है कि जो ज्ञानवाली स्त्री हो वह पुत्र, पिता और भाई आदि से विवाह कर सकती है, यह वेदानुकूल है। जब सनातनधर्मी ऐसे विवाहों को वेदानुकूल मानते हैं, तो फिर ऐसे विवाह सब सनातनधर्मियों के लिए हुए।

पोपजी—क्योंकि आपके जवान-जवान जोड़ों ने भी आदिसृष्टि में अपनी बहिन आदि से विवाह करके सन्तान उत्पन्न की थी, जिसे आप और स्वामी दयानन्दजी स्वीकार कर चुके हैं, जबकि बहिनों के साथ आर्यसमाजी जवान-जवान जोड़ों ने भी विवाह किये; तब सनातनधर्म के अमैथुनी सृष्टि के देवताओं और ऋषियों पर आक्षेप करना अनुचित है।

तोपजी—आर्यसमाज के किसी ग्रन्थ में भी स्वामी दयानन्द ने नहीं लिखा कि ''आदिसृष्टि के जवान-जवान जोड़ों ने अपनी बहिनों से विवाह करके सन्तान उत्पन्न की।'' आपका ऐसा लिखना सर्वथा मिथ्या है। आर्यसमाज तो यह मानता है कि अमैथुनी सृष्टि में जो मनुष्य उत्पन्न हुए, उनका एक-दूसरे के साथ कुल या गोत्र का सम्बन्ध था ही नहीं, इसलिए किसी का किसी के साथ भाई-बहिन का सम्बन्ध नहीं था। इसलिए सनातनधर्म का किसी भी समय में माता, बहिन, पुत्री से विवाह को उचित मानना वेद के सर्वथा विरुद्ध है और हमारा आक्षेप करना सर्वथा उचित है।

पोपजी—क्योंकि देवताओं के लिए आवश्यक नहीं कि वे आपके धर्म के पाबन्द हों। देवताओं की उत्पत्ति पिता से पुत्र की और पुत्र से पिता की वेदों में भी बतलाई गयी है। जैसे पशुओं और वनस्पतियों अर्थात् बेल-बूटों में भी यह नियम पाया जाता है, परन्तु मनुष्यों में यह नियम धर्मशास्त्र के विरुद्ध होने से प्रचलित नहीं हो सकता। इस बात का पूर्णरूप से वर्णन पहले किया जा चुका है।

तोपजी—क्योंकि देवता भी विद्वान् मनुष्यों का नाम है, अत: वे भी वेद-शास्त्र के वैसे ही पाबन्द हैं जैसेकि दूसरे साधारण मनुष्य, जैसाकि हम ऊपर प्रमाण दे चुके हैं कि सूर्य ने भी वेदानुकूल समझकर ही भतीजी से विवाह किया। यह माना कि उसने ग़लत समझा, परन्तु वेद को प्रमाण तो माना और उसका प्रतिबन्ध स्वीकार किया। पिता से पुत्र की उत्पत्ति तो वेदों, शास्त्रों, मनुष्यों, पशुओं, वनस्पतियों आदि सबमें विद्यमान है, परन्तु पुत्र से पिता की उत्पत्ति न वेद-शास्त्रों में वर्णित की गयी है और न पशुओं तथा वनस्पतियों में ही पाई जाती है। इसलिए देवताओं और मनुष्यों में समानरूप से ही माता, बहिन और पुत्री के साथ विवाह वेद के विरुद्ध और महापाप है। इसके सम्बन्ध में हम भी पूर्णरूप से पूर्व लिख चुके हैं।

पोपजी—और ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेवजी के सम्बन्ध में भी पूर्णरूपेण उत्तर लिखा जा चुका है। पाठक वहाँ पर ही देख सकते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु और महादेव का कोई माता-पिता ही नहीं बता सकता तो फिर विवाह किससे?

तोपजी—ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी के सम्बन्ध में हम पोपजी के उत्तर का प्रबल खण्डन कर चुके हैं। पाठक वहाँ पर ही देख सकते हैं कि भविष्यपुराण में सूर्य को ब्रह्मा, विष्णु और महादेव का पिता लिखा है और देवीभागवत में देवी को इनकी माता लिखा गया है। इसी प्रकार से उनकी बहिनों और पुत्रियों का वर्णन भी पुराणों में विद्यमान है। इसीलिए तो भविष्यपुराण ने लिखा है कि ब्रह्मा ने अपनी पुत्री से, विष्णु ने माता से और महादेव ने अपनी बहिन से विवाह कर लिया।

पोपजी—लाला साहब! माता, पुत्री और बहिन आदि से विवाह करने की आज्ञा सनातनधर्म में नहीं है, वरन् यह प्रथा आर्यसमाज में पूर्णरूप से पाई जाती है जैसाकि मैंने जवान-जवान जोड़ों की चर्चा में बतलाया था।

तोपजी—मिश्रजी महाराज! यदि सनातनधर्म पौराणिक धर्म का नाम है तो इसमें माता, बहिन और पुत्री से विवाह करने की आज्ञा स्पष्टरूप में विद्यमान है, जैसाकि मैं भविष्यपुराण का प्रमाण उद्धृत कर चुका हूँ; और यदि सनातनधर्म वैदिक धर्म का नाम है तो वस्तुत:

वैदिकधर्म में इस प्रकार के विवाहों का निषेध किया है। आर्यसमाज, क्योंकि वैदिक धर्म का अनुयायी है, इसलिए इसमें ऐसे विवाहों को पूर्णरूप से पाप माना गया है। जैसाकि हम ऊपर बता चुके हैं कि जवान-जवान जोड़ों का परस्पर किसी कुल का या गोत्रीय सम्बन्ध नहीं था, अतः उनके विवाह सर्वथा वेदानुकूल थे।

पोपजी—इतना ही नहीं, अपितु स्वामी दयानन्दजी ने यजुर्वेद अध्याय १९, मन्त्र ४८ में स्पष्ट लिखा है कि हे पिता आदि लोगो! आप हमारे बीच में गर्भ धारण करो। इस मन्त्र में स्वामीजी ने पुत्रियों को अपने पिता से गर्भ करवाने की प्रार्थना करने की आज्ञा बतलाई है।

तोपजी—हम इसका उत्तर पूर्व दे चुके हैं कि इस मन्त्र के अर्थ में गर्भ शब्द का नाम व चिह्न भी नहीं है, अपितु भाष्य की वास्तविक भाषा यह है—"हे माता-पिता आदि लोगो! आप हमारे बीच में प्रजा, अन्न, दूध और वीर्य को धारण करो।" पोपजी ने सारी भाषा ही परिवर्तित कर डाली है। अब ध्यान दीजिए, मूल भाष्य में 'वीर्य' शब्द ही विवादास्पद है। वीर्य के दो अर्थ है मणि और शक्ति। प्रथम तो पिता के साथ माता से वीर्य की प्रार्थना करना ही बताता है कि यहाँ मणि अर्थ सङ्गत नहीं है, प्रत्युत शक्ति अर्थ है। दूसरे, प्रजा, अन्न, दूध आदि से पता लगता है कि यहाँ पर वीर्य का मणि अर्थ नहीं, अपितु शक्ति अर्थ है। तीसरे, यदि पोपजी का यही दुराग्रह हो कि यहाँ वीर्य का अर्थ मणि ही लेना है, तो भी ऋषि दयानन्द के अर्थों पर कोई आक्षेप नहीं हो सकता, क्योंकि भाष्य में माता-पिता शब्द से आगे 'आदि' शब्द पड़ा हुआ है, जिससे पति का ग्रहण हो सकता है और 'जो जिससे उचित हो'—इस नियम से मणि की प्रार्थना पति से सम्बन्धित की जा सकती है, अतः ऋषि दयानन्द के भाष्य से पुत्री से विवाह सिद्ध नहीं हो सकता। माता, बहिन और पुत्री से विवाह की आज्ञा पुराणों में ही मिल सकती है।

पोपजी—स्वामीजी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ २९२ पर लिखा है कि पिता पुत्री में गर्भाधान करे।

तोपजी—हम इसके सम्बन्ध में पहले भी विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं कि 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में तो यह लिखा है कि "ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में जो एक कथा यह लिखी है कि प्रजापति अर्थात् किसी चार मुखवाले शरीरधारी ने अपनी पुत्री सरस्वती को मैथुन के लिए पकड़ लिया, यह सर्वथा मिथ्या है।" और आगे चलकर लिखा है कि वेदों में ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त १६४, मन्त्र ३३ में जो पाठ आता है कि **'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्'** अर्थात् पिता दुहिता में गर्भ धारण करता है। यहाँ पर निरुक्त अध्याय ४, खण्ड २१ के अनुसार यह अर्थ है कि—

तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः ॥३॥

अर्थात् वहाँ पर पिता का अर्थ बादल और दुहिता का अर्थ पृथिवी है, अतः वेदमन्त्र का अर्थ है कि "बादल पृथिवी में गर्भ धारण करता है।" वेद के इस तात्पर्य को न समझकर पाखण्डी, पामर, दुराचारी, धूर्त पौराणिकों ने ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में यह कथा लिख दी कि ब्रह्मा अपनी पुत्री के पीछे मैथुन करने के लिए भागा, अतः ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में तो इस प्रकार के विवाहों का खण्डन ही किया गया है।

पोपजी—बहिनों से विवाह करना और पिता का अपनी पुत्री में गर्भ धारण करना आर्यसमाज में ही वैध है। सनातनधर्म पर व्यर्थ ऐसे आक्षेप करना उचित नहीं। लाला साहब! टीका-टिप्पणी करने से पूर्व अपने घर की पड़ताल अवश्य कर लिया करें, जिससे मुँह की न खानी पड़ा करे।

तोपजी—हमने ऊपर पोपजी के आक्षेपों का मुँहतोड़ उत्तर लिखते हुए सिद्ध कर दिया है कि माता, बहिन और पुत्री आदि निकट-सम्बन्धों में विवाह करना वेद के विरुद्ध और पाप है और आर्यसमाज के सब ग्रन्थों में इसका खण्डन ही किया गया है, परन्तु पुराणों में इस प्रकार के विवाहों की खुले रूप में आज्ञा दी गयी है और उन्हें वेदानुकूल बताया गया है।

पोपजी! इन्कार करने से पूर्व अपने ग्रन्थों को अच्छी प्रकार पढ़ना चाहिए। पुराणों की बेहूदा, सभ्यता और शिष्टाचार से गिरी हुई व्यभिचार की शिक्षा को मिथ्याभाषण करके आर्यसमाज के ग्रन्थों के सिर मँढने का प्रयत्न करना परले दर्जे की बेईमानी और कमीनापन है।

पोपजी—राधा-कृष्ण का मामीवाला रिश्ता सरासर ग़लत और झूठ है। यह महाशय साहब के अज्ञान और पक्षपात को प्रकट कर रहा है।

तोपजी—आप राधा के कृष्ण के साथ एक मामी के रिश्ते से ही घबरा गये, परन्तु पुराणों में तो राधा के कृष्ण के साथ और भी सम्बन्ध हैं। उनसे इन्कार करना आपका पुराणों के ज्ञान से सर्वथा अपरिचित होने का प्रमाण है। लीजिए, हम आपको कृष्ण के साथ राधा के रिश्ते गिनाते हैं—

१. राधा कृष्ण की पुत्री थी। ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्मखण्ड अध्याय ५, श्लोक २५-२६ में लिखा है कि राधा कृष्ण की बायीं पसली से उत्पन्न हुई, अतः राधा कृष्ण की पुत्री थी।

२. राधा कृष्ण की पुत्रवधू थी। ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृतिखण्ड, अध्याय ४९, श्लोक ३६ से ३८ में लिखा है कि राधा वृषभानु की पुत्री थी और इसका विवाह रायाण नामक गोप से हुआ था और रायाण गोप कृष्ण के अंश से पैदा हुआ था, अतः कृष्ण का पुत्र था। तब राधा कृष्ण की पुत्रवधू हुई।

३. राधा कृष्ण की मामी थी, क्योंकि राधा का विवाह रायाण गोप से हुआ था और वह कृष्ण का मामा था, अतः राधा कृष्ण की मामी हुई। इसमें प्रमाण यह है—

वृषभानोश्च वैश्यस्य सा च कन्या बभूव ह॥ ३६॥
सार्द्धं रायाणवैश्येन तत्सम्बन्धं चकार सः॥ ३८॥
कृष्णमाता यशोदाया रायाणस्तत्सहोदरः। गोलोके गोपकृष्णांशः सम्बन्धात्कृष्णमातुलः॥ ४१॥

—ब्रह्मवैवर्त० २।४९।३६, ३८, ४१

अर्थ—वह राधा वृषभानु वैश्य की पुत्री थी॥३६॥ उसने उसका विवाह रायाण वैश्य के साथ कर दिया॥३८॥ कृष्ण की माता जो यशोदा थी और रायाण उसका भाई था जो गोलोक में तो कृष्ण का अंश था, परन्तु रिश्ते में कृष्ण का मामा था।

तनिक पक्षपात की ऐनक को उतारकर पढ़ें, यह क्या लिखा हुआ है। प्रमाण हमने ग़लत और झूठ लिखा था अथवा आप झूठ, मिथ्याभाषण और धोखेबाजी से जनता को अन्धकार में रखना चाहते हैं? कैसे स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि **राधा कृष्ण की मामी थी** और आगे चलकर ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्णजन्मखण्ड अध्याय १५, श्लोक १२० से १३१ तक में लिखा है कि स्वयं ब्रह्मा ने आकर राधा का कृष्ण के साथ विवाह कराया। अर्जुन ने अपने मामा की लड़की सुभद्रा से विवाह किया (ब्रह्मवै० ४.११५.७४)।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि सनातनधर्म में पुत्री, माता, बहिन, भतीजी और मामी आदि के साथ विवाह करने की खुली छूट है। चूँकि इस प्रकार के निकट-सम्बन्ध वेद के विरुद्ध हैं, अतः अष्टादश पुराण वेद के विरुद्ध हैं।

५. पुराणों में मूर्त्तिपूजा

सिद्धान्त—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

—यजुः० ४०।८

अर्थ—हे मनुष्यो! जो ब्रह्म शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान्, स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीर से रहित, छिद्ररहित और छेद न किये जाने योग्य, नाड़ी आदि के साथ सम्बन्धरूप बन्धन से रहित, अविद्यादि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र और पापमुक्त, जो पापकारी और पाप में प्रीति करनेवाला कभी नहीं होता वह सब ओर व्याप्त है। जो सर्वज्ञ, सब जीवों के मनों की वृत्तियों को जाननेवाला, दुष्ट पापियों का तिरस्कार करनेवाला और अनादिस्वरूप, जिसकी संयोग से उत्पत्ति और वियोग से विनाश, माता-पिता, गर्भवास, जन्म-वृद्धि और मरण नहीं होते वह परमात्मा, सनातन, अनादिस्वरूप, अपने-अपने स्वरूप से उत्पत्ति और विनाशरहित प्रजाओं के लिए यथार्थभाव से वेद द्वारा सब पदार्थों को विशेषकर बनाता है, वही परमेश्वर तुम लोगों को उपासना करने योग्य है।

परिणाम—इस वेदमन्त्र में स्पष्ट शब्दों में परमात्मा को शरीर-रहित, नस और नाड़ी के बन्धन से रहित बताया गया है।

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भऽइत्येष मा मा हिꣳसीदित्येषा यस्मान्नजातऽइत्येषः॥ —यजुः० ३२।३

अर्थ—हे मनुष्यो! जिसका पूज्य, बड़ा कीर्ति करनेहारा, धर्मयुक्त कर्म का आचरण ही नामस्मरण है, जो सूर्य, विद्युत् आदि पदार्थों का आधार—इस प्रकार अन्तर्यामी होने से प्रत्यक्ष जिसकी 'वह मुझे मत ताड़ना दे वा वह अपने से मुझे विमुख मत करे'—इस प्रकार यह प्रार्थना वा बुद्धि और जिस कारण नहीं उत्पन्न हुआ, इस प्रकार यह परमात्मा उपासना के योग्य है। उस परमेश्वर की प्रतिमा—परिमाण, उसके तुल्य अवधि का साधन, प्रतिकृति, मूर्त्ति वा आकृति नहीं है।

परिणाम—इस मन्त्र में स्पष्टरूप में कहा गया है कि परमात्मा का माप-तोल, प्रतिकृति, आकृति, मूर्त्ति आदि नहीं है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः॥

—यजुः० ४०।९

अर्थ—जो लोग परमेश्वर को छोड़कर अनादि, अनुत्पन्न प्रकृति की उपासना करते हैं वे अन्धकार को प्राप्त होते हैं और जो लोग उत्पन्न हुए स्थूलजगत् के पदार्थों की परमात्मा के स्थान पर पूजा करते हैं, वे निश्चय ही उससे भी अधिक अन्धकार में गिरते हैं।

परिणाम—इस मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में वर्णन है कि जो लोग परमात्मा के स्थान पर प्रकृति या प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ईंट, पत्थर, लकड़ी, धातु आदि की पूजा करते हैं, वे अन्धकाररूप नरक में गिरते हैं।

उपर्युक्त मन्त्रों से स्पष्ट प्रकट है कि परमात्मा शरीर-रहित है, उसकी कोई मूर्त्ति नहीं बन सकती और परमात्मा के स्थान पर अन्य वस्तुओं की पूजा करनेवाला नरक में जाता है। चूँकि पुराणों में परमात्मा के स्थान पर गणेश, शालिग्राम और शिवलिङ्ग आदि की मूर्त्तियों की पूजा करने की आज्ञा है, अतः अष्टादश पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

—:०:—

पोपजी—पाठकगण! लाला साहब ने जो वेद के तीन प्रमाणों से ईश्वर की मूर्त्तिपूजा का निषेध बतलाया है, यह लाला साहब के उस पाण्डित्य का प्रमाण है, जिसके लिए शेख सादी ने लिखा है कि '**चारपाये बरओ किताबे चन्द, न मुहक्किक्क शुद न दानिशमन्द।**'[1]

तोपजी—हमने मूर्त्तिपूजा के खण्डन में यजुर्वेद के तीन मन्त्र प्रस्तुत किये हैं, वे इतने प्रबल हैं कि जिनका खण्डन आप और आपके दादागुरु भी सात जन्म में नहीं कर सकते। हमारे और आपके पाण्डित्य के मुकाबले का तो तब पता लगता यदि आप इन मन्त्रों का अर्थ कुछ और करके दिखाते, परन्तु अर्थ करना खालाजी का घर नहीं है! अर्थ करने के लिए पाण्डित्य और योग्यता की आवश्यकता है, परन्तु वह आपसे इतनी ही दूर है जितने गधे के सिर से सींग। आप लोग क्या जानें कि वेद के अर्थ कैसे होते हैं? आप तो निरुक्त में लिखे अनुसार केवल बोझ उठानेवाले स्तम्भ (खम्भे) ही हैं। वेद के अर्थों के आनन्द को आर्यसमाजी ही लूटते हैं। सुनिए, निरुक्त क्या कहता है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधित्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

—निरुक्त १.१८

अर्थ—वह केवल बोझ उठानेवाला स्तम्भ है जो वेद को पढ़कर उसका अर्थ नहीं जानता। जो अर्थ जाननेवाला है, वह इस लोक में सम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त होता है और पापों से मुक्त होकर स्वर्ग में जाता है।

पोपजी—इन मन्त्रों में भगवान् के साकाररूप और मूर्त्तिपूजा का खण्डन नहीं है। इन मन्त्रों का अर्थ न लिखकर लाला साहब ने केवल मन्त्रों का भाव ही लिखा है, जिसका पूर्णरूप से खण्डन मैंने 'सनातनधर्मशिक्षक' नामक हिन्दी की पुस्तक में किया है।

तोपजी—यदि इन मन्त्रों में परमात्मा के साकार होने का वर्णन है, मूर्त्तिपूजा का खण्डन नहीं है और हमारा भावार्थ ग़लत है तो आपको मन्त्रों के अर्थ करके जनता के समक्ष रखने चाहिएँ थे। क्या विचित्र चालाकी है—हमारे प्रश्नों का उत्तर तो दे रहे हैं 'सनातनधर्म-विजय' उर्दू की पुस्तक में और मन्त्रों का अर्थ कर दिया है 'सनातनधर्म शिक्षक' नाम की हिन्दी पुस्तक में। उत्तर देने की विधि भी यही है! स्पष्ट क्यों नहीं मान लेते कि इन मन्त्रों का और कोई अर्थ हो ही नहीं सकता? आपने जो बात इस पुस्तक में उड़ाई है, वैसी ही उस पुस्तक में उड़ाई होगी। हाँ, यह ठीक है कि अपनी पुस्तक का विज्ञापन इस पुस्तक में अवश्य दे दिया, जिससे जनता इस पुस्तक की ग्राहक बन सके। श्रीमन्! इस पुस्तक में उद्धृत किये गये यजुर्वेद के तीनों मन्त्रों में परमात्मा के साकार होने का तथा मूर्त्तिपूजा का खण्डन स्पष्ट शब्दों में विद्यमान है। पहले मन्त्र में '**अकायम्**' शरीररहित और '**अस्नाविरम्**' नस-नाड़ियों के बन्धन से मुक्त—ये दोनों गुणवाचक शब्द परमात्मा के साकार होने का खण्डन करते हैं और दूसरे मन्त्र में '**न तस्य प्रतिमाऽअस्ति**—उस परमात्मा की मूर्त्ति नहीं है' इन शब्दों में परमात्मा की मूर्त्ति होने का खण्डन विद्यमान है और तीसरे मन्त्र में '**अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते**—वे लोग अन्धकार में गिरते हैं, जो परमात्मा के स्थान पर प्रकृति की पूजा करते हैं'—स्पष्ट शब्दों में मूर्त्तिपूजा करनेवाले को नरकगामी बताया है। इस मन्त्र से अधिक स्पष्ट खण्डन और क्या हो सकता है?

पोपजी—परन्तु यहाँ मैं केवल इतना ही लिखना चाहता हूँ कि लाला साहब! सनातनधर्मी ईश्वर को निराकार और साकार दो प्रकार का मानते हैं। वेदों के कुछ मन्त्रों में भगवान्

---

१. कुछ पुस्तकें पढ़कर चौपाये ही रहे, न तो दार्शनिक ही बने और न बुद्धिमान्। —सम्पादक

के निराकार होने का वर्णन हो भी, तो इससे सनातनधर्म का खण्डन नहीं हो सकता।

तोपजी—किसी पदार्थ में दो समान गुण तो रह सकते हैं, परन्तु दो विरोधी गुण नहीं रह सकते; अतः यह सर्वथा मिथ्या बात है कि परमात्मा निराकार भी हो और साकार भी। हमने परमात्मा के निराकार होने में वेद के प्रमाण दिये थे; आपको परमात्मा के साकार होने के सम्बन्ध में एक-आध प्रमाण तो लिखना चाहिए था, परन्तु लिखते कहाँ से जब वेदों में परमात्मा को साकार कहा ही नहीं गया? और युक्ति से भी परमात्मा का साकार होना सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि साकार पदार्थ सीमित होता है और उसके गुण-कर्म और स्वभाव भी ससीम ही होते हैं। इससे परमात्मा व्यापक और सृष्टि का कर्त्ता नहीं रह सकेगा, परमात्मा निराकार और सर्वव्यापक होने से ही सृष्टिकर्त्ता है और सनातनधर्म का दावा कि ईश्वर साकार भी है—यह वेद के सर्वथा विरुद्ध तथा बुद्धि और तर्क से रहित है।

पोपजी—दूसरा आपने बतलाया कि प्रकृति की पूजा करनेवाले नरक में जाते हैं। महाशय! आपका बतलाया हुआ नरक भी आर्यसमाजियों के लिए ही हो सकता है, क्योंकि सनातनधर्मी प्रकृतिपूजा नहीं करते, सनातनधर्मी मूर्त्तिपूजा के द्वारा ब्रह्म=परमेश्वर की ही पूजा करते हैं, न कि जड़ मूर्त्ति की।

तोपजी—इससे यह तो सिद्ध हो गया कि आपको हमारा किया हुआ मन्त्र का अर्थ स्वीकार है। अब जो भी प्रकृति-पूजक होगा, नरक उसी के लिए है। शुभ है यदि सनातनधर्मी प्रकृति-पूजा को तिलाञ्जली दे दें; फिर उस अवस्था में मूर्त्तिपूजा की तो आवश्यकता ही शेष नहीं रहती, क्योंकि ईश्वर मूर्त्ति आदि पदार्थों में व्याप्य-व्यापकभाव से विद्यमान है, तदात्मभाव-सम्बन्ध से नहीं, अर्थात् वह सर्वत्र विद्यमान और सर्वद्रष्टा होते हुए भी मूर्त्ति आदि पदार्थों को इस प्रकार से अपना शरीर नहीं मानता जिस प्रकार हम इन्सान अपने शरीर को मानते हैं। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार हमें शरीर के द्वारा सुख-दुःख अनुभव होता है, उस प्रकार से ईश्वर को मूर्त्ति आदि पदार्थों के द्वारा सुख-दुःख अनुभव नहीं होता। यदि यह मान लिया जाए कि मूर्त्ति आदि की पूजा से परमात्मा प्रसन्न होता है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि लकड़ी फाड़ने, कुआँ खोदने, पत्थर तोड़ने आदि से ईश्वर को दुःख भी होता होगा; परन्तु यह ग़लत है, इसलिए मूर्त्ति के द्वारा ईश्वर की पूजा बहानामात्र है। यदि आप मूर्त्ति के द्वारा ईश्वर की पूजा करते हैं तो प्राणप्रतिष्ठा, आवाहन, विसर्जन, सुलाना-जगाना, भोग लगाना, पंखा झुलाना आदि-आदि क्यों करते हैं? इससे सिद्ध है कि सनातनधर्मी मूर्त्तिपूजा ही करते हैं, अतः प्रकृति-पूजक हैं और वेद के अनुसार नारकी होंगे। आर्यसमाज तो यह मानता है कि ईश्वर की पूजा हृदय में आत्मा द्वारा ही हो सकती है और इसके लिए उपाय योगाभ्यास है, मूर्त्तिपूजा नहीं है।

पोपजी—परन्तु आर्यसमाजियों के लिए स्वामी दयानन्दजी ने संस्कार-विधि के चूड़ाकर्म-संस्कार में यजुर्वेद अध्याय ३, मन्त्र ६३ में नाई के उस्तरे को शिवरूप मानकर नमस्ते करना लिखा है।

तोपजी—झूठ की भी पराकाष्ठा हो गयी। संस्कार-विधि का चूड़ाकर्म-संस्कार हमारे सामने है। इसमें न तो मन्त्र का अर्थ किया हुआ है और न ही उस्तरे को शिव मानकर नमस्ते करना लिखा है, अपितु संस्कार-विधि में तो यह पाठ इस प्रकार अङ्कित है—

''ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽअस्तु मा मा हिंꣳ सीः।''

इस मन्त्र को बोलके छुरे को दाहिने हाथ में लेवे।

इसलिए संस्कार-विधि से मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने का प्रयत्न करना केवल बेहूदापन है।

हाँ, यजुर्वेदभाष्य में स्वामीजी ने इसके जो अर्थ किये हैं, वे ये हैं—"हे जगदीश्वर और उपदेश करनेहारे विद्वन्! जो आप अविनाशी होने से वज्रमय हैं और जिस आपका सुखस्वरूप विज्ञान का देनेवाला नाम है, सो आप मेरे पालन करनेवाले हैं। आपके लिए मेरा सत्कारपूर्वक नमस्कार विदित हो। आप मुझे मत मृत्यु से युक्त कीजिए।" इस अर्थ में भी परमेश्वर और उपदेशक को ही सम्बोधित किया गया है और उन्हें नमस्कार किया गया है। पता नहीं पोपमण्डल को क्या पागलपन समाया है कि वे बिना विचारे ही इस मन्त्र से उस्तरे की पूजा सिद्ध करने के असफल प्रयत्न में लगे रहते हैं।

पोपजी—और वहाँ ही यजुर्वेद अध्याय ४, मन्त्र १ से उस्तरे से प्रार्थना करनी लिखी है कि 'हे उस्तरे! तू विष्णु की दाढ़ है, इसलिए इस बालक को मत मारना।' और हे ओषधे अर्थात् कुशा! इस बालक की तू रक्षा कर।

तोपजी—संस्कार-विधि में न तो यह लिखा है कि 'हे उस्तरे! तू विष्णु की दाढ़ है' और न ही यह लिखा है कि 'ओषधे अर्थात् कुशा! इस बालक की तू रक्षा कर।' संस्कार-विधि का पाठ इस प्रकार है—

ओम् ओषधे त्रायस्व एनः मैनः हिंः सीः॥ —यजुः० ४।१

इस मन्त्र को बोलके तीन दर्भ लेके दाहिने बाज़ू के समूह को हाथ से दबाके—

ओं विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि। —मं० ब्रा० १।६।४

इस मन्त्र से छुरे की ओर देखे।

यह है संस्कार-विधि का लेख। इसमें से आप अपना काल्पनिक लेख निकालकर दिखा दें। यहाँ तो केवल मन्त्रों को पढ़कर कार्य करना लिखा है, इसलिए संस्कार-विधि के इस लेख से मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने का प्रयत्न करना बालू रेत में से तेल निकालने के समान है।

यजुर्वेद के चौथे अध्याय के प्रथम मन्त्र का अर्थ भाष्य में इस प्रकार दिया है कि "हे विद्वन्! जैसे सोमलता आदि ओषधिगण सब रोगों से रक्षा करता है, वैसे तू भी हम लोगों की रक्षा कर और कभी मत मार।"

दूसरे मन्त्र में "विष्णु नाम यज्ञ का है और दंष्ट्र नाम काटने के साधन का है, जिसका अर्थ है कि उस्तरा यज्ञ में पदार्थों के काटने का साधन है।" इन अर्थों से भी मूर्त्तिपूजा की गन्ध तक भी नहीं आती। प्रतीत होता है कि मूर्त्तिपूजा करते-करते पोपमण्डल की बुद्धि भी पत्थर हो गयी है, जिससे पागलों की भाँति उन्हें सर्वत्र मूर्त्तिपूजा ही दृष्टिगोचर होती है।

पोपजी—इतना ही नहीं, अपितु स्वामीजी ने यजुर्वेद अध्याय १२, मन्त्र ७० में स्पष्ट आज्ञा दी है कि "हे आर्यलोगो! आप घी, दूध, शहद, शक्कर और फूल आदि से खेत के ढेले तोड़नेवाले पटेले अर्थात् हल की पूजा करो। यह हल तुम्हें घी, दूध आदि देगा।"

तोपजी—हमारे सामने ऋषि दयानन्दजी का यजुर्वेद-भाष्य विद्यमान है। इसमें न तो कहीं हल की पूजा का वर्णन है और न फूलों का नाम व चिह्न है। यह सब पोपजी के घर का आविष्कार है। हाँ, इस वेदमन्त्र में यह अवश्य लिखा है कि जैसे नमक, हड्डी, मछलियाँ, राख, मल, रक्त आदि विशेष-विशेष पौधों की वृद्धि व पोषण के लिए खाद के रूप में भूमि में डाले जाते हैं, वैसे ही विशेष पौधों के पालन-पोषण के लिए जल, दूध, घी, शहद, शक्कर आदि पदार्थों से भूमि को खाद देकर ठीक करो। यहाँ पटेला नाम भूमि में हल से निकाली हुई आड़ (हलाई) का है। यह बात संस्कृत में आये हुए शब्द 'सीता'[1] से बिल्कुल स्पष्ट हो गयी है। अब आप ऋषि दयानन्दजी के भाष्य को तनिक ध्यान से पढ़ें—

---

१. हल के चलाने से खेत में बनी हुई रेखा, खूड—आप्टे।

पदार्थ—**विश्वै** सब **देवैः** अन्न आदि पदार्थों की इच्छा करनेवाले विद्वान् **मरुद्भिः** मनुष्यों की **अनुमता** आज्ञा से प्राप्त हुआ **ऊर्जस्वती** पराक्रम-सम्बन्धी **पिन्वमाना पयसा** जल वा दुग्ध से सींचा वा सेवन किया हुआ **सीता** पटेला **घृतेन** घी तथा **मधुना** सहत वा शक्कर आदि से **समज्यताम्** संयुक्त किया जाए। **सीते** यह पटेला **अस्मान्** हम लोगों को घी आदि पदार्थों से संयुक्त करेगा, इस हेतु से **पयसा** जल से **अभ्यावववृत्स्व** बार-बार वर्त्ताओ।

भावार्थ—सब विद्वानों को चाहिए कि किसान लोग विद्या के अनुकूल घी, मीठा और जल आदि से संस्कार कर स्वीकार की हुई खेत की पृथिवी को अन्न को सिद्ध करनेवाली करें। जैसे बीजों को सुगन्धि आदि युक्त करके बोते हैं, वैसे इस पृथिवी को भी संस्कारयुक्त करें।

कैसा स्पष्ट अर्थ है कि जैसे बीजों को कई-कई प्रकार के पदार्थों से संस्कृत करके सुगन्धित आदि बनाया जाता है, वैसे ही भूमि को भी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के खाद से संस्कारयुक्त बनाएँ और इसमें अनेक प्रकार के फूल-फल, अन्न-आदि बोकर सम्पत्तिशाली बनें।

कहिए, इसमें मूर्त्तिपूजा कहाँ से निकलती है? हम पोपजी को डंके की चोट खुला चैलैंज करते हैं कि वे ऋषि दयानन्दजी के ग्रन्थों में कहीं भी ईश्वर के स्थान पर किसी अन्य वस्तु की पूजा दिखाएँ। हमने पोपजी के दिये हुए प्रमाणों की ऊपर अच्छी प्रकार पोल खोल दी है और सिद्ध कर दिया है कि पोपजी के दिये हुए प्रमाणों में पूजा शब्द का भी कहीं नाम व चिह्न तक विद्यमान नहीं है। संस्कार-विधि में केवल वेद के मन्त्रों को पढ़कर संस्कारों की क्रिया करनी लिखी है, न मन्त्रों के अर्थ किये हुए हैं और न ही कहीं पूजा शब्द विद्यमान है। अपने घर से ही कपोलकल्पित अर्थ करके आर्यसमाज पर आक्षेप करना सरासर मूर्खता और बेईमानी है।

यदि इसपर भी आपको सन्तोष न हो तो हम उस्तरा, कुशा, हल आदि को मैदान में रखकर उनके जूते मारते हैं और आप शालिग्राम, शिवलिङ्ग, गणेश आदि मूर्त्तियों को मैदान में रखकर जूते मारें। इससे स्वयं पता लग जाएगा कि जड़पूजक कौन हैं? इसलिए यह स्पष्ट सिद्ध है कि आर्यसमाज में जड़पूजा नहीं है, अपितु यह जड़पूजा सनातनधर्म में ही है और वेद के आदेश के अनुसार वे नारकी बनने के अधिकारी हैं।

पोपजी—स्वामी दयानन्दजी ने यजुर्वेद अध्याय ५, मन्त्र १९ में दो हाथोंवाला ईश्वर माना है।

तोपजी—कैसा सफेद झूठ है! क्या इन्हीं धोखेबाजियों से मूर्त्तिपूजा स्थिर रहेगी? मन्त्र में तो लिखा है कि—"हे ईश्वर! तू हमारे दोनों हाथों को धन से पूर्ण कर दे" और पोपजी ईश्वर को दोनों हाथोंवाला बताकर स्वामीजी पर दोषारोपण के कलुषित प्रयत्न में संलग्न है। हम पोपजी को डंके की चोट से चैलैञ्ज करते हैं कि वे स्वामीजी के भाष्य से अपने मनमाने शब्द निकालकर दिखलाएँ, अन्यथा इस झूठ का प्रायश्चित्त करने के लिए चुल्लूभर पानी में नाक डूबोकर डूब मरें।

पोपजी—वेदभाष्यकार पं० राजारामजी, प्रोफैसर डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर, ने बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म के दो रूप माने हैं—एक साकार और दूसरा निराकार।

तोपजी—'अन्धी देवी के गंजे पुजारी।' जैसे आप वैसे ही आपके साक्षी। तनिक पुस्तक खोलकर व्याख्या को देख तो लेना चाहिए था कि वहाँ पर ब्रह्म परमात्मा का नाम है या प्रकृति से बने हुए जगत् का नाम है। लीजिए, हम उपनिषद् का मूलपाठ उद्धृत कर देते हैं। वहाँ लिखा है कि—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च॥ १॥
तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च॥ २॥
अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं च ॥ ३॥ —बृहदा० २.३.१-३

अर्थ—उपादानकारण प्रकृति से निमित्तकारण ब्रह्म ने जो जगत् उत्पन्न (प्रकट) किया है, उसके दो रूप हैं—एक साकार, दूसरा निराकार॥१॥ वह यह साकार है जोकि वायु और आकाश से पृथक् है अर्थात् भूमि, जल और अग्नि॥२॥ और निराकार वायु और आकाश हैं॥३॥

अब कहिए पोपजी महाराज! क्या इसी प्रमाण पर मूर्त्तिपूजा की आधारशिला रक्खी हुई थी, जो व्याख्या के सामने आते ही धड़ाम से गिर पड़ी? अब और कोई प्रमाण ढूँढकर लाएँ, क्योंकि जो दो रूप साकार और निराकार इसमें वर्णित किये गये हैं, वे प्राकृतिक जगत् के ही हो सकते हैं, परमात्मा के नहीं हो सकते।

पोपजी—इतना ही नहीं, अपितु पण्डितजी ने निरुक्त के अन्त में ऋग्वेद के मन्त्र का भाष्य करते हुए ईश्वर को तीन आँखोंवाला बताया है।

तोपजी—वाह महाराज! आपने तो मूर्त्तिपूजा को साक्षात् प्रत्यक्ष करके ही दिखा दिया। क्यों न हो! लज्जा तो नहीं आती होगी? क्या प्रमाण देने का यही ढङ्ग है? जब निरुक्त में काण्ड, अध्याय, खण्ड विद्यमान हैं तो आपने मन्त्र का प्रमाण क्यों नहीं दिया? अजी देते तो तब जब कहीं मूर्त्तिपूजा का प्रमाण मिलता। जब चारों वेदों में एक भी प्रमाण मूर्त्तिपूजा का समर्थन करनेवाला विद्यमान नहीं है तो सिवाय गप्पाष्टकबाजी के और पोपमण्डल कर भी क्या सकता है? क्योंकि पोपजी के सारे ही प्रमाण सर्वथा मिथ्या और मार्गभ्रष्ट करनेवाले हैं, इसलिए सिद्ध हुआ कि ईश्वर निराकार है और उसकी मूर्त्ति नहीं बन सकती और मूर्त्तिपूजक निश्चय ही नरकगामी होगा।

पोपजी—अथर्ववेद ५।१०।७ तथा ७।१९।२ में, यजुर्वेद ३६।११ में मूर्ति के द्वारा ईश्वर की पूजा करना और उससे प्रार्थना करना लिखा है तो यह कहना कि पुराणों में चूँकि शालिग्राम आदि में ईश्वर की पूजा लिखी है, अतः पुराण वेदों के विरुद्ध हैं, यह कहाँ तक ठीक माना जा सकता है?

तोपजी—आप जिस प्रकार के प्रमाण देने के अभ्यस्त हैं, उससे हम भली-भाँति परिचित हैं। जैसे आपके पिछले सब प्रमाणों की पोल सामने आ गयी, वैसे ही इन प्रमाणों की परीक्षा भी अभी हो जाती है—

१. सर्वप्रथम अथर्ववेद के ५।१०।७ मन्त्र को ले-लीजिए। इसमें अपने कवच की दृढ़ता का उपदेश है, तनिक ध्यानपूर्वक पढ़िए—

अश्मवर्म मेऽसि यो मा दिशामन्तर्देशेभ्योऽघायुरभि दासात्। एतत् स ऋच्छात्॥
—अथर्व० ५।१०।७

अर्थ—यह मेरा कवच पत्थर की भाँति दृढ़ है, जो कोई मुझे दिशाओं के मध्य के कोनों से मारना चाहे, वह स्वयं मरे।

इस मन्त्र में यह उपदेश है कि जो मनुष्य पत्थर के समान दृढ़ कवच रखता है, उसे जो मारने के लिए आता है, वह स्वयं मर रहता है। बतलाइए, इसमें मूर्ति के द्वारा ईश्वर की पूजा और प्रार्थना का वर्णन कहाँ है?

२. अब अपने दूसरे मन्त्र की ओर ध्यान दें जोकि अथर्ववेद का ७।१९।२ मन्त्र है। इस मन्त्र में अन्न उत्पन्न करने का प्रकार और ऋतु का वर्णन है—

न घ्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः।
आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम्॥

—अथर्व० ७।१९।२

अर्थ—ग्रीष्म ऋतु का प्रचण्ड सूर्य जब पृथिवी को अधिक न तपा रहा हो और जब हिम-शरद् ऋतु भी नहीं मारती, तब यह पृथिवी खेतों में जीवन देनेवाले अन्न का दान देती है। तभी यह उत्तम प्रकार से तैयार की जाए और तभी जल की धाराएँ भी इस भूमि के स्वामी को घृत, आयु और पौष्टिक अन्न ही मानो बहाती हैं। ठीक भी है, जहाँ पानी बरसानेवाला बादल बरसता है, वहाँ सदा ही सुख होता है।

बताइए, इस मन्त्र का मूर्त्तिपूजा के द्वारा ईश्वर की पूजा या प्रार्थना से क्या सम्बन्ध है?

३. अब आप तीसरे मन्त्र (यजुः० ३६.१९) का भी अवलोकन करें—

दृते दृꣳह मा ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासम्। ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम्॥ —यजु० ३६।१९

अर्थ—हे समग्र मोह के आवरण का नाश करनेहारे उपदेशक, विद्वन् वा परमेश्वर! जिससे मैं आपके सम्यक् देखने या ज्ञान में निरन्तर जीऊँ। आपके सम्यग् दर्शन में निरन्तर उत्तम जीवन व्यतीत करूँ, उस जीवन के विषय में मुझे दृढ़ कीजिए।

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि ईश्वर की आज्ञा पालने और युक्त आहार-विहार से सौ वर्ष तक जीने का प्रयत्न करें।

इस मन्त्र में भी ईश्वर की आज्ञा-अनुसार जीवन व्यतीत करने का उपदेश है। मूर्त्तिपूजा के द्वारा ईश्वर की पूजा और प्रार्थना का इस मन्त्र में नाम व चिह्न भी नहीं है।

प्रतीत होता है कि पोपजी जनता को धोखा देने के लिए पुस्तकों को बिना देखे ही वेदों के नाम और उनके काण्ड तथा अध्यायों और मन्त्रों की संख्या लिख देते हैं, परन्तु इन छल-कपटों से मूर्त्तिपूजा का वेदानुकूल सिद्ध होना सर्वथा असम्भव है। चूँकि मूर्त्तिपूजा वेदों के विरुद्ध है और पुराणों में मूर्त्तिपूजा की शिक्षा विद्यमान है, अतः अष्टादश पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

पोपजी—लाला मनसारामजी ने शिवपुराण की कथा को मनमाने ढङ्ग से लिखकर शिवलिङ्ग का उपहास उड़ाने का व्यर्थ प्रयत्न किया है।

तोपजी—हम आर्यसमाज के प्रतिष्ठित उपदेशक हैं और अपने उत्तरदायित्व को भली-भाँति समझते हैं, अतः हमने अपनी पुस्तक में एक भी बात बिना प्रमाण के नहीं लिखी। यह काम [बिना प्रमाण लिखना] सनातनधर्म के उपदेशकों का है कि वे अपने उत्तरदायित्व का अनुभव न करते हुए निराधार, मिथ्या बातें, बिना प्रमाण अपनी पुस्तकों में लिख देते हैं। जैसाकि आपने स्थान-स्थान पर अपनी पुस्तक में झूठे और ग़लत प्रमाण और पते देकर उत्तरदायित्वहीनता का प्रमाण दिया है। हमने शिवपुराण की कथा बिल्कुल ठीक दी है। यदि आपको विश्वास न हो तो शिवपुराण कोटिरुद्रसंहिता अध्याय १२ में देखें, वहाँ इस प्रकार लिखा है—

"पूर्व समय में दारु वन में ब्राह्मणों के साथ जो वृत्तान्त हुआ उसे ध्यानपूर्वक सुनें, मैं कहता हूँ। दारु वन में ऋषि लोग अपनी पत्नियों समेत रहते थे। वे शिव की भक्ति किया करते थे। एक बार सब ऋषि लोग लकड़ियाँ लेने जङ्गल में चले गये। उनकी स्त्रियाँ अकेली रह गयीं। तब—

एतस्मिन्नन्तरे साक्षाच्छंकरो नीललोहितः। विरूपं च समास्थाय परीक्षार्थं समागतः॥ ९॥
दिगम्बरोऽतितेजस्वी भूतिभूषणभूषितः। स चेष्टामकरोद्दुष्टां हस्ते लिङ्गं विधारयन्॥ १०॥

अर्थ—इतने में ही साक्षात् महादेवजी विकृत रूप बनाकर परीक्षा के लिए आ गये। बिल्कुल नङ्ग-धड़ङ्ग, अत्यन्त तेजस्वी शरीर पर भस्म रमाये हुए वह महादेवजी **लिङ्ग हाथ में पकड़कर** दुष्ट चेष्टाएँ करने लगे।

इसे देखकर ऋषियों की स्त्रियाँ अत्यन्त भयभीत हो गयीं, फिर चकित तथा व्याकुल होकर इसके पास आ गयीं—

आलिलिंगुस्तथा चान्याः करं धृत्वा तथापराः। परस्परं तु संघर्षात्सम्मग्नास्ताः स्त्रियस्तदा॥ १३॥
एतस्मिन्नेव समये ऋषिवर्याः समागमन्। विरुद्धं तं च ते दृष्ट्वा दुःखिताः क्रोधमूर्च्छिताः॥ १४॥
तदा दुःखमनुप्राप्ताः कोऽयं कोऽयं तथाऽब्रुवन्। समस्ता ऋषयस्ते वै शिवमायाविमोहिताः॥ १५॥
यदा च नोक्तवान् किञ्चित्सोऽवधूतो दिगम्बरः। ऊचुस्तं पुरुषं भीमं तदा ते परमर्षयः॥ १६॥
त्वया विरुद्धं क्रियते वेदमार्गविलोपि यत्। ततस्त्वदीयं तल्लिङ्गं पततां पृथिवीतले॥ १७॥
इत्युक्ते तु तदा तैश्च लिङ्गं च पतितं क्षणात्। अवधूतस्य तस्याशु शिवस्याद्भुतरूपिणः॥ १८॥
तल्लिङ्गं चाग्निवत्सर्वं यद्ददाह पुरा स्थितम्। यत्र यत्र च तद्याति तत्र तत्र दहेत्पुनः॥ १९॥

अर्थ—बहुत-सी स्त्रियाँ उसे छाती से लगाने लगीं, बहुत-सी हाथ में पकड़ने लगीं। आपस की रगड़-पट्टी से तब वे स्त्रियाँ मस्त हो गयीं॥१३॥ इसी समय वे ऋषि लोग आ गये। वे उसकी असभ्यता को देखकर दुःखी और अत्यन्त क्रुद्ध हुए॥१४॥ और दुःखी होकर कहने लगे यह कौन है—यह कौन है? शिव की माया से मोहित होकर ऋषि यूँ कोलाहल करने लगे॥१५॥ जब वह नङ्ग-धड़ङ्ग अवधूत कुछ भी न बोला, तब वे ऋषि उस भयङ्कर व्यक्ति से बोले॥१६॥ क्योंकि तू वेद के विरुद्ध, धर्म का लोप करनेवाला, असभ्यता का काम कर रहा है, अतः तेरा यह लिङ्ग कटकर भूमि पर गिर पड़े॥१७॥ तब ऋषियों के ऐसा कहते ही उस अद्भुत रूपधारी अवधूत शिव का लिङ्ग तुरन्त पृथिवी पर गिर पड़ा॥१८॥ वह लिङ्ग जो कुछ सामने आया उसे अग्नि की भाँति जलाने लगा। जहाँ-जहाँ वह जाता था, वहाँ-वहाँ सब-कुछ जला देता था।

वह लिङ्ग पाताल, स्वर्ग और पृथिवी पर दौड़ता फिरता था, परन्तु कहीं पर स्थिर न होता था। सम्पूर्ण संसार व्याकुल हो गया और ऋषि लोग दुःखी होकर देवताओंसहित ब्रह्मा के पास गये और उन्होंने प्रणाम करके सारा वृत्तान्त ब्रह्मा को सुनाया। ब्रह्मा उनकी बात को सुनकर बोले कि तुमने ग़ज़ब कर दिया जो महादेव-जैसे अतिथि का सत्कार नहीं किया। जब तक यह लिङ्ग स्थापित न होगा तब तक तीनों लोकों में शान्ति स्थापित नहीं होगी। मैं तुम्हें लिङ्ग को स्थापित करने का उपाय बताता हूँ—

आराध्य गिरिजां देवीं प्रार्थयन्तु सुराः शिवम्। योनिरूपा भवेच्चेद्वै तदा तत्स्थिरतां व्रजेत्॥ ३२॥
इत्युक्तास्ते द्विजा देवाः प्रणिपत्य पितामहम्। शिवं तं शरणं प्राप्तः सर्वलोकसुखेप्सया॥ ४३॥
पूजितः परया भक्त्या प्रार्थितः शंकरस्तदा। सुप्रसन्नस्ततो भूत्वा तानुवाच महेश्वरः॥ ४४॥
हे देवा ऋषयः सर्वे मद्वचः शृणुतादरात्। योनिरूपेण मल्लिङ्गं धृतं चेत्स्यात्तदा सुखम्॥ ४५॥
पार्वतीं च विना नान्या लिङ्गं धारयितुं क्षमा। तया धृतं च मल्लिङ्गं द्रुतं शान्तिं गमिष्यति॥ ४६॥
तच्छ्रुत्वा ऋषिभिर्देवैस्सुप्रसन्नैर्मुनीश्वराः। गृहीत्वा चैव ब्रह्माणं गिरिजां प्रार्थिता तदा॥ ४७॥
प्रसन्नां गिरिजां कृत्वा वृषभध्वजमेव च। पूर्वोक्तं च विधिं कृत्वा स्थापितं लिङ्गमुत्तमम्॥ ४८॥

अर्थ—हे देवताओ! पार्वती को प्रसन्न करके शिव की प्रार्थना करो। यदि पार्वती योनिरूप से तैयार हो जाए तब यह लिङ्ग स्थिर हो जाए॥३२॥ यह सुनकर ब्राह्मण और देवता ब्रह्मा को प्रणाम करके सारे संसार के सुख के लिए शिवजी की शरण में आ गये॥४३॥ तब परम भक्ति से पूजे हुए और प्रार्थना किये हुए महादेवजी प्रसन्न होकर उनसे बोले॥४४॥

हे देवताओ! हे ऋषियो! मेरी बात को आदर से सुनो। यदि मेरा लिङ्ग योनि में स्थापित हो जाए तब सुख हो सकता है ॥४५॥ पार्वती के बिना और कोई स्त्री मेरे लिङ्ग को धारण नहीं कर सकती। उससे धारण किया हुआ मेरा लिङ्ग तुरन्त शान्ति को प्राप्त हो जाएगा ॥४६॥ यह सुनकर ऋषि और देवताओं ने प्रसन्न होकर, ब्रह्मा को साथ में लेकर तब पार्वती की प्रार्थना की ॥४७॥ पार्वती को प्रसन्न करके और महादेवजी को भी प्रसन्न करके पूर्वोक्त विधि से उत्तम लिङ्ग को स्थापित किया गया।''

यह है वह कथा जो शिवपुराण में विद्यमान है। अब इसके सम्बन्ध में कहिए क्या कहते हैं?

पोपजी—शिवपुराण में कहीं भी ऋषियों की स्त्रियों का लिङ्ग से लिपटने और लिङ्ग को छाती से लगाने का वर्णन तक नहीं और न ही वहाँ लाला साहब के लिखने के अनुसार लिङ्ग और योनि शब्द से मूत्रेन्द्रिय का ही वर्णन है।

तोपजी—क्यों कुफ्र (अधर्म) तोलने का ठेका लिया है? क्यों झूठ बोलकर आत्मा की हत्या करते हो? परमात्मा से डरो और जनता को भ्रष्ट मत करो! शिवपुराण में स्पष्ट लिखा है कि '**आलिलिंगुस्तथा च**'—वे स्त्रियाँ लिङ्ग का आलिङ्गन करने लगीं। आलिङ्गन का अर्थ गले मिलना है, जिसमें लिपटना और छाती से लगाना दोनों सम्मिलित हैं; और फिर इसके अतिरिक्त लिखा है कि '**करं धृत्वा तथा**'—वे स्त्रियाँ लिङ्ग को हाथ में पकड़ती थीं और '**संघर्षात्संमग्नाः**'—वे स्त्रियाँ लिङ्ग के साथ रगड़ा-रगड़ी से मस्त हो रही थीं। शिवपुराण में केवल लिपटने और छाती से लगाने का ही वर्णन नहीं अपितु हाथ से पकड़ने और लिङ्ग के साथ रगड़ा खाने का वर्णन भी विद्यमान है। इस प्रकरण में लिङ्ग और योनि शब्द के मूत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त और कोई अर्थ हो ही नहीं सकते, क्योंकि '**दिगम्बरः**' महादेवजी का सर्वथा नङ्ग-धड़ङ्ग होना, '**स चेष्टामकरोद् दुष्टाम्**' महादेवजी का अश्लील चेष्टाएँ करना, '**विरुद्धं तं च ते दृष्ट्वा**'—ऋषियों का उसे सभ्यता के विरुद्ध देखना और '**त्वया विरुद्धं क्रियते वेदमार्गविलोपि यत्**'—तू जो सभ्यता के विरुद्ध कर रहा है तेरा यह कर्म वैदिक धर्म का लोप करनेवाला है—ऋषियों का यह कहना इस बात को सिद्ध करता है कि '**हस्ते लिङ्गं विधारयन्**' का यही अर्थ है कि महादेवजी ने नङ्गे होकर मूत्रेन्द्रिय को ही हाथ में पकड़ रक्खा था और 'ब्रह्मा का यह कहना कि पार्वती की प्रार्थना करो कि वह योनिरूप हो जाए तब लिङ्ग उसमें स्थिर होगा तथा महादेव का यह कहना कि मेरे लिङ्ग को पार्वती के बिना और कोई स्त्री धारण नहीं कर सकती और पार्वती से धारण किया हुआ मेरा लिङ्ग तुरन्त शान्ति को प्राप्त होगा' सिद्ध करता है कि पार्वती की योनि में महादेवजी की मूत्रेन्द्रिय के स्थापित हो जाने से ही इसके शान्त होने का वर्णन है, अतः श्रीमन्! इस प्रकरण में लिङ्ग और योनि का अर्थ सिवाय मूत्रेन्द्रिय के और कुछ हो ही नहीं सकता।

पोपजी—वहाँ यह कथा इस प्रकार लिखी है कि अवधूतरूप महादेव (असभ्यतापूर्ण रूप बनाकर) दिगम्बर (सर्वथा नङ्ग-धड़ङ्ग) भस्म रमाये हुए, भयङ्कर आकृति से (अश्लील चेष्टाएँ करते हुए) अपने परम भक्त ऋषियों की परीक्षा लेने के लिए अपने हाथ में **ज्योतिर्मय** लिङ्ग पकड़कर दारु वन में गये। ऋषि लोग वहाँ उपस्थित नहीं थे। ऋषियों की स्त्रियाँ उनके अवधूत रूप और **ज्योतिर्मयलिंग के प्रकाश** से भयभीत हो गयीं। (फिर वापस आकर इसके साथ लिपट गयीं और इसे छाती से लगाया और इसके साथ रगड़ा-रगड़ी से मस्त हो गयीं)। इतने में ऋषि भी आ गये। वे भी इनके **भयङ्कर रूप को देखकर अत्यन्त चकित हुए** (ऋषि उसके असभ्य रूप को देखकर बहुत दुःखी और क्रुद्ध हुए) और पूछने लगे कि **इतने प्रकाशवाला अवधूतरूप** तू कौन है? परन्तु महादेवजी ने कोई उत्तर नहीं दिया।

इसपर क्रुद्ध होकर ऋषियों ने शाप दिया कि (चूँकि तेरा यह सभ्यता के विरुद्ध कर्म वेदमार्ग का लोप करनेवाला है, इसलिए) यह तेरा **प्रकाशरूप लिङ्ग** पृथिवी पर गिर जाए (यह कहते ही इस महादेव का लिङ्ग पृथिवी पर गिर पड़ा) **लिङ्ग पृथिवी पर गिरते ही पाताल से स्वर्ग तक फैल गया।** (इस लिङ्ग ने अग्नि की भाँति जो कुछ सामने आया उसे जला दिया और जहाँ जाता था सब-कुछ जला देता था) और **तेजरूप लिङ्ग ऋषियों को तपाने लगा** (वह लिङ्ग स्वर्ग और पाताल में गया और पृथिवी पर भी गया, परन्तु कहीं भी स्थिर न हुआ। सब लोग व्याकुल हो गये। ऋषि लोग बड़े दुःखी हुए)। **तपिश से और प्रकाश के कारण चकाचौंध होने से** दुःखी हुए-हुए ऋषियों ने ब्रह्मा के पास जाकर पुकार की। ब्रह्मा ने कहा कि तुम लोगों ने अज्ञानता के कारण शिवजी का बड़ा भारी अपराध किया है। अब यदि पार्वती को प्रसन्न करो (और शिव की प्रार्थना करो) और **वह इस तेज को धारण करे** (यदि पार्वती योनिरूप हो जाए, तब यह लिङ्ग उसमें स्थिर हो जाए। जब तक लिङ्ग स्थिर नहीं होगा तब तक **तीनों लोकों में शान्ति न होगी**) तभी कल्याण हो सकता है। ब्रह्मा से यह सुनकर **ऋषि और देवताओं ने** महादेवजी को प्रसन्न किया। महादेवजी प्रसन्न होकर **बोले—हे ऋषियो! मेरी बात को** आदर से सुनो। जब तक मेरा लिङ्ग योनि में स्थिर न होगा तब तक शान्ति **नहीं होगी। पार्वती के** बिना अन्य कोई स्त्री मेरे लिङ्ग को धारण करने की शक्ति नहीं रखती; पार्वती से धारण किया हुआ मेरा लिङ्ग तुरन्त शान्ति को प्राप्त हो जाएगा (ऋषियों और देवताओं ने महादेवजी की यह बात सुनकर ब्रह्मा को साथ लिया और पार्वती की प्रार्थना की और पार्वती तथा महादेवजी को प्रसन्न करके पूर्वोक्त विधि से लिङ्ग को स्थापित किया) परिणामस्वरूप ऐसा ही किया गया।

तोपजी—बलिहारी है इस कतर-ब्योंत (काट-छाँट), मिथ्यावाद, बेईमानी और धोखा देने के! पोपजी ने दोष तो हमपर लगाया है कि हमने शिवपुराण की कथा को मनमाना लिखा है, परन्तु पाठक ध्यानपूर्वक पढ़ें और देखें कि पोपजी ने किस प्रकार काट-छाँटकर तथा अपनी ओर से झूठ मिलावट करके और इस कथा को मनमाने ढङ्ग से लिखकर जनता को पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न किया है। जो वाक्य मोटे टाइप में मुद्रित हैं उनका शिवपुराण में कहीं नाम और चिह्न भी नहीं है। वह सब पोपजी ने अपनी ओर से कल्पित करके कथा में प्रविष्ट कर दिये हैं और जिन वाक्यों को हमने कोष्ठक में दिया है, इन सबको, शिवपुराण में होने पर भी पोपजी ने अपने अभिप्राय के विरुद्ध देखकर सर्वथा छोड़ दिया है। क्या इस परिवर्तन-परिवर्धन, काट-छाँट से कथा के लिख देने पर भी शिवलिङ्ग की पूजा के कुछ और अर्थ हो सकते हैं? कदापि नहीं।

पोपजी—इस कथा में लिङ्ग से मूत्रेन्द्रिय का तात्पर्य नहीं है। यदि लाला साहबवाला अर्थ होता तो मूत्रेन्द्रिय का पाताल, स्वर्ग तक फैलना और असीम प्रकाशवाला होना सम्भव नहीं हो सकता और न ही काटे बिना उसके पृथिवी पर गिरने की आशा हो सकती है।

तोपजी—शिवपुराण में न तो लिङ्ग के पाताल-स्वर्ग तक फैलने का वर्णन है और न ही उसके असीम प्रकाशवाला होने की चर्चा है। ये दोनों बातें पोपजी के घर के आविष्कार हैं। हाँ, शिवपुराण में यह अवश्य लिखा है कि जो कुछ इसके सामने आता था, वह अग्नि की भाँति उसे जला देता था और पाताल, स्वर्ग तथा पृथिवी पर दौड़ता फिरता था, कहीं स्थिर नहीं होता था।

भला! पुराणों में भी सम्भव और असम्भव का विवेक हो सकता है? यदि पुराणों को सम्भव और असम्भव की कसौटी पर परखा जाए तो पुराणों का अस्तित्व रहना ही असम्भव है, क्योंकि पुराण तो हैं ही असम्भव और बेहूदा बातों का पुलिन्दा (गट्ठर)। जिन पुराणों

में सरस्वती के शाप देने से ही बिना काटे इन्द्र के अण्डकोश झड़कर पृथिवी पर गिर पड़े और जिन पुराणों में सरस्वती के शाप देने से ही ब्रह्मा का पाँचवाँ मुख बिना काटे ही कटकर भूमि पर गिर पड़े और जिन पुराणों में शनिश्चर के देखने से ही गणेश का सिर कटकर पता नहीं कहाँ चला गया, उन पुराणों में ऋषियों के शाप देने से शिवजी का लिङ्ग (मूत्रेन्द्रिय) कटकर गिर पड़ना असम्भव कैसे कहा जा सकता है? इसलिए शिवपुराण के इस प्रकरण में लिङ्ग से तात्पर्य मूत्रेन्द्रिय ही है।

पोपजी—मैं पहले भी कई बार लिख चुका हूँ कि लिङ्ग का अभिप्राय चिह्न है। इस कथा में शिवजी ने अपने ज्योतिर्मय लिङ्ग को ही हाथ में पकड़ा हुआ था, जिसका वर्णन शिवपुराण में कई स्थानों पर किया हुआ है।

तोपजी—मैं भी कई स्थानों पर उत्तर दे चुका हूँ कि पुराणों के इन प्रकरणों में लिङ्ग नाम मूत्रेन्द्रिय के चिह्न का ही है। इस कथा में कहीं भी ज्योतिर्मय लिङ्ग का वर्णन नहीं है। यह आपका अपना आविष्कार है। भला! यह तो बतलाएँ कि वह आपका कल्पित ज्योतिर्मय लिङ्ग क्या वस्तु है और उसे हाथ में पकड़ने से शिवपुराण ने इसे दुष्ट चेष्टा क्यों लिखा है? और इस ज्योतिर्मय लिङ्ग को हाथ में पकड़ने को पुराण ने सभ्यता के विरुद्ध और इससे वेद के मार्ग के लोप होने की बात क्यों लिखी है? और फिर वह ज्योतिर्मय लिङ्ग पार्वती की योनि में प्रविष्ट होकर ही क्यों शान्ति प्राप्त करता है? इन सब बातों से सिद्ध होता है कि शिवपुराण में शिवलिङ्ग से यही तात्पर्य है कि महादेवजी ने नङ्गे होकर मूत्रेन्द्रिय को ही हाथ में पकड़कर ऋषि-पत्नियों पर धावा बोला था।

पोपजी—दर्शनशास्त्रों में भी स्थान-स्थान पर लिङ्ग और योनि शब्द का अर्थ कारण ही किया है। सनातनधर्मी इस कारणरूप—ज्योतिर्मयरूप की पूजा किया करते हैं।

तोपजी—दर्शनशास्त्रों में लिङ्ग और योनि शब्द के कुछ और अर्थ हों, हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि हम मानते हैं कि संस्कृत में कतिपय शब्दों के अनेक अर्थ हो सकते हैं, परन्तु प्रकरण देखकर इस बात का अनुमान लगाया जाता है कि किस प्रकरण में किस शब्द के क्या अर्थ हो सकते हैं। हम पौराणिक मण्डल को डंके की चोट चैलैञ्ज करते हैं कि शिवपुराण के इस प्रकरण में लिङ्ग और योनि शब्द के अर्थ मूत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त और कुछ लिये ही नहीं जा सकते और सनातनधर्मी महादेव और पार्वती के मूत्रेन्द्रिय की पूजा करते हैं।

पोपजी—सृष्टि के आदि में मनुस्मृति (१।९) के अनुसार एक अण्डाकार आकृति में ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ था, जिसका प्रकाश सहस्रों सूर्यों से अधिक था और जिसका वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् (१।६) में भी आता है कि इस लिङ्गरूप ब्रह्म की हम लोग पूजा करते हैं। चूँकि यह गोलाकार अण्डा एक अनोखा और अचिन्त्य तेजोमयस्वरूप ब्रह्म था। इसी को शिवमन्दिरों में स्थापित करके पूजा करने की आज्ञा शिवपुराण में दी गयी है, न कि लाला साहब की अभीष्ट मूत्रेन्द्रिय की।

तोपजी—प्रथम तो मनुस्मृति और छान्दोग्य उपनिषद् में लिङ्गरूप ब्रह्म का नाम व चिह्न भी विद्यमान नहीं है और न ही लिङ्गरूप ब्रह्म की पूजा का वर्णन है, अपितु वहाँ तो सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम का वर्णन है; और आगे चलकर लिखा है कि ब्रह्मा ने इस अण्ड के दो भाग किये और उन दोनों भागों से पृथिवी और सौरमण्डल को बनाया। इसके पश्चात् ओषधियाँ और मनुष्य आदि उत्पन्न हुए। इससे पता लगता है कि शिवपुराण में इस गोलाकार ब्रह्माण्ड को शिव-मन्दिरों में स्थापित करके उसकी पूजा का वर्णन नहीं है, अपितु शिवपुराण में तो इसी लिङ्ग (मूत्रेन्द्रिय) की पूजा का विधान है कि जिसे महादेवजी नङ्ग-धड़ङ्ग होकर

हाथ में पकड़कर ऋषि-पत्नियों में जा धमके थे और महादेवजी के हाथ में वह गोलाकार ब्रह्माण्ड नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिस समय वह गोलाकार ब्रह्माण्ड था, उस समय तो भूमि और मनुष्यों और वनों का नाम व चिह्न भी नहीं था। जब महादेवजी लिङ्ग को हाथ में लेकर गये थे, उस समय, भूमि, वन, मनुष्य आदि सारा संसार विद्यमान था।

भला! यदि मान लिया जाए कि वही ब्रह्माण्ड महादेव के हाथ में था तो फिर महादेवजी किस पर ठहरे हुए थे? तथा ऋषि लोग, दारुवन और ऋषि-पत्नियाँ किस वस्तु पर निवास करते थे? क्योंकि पृथिवी, वन, मनुष्य—ये सब पदार्थ ब्रह्माण्ड के पश्चात् उत्पन्न हुए थे और फिर वह लिङ्ग भूमि, पाताल और स्वर्ग में दौड़ता फिरता था—तो जब भूमि, स्वर्ग और पाताल ब्रह्माण्ड के पश्चात् उत्पन्न हुए तो वह दौड़ता किसपर था और फिर इस ब्रह्माण्ड को पार्वती की योनि में ही शान्ति क्यों मिलती थी? तथा घड़े में छिद्र करके पानी भरकर लिङ्ग पर सदा पानी टपकाना और लिङ्ग के नीचे पार्वती के भग की मूर्त्ति होना—ये सब बातें प्रकट करती हैं कि शिवपुराण में गोलाकार ब्रह्माण्ड की पूजा का वर्णन नहीं, अपितु शिवपुराण में महादेवजी की मूत्रेन्द्रिय लिङ्ग और पार्वती की मूत्रेन्द्रिय भग की ही पूजा का वर्णन है। इसीलिए तो कई-एक पौराणिक स्त्रियाँ पुजारियों की प्रेरणा से सन्तान प्राप्त करने के लिए अपनी भग को महादेवजी के शिवालय में गड़ी हुई मूत्रेन्द्रिय—शिवलिङ्ग के साथ रगड़कर उसे अपवित्र करती रहती हैं। इसलिए इस कथा में प्रकरण-अनुसार लिङ्ग और योनि से शिवपुराण को मूत्रेन्द्रिय की पूजा ही अभीष्ट है।

पोपजी—यह वही ज्योतिर्मय तेज है कि जिसका प्रकाश भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने अर्जुन को गीता के ग्यारहवें अध्याय में दिखाया था और जिसके प्रकाश से अर्जुन-जैसा वीर भी काँप रहा था। ऋषि डर से भागते थे और मुनि लोग नमस्कार करते थे। निराकार, निर्विकार, निरञ्जन—जिसका कोई विशेष रूप नहीं और जो सृष्टि की रचना के समय अण्डे के रूप में उत्पन्न हुआ था, उसी ब्रह्म की अण्डे की भाँति लम्बूतरी और गोल लिङ्गरूप चिह्नवाली मूर्त्ति बनाकर ही पूजी जाती है, परन्तु लाला साहब ने भाव को न समझकर टीका-टिप्पणी करके सनातनधर्मियों के हृदय को ठेस पहुँचाई है।

तोपजी—गीता के ग्यारहवें अध्याय में भी गोल लिङ्गरूप चिह्नवाली मूर्त्ति बनाकर पूजने की चर्चा और वर्णन नहीं है, अपितु वहाँ तो भगवान् कृष्णजी ने अर्जुन को विराट् रूप दिखलाया है। भला! गीता में वर्णित इस विराट् रूप का शिवलिङ्ग के साथ क्या सम्बन्ध है? यदि गीता में भी कृष्ण के पास वही वस्तु होती जोकि शिवपुराण में महादेवजी ने पकड़ रक्खी थी तो कृष्णजी को भी सर्वथा नङ्गे होकर ही इस लिङ्ग को ग्रहण करना चाहिए था और कृष्ण की चेष्टा को भी दुष्ट चेष्टा लिखना चाहिए था और कृष्णजी के इस काम को भी वैदिक धर्म का लोप करनेवाला कहना चाहिए था और कृष्ण का वह लिङ्ग भी किसी पार्वती की योनि में जाकर शान्त होना चाहिए था, परन्तु उपर्युक्त बातों का गीता में नाम व चिह्न भी नहीं है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि गीता के इस लेख का शिवपुराण में वर्णित शिवलिङ्ग की कथा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

जब आप स्वयं मानते हैं कि परमात्मा निराकार, निर्विकार और निरञ्जन है और उसकी कोई विशेष आकृति भी नहीं तो फिर यह पार्वती के भग में गड़ी हुई शिवलिङ्ग की मूर्त्ति ब्रह्म की आकृति अथवा चिह्न कैसे हो सकती है? और फिर इसपर घड़े में छिद्र करके हर समय पानी टपकाने का क्या प्रयोजन है? यदि शिवलिङ्ग की मूर्त्ति अण्डाकार आकृतिवाली होती तो दोनों ओर नुकीली होती और बीच में अण्डे की भाँति मोटी होनी चाहिए थी, परन्तु वह ऐसी नहीं है, अपितु वह एक ओर से मोटी और दूसरी ओर से मूत्रेन्द्रिय की

भाँति नुकीली है और मूत्रेन्द्रिय की भाँति ही भग में गड़ी हुई है। इन समस्त कारणों से स्पष्ट सिद्ध है कि शिवपुराण में लिङ्ग की जो मूर्त्ति है वह मनुस्मृति, छान्दोग्य-उपनिषद् और गीता में वर्णित आरम्भसृष्टि के ब्रह्माण्ड की मूर्त्ति नहीं है, अपितु वह शिवपुराण में वर्णित महादेवजी के मूत्रेन्द्रिय=लिङ्ग की ही मूर्त्ति है और इसीलिए वह पार्वती की मूत्रेन्द्रिय—योनि में गड़ी हुई है और इस विचार से कि यह ज्वालामुखी पर्वत की भाँति कहीं फिर न भड़क उठे, एक घड़े में छिद्र करके उसमें पानी भरकर एक तिपाई पर शिवलिङ्ग के ऊपर रख देते हैं और बूँद-बूँद पानी हर समय शिवलिङ्ग पर गिरता रहता है।

हमने शिवपुराण के भाव को ठीक समझा है और आप काल्पनिक कथा घड़कर इसपर पर्दा डालना चाहते हैं। हमारा उद्देश्य सनातनधर्मियों का दिल दुखाना नहीं है, अपितु हम सनातनधर्मियों को इसकी वास्तविकता से परिचित कराके इस रोग से मुक्ति दिलाना चाहते हैं। इस शिवलिङ्ग की पूजा का वर्णन केवल शिवपुराण में ही नहीं, अपितु अन्य पुराणों में भी इसकी चर्चा विद्यमान है। हम अन्य पुराणों से भी शिवलिङ्ग के वर्णन का उल्लेख करते हैं। जिससे आप लोगों की सन्तुष्टि हो जाए कि पुराणों का उद्देश्य लिङ्ग और योनि से मूत्रेन्द्रिय की पूजा करना ही है। पोपजी की झूठी और काल्पनिक पूजा की कल्पना पुराणों को अभीष्ट नहीं है।

१. जब ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी ने अनसूया को व्यभिचार के लिए बलात् पकड़ लिया तो अनसूया ने इन तीनों को शाप दिया कि महादेव के लिङ्ग की, ब्रह्मा के सिर की और विष्णु के चरणों की संसार में पूजा होगी। सिर और चरणों के साथ लिङ्ग का वर्णन इस बात को सिद्ध करता है कि मूत्रेन्द्रिय की पूजा का ही विधान है।

—भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय १९, श्लोक ७५

२. विष्णु की जाँघ, घुटने और लिङ्ग की पूजा की जाए। यहाँ जाँघ और घुटनों के साथ लिङ्ग से मूत्रेन्द्रिय की पूजा ही अभीष्ट हो सकती है। —भविष्य० उत्तरपर्व २०६।८

३. कामदेव के पाँव, जाँघ, कमर और लिङ्ग की पूजा। —भविष्य० उत्तरपर्व २०६।८

४. देवी के स्तनों तथा जाँघ की पूजा। —भविष्य० उत्तर० २६।४६-४७

५. भवानी के स्तनों तथा जाँघ की पूजा। —भविष्य० उत्तर० २७।५-६

६. लक्ष्मी के स्तनों की पूजा। —भविष्य० उत्तर० ३७।४४

७. कुठार अर्थात् कुल्हाड़े की पूजा। —भविष्य० उत्तर० १३१।२९

८. कुदाली की पूजा। —भविष्य० उत्तर० १२७।३६

९. हल और मूसल की पूजा। —भविष्य० उत्तर० १०६।३७-४१

१०. छुरे की पूजा। —भविष्य० उत्तर० १३८।७७

११. कुत्ते की विष्ठा (टट्टी) से अन्न निकालकर शालिग्राम की पूजा।

—भविष्य० प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय १

पुराणों में मूर्त्तिपूजा का खण्डन

पुराणों में जहाँ मूर्त्तिपूजा की आज्ञा है, वहाँ खण्डन भी है, अवलोकन कीजिए—

१. शिवपुराण वायुसंहिता खण्ड २, अध्याय ३९, श्लोक २९—

तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान्पाषाणमृन्मयान्। योगिनो न प्र पद्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात्॥ २९॥

अर्थ—पानी से भरे हुए तीर्थों तथा पत्थर और मिट्टी के बने हुए देवताओं को योगी

लोग ग्रहण नहीं करते, क्योंकि इनको अपनी आत्मा में विश्वास होता है।

२. भागवतपुराण स्कन्ध १०, अध्याय ८४, श्लोक १३—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिलेन कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥१३॥

अर्थ—जो मनुष्य तीन धातुओं के बने हुए शरीर को आत्मा समझता है, स्त्री-पुत्र आदि को अपना समझता है, पृथिवी के पत्थर, लकड़ी, धातु आदि की बनी हुई वस्तुओं की पूजा करता है और जो जलों को तीर्थ मानता है—बुद्धिमानों में उसकी गणना भी नहीं करनी चाहिए, अपितु वह बोझ उठानेवाले बैल और गधे के बराबर है।

३. ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४, अध्याय २१, श्लोक ५२ से ५५ में कृष्ण ने नन्द से कहा कि यह इन्द्र की पूजा वेद के विरुद्ध है।

अवेदविहिता पूजा सर्वहानिकरण्डिका। पूजेयमधुना वा ते किमु वा पुरुषक्रमात्॥५२॥
दृष्टो देवस्त्वया कस्मिन्पूजेयं चानुसारिणी। साक्षात्खादति देवस्ते साक्षात्किं वा न खादति॥५३॥
साक्षाद् भुंक्ते च यो देवः सुप्रशस्तं तदर्चनम्। साक्षात्खादति नैवेद्यं विप्ररूपी जनार्दनः॥५४॥
ब्राह्मणे परितुष्टे च सन्तुष्टाः सर्वदेवताः। किं तस्य देवपूजायां यो नियुक्तो द्विजार्चने॥५५॥

अर्थ—वेदों के विरुद्ध जो पूजा है, वह सबके लिए हानिकारक है। यह पूजा अब नई ही चलाई गयी है अथवा परम्परा से चली आती है॥५२॥ तूने देव को कहाँ देखा है, जिसके अनुसार तू पूजा करता है। तेरा देवता साक्षात् खाता है अथवा नहीं खाता॥५३॥ जो देवता साक्षात् खाता है उसी का पूजना ठीक है। ब्राह्मणरूप देवता ही साक्षात् भोजन खाता है॥५४॥ ब्राह्मण के प्रसन्न होने पर सब देवता प्रसन्न हो जाते हैं। जो ब्राह्मणों की पूजा में लगा हुआ है उसे अन्य देवताओं की पूजा से क्या प्रयोजन है॥५५॥

४. जब कृष्ण गोपियों के वस्त्र लेकर वृक्ष पर चढ़ गये और गोपियों ने वस्त्रों को ढूँढना आरम्भ किया तो कृष्ण ने गोपियों को ताना देकर यह बात कही—

व्रताराध्या कथं सा च वस्तूनि किं न रक्षति॥६८॥
चिन्तां कुरुतं तां पूज्यां तुष्टाव बलिरीश्वरीम्। युष्माकमीदृशी देवी न शक्ता वस्तुरक्षणे॥६९॥
कथं व्रतफलं सा वा दातुं शक्ता सुरेश्वरी। फलं प्रदातुं या शक्ता सा शक्ता सर्वकर्मणि॥७०॥
व्रताराध्या च या देवी सा वा मे किं करिष्यति॥९४॥ —ब्रह्मवै० ४.२७.६८-७०, ९४

अर्थ—व्रत के द्वारा पूजित वह देवी कैसी है जो वस्तुओं की रक्षा नहीं कर सकती॥६८॥ इस पूजा की जानेवाली देवी की चिन्ता करो, उसी की स्तुति करो। तुम्हारी क्या देवी है जो वस्तुओं की रक्षा करने की शक्ति नहीं रखती, वह व्रत का फल देने में कैसे समर्थ हो सकती है। जो व्रत का फल देने की शक्ति रखती है, वह सब कार्यों में समर्थ हो सकती है॥६९-७०॥ मैं देखूँगा कि तुम्हारे द्वारा व्रत से पूजित वह देवी मेरा क्या बिगाड़ेगी॥९४॥

५. भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ३, अध्याय २२, श्लोक ११-१२ में लिखा है—

सत्ये तु मानसी पूजा देवानां तृप्तिहेतवे। त्रेतायां वह्निपूजा च यज्ञदानादिका क्रिया॥११॥
द्वापरे मूर्त्तिपूजा च देवानां वै प्रियंकरी। कलौ तु दारुणे प्राप्ते ब्रह्मपूजनमुत्तमम्॥१२॥

अर्थ—देवताओं की तृप्ति के लिए सत्ययुग में मन में ईश्वर की पूजा की जाती थी, त्रेतायुग में अग्नि की पूजा तथा यज्ञ-दान आदि का कार्य और द्वापर में देवताओं को मूर्त्तिपूजा प्रिय थी। अब घोर कलियुग आने पर परमात्मा की पूजा ही सबसे उत्तम है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि जहाँ मूर्त्तिपूजा वेदों के विरुद्ध है, वहाँ पुराणों में भी इसका खण्डन विद्यमान है।

६. पुराणों में मृतकश्राद्ध

सिद्धान्त—

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः। तेषाᳪश्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतᳪसमाः॥

—यजुः० १९।४६

अर्थ—जो इस लोक में जीते हुओं में समान गुण-कर्म-स्वभाववाले, समानधर्म में मन रखनेवाले मेरे जीते हुए पिता आदि हैं, उनकी लक्ष्मी सौ वर्षपर्यन्त मुझमें समर्थ होवे—स्थिर होवे।

भावार्थ—जब तक पिता आदि जीएँ तब तक सन्तान उनकी सेवा किया करे और पुत्र आदि जब तक पिता आदि की सेवा करें तब तक वे सत्कार के योग्य होवे और जो पिता आदि का धन हो वह पुत्रों का और जो पुत्रों का हो वह पिता आदि का रहे।

आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ —यजुः० १९।५८

अर्थ—जो चन्द्रमा के तुल्य शान्त, शम-दमादि गुणयुक्त, अग्न्यादि पदार्थविद्या में निपुण, अन्न और विद्या के दान से रक्षक हमारे जनक, अध्यापक और उपदेशक लोग हैं, वे आस लोगों के जाने-आने योग्य धर्मयुक्त मार्गों से आवें। इस पढ़ाने और उपदेश करनेरूप व्यवहार में वर्त्तमान होके अन्नादि से आनन्द को प्राप्त हुए अधिष्ठाता होकर हमें उपदेश करें और पढ़ावें और हमारी सदा रक्षा करें।

भावार्थ—विद्यार्थियों को योग्य है कि विद्या और आयु में वृद्ध विद्वानों से विद्या और रक्षा को प्राप्त होकर सत्यवादी, निष्कपटी, परोपकारी उपदेशकों के मार्ग से जा-आके सबकी रक्षा करें।

निष्कर्ष—इन वेद-मन्त्रों से सिद्ध है कि जीते हुए माता-पिता, गुरु, अध्यापक-उपदेशक और संन्यासी-महात्माओं का नाम ही पितर है जोकि अन्न, ज्ञान और शक्ति से हमारी रक्षा करते हैं। इनकी सेवा करने का नाम ही श्राद्ध और तर्पण है। चूँकि पुराणों में 'मृतक पितरों के नाम पर ब्राह्मणों को भोजन कराने से उन पितरों को पहुँचता है'—ऐसा लिखा है और इसी का नाम श्राद्ध और तर्पण माना है, अतः पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

—:o:—

पोपजी—महाशयजी! वेदों में तो मृत पितरों का ही श्राद्ध करना लिखा है।

तोपजी—बिल्कुल ग़लत, सर्वथा असत्य। चारों वेदों में **'मृतकश्रद्ध'** शब्द ही नहीं है। रह गया पितर शब्द, वह भी मृतकों के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि जीव अनादि और अनुत्पन्न हैं। वे न कभी पैदा होते हैं और न कभी मरते हैं, जैसाकि गीता में लिखा है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽ यं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ —गीता २।२०

अर्थ—जीवात्मा न कभी पैदा होता है, न कभी मरता है। 'यह जीवात्मा एक बार होकर फिर न होगा'—यह बात भी मिथ्या है। आत्मा अनुत्पन्न है, सदा रहनेवाला है और पुराना है, शरीर के नष्ट होने पर भी इसका नाश नहीं होता।

इससे पता लगा कि जीव न पैदा होता है, न मरता है, इसलिए जीवों में माता-पिता, भाई-बहिन, बेटा-पोता आदि सम्बन्ध असम्भव हैं। उत्पन्न होना और मरना यह शरीर का धर्म है, अतः जीव का शरीर के साथ सम्बन्ध होने का नाम जन्म और शरीर से सम्बन्ध-

विच्छेद का नाम मृत्यु है। जैसाकि—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ —गीता० २।२२

अर्थ—जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को उतारकर दूसरे नये वस्त्रों को पहन लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा पुराने शरीरों को छोड़कर अन्य नये शरीरों को धारण कर लेता है।

इससे स्पष्ट सिद्ध हो गया कि शरीर ही पैदा होते हैं और शरीर ही मरते हैं। माता-पिता पुत्र-पुत्रियों के शरीर को उत्पन्न करते हैं, आत्मा को नहीं। इसलिए माता-पिता, भाई-बहिन के सम्बन्ध आपस में शरीरों के हैं, जीवों के नहीं। जीव न किसी का माता-पिता है, न किसी का भाई-बहिन और पुत्र है, अतः जब तक जीवों का शरीरों से सम्बन्ध रहता है, तभी तक मनुष्यों के परस्पर माता-पिता, भाई-बहिन-पुत्र आदि के सम्बन्ध हैं। मरने के पश्चात् जीव तो अपने कर्मों के अनुसार दूसरे जन्म में चला जाता है और शरीर को भस्म कर दिया जाता है, फिर माता-पिता के सम्बन्ध किसके साथ बचे रहते हैं? इसलिए 'पितर' शब्द जीवितों के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है, मृतकों के लिए नहीं। पुत्र और पिता शब्द संस्कृत की 'पा रक्षणे' धातु से बनते हैं, अतः जो लोग अन्न से, ज्ञान से, बल से हमारी रक्षा करते हैं, वे सब पितर कहलाने के योग्य हैं। इस प्रकार माता-पिता, गुरु, आचार्य, साधु-संन्यासी, महात्मा, पण्डित, विद्वान्, राजा आदि-आदि जो हमारी शारीरिक, आत्मिक और व्यवस्था की दृष्टि से रक्षा करते हैं, वे सब हमारे पितर हैं, इसलिए वेदों में जहाँ कहीं भी पितर शब्द आता है, वहाँ पर उपर्युक्त जीवित पितरों की सेवा करना ही बताया है।

पोपजी—देखो, यजुर्वेद (१९।६०) में अग्नि से भस्म किये हुए और जल में बहाये हुए पितर मध्य द्युलोक में हमारे अन्न आदि से प्रसन्न हैं।

तोपजी—आपने तो पौराणिक गढ़े में गिरकर अपनी बुद्धि को चकनाचूर कर लिया है! श्रीमन्! अग्नि में भस्म या जल में बहाने का काम शरीरों के साथ किया जाता है। इनका हमारे अन्न से प्रसन्न होना सर्वथा मूर्खता की बात है, क्योंकि मरने के पश्चात् जब शरीरों को जला दिया अथवा पानी में बहा दिया तो उनमें अन्न ग्रहण करने की शक्ति ही असम्भव है और जीवों के लिए अग्नि में भस्म करना अथवा जल में बहाना शब्द प्रयुक्त ही नहीं हो सकते, क्योंकि जीव को अग्नि जला ही नहीं सकती जैसाकि गीता में कहा गया है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽ यं सनातनः॥ १४॥
—गीता० २।२३-२४

अर्थ—इस जीवात्मा को अस्त्र-शस्त्र काट नहीं सकते और न ही अग्नि इसे जला सकती है, न इसे पानी गला सकता है और न वायु इसे सुखा सकती है॥२३॥ यह जीव न काटने के योग्य है, न जलने, गलने और सूखने के योग्य है। वह सदा रहनेवाला, सब शरीरों में विद्यमान, स्थिर, अचल और सनातन है॥२४॥

इसलिए जब आत्मा जल ही नहीं सकता, फिर बतलाइए, आपके अन्न से कौन प्रसन्न होते हैं? अतः होश करो। बुद्धि से काम लो! आपके द्वारा प्रस्तुत मन्त्र में कहीं भी यह नहीं लिखा है कि ब्राह्मणों को भोजन कराने से मृतक पितरों की तृप्ति होती है, वरन् इस मन्त्र में तो जीते हुए पितरों के दीर्घायुष्य के लिए प्रार्थना की गयी है। देखिए—

येऽअग्निष्वात्ता येऽअनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति॥ —यजुः० १९।६०

अर्थ—जो अच्छे प्रकार अग्निविद्या के ग्रहण करने तथा जो अग्नि से भिन्न अन्य पदार्थविद्याओं को जाननेहारे वा ज्ञानी पितृलोग वा विज्ञान आदि प्रकाश के बीच अपने पदार्थ के धारणरूप क्रिया से आनन्द को प्राप्त होते हैं, उन पितरों के लिए स्वयं प्रकाशमान परमात्मा इस प्राणों को प्राप्त होनेवाले शरीर को कामना के अनुकूल समर्थ करे।

भावार्थ—मनुष्यों को परमेश्वर से ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए कि हे परमेश्वर! जो अग्नि आदि की पदार्थविद्या को यथार्थरूप से जानके उसमें प्रवृत्त होते और जो ज्ञान में तत्पर विद्वान् अपने ही पदार्थ के भोग से सन्तुष्ट रहते हैं, उनके शरीरों को दीर्घायु कीजिए।

बतलाइए, इसमें मृतकश्राद्ध का वर्णन कहाँ है? और अग्नि में जलाये हुए और पानी में बहाये हुए क्या आपकी रक्षा कर सकते हैं और क्या आपके भोजन को ग्रहण कर सकते हैं? प्रतीत होता है कि आपको 'अग्निष्वात्ता' शब्द से भ्रम हो गया है। श्रीमन्! अग्निष्वात्ता का अर्थ अग्नि में जलाया गया नहीं, अपितु अग्निविद्या को जाननेवाला है। यहाँ जीवितों का ही वर्णन है, मृतकों का नहीं। मनुस्मृति में लिखा है कि मनुजी के जो मरीचि आदि पुत्र शेष थे, उनकी उस सन्तान का नाम ही पितर है और वहाँ पर यह गिनाया गया है कि कौन-से पितर किसकी सन्तान हैं—

विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः॥ —मनु० ३।१९५

अर्थ—'सोमसद्' नामवाले पितर विराट् की सन्तान हैं और वे साध्यों के पितर हैं और 'अग्निष्वात्ता' नामवाले पितर मरीचि ऋषि की सन्तानें हैं और वे देवताओं के पितर हैं।

इस श्लोक से सिद्ध है कि अग्निष्वात्ता नाम अग्नि में जलाये हुओं का नहीं, वरन् अग्निविद्या में दक्ष और मरीचि ऋषि की सन्तान का नाम है और वे देवताओं के पितर अर्थात् विद्वानों की रक्षा करनेवाले हैं; और आपके पुराणों में तो और भी अनोखी बात लिखी हुई है। देखिए, शिवपुराण में कहा है कि जब ब्रह्मा और उसके पुत्र शारदा अर्थात् ब्रह्मा की पुत्री पर पिता और भाई अनुरक्त हो गये और शारदा की प्रार्थना पर महादेवजी ने सबको डाँटा तो ब्रह्माजी को लज्जा के कारण पसीना आ गया। इससे अग्निष्वात्ता पितर उत्पन्न हुए। देखिए, ब्रह्माजी स्वयं अपने मुख से स्वीकार करते हैं—

मच्छरीरात्तु घर्माम्भो यत्पपात द्विजोत्तम। अग्निष्वात्ताः पितृगणा जाता पितृगणास्ततः॥
—शिव० रुद्र० सती० २।३।४८

अर्थ—मेरे शरीर से पसीने के जो बिन्दु गिरे, इससे अग्निष्वात्त पितर और अन्य पितर भी उत्पन्न हुए।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि जीवित पितरों की सेवा का नाम ही श्राद्ध है; मृतकों के नाम से भोजन देने का नाम श्राद्ध नहीं है।

पोपजी—और ऋग्वेद [१०।१५।१४] तथा अथर्ववेद [१८।२।३५] में भी यही लिखा है कि अग्नि में जलाये गये या जो अग्नि में नहीं जलाये गये, अर्थात् पृथिवी में गाड़े गये हैं, वे द्युलोक के रहनेवाले हमारे दिये हुए अन्न आदि से प्रसन्न हों।

तोपजी—इन मन्त्रों में भी मृतक पितरों के नाम से ब्राह्मणों को भोजन कराने से पितरों की तृप्ति का वर्णन बिल्कुल नहीं है। इन मन्त्रों में भी अग्निविद्या तथा जल, वायु और पृथिवी की विद्याओं को जाननेवालों का वर्णन है, क्योंकि अग्नि में जलाये और भूमि में गाड़े गये शरीर अन्न से प्रसन्न नहीं हो सकते और जीवों को अग्नि में जलाने तथा भूमि में गाड़ने का सिद्धान्त मानना सर्वथा मूर्खता है, जैसाकि मैं गीता के श्लोकों से पूर्व ही सिद्ध कर

चुका हूँ। तनिक मन्त्रों का भी अवलोकन करें—

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व॥ —ऋ० १०।१५।१४

इस मन्त्र का अर्थ करने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि इस मन्त्र का भी वही अर्थ है जोकि पहले यजुर्वेद [१९।६०] के मन्त्र का किया जा चुका है और इसका भी वही उत्तर है जोकि उपर्युक्त मन्त्र का दिया जा चुका है। अब इससे आगे अथर्ववेद का मन्त्र देखिए—

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
त्वं तान्वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम्॥ —अथर्व० १८।२।३५

अर्थ—जो अग्नि की भाँति तीव्र ताप से और स्वयं अपने तेज से तेजस्वी और जो अग्नि से भिन्न जल, वायु और पृथिवी आदि पदार्थों की भाँति शीतल स्वभाववाले ज्ञान के प्रकाश से आनन्द लूट रहे हैं, हे पूर्णज्ञानवान्, पूर्णविद्यायुक्त परमेश्वर! यदि आप इन सबको अपनाएँ तो वे आपको प्राप्त होकर आनन्द का लाभ कर सकते हैं।

इन मन्त्रों में कहीं भी मृतक पितरों को तृप्त करने का वर्णन नहीं है। प्रतीत होता है कि आपको 'अग्निदग्धा' शब्द से भ्रम पड़ा है, जोकि अग्निष्वात्ता शब्द का रूपान्तर है जिसके सम्बन्ध में हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि अग्निष्वात्ता जीवित पितरों का ही नाम है, मृतकों का नहीं। इसके अतिरिक्त मनुस्मृति में लिखा है कि—

अग्निदग्धाऽनग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत्॥ —मनु० ३।१९९

अर्थ—अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त और सौम्य—ये सब ब्राह्मणों के ही पितर होते हैं।

चलो छुट्टी हुई। अग्निदग्ध और अग्निष्वात्त का अर्थ आप एक मिनट के लिए कुछ और मान भी लें, परन्तु वे तो पितर ही ब्राह्मणों के हैं। दूसरों पर क्या आपत्ति पड़ी है कि उन्हें तृप्त करने के लिए ब्राह्मणों को भोजन कराएँ, अतः अब भी होश में आओ और मानो कि जो अग्निविद्या में चतुर हैं उन्हीं का नाम अग्निष्वात्त और अग्निदग्ध है तथा जो आकाश, वायु, जल और पृथिवी की विद्या में चतुर हैं उनका नाम अनग्निदग्ध और अनग्निष्वात्त है, क्योंकि इन विद्याओं से वे हमारी रक्षा करते हैं, इसलिए उनका नाम पितर है, अतः जीवित विद्वानों का नाम ही पितर है, मृतकों का नहीं, जैसाकि अथर्ववेद में वर्णन भी है—

देवाः पितरः पितरो देवाः॥ —अथर्व० ६।१२३।३

अर्थ—देवों अर्थात् विद्वानों, साधुओं, संन्यासियों, महात्माओं का नाम पितर है और पितरों अर्थात् ज्ञान, बल और अन्न आदि से रक्षा करनेवालों का नाम ही देव है।

इसी बात का समर्थन मनुस्मृति में किया गया है—

वसून्वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी॥ —मनु० ३।२८४

अर्थ—वसु अर्थात् पच्चीस वर्ष के ब्रह्मचारियों का नाम पितर है और रुद्र अर्थात् छत्तीस वर्ष के ब्रह्मचारियों का नाम पितामह है, और आदित्य अर्थात् अड़तालीस वर्ष के ब्रह्मचारियों का नाम प्रपितामह है, यह प्राचीन श्रुति है, अर्थात् यह ईश्वरीय ज्ञान वेद के अनुसार है।

बस, इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि जीते हुओं का नाम ही पितर है और उनकी सेवा का नाम ही श्राद्ध-तर्पण है। मृतकों के नाम से ब्राह्मणों को भोजन कराना और उससे

मृतक पितरों की तृप्ति मानना वेद और शास्त्रों के विरुद्ध है।

पोपजी—अथर्ववेद [१८।२।३४] में स्पष्ट लिखा है कि मरने के पश्चात् जिन पितरों को भूमि में गाड़ दिया जाता है और जो अग्नि में जला दिये जाते हैं और जो युधिष्ठिर आदि की भाँति इसी शरीर से स्वर्गलोक चले गये हैं, हे अग्ने! इन सब पितरों को दी हुई हवि खाने के लिए इस पितृकर्म में बुलाओ।

तोपजी—इस मन्त्र में भी मृतक पितरों का कहीं नाम व चिह्न भी नहीं है और न ही इस मन्त्र में श्राद्ध शब्द ही विद्यमान है, अपितु इस मन्त्र में तो यजमान अपने पुरोहित को कहता है कि पितरों अर्थात् जीवित विद्वानों, महात्माओं को खाने के पदार्थ उपस्थित करो। देखिए, तनिक मन्त्र को ध्यानपूर्वक पढ़कर विचार करें—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा य चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥ —अथर्व० १८।२।३४

अर्थ—यजमान पुरोहित से कहता है कि—हे विद्वन्! जो पदार्थ भूमि में गाड़े हुए होते हैं, अर्थात् (आलू, शकरकन्द, मूली, गाजर आदि) और जो पदार्थ बोये जाते हैं अर्थात् गेहूँ, चावल आदि और जो पदार्थ भूनकर खाये जाते हैं (चने, मक्की, धान आदि) और जो पदार्थ बाहर निकाले जाते हैं, अर्थात् सिंघाड़े, कमलगट्टे आदि—इन सब पदार्थों को प्रीतिभोज का खाना खिलाने के लिए साधु, संन्यासी, महात्मा, वृद्धों आदि पितरों के लिए लाकर दे।

इस मन्त्र में जो 'परोप्ता' शब्द है, इसका अर्थ बीजे जानेवाले पदार्थ हैं और बीजा जाना अन्नों, शाक-भाजी आदि का ही सम्भव है, अतः इस मन्त्र को मृतक पितरों पर किसी अवस्था में भी आरोपित नहीं किया जा सकता। इस मन्त्र से भी स्पष्ट सिद्ध है कि वेदों में जीवित वृद्धों की ही सेवा आदि का विधान है, मृतक पितरों की नहीं।

पोपजी—महाशय! बतलाइए, इन सब वेदमन्त्रों में जब मरे हुए पितरों का अन्न आदि से श्राद्ध करना लिखा है तो आपके मनमाने सिद्धान्त के अनुसार जीते हुए पितरों का श्राद्ध वेदों के विरुद्ध नहीं तो और क्या है? जब वेदों के सैकड़ों मन्त्र मृत पितरों के श्राद्ध की ही आज्ञा देते हैं, तब वेदों के अनुसार यदि पुराणों ने मृत पितरों के श्राद्ध की आज्ञा दे दी तो इसमें कौन-सी बुराई है।

तोपजी—हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि इन वेदमन्त्रों में मृतक श्राद्ध की गन्ध तक भी नहीं है और पितर शब्द जीवितों के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है, मृतकों के लिए नहीं; और चारों वेदों में जहाँ-जहाँ भी पितर शब्द आता है, वह जीवितों के लिए ही आता है, अतः मृतक-श्राद्ध वेदों के विरुद्ध है। चूँकि पुराणों में मृतक पितरों के नाम से ब्राह्मणों को भोजन कराने से मृतक पितरों की तृप्ति का वर्णन है, अतः अष्टादश पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

पोपजी—स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश १८७५ में पृष्ठ १४९ में मरे हुए पितरों के लिए ही मांस के पिण्ड बनाकर श्राद्ध करने की आज्ञा दी हुई है।

तोपजी—जैसे वाममार्गी लोगों ने आर्यजाति के अन्य पवित्र ग्रन्थों रामायण, महाभारत और मनुस्मृति आदि में मांसभक्षण आदि के श्लोक डालकर उन्हें भ्रष्ट कर दिया है, वैसे ही स्वामीजी के आरम्भ में बनाये हुए सत्यार्थप्रकाश और संस्कार-विधि में भी धूर्त, वाममार्गी, पौराणिक लोगों ने अपने मनमाने सिद्धान्त मृतक-श्राद्ध और मांस-पिण्ड आदि सम्मिलित कर दिये थे, परन्तु स्वामीजी ने पता लगते ही विज्ञापन द्वारा उनका खण्डन कर दिया और दोनों पुस्तकों को अप्रामाणिक ठहराकर अग्नि की भेंट कर दिया और इन दोनों

ग्रन्थों का संशोधन करके इन्हें वैदिक यन्त्रालय, अजमेर में मुद्रित कराय। इसलिए सन् १८७५ का सत्यार्थप्रकाश आर्यसमाज के लिए अप्रामाणिक और अग्नि में भेंट करने के योग्य है। इस रद्द की हुई पुस्तक का प्रमाण देना सरासर बेहूदापन है। हाँ, श्राद्धों में मांस के पिण्ड देना सनातनधर्म के ग्रन्थों में विद्यमान है, जैसाकि मांसभक्षण के प्रकरण में हम मनुस्मृति के सन्दर्भ से सिद्ध कर आये हैं।

पोपजी—और स्वामीजी ने संस्कार-विधि के समावर्तनप्रकरण में गुरुकुल में बैठकर दक्षिण की ओर मुख करके, यज्ञोपवीत बदलकर, घुटने भूमि पर टेककर गुरुकुल में एक अञ्जलि पानी देने की आज्ञा यूँ दी है कि—**'ओं पितरः शुन्धध्वम्'**—इस मन्त्र से तर्पण करना लिखा है। महाशय! क्या यह तर्पण जीते हुए पितरों का है? यदि स्वामीजी को जीवित पितरों का श्राद्ध व तर्पण करना अभीष्ट होता तो वे यज्ञोपवीत बदलकर दक्षिण की ओर मुख करके घुटने भूमि पर टेककर गुरुकुल में एक अञ्जलि पानी देने की आज्ञा न देते। क्या स्नातकों के घर में बैठे हुए जीवित पितर गुरुकुल में एक अञ्जलि पानी देने से तृप्त हो जाते हैं? और क्या आर्यसमाजियों के पितर भूमि में धँसे रहते हैं, जोकि भूमि पर डाले हुए जल से तृप्त हो जाते हैं?

तोपजी—आपको झूठ बोलने का असाध्य रोग हो चुका है। संस्कार-विधि में न तो श्राद्ध शब्द है और न ही तर्पण की चर्चा है, न कहीं यज्ञोपवीत बदलने की आज्ञा है और न भूमि पर घुटने टेकने की आज्ञा दी है। यह सब पोपजी के अपने ही अपवित्र मस्तिष्क का आविष्कार है। संस्कार-विधि में यह पाठ है—

''अपसव्य और दक्षिणमुख होके **'ओं पितरः शुन्धध्वम्'** इस मन्त्र से जल भूमि पर छोड़ दे'' जिसके स्पष्ट अर्थ ये हैं कि जब ब्रह्मचारी का समावर्तन-संस्कार होने लगे तो यज्ञशाला में जो पितर अर्थात् आचार्य, गुरु, पण्डित, साधु, महात्मा, वृद्ध बैठे हों उनके बायीं ओर खड़ा होकर और दायीं ओर अर्थात् उनकी ओर मुख करके हाथ में जल लेकर उनसे प्रार्थना करे कि महाराज! आप लोगों की कृपा से मैं अपने आगामी जीवन को इस जल की भाँति पवित्र और अपने स्वभाव को इस जल की भाँति शीतल बनाऊँगा। आप भी समय-समय पर अपने पवित्र उपदेश से हमारी सन्तप्त आत्माओं को इस जल की भाँति पवित्र और शीतल करते रहें। यह कहकर जल को पृथिवी पर छोड़ दे।

अब आप ही बतलाएँ, इस पाठ में मृतक पितरों के श्राद्ध का वर्णन कहाँ है? आर्यसमाजियों के जीवित पितर तो वहीं विद्यमान होते हैं और जल केवल प्रतीक के रूप में हाथ में लेकर भूमि पर डाला जाता है। हाँ, सनातनधर्मियों के पितर अवश्य भूमि में धँसे होते होंगे, कदाचित् बायें भी जाते होंगे तभी तो उपर्युक्त वेदमन्त्र में सनातनधर्म के दृष्टिकोण से प्रार्थना है कि—हे अग्ने! जो हमारे पितर भूमि में गाड़े गये हैं, आदि-आदि। इसलिए मिश्रजी महाराज! होश करो, अब भी सँभल जाओ। अब युग खीर को पितरों तक पहुँचाने के लिए आपके पेटरूपी लैटर बक्स (Letter Box) में डालने के लिए तैयार नहीं है।

पोपजी—अस्तु। श्राद्ध व तर्पण तो मरे हुए ही पितरों का करना वेदों और शास्त्रों में बतलाया गया है। लाला साहब! गरुडपुराण में बतलाये हुए मृतक पितरों का श्राद्ध करना वेदों के अनुकूल ही है।

तोपजी—हम सिद्ध कर चुके हैं कि वेद और शास्त्रों में मृतक पितरों के श्राद्ध का वर्णन नहीं है और न ही वेदों में **'मृतकश्राद्ध'** शब्द विद्यमान है और न ही मृतक पितरों पर पिता शब्द लागू हो सकता है, अपितु जीवित पितरों की सेवा ही श्राद्ध और तर्पण कहा जा सकता है, अतः गरुडपुराण में जो मृतकों का श्राद्ध लिखा है वह वेद और शास्त्रों के सर्वथा विरुद्ध

है और स्वयं गरुडपुराण भी इस बात को स्वीकार करता है कि अपने हाथ से दिया हुआ दान ही फल देनेवाला होता है, किसी दूसरे का दिया हुआ दान मरनेवालों को लाभदायक नहीं हो सकता। लीजिए, अवलोकन कीजिए—

आत्मनश्च शुभं कर्म कर्त्तव्यं पारलौकिकम्॥ ३४॥
विमुक्तः सर्वदुःखेभ्यो येनाञ्जो दुर्गतिं तरेत्।
भ्रातरः कस्य के पुत्राः स्त्रियोऽपि स्वार्थकोविदा॥ ३५॥
न कार्यस्तेषु विश्रम्भः स्वकृतं भुज्यते यतः॥ ३६॥ —गरुडपुराण प्रेतखण्ड ९.३४-३६

अर्थ—परलोक के लिए दान आदि शुभ कर्म स्वयं ही करने चाहिए, जिससे मनुष्य सब दुःखों से छूटकर दुर्गति से तर जाता है। कौन किसके भाई हैं, किसके पुत्र हैं, कौन किसकी स्त्री है—ये सब स्वार्थसाधन में चतुर हैं। इनमें विश्वास नहीं करना चाहिए। मनुष्य अपने ही किये हुए दान आदि कर्मों का फल भोगता है।

इस प्रकार के और भी सैकड़ों प्रमाण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि मनुष्य को अपने ही कर्मों का फल मिलता है, किसी और के कर्मों का नहीं, अतः मृतक पितरों की तृप्ति के लिए श्राद्ध आदि कर्म व्यर्थ और धोखा देना ही है।

पोपजी—गरुडपुराण में जो पुतला-दहन का वर्णन है वह किसी बुराई का कारण नहीं हो सकता। इसमें स्पष्ट लिखा है कि जो व्यक्ति घर से चला जाए और उसके मरने का विश्वास हो जाए, तब घर में इसका पुतला बनाकर जला दिया जाए और उसके क्रियाकर्म किये जाएँ।

तोपजी—बुराई क्यों नहीं? यह तो दिन-दहाड़े जनता पर डाका डालने का पर्यायवाची है और नितान्त धोखा देना और ठगी है। यदि कोई व्यक्ति खो जाए तो उसके बहाने घरवालों को लूटना और यदि वह फिर मिल जाए तो प्रायश्चित्त के बहाने से उसे लूटना। इस लूट का भी कुछ ठिकाना है। देखिए, इस लूट का वर्णन गरुडपुराण प्रेतखण्ड, अध्याय ४ में श्लोक १०२ से १७० तक यूँ किया गया है—

"गरुड़ ने श्रीकृष्ण से पूछा—महाराज! यदि कोई मनुष्य परदेश गया हो और उसकी हड्डियाँ भी न मिल सकें, उसके मोक्ष की क्या विधि है? कृष्णजी ने उसके मोक्ष का निम्न उपाय बतलाया—एक काले हिरन की खाल को भूमि पर बिछा दिया जाए, उस खाल पर, उस व्यक्ति का जो परदेश गया हुआ है और जिसके मरने का तुम्हें पूर्ण विश्वास हो चुका है, पुतला बना दिया जाए। ढाक के पत्तों की ३६० डण्डियाँ मँगवाई जाएँ। उन्हें हड्डियों के स्थान पर प्रयुक्त किया जाए। उन डण्डियों को उस पुतले के शरीर में पृथक्-पृथक् इस प्रकार लगाया जाए कि चालीस सिर में रक्खी जाएँ और दस ग्रीवा के स्थान पर लगाई जाएँ, बीस छाती में, बीस पेट में, दोनों हाथों में एक सौ और कमर में बीस लगानी चाहिएँ। एक सौ तीस दोनों जाँघों में, चार लिङ्ग में और छह दोनों अण्डकोशों में और दस पाँव की अँगुलियों में लगाई जाएँ। इस प्रकार हड्डियों के स्थान में ढाक के पत्तों की डण्डियाँ लगाकर सिर के स्थान पर नारियल लगा दे और तालु के स्थान पर तूंबा रक्खे। मुख में पाँच रत्न रक्खे और जिह्वा के स्थान पर केले की फली लगा देवे, आँतों में कमल की नली लगा दे और नाक में भी नली और बालू रेत लगा दे। चर्बी के स्थान पर मिट्टी, हड़ताल और मैंसिल लगा दे। मणि के स्थान पर पारा रक्खे और गुदा के स्थान पर पीतल लगा दे तथा सारे शरीर पर जौ का आटा गूँधकर लगा दिया जाए, रक्त के स्थान पर शहद भर दिया जाए, बालों के स्थान पर बड़ की जटा और त्वचा के स्थान पर मृग की खाल लगाई जाए। कानों के स्थान पर ताल के पत्ते, स्तनों के स्थान पर रत्तियाँ, नाभि के स्थान पर कमल

का डोडा लगाया जाए। दोनों अण्डकोशों के स्थान पर बेंगन और लिङ्ग के स्थान पर गाजर लगाई जाए तथा रेशम का वस्त्र पहनाया जाए। जब पुतला तैयार हो जाए तब इसका दाहकर्म करके क्रियाकर्म किया जाए। ब्राह्मणों को खूब दान दिया जाए, तब उसका मोक्ष हो जाएगा और यदि वह व्यक्ति जिसे मृतक समझकर यह सब किया गया है, वापस आ जाए तो उसे एक घी के कुण्ड में डुबकी लगवा दी जाए और इसके जातकर्म से आरम्भ करके सब संस्कार कराये जाएँ और पन्द्रह या बारह वर्ष के पश्चात् इसकी प्रथम पत्नी का इससे पुनर्विवाह कराया जाए, तब उसका प्रायश्चित्त हो सकता है। ''

इसका नाम है लूट। संसार में इससे बढ़कर ठगी, धोखेबाज़ी, बेईमानी, डाका डालना और लूट क्या हो सकती है और इससे बढ़कर पाप और क्या हो सकता है?

पोपजी—महाशय! वेदों, धर्मशास्त्रों और पुराणों में मरे हुए पितरों के श्राद्ध का ही वर्णन है। यदि इस विषय में ज्ञान प्राप्त करना हो तो 'सनातनधर्म रक्षक' पुस्तक का अवलोकन करें, आपकी सन्तुष्टि हो जाएगी कि पुराण वेदों के अनुकूल हैं।

तोपजी—हम सिद्ध कर चुके हैं कि वेदों में मृतकश्राद्ध का वर्णन नहीं है और पुराणों में मृतकश्राद्ध का वर्णन किया गया है, अतः पुराण वेदों के विरुद्ध हैं। मृतकश्राद्ध के विरुद्ध स्वयं पुराणों में ही प्रमाण विद्यमान हैं, जिन्हें आपकी सन्तुष्टि के लिए यहाँ लिखा जाता है—

१. माता-पिता, पुत्र, स्त्री कोई सहायता नहीं कर सकते। जीव अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता है। —गरुडपुराण, प्रेतखण्ड ५।११५[१]

२. **अधिकारो यदि नास्ति यदि नास्ति च निश्चयः।**
जीविते सति जीवाय दद्याच्छ्राद्धं स्वयं नरः॥ —वही ८।१०

अर्थ—यदि अधिकार न हो और श्राद्ध में विश्वास न हो तो जीते हुए ही जीते हुए के लिए स्वयं श्राद्ध कर लेना चाहिए।

३. गरुडपुराण प्रेतखण्ड अध्याय १२ श्लोक २१ से २७ तक में लिखा है कि—जीव को अपने कर्मों का फल अवश्य मिलता है।

४. गरुडपुराण प्रेतखण्ड अध्याय १३, श्लोक २ में स्पष्ट लिखा है कि—

अथ वक्ष्यामि संक्षेपात्क्षयाहादौर्ध्वदेहिकम्। स्वहस्तेनैव कर्तव्यं मोक्षकामैस्तु मानवैः॥

अर्थ—मैं संक्षेप में कहता हूँ कि मोक्ष की इच्छा करनेवाले को परलोक के लिए सब काम अपने हाथ से करने चाहिएँ।

५. गरुडपुराण प्रेतखण्ड अध्याय १३, श्लोक २५ में लिखा है कि—

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो, यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान् सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

अर्थ—जब तक यह शरीर स्वस्थ और रोगों से रहित है, जब तक बुढ़ापा दूर है; जब तक इन्द्रियों की शक्ति मारी नहीं गयी है और जब तक आयु क्षीण नहीं हुई है, विद्वान् को तभी तक अपनी आत्मा की भलाई के लिए भारी प्रयत्न और पुरुषार्थ करना चाहिए, क्योंकि भवन में आग लग जाने पर कुआँ खोदने से क्या लाभ?

६. सीता के विवाह में राजा जनक ने श्राद्ध किया। —वा० रा० बालकाण्ड ७२।२१

७. महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय ९१ में युधिष्ठिर ने भीष्म से प्रश्न किया कि संसार

---

१. **क्व माता क्व पिता क्व जाया क्व सुता सुहृत्। स्वकर्मोपार्जितं भुंक्ष्व मूर्ख यातश्चिरं पथि॥**

में श्राद्ध कैसे आरम्भ हुए? इसपर भीष्मजी ने कहा कि—एक निमि नाम का ऋषि था। उसके एक पुत्र था, जिसका नाम श्रीमान् था। वह मर गया। उसे पुत्र मरने का बहुत शोक हुआ। इस शोक में उसने श्राद्ध की कल्पना की और जो भोजन पुत्र को प्यारे थे, वे अमावास्या के दिन पुत्र के नाम से ब्राह्मणों को खिला दिये और इस अवसर पर पुत्र के नाम से पिण्डदान किया, परन्तु जब वह श्राद्ध कर चुका तब—

तत्कृत्वा स मुनिश्रेष्ठो धर्मसंकरमात्मनः। पश्चात्तापेन महता तप्यमानोऽभ्यचिन्तयत्॥ १६॥
अकृतं मुनिभिः पूर्वं किं मयेदमनुष्ठितम्। कथं नु शापेन न मां दहेयुर्ब्राह्मणा इति॥ १७॥

अर्थ—वह मुनि इस प्रकार धर्म के विरुद्ध कार्य करके बाद में बहुत चिन्तित होकर बहुत ही दुःखी हो पछताने लगा॥१६॥ यह मैंने क्या कार्य कर डाला, जोकि मुनि लोगों ने कभी भी नहीं किया था? कहीं ऐसा न हो कि ब्राह्मण लोग शाप देकर मुझे भस्म कर दें॥१७॥

निष्कर्ष यह कि पुराणों में इस प्रकार के सैकड़ों प्रमाण विद्यमान हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि मृतकश्राद्ध वेद के विरुद्ध है और युक्ति तथा तर्क के भी विरुद्ध है।

७. पुराणों में सस्ती मुक्ति

सिद्धान्त—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ —यजुः० ३१। १८

अर्थ—हे जिज्ञासु पुरुष! मैं जिस बड़े-बड़े गुणों से युक्त, सूर्य के तुल्य प्रकाशस्वरूप, अन्धकार व अज्ञान से पृथक् वर्त्तमान, स्वस्वरूप से सर्वत्र पूर्ण परमात्मा को जानता हूँ, उसी को जानके आप दुःखदायी मरण को उल्लङ्घन कर जाते हो, किन्तु इससे भिन्न मार्ग अभीष्ट स्थान मोक्ष के लिए विद्यमान नहीं है।

परिणाम—परब्रह्म परमात्मा को जानकर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है और कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयः सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥
—यजुः० ४०। १४

अर्थ—जो मनुष्य ज्ञान और कर्म दोनों को इकट्ठा ही जानता है, वह कर्मों से मृत्यु को तैरकर ज्ञान से मोक्ष को भोगता है।

निष्कर्ष—मोक्ष न केवल ज्ञान से मिलता है और न केवल कर्मों से मिलता है, अपितु जो मनुष्य परमात्मा और परमात्मा के ज्ञान वेद को भली-भाँति जानकर उसके अनुसार कर्म करता है, वही मोक्ष को प्राप्त होता है और कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है।

चूँकि पुराणों में साधारण साधनों—गङ्गा-स्नान, व्रत, तिलक, रुद्राक्ष-धारण आदि-आदि से मोक्ष मिलना लिखा है, अतः पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

—:०:—

पोपजी—लाला साहब! सनातनधर्म भी ईश्वर के ज्ञान को ही मुक्ति का साधन मानता है। पुराणों में इस वेद की आज्ञा का कहीं भी खण्डन नहीं है, अपितु पुराणों के अधिकांश भाग में ईश्वरभक्तिरूप मुक्ति प्राप्त करने के ही साधनों का वर्णन है। गङ्गा-स्नान या तिलक लगाना आदि ईश्वरभक्ति के साधन होने के कारण ही मुक्ति के साधन बतलाये गये हैं।

तोपजी—यदि पौराणिक लोग ईश्वर के ज्ञान को ही मुक्ति का साधन मानते तो गङ्गा-स्नान, शिवरात्रि-व्रत आदि से मुक्ति होना क्यों मानते? पुराणों में स्पष्टरूप में वैदिक आज्ञा का खण्डन है, क्योंकि वेद तो कहते हैं कि ईश्वर के ज्ञान और कर्म बिना मुक्ति नहीं हो सकती और अन्य कोई मार्ग मुक्ति का नहीं है, परन्तु पुराणों में अत्यन्त सरल उपायों से मोक्ष-प्राप्ति बतलाई गयी है, जैसाकि ब्रह्मवैवर्तपुराण में लिखा है—

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि। मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥

—ब्रह्मवै० प्रकृति० १०।७१

अर्थ—जो कोई मनुष्य सैकड़ों योजन दूर से भी 'गङ्गा-गङ्गा' ऐसा उच्चारण करता है, वह सब पापों से छूट जाता है और विष्णुलोक को प्राप्त हो जाता है।

पुराणों में ईश्वरभक्तिरूप मुक्ति का वर्णन नहीं, अपितु साक्षात् मुक्ति होने का ही वर्णन है, जैसाकि शिवपुराण कोटिरुद्रसंहिता अध्याय २३ में काशी में रहने और मरने से ही मुक्ति बतलाई है—

स्वेदजश्चाण्डजो वापि ह्युद्भिज्जोऽथ जरायुजः। मृतो मोक्षमवाप्नोति यथात्र न तथा क्वचित्॥ १७॥
ज्ञानापेक्षा न चात्रैव भक्त्यपेक्षा न वै पुनः। कर्मापेक्षा न देव्यत्र दानापेक्षा न चैव हि॥ १८॥
संस्कृत्यपेक्षा नैवात्र ध्यानापेक्षा न कर्हिचित्। नामापेक्षार्चनापेक्षा सुजातीनां तथात्र न॥ १९॥
मम क्षेत्रे मोक्षदे हि यो वा वसति मानवः। यथा तथा मृतः स्याच्चेन्मोक्षमवाप्नोति निश्चितम्॥ २०॥

अर्थ—स्वेदज—मच्छर आदि, अण्डज—पक्षी आदि, उद्भिज्ज—वृक्षादि और जरायुज—मनुष्य और पशु आदि जैसे यहाँ—काशी में मरकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं, वैसे और कहीं नहीं॥१७॥ यहाँ पर मोक्ष के लिए न ज्ञान की आवश्यकता है और न ही भक्ति की आवश्यकता है। हे देवि! यहाँ कर्मों की भी कोई आवश्यकता नहीं और मोक्ष-प्राप्ति के लिए यहाँ दान की भी आवश्यकता नहीं है॥१८॥ न यहाँ संस्कारों की आवश्यकता है और न ही यहाँ पर ध्यान की आवश्यकता है, न यहाँ पर मोक्ष के लिए नाम जपने की आवश्यकता है और न ही किसी की पूजा करने की आवश्यकता है॥१९॥ मेरे मोक्ष देनेवाले इस क्षेत्र काशी में जो भी निवास करता है, जैसे-कैसे भी वह मर जाए, वह निश्चितरूप से मोक्ष को प्राप्त करता है॥२०॥

कहिए महाराज! शिवपुराण ने तो यहाँ पर आपकी सारी शेख़ी (हेकड़ी) किरकिरी कर डाली। यहाँ ज्ञान, भक्ति, कर्म, दान, संस्कार, ध्यान, नाम, पूजा आदि किसी भी साधन को मुक्ति के लिए आवश्यकता नहीं बतलाई, केवल काशी में निवास करना और मरना ही मुक्ति के लिए पर्याप्त है। अब तो सन्देह का कोई अवकाश नहीं रहा कि पुराणों में वेदों के उपर्युक्त लेख का प्रबल खण्डन है, इसलिए पुराण वेद के विरुद्ध हैं।

पोपजी—गङ्गा-स्नान से आत्मा का शुद्ध होना ऋग्वेद में भी माना है और शास्त्रों में गङ्गा को पतितपावनी माना गया है। देखो—ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त १६१, मन्त्र ९ और अथर्ववेद काण्ड १८, सूक्त ४, मन्त्र ७ में स्पष्ट लिखा है कि गङ्गा आदि तीर्थों में जाकर स्नान करने से पुरुष को वह फल मिलता है जोकि कई प्रकार के यज्ञों, साधनों और तपस्याओं से भी कठिनता से मिला करता है, वरन् संसाररूप समुद्र से मनुष्य तर जाता है।

तोपजी—ऋग्वेद के किस मन्त्र में गङ्गा-स्नान से आत्मा का शुद्ध होना माना है, तनिक वेद का मन्त्र तो प्रस्तुत कर दिया होता और कौन-सा धर्मशास्त्र गङ्गा को पतितपावनी बताता है, तनिक उसका भी सन्दर्भ अङ्कित कर दिया होता। बिना प्रमाण के ही वेदों और शास्त्रों का नाम लेकर सटल्लेबाजी करना सनातनधर्म का ही काम है। वेद तो ज्ञान से ही आत्मा

की शुद्धि मानता है। वही बात मनुजी महाराज मनुस्मृति में सव्याख्या वर्णन करते हुए कहते हैं—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

—मनु० ५।१०९

अर्थ—जल से स्नान करने से शरीर शुद्ध होता है, मन सत्य बोलने से शुद्ध होता है, आत्मा विद्या और तप से शुद्ध होता है तथा बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।

मनुस्मृति में एक और भी श्लोक आता है जोकि गङ्गा जाने का निषेध करता है—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः। तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥

—मनु० ८।९२

अर्थ—यम वैवस्वत नामवाला देव अर्थात् परमात्मा जो तेरे हृदय में विद्यमान है, यदि उसके साथ तेरा मतभेद नहीं है तो तुझे गङ्गा और कुरुक्षेत्र में जाने की आवश्यकता नहीं है।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि यदि उस परमात्मा से तेरा मतभेद है, तो भी गङ्गा और कुरुक्षेत्र जाना व्यर्थ है। यद्यपि यह श्लोक पौराणिक काल का प्रक्षेप है, परन्तु फिर भी यह मोक्ष के लिए गङ्गा और कुरुक्षेत्र में जाने का खण्डन करता है। इसी बात को कबीरजी इस रूप में कहते हैं—

कबीरा गङ्गा तीर जो घर करे पीवे निर्मल नीर।
बिन भक्ति मुक्ति नहीं होवे कह गये भक्त कबीर॥

अब आपके दिये हुए वेदमन्त्रों की भी तनिक पड़ताल करते हैं कि उनका उद्धरण देने में आपने कितनी ईमानदारी से काम लिया है। सर्वप्रथम ऋग्वेद के मन्त्र को लीजिए—

आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्।
वर्धयन्तीं बहुभ्यः प्रैको अब्रवीदृता वदन्तश्चमसाँ अपिंशत॥ —ऋ० १।१६१।९

अर्थ—हे मनुष्यो! जैसे एक पुरुष 'संयुक्त पृथिवी आदि पदार्थों में जल अधिक हैं', ऐसा कहता है और दूसरा 'अग्नि अधिक है'—ऐसा उत्तमता से कहता है तथा कोई बहुत पदार्थों में बढ़ी हुई भूमि को अधिक बतलाता है, इसी प्रकार सत्य बातों को कहते हुए सज्जन तुम मेघों के समान पदार्थों को अलग-अलग करो।

भावार्थ—इस संसार में स्थूल पदार्थों के मध्य कोई जल को अधिक, कोई अग्नि को अधिक और कोई भूमि को बड़ा बताते हैं, परन्तु स्थूल पदार्थों में भूमि ही अधिक है, इस प्रकार सत्य विज्ञान से मेघ के अवयवों का ज्ञान उसके समान सब पदार्थों को अलग-अलग कर सिद्धान्तों की सब परीक्षा करें। इस काम के बिना यथार्थ पदार्थविद्या को नहीं जान सकते।

बतलाइए, इस मन्त्र में गङ्गा और उसमें स्नान करने से फल मिलने का वर्णन कहाँ है? इसके पश्चात् अथर्ववेद के मन्त्र पर भी तनिक विचार करें—

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त॥

—अथर्व० १८।४।७

अर्थ—तैरने के साधनों (शास्त्रों या नौकाओं) द्वारा मनुष्य बहुत गतियोंवाली बड़ी आपत्तियों या नदियों को पार करते हैं, जिससे यज्ञ करनेवाले धर्मात्मा, शुभ कर्म करनेवाले मनुष्य चलते हैं—ऐसा निश्चय है। वहाँ (संसार में) यजमान के लिए स्थान धर्मात्माओं ने

दिया है, जबकि दिशाओं को सत्तावाले प्राणियों ने समर्थ बनाया है।

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जैसे मनुष्य लोग नौकाओं और जलपोतों (जहाज़ों) आदि के द्वारा बड़ी भयङ्कर नदियों और समुद्र आदि को तैर जाते हैं, इसी प्रकार धर्मात्मा लोग भी यज्ञ और शुभ कर्मों के द्वारा संसार की सारी आपत्तियों को तर जाते हैं।

इस मन्त्र में भी गङ्गा-स्नान और उससे फल मिलने का कोई भी वर्णन नहीं है। जैसे ऋग्वेद के मन्त्र में केवल 'आप:'=जल शब्द को देखकर आपको भ्रम हो गया, वैसे ही इस मन्त्र में केवल तीर्थ शब्द को देखकर भ्रम हो गया है; परन्तु तीर्थ के अर्थ गङ्गा आदि नदियों के नहीं हैं, अपितु तीर्थ का अर्थ है—तराने का साधन, नदियों से पार उतरने के साधन नौका आदि को तीर्थ कहा जा सकता है और संसाररूप समुद्र से तरानेवाले यज्ञ, तप, ज्ञान आदि को तीर्थ कहा जा सकता है, क्योंकि वे संसाररूप दु:खों के सागर से तरा देते हैं। जैसे शिवपुराण में सत्य को ही तीर्थ कहा गया है—

अगाधे विपुले सिद्धे सत्यतीर्थे शुचिह्रदे। स्नातव्यं मनसा युक्तं स्थानं तत् परमं स्मृतम्॥

—शिव० उमासं० १२।३४

अर्थ—मनुष्यों को बहुत गहरे, बड़े और सिद्धियों से भरे हुए सत्यरूपी तीर्थ तथा पवित्रतारूपी सरोवर में मानसिक स्नान करना चाहिए, वह ही श्रेष्ठ स्थान समझने योग्य है।

सर्वेषामेव तीर्थानां क्षान्तिः परमपूजिता। तस्मात्पूर्वं प्रयत्नेन क्षान्तिः कार्या क्रियासु वै॥

—भविष्य० ब्राह्म० १७१।४७

अर्थ—सब तीर्थों में शान्तिरूपी तीर्थ सर्वोत्तम है, अत: सब कामों में सर्वप्रथम, प्रयत्नपूर्वक शान्ति धारण करनी चाहिए।

यत्स्नातं ज्ञानसलिलैः शीलभस्मप्रमार्जितम्। तत्पात्रं सर्वपात्रेभ्य उत्तमं परिकीर्तितम्॥

—भविष्य० ब्राह्म० १८७।७९

अर्थ—जो ज्ञान के जलों से स्नान किया हुआ है और शील की भस्म से मँजा हुआ है, वह पात्र सब पात्रों में उत्तम गिना जाता है।

आदि-आदि—स्मृतियों और पुराणों में सैकड़ों प्रमाण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि जल-स्थल तीर्थ नहीं, अपितु संसार-सागर से तरानेवाले ज्ञान, शान्ति, विद्या, सत्यशास्त्र आदि तीर्थ हैं।

पोपजी—महाशय! बतलाइए, जब वेदों में गङ्गा आदि तीर्थों के स्नान से भव-सागर से तरना बतलाया है तो पुराणों में इस वेद की आज्ञा का सविस्तर वर्णन किया जाना क्या दोष का कारण हो सकता है? मानना पड़ेगा कि वेद की आज्ञाओं का वर्णन पुराणों में होने से पुराण वेदों के अनुकूल हैं।

तोपजी—हम सिद्ध कर चुके हैं कि वेदों में गङ्गा आदि नदियों में स्नान करने और इनमें स्नान करने से फल मिलने की चर्चा तक नहीं है, इसलिए पुराणों में वर्णित नदियों के स्नान से मुक्ति मानना वेदों के सर्वथा विरुद्ध है। पुराणों ने ऐसा वर्णन करके संसार में पाप को बढ़ावा दिया है, क्योंकि लोग समझते हैं कि चाहे जितने भी पाप करें, परन्तु गङ्गा-स्नान से अवश्य ही मोक्ष हो जाएगा। इसलिए वे पापों से डरते नहीं, अत: जल-स्थल को मुक्ति का दाता तीर्थ मानना वेदों के विरुद्ध और संसार में पापों को बढ़ाने का कारण हुआ है, जैसाकि पुराणों में अनेक प्रमाण विद्यमान हैं, जिनमें मुक्ति को बच्चों का खेल बना दिया है।

१. शिवपुराण में लिखा है कि—शिव के नाम से ही मुक्ति हो जाती है।

—शिवपु० विश्वेश्वर० २३।३५

२. शिवपुराण विश्वेश्वरसंहिता अध्याय २४, श्लोक ४०-४१ में लिखा है कि भस्म के धारण करने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, वर्णसंकर, स्त्री, विधवा, बालक, पाखण्डी, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थ, संन्यासी—इन सबकी मुक्ति हो जाती है।[1]

३. शिवपुराण विश्वेश्वरसंहिता अध्याय २५, श्लोक २१ में लिखा है कि—रुद्राक्ष धारण करने से मुक्ति हो जाती है।[2]

४. गरुडपुराण प्रेतखण्ड अध्याय ४९, श्लोक ६० से ८८ तक इन सब साधनों का खण्डन किया गया है और ज्ञान से मुक्ति मानी गयी है। जैसे—

आजन्ममरणान्तं च गङ्गादितटिनीस्थिताः। मण्डूकमत्स्यप्रमुखा योगिनस्ते भवन्ति किम्॥६८॥
ज्ञानह्रदे सत्यजले रागद्वेषमलापहे। यः स्नाति मानसे तीर्थे स वै मोक्षमवाप्नुयात्॥१११॥

अर्थ—जन्म से लेकर मरण तक गङ्गा आदि नदियों के किनारे और जल में रहनेवाले मेंढक और मछलियाँ क्या योगी हो जाते हैं॥६८॥ ज्ञान के तालाब में, जिसमें राग-द्वेष को दूर करनेवाला सत्य का जल है, ऐसे मानस तीर्थ में जो स्नान करता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है, क्योंकि ऐसा मन ही तीर्थ है।

निष्कर्ष यह कि पुराणों में ऐसे सैकड़ों प्रमाण विद्यमान हैं, जो ज्ञान के बिना मुक्ति बताते हैं। चूँकि पुराणों का सस्ती मुक्ति वर्णन करना वेदों के विरुद्ध है, अतः पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

८. पुराणों में जुआबाज़ी

सिद्धान्त—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानाः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥ —ऋ० १०।३४।१३

अर्थ—हे जुआरी! जूआ मत खेल! यदि खेती करे तो उसे बहुत मानता हुआ धन से आनन्द मनाएगा, क्योंकि यह श्रेष्ठ उपदेश करनेवाला मुझे यह उपदेश करता है कि इसी में स्त्री है और इसी में गौ आदि पशु हैं।

परिणाम—इस वेदमन्त्र में स्पष्टरूप से जुआ खेलने का निषेध है और पुराणों में जुआ खेलने की आज्ञा है, अतः पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

—:o:—

पोपजी—लाला साहब! पुराणों में कई स्थानों पर जुआ खेलना बुरा बताया गया है। महाभारत में भी जुए की निन्दा की गयी है। पद्मपुराण और भविष्यपुराण में जहाँ जुए का वर्णन है, वहाँ जुआ खेलने की आज्ञा बिल्कुल नहीं है। जुए का वर्णन देखकर उसके खेलने की आज्ञा समझ लेना अनुचित है। महाशय! पुराणों के इतिहास-भाग के वर्णन को विधिरूप मानना भारी भूल है।

तोपजी—यदि पुराण जुआ खेलने को पाप मानते हैं तो पुराणों ने युधिष्ठिर को पापी क्यों नहीं लिखा? जहाँ स्वर्ग को जाते हुए भीम अधिक खाने के कारण, अर्जुन वीरता के घमण्ड के कारण, नकुल सौन्दर्य के गर्व के कारण, सहदेव पाण्डित्य के अभिमान से और द्रौपदी अर्जुन से अधिक प्रेम के कारण स्वर्ग तक पहुँचने से पूर्व ही गिर पड़े, वहाँ जुआ

---

१. **ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चापि च संकराः। स्त्रियोऽथ विधवा बालाः प्राप्ता पाखण्डिकास्तथा॥४०॥ ब्रह्मचारी गृही वन्यः संन्यासी वा व्रती तथा। नार्यो भस्मत्रिपुंड्राङ्का मुक्ता एव न संशयः॥४१॥**

२. **रुद्राक्षाः कामदा देवि भुक्तिमुक्तिप्रदाः सदा॥**

खेलनेवाला युधिष्ठिर शरीरसहित स्वर्ग में चला गया। यदि पुराण जुए को पाप मानते हैं तो युधिष्ठिर को जुए के कारण मार्ग में क्यों न गिराया? पुराणों ने नल को स्थान-स्थान पर धर्मात्मा क्यों लिखा है? युधिष्ठिर और नल को धर्मात्मा और स्वर्गगामी मानना इस बात को सिद्ध करता है कि पुराण जुए को पाप नहीं मानते। भविष्य और पद्मपुराण में स्पष्टरूप से जुआ खेलने की विधिरूप से आज्ञा विद्यमान है। भविष्यपुराण में लिखा है—

कुर्यान्महोत्सवं राजा दिनानि नव सप्त वा॥ २४॥
वेश्यांगनानरैर्हृष्टैर्द्यूतक्रीडामहोत्सवैः। कर्पूरवस्त्रदानैश्च सम्मानैश्च परस्परम्॥ २६॥
रात्रौ प्रजागरः कार्यो रक्षणाय प्रयत्नतः॥ २७॥ —भविष्य० उत्तरपर्व १३९। २४, २६, २७

अर्थ—राजा को चाहिए कि वह (महेन्द्रध्वज) उत्सव सात या नौ दिन करे।।२४।। वेश्याएँ और जनसाधारण प्रसन्नता से जुआ खेलने के उत्सवों से, कर्पूर और वस्त्रों के दान से, आपस में एक-दूसरे के सम्मान से।।२६।। रात्रि में रक्षा की दृष्टि से प्रयत्नपूर्वक जागरण करें—जागते रहें।

यहाँ भविष्यपुराण में इतिहासरूप से जुआ खेलने का वर्णन नहीं है, अपितु विधिरूप से आज्ञा दी है। इसी प्रकार से ही पद्मपुराण में भी जुआ खेलने की स्पष्टरूप से विधिरूप से आज्ञा दी गयी है। देखिए, पद्मपुराण, उत्तरखण्ड अध्याय १२२ में लिखा है कि—दीपावली से अगले दिन अर्थात् प्रतिपदा को जुआ खेले। यदि जीत हो जाए तो वर्षभर जीत रहेगी और—

पराजयेऽविरुद्धं स्यात् प्रतिपद्युदिते रवौ। प्रातर्गोवर्द्धनः पूज्यो द्यूतं रात्रौ समाचरेत्॥
—पद्म० उत्तर० १२२.२९

अर्थ—यदि पराजय हो जाए तो वर्षभर हार ही होती रहेगी, अतः आश्विन प्रतिपदा को सूर्य निकलने पर गोवर्धन की पूजा करे और रात्रि को जुआ खेले।

यहाँ इतिहास बिल्कुल नहीं है, अपितु स्पष्टरूप में जुआ खेलने की आज्ञा विद्यमान है। चूँकि जुआ खेलना वेदों के विरुद्ध है, अतः अष्टादश पुराण वेदों के सर्वथा विरुद्ध हैं।

—:o:—

पोपजी—अस्तु। लाला मनसारामजी ने ये आठ प्रश्न पुराणों पर किये थे कि पुराण वेदों के विरुद्ध हैं, परन्तु मैंने इनका मुँहतोड़ उत्तर और सर्वाङ्गपूर्ण उत्तर लिखकर सनातनधर्म की स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। लाला साहब! पुराण वेदों के अनुकूल ही हैं, इनमें किसी ऐसी बात का वर्णन नहीं कि जिसका वेदों में वर्णन न हो। इसलिए यह सब आप लोगों के अज्ञान, अल्पविद्या और मूर्खता का ही दोष है, अन्यथा पुराण तो सर्वथा वेदानुकूल हैं।

तोपजी—हमने साधारणरूप से केवल आठ प्रश्न पुराणों पर किये थे कि पुराण वेदों के विरुद्ध हैं, परन्तु पोपजी ने इनमें से एक का भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया। प्रायः पोपजी ने हमारे उद्धरणों को ग़लत कहकर ही अपनी जान बचाने का प्रयत्न किया है, परन्तु हमें ग़लत अवतरण देने का रोग है ही नहीं, अतः हमने स्थान-स्थान पर पुराणों के मूल अवतरण लिखकर पोपजी के दाँत खट्टे कर दिये हैं और आशा नहीं है कि पोपजी अब इन प्रश्नों के सम्बन्ध में चूँ भी कर सकें। पोपजी ने हमारी पुस्तक का ऊटपटाँग उत्तर लिखकर उलटा सनातनधर्म की स्थिति को उपहास-योग्य बना दिया है, इसलिए अष्टादश पुराण सोलह आना वेदों के विरुद्ध हैं।

अब आपका एक नया दावा है कि 'पुराणों में ऐसी किसी बात का वर्णन नहीं है कि जिसका वर्णन वेदों में न हो।' अब हम पोपजी के इस दावे की भी पड़ताल किये देते हैं

और पोपजी को डबल चैलैञ्ज करते हैं कि वे पुराणों से सम्बन्धित निम्नाङ्कित बातों को वेदों, शास्त्रों और युक्ति के अनुकूल सिद्ध करके दिखाएँ।

१. शिवपुराण उमासंहिता अध्याय १३, श्लोक ४१ में लिखा है कि पुराण २६ हैं और भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय २५ श्लोक २२१ में लिखा है कि पुराण १८ हैं। कोई वेद का प्रमाण देकर सिद्ध करो कि पुराण गिनती में कितने हैं?

२. अट्ठारह पुराण कौन-कौन-से हैं? देवीभागवतपुराण ने शिवपुराण की अट्ठारह पुराणों में गिनती नहीं की तथा नारदपुराण और मत्स्यपुराण भी शिवपुराण की अट्ठारह पुराणों में गणना नहीं करते। मार्कण्डेय और कूर्मपुराण में अग्निपुराण को अट्ठारह पुराणों में नहीं गिना गया। शिवपुराण कहता है कि देवीभागवत अट्ठारह पुराणों में है, परन्तु शेष पुराण श्रीमद्भागवत को अट्ठारह पुराणों में मानते हैं। कृपा करके वेद का कोई ऐसा मन्त्र प्रस्तुत करो जिसमें यह वर्णन किया गया हो कि अट्ठारह पुराण कौन-कौन-से हैं।

३. ब्रह्मवैवर्तपुराण कहता है कि भविष्यपुराण में १४,५०० श्लोक हैं, भविष्यपुराण स्वयं कहता है कि ५०,००० श्लोक हैं और वर्त्तमान भविष्यपुराण में २६,१०२ श्लोक हैं। ऐसी ही अवस्था सब पुराणों की है, कोई ऐसा मन्त्र प्रस्तुत करें जिससे पुराणों के श्लोकों की ठीक-ठीक संख्या का ज्ञान हो सके।

४. भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय १, श्लोक १०३-१०४ में लिखा है कि पहले सम्पूर्ण अट्ठारह पुराण १२,००० श्लोकों में लिखे गये थे, बाद में उनमें प्रक्षेप होकर श्लोक अधिक हो गये।[1] कृपा करके कोई ऐसा वेदमन्त्र प्रस्तुत करें जो भविष्यपुराण के उपर्युक्त लेख का समर्थन करता हो।

५. भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व में हज़रत आदम, हज़रत नूह, हज़रत मूसा, हज़रत ईसा, हज़रत मुहम्मद साहब को श्रेष्ठ, धर्मात्मा, ईश्वर का भक्त और अवतार वर्णित किया गया है और मुग़लिया वंश के सब राजाओं को यहाँ तक कि औरंगज़ेब को भी अवतार माना गया है। कृपा करके वह मन्त्र प्रस्तुत करें जिनमें उपर्युक्त व्यक्तियों को अवतार स्वीकार किया गया हो।

६. भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, श्लोक ४१-४२ में लिखा है कि जो सदाचारी और तर्कशील ब्राह्मण हो, देवताओं की पूजा करता हो, विष्णु का भक्त हो, अग्निहोत्र करता हो, अहिंसक हो, तपस्वी हो और जिसका मन वश में हो उसी का नाम म्लेच्छ है। कृपा करके कोई ऐसा वेदमन्त्र बतलाएँ जिसमें उपर्युक्त गुणोंवाले व्यक्ति को म्लेच्छ बताया गया हो।

७. भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय ५, श्लोक ३० में लिखा है कि जिस स्त्री के भग पर बाल न हों और समतल हो और संकुचित मार्गवाली हो, वह चाहे नीच कुल में जन्म ले, परन्तु वह अवश्य ही राजा की स्त्री बनेगी। इस लेख के समर्थन में कोई वेदमन्त्र प्रस्तुत कीजिए।

८. जिस पुरुष का लिङ्ग दायीं ओर झुका हुआ हो, उसके लड़का पैदा होगा और जिसका लिङ्ग बायीं ओर झुका हुआ हो, उसके लड़की पैदा होगी। यह बात भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय २५, श्लोक २ में लिखी हुई है। कृपा करके बतलाएँ कि यह बात कौन-से वेद में लिखी है?

९. भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय २५, श्लोक १९ में लिखा है कि जिस मनुष्य की

१. इस समय अट्ठारह पुराणों की श्लोक-संख्या लगभग चार लाख है। —जगदीशवरानन्द

गुदा चौड़ी, गदगुदी और चिकनी हो, वह प्रशंसनीय है। यह बात कौन-से वेद में लिखी गयी है?

१०. भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय २५, श्लोक २१ में लिखा है कि जिस मनुष्य के एक अण्डकोश हो, वह पानी में डूबकर मरेगा। इस बात का वर्णन कौन-सा वेदमन्त्र करता है?

११. भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय ५, श्लोक ४२ में लिखा है कि जिस स्त्री के स्तन चौड़े, मोटे, कठोर और बहुत ऊँचे न हों, वे उत्तम होते हैं। यह किस वेद की आज्ञा है?

१२. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अध्याय २७, श्लोक १२३-१२४ में लिखा है कि महादेवजी ने देवियों को भोजन के लिए कहा कि मेरी नाभि के नीचे गोल-गोल फलों जैसे लम्बे-लम्बे दो अण्डकोश विद्यमान हैं। उनके खाने से बड़ी तृप्ति होगी। ये फल आज तक किसी ने भी नहीं खाये। ये मैं तुम्हें खाने के लिए देता हूँ। कृपा करके बतलाएँ कि इन फलों को खाने की आज्ञा कौन-से वेद में है?

१३. पद्मपुराण उत्तरखण्ड अध्याय २७२, श्लोक १६७-१६८ में लिखा है कि पूर्वयुग में दण्डक वन में रहनेवाले ऋषियों ने रामचन्द्रजी से भोग करने की इच्छा की। इसलिए वे सब ऋषि गोकुल में आकर गोपियाँ बनकर कृष्ण के साथ भोग करने लगीं। यह बात कौन-से वेद में लिखी है?

१४. पद्मपुराण उत्तरखण्ड अध्याय २८२, श्लोक ३१ तक में लिखा है कि एक बार भृगु ऋषि महादेवजी से मिलने गये। द्वार पर नन्दगण ने उन्हें धमकाकर कहा कि इस समय महादेवजी पार्वती से भोग कर रहे हैं। तब भृगु ने शाप दिया कि चूँकि महादेव स्त्री के भोग में लगा हुआ मेरा निरादर करता है, इसलिए इसका रूप भी योनि और लिङ्ग जैसा हो जाएगा। इसलिए ही पार्वती की योनि में शिव का लिङ्ग गाड़ा गया है। यह बात कौन-से वेद में लिखी है?

१५. मत्स्यपुराण अध्याय ४८ में वर्णन है कि राजा बलि ने अपनी स्त्री सुदेष्णा को दीर्घतमा ऋषि के पास सन्तान-प्राप्ति के लिए भेजा, परन्तु सुदेष्णा उसे अन्धा समझकर उसके पास नहीं गयी, अपनी दासी को भेज दिया। राजा ने पुनः दीर्घतमा को प्रसन्न किया तब ऋषि ने कहा कि मेरे सारे शरीर पर दही, नमक और शहद लगाकर सुदेष्णा चाटे तो पुत्र हो सकता है। चुनांचे सुदेष्णा ने ऐसा ही किया, परन्तु ऋषि की गुदा नहीं चाटी और लिङ्ग को खूब चाटा। इससे जो पुत्र हुआ उसके गुदा नहीं थी, परन्तु लिङ्ग बहुत सुन्दर और मोटा-ताज़ा था। कहिए, यह कथा कौन-से वेद में लिखी है?

१६. शब्दकल्पद्रुम कोश में लिङ्ग शब्द पर 'नारद-पञ्चराग' प्रथम अध्याय के नारद-ब्रह्मसंवाद का अवतरण देकर लिखा है कि ब्रह्मा ने पार्वती के विवाह का प्रस्ताव महादेव के साथ किया तो पार्वती ने कहा कि महादेव कल का बच्चा है, वह मेरी तृप्ति कर सकेगा? परन्तु ब्रह्मा ने कहा—'तू देख तो सही, वह तेरी तृप्ति कर देगा।' एक बार शिव ने पार्वती से भोग आरम्भ किया तो पार्वती उसे सहार नहीं सकी और बड़ी दयनीय अवस्था में बोली कि महाराज, मैं आपका भार नहीं सहार सकती, कृपा करके आप मुझे क्षमा करें। यह सुनकर महादेव ने बड़ी प्रचण्डता से मैथुन करना आरम्भ कर दिया। जब सम्भोग पूरा हो गया तब उठने पर दोनों का पारा निकलकर भूमि, स्वर्ग और पाताल में फैल गया। इससे सब लिङ्ग और योनियाँ बन गयीं। इसलिए जहाँ-जहाँ लिङ्ग है वहाँ-वहाँ योनि है और जहाँ-जहाँ योनि है वहाँ-वहाँ शिव है। बतलाइए, यह कथा कौन-से वेद में वर्णित की गयी है?

१७. भागवतपुराण स्कन्ध ९, अध्याय ६, श्लोक २५ से ३१ तक में लिखा है कि राजा

युवनाश्व ने यज्ञ का पानी पी लिया था, उस पानी के पीने से उसे गर्भ हो गया और उसकी दायीं कोख को फाड़कर पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम मान्धाता था। यह कथा कौन-से वेद में लिखी है?

निष्कर्ष यह कि इस प्रकार की सैकड़ों कथाएँ पुराणों में विद्यमान हैं। आपका यह दावा कि 'पुराणों में जो कुछ लिखा हुआ है, वह सब वेदों में लिखा हुआ है'—सर्वथा ग़लत और झूठा है, चूँकि पुराणों में सहस्त्रों बातें वेदों के विरुद्ध हैं, इसलिए अष्टादश पुराण वेदों के सर्वथा विरुद्ध हैं और पुराण-जैसी अश्लील पुस्तकों को वेदों के अनुकूल बताना प्रथम कोटि की अज्ञानता, अल्पविद्यता, मूर्खता, दुराग्रह, स्वार्थ, धोखा देना और पामरपन है।

सनातनधर्म के छल-कपट से सावधान रहो

पाठक महाशय! आर्यसमाज के सिद्धान्त के अनुसार 'इन्द्र' नाम परमात्मा, जीवात्मा, राजा और सूर्य का है। ये सब पाखण्ड, अन्याय और अन्धकार के जाल को तोड़नेवाले और सन्मार्ग पर चलानेवाले हैं। इसलिए न ही आर्यसमाजियों का 'इन्द्र' जाल बिछानेवाला है और न ही इससे बचने की कोई आवश्यकता है। हाँ, सनातनधर्म और सनातनधर्म के देवता विष्णु और इन्द्र आदि अवश्य ही छली-कपटी और धोखा देनेवाले हैं, परिणामस्वरूप विष्णु ने छल से वृन्दा का धर्म भ्रष्ट किया और इन्द्र ने छल से अहल्या का सतीत्व भङ्ग किया तथा वर्त्तमान सनातनधर्म भी उसी प्रकार अपने पूर्वजों के पद-चिह्नों पर चलकर जनता को छल-कपट से धोखे में रखने के प्रयत्न में लगा रहता है। सनातनधर्म के पोप वैसे तो अच्छी प्रकार जानते हैं कि पुराण वेदों के विरुद्ध, वाममार्गियों की करतूत और गन्दगी का पुलिन्दा हैं, परन्तु क्योंकि मूर्त्तिपूजा, मृतकश्राद्ध आदि पौराणिक प्रथाओं के कारण इनकी उदर-पूर्ति हो रही है, अतः ये पेट के पुजारी स्वार्थी लोग जनता को पुराणों की आन्तरिक सचाई से सावधान नहीं करना चाहते।

ये पौराणिक, पेट के पुजारी जनता को पुराणों की कथा भी सुनाते हैं तो पुराणों के अश्लील भाग को सर्वथा छोड़ देते हैं। आर्यसमाज ने इस सचाई को प्रकट किया और जनता के समक्ष पुराणों की गन्दगी को प्रकट कर दिया। तब पौराणिक मण्डल ने यह कोलाहल करना शुरू किया कि पुराणों के अर्थ हमारे सिवाय और कोई कर ही नहीं सकता। आर्यसमाज ने पौराणिक पण्डितों की टीकाओं में से भी वही अर्थ जनता के समक्ष प्रस्तुत किये तो अब पौराणिक पोपमण्डल के होशोहवास (संज्ञा और बुद्धि) उड़ गये और कुछ शब्दों के अर्थों को बदलकर जनता को धोखा देना चाहा, परन्तु हम भी पुराणों की पोल खोलने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, अतः हमारे समक्ष पोपमण्डल की यह चालाकी सफल नहीं हो सकती।

हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि संस्कृत में ऐसे बहुत-से शब्द विद्यमान हैं, जिनमें से प्रत्येक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। इन शब्दों में लिङ्ग, योनि, वीर्य और वरदान शब्द भी हैं, परन्तु अर्थ करते समय प्रकरण को देखना भी अत्यन्त आवश्यक है। इस बात को पोपजी ने भी स्वीकार किया है। हम पोपजी को डबल चैलैञ्ज करते हैं कि वे हमारे द्वारा प्रस्तुत किये हुए अवतरणों में लिङ्ग, योनि, वीर्य और वरदान शब्दों के मूत्रेन्द्रिय, वीर्य और वीर्यदान के अतिरिक्त और कोई अर्थ करके दिखलाएँ। हम जनता को सावधान करना चाहते हैं कि वह पोपमण्डल की धोखे देने और पर्दा डालने की चाल में न आये, अपितु स्वयं मूल ग्रन्थों को पढ़कर प्रकरण के अनुसार उन शब्दों के अर्थ लगाकर पुराणों की गन्दी और अश्लील कथाओं का प्रबल खण्डन करके भारतवर्ष को इस पाप से पवित्र करने का

प्रयत्न करें।

अब हम आपके समक्ष पोपजी के बिछाये हुए छल-कपट के जाल को तार-तार करके दिखाते हैं और पुराणों में आये हुए लिङ्ग, योनि, वीर्य और वरदान शब्दों के अर्थ स्पष्ट करते हैं। न्यायप्रिय महाशय स्वयं ध्यानपूर्वक पढ़कर वास्तविकता तक पहुँचने का प्रयत्न करें।

१. लिङ्ग—हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि लिङ्ग शब्द का मूत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त चिह्न अर्थ भी है, परन्तु हमने पुराणों की जितनी भी कथाएँ दी हैं, उनमें प्रकरण के अनुसार लिङ्ग के सिवाय मूत्रेन्द्रिय के और अर्थ किये ही नहीं जा सकते। इस बात को हम उन्हीं स्थानों पर युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध कर चुके हैं। जब शिवलिङ्ग से सब ऋषि और ऋषि-पत्नियाँ, सब देवता तथा पृथिवी, स्वर्ग और पातालवासी—सभी भयभीत होकर भाग पड़े तो बेचारे अकेले ऋषि दयानन्दजी की क्या शक्ति थी कि वे ठहर सकते? हाँ, शिवलिङ्ग के समक्ष यदि किसी में ठहरने की शक्ति है तो वे ऋषि-पत्नियाँ, पार्वती और सनातनधर्म की देवियाँ हैं, क्योंकि इनके पास ऐसी वस्तु विद्यमान है कि जिसमें प्रविष्ट होने के पश्चात् शिवलिङ्ग शान्त हो जाता है। शिवलिङ्ग नाम परमात्मा के चिह्न का कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि अशरीरी—निराकार परमात्मा का कोई चिह्न बन ही नहीं सकता और इस बात को हम भली-भाँति सिद्ध कर चुके हैं कि दारु वन की कथा से यह स्पष्ट सिद्ध है कि शिवालयों में जो भग और लिङ्ग की मूर्त्ति है, वह सृष्टि के आरम्भवाले गोलाकार ब्रह्माण्ड की नहीं है, वरन् वह मूर्त्ति तो पार्वती के भग में स्थापित किये हुए शिवजी के लिङ्ग अर्थात् मूत्रेन्द्रिय की है और इसी की पौराणिक लोग पूजा करते हैं। हम पोपजी को चैलैञ्ज करते हैं कि वह पुराणों के निम्नाङ्कित अवतरणों में आये हुए लिङ्ग शब्द के मूत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त और कोई अर्थ करके दिखाएँ—

१. भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय २५, श्लोक १-२ में लिखा है कि—

दक्षिणावर्तलिङ्गश्च नरो वै पुत्रवान् भवेत्। वामावर्ते तथा लिङ्गे नरः कन्यां प्रसूयते॥ १॥
स्थूलैः शिरालैर्विषमैर्लिङ्गैर्दारिद्र्यमादिशेत्। ऋजुभिर्वर्तुलाकारैः पुरुषाः पुत्रभागिनः॥ २॥

अर्थ—जिस मनुष्य का लिङ्ग दायीं ओर झुका हुआ हो वह पुत्रवाला होता है और जिस मनुष्य का लिङ्ग अर्थात् मूत्रेन्द्रिय बायीं ओर झुकी हुई हो, उसके पुत्री उत्पन्न होती है॥१॥ जिनके लिङ्ग (मूत्रेन्द्रिय) मोटे, उभरे हुए रगोंवाले और टेढ़े हों वे निर्धनता का शिकार बनते हैं, जिनके लिङ्ग सीधे और लम्बूतरे होते हैं, वे पुत्रवान् होते हैं॥२॥

२. गरुडपुराण आचारकाण्ड अध्याय १७६, श्लोक १८ में लिखा है कि—

कटुतैलं भल्लातकं बृहतीफलदाडिमम्॥ १७॥
वल्कलैः साधितैर्लिमं लिङ्गं तेन विवर्धते॥ १८॥

अर्थ—सरसों के तेल को भिलावे, बहेड़े और अनार के छिलकों से सिद्ध करके यदि इसका लेप लिङ्ग अर्थात् मूत्रेन्द्रिय पर किया जाए तो लिङ्ग बढ़कर लम्बा हो जाता है।

३. गरुडपुराण आचारकाण्ड अध्याय १८०, श्लोक २ में लिखा है कि—

कर्पूरं देवदारुं च मधुना सह योजयेत्। लिङ्गलेपाच्च तेनैव वशीकुर्यात्स्त्रियं किल॥ २॥

अर्थ—कपूर और देवदारु की लकड़ी के बुरादे को शहद में मिलाकर यदि लिङ्ग अर्थात् मूत्रेन्द्रिय पर लेप करके स्त्री से भोग करे तो इससे निश्चय ही स्त्री को वश में कर लेता है।

इस प्रकार के सैकड़ों प्रमाण पुराणों से दिये जा सकते हैं, जिनमें लिङ्ग शब्द का अर्थ मूत्रेन्द्रिय ही है। प्रकरण के विरुद्ध अर्थ करने का प्रयत्न करना और जनता को धोखा देना

महापाप और पामरपन है।

२. **योनि**—हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि योनि शब्द के—शरीर, स्वरूप, घर और स्त्री की भग अर्थात् मूत्रेन्द्रिय—इतने अर्थ हैं, परन्तु प्रकरण के अनुकूल जहाँ जो अर्थ उचित हों, वही अर्थ लिये जाते हैं। हमने पुराणों के जितने प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, उनमें प्रकरणानुसार 'योनि' शब्द के अर्थ स्त्री की मूत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकते। हम पोपजी को डबल चैलैञ्ज करते हैं कि वे पुराणों के निम्नलिखित अवतरणों में आये हुए 'योनि' शब्द के मूत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त और कोई अर्थ करके दिखाएँ।

१. भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय ७३, श्लोक २८ में लिखा है कि—

ब्रह्मचर्येऽपवर्तन्त्याः साध्व्या ह्यपि च श्रूयते।
हृद्यं हि पुरुषं दृष्ट्वा योनिः संक्लिद्यते स्त्रियाः॥ २८॥

अर्थ—सुनते हैं कि ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करनेवाली सती-साध्वी स्त्री की भी सुन्दर नवयुवक पुरुष को देखकर योनि=मूत्रेन्द्रिय टपकने लग जाती है।

२. शिवपुराण उमासंहिता अध्याय २४, श्लोक ३१ में लिखा है कि—

सुस्नातं पुरुषं दृष्ट्वा सुगन्धं मलवर्जितम्। योनिः प्रक्लिद्यते स्त्रीणां दृतेः पात्रादिवोदकम्॥ ३१॥

अर्थ—अच्छी प्रकार स्नान किये हुए, इत्र लगानेवाले, स्वच्छता से रहनेवाले मनुष्य को देखकर स्त्रियों की योनि ऐसे टपकने लग जाती हैं जैसे चमड़े की बनी हुई मशक (पात्र) में से पानी टपकने लग पड़ता है।

३. ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४, अध्याय २३, श्लोक २५ में लिखा है कि जब तिलोत्तमा ने साहसिक को देखा तो—

पुलकाङ्कितसर्वाङ्गं धर्मकर्मसमन्वितम्। बभूव काममत्ताया योनौ कण्डूयनं जलम्॥ २५॥

अर्थ—धर्म-कर्म में युक्त, रोमाञ्चित शरीरवाले साहसिक को देखकर काम में मस्त हुई तिलोत्तमा की योनि में खुजलाहट होने लगी और उसकी योनि से पानी टपकने लगा।

४. भागवतपुराण स्कन्ध १०, अध्याय २२, श्लोक १७ में लिखा है कि—जब कृष्णजी ने गोपियों से कहा कि पानी से बाहर आकर वस्त्र लो, तब—

ततो जलाशयात्सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः॥ १७॥

अर्थ—तब शीत से दुःखी और काँपती हुई वे सब-की-सब गोप-कन्याएँ अपने हाथों से अपनी योनि को ढककर सरोवर से बाहर आयीं।

५. गरुडपुराण आचारकाण्ड अध्याय २०२, श्लोक १६ में लिखा है कि—

कर्पूर-मदनफल-मधुकैः पूरितः शिव। योनिः शुभा स्याद् वृद्धाया युवत्याः किं पुनर्हर॥ १६॥

अर्थ—हे शिव! कपूर और मदनफल को पीसकर तथा शहद में मिलाकर यदि स्त्री की योनि में भर दिया जाए तो वृद्धा स्त्री की योनि भी उत्तम हो जाती है, युवति का तो कहना ही क्या है?

आदि-आदि। पुराणों के इन प्रमाणों में योनि शब्द का मूत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त कोई अन्य अर्थ होना सर्वथा असम्भव है।

३. **वीर्य**—हम इस बात को भी स्वीकार कर लेते हैं कि वीर्य शब्द के बल, शक्ति, तेज और मणि अर्थ हैं, परन्तु प्रकरण देखकर जहाँ जो उचित हों वहाँ वही अर्थ लिये जाते हैं। जहाँ पर स्त्री के साथ समागम करने या उसे देखकर वीर्य के स्खलित होकर योनि में प्रविष्ट होने अथवा बहने का वर्णन होगा वहाँ वीर्य का अर्थ मणि के बिना और कुछ हो

ही नहीं सकता। हम सिद्ध कर चुके हैं कि हमारे द्वारा प्रस्तुत की हुई पौराणिक कथाओं में वीर्य के अर्थ मणि ही हैं। हम पोपजी को पुनः चैलैञ्ज करते हैं कि वे पुराणों के निम्न प्रमाणों में आये हुए वीर्यशब्द के मणि के अतिरिक्त और कोई अर्थ करके दिखाएँ।

१. शिवपुराण रुद्रसंहिता, पार्वतीखण्ड अध्याय ४९, श्लोक ७-८ में लिखा है कि—जब ब्रह्माजी पार्वती के साथ महादेवजी का विवाह करवा रहे थे, तो पार्वती को देखकर ब्रह्माजी स्खलित हो गये। इसका वर्णन ब्रह्माजी अपने पुत्र नारद को स्वयं सुनाते हैं—

ततस्तद्दर्शनात्सद्यो वीर्यं मे प्राच्युतद् भुवि॥ ७॥

रेतसा क्षरता तेन लज्जितोऽहं पितामहः। मुने व्यमर्दं तच्छिश्नं चरणाभ्यां हि गोपयन्॥ ८॥

अर्थ—तब उस पार्वती को देखते ही बहुत शीघ्र मेरा वीर्य अर्थात् मणि भूमि पर गिर पड़ा। हे मुने! मैं ब्रह्मा इस वीर्य के इस प्रकार क्षरित होने से लज्जित हो गया। तब मैंने अपने लिङ्ग अर्थात् मूत्रेन्द्रिय को पाँवों में छिपाकर बीज को वहीं मसल दिया।

२. ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४, अध्याय ३, श्लोक १७ में श्रीकृष्ण का विरजा में गर्भाधान का वर्णन इस प्रकार लिखा हुआ है कि—

विरजा सा रजोयुक्ता धृत्वा वीर्यममोघकम्। सद्यो बभूव तत्रैव धन्या गर्भवती सती॥ १७॥

अर्थ—रजोधर्म से निवृत्त हुई विरजा कृष्ण के अमोघ (कभी निष्फल न जानेवाले) वीर्य को धारण करके तुरन्त गर्भवती होकर सौभाग्यवती हो गयी।

३. ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४, अध्याय ७२, श्लोक ६३ में लिखा है कि कृष्ण ने सारी रात कुब्जा के साथ कामक्रीड़ा की। उसके स्तनों को घायल कर दिया, होटों को काट खाया, उसे गोद में लेकर नंगा किया और बग़ल में लेकर खूब भोग किया। तब—

निशावसानसमये वीर्याधानं चकार सः। सुखसंभोगभोगेन मूर्च्छामाप च सुन्दरी॥ ६३॥

अर्थ—रात्रि की समाप्ति पर कृष्ण ने कुब्जा में वीर्याधान कर दिया। वह कुब्जा सुखपूर्वक भोग करने से मूर्च्छा को प्राप्त हो गयी।

४. ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्मखण्ड अध्याय १०, श्लोक १२६-१२७ में लिखा है कि—

गच्छन्तीं तीर्थयात्रायां ब्राह्मणीं रविनन्दनः। ददर्श कामुकः शान्तः पुष्पोद्याने च निर्जने॥ १२६॥

तया निवारितो यत्नाद् बलेन बलवान् सुरः। अतीव सुन्दरीं दृष्ट्वा वीर्याधानं चकार सः॥ १२७॥

अर्थ—सूर्य के पुत्र ने तीर्थयात्रा के लिए जाती हुई एक ब्राह्मणी को एक निर्जन पुष्पवाटिका में देखा। उसे देखकर शान्त रवि-नन्दन काम से पीड़ित हो गया। उस स्त्री के यत्नपूर्वक मना करने पर भी उसने उसे अत्यन्त सुन्दरी जानकर उसमें वीर्याधान कर दिया—उसे गर्भवती कर दिया।

निष्कर्ष यह कि पुराणों में इस प्रकार के सैकड़ों प्रमाण विद्यमान हैं जिनमें वीर्य शब्द के मणि के बिना और कुछ अर्थ किये ही नहीं जा सकते। ऐसे-ऐसे प्रकरणों में भी वीर्य शब्द के मणि के अतिरिक्त और अर्थ करने को पोपजी की मूर्खता, अज्ञान और धोखा देने के सिवाय और क्या कहा जा सकता है?

४. **वरदान**—अब रह गयी केवल वरदान की समस्या। इसके सम्बन्ध में हमारे सनातनधर्मी भाई मानते हैं कि केवल किसी के कह देने से ही किसी का कार्य-सम्पन्न हो जाना वरदान का प्रभाव है, परन्तु हमारे भाइयों का यह विश्वास सर्वथा ग़लत और लचर है, क्योंकि जिस कार्य के लिए जिस क्रिया की आवश्यकता है, जब तक उस काम के लिए वह क्रिया न की जाए तब तक उसका होना असम्भव बात है। उदाहरण के रूप में किसी स्त्री के गर्भ से सन्तान तभी उत्पन्न हो सकती है जब कोई पुरुष उसके साथ मैथुन करे।

केवल मुख से कह देने से कि तुम्हारे सन्तान हो जाएगी, किसी भी स्त्री के सन्तान पैदा नहीं हो सकती जब तक कि विधिपूर्वक उसके साथ मैथुन करके गर्भाधान न किया जाए।

योगी लोग चाहे लाख तप करें और लाख ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करें, परन्तु वे प्रकृति के नियमों को तोड़ने की शक्ति नहीं रखते। योगी तो भला मनुष्य हैं, ईश्वरीय नियमों को तो स्वयं ईश्वर भी नहीं तोड़ सकता, क्योंकि यदि वह तोड़े तो वह ईश्वर कहलाने का अधिकारी नहीं रहता, अतः ईश्वर भी अपने गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता। ऋषि दयानन्दजी ने अपने भाष्य में कहीं भी नहीं लिखा कि योगी ईश्वरीय नियम के विरुद्ध कोई काम कर सकता है। इस बात का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। भागवतपुराण और कल्किपुराण की लीलाओं को रहने दें। जैसे अन्य पुराणों में गप्पाष्टक भरे हैं, ऐसे ही इनमें भी भरे पड़े हैं। इसलिए केवल किसी के कह देने से किसी के कार्य का होना सम्भव नहीं है, जब तक उस काम के योग्य क्रिया न की जाए।

हमारे विचार में वरदान का अर्थ यह है कि कोई व्यक्ति किसी की इच्छा के अनुसार किसी कार्य को करने की प्रतिज्ञा करे और वह उस कार्य को कर दे, इसी का नाम वरदान है। जैसे कैकेयी को राजा दशरथ ने दो वर दिये थे, अर्थात् उसने प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारे दो कार्य कर दूँगा और अवसर आने पर कैकेयी ने दशरथ से इन दो वरों को पूरा करने की प्रार्थना की। जब तक राजा दशरथ ने स्वयं क्रियात्मकरूप से उन दोनों वरों को पूरा करने के लिए राम को चौदह वर्ष का वनवास और भरत को राजगद्दी देने के सम्बन्ध में काम नहीं किया तब तक केवल वरों के देने से कुछ भी नहीं बना। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वरदान का अर्थ किस कार्य को करने की प्रतिज्ञा और उसे पूर्ण करने का प्रयत्न है। इसलिए व्यासजी का किसी देवी को सन्तान के बारे में वरदान देने का यही तात्पर्य है कि व्यासजी ने उस स्त्री का वर अर्थात् पति बनकर वीर्यदान से सन्तान देने की प्रतिज्ञा की और उन्होंने रात्रि में विधि-विधानानुसार महलों में प्रविष्ट होकर अम्बिका, अम्बालिका और दासी से समागम करके उनमें गर्भाधान करके अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण किया। इस बात को हम नियोग-प्रकरण में स्पष्टरूप से सिद्ध कर आये हैं। व्यासजी जैसे ऋषि द्वारा आचरित नियोग को व्यभिचार कहना दुष्ट, व्यभिचारी और पामर व्यक्तियों का ही काम हो सकता है।

महाभारत में व्यासजी ने अम्बिका, अम्बालिका और दासी से नियोग करके धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर को उत्पन्न किया। इस सम्बन्ध में महाभारत में अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है। पहले सत्यवती ने भीष्म से नियोग करने के लिए कहा, परन्तु उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इन्कार कर दिया, फिर व्यासजी को बुलाया गया और विधिपूर्वक नियोग की विधि द्वारा व्यासजी ने वरदान अर्थात् पति बनकर वीर्यदान से सन्तान उत्पन्न की। महाभारत में 'नियोग' शब्द स्पष्ट विद्यमान है। इसलिए महाभारत आदिपर्व अध्याय २, श्लोक १०० में पड़े हुए वरदान शब्द का वही अर्थ है जो हमने ऊपर दिया है, अन्यथा व्यासजी को विधिपूर्वक महलों में जाकर समागम करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

अब रहा आपका यह प्रमाण कि—

न मैथुनेन सम्भूता निष्पापाः पाण्डवा अभवन्॥[१]

अर्थात् पाण्डवों की उत्पत्ति मैथुन से नहीं हुई, अतः वे निष्पाप हैं।

यह भी आपने उद्योगपर्व के नाम से कल्पित पाठ अङ्कित कर दिया है, अन्यथा आपको उद्योगपर्व के अध्याय और श्लोक की संख्या देनी चाहिए थी, परन्तु 'चोर की दाढ़ी में

१. यह श्लोक उद्योगपर्व की तो बात ही क्या, सम्पूर्ण महाभारत में कहीं नहीं है। —सम्पादक

तिनका' वाली बात हुई। हमने तुरन्त भाँप लिया कि यह पोपजी का अपना आविष्कार है, इसीलिए इसका सन्दर्भ अङ्कित नहीं किया गया, परन्तु यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि यह पाठ महाभारत में विद्यमान है तो भी पोपजी का इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इस श्लोक में 'निष्पापाः' विशेषण आने से स्पष्ट सिद्ध है कि यहाँ मैथुन का तात्पर्य सम्भोग नहीं अपितु व्यभिचार है। इसलिए इस श्लोक का स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि "पाण्डव व्यभिचार से पैदा नहीं हुए, अपितु वे निष्पाप हैं, अर्थात् उनका जन्म विधिपूर्वक नियोग की विधि से हुआ है।"

इसलिए हम जनता से प्रार्थना करते हैं कि वह इस पोपमण्डल की धोखेबाजियों और चालाकियों से सावधान रहे और स्वयं पुराणों को पढ़कर उसके अर्थों पर विचार करे और वास्तविक निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न करे। हम पोपमण्डल को डंके की चोट बतलाना चाहते हैं कि अब जनता मूर्ख नहीं रही और न ही वह आँखें बन्द करके इस पोपमण्डल पर अन्धश्रद्धा कर सकती है। अब प्रकाश का युग है। जनता संस्कृतभाषा और अन्य विद्याओं से भी सुपरिचित है। इस प्रकाश के युग में सत्य पर पर्दा डालने से पुराण और पौराणिक धर्म अब जीवित नहीं रह सकता। इसे जीवित रखने का एक ही उपाय है कि वेदों को स्वतःप्रमाण मानकर पुराणों का संशोधन किया जाए और इनके अन्दर से राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, ब्रह्मा आदि ऋषि-महर्षि और पूर्वजों पर मद्यपान, मांसभक्षण और व्यभिचार आदि के दोष लगानेवाली कथाओं को सर्वथा निकाल दिया जाए, अथवा इन गन्दगी के पुलिन्दों और पूर्वजों को लाञ्छित करनेवाली अष्टादश पुराणों को दियासलाई दिखा दी जाए और केवल वेदों को ही धर्म का आधार माना जाए।

परमात्मा वह दिन बहुत शीघ्र हमारे समक्ष लाये कि हमारे पथ-भ्रष्ट पौराणिक भाई इन चालाकियों और सत्य पर पर्दा डालने की कुचेष्टा को तिलाञ्जलि देकर तथा अष्टादश पुराणों को वेद के विरुद्ध समझते हुए उन्हें गङ्गा की भेंट करके वैदिक धर्म की शरण में आएँ और इसके अनुसार आचरण करते हुए मोक्ष के भागी बनें।

पुराणों के ढोल की पोल

—श्री सन्तरामजी भजनोपदेशक, आर्यप्रतिनिधि सभा पञ्जाब

सुनो तुम ग़ौर[१] से भाइयो पुराणों का बयाँ[२] सारा,
हुए जब से हैं ये जारी बढ़ा व्यभिचार है भारा।
पढ़ो इस भागवत को तुम कि जो है मोक्ष का दाता,
दशम स्कन्ध पढ़ने से ही जीवन से हो निस्तारा[३]॥
कृष्ण को क्या लिखा इसमें दुराचारी व व्यभिचारी,
कि नङ्गी देखता सखियाँ था उसको शौक यह भारा।
खेलते गेंद यमुना में गिरी जब के (कि) मुरारी की,
बजाए एक के उसने था दो गेंदों पै कर[४] मारा॥
पढ़ो तुम शिवपुरा[५] प्यारो कि इसमें है सिफ़्त[६] किसकी,
बढ़ाकर लिङ्ग को शिव ने जिधर चाहा उधर मारा।
महाभारत में लिखा है सनातनधर्म कैसे हो,
अमल[७] वैसा बनाओ तुम जो उद्दालक ने था धारा॥

---

१. ध्यान, २. वर्णन, ३. छुटकारा, ४. हाथ, ५. शिवपुराण, ६. गुण, ७. आचरण।

गये जब देवता इन्द्र मुनि-गोतम के घर शब[1] को,
अहल्या उनकी पत्नी से किया था उसने मुँह काला।
भविष्य की गर कथा कह दूँ तो काँप उठोगे चीखोगे,
'संज्ञा' की कथा पढ़ लो है काफ़ी[2] ये ही इशारा॥
किया व्यभिचार बेटी से ब्रह्मा, शिव ने भगिनी से,
ब्याह करता है माँ अपनी से विष्णु-जैसा अवतारा॥
पराशर महायोगी की पढ़ देखो कथा प्यारी,
कुँवारी सत्यवती से पुराणकर्त्ता व्यास कर डाला॥
लगे शिव-ब्याह पढ़ने मस्ती से जबकि ब्रह्माजी,
सती को देखते ही निकल ब्रह्मा का गया पारा॥
थी राधा कृष्ण की मामी पढ़ो देखो पुराणों में,
कुब्जा से ज़िना[3] करके था उसको जान से मारा॥
करोड़ों मारकर गौएँ ब्राह्मण खूब खाते थे,
शराब उड़ती थी महफ़िल में कृष्ण का था शुग़ल[4] प्यारा॥
कृष्ण की गोपिकाएँ थीं ये पिछले जन्म में सारी,
जो बनकर वेश्याएँ आज करती हैं गुनाह भारा॥
वेश्याओं की मुक्ति का लिखा साधन 'भविष'[5] में है,
ब्राह्मण को मुफ़त……हाँ दिन हो खास इतवारा[6]॥
कहाँ तक 'सन्त' वर्णन हो हयादारी[7] रुकावट है,
शरण अब वेद की आओ लगाकर ओम् का नारा॥

भ्रमोच्छेदन

प्रिय पाठक महाशय! शास्त्रों ने इस बात का वर्णन किया है कि किसी पुस्तक के वाक्यार्थ को समझने के लिए चार बातों को दृष्टि में रखना अत्यावश्यक है। वे चार बातें हैं—१. आकांक्षा, २. योग्यता, ३. आसत्ति और ४. तात्पर्य। जब तक इन बातों का ध्यान रखकर पुस्तक की पदावली को न पढ़ा जाए तब तक पुस्तक के वाक्यों का अर्थ समझ में नहीं आ सकता। हम जनता की जानकारी के लिए इन चारों बातों की व्याख्या कर देते हैं।

१. **'आकांक्षा'** नाम इच्छा का है। जैसे बोलने और सुननेवाले की विषय को जानने की इच्छा होती है, वैसे ही वाक्यों में भी शब्दों की परस्पर आकांक्षा होती है, अर्थात् जब तक किसी शब्द के साथ इच्छानुसार दूसरे शब्दों को न मिलाया जाए, तब तक वाक्य अपूर्ण रहता है, उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति बोलता है—'घोड़ा'। अब इस घोड़े शब्द को दूसरे शब्दों की आवश्यकता है। जब तक और शब्द इसके साथ न जोड़े जाएँ तब तक केवल घोड़ा कहने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता; केवल 'घोड़ा' शब्द कहने से क्या पता लगे कि कहनेवाले की क्या इच्छा है। वह 'घोड़ा लाओ' कहना चाहता है या 'घोड़ा ले-जाओ', 'घोड़ा क्रय करो', 'घोड़ा बेचो', 'घोड़ा आता है', 'घोड़ा कूदता है', 'घोड़ा दौड़ता है'—कहना चाहता है। निष्कर्ष यह कि जब तक घोड़ा शब्द के साथ कोई और शब्द न जोड़ा जाए तब तक बोलनेवाले के तात्पर्य को नहीं जाना जा सकता। इस वाक्यार्थ-बोध को 'आकांक्षा' कहते हैं।

२. **'योग्यता'** का अर्थ है क्षमता। जिस वस्तु में जो योग्यता हो वही समझना, जैसे

---

१. रात्रि, २. पर्याप्त, ३. व्यभिचार, ४. धन्धा, ५. भविष्यपुराण, ६. रविवार, ७. लज्जा।

जल में सींचने की योग्यता है और अग्नि में जलाने की क्षमता है तो इन दोनों को वैसा ही समझना योग्यता है, परन्तु पानी को जलानेवाला और आग को सींचनेवाला समझना योग्यता के विरुद्ध है।

३. '**आसत्ति**' निकटता का नाम है। जिस शब्द का जिस शब्द के साथ सम्बन्ध हो, उसे उसी के साथ बोलना आसत्ति कहलाती है। इसके विरुद्ध करना आसत्ति के विरुद्ध है। उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति ने देसी खाँड की दुकान खोली और अपनी दुकान पर यह बोर्ड लिखकर लगाया कि—"यहाँ पर देसी खाँड बिकती है।" अब लिखनेवाले का तो यह तात्पर्य है कि "यहाँ पर—देसी खाँड मिलती है", परन्तु पढ़नेवाला इसे इस प्रकार पढ़ता है कि "यहाँ परदेसी खाँड मिलती है।" अब देखिए, यहाँ पर केवल '**पर**' शब्द को 'यहाँ' के साथ न पढ़कर 'देसी' के साथ मिलाकर पढ़ने से दुकानदार का तात्पर्य सर्वथा उलट जाता है और ग्राहकों पर उलटा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार पदों को यथा-स्थान बोलने का नाम आसत्ति है।

४. '**तात्पर्य**' नाम प्रयोजन का है। बोलनेवाले ने जिस प्रयोजन के लिए कोई लेख लिखा है, उससे वही अर्थ ग्रहण करना तात्पर्य कहलाता है, उसके विरुद्ध कल्पना करना 'तात्पर्य' के विरुद्ध है। जैसे एक व्यक्ति का जूता टूट गया था। वह बाजार में जूता खरीदने के लिए गया, परन्तु उसे सारे नगर में जूता नहीं मिला। सायंकाल वह अपने एक मित्र के घर गया और उससे कहने लगा—"यार! यह नगर कितना निकम्मा है कि यहाँ जूते भी नहीं मिलते?" मित्र ने हँसकर उत्तर दिया कि—"आपका सिर सलामत (सुरक्षित) चाहिए, जूतों की क्या कमी है?" अब तनिक ध्यान दीजिए कि उसने तो पैर के लिए जूतों की चर्चा की थी, परन्तु इसके मित्र ने उसके तात्पर्य के विरुद्ध सिर के लिए जूतों का प्रयोग करके उपहास बना लिया और इससे वास्तविक अर्थ में कितना अन्तर पड़ गया! इसे तात्पर्य कहते हैं।

जो व्यक्ति इन चारों बातों को दृष्टि में रखकर किसी लेखक के ग्रन्थ को पढ़ता है, वह उस लेखक के अभिप्राय को ठीक-ठीक समझता है, परन्तु जो व्यक्ति इन चारों बातों को उपेक्षित करके स्वार्थ, पक्षपात और बेईमानी से लेख को तोड़-मरोड़कर अपनी प्रयोजन-सिद्धि के लिए जनता को धोखा देता है, वह महापापी, आत्म-विक्रयी और नरक का अधिकारी है, जैसाकि यजुर्वेद में लिखा है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

—यजुः० ४०।३

अर्थ—जो लोग अपनी आत्मा का हनन करते हैं—आत्मा के विरुद्ध कार्य करते हैं, वे इस जीवन में भी और मृत्यु के पश्चात् भी ऐसे स्थानों को प्राप्त करते हैं, जो गाढ़ अन्धकार से ढके हुए हैं और जिनमें राक्षस लोग निवास करते हैं।

हम इस बात को बिना झिझक के स्पष्ट शब्दों में डंके की चोट लिख देना चाहते हैं कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों के विषय में पौराणिक पोपमण्डल पूर्णरूप से आत्म-विक्रय से काम ले-रहा है और उपर्युक्त चारों बात को पृथक् रखकर स्वामीजी के ग्रन्थों की भाषा को तोड़-मरोड़कर स्वामीजी के तात्पर्य के विरुद्ध अर्थ निकालकर जनता को धोखे में डालने के प्रयत्न में कटिबद्ध रहता हैं। उदाहरण के रूप में—

१. यजुर्वेद (३२।३) के भाष्य में स्वामीजी का लेख है कि—"उस परमेश्वर की प्रतिमा, परिमाण, उसके तुल्य, अवधि का साधन, प्रतिकृति, मूर्त्ति वा आकृति नहीं है।" एक बार की बात है कि खुत्तरा लोवाँ, तहसील सिरसा, जिला हिसार में आर्यसमाज के उत्सव पर पौराणिकों के साथ '**मूर्त्तिपूजा**' विषय पर शास्त्रार्थ हुआ। सहस्त्रों की संख्या में

जाट विद्यमान थे। आर्यसमाज की ओर से पं० आर्यमुनिजी और सनातनधर्म की ओर से पं० लक्ष्मीचन्दजी कौल-निवासी थे। आर्यसमाज के पण्डित ने युक्ति और प्रमाणों से पौराणिक पण्डित की बोलती बन्द कर दी। तब पौराणिक पण्डित ने तंग आकर कहा कि यदि हम स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में से मूर्त्तिपूजा दिखा दें तब तो मानोगे? लोगों ने कहा—बिल्कुल ठीक है, अवश्य मानेंगे। तब पौराणिक पण्डित ने स्वामीजी का यजुर्वेदभाष्य उठाया और उपर्युक्त लेख में से 'मूर्त्ति' शब्द पर अंगुली रखकर दो-चार साधारण भाषा जाननेवालों को दिखा दिया कि देखो, यह मूर्त्ति लिखा है या नहीं? उन्होंने कहा—हाँ, मूर्त्ति तो अवश्य लिखा है। बस, यह सुनते ही सनातनियों ने ताली बजा दी और सनातनधर्म की जय के घोष लगाते हुए चम्पत हो गये, जिससे जनता में बहुत-सी भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी। यह उपाय आकांक्षा के सर्वथा विरुद्ध है और निश्चितरूप से आत्म-विक्रय है।

२. स्वामी दयानन्दजी ने यजुर्वेद [२१।६०] के भाष्य में लिखा है कि—"ऐश्वर्य के लिए बैल से भोग करें [उपयोग लें]।" और यजुर्वेद [६।१४] के भाष्य में लिखा है कि—"हे शिष्य! उत्तम शिक्षाओं से, मैं तेरी, जिससे रक्षा की जाती है, उस गुदा-इन्द्रिय को पवित्र करता हूँ—समस्त व्यवहारों को पवित्र, शुद्ध अर्थात् धर्म के अनुकूल करता हूँ।" परन्तु पोपमण्डल यह कहकर जनता में भ्रान्ति फैलाता है कि स्वामीजी ने बैल और शिष्य से मैथुन करना लिखा है। यद्यपि स्वामीजी ने 'भोग करें' के अर्थ 'उपयोग लें' और शुद्ध करता हूँ के अर्थ 'धर्मानुकूल करता हूँ' लिख भी दिये हैं और बैल तथा शिष्य मैथुन की योग्यता भी नहीं रखते, परन्तु पोपमण्डल है कि बार-बार बैल और शिष्य से मैथुन की ही रट लगाता हुआ चला जाता है। यह शैली 'योग्यता' के सरासर विरुद्ध होने से धोखा देने का पर्यायवाची है।

३. स्वामी दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास में लिखा है कि—

प्रश्न—जो सभी अहिंसक हो जाएँ तो व्याघ्र आदि पशु इतने बढ़ जाएँ कि सब गाय आदि पशुओं को मार खाएँ और तुम्हारा पुरुषार्थ ही व्यर्थ हो जाए।

उत्तर—यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों उनको दण्ड देवें और प्राण से भी वियुक्त कर दें।

प्रश्न—फिर क्या उनका मांस फेंक दें?

उत्तर—चाहे फेंक दें चाहे कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें वा जला देवें अथवा कोई मांसाहारी खावे तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती, **किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है। जितना हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छल-कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है, वह अभक्ष्य है।**

इस सारे लेख को एक-साथ पढ़ने से स्पष्ट पता लगता है कि स्वामीजी मरे हुए के मांस को खाना भी इसलिए अभक्ष्य बतलाते हैं कि इससे मांस-भक्षण का स्वभाव होकर उस व्यक्ति का स्वभाव हिंसक होना सम्भव है और हिंसा से प्राप्त की हुई वस्तु का प्रयोग अभक्ष्य है, परन्तु पोपमण्डल के आत्म-विक्रय का अवलोकन कीजिए। वे सत्यार्थप्रकाश का इतना पाठ सुना देते हैं जो हमने पतले अक्षरों में दिया है और इससे जनता में भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं कि स्वामीजी ने मरे हुए पशुओं और मनुष्यों का मांस खाने की आज्ञा दी है। यद्यपि अगले पाठ को जो मोटे अक्षरों में दिया है, पढ़कर यह भ्रान्ति तुरन्त दूर हो जाती है। पोपजी की यह शैली आसत्ति के सरासर विरुद्ध होने से जालसाज़ी (कूटकर्म) ही है।

४. स्वामीजी ने संस्कार-विधि में मुण्डन-संस्कार में लिखा है—

"ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसीः॥"

इस मन्त्र को बोलके उस्तरे को दाएँ हाथ में लेवे।

संस्कार-विधि में केवल इतना ही पाठ है। न वहाँ मन्त्र का अर्थ किया गया है और न ही कहीं पूजा शब्द है, परन्तु पोपमण्डल ने इसपर आकाश सिर पर उठा रक्खा है कि स्वामीजी ने संस्कार-विधि में उस्तरे की पूजा लिखी है। जब स्वामीजी ने सैकड़ों स्थानों पर मूर्त्तिपूजा का खण्डन किया है, तब स्वामीजी की मनसा के विपरीत उनके लेख का अर्थ लगाना सरासर उनके तात्पर्य के विरुद्ध होने से छल-कपट और पामरपन है।

ये हमने नमूने (बानगी) के रूप में चार उदाहरण दे दिये हैं कि पोपमण्डल इस प्रकार से स्वामीजी के ग्रन्थों के सम्बन्ध में आत्म-विक्रय करके नरक का भागी बन रहा है और फिर सत्यार्थप्रकाश के सन् १८७५ के प्रथम संस्करण और संस्कार-विधि को भी जनता में पढ़कर जनता में भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं। यद्यपि पोपमण्डल ने ही इनमें पौराणिक शिक्षा का प्रक्षेप कर दिया था और जब स्वामीजी को पता चला तो स्वामीजी ने विज्ञापन द्वारा तुरन्त उनका खण्डन कर दिया था और उनकी जितनी प्रतियाँ मिल सकीं उन सबको जला दिया तथा सत्यार्थप्रकाश और संस्कार-विधि को फिर से शुद्ध करके छपवाया और उनकी भूमिका में भी लिख दिया कि प्रथम संस्करण अशुद्ध छप गया था, अब उसे शुद्ध करके प्रकाशित किया जा रहा है, परन्तु फिर भी पोपमण्डल उन्हें जनता के समक्ष प्रस्तुत करके कोलाहल करता ही रहता है। जब समष्टिरूप से सारा आर्यसमाज उन्हें जलाने योग्य और रद्द की हुई मानता है, ऐसी स्थिति में किसी को भी आर्यसमाज के समक्ष इन पुस्तकों का प्रमाण देने का अधिकार शेष नहीं रहता।

निष्कर्ष यह कि पोपमण्डल छल-कपट, धोखेबाज़ी और कूटनीति से स्वामीजी के ग्रन्थों की भाषा को तोड़-मरोड़कर सर्वथा बेहूदा और व्यर्थ के प्रश्न करता रहता है। आर्यसमाज की ओर से इन प्रश्नों का मुँहतोड़ उत्तर सैकड़ों बार दिया जा चुका है। उन्हीं लचर, बेहूदा और व्यर्थ के प्रश्नों को पोपजी ने अपनी पुस्तक में एक स्थान पर संग्रहीत कर दिया है। यद्यपि इन प्रश्नों का उत्तर देना अपने समय और योग्यता का सर्वथा अनुचित उपयोग करना है, फिर भी जनता के सन्तोष के लिए हम इन प्रश्नों का उत्तर लिख देते हैं। पाठक इन उत्तरों को पढ़कर आनन्द उठाएँ।

१. **पोपजी**—अथर्ववेद (१९।९।१०) में चन्द्रमा और राहु आदि ग्रहों का वर्णन है, परन्तु इस वेद की आज्ञा के विरुद्ध स्वामी दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास के पृष्ठ ३१ पर इन ग्रहों का खण्डन किया है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—स्वामी दयानन्दजी ने चन्द्र, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनिश्चर, राहु, केतु, सूर्य आदि नामवाले नक्षत्रों के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया, अपितु स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में यह सिद्ध किया है कि वेदों में जहाँ पर स्तुति, प्रार्थना और उपासना का वर्णन होगा वहाँ पर ये चन्द्र-मङ्गल आदि नाम नक्षत्रों के नहीं होंगे, अपितु वहाँ पर ये सारे नाम मौलिकरूप से ईश्वर के ही होंगे और जहाँ पर वेदों में सृष्टि की उत्पत्ति के प्रकरण में ये नाम होंगे वहाँ इन नामों से नक्षत्रों का ग्रहण होगा। सत्यार्थप्रकाश में ग्रहों का खण्डन नहीं अपितु याथातथ्य वर्णन है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेद के अनुकूल है।

हाँ, क्योंकि ऋग्वेद (१०।१९०।३) में सूर्य-चन्द्रमा आदि इन सब ग्रहों की उत्पत्ति सृष्टि के आरम्भ में वर्णित है और पुराणों में इनकी उत्पत्ति विभिन्न समय पर सृष्टि की उत्पत्ति के पश्चात् वर्णित की गयी है, जैसाकि बुध को चन्द्रमा का पुत्र लिखा है आदि-आदि, इसलिए पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

२. पोपजी—यजुर्वेद (३४।५१) में मन्त्र और डोरा आदि बाँधने से आत्मा की रक्षा बतलायी है, परन्तु वेद की इस आज्ञा के विरुद्ध सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास पृष्ठ ३३ पर मन्त्र पढ़कर डोरा बाँधना और यन्त्र आदि डालने का खण्डन किया है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेद के विरुद्ध है।

तोपजी—इस मन्त्र[१] में यन्त्र-मन्त्र और डोरे-धागे की चर्चा तक भी नहीं है। इसमें तो मनुष्यों को आयु बढ़ाने के लिए ब्रह्मचर्य धारण करने और विद्या पढ़ने का उपदेश दिया गया है। यजुर्वेद अध्याय ३६, मन्त्र २३ में शारीरिक रक्षा के लिए ओषधियों का प्रयोग करने की आज्ञा है और यजुर्वेद (३६।३) में आत्मा की रक्षा के लिए परमात्मा की उपासना की आज्ञा है, अतः यन्त्र डालना और डोरा बाँधना पाखण्ड तथा वेद के विरुद्ध है, इसलिए इनका खण्डन करनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और इस पाखण्ड के करने की आज्ञा देनेवाले अष्टादश पुराण वेद के विरुद्ध हैं।

३. पोपजी—निरुक्त [२.४] में एक वेदमन्त्र का अर्थ करते हुए आर्यसमाज के वेदभाष्यकार पं० राजारामजी लिखते हैं कि—ब्राह्मणों को वेदविद्या की रक्षा करनी चाहिए और प्रत्येक को यह विद्या नहीं देनी चाहिए, परन्तु इस मन्त्र के आर्यसमाजी भाष्य के विरुद्ध सत्यार्थप्रकाश में स्वामी दयानन्दजी ने शूद्र और चाण्डाल तक को वेद पढ़ने की आज्ञा दी है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेद के विरुद्ध है।

तोपजी—निरुक्त के इस पाठ[२] में यह बिल्कुल नहीं लिखा कि शूद्रों और चाण्डाल को विद्या न पढ़ानी चाहिए, अपितु यह लिखा कि "ईर्ष्या करनेवाले, कुटिल और दुराचारी को मेरा उपदेश न कर और न विद्या पढ़ा।" दुराचारी चाहे ब्राह्मण आदि कोई भी हो, उसे विद्या पढ़ाने का निषेध और सदाचारी को पढ़ाने की आज्ञा है तथा यजुर्वेद [२६।२] में प्रत्येक मनुष्य को वेद पढ़ने और पढ़ाने की आज्ञा है, अतः शूद्र और चाण्डाल को वेद पढ़ने की आज्ञा देनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और स्त्री तथा शूद्रों को वेद पढ़ाने का निषेध करनेवाले अट्ठारह पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

४. पोपजी—यजुर्वेद [३६।२३ तथा ३।१७] में और सामवेद प्रपाठक १, खण्ड २, मन्त्र १ में ईश्वर से प्रार्थना के द्वारा और ईश्वर का नाम-स्मरण करने से पापों से छुटकारा माना गया है और ईश्वर के नाम-स्मरण से धन, आयु, स्वास्थ्य की प्राप्ति होने तथा अल्पायु की मृत्यु से बचने का वर्णन है, परन्तु इन वेदमन्त्रों के विरुद्ध स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि मन्त्र जपने से और ईश्वर का नाम रटने से पापों की निवृत्ति नहीं होती, अर्थात् मीठा-मीठा कहने से मुँह मीठा नहीं होता, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—उपर्युक्त तीनों[३] ही मन्त्रों में इस बात की चर्चा बिल्कुल नहीं है कि केवल

---

१. मन्त्र के शब्द ये हैं—**यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यꣳ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः॥** —यजुः० ३४।५१

२. निरुक्त का मूलपाठ यह है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

३. ये तीनों मन्त्र क्रमशः ये हैं—

(क) **सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥** —यजुः० ३६।२३

(ख) **तनूपाऽअग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदाऽअग्नेऽसि वर्चो मे देहि।**
अग्ने यन्मे तन्वाऽ ऊनं तन्मऽआपृण॥ —यजुः० ३।१७

(ग) **नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः। अमैरमित्रमर्दय॥** —सा० ११

प्रार्थना करने से ही धन, आयु और स्वास्थ्य की प्राप्ति हो जाती है और न ही इस बात की चर्चा है कि केवल ईश्वर का नाम जपने से पापों से छुटकारा हो जाता है, अपितु प्रथम मन्त्र में ओषधियों के प्रयोग की आज्ञा है और मन्त्र दो तथा तीन में परमात्मा से स्वास्थ्य, आयु, तेज, बल, बुद्धि और शत्रुओं से रक्षा की प्रार्थना की गयी है। कोई वस्तु केवल प्रार्थना से नहीं मिला करती, वरन् उसके लिए कर्म अर्थात् प्रयत्न आवश्यक है। इसलिए यजुर्वेद (४०।२) में उपदेश है कि सब मनुष्यों को कर्म करते हुए जीने की इच्छा करनी चाहिए। नाम-स्मरण का यही फल है कि परमात्मा को सर्वत्र व्यापक जानकर बुरे कार्यों से बचा जाए, क्योंकि किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा और प्रार्थना के साथ कर्म करने से फल की प्राप्ति होगी, अतः सत्यार्थप्रकाश का लेख ठीक और वेदों के अनुकूल है। चूँकि पौराणिकों में नाम-स्मरण से पापों का दूर होना और केवल प्रार्थना से ही फल की प्राप्ति का वर्णन है, अतः अष्टादश पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

५. पोपजी—यजुर्वेद [३१।३] में ईश्वर को शरीरधारी माना गया है, परन्तु सत्यार्थप्रकाश में वेदों के विरुद्ध ईश्वर को अशरीरी लिखा है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—इस मन्त्र[1] में ईश्वर को शरीरधारी नहीं कहा गया है, अपितु इसमें यह बतलाया है कि यह सारा जगत् परमात्मा की अपेक्षा बहुत ही तुच्छ है। परमात्मा इस जगत् से बाहर भी असीमरूप में व्यापक है और यजुर्वेद अध्याय ४०, मन्त्र ८ में स्पष्ट शब्दों में परमात्मा को **अकायम्**=शरीररहित कहा गया है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और परमात्मा को शरीरधारी बतानेवाले पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

६. पोपजी—ऋग्वेद अनुवाक ७, अध्याय ८, मन्त्र १८० में ईश्वर की मूर्त्ति का वर्णन है, परन्तु सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने भगवान् की मूर्त्ति का खण्डन किया है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—ऋग्वेद के सातवें अनुवाक में अध्याय ८ और वर्ग २७ हैं और इन वर्गों में से किसी में भी १८० मन्त्र नहीं हैं। आपको पता ठीक लिखना चाहिए, यूँ ही सटल्लेबाजी से बेचारे सनातनधर्मियों की आँखों में धूल झोंकना उचित नहीं है। हम डंके की चोट घोषणा करते हैं कि चारों वेदों में एक भी मन्त्र ईश्वर की मूर्त्ति का वर्णन करनेवाला नहीं है, प्रत्युत यजुर्वेद अध्याय ३२, मन्त्र ३ में स्पष्ट लिखा है कि परमात्मा की मूर्त्ति नहीं है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और परमात्मा की मूर्त्ति का वर्णन करनेवाले अट्ठारह पुराण वेदों के सर्वथा विरुद्ध हैं।

७. पोपजी—अथर्ववेद काण्ड ८, सूक्त ६, मन्त्र १ से सारे सूक्त में भूतयोनि का वर्णन है और इनके आवेश को दूर करने के लिए उपाय बतलाये गये हैं, परन्तु इन वेदमन्त्रों के विरुद्ध सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने भूतयोनि का खण्डन किया है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—इस सारे सूक्त में स्वयंवर का वर्णन है और बताया है कि कन्या का रोगी पुरुष के साथ विवाह नहीं करना चाहिए। इस सूक्त में भूतयोनि का नाम व चिह्न भी नहीं है। चूँकि यजुर्वेद [४।१५] में लिखा है कि मरने के पश्चात् मनुष्य का जीव कर्मों के अनुसार दूसरी योनि को प्राप्त करता है और यजुर्वेद अध्याय ३१ में संसार की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, परन्तु भूतयोनि की

---

१. मन्त्र यह है—

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

—यजुः० ३१।३

कोई चर्चा नहीं है और मनुस्मृति में वर्णित उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जेरज—इन चार प्रकार की योनियों में से भी भूत किसी में सिद्ध नहीं होता, अतः भूत और उसके आवेश को दूर करना केवल स्वार्थी और छली-कपटी लोगों ने ठगी का बहाना बना रक्खा है, अतः भूत का खण्डन करनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और भूत के अस्तित्व का वर्णन करनेवाले पुराण वेद के विरुद्ध हैं।

८. पोपजी—अथर्ववेद काण्ड ६, सूक्त ११०, मन्त्र २ में 'ज्योतिष के नव-ग्रहों का फल पुरुष को मिलता है' ऐसा वर्णन है और ग्रहों की शान्ति के साधन बतलाये गये हैं, परन्तु इस मन्त्र के विरुद्ध सत्यार्थप्रकाश में ग्रहों के फलों का खण्डन है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—इस मन्त्र में न तो ज्योतिष के नवग्रहों की चर्चा है और न ही इनके फल और शान्ति के साधनों का वर्णन है, वरन् इस वेदमन्त्र में मनुष्यों को उपदेश दिया गया है कि वे धर्मात्मा लोगों का अनुकरण करते हुए पुरुषार्थ से सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियम में रहते हुए सब विघ्नों को दूर करके सौ वर्षवाली अवस्था को प्राप्त करें और यजुर्वेद [४०।२] में वर्णन है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है और उसे अपने ही कर्मों का फल मिलता है। चूँकि सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध आदि सितारों का हमारे साथ हमारी प्रकृति के अनुसार केवल सर्दी-गर्मी का ही सम्बन्ध है, हमारे कर्मों के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह फलित ज्योतिष ठग लोगों ने जनता को ठगने के लिए ही घड़ रक्खा है, अतः ग्रहों के फलों का खण्डन और कर्मों के फलों का मण्डन करनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और नवग्रहों के फलों का वर्णन करनेवाले पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

९. पोपजी—अथर्ववेद [१८.४.४८] में लिखा है कि मरे हुए पुरुष पितरयोनि में प्रकट हों और इन्हीं के लिए श्राद्ध और तर्पण का विधान बतलाया है, परन्तु इसके विरुद्ध स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में जीते-जागते पितरों का श्राद्ध करना लिखा है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—इस मन्त्र में न श्राद्ध शब्द है और न तर्पण और न ही यह वर्णन है कि मृतकों के निमित्त ब्राह्मणों को भोजन कराने से मृतक पितरों की तृप्ति होती है, अपितु इस मन्त्र में तो यह वर्णन है कि माता-पिता और आचार्यगण सन्तानों को ऐसी शिक्षा दें जिससे मुर्दा जातियाँ भी जीवित जातियों में गणना करने योग्य बन जाएँ और यजुर्वेद [१९।४६] में आज्ञा है कि जीवित माता-पिता और आचार्य की सेवा करो। चूँकि माता-पिता, बहिन-भाई आदि सम्बन्ध भी शरीरों के साथ होने से जीवितों के साथ ही होते हैं, मरने के पश्चात् जीवों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं रहता और न ही मृतक पितर हमारी सेवा और भोजन आदि को ग्रहण कर सकते हैं, अतः जीवित माता, पिता, आचार्य, साधु, संन्यासी, महात्मा, राजा आदि हमारी रक्षा करनेवाले जीवित पितरों की सेवा का वर्णन करनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और मृतक पितरों के निमित्त ब्राह्मणों को भोजन कराने से उनकी तृप्ति माननेवाले पुराण वेदों के सर्वथा विरुद्ध हैं।

१०. पोपजी—ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ५, मन्त्र २० में 'पुरुष को अपनी इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए' इस विषय का वर्णन है, परन्तु इसके विरुद्ध सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी की आज्ञा है कि गर्भवती स्त्री के पति से जवान होने के कारण न रहा जाए अथवा रोगी पुरुष की स्त्री से न रहा जाए तो स्त्री किसी दूसरे पुरुष से और पुरुष किसी अन्य की स्त्री के साथ सहवास करके अपनी ऐन्द्रिक इच्छा को पूर्ण कर ले, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—यद्यपि ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ५ में २० मन्त्र ही नहीं हैं, केवल सात ही मन्त्र हैं, पोपजी ने यूँ ही अपने स्वभाव के अनुसार सटल्ला मार दिया, तथापि हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि इन्द्रियों को वश में रखना वेदों के अनुकूल है। जो लोग अपनी इन्द्रियों को वश में रख सकें तो वे नियोग क्या चाहे प्रथम विवाह भी न करें, परन्तु जो लोग अपनी इन्द्रियों को वश में न रख सकें, अपितु बृहस्पति की भाँति भाई की गर्भवती स्त्री से व्यभिचार करने की मूर्खता के भागी बनें, ब्रह्मा की भाँति पोती का मुँह देखकर ही उसपर अनुरक्त हो जाएँ और अपनी धोती को गन्दा कर डालें, चन्द्रमा की भाँति विवश होकर गुरु की स्त्री को बलात् पकड़कर दुराचार करने पर उतारू हो जाएँ। महादेव, विश्वामित्र, ऋष्यशृङ्ग की भाँति वेश्यागमन करके दिन व्यतीत करें, कृष्ण की भाँति अर्जुन-जैसे कोमल-कोमल लड़कों को स्त्री बनाकर सनातनधर्म कर डालें, किन्दम की भाँति हिरनी आदि पशुओं के साथ मैथुन कर डालें और सूर्य की भाँति स्त्री के नाक-मुख में ही वीर्याधान करने लगें, मोहिनी की भाँति आते-जातों को बलात् चिपटने लगें, शूर्पनखा की भाँति दूसरों को बलात् भोग के लिए विवश करें, संज्ञा की भाँति चाचा से ही लिपटने पर विवश हो जाएँ, इस प्रकार के स्त्री-पुरुषों को व्यभिचार से बचाने के लिए अथर्ववेद काण्ड ९, सूक्त ५, मन्त्र २७-२८ और अथर्ववेद [१८.३.१-३] में पञ्चायत के विधि-विधान के अनुसार नियमपूर्वक नियोग की विधि पूर्ण करके सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा दी है, जिसकी सविस्तर व्याख्या मनुस्मृति अध्याय ९ श्लोक १२० से १४६ तक में की गयी है, जिसके अनुसार ही वेदव्यासजी ने अम्बिका, अम्बालिका और दासी से तथा कुन्ती ने धर्म, वायु और इन्द्र से नियोग करके धृतराष्ट्र, पाण्डु, विदुर तथा युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि को उत्पन्न किया, अतः वेदानुकूल नियोग की आज्ञा देकर सर्वसाधारण को व्यभिचार से बचानेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और उपर्युक्त बृहस्पति आदि के इतिहासों का वर्णन करके जनता को व्यभिचार की शिक्षा देनेवाले पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

११. पोपजी—ऋग्वेद मण्डल ९, सूक्त ८३, मन्त्र १ में व्रत-साधन आदि तपस्या करने से ईश्वर और सुख की प्राप्ति बतलायी है, परन्तु इसके विरुद्ध स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में व्रतों और तप के साधनों का खण्डन किया है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—व्रत और तप किसे कहते हैं—इस बात की व्याख्या भी अथर्ववेद काण्ड ११, सूक्त ५ में विस्तारपूर्वक की गयी है कि ब्रह्मचर्य के व्रत का नाम ही तप है, भूखा मरना, अग्नि में तपना, शरीर को जलाना, पानी में खड़ा होना आदि-आदि तप और व्रत नहीं हैं और न ही इनसे ईश्वर और सुखों की प्राप्ति हो सकती है, प्रत्युत ब्रह्मचर्य के व्रत को धारण करके विद्या का ग्रहण, वेद का स्वाध्याय करना, सदाचारी रहना रूप तो तप है उससे ही ईश्वर और सुख की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए भूखे रहना और अग्नि में तपनेरूप मिथ्या व्रत और तप का खण्डन करके ब्रह्मचर्यव्रत के तप का वर्णन करनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और भूखा रहने को व्रत तथा शरीर को अग्नि में तपाने आदि को व्रत, तप वर्णन करनेवाले पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

१२. पोपजी—ऋग्वेद मण्डल ६, सूक्त ४७, मन्त्र १८ में ईश्वर के दस प्रधान अवतारों का वर्णन है, परन्तु इसके विरुद्ध स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में ईश्वर के अवतारों का खण्डन किया है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—इस मन्त्र में दस अवतारों में से एक का भी नाम नहीं है, अपितु इस मन्त्र में तो जीवात्मा का वर्णन है कि जीवात्मा अनेक जन्म-जन्मान्तरों को धारण करके दस इन्द्रियों को और सैकड़ों प्रकार के शरीरों को धारण करके प्रकृति के साथ अनेक रूपों को

प्राप्त होता है और यजुर्वेद अध्याय ४०, मन्त्र ८ में स्पष्ट वर्णन किया गया है कि ईश्वर शरीररहित तथा नस-नाड़ियों के बन्धन से मुक्त है। परमात्मा अवतार धारण नहीं करता, अतः अवतारों का खण्डन करनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदानुकूल और परमात्मा के अवतारों का वर्णन करनेवाले पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

१३. पोपजी—ऋग्वेद मण्डल १० के यम-यमी सूक्त से वेदों में इतिहास का होना सिद्ध होता है, परन्तु स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में 'वेदों में इतिहास नहीं है' ऐसा माना है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध हैं।

तोपजी—यम-यमी गौणिक नाम हैं, ऐतिहासिक नाम नहीं हैं। जो पुरुष ब्रह्मचर्य आदि यमों को धारण करे उसका नाम यम और जो स्त्री धारण करे उसका नाम यमी है। वेद सृष्टि के आदि में प्रकट हुए, इसलिए उनमें किसी का भी इतिहास होना असम्भव है, क्योंकि किसी का इतिहास उसके जन्म के पश्चात् लिखा जा सकता है, अतः वेदों में इतिहास का खण्डन करनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और वेदों में इतिहास बतानेवाले पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

१४. पोपजी—ऋग्वेद मण्डल ५[1], सूक्त २, मन्त्र ८ में लिखा है कि दूसरे की सन्तान को मन से भी अपनी सन्तान नहीं मानना चाहिए। वह अपनी कभी नहीं होती, परन्तु वेदों की इस आज्ञा के विरुद्ध सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने लिखा है कि वर्ण के परिवर्तन होने पर परस्पर पुत्र और पुत्रियों का परिवर्तन किया जाए। स्वामीजी का यह मनमाना परिवर्तन वेद के विरुद्ध होने से सत्यार्थप्रकाश वेद-विरुद्ध है।

तोपजी—हम प्रश्न संख्या १ में विस्तार के साथ सिद्ध कर आये हैं कि इस मन्त्र में यह लिखा है कि जो लड़का हमारे गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध हो और हमें प्रसन्न न कर सके वह दूसरे का लड़का हमारा पुत्र नहीं बन सकता, परन्तु जो अच्छे स्वभाववाला नवयुवक हो वह हमारा पुत्र बन सकता है। यह मन्त्र तो स्वामीजी के लेख का समर्थन करता है, खण्डन नहीं, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और जन्म से वर्णव्यवस्था माननेवाले पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

१५. पोपजी—यजुर्वेद अध्याय ८, मन्त्र ५१ के भाष्य में स्वामी दयानन्दजी ने लिखा है कि बालक अपनी माता का ही दूध पीये और संस्कार-विधि के जातकर्म-संस्कार में स्वामीजी ने यजुर्वेद [१७।८७] में बालक को अपनी माता का दायें स्तन का दूध पिलाना लिखा है और ऋग्वेद सूक्त १६४ मन्त्र ४९ से बायें स्तन का दूध बालक को पिलाना लिखा है, परन्तु इन वेदमन्त्रों के विरुद्ध स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि माता बालक के उत्पन्न होने पर केवल छह दिन ही दूध पिलाए और बाद में माता के स्तनों पर दवाई लगाई जाए, जिससे दूध निकलना बन्द हो जाए, फिर बकरी, गौ, दाई आदि का दूध पिलाया जाए, इसलिए भी सत्यार्थप्रकाश वेद के विरुद्ध है।

तोपजी—हम इस बात का प्रश्न-संख्या १२ के उत्तर में विस्तार के साथ वर्णन कर चुके हैं कि स्वामीजी ने दाई, बकरी अथवा गाय का दूध पिलाने को अनिवार्य नहीं ठहराया, अपितु अस्थायीरूप में लिखा है और यह यजुर्वेद [१२।२] के सर्वथा अनुकूल है, क्योंकि वहाँ दाई का दूध पिलाना बतलाया है तथा स्वामीजी की व्याख्या सुश्रुत-संहिता शारीरिक स्थान अध्याय १० के अनुसार है। यजुर्वेद अध्याय ८, मन्त्र ५१ में 'ही' शब्द पोपजी ने अपनी ओर से जोड़ दिया है, अन्यथा यजुर्वेद के दोनों मन्त्र साधारणरूप से माता का दूध

---

१. पोपजी ने पता ग़लत दिया है। इस मन्त्र का ठीक पता है—ऋग्वेद ७।४।८

पिलाने का वर्णन करते हैं, विशेषरूप से दाई रखने का खण्डन नहीं करते। ऋग्वेद में १० मण्डल हैं। कौन-से मण्डल के १६४ सूक्त का ४९वाँ मन्त्र है, यह पोपजी ने नहीं लिखा। प्रतीत होता है कि पौराणिक गपोड़ा ही है। यदि ठीक हो तो भी विशेष अवस्था में दाई का खण्डन नहीं करता, अतः अपर्युक्त मन्त्र दाई का खण्डन नहीं करते और यजुर्वेद अध्याय १२, मन्त्र २ दाई की आज्ञा देता है। इस कारण सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और दाई के विरुद्ध पौराणिक पोपमण्डल का रोना-चिल्लाना सर्वथा वेदों के विरुद्ध है। चूँकि गरुडपुराण आचारकाण्ड अध्याय १७२, श्लोक १३ से १५ में भी बच्चे के लिए दाई निश्चित करने और गाय-बकरी का दूध पिलाने का वर्णन विद्यमान है।

१६. पोपजी—यजुर्वेद अध्याय २९, मन्त्र ३० में स्वामीजी लिखते हैं कि पुरुष विहाहिता स्त्री से ही सन्तान उत्पन्न करे, परन्तु इस वेदमन्त्र के विरुद्ध स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि विधवा स्त्री पाँच पुरुषों से नियोग करके दस सन्तान उत्पन्न करे अर्थात् दो अपने लिए और दो-दो अन्य चार पुरुषों के लिए। यह वेदविरुद्ध व्यभिचार नहीं तो क्या है?

तोपजी—हम प्रश्न-संख्या ३ के उत्तर में इस विषय पर पर्याप्त लिख चुके हैं। यजुर्वेद अध्याय २९, मन्त्र ३० के भाष्य में **'ही'** शब्द पोपजी ने अपनी ओर से बढ़ा लिया है, अन्यथा इस मन्त्र में सामान्य बात का वर्णन किया गया है कि स्त्रियाँ अपने पतियों से सन्तान उत्पन्न करें। यह मन्त्र व्यभिचार का खण्डन करता है, नियोग के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि नियोग विधि-विधान-अनुसार, वेदानुकूल पञ्चायती रीति-रिवाज से आचरण में आता है और नियोग से प्राप्त हुआ व्यक्ति भी पति ही कहाता है। अर्थवेद काण्ड ५, सूक्त १६ तथा १७ में स्त्री को दस पति तक और पुरुष को दस स्त्रियों तक नियोग की आज्ञा है और प्रत्येक स्त्री-पुरुष को दस तक सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार है, इसे व्यभिचार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नियोग की रस्म (प्रथा) विधि-विधानपूर्वक पूर्ण की जाती है। हाँ, द्रौपदी का एक ही समय में पाँच पति, जटला का एक ही समय में सात पति और वार्क्षी का एक ही समय में दस पति करना वस्तुतः व्यभिचार है, क्योंकि यह वेद के विरुद्ध है, अतः व्यभिचार को रोकने के लिए नियोग की आज्ञा देनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और व्यभिचार की शिक्षा देनेवाले भागवत आदि अट्ठारह पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

१७. पोपजी—स्वामीजी ने लिखा है कि जब किसी स्त्री का पति मर जाए तो उसका दाहकर्म करने से पूर्व लोग एकत्र होकर कहें कि—हे स्त्रि! तू इस पति की आशा छोड़कर जीते हुए हममें से किसी को पति चुन ले। यह वेदोक्त पतिव्रतधर्म के सर्वथा विरुद्ध है।

तोपजी—हम प्रश्न-संख्या ४ के उत्तर में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं कि स्वामीजी के लेख में 'दाहकर्म करने से पूर्व' ये शब्द नहीं है, अपितु ये शब्द पोपजी ने अपनी ओर से मिलाकर आक्षेप किया है। आर्यसमाज तो यह मानता है कि पति की मृत्यु के कुछ समय पश्चात् जब पञ्चायत उचित समझे तब किसी उपाय से उससे पूछे। हाँ, सनातनधर्म के टीकाकार सायणाचार्य ने इस मन्त्र के अर्थ इसी प्रकार किये हैं, अतः यह आक्षेप सनातनधर्म पर ही हो सकता है, आर्यसमाज पर नहीं। इस कारण सत्यार्थप्रकाश का लेख वेदोक्त पतिव्रतधर्म के अनुसार और सायणाचार्य का लेख वेदोक्त पतिव्रतधर्म के विरुद्ध है तथा महीधर के यजुर्वेदभाष्य अध्याय २३, मन्त्र २० में जो लिखा है कि यजमान की स्त्री स्वयं घोड़े के लिङ्ग को खेंचकर अपनी योनि में डाल ले, यह वस्तुतः पतिव्रतधर्म के विरुद्ध है।

१८. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने लिखा है कि—गर्मदेश में चोटी के साथ ही सब बाल कटवा देने चाहिएँ, यह किस वेद की आज्ञा है?

तोपजी—हम प्रश्न-संख्या ७ के उत्तर में सिद्ध कर आये हैं कि स्वामीजी ने चोटी कटाना अनिवार्य नहीं बताया, अपितु आवश्यकता के अनुसार बताया है, जिसकी आज्ञा यजुर्वेद अध्याय १७ मन्त्र ४८ में विद्यमान है, जिसकी व्याख्या मनुस्मृति [२।२१९] में की गयी है। आप वेद से बतलाएँ कि चोटी कितनी बड़ी, कहाँ रखनी चाहिए और चोटी नहीं कटानी चाहिए, यह कौन-से वेद की आज्ञा है?

१९. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने लिखा है कि आदिसृष्टि में जवान-जवान जोड़े उत्पन्न हुए—इसका वर्णन किस वेद में है?

तोपजी—हम प्रश्न-संख्या ५ के उत्तर में लिख चुके हैं कि सामवेद पूर्वार्चिक प्रपाठक १, द्वितीयोऽर्ध, दशती २, मन्त्र २ [क्रमिक मन्त्र ६४] में, यजुर्वेद [३१।९] में और ऋग्वेद [५।३०।५] में स्पष्टरूप से वर्णन किया है कि सर्ग-आरम्भ में यौवन-अवस्था में मनुष्य उत्पन्न हुए, वृद्ध या शैशव-अवस्था में नहीं। आप कोई वेदमन्त्र प्रस्तुत करें जिसमें लिखा हो कि सर्गारम्भ में मनुष्य बालक या वृद्ध उत्पन्न हुए, जवान नहीं।

२०. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि आदिसृष्टि तिब्बत में हुई, परन्तु इसके विरुद्ध शतपथ आदि में आर्यावर्त्त देश के ब्रह्मावर्त्त में ही प्रजापति द्वारा सृष्टि उत्पन्न करने का वर्णन है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदविरुद्ध है।

तोपजी—हम प्रश्न-संख्या ६ के उत्तर में लिख चुके हैं कि प्रथम तो शतपथ वेद नहीं है। दूसरे, इसका अवतरण अथवा उसका पता पोपजी ने कुछ नहीं दिया, जिसका स्पष्ट अर्थ यही है कि वैसे ही गप्प मार दी है। अथर्ववेद [११।१।७] में लिखा है कि जो भूमि सबसे पूर्व जलों से बाहर निकले, जिसमें मनुष्य निवास कर सकें और सबसे ऊँची हो—वहाँ ही सबसे पूर्व सृष्टि उत्पन्न होती है। इस वेदमन्त्र के अनुसार तिब्बत में सृष्टि का उत्पन्न होना ठीक और ब्रह्मावर्त्त में सृष्टि-उत्पन्न होना सर्वथा ग़लत है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदानुकूल और पौराणिक पोपमण्डल का प्रलाप वेद के विरुद्ध है। आप किसी वेदमन्त्र से सृष्टि का किसी अन्य स्थान पर उत्पन्न होना सिद्ध करें। यह किस वेद में लिखा है कि आदिसृष्टि तिब्बत में नहीं हुई?

२१. पोपजी—संस्कार-विधि के गृहस्थप्रकरण में लिखा है कि जब आर्यवधू विवाहित होकर सर्वप्रथम घर आये तो नगर की सब जवान और बूढ़ी दुराचारिणी स्त्रियाँ इसके पास आकर और इसे अपना तेज देकर घरों को चली जाएँ, फिर कभी न आएँ, जबकि वेदों में पतिव्रता स्त्रियों का सङ्ग करना लिखा है, फिर ऐसी वेदविरुद्ध आज्ञा क्यों दी गयी?

तोपजी—हम प्रश्न-संख्या ९ के उत्तर में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं कि पोपजी ने संस्कार-विधि का पाठ ठीकरूप में नहीं दिया। संस्कार-विधि का पाठ इस प्रकार—"जो दुष्ट हृदयवाली अर्थात् दुरात्मा जवान स्त्रियाँ और जो इस स्थान में वृद्ध दुष्ट स्त्रियाँ हों—वे भी इस वधू को शीघ्र तेज देवें, इसके पश्चात् अपने-अपने घरों को चली जाएँ और फिर इसके पास कभी न आएँ।"

तनिक ध्यानपूर्वक देखें, पोपजी ने संस्कार-विधि के पाठ को कितना परिवर्तित करके अपने प्रयोजन का बनाकर अङ्कित किया है, अन्यथा संस्कार-विधि का स्पष्ट आशय यह है कि जो दुष्ट हृदयवाली स्त्रियाँ वहाँ उपस्थित हों वे अपनी प्रतिष्ठा देकर चली जाएँ और फिर कभी उसके पास न आएँ, अर्थात् नववधू को आज्ञा है कि दुष्ट हृदयवाली स्त्रियों को अपमानित करके घर से निकाल दे जिससे वे फिर कभी इसके पास न आएँ और श्रेष्ठ, धर्मात्मा नारियों का सङ्ग करे। यह वेदमन्त्र का अर्थ है। इस मन्त्र का अन्य अर्थ हो भी नहीं सकता। वेदविरुद्ध दुराचार की शिक्षा पुराणों में ही मिलनी सम्भव है, संस्कारविधि में

नहीं। दुराचार की शिक्षा देखनी हो तो महधीर के यजुर्वेदभाष्य अध्याय २३, मन्त्र २३ से २६ तक देखें जहाँ स्त्रियाँ और पुरोहित लिङ्ग और भग की ओर संकेत करके उपहास करते हैं।

२२. पोपजी—निम्नाङ्कित मन्त्र किसी वेद में नहीं है, फिर इन्हें स्वामी दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश आदि में मन्त्र बताकर जनता को धोखा क्यों दिया? आर्यसमाजी मित्र बताएँ कि ये झूठे मन्त्र किस वेद के हैं? यहाँ आधार की ओट लेने की आवश्यकता नहीं, केवल वेद का नाम और मन्त्र की संख्या ही सत्यता समझी जाएगी। **'ओं वाक् वाक्'** समाजी वैदिक सन्ध्या में। **२३. 'ओं भूः पुनातु शिरसि'**, समाजी वैदिक संन्ध्या में। **२४. 'ओं ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम्'**, सत्यार्थप्रकाश में ये देवतर्पण के चार मन्त्र। **२५. 'ओं मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम्'**, सत्यार्थप्रकाश में ये ऋषितर्पण के चार मन्त्र। **२६. 'ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम्'**, सत्यार्थ प्रकाश में यह जीवित पितरों का मन्त्र। **२७. 'ओम् अग्नये स्वाहा'**, सत्यार्थप्रकाश में ये सब अग्निहोत्र के मन्त्र। **२८. 'ओं सानुगायेन्द्राय नमः'**, सत्यार्थप्रकाश में ये सभी बलिवैश्वदेव के मन्त्र।

तोपजी—हम पोपजी से पूछना चाहते हैं कि क्या इन मन्त्रों के नीचे स्वामीजी ने किसी वेद का प्रमाण मण्डल, अध्याय, सूक्त, मन्त्रों की संख्या लिखी है? यदि नहीं लिखी तो इनके सम्बन्ध में यह प्रश्न करना कि इन मन्त्रों को वेदों में दिखाओ—महा पाजीपन है। धोखा तो इसे तब कहा जा सकता यदि इनके नीचे किसी वेद का पता होता और वे वेद में न निकलते। जब स्वामीजी ने इन्हें वेदमन्त्र बताया ही नहीं तो फिर इसको धोखा कहना जनता को धोखा देना है। मन्त्र एक प्रकार की काव्यमयी शैली का नाम है, जिसकी रचना का अधिकार प्रत्येक ऋषि को प्राप्त है। ऋषि दयानन्दजी ने इसी अधिकार का प्रयोग करते हुए कर्मकाण्ड की आवश्यकता के लिए इन मन्त्रों का निर्माण किया है। हाँ, यदि ये मन्त्र वेद के विरुद्ध हों तो कोई मन्त्र देकर उसके साथ इनका विरोध दिखलाओ, अन्यथा इन मन्त्रों को ग़लत और झूठा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस प्रकार के मन्त्र ब्राह्मणग्रन्थों, सूत्रग्रन्थों, सुश्रुत और पुराणों में भी विद्यमान हैं, जो वेद में विद्यमान नहीं हैं, अपितु इन ग्रन्थों को लिखनेवाले ऋषियों ने ही कर्मकाण्ड के लिए निर्माण किये हैं, जैसाकि हमने प्रश्न-संख्या दो के उत्तर में गरुडपुराण आदि से बीसियों मन्त्र प्रस्तुत किये हैं। इनका नाम मन्त्र होने से ही इन्हें वेदों में से दिखाने का आग्रह करना केवल मूर्खता है। यदि प्रत्येक मन्त्र का वेदों में होना आवश्यक है तो गरुडपुराण आचारकाण्ड अध्याय ३१ में दिये गये—**'ओं हां हृदयाय नमः। ओं हीं शिरसे नमः'** आदि ९ मन्त्र और अध्याय ३२ में **'ओं अं वासुदेवाय नमः'** आदि पाँच मन्त्र तथा अध्याय ३९ में **'ओम् उच्चैश्रवसे नमः'** आदि पन्द्रह मन्त्र। कृपया यह बतलाएँ कि ये सब मन्त्र किस वेद के हैं?

२९. पोपजी—**'यमेन वायुना सत्यराजन्'** सत्यार्थप्रकाश में यजुर्वेद के नाम से झूठा लिखा गया है। यह किस वेद में है?

तोपजी—चूँकि इस पाठ के नीचे लिखा हुआ है 'इत्यादि वेदवचनों से निश्चय है कि 'यम' नाम वायु का है।' इस लेख से सिद्ध होता है कि यह एक वेदमन्त्र नहीं है, अपितु कई वेदमन्त्रों की ओर संकेत है। इसलिए **'यमेन'** से ऋग्वेद [१०।१४।८] की ओर, **'वायुना'** से ऋग्वेद [५।१९।५] की ओर, **'सत्यराजन्'** से यजुर्वेद [२०।४] की ओर संकेत है। इन मन्त्रों को देने से स्वामीजी का अभिप्राय यह है कि इन मन्त्रों से सिद्ध है कि 'यम' नाम वायु का है, अतः स्वामीजी ने जो कुछ लिखा है, वह वेद में विद्यमान है। हाँ, ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४, अध्याय २७, श्लोक ८, में सामवेद के नाम से यह मन्त्र लिखा

है—'**ओं श्रीदुर्गायै सर्वविघ्नविनाशिन्यै नमः**'—इस मन्त्र को सामवेद में दिखाओ।

३०. पोपजी—आर्यसमाजी कहते हैं कि हम मूर्त्तिपूजक नहीं, परन्तु समाज की पुस्तकों में ऐसा पाया जाता है [कि ये भी मूर्त्तिपूजक हैं], अन्यथा इसका अभिप्राय स्पष्ट करें—स्वामी दयानन्दजी ने अपने यजुर्वेदभाष्य अध्याय ३ मन्त्र ६२ में नाई के उस्तरे की पूजा लिखी है और यजुर्वेद अध्याय ४, मन्त्र १ में लिखा है कि 'हे उस्तरे! तू विष्णु की दाढ़ है। क्या उस्तरा और विष्णु की दाढ़ और दाढ़वाला शरीरधारी नहीं?' **३१.** यजुर्वेद अध्याय १२ मन्त्र ७० में स्वामी दयानन्दजी लिखते हैं कि 'हे आर्य लोगो! घी, दूध, शहद, शक्कर और फूल से खेत के ढेले तोड़नेवाले हल की पूजा करो।'

तोपजी—स्वामीजी का यजुर्वेदभाष्य हमारे समक्ष रक्खा हुआ है। इन तीनों मन्त्रों में न तो पूजा शब्द विद्यमान है और न ही उस्तरे और विष्णु की दाढ़ का नाम और चिह्न है और 'फूल' तथा 'पूजा' शब्द भी पोपजी की ही कल्पना है। प्रथम और दूसरे मन्त्र में ईश्वर से प्रार्थना है और तीसरे मन्त्र में घी, दूध, शहद, शक्कर की खाद डालकर भूमि को किसी विशेष पौधे के लिए तैयार करने का वर्णन है। इसका उत्तर हम विस्तार के साथ मूर्त्तिपूजा विषय में दे आये हैं।

३२. पोपजी—लकड़ी के बने हुए ऊखल-मूसल को कहना कि—'हे वनस्पति की लकड़ी के बने हुए ऊखल-मूसल! तुम्हें नमस्कार है' यह किस निराकार की पूजा है?

तोपजी—आपने पता नहीं लिखा कि यह लेख कहाँ का है—'ऊखल-मूसल तुमको नमस्कार है।' हम पोपजी को चैलैञ्ज करते हैं कि वह उपर्युक्त लेख स्वामीजी के किसी ग्रन्थ में से निकालकर दिखाएँ, अन्यथा झूठ बोलने के पाप का प्रायश्चित्त करें। यदि आपको अभी तक यह भ्रम है कि आर्यसमाज उस्तरा, कुशा, हल, मूसल, दण्डे की पूजा करता है तो परीक्षा कर लें। हम उपर्युक्त वस्तुओं को मैदान में रख देते हैं और आप शालिग्राम, शिवलिङ्ग आदि मूर्त्तियों को मैदान में रक्खें। हम मूसल आदि को जूते मारते हैं और आप शालिग्राम आदि को जूते मारें, स्वयमेव पता लग जाएगा कि मूर्त्तिपूजक कौन है? आप हैं या हम।

३३. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ३५३ पर मुसलमानों के उत्तर में स्वामी दयानन्दजी लिखते हैं कि हिन्दू लोग मूर्त्तिपूजक नहीं, अपितु मूर्त्ति के द्वारा ईश्वर की पूजा करते हैं, परन्तु शेष सत्यार्थप्रकाश में मूर्त्तिपूजा द्वारा ईश्वर की पूजा का खण्डन करते हैं—ये दो विरोधी बातें क्यों?

तोपजी—न तो सत्यार्थप्रकाश में विरोधी बातें हैं और न ही मूर्त्ति द्वारा ईश्वर की पूजा का वर्णन है, अपितु सत्यार्थप्रकाश में तो सर्वत्र मूर्त्ति द्वारा ईश्वर की पूजा का खण्डन ही किया है, परन्तु आप झूठ, छल-कपट से जनता को धोखा दे रहे हैं। सत्यार्थप्रकाश का मूल पाठ इस प्रकार है। स्वामीजी मुसलमानों को कहते हैं कि—

"जिनको तुम बुत्परस्त समझते हो वे भी उन मूर्तों को ईश्वर नहीं समझते, किन्तु उनके सामने ईश्वर की भक्ति करते हैं.......जैसे तुम्हारे लिए कुरआन में हुक्म है, वैसे उनके लिए पुराण में आज्ञा है। जैसे तुम कुरआन को खुदा का कलाम समझते हो, वैसे पुराणी पुराणों को खुदा के अवतार व्यासजी का वचन समझते हैं। तुममें और इनमें बुत्परस्ती का कुछ भिन्नभाव नहीं है, प्रत्युत तुम बड़े बुत्परस्त और वे छोटे हैं—हाँ, जो हम लोग वैदिक हैं वैसे ही तुम लोग भी वैदिक हो जाओ तो बुत्परस्ती आदि बुराइयों से बच सको, अन्यथा नहीं।"

इस पूरे लेख को पढ़कर बताएँ कि सत्यार्थप्रकाश में कौन-सी विरोधी बातें हैं? हाँ, पुराणों में मूर्त्तिपूजा का खण्डन अवश्य है। भागवत [१०।८४।१३] में लिखा है कि मूर्त्तिपूजा करनेवाले बैल और गधे के समान हैं। आर्यसमाज 'पूजा' शब्द का अर्थ किसी वस्तु का उचित प्रयोग, किसी वस्तु की उचित रक्षा और किसी व्यक्ति का उचित आदर-सम्मान मानता है; घण्टा, घड़ियाल, शंख बजाने, आरती उतारने और भोग लगाने को पूजा नहीं मानता।

३४. पोपजी—आर्यसमाज ईश्वर को केवल निराकार ही मानता है, साकार नहीं, परन्तु आर्यसमाज की प्रामाणिक पुस्तकों में साकार का वर्णन मिलता है, ऐसा क्यों?

तोपजी—आर्यसमाज के प्रामाणिक ग्रन्थों में ईश्वर को साकार बतलानेवाला एक भी वर्णन नहीं है।

३५. पोपजी—यजुर्वेद [२६।२] के भाष्य में स्वामी दयानन्दजी लिखते हैं कि ''जिस प्रकार मैं (ईश्वर) अपने स्त्री-पुत्रों को पढ़ाता हूँ, इसी प्रकार हे लोगो! तुम भी पढ़ाओ।'' इससे ईश्वर बाल-बच्चेदार होने और पढ़ाने से साकार प्रतीत होता है।

तोपजी—यह 'पुत्रों' शब्द कहाँ से घुसा लिया? आप लोग छल-कपट के बिना सचाई से कोई काम कभी करते ही नहीं हैं। आप लोगों का अब झूठ पर ही आश्रय है, परन्तु यह कब तक चलेगा? देखिए यजुर्वेदभाष्य का पाठ यह है—

''हे मनुष्यो! मैं ईश्वर जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अपने स्त्री-सेवक आदि और उत्तम लक्षणयुक्त अन्त्यज के लिए भी—इन उक्त सब मनुष्यों के लिए इस संसार में इस प्रकट की हुई, सुख देनेवाली चारों वेदरूप वाणी का उपदेश करता हूँ, वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें।''

इसमें स्त्री का वर्णन है, बीवी (पत्नी) का नहीं और सेवक अर्थात् भक्त की चर्चा है, पुत्रों की नहीं और सब पुरुष-स्त्रियाँ, सेवक आदि ईश्वर की 'स्व' हैं और ईश्वर सबका स्वामी है। वह मनुष्य की भाँति पढ़ाता नहीं, अपितु सृष्टि के आदि में ऋषियों के हृदयों में प्रकट कर देता है। भला! इस लेख से ईश्वर बाल-बच्चेदार और पढ़ानेवाला साकार कैसे सिद्ध हो सकता है?

३६. पोपजी—बृहदारण्यक उपनिषद् में आर्यसमाज के विद्वान् पं० राजारामजी, प्रोफेसर डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर लिखते हैं कि ''ईश्वर के दोनों रूप मूर्त और अमूर्त्त अर्थात शरीरसहित और शरीररहित हैं''—इससे भी ईश्वर शरीरी प्रतीत होता है।

तोपजी—हम 'पुराणों में मूर्त्तिपूजा' विषय में युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध कर आये हैं कि वहाँ ईश्वर का वर्णन नहीं, अपितु ईश्वर के द्वारा निर्मित जगत् की चर्चा है। यह बात आगे लिखी व्याख्या से पता लगती है। वहाँ लिखा है कि ''ईश्वर का बनाया हुआ जगत दो रूपोंवाला है शरीरी और अशरीरी। शरीरी जो आकाश और वायु से भिन्न अर्थात् अग्नि, जल तथा पृथिवी और अशरीरी आकाश और वायु। इस विवरण से स्पष्ट सिद्ध है कि यहाँ ईश्वर को नहीं अपितु ईश्वर द्वारा रचित जगत् को शरीरी और अशरीरी कहा गया है।''

३७. पोपजी—शुक्ल यजुर्वेद अध्याय ५, मन्त्र १९ में '**उभा हि हस्ता**' का अर्थ करते हुए स्वामी दयानन्द ने दो हाथोंवाला ईश्वर स्वीकार किया है, तो फिर आपका ईश्वर अशरीरी कैसे रहा?

तोपजी—आप बिल्कुल झूठ और ग़लत लिख रहे हैं। यहाँ ईश्वर के हाथों की चर्चा तक भी नहीं, प्रत्युत यहाँ तो ईश्वर से प्रार्थना की गयी है कि तू मेरे दोनों हाथों को ऐश्वर्य

से पूर्ण कर दे। इसलिए आपके ईश्वर को शरीरी सिद्ध करनेवाले सब प्रमाण ग़लत हैं। ईश्वर निश्चितरूप से अशरीरी है। पुराण भी ईश्वर को शरीररहित ही बताते हैं। शिवपुराण वायुसंहिता खण्ड २, अध्याय ६ में लिखा है कि ईश्वर शरीररहित है, उसकी मूर्त्ति नहीं बन सकती, वह जन्म नहीं लेता और न दुःखों में फँसता है।

३८. **पोपजी**—सन् १८८४ के मुद्रित सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ८३ पर दयानन्दजी का लेख है कि वेदों के प्रमाण से सब काम करो। आर्यसमाजी भी कहा करते हैं कि हमारे यहाँ सब संस्कार आदि वैदिक होते हैं, क्योंकि हमारा मत वेद है, परन्तु यह कथनमात्र है, क्योंकि अभी तक तो आर्यसमाज को वेद का ही पता नहीं चला। इसका कारण यह है कि संवत् १९६९ में मुद्रित सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ २९५ पर लिखा है कि आश्वलायन आदि सब शाखा ऋषि-मुनिकृत हैं, परमेश्वरकृत नहीं, अर्थात् जो शाखा के नाम से प्रसिद्ध हैं वे वेद नहीं हैं, परन्तु हम देखते हैं कि जिन चार पुस्तकों को आर्यसमाज वेद मानता है वे भी शाकल आदि शाखाएँ ही हैं। ऐसा केवल हम ही नहीं कहते किन्तु आर्यसमाज के मान्य काव्यतीर्थ पं० शिवशङ्कर शर्मा, वेदाध्यापक गुरुकुल काङ्गड़ी ने भी अपने 'वेदतत्त्वप्रकाश' पुस्तक के पृष्ठ ६४ पर इन्हें शाकल आदि शाखाएँ ही लिखा है। बस, जब तक आर्यसमाज के मत में शाखा वेद नहीं हैं और जिन्हें वेद कहा जाता है, वे भी शाखा ही हैं, तब तो दयानन्द के मत में वेद का सर्वथा अभाव है। इस अवस्था में आर्यसमाजी बताएँ कि वे कौन-से वेद के अनुसार चलते हैं और अपने को वैदिक कहने का इन्हें क्या अधिकार है?

तोपजी—'वेदों के प्रमाण से कार्य करो'—स्वामीजी के इस लेख का यही तात्पर्य है कि 'वेदों के अनुकूल कार्य करो' और आर्यसमाजी जो कहते हैं कि "हमारे यहाँ संस्कार आदि वैदिक होते हैं, उनका भी यही तात्पर्य है कि "हमारे यहाँ संस्कार वेदानुकूल होते हैं।" आर्यसमाज का मत वेद है, यह सोलह आने सत्य है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—इन चार मूल मन्त्रसंहिताओं का नाम ही वेद है। ये चारों शाखा नहीं हैं, अपितु ये चारों मूल हैं, अर्थात् मूल वृक्ष हैं। यदि मूल वृक्ष ही न हो तो फिर शाखा किसकी होगी। शाखा वे ग्रन्थ हैं जिनमें ऋषि-मुनियों ने वेदमन्त्रों की प्रतीकें रखकर उनकी व्याख्या की है। शाखा, क्योंकि मनुष्यों द्वारा रचित होती हैं, इसलिए वे जहाँ तक मूलग्रन्थ के अनुकूल हों वहीं तक प्रामाणिक मानी जाती हैं।

चारों वेद किसी ऋषि-मुनि द्वारा रचित नहीं हैं, अपितु ईश्वरकृत हैं। इन चारों में मन्त्रों की प्रतीकें रखकर उनकी व्याख्या नहीं है और ये चारों वेदों के नाम से प्रसिद्ध हैं, शेष शाखा के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन चारों को भी शाखा मानने, कहने या लिखनेवाले बिल्कुल ग़लत, युक्ति और तर्क से शून्य हैं, चाहे वे आप हों और चाहे कोई काव्यतीर्थ हों, क्योंकि इनको भी शाखा मानने से मूल कोई रहता ही नहीं और जब मूल ही नहीं तो शाखा किसकी? इसलिए आर्यसमाज का यह पक्ष बड़ा प्रबल है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चारों मूल मन्त्रसंहिता वेद हैं और शेष सब इनकी शाखाएँ हैं, अतः आर्यसमाज इन चारों के अनुसार चलता है और इसे अपने-आपको वैदिक कहने का अधिकार है, परन्तु सनातनधर्म को अभी तक वेदों का पता ही नहीं, क्योंकि वह सबको ही शाखा मानता है और मूल के बिना शाखा किसकी? चूँकि सनातनधर्म के अनुसार मूल ग्रन्थ कोई है ही नहीं, इसलिए ये शाखाएँ भी रद्दी की टोकरी में फेंकने योग्य हो जाती हैं। इस अवस्था में आर्यसमाज के मुक़ाबले में सनातनधर्म बताये कि उसकी क्या स्थिति है। क्या वेद संसार में हैं या नहीं? यदि हैं तो वह कौन-से हैं और यदि नहीं तो सनातनधर्म की तो समाप्ति ही है।

३९. पोपजी—पहले तो आर्यसमाज को वेद का ही पता नहीं। दूसरे, जिन चार शाखाओं को वेद के नाम से मानते हैं, उनमें सोलह संस्कारों और पञ्चमहायज्ञों की आज्ञा देनेवाला एक भी विधिवाक्य नहीं है। जिस आर्यसमाजी में वैदिक बनने का साहस हो वे मीमांसादर्शन के नियम के अनुकूल कोई वेद का विधिवाक्य दिखाएँ कि जिसमें स्पष्ट लिखा हो कि अमुक रीति से विवाह आदि करो अथवा प्रतिदिन सन्ध्या आदि किया करो। इन सब प्रमाणों के वेदवाक्य छापकर सर्वसाधारण के समक्ष प्रस्तुत करना आर्यसमाजीमात्र का कर्त्तव्य है, अन्यथा वह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाएगी कि आर्यसमाज वैदिक नहीं है, किन्तु वेद के नाम की आड़ में लोगों को धर्ममार्ग से गिरा रहा है।

तोपजी—आर्यसमाज को वेद का पूरा ज्ञान है। चारों मन्त्रसंहिता ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद मूल वेद हैं। वे शाखा नहीं हैं, अपितु मूलवृक्ष हैं। इनमें सोलह संस्कारों और पञ्चमहायज्ञ करने की आज्ञा देनेवाले विधिवाक्य विद्यमान हैं। वेदों में किसी भी सिद्धान्त का बीज होता है, विस्तार अथवा व्याख्या स्मृतिग्रन्थों में होती है। आर्यसमाज ने मीमांसादर्शन के अनुसार विधिवाक्य निकालकर सर्वसाधारण के लिए '**वेदामृत**' पुस्तक में छपवा दिये हैं, जोकि आर्यप्रतिनिधि सभा, पञ्जाब से प्रकाशित हुआ है, जिसे आवश्यकता हो वहाँ से मँगवाकर पढ़ सकता है। इसमें सोलह संस्कारों, पञ्चमहायज्ञों और अन्य सब सिद्धान्तों से सम्बन्धित मन्त्र संग्रहीत कर दिये गये हैं। आर्यसमाज वैदिक है और जनता में वेद का ही उपदेश करता है और जनता को पौराणिक गढ़े से निकालकर सन्मार्ग पर ले-जाता है, परन्तु आपकी स्थिति क्या है? प्रथम तो आपके मतानुसार वेद संसार में हैं ही नहीं, सब शाखाएँ ही हैं, मूलवृक्ष कोई है ही नहीं और फिर इन शाखाओं में भी मूर्त्तिपूजा, मृतकश्राद्ध, जलस्थलवाले तीर्थ, भूखा मरनारूप व्रत, पिण्डदान, लिङ्गपूजा आदि-आदि पोपलीलाएँ नहीं हैं। आपकी तो वही स्थिति हुई '**धोबी का कुत्ता घर का न घाट का।**'

४०. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश के चौथे भाग में वर्णव्यवस्था गुण-कर्म-स्वभाव—इन तीन पर मानी हुई है। ग्यारहवें भाग में ब्राह्मण आदि जातिभेद ईश्वरकृत माना है। अन्तभाग में गुण-कर्मों की योग्यता से वर्ण माना है—इन परस्पर-विरुद्ध तीन लेखों में से सत्य कौन-सा है?

तोपजी—वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म-स्वभाव पर निर्भर है, जन्म पर नहीं। यह आर्यसमाज का वेदानुकूल सिद्धान्त है और सत्यार्थप्रकाश में तीनों स्थानों पर इसी का वर्णन किया गया है, परन्तु आपने अपने छल-कपटवाले स्वभाव के अनुसार मिथ्याभाषण से काम लिया है। हम आपको तीनों पाठों की संगति लगाकर बतलाते हैं।

१. जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण-कर्म-स्वभाववाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच कर्म करे तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिए।

—सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थसमुल्लास

इस पाठ में गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार वर्ण माना है तथा गुण और स्वभाव की कर्म में ही गणना करके केवल कर्म से भी वर्ण-व्यवस्था का वर्णन किया है, क्योंकि उत्तम वर्णवाले को केवल कर्म से ही नीच होना माना है।

२. ''मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज जातिभेद ईश्वरकृत हैं, **परन्तु मनुष्यों में ब्राह्मण आदि को सामान्य जाति में नहीं, किन्तु सामान्य विशेषात्मक जाति में गिनते हैं। जैसे पूर्व वर्णाश्रम-व्यवस्था में लिख आये वैसे ही गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था माननी अवश्य है।**'' —सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लास

पोपजी ने इस पाठ को छोड़ दिया है जो हमने मोटे अक्षरों में दिया है। इस लेख का

तात्पर्य यह है कि जीव को उसके कर्म के अनुसार नीच या उच्च वर्ण में परमेश्वर की ओर से जन्म अर्थात् जाति-जन्म मिलता है, परन्तु इसके पश्चात् वह कर्म करने में स्वतन्त्र है। जैसे उन्नत या अवनत होने के कर्म करेगा उनके अनुसार ही उत्तम या नीच वर्ण को प्राप्त करेगा। यहाँ भी गुण-कर्म-स्वभाव से ही वर्ण-व्यवस्था स्पष्ट सिद्ध है।

३. '**वर्णाश्रम**' गुण-कर्मों की योग्यता से मानता हूँ।

—सत्यार्थप्रकाश, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

इसमें स्वभाव को गुण में समाविष्ट करके केवल गुण-कर्म ही लिख दिया है। निष्कर्ष यह कि गुण-कर्म-स्वभाव से और स्वभाव की गुणों में गणना करके गुण-कर्म से तथा गुण और स्वभाव दोनों को कर्म में गिनकर केवल कर्म के अनुसार भी वर्ण-व्यवस्था को कहा जा सकता है, इसलिए स्वामीजी के तीनों लेखों का तात्पर्य एक ही है, इनमें तनिक-सा भी विरोध नहीं है।

हाँ, आपके पुराणों में व्यासजी की उत्पत्ति में बीज को प्रधान माना है और धृतराष्ट्र तथा पाण्डु की उत्पत्ति में क्षेत्र को प्रधान माना है और विश्वामित्र की उत्पत्ति में कर्मों को प्रधान माना गया है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि आपके पुराणों में कहीं जन्म से और कहीं कर्म से भी वर्ण-व्यवस्था मानी है। इस विरोध का आप क्या समाधान करते हैं? [विस्तार के लिए द्रष्टव्य प्रश्न-संख्या १ का उत्तर]।

४१. पोपजी—आर्योद्देश्यरत्नमाला में जाति को ईश्वरकृत माना है और सत्यार्थप्रकाश में जातिभेद को ईश्वरकृत माना है। जब दोनों ईश्वरकृत हैं, तब वर्ण-परिवर्तन कैसे होगा?

तोपजी—आर्योद्देश्यरत्नमाला में जाति का यह लक्षण किया है—"जो जन्म से लेकर मरणपर्यन्त बनी रहे, जो ईश्वरकृत हो अर्थात् मनुष्य, गाय, अश्व और वृक्षादि" और मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जातिभेद को सत्यार्थप्रकाश में सामान्य जाति नहीं माना अपितु सामान्यविशेषजाति माना है, जिसके सम्बन्ध में स्पष्टरूप से वहीं लिखा हुआ है कि—"इसमें मनुष्यकृतत्व उनके गुण-कर्म-स्वभाव से पूर्वोक्तानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि वर्णों की परीक्षापूर्वक व्यवस्था करना राजा और विद्वानों का काम है।"

इसका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में जो मनुष्यपन है, वह ईश्वरकृत है, क्योंकि वे जन्म से मरण तक मनुष्य ही रहेंगे, परन्तु उनका ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के घर में जन्म लेना तो पिछले कर्मों के फल के अनुसार ईश्वरकृत है और जन्म लेने के पश्चात् शिक्षा प्राप्त करने और वयस्क [युवा] होने के पश्चात् परीक्षा लेकर इस बात का निर्णय करना कि कौन-कौन किस वर्ण के योग्य हैं और उनको उस-उस वर्ण में रखना यह मनुष्यकृत है, अर्थात् विद्वानों और राजा के हाथ में है। इसलिए अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार वर्णों का परिवर्तित हो जाना अत्यन्त सरल और युक्तियुक्त बात है। आपके यहाँ मनुस्मृति [२।१४८] में लिखा है कि जाति आचार्य निश्चित करता है अर्थात् वह मनुष्यकृत है और भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय १५, श्लोक १६ में लिखा है कि जाति जन्म से नहीं, फिर वर्ण कर्मानुसार परिवर्तित क्यों नहीं होंगे?

४२. पोपजी—आर्योद्देश्यरत्नमाला में जिस स्वभाव को नित्य तथा अविनाशी माना है, वह कैसे बदल जाता है?

तोपजी—जिस स्वभाव को आर्योद्देश्यरत्नमाला में नित्य और अविनाशी लिखा है वह है अग्नि में प्रकाश और उष्णता, वर्ण-व्यवस्था में वह स्वभाव शब्द नहीं है, अपितु वर्ण-व्यवस्था के विषय में स्वभाव नाम प्रकृति का है जो समय-समय पर परिवर्तित होती रहती

है। जब भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय २०, श्लोक ७२-७३ में लिखा है कि दस सहस्र मुसलमानों को मिस्र से भारत लाकर ब्राह्मण बनाया गया तो स्वभाव का परिवर्तन क्यों न माना जाए?

४३. पोपजी—स्वभाव माता-पिता के रज-वीर्य के द्वारा जन्म से बनता है या नहीं? यदि नहीं बनता तो उसकी उत्पत्ति का समय, प्रकार और कारण क्या हैं?

तोपजी—शारीरिक वस्तु का प्रभाव शरीर पर पड़ता है और आत्मिक वस्तु का आत्मा पर पड़ता है, अत: माता-पिता के रज-वीर्य का प्रभाव बच्चे के शरीर पर निर्बलता या सबलता के रूप में पड़ता है, परन्तु स्वभाव का सम्बन्ध शरीर से नहीं अपितु आत्मा से है और वह अच्छी या बुरी सङ्गति से परिवर्तित होता रहता है। माता, पिता, गुरु, मिलने-जुलनेवाले, मित्र आदि के स्वभाव जैसे होंगे, बच्चों के भी वैसे ही बन जाते हैं, यदि स्वभाव को आप माता-पिता के शरीर का भाग मानते हैं तो फिर ब्राह्मण के घर उत्पन्न होकर वे मुसलमान, ईसाई क्यों हो जाते हैं और आप उन्हें ब्राह्मण मानकर उनसे रोटी-बेटी का सम्बन्ध क्यों नहीं करते?

४४. पोपजी—स्वभाव का बदलना कभी सम्भव है या नहीं? यदि सम्भव है तो कब-कब, किस-किस प्रकार और किस-किस कारण से बदलता है?

तोपजी—यदि स्वभाव से आपका तात्पर्य स्वाभाविक धर्म है, जैसाकि अग्नि में प्रकाश और उष्णता, पानी में शीतलता—तो यह स्वाभाविक धर्म परिवर्तित होना सम्भव नहीं; और यदि स्वभाव से आपका तात्पर्य प्रकृति से है तो वह समय-समय पर अच्छे या बुरे सङ्ग से बदलता रहता है। यदि स्वभाव परिवर्तित नहीं हो सकता तो दस सहस्र मुसलमानों का ब्राह्मण बनना कैसे सम्भव हो गया?

४५. पोपजी—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के स्वभाव की परीक्षा गुण-कर्मों से ही होती है और स्वभाव गुण-कर्म के विरुद्ध नहीं होता, अपितु अनुकूल ही होता है, क्योंकि स्वभाव गुण-कर्मों के परिणाम का नाम है। यदि गुण-कर्मों के परिवर्तित होने पर भी स्वभाव स्थिर रहता है तो ब्राह्मण के मुसलमान होने, गोवध करने और गोमांस खाने पर भी ब्राह्मणपन स्थिर क्यों नहीं रहता?

४६. पोपजी—गुण द्रव्याश्रित होते हैं; कर्म स्वयं जड़ हैं, जन्म को इनका आधार न मानने पर आपके मत में इनका आधार क्या है? और जाति तथा वर्ण में परिवर्तनशील कौन है तथा वर्ण शब्द शरीर में कब घटता है।

तोपजी—गुण और कर्म दोनों ही द्रव्य के आश्रित हैं। द्रव्य के बिना गुण और कर्म दोनों ही पृथक् नहीं रह सकते। इनका आधार जन्म अर्थात् शरीर नहीं, अपितु आत्मा है। जाति और वर्ण में परिवर्तनशील वर्ण है और यह वर्ण जीवात्मा का नैमित्तिक गुण है। इसलिए जिस शरीर में जिस गुण-कर्म-स्वभाववाला जीव विद्यमान होता है, वह शरीर उसी वर्ण के नाम से पुकारा जाता है, अन्यथा वर्ण नाम गुणों का है जोकि नैमित्तिकरूप से जीव में रहते हैं। यदि आप गुण-कर्मों का आश्रय शरीर को मानते हैं तो ब्राह्मण के मुसलमान होने पर वही शरीर रहते हुए भी उसके गुण-कर्म क्यों बदल जाते हैं?

४७. पोपजी—प्राचीन कर्मों के आधार पर जाति, आयु और भोग ईश्वर की ओर से नियत होते हैं, इन्हें मनुष्य इस जन्म में बदल सकता है या नहीं?

तोपजी—यदि जाति से आपका तात्पर्य मनुष्य, गाय, घोड़ा, हाथी, वृक्ष, पशु, पक्षी से है तो वह इस जन्म में परिवर्तित नहीं हो सकती; और यदि जाति शब्द से आप ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र लेते हैं तो वर्त्तमान गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार जैसे आयु और भोग बदल जाते हैं, वैसे ही जाति भी परिवर्तित हो जाती है। जब अकालमृत्यु होना सम्भव है और पुरुषार्थ से भोग भी बदल जाता है, तब दो के बदलने से जाना जाता है कि कर्म के अनुसार जाति भी परिवर्तित हो जाती है। यदि जाति का परिवर्तन होना आप नहीं मानते तो जो आठ करोड़ हिन्दू मुसलमान बने हैं, इन्हें हिन्दू ही स्वीकार कर लें, बस, बेड़ा पार है।

४८. पोपजी—वर्ण-परिवर्तन में विश्वामित्र आदि का जो इतिहास दिया जाता है, वह किस वेद में है? यदि किसी वेद में नहीं है तो इस परिवर्तन को अवैदिक क्यों न माना जाए? और रामायण में जो इतिहास आता है वह दस सहस्र वर्ष तक तप करने के साथ आता है। इसे न मानकर केवल एक को मानना कैसे ठीक हो सकता? यदि सम्भव है तो दोनों ठीक हैं, अन्यथा दोनों असम्भव हैं।

तोपजी—वर्ण के परिवर्तन में हम विश्वामित्र का जो इतिहास देते हैं, वह, क्योंकि वेदानुकूल है, इसलिए देते हैं। वेदों में किसी का इतिहास नहीं है। चूँकि वेद कर्मानुसार वर्ण के परिवर्तन का वर्णन करते हैं, अत: विश्वामित्र का कर्मानुसार वर्ण-परिवर्तन वेदानुकूल होने से वैदिक है और क्योंकि वेदों में मनुष्य की अवस्था अधिक-से-अधिक चार सौ वर्ष की वर्णित की गयी है, अत: रामायण का दस सहस्र वर्ष का तप-वर्णन वेद के विरुद्ध होने से मानने योग्य नहीं और भविष्यपुराण में केवल एकादशी के व्रत से और शिवपुराण में केवल कार्तिककुमार के वर से तथा मनुस्मृति में वेद के अध्ययन से विश्वामित्र का वर्ण-परिवर्तन लिखा है, क्योंकि कारणों के सम्बन्ध में स्वयं पुराणों में विरोध है और वर्ण के परिवर्तन के सम्बन्ध में सब सहमत हैं, अत: वर्ण का परिवर्तन मानने के योग्य और दस सहस्र वर्ष का तप मानने के योग्य नहीं है। यदि किसी स्थान पर सत्य और असत्य को मिलाकर वर्णित किया गया हो तो ऐसे अवसर पर वेदों की कसौटी प्रमाण है। जो वेद के अनुकूल हो वह सत्य और मानने के योग्य है और जो वेदों के विरुद्ध हो वह झूठ और त्यागने के योग्य है। इसलिए विश्वामित्र का क्षत्रिय से ब्राह्मण बनना वेदानुकूल और मानने योग्य है और दस सहस्र वर्ष का तप वेदों के विरुद्ध और छोड़ने के योग्य है। यदि आप किसी ग्रन्थ को सम्पूर्णरूप से मानने के पक्ष में हैं तो भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व अध्याय ४० से ४४ तक जो प्रबल तर्क और युक्तियों से जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था का खण्डन और कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था का मण्डन है, उसे आप क्यों नहीं मानते हैं?

४९. पोपजी—द्विज के लिए किस वेद में असवर्ण विवाह लिखा है? यदि नहीं लिखा तो इस अवैदिक प्रथा का क्यों प्रचार किया जाता है?

तोपजी—आर्यसमाज प्रत्येक पुरुष का अपने वर्ण की स्त्री से विवाह होना ही वेदानुकूल मानता है। चूँकि आर्यसमाज जन्म से वर्ण-व्यवस्था नहीं मानता, अपितु कर्म से मानता है, अत: वर्त्तमान जन्ममूलक जाति-पाति को वह स्वीकार नहीं करता। इसलिए आर्यसमाज इस बात का प्रचार करता है कि वर्त्तमान जन्म-मूलक, कपोलकल्पित जाति-पाति का विचार न करते हुए जिस लड़की के जिस लड़के के साथ गुण-कर्म-स्वभाव मिलते हों, उनका आपस में विवाह हो जाना चाहिए, चाहे उनका जन्म विभिन्न वर्णों में ही हुआ हो। आर्यसमाज इसका प्रचार इस प्रयोजन से करता है कि जन्ममूलक जाति-पाति टूटकर गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था स्थिर हो जाए। आपके विचार में यदि दूसरे वर्ण में विवाह होना अवैदिक और पाप है तो क्षत्रिय कृष्ण का वैश्य की लड़की राधा से और ऋष्यशृंग ब्राह्मण का राजा रोमपाद की पुत्री शान्ता से विवाह अवैदिक और पाप क्यों नहीं?

५०. पोपजी—अथर्ववेद में केवल द्विजों के लिए वेदाधिकार मिलता है। स्वामीजी

यजुर्वेद के एक पद से सबको अधिकार बताते हैं। ईश्वरीय पुस्तक में यह परस्पर-विरोध क्यों है? और दोनों में ठीक क्या है?

तोपजी—आपने अथर्ववेद का कोई सन्दर्भ [पता] नहीं दिया कि कौन-से मन्त्र में केवल द्विजों के लिए वेद का अधिकार वर्णित किया गया है। प्रतीत होता है कि जनता को धोखा देने के लिए आपने अपने स्वभाव के अनुसार गप्प हाँक दी है। हम डंके की चोट घोषणा करते हैं कि चारों वेदों में एक भी ऐसा मन्त्र नहीं है जो किसी मनुष्यमात्र को वेद पढ़ने का निषेध करता हो, वरन् चारों ही वेद मनुष्यमात्र को वेद पढ़ने का अधिकार देते हैं, इसलिए ईश्वरीय ज्ञान वेद में परस्पर-विरोध का नाम व चिह्न भी नहीं है, अपितु भविष्यपुराण उत्तरपर्व अध्याय १११, श्लोक ५४ में कंजरी और अध्याय ६९, श्लोक ८२ से ८५ तक में शूद्रों और स्त्रियों को भी वेदों के अध्ययन का अधिकार लिखा है।

५१. पोपजी—स्वामीजी के ग्रन्थों में शूद्र के लिए कहीं पर उपवीत का अधिकार है या नहीं? यदि नहीं तो किस वेद के आधार पर उसे उपवीत दिया जाता है और किस वेद के आधार पर स्वामीजी ने मूर्ख को शूद्र कहा है?

तोपजी—स्वामीजी ने यजुर्वेद अध्याय ३१, मन्त्र ११ के आधार पर मूर्ख को शूद्र बताया है। स्वामीजी तीन वर्णों को यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकारी मानते हैं, शूद्रों को यज्ञोपवीत रखने का अधिकारी नहीं मानते। वैदिक राज्य में चूँकि गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था नियत की जाती थी, इसलिए जब ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में कोई मूर्ख रह जाता था तो उसका यज्ञोपवीत उतारकर उसे शूद्र बना दिया जाता था और शूद्रों में से जो व्यक्ति उन्नति करके गुण-कर्म-स्वभावानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य बनने के योग्य हो जाता था, उसे यज्ञोपवीत देकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में सम्मिलित कर लिया जाता था। आजकल वैदिक राज्य नहीं है, इसलिए हम यज्ञोपवीत दे तो सकते हैं, परन्तु किसी का यज्ञोपवीत उतार नहीं सकते। आजकल सहस्रों व्यक्ति मूर्ख और दुराचारी होने पर भी केवल यज्ञोपवीत के कारण बड़े बने हुए हैं। इनकी झूठी बड़ाई और अभिमान का नाश करने के लिए हम प्रत्येक उच्च और पतित को यज्ञोपवीत देते हैं, जिससे कोई व्यक्ति केवल यज्ञोपवीत के कारण अपने-आपको ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहलाने के योग्य न रहे अपितु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के गुण-कर्म-स्वभाव को प्राप्त करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहा सके। यदि वे व्यक्ति जो गुण-कर्म-स्वभाव से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के योग्य नहीं हैं, स्वयमेव अपना यज्ञोपवीत उतार दें, तो हम शूद्रों को तब तक यज्ञोपवीत नहीं देंगे जब तक वे गुण-कर्म-स्वभाव से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बनने के योग्य न हो जाएँगे, अन्यथा हमने यह प्रतिज्ञा की हुई है कि हम किसी को केवल यज्ञोपवीत के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहलाने के योग्य नहीं छोड़ेंगे और आपके यहाँ गरुडपुराण आचारकाण्ड, अध्याय ४३, श्लोक ९-१० में जो शूद्रों का यज्ञोपवीत लिखा है, उसके सम्बन्ध में आपकी क्या स्थिति है?

५२. पोपजी—जो बालक उत्पन्न होता है उसमें गुण-कर्म तो होते नहीं, फिर किस आधार पर शर्मा आदि नाम रक्खा जाता है? वयस्क होने पर यदि वह लड़का मूर्ख रहा तो पहले नाम से बुलाया जा सकता है या नहीं? यदि नहीं तो एक वैदिक संस्कार निरर्थक हुआ या नहीं?

तोपजी—जब तक बालक कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं हो जाता तब तक उसके सब संस्कार माता-पिता के वर्ण के अनुकूल किये जाते हैं। यदि प्रयत्न के पश्चात् भी वह मूर्ख रह जाए तो वह उस नाम से नहीं पुकारा जाएगा, अपितु उसे शूद्रों के योग्य नाम दिया जाएगा। वैदिक संस्कार तो उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बनाने के प्रयत्न में किया गया था। यदि उस संस्कार का उसपर प्रभाव नहीं पड़ा तो बालक निरर्थक हुआ, न कि संस्कार। जैसे, यदि कोई सनातनधर्मी मुसलमान हो जाए तो उसे पूर्व-नाम से नहीं पुकारा जाएगा,

अपितु मुसलमानी नाम से पुकारा जाएगा; इससे ब्राह्मणवर्ण के संस्कार निरर्थक नहीं, अपितु वह व्यक्ति निरर्थक है जो इन संस्कारों से प्रभावित नहीं हुआ। इसी प्रकार मूर्ख रहनेवाला लड़का निरर्थक है जो संस्कारों से प्रभावित नहीं हुआ, संस्कार निरर्थक नहीं। यदि आपके विचार में कर्मों के परिवर्तित होने पर भी संस्कार स्थिर रहते हैं तो फिर ब्राह्मणों के ईसाई और मुसलमान होने पर आप इन्हें शर्मा, वर्मा नामों से क्यों नहीं बुलाते?

५३. पोपजी—रज-वीर्य की प्रधानता यदि सन्तान में न मानी जाए तो आज जो बालक उत्पन्न हुआ है, उसमें दाढ़ी और मूँछ तो है नहीं, फिर कहाँ से आते हैं? यदि आते हैं तो रज-वीर्य प्रधान रहा या गुण-कर्म?

तोपजी—हम पूर्व लिख चुके हैं कि माता-पिता के रज-वीर्य का प्रभाव बालक के शरीर पर होता है और बालक की आत्मा पर माता-पिता की उत्तम या निकृष्ट संगति का प्रभाव पड़ता है। गुण-कर्म का सम्बन्ध शरीर से नहीं है, अपितु आत्मा से है और दाढ़ी-मूँछ का सम्बन्ध शरीर से है, अतः शारीरिक विषय में रज और वीर्य ही प्रधान रहेगा और गुण-कर्म-स्वभाव के विषय में सङ्ग अर्थात् आत्मा का नैमित्तिक ज्ञान प्रधान रहेगा और वर्ण के विषय में गुण-कर्म-स्वभाव ही प्रधान रहेगा। यदि आप रज-वीर्य को ही प्रधान मानते हैं, तो फिर शुद्धि से क्यों घबराते हैं? किसी के ईसाई-मुसलमान होने से रज-वीर्य तो नहीं बदलता?

५४. पोपजी—गर्भाधान के अन्त में स्वामीजी ने लिखा है कि स्त्री जब गर्भवती हो तब ऐसा भोजन करे जिससे गर्भस्थ बालक के गुण-कर्म-स्वभाव उत्तम हों। यहाँ पर स्वभाव का अर्थ यदि शरीर नहीं तो इस पहेली का क्या अर्थ है?

तोपजी—स्वामीजी ने वहाँ स्पष्टरूप से लिखा है कि युक्त आहार-विहार स्त्री करे। यहाँ आहार का अर्थ भोजन और विहार का अर्थ उत्तम सङ्ग है। जहाँ पर माता के भोजन का प्रभाव शरीर पर पड़ता है, वहाँ पर माता की अच्छी या बुरी संगति का प्रभाव आत्मा द्वारा बच्चे के गुण-कर्म-स्वभाव पर पड़ता है, इसलिए यहाँ स्वभाव का अर्थ शरीर नहीं, अपितु प्रकृति ही है, अन्यथा बतलाइए कि वाल्मीकि रामायण और महाभारत के अन्त में यह क्यों लिखा है कि इन्हें गर्भवती और ऋतुमती स्त्रियाँ विशेषरूप से सुनें। इनका प्रभाव शरीर पर पड़ता है या आत्मा पर?

५५. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि विद्या पढ़ने के लिए पति परदेश जाए और छह वर्ष तक न आये तो स्त्री नियोग करे और फिर जब प्रथम पति विदेश से आये तो नियुक्त पति को छोड़कर पुनः उसी को करे। यह लेख किसी वेद में हो तो दिखलाओ। यह व्यभिचार-प्रचारक लेख है।

तोपजी—हम पहले लिख चुके हैं कि वेद में आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन होता है। उसकी व्याख्या स्मृतियाँ किया करती हैं। फलस्वरूप अथर्ववेद [१८।३।१-३] में आधारभूत सिद्धान्त वर्णित किया गया है कि स्त्री को दूसरे पति का अधिकार प्राप्त है। किस अवस्था में अधिकार है, इसका वर्णन मनुस्मृति में विद्यमान है और उपर्युक्त कथन कि 'पति परदेश जाए और स्त्री अपने को संयम में न रख सके तो नियोग करे' यह व्याख्या मनुस्मृति [९.७६] में विद्यमान है। चूँकि नियोग व्यभिचार से बचाने के लिए एक अस्थायी रस्म है, अतः पति के आ जाने पर उनका पूर्ववत् पति-पत्नी का सम्बन्ध है ही। यह रस्म (प्रथा) चूँकि वेदानुकूल पञ्चायत के विधि-विधान के अनुसार दोनों पक्षों की स्वीकृति से आचरण में आती है, इसलिए इसे व्यभिचार नहीं कहा जा सकता।

हाँ, भविष्यपुराण में त्रिपाठी के एक मास कथा करने के लिए चले जाने पर कामिनी

का अपने को वश में न रखकर एक लकड़हारे को पाँच रुपया देकर उससे भोग करना और गर्भ होने पर त्रिपाठी का उसके सब संस्कार करना तथा गोतम के केवल स्नान के लिए घर से बाहर जाने पर अहल्या का इन्द्र से भोग करना और कुछ समय के पश्चात् गोतम का उसे स्वीकार कर लेना, बृहस्पति की स्त्री तारा का चन्द्रमा से व्यभिचार करना और गर्भ होने पर चन्द्रमा और बृहस्पति का झगड़ना कि लड़का क्षेत्रवाले का है या बीजवाले का और उद्दालक का अपने शिष्य के साथ अपनी स्त्री का भोग करवाकर श्वेतकेतु का उत्पन्न करना—ये व्यभिचार-लेख अवश्य हैं।

५६. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि जिस दिन गर्भाधान करना हो और जिस दिन कन्या ऋतुमती होकर शुद्ध हो चुके उस दिन रात्रि को दस बजे विवाह करे और उसी दिन वर और वधू एकान्त सेवन करें—यह लेख वेद के विरुद्ध है, यदि नहीं तो ऐसा लेख वेद में दिखाओ।

तोपजी—अथर्ववेद काण्ड १४, सूक्त १, मन्त्र ५१-५७ तक में वर और कन्या को विवाह करने की आज्ञा है। विवाह के पश्चात् वर और वधू जब उचित समझें गर्भाधान संस्कार कर सकते हैं, इसमें कोई पाप की बात नहीं। ये बातें देश-काल के अनुसार रीति-रिवाजों [प्रथाओं] से सम्बन्ध रखती हैं कि कब गर्भाधान किया जाए। वेद की तो यही आज्ञा है कि विवाह के बिना गर्भाधान न किया जाए। विवाह के पश्चात् उचित विधि से एकान्तसेवन करना क्या पाप है? यह भी उन्हीं की इच्छा पर निर्भर है कि ऐसे अवसर पर विवाह की विधि पूर्ण करें जब कन्या ऋतु से शुद्ध हो चुकी हो, तत्पश्चात् गर्भाधान करें। इसमें कौन-सा वेदमन्त्र विरोध करता है, कृपाय लिखें। हाँ, पराशर का बिना विवाह नौका में ही सत्यवती से सम्भोग करना और इन्द्र का बिना ऋतु-समय के पर-स्त्री से भोग करना अवश्य ही वेदविरुद्ध पाप है।

५७. पोपजी—ईश्वर सर्वव्यापक माना जाता है। 'सर्व' शब्द से यहाँ पर पञ्चमहाभूत से तात्पर्य है। व्यापक द्रव्य व्याप्य द्रव्य के बिना कभी नहीं रहता। आर्यसमाज ईश्वर को निराकार मानता है तब व्याप्य-व्यापकभाव-सम्बन्ध प्रकृति से सर्वशक्तिमान् ईश्वर किस-किस क्षण में उक्त सम्बन्ध को छोड़ता है, यदि नहीं छोड़ता तो निराकार कब रहता है?

तोपजी—निःसन्देह ईश्वर सर्वव्यापक है। 'सर्व' शब्द के केवल पञ्चमहाभूत अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ही अभीष्ट नहीं अपितु अनन्त जीवात्मा भी 'सर्व' में सम्मिलित हैं। व्यापक और व्याप्य का समवाय-सम्बन्ध है, अतः व्याप्य पदार्थ व्यापक से पृथक् हो ही नहीं सकते। सम्बन्ध के छूटने का विचार करना मूर्खता है। ईश्वर निराकार है तभी तो प्रकृति और जीवों में व्यापक है, क्योंकि सूक्ष्म वस्तु स्थूल में व्यापक हो सकती है। यदि ईश्वर को साकार मान लिया जाए तो उसे व्यापक नहीं माना जा सकता, क्योंकि साकार वस्तु सीमित होती है और उसका ज्ञान, बल तथा क्रिया भी सीमित होते हैं। यदि ईश्वर को शरीरी मान लिया जाए तो न वह सर्वव्यापक हो सकता है और न सर्वज्ञ और न ही सृष्टि का कर्त्ता बन सकता है, अतः ईश्वर निराकार ही है। व्याप्य के साकार होने से व्यापक का साकार होना आवश्यक नहीं, वह प्रत्येक अवस्था में निराकार है, इसलिए यह प्रश्न पूर्णरूप से आपकी मूर्खता का प्रमाण है।

५८. पोपजी—शब्द-चिह्न ज्ञान का कोई आकार नहीं है, परन्तु वह शब्द के बिना प्राप्त नहीं होता। शब्द प्रायः चिह्न होते हैं। अक्षर मनुष्यकृत संकेत-मात्र हैं। जिस प्रकार अक्षरों का अभ्यास शब्द-चिह्न ज्ञान का साधन है, इसी प्रकार सूर्यादि देव-उपासना ईश्वर-प्राप्ति का साधन हैं या नहीं?

तोपजी—जो पदार्थ एक इन्द्रिय का विषय हो, उसे संकेत के द्वारा दूसरी इन्द्रिय का विषय बनाया जा सकता है, जैसे अन्धों का पुस्तकें पढ़ना और गूँगों-बहरों का संकेतों से समझना हो सकता है। शब्द चूँकि कानों का विषय है, इसलिए इन शब्दों को अक्षरों के संकेत के द्वारा आँखों का विषय बनाया जाता है। ईश्वर, क्योंकि किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है, अत: उसे मूर्त्ति आदि द्वारा आँखों का विषय नहीं बनाया जा सकता। हाँ, जैसे घड़े को देखकर उसके बनानेवाले कुम्भकार के होने का अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार से ही ईश्वर के द्वारा रची हुई सूर्य आदि वस्तुओं को देखकर ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान हो जाता है, परन्तु उसकी उपासना का साधन सूर्य आदि पदार्थ और मूर्त्तियाँ नहीं हैं, प्रत्युत परमात्मा की प्राप्ति आत्मा के द्वारा ही हो सकती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। क्या आपके विचार में अक्षरों की भाँति मूर्त्तियाँ भी झूठी कल्पना ही हैं? और जिस प्रकार अन्धों को बिना अक्षरों के ज्ञान हो जाता है, क्या इसी प्रकार मूर्त्तियों के बिना भी ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है या नहीं?

५९. पोपजी—व्याप्य घड़ी में काल व्यापक है। निराकार काल का ज्ञान जिस प्रकार सूर्य अथवा घड़ी से होता है, इसी प्रकार निराकार ईश्वर का ज्ञान बिना प्रकृति की उपासना के सम्भव है या नहीं?

तोपजी—काल का नित्य पदार्थों के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं होता। काल अपेक्षा से उत्पन्न हुई वस्तु है। जब काल स्वयं एक कल्पित वस्तु है तो कल्पित काल का उत्पन्न हुई वस्तुओं सूर्य और घड़ी आदि से कल्पित ज्ञान होता है। इससे सिद्ध है बनावटी वस्तु का बनावटी वस्तुओं के द्वारा बनावटी ज्ञान हो सकता है, परन्तु अनुत्पन्न ईश्वर का मनुष्य की कलाकृतियों के नमूनों—मूर्त्ति आदि से साक्षात् अनुभव नहीं हो सकता। परमात्मा की उपासना जड़प्रकृति के द्वारा नहीं हो सकती। हाँ, ईश्वर के रचे हुए प्राकृतिक जगत् से ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान हो सकता है, परन्तु उसका ज्ञान—साक्षात् अनुभव आत्मा को परमात्मा के ध्यान में योग-समाधि लगाने से ही हो सकता है। ईश्वर की प्राप्ति इन्द्रियों और इन्द्रियों से जाने जानेवाले पदार्थों के द्वारा नहीं हो सकती, अत: ईश्वर की प्राप्ति के सम्बन्ध में काल और घड़ी का दृष्टान्त सोलह आने ग़लत है। क्या आपके विचार में मूर्त्तियाँ भी घड़ी की भाँति काल्पनिक वस्तु हैं? जैसे अन्धे बिना घड़ी के ही समय का अनुमान लगा लेते हैं, क्या ऐसे ही बिना मूर्त्तियों के ईश्वर की प्राप्ति सम्भव नहीं?

६०. पोपजी—व्याप्य शरीर में जीव व्यापक है। जीव को इस संसार के सुख से तृप्त करने के लिए इन्द्रियों को प्रसन्न रखना पड़ता है। जिस प्रकार शरीर पर सुन्दर वस्त्र धारण करना और चन्दन आदि लगाना व्यापक जीव को तृप्त करता है, उसी प्रकार सूर्यादि देव-उपासना विश्वव्यापक ईश्वर को तृप्त कर सकती है या नहीं?

तोपजी—जीव शरीर में व्यापक नहीं है। यदि जीव को शरीर में व्यापक माना जाए तो एक तो यह मानना पड़ेगा कि जब कीड़ी का जीव हाथी में जाता होगा तो इसे फैलकर हाथी के जीव में व्यापक होना पड़ता होगा और हाथी का जीव जब कीड़ी में जाता होगा तो उसे सिकुड़कर कीड़ी जितना बनना पड़ता होगा और जिस वस्तु में फैलना और सिकुड़ना हो सकता है वह वस्तु अविनाशी—नित्य नहीं मानी जा सकती। दूसरे, यदि किसी व्यक्ति की भुजा काट दी जाए तो भुजा के काटने से उस भुजा में जो जीव व्यापक है, भुजा के कटने के साथ वह भी कट जाता है अथवा वह सिकुड़कर शेष शरीर में चला जाता है। दोनों ही अवस्थाओं में जीव नित्य नहीं रह सकता, अत: जीव शरीर में व्यापक नहीं है, अपितु जीव अणु-परिमाण होने से शरीर में एक स्थान हृदय में रहता है और दीपक के

प्रकाश की भाँति उसकी शक्तियाँ सारे शरीर में काम करती हैं।

जीव जिस शरीर में जाता है, उसे देहाभिमान होता है, अर्थात् वह अपने-आपको शरीर के साथ तद्रूप मान लेता है, अतः शरीर के साथ अच्छा या बुरा व्यवहार करने से जीव सुख या दुःख का अनुभव करता है। ईश्वर जो सूर्य-चन्द्र, पृथिवी-पर्वत आदि में व्यापक है वह ज्ञानी होने से इन वस्तुओं को शरीर की भाँति तद्रूप नहीं मानता। यदि हम यह मान लें कि वह भी इन वस्तुओं में तद्रूपभाव से रहता है तो जैसे शरीर पर सुन्दर वस्त्र धारण करने और चन्दन आदि लगाने से जीवात्मा प्रसन्न होता है, उसी प्रकार सूर्य आदि की उपासना से ईश्वर की प्रसन्नता मानेंगे। इसी प्रकार जैसे शरीर को मारने, पीटने, काटने आदि से जीव को दुःख होता है उसी प्रकार पृथिवी को खोदने, पर्वतों को तोड़ने से ईश्वर को भी बड़ा भारी कष्ट मानना पड़ेगा। इसलिए ईश्वर का सूर्य-चन्द्र, पृथिवी-पर्वत आदि के साथ वैसा शरीर-शरीरीवाला सम्बन्ध नहीं है जैसाकि जीवात्मा का शरीर के साथ शरीर-शरीरी का सम्बन्ध है, अतः मूर्त्तिपूजा के लिए यह उदाहरण बिल्कुल अर्थहीन और व्यर्थ है।

६१. पोपजी—वायु सर्वव्यापक है, परन्तु जब इसे विशेषरूप से काम में लाना होता है तब पंखे का हिलाना आवश्यक होता है, इसी प्रकार सर्वव्यापक ईश्वर के लिए भी सूर्यादि में विशेष भावना मानी जाए, जैसाकि यजुर्वेद [३२।१] में कहा गया है।

तोपजी—ईश्वर सर्वव्यापक, एकरस और अचल है, परन्तु वायु प्रथम तो सर्वव्यापक नहीं है, दूसरे वह एकरस और अचल नहीं है, अपितु चलती-फिरती और स्थान-स्थान पर कम या अधिक है, अतः वह पंखे के द्वारा चलायमान और इकट्ठी की जा सकती है, परन्तु ईश्वर सब स्थानों पर एकरस और अचल है, अतः सूर्य आदि में उसकी विशेष भावना करना सर्वथा ग़लत है। यजुर्वेद [३२।१] में इस बात की चर्चा नहीं है, प्रत्युत वहाँ तो ईश्वर के नामों की गणना की गयी है कि उस परमात्मा को आदित्य, चन्द्रमा, वायु और प्रजापति के नाम से भी वेदों में वर्णित किया गया है। इसलिए मूर्त्तिपूजा में वायु और पंखे के उदाहरण सर्वथा ग़लत और तर्क तथा युक्ति से शून्य हैं तथा वेदान्तदर्शन [४।१।४] में सूर्य आदि में ब्रह्म की उपासना का प्रबल खण्डन किया गया है। इसका आप क्या उत्तर देते हैं?

६२. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ १२८ पर प्रश्न-उत्तर में स्वामीजी लिखते हैं कि 'यदि वेद किसी और भाषा में बनाये जाते तो ईश्वर पक्षपाती हो जाता, क्योंकि जिस भाषा में वेद बनाये जाते, वे उस भाषा के जाननेवालों के लिए सरल हो जाते और दूसरों के लिए कठिन, इसलिए संस्कृत में [जो किसी देश की भाषा नहीं है] बनाये गये।' स्वामीजी के इस लेख से प्रकट होता है कि वेद-रचना से पूर्व सृष्टि-रचना हो चुकी थी, अपितु देश और उनकी भाषाएँ भी पूर्णरूप से प्रचलित हो चुकी थीं कि जिनमें वेद बनाये जा सकते थे, अन्यथा यह प्रश्न ही उत्पन्न होना असम्भव है कि वेद अमुक भाषा में इसलिए नहीं बनाये गये आदि-आदि। स्वामीजी के इस लेख से आर्यसमाजियों के वेद अनादि सिद्ध नहीं हो सकते।

तोपजी—वेद सृष्टि के आरम्भ में हुए। वेदों की वाणी से पूर्व संसार में कोई भाषा नहीं थी। उस समय सब मनुष्यों की भाषा संस्कृत ही थी जोकि वेदों से ही आरम्भ हुई। स्वामीजी ने उपर्युक्त लेख क़ुरआन और बाइबिल आदि को दृष्टि में रखकर लिखा है कि जब क़ुरआन और बाइबिल का अवतरण हुआ तब संसार में अनेक भाषाएँ थीं, फिर परमेश्वर का अरबी भाषा में ज्ञान देना और अन्य भाषाओं में न देना पक्षपात हुआ, क्योंकि अरबवालों को समझना सरल और दूसरों को कठिन हुआ, परन्तु वेद के प्रकाश में कोई पक्षपात नहीं, क्योंकि उस समय तो देववाणी के अतिरिक्त और कोई भाषा थी ही नहीं और अब भी वे

किसी देश की भाषा में नहीं है, अपितु सब देशवालों को उनके पढ़ने में एक-जैसा परिश्रम करना पड़ता है, अतः ईश्वरीय ज्ञान का सृष्टि के आरम्भ में होना ठीक और बाद में होना ग़लत है। आपने इस बात को न समझकर यूँ ही प्रश्न करने की मूर्खता की है, अन्यथा वेद नित्य हैं।

मुसलमान यह प्रश्न भी करते हैं कि वेद वर्त्तमान युग के किसी भी देश की भाषा में क्यों नहीं, इसका उत्तर आप ही बतलाएँ सनातनधर्म की ओर से क्या देंगे? जब वेद आपके और हमारे एक ही हैं और आपके सिद्धान्तानुसार तो जब ईश्वर इस बात को जानता था कि भविष्य में संसार में बहुत-सी भाषाएँ बोली जाएँगी, इसी बात को दृष्टि में रखकर वेद ऐसी भाषा में बनाये जिस भाषा को किसी भी देश में न बोला जाना था।

६३. पोपजी—यजुर्वेद [२५।७] में लिखा है कि स्थूल गुदा-इन्द्रियों से अन्धे साँपों को और गुदा-इन्द्रियों से कुण्डलीवाले साँपों को पकड़ो—इसका क्या अर्थ है?

तोपजी—यह वैद्यक का विषय है। मनुष्य का मेदा (पाचन-संस्थान) खराब हो जाने से उनमें कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं, जोकि छोटे और बहुत लम्बे भी होते हैं, उनकी आँखें नहीं होती, अतः वेद में उन्हें अन्धे साँपों के नाम से वर्णित किया है और क्योंकि वे गुदा के अन्दर ही होते हैं, अतः वेद ने आज्ञा दी कि ऐसे कीड़ों को अर्थात् अन्धे साँपों को गुदा से पकड़ो अर्थात् गुदा में से निकालो। विस्तार से देखो प्रश्न नं० ११ के उत्तर में और दूसरा वर्णन गरुडपुराण आचारखण्ड अध्याय १६५ में विस्तार से दिया हुआ है। आपके तात्पर्य के अनुसार तो अर्जुन, ब्रह्मा और नारद को यही व्यसन था कि जिन्होंने कृष्ण, राक्षसों और तालध्वज के अन्धे साँपों को गुदा से पकड़ा।

६४. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ १६ पर लिखा है कि माता द्वारा बालकों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि मूत्रेन्द्रिय के छूने से तथा इसे हाथ से मलने से वीर्य गिरता है जिससे नामर्दी पैदा हो जाती है और हाथों से बदबू आने लगती है। स्वामीजी का यह लेख किस वेद के आधार पर है और यदि कोई बालक माता से वीर्य और नामर्दी की वास्तविकता पूछे तो माता को क्या उपदेश देना चाहिए?

तोपजी—स्वामीजी ने यह बात अथर्ववेद काण्ड ११, सूक्त पाँच के आधार पर लिखी है। आप कोई ऐसा वेदमन्त्र प्रस्तुत करें जो इसके विरुद्ध हो। माता-पिता का यह कर्त्तव्य है कि वे बच्चों को ब्रह्मचर्य को नष्ट करनेवाले दुष्ट व्यसनों से पहले ही सावधान कर दें और रोक दें। माता-पिता और गुरु का यह कर्त्तव्य है कि बच्चे के प्रश्न करने पर उसका ठीक-ठीक उत्तर देकर उसकी पूरी सन्तुष्टि कर दें चाहे वह प्रश्न वीर्य के बारे में हो और चाहे नामर्दी के बारे में हो। यदि आपको स्वामीजी की यह शिक्षा पसन्द नहीं तो आप सनातनधर्मवालों की माताओं को कहें कि वे बच्चों को यह शिक्षा दें कि बेटे! मूत्रेन्द्रिय को हाथ में पकड़कर खूब हिलाया करो, क्योंकि इसमें से ब्रह्मरस टपकता है।

६५. पोपजी—यजुर्वेद अध्याय ३७, मन्त्र ९ का स्वामी दयानन्दजी यह भाष्य करते हैं कि मैं (ईश्वर) घोड़े की लीद से तुम्हें तपाता हूँ।

तोपजी—यह भी वैद्यक का विषय चल रहा है और इस भाष्य का अर्थ स्पष्ट है कि ईश्वर आज्ञा देता है कि चोट आदि लगने से दर्द होने पर मैं तुम्हें लीद से टकोर करने की आज्ञा देता हूँ। श्रीमान्जी! गरुडपुराण आचारखण्ड अध्याय १३९, श्लोक १४-१५ में तो बुखार और पागलपन की चिकित्सा में बन्दर, गीदड़, घोड़े आदि सबके पाखाने की धूनी देनी लिखी है।

६६. पोपजी—आर्यसमाज वेद की ११३१ शाखाओं में से केवल चार शाखाओं को

ही वेद मानती है, तो बताएँ कि इनके ईश्वरकृत होने में क्या प्रमाण है और शेष ऋषिकृत क्यों?

तोपजी—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद—ये चारों मूल वृक्ष हैं, शेष शाखाएँ हैं। ये चारों शाखाएँ नहीं, इसके कारण निम्न हैं। मूल वेद ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान है और शेष ११२७ शाखाएँ, विभिन्न ऋषियों की रचनाएँ हैं। ऋग्वेदादि चारों वेद मूल मन्त्रसंहिताएँ हैं, शेष में मन्त्रों की प्रतीकें देकर उनकी व्याख्या की गयी है। इसी प्रकार चारों मूलसंहिता मन्त्रभाग वृक्षरूप हैं और शेष व्याख्यारूप शाखाएँ हैं। यदि आपके विचार में ये सब ११३१ शाखाएँ ही हैं तो मूलवृक्ष कौन-सा है? यदि मूलवृक्ष कोई नहीं तो फिर ये शाखा किसकी हैं?

६७. **पोपजी**—संस्कार-विधि पृष्ठ ६८ पर स्वामीजी लिखते हैं कि उस्तरे को दायें हाथ में लेकर कहे कि 'हे उस्तरे! तुम्हारा नाम शिव है और तेरे पिता का नाम देवता। तू इस बालक को मत मार।' स्वामीजी उस समय भङ्ग के नशे में तो नहीं थे?

तोपजी—संस्कार-विधि में 'ओं शिवो नामासि'......इत्यादि वेदमन्त्र देकर केवल यह लिखा है कि इस मन्त्र को बोलकर 'उस्तरे को दायें हाथ में पकड़े' और कुछ नहीं लिखा और यजुर्वेद में इस मन्त्र का अर्थ ईश्वर-परक किया है। प्रतीत होता है कि जैसे कृष्णजी ने शराब के नशे में मस्त होकर निष्पाप साम्ब को शाप दे दिया था उसी प्रकार आप भङ्ग की तरङ्ग में केवल प्रश्नों की संख्या बढ़ाने की चिन्ता में बेहूदा प्रश्न कर रहे हैं।

६८. **पोपजी**—आर्यसमाज श्राद्ध किसी विशेष कर्म को मानती हो तो विवाह आदि के समान उसका विधान किस ग्रन्थ में है उसकी विधि कहाँ है। यदि नहीं तो श्राद्ध में टाँग क्यों?

तोपजी—आर्यसमाज प्रत्येक गृहस्थ के लिए पञ्चमहायज्ञों—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ—को कर्त्तव्य मानता है। इनमें एक पितृयज्ञ है। इसके दो भेद हैं—श्राद्ध और तर्पण। जीवित माता-पिता, आचार्य, राजा, साधु-महात्मा, पण्डित आदि—ज्ञान, अन्न और बल से रक्षा करनेवाले पितरों की श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम श्राद्ध और उन्हें तृप्त करने का नाम तर्पण आर्यसमाज मानता है। इसकी विधि वेदादि शास्त्रों में विद्यमान है और इसकी आज्ञा भी वेद आदि शास्त्रों में दी हुई है। आप कृपा करके बतलाएँ कि मृतक पितरों को भोजन कैसे मिलता है? गरुडपुराण प्रेतखण्ड अध्याय १० में पहले तो लिखा है कि पितर जिस योनि में होता है, वैसा भोजन बन जाता है और आगे उसी स्थान पर लिखा है कि पितर स्वयं आते हैं और ब्राह्मणों में बैठकर भोजन कर जाते हैं। सीता ने स्वयं देखे और कोई कहता है कि आशीर्वाद ही मिलता है। यह क्या गोरखधन्दा है?

६९. **पोपजी**—यज्ञोपवीत का विधान किस वेद में है? मन्त्र प्रस्तुत करें।

तोपजी—यज्ञोपवीत का विधान यजुर्वेद[1] [१६।१७] में विद्यमान है। आप बतलाएँ, निषेध किस वेद में है? और यदि वेदों में नहीं तो आप क्यों पहनते हैं?

७०. **पोपजी**—आर्यसमाज के मत में सृष्टि में पहले कौन उत्पन्न हुआ? यदि कहो कि अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा आदि ऋषि, तो इन ऋषियों के देहधारी होने का तुम्हारे पास क्या प्रमाण है?

तोपजी—सृष्टि के आरम्भ में सैकड़ों स्त्री-पुरुष, ऋषि आदि उत्पन्न हुए जिनमें चार ऋषि अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा भी थे, क्योंकि इन चारों पर परमात्मा ने वेदों का

---

१. मन्त्र के शब्द हैं—**नमो हरिकेशायोपवीतिने।**

ज्ञान प्रकाशित किया; और ज्ञान का प्रकाश देहधारी मनुष्यों के हृदय में ही सम्भव हो सकता है, इसलिए ये चारों ऋषि शरीरधारी मनुष्य ही थे। आपके पास क्या प्रमाण है कि ये देहधारी नहीं थे।

७१. पोपजी—आर्याभिविनय में स्वामी दयानन्दजी वेदमन्त्र का अर्थ करते हुए निराकार ईश्वर को सोमरस पिलाना लिखते हैं। वह सोमरस क्या है? और क्या निराकार भी सोमरस पिया करता है?

तोपजी—स्वामीजी ने स्पष्ट लिखा है कि सोमलता एक ओषधि होती है। इसके रस का नाम सोमरस है जोकि बुद्धि, आयु और शक्ति बढ़ानेवाली होती है। स्वामीजी ने इस मन्त्र के दो अर्थ किये हैं—एक ईश्वर से सम्बन्धित और दूसरा वायु-परक। स्वामीजी ने वायुपक्ष में सोमरस का पीना लिखा है और ईश्वरपक्ष में स्वीकार करना अर्थ किया है। 'सोमरस पीना' ईश्वर के साथ लगाकर आपने जनता को धोखा देने का प्रयत्न किया है। आपके विचार में साकार ईश्वर की मूर्त्तियाँ अवश्य भोजन करती हैं, तो क्या साकार ईश्वर शौच भी जाता है अथवा सब अन्दर ही भस्म हो जाता है?

७२. पोपजी—यदि आर्यसमाज ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानती है तो वह अवतार धारण क्यों नहीं कर सकता? यदि कर सकता है तो अवतार मानो, यदि नहीं तो ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं। दोनों में क्या स्वीकार है?

तोपजी—आर्यसमाज सर्वशक्तिमान् का अर्थ यह मानता है कि वह अपने सृष्टि-उत्पत्ति आदि कार्य बिना किसी की सहायता के कर सकता है। 'अपने गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध जो चाहे कर सकता है'—ऐसा अर्थ आर्यसमाज नहीं मानता। चूँकि अवतार अर्थात् जन्म धारण करना ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध है, यह यजुर्वेद [४०।८] में वर्णन किया गया है, अतः वह सर्वशक्तिमान् होता हुआ भी अवतार धारण नहीं करता। यदि आप सर्वशक्तिमान् का यह अर्थ करते हैं कि जो सब-कुछ कर सके तो क्या वह मर भी सकता है? और क्या वह अपने-जैसा दूसरा ईश्वर भी उत्पन्न कर सकता है? यदि नहीं तो आपके विचार में वह सर्वशक्तिमान् नहीं रहा। भला! एक बात और बताने की कृपा करें कि जब ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो क्या वह बिना अवतार धारण किये रावण और कंस आदि को मारने तथा पृथिवी का उद्धार करने आदि कार्यों को नहीं कर सकता था? यदि नहीं कर सकता था तो वह सर्वशक्तिमान् नहीं रहा और यदि कर सकता था तो फिर अवतार धारण करने की क्या आवश्यकता थी? इसलिए प्रत्येक अवस्था में ईश्वर का अवतार या जन्म वेदशास्त्र, बुद्धि और तर्क के विरुद्ध है।

७३. पोपजी—जब स्वामी दयानन्दजी ने रात्रि दस बजे विवाह का विधान नियत किया है और उसी समय विवाह में सूर्य के दिखलाने का मन्त्र लिखा है, तब रात्रि में सूर्य का दर्शन कैसे?

पोपजी—आपने उसी स्थान पर संस्कार-विधि में नीचे लिखी हुई पादटिप्पणी को नहीं पढ़ा जिसमें लिखा है कि "यदि आधी रात तक विधि पूरा न हो सके तो मध्याह्नोत्तर आरम्भ कर देवे कि जिससे मध्यरात्रि तक विवाह-विधि पूर्ण हो जावे।" इस टिप्पणी से यह सिद्ध है कि स्वामीजी आधी रात्रि तक विवाह-विधि समाप्त करना चाहते हैं। चूँकि रात्रि के दस बजे आरम्भ करके आधी रात तक विधि समाप्त नहीं हो सकती, अतः दस बजे से आरम्भ करना उत्तर-विधि के लिए ही लिखा गया है, जिसमें ध्रुव और अरुन्धती दिखाना आवश्यक है; और पूर्व-विधि जिसमें सूर्य का दर्शन है, वह सायं से पहले ही होनी लिखी है। यह पादटिप्पणी से स्पष्ट है।

सूर्य का दर्शन तो आपकी पद्धति में भी है, तो आप क्या दिखाते हैं? आप कहीं सूर्य के स्थान पर कुछ और दिखाने का प्रयत्न तो नहीं करते?

७४. पोपजी—यजुर्वेद [२८।३२] के भाष्य में स्वामी दयानन्दजी ने लिखा है कि स्त्रियों को बैलों की भाँति गर्भवती करो। स्वाभाविक मानवीय मैथुन की विधि के विरुद्ध ऐसा बेहूदा अर्थ क्यों?

तोपजी—बलिहारी है आपकी बुद्धि और समझ की! तनिक भाष्य को तो पढ़ें वहाँ किस विषय में उपमा दी है। देखिए—"हे मनुष्यो! जैसे बैल गौओं को गाभिन करके पशुओं को बढ़ाता है वैसे गृहस्थ लोग स्त्रियों को गर्भवती कर प्रजा को बढ़ावें।" इसमें दो बातों की उपमा दी है। एक, बैल जैसे संयम से रहकर और ऋतुगामी होकर बलवान् सन्तान उत्पन्न करता है, वैसे ही तुम भी संयमी और ऋतुगामी बनकर सन्तान उत्पनान करो। दूसरे, जैसे रोगी और निर्बल बैल से सन्तान पैदा करने का काम नहीं लिया जाता वैसे ही निर्बल और रोगी मनुष्य सन्तान पैदा न करें। इसमें मैथुन के बारे में उपमा नहीं दी। हाँ, यदि यह बात देखनी हो तो महाभारत आदिपर्व अध्याय १०४, श्लोक २६-२७ में देखें, जहाँ दीर्घतमा ऋषि ने बैल की भाँति, चलती-फिरती स्त्रियों को ही गोधर्म के अनुकूल गाभिन करना आरम्भ कर दिया था। सनातनधर्म की आचरित पद्धति को स्वामी दयानन्द के भाष्य के सिर मढ़ना विचित्र बेईमानी और बेहूदापन है।

७५. पोपजी—यजुर्वेद [९।४८] के भाष्य में स्वामी दयानन्दजी लिखते हैं कि 'हे पिता लोगो! आप हमारे में प्रजा, अन्न, दूध और वीर्य को धारण करो।' तात्पर्य यह कि लड़की अपने बाप से गर्भ करवाने की प्रार्थना करती है, यह जहालत कैसी?

तोपजी—कहीं तो ईमानदारी से कार्य लेकर मूल पाठ उद्धृत कर दिया करो। देखो, यजुर्वेदभाष्य में लिखा है—"हे माता-पिता आदि लोगो! आप हमारे बीच में प्रजा, अन्न, दूध और वीर्य को धारण करो।" इसमें 'माता' शब्द साथ आने से और प्रजा, अन्न, दूध के सहयोग से यहाँ वीर्य नाम शक्ति का है। यदि आपको आग्रह हो कि वीर्य नाम मणि का ही लेना है तो भी माता-पिता तथा 'आदि' से पति का ग्रहण करके 'जो जिससे उचित हो' इस न्याय से अन्न और दूध की माता-पिता से और वीर्य तथा प्रजा की पति से प्रार्थना होना सिद्ध होता है। इससे पिता का पुत्री में गर्भ धारण करना सिद्ध नहीं हो सकता। हाँ, यह बात पुराणों में मिल सकती है कि माता, बहिन और पुत्री में पुत्र, भाई और पिता का गर्भ धारण करना वैध है जैसाकि ब्रह्मा ने पुत्री से, विष्णु ने माता से, महादेव ने बहिन से और सूर्य ने भतीजी से, कृष्ण ने मामी से और अर्जुन ने मामा की लड़की से विवाह करके गर्भाधान करने की मूर्खता की थी।

७६. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ५८ पर लिखा है कि 'गर्भाधान के समय स्त्री-पुरुष मुख के सामने मुख, नासिका के सामने नासिका रक्खें। पुरुष शरीर ढीला छोड़े और स्त्री वीर्य-प्राप्ति के समय अपानवायु को ऊपर खींचे तथा योनि-संकोचन करे और वीर्य का आकर्षण कर गर्भाशय में स्थित करे।' यह कोकशास्त्र की विधि किस वेद के आधार पर लिखी गयी है? क्योंकि स्वामीजी तो आर्यसमाज के कथनानुसार सारी आयु ब्रह्मचारी रहे और योग को मानते नहीं थे, फिर बिना किसी उपाय को आचरण में लाये इसका ज्ञान कैसे हुआ? क्या इसमें कहीं किसी स्त्री का हाथ तो नहीं था? और यह कार्य विवाह की पहली रात्रि को ही करना लिखा है, क्या नव-विवाहिता लड़की इस विधि से पूर्व से ही परिचित थी? यदि थी तो कैसे? क्या केवल इस विधि को सिखाने के लिए सत्यार्थप्रकाश कन्या-पाठशालाओं में अनिवार्यरूप से पढ़ाया जाता है? क्या यह व्यभिचार तो नहीं फैलाता?

तोपजी—गर्भाधान एक बड़ा पवित्र कार्य है, जिससे मनुष्य-जैसे सर्वश्रेष्ठ प्राणी का जन्म होता है। जब साधारण वस्तुओं को बनाने के लिए भी शिक्षा की आवश्यकता है तो मनुष्य का शरीर बनाने के लिए विधि-विधान की शिक्षा की आवश्यकता क्यों न हो? इसलिए इस गर्भाधान-विधि का उपदेश स्वयं परमेश्वर ने यजुर्वेद [१९।८८] में किया। शतपथ [१४।७।५।१०] में, पारस्करगृह्यसूत्र [१।११।५] में, बृहदारण्यक [६।४।९-११,२१] में, चरक शारीरिकस्थान [८।८] में इस गर्भाधान-विधि की पूर्णरूप से शास्त्रों ने व्याख्या की है, जिसे स्वामी दयानन्दजी महाराज ने आवश्यक समझकर सत्यार्थप्रकाश में लिख दिया है।

यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक बात का ज्ञान अपने ही अनुभव से हो, प्रत्युत दूसरों के अनुभव से भी बहुत-सी बातों का ज्ञान मनुष्य को होता है। जैसेकि महर्षि व्यासजी ने भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व अध्याय ५, श्लोक ३० से ४५ तक स्त्रियों की भग और स्तनों की प्रशंसा की है कि जिसकी भग बिना बालों के हो वह राजा की स्त्री बने। जिसकी भग पीपल के पत्ते जैसी हो या कछुए की पीठ जैसी हो या घड़े जैसी हो, वह बहुत उत्तम होती है; और जिसके स्तन मोटे, कठोर और उभरे हुए हों, वे अच्छे होते हैं। और फिर भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय २५, श्लोक १ से २१ तक पुरुषों के लिङ्ग, अण्डकोश और गुदा की प्रशंसा की है तो क्या आपके विचार में उन्होंने स्त्रियों की भगों, स्तनों और पुरुषों के लिङ्ग, अण्डकोश और गुदा आदि को टटोलकर और अनुभव करके यह लिखा है? और क्या आपके विचार में इस विषय में कुछ स्त्रियों और पुरुषों का हाथ है? यदि आप कहें कि व्यासजी ने योग के द्वारा जाना तो क्या पौराणिक ऋषियों का लक्ष्य भग, स्तन, लिङ्ग, अण्डकोश और गुदा ही हैं कि जिनका ध्यान वे योग के द्वारा समाधि में करते रहते हैं? परमात्मा ऐसे योग और योगियों से बचाए।

अब भी लड़के-लड़कियाँ समागम की विधि कहीं से सीखते हैं। यदि युवकों को अध्यापक और लड़कियों को स्त्रियाँ इसके सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातें बतला भी दें तो इसमें पाप की क्या बात है?

ब्रह्मवैवर्त खण्ड ४, अध्याय १५, श्लोक १३७ से १६० तक कृष्ण ने राधा में गर्भाधान इसी विधि से किया था, तो यहाँ राधा और कृष्ण को किसी ने तो सिखाया होगा। भला! आर्यसमाज में तो कन्या-पाठशालाओं में सत्यार्थप्रकाश के द्वारा गर्भाधान के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातें मौखिक बतलाई जाती होंगी, परन्तु सनातनधर्म में तो लड़कियों को क्रियात्मकरूप से मानचित्र दिखाकर यह शिक्षा दी जाती है और शिवालयों में भग में लिङ्ग को स्थापित किया हुआ दिखाकर पूजारि क्रियात्मक शिक्षा देता है तथा जगन्नाथपुरी के मन्दिर में दीवारों पर मानव-आकार की युवा स्त्री और पुरुषों की अनेक प्रकार से मैथुन करती हुई सर्वथा नग्न चित्रों की इसीलिए प्रदर्शनी की गयी है ताकि सनातनधर्म की ललनाएँ कोकशास्त्र की क्रियात्मक शिक्षा प्राप्त कर सकें।

क्या आपके विचार में स्वामीजी द्वारा वर्णित विधि ग़लत है? तो क्या सनातनधर्मी पीठ से पीठ जोड़कर गर्भाधान करते हैं अथवा शरीर को छूने ही नहीं देते, दूर से ही थोथे बाँस का प्रयोग करके गर्भाधान करते हैं? अन्ततः वह बात कौन-सी है जो आक्षेप के योग्य है? इसलिए होश करो और पुराणों में वर्णित अश्व-आधान, कर्ण-आधान, नाक-आधान, मुख-आधान, गुदा-आधान, मेंढकी-आधान, तोती-आधान, हिरनी-आधान आदि बेहूदा आधानों को छोड़कर विधि और विधान के अनुसार गर्भाधान की आवश्यक शिक्षा के लिए अपनी स्त्रियों और पुत्रियों को आर्यसमाज की कन्या-पाठशाला में भेजा करें तभी आपका कल्याण

हो सकता है, अन्यथा नहीं।

७७. पोपजी—**'विविधानि च रत्नानि'** यह श्लोक स्वामीजी ने मनुस्मृति के नाम से सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ८६ पर लिखा है, परन्तु मनुस्मृति में नहीं है।

तोपजी—इस श्लोक में केवल पाठ का भेद है, अर्थ का भेद नहीं है। स्वामीजी ने लिखा है कि **'विविधानि च रत्नानि'** अर्थात् अनेक प्रकार के रत्न संन्यासियों को देने चाहिएँ, परन्तु वर्त्तमान मनुस्मृति [११।६] में पाठ है कि **'धनानि तु यथाशक्ति'** अपनी शक्ति के अनुसार बहुत-से धन संन्यासियों को देने चाहिएँ। रत्न और धन दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, इससे सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं आता; परन्तु पुराणों में तो मनु के नाम से ऐसी कथाएँ भी आती हैं जिनका नाम व चिह्न भी मनुस्मृति में नहीं है। उदाहरण के रूप में भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय ४०, श्लोक २६ में लिखा है—**सप्तव्याधकथा विप्रा मनुना परिकीर्तिता।** अर्थात् हे ब्राह्मणो! मनुजी महाराज ने सात शिकारियों की कथा का वर्णन किया है इसे सुनकर जातिभेद को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि वे सात शिकारी ब्राह्मण बन गये थे।

स्वामीजी के श्लोकवाले अर्थ का श्लोक तो वर्त्तमान मनुस्मृति में विद्यमान है, परन्तु आप भविष्यपुराण में लिखी हुई 'सप्तव्याध' की कथा मनुस्मृति में दिखाने की कृपा करें। गुजराती प्रेस, बम्बई की छपी मनुस्मृति में सैकड़ों श्लोक ऐसे दिये गये हैं कि जिन्हें दूसरे ग्रन्थों ने मनु के नाम से लिखा है, परन्तु वर्त्तमान मनुस्मृति के संस्करणों में वे श्लोक नहीं हैं। कृपा करके इस गोरखधन्धे को सुलझाने का प्रयत्न करें।

७८. पोपजी—**'रथेन वायुवेगेन जगाम गोकुलं प्रति'** यह श्लोक श्रीमद्भागवत के नाम से सत्यार्थप्रकाश पृ० २१८ पर स्वामी दयानन्दजी ने लिखा है, परन्तु यह श्लोक श्रीमद्भागवत में नहीं है।

तोपजी—क्यों झूठ बोलते हो? **'रथेन वायुवेगेन'** श्रीमद्भागवत १०।३९।३८ में विद्यमान है तथा **'जगाम'** और **'प्राप्तः'** का अर्थ एक ही है। तात्पर्य यह कि अक्रूरजी वायु-जैसे वेगवाले रथ पर चढ़कर मथुरा से सूर्योदय के समय चले और सायंकाल गोकुल पहुँचे। इसमें स्वामीजी ने क्या ग़लत लिखा है? परन्तु गरुडपुराण में जो लिखा है कि 'सीता ने दशरथ को श्राद्ध में ब्राह्मणों के साथ भोजन करते देखा'—यह रामायण में कहाँ है?

७९. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ७५ पर स्वामीजी लिखते हैं कि जब पति सन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य हो जाए तो अपनी स्त्री को कहे कि तू मेरे सिवा दूसरे पुरुष से नियोग कर ले। क्या यह निर्लज्जता और खुला व्यभिचार नहीं है?

तोपजी—'पति के नपुंसक या असाध्य रोग में ग्रस्त होने पर जवान स्त्री संयम से न रह सकने के कारण पति की आज्ञा से पञ्चायत के विधि-विधान के अनुसार दूसरे पुरुष से नियोग करके सन्तान उत्पन्न कर ले'—यह आज्ञा स्वामीजी ने ऋग्वेद [१०।१०।१०] के अनुसार दी है, जिसकी व्याख्या मनुस्मृति [९।१६७] में की गयी है, जिसके अनुसार ही कुन्ती ने पाण्डु के नपुंसक होने पर धर्म, वायु और इन्द्र से नियोग करके युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को उत्पन्न किया था। यदि वेद के अनुसार पञ्चायत के विधि-विधानानुसार अपनी पुत्री को सन्तान उत्पन्न करने के लिए दूसरे पुरुष के लिए देना निर्लज्जता और खुला व्यभिचार नहीं तो वेदानुकूल पञ्चायत के विधि-विधानानुसार अपनी स्त्री को दूसरे पुरुष से सन्तान पैदा करने के लिए कहना निर्लज्जता और खुला व्यभिचार कैसे हो सकता है? वरन् महाभारत आदिपर्व अध्याय १२२, श्लोक १९ में तो यदि स्त्री पति की इस बात को

न माने तो उसे पाप लगना लिखा है।[१]

निर्लज्जता और खुला व्यभिचार तो महाभारत आदिपर्व अध्याय १२२, श्लोक ४ से १४ तक लिखा है कि स्त्रियाँ गौओं की भाँति स्वतन्त्र हैं, जो जिससे चाहे मैथुन कर सकती हैं। यह है निर्लज्जता और खुला व्यभिचार, न कि नियोग।

८०. पोपजी—यद्यपि आर्यसमाज में मांस खाना बुरा है, परन्तु आर्यसमाज में मांसपार्टी और घासपार्टी का होना सिद्ध कर रहा है कि आर्यसमाज में मांस खाना उचित है।

तोपजी—आर्यसमाज के सिद्धान्तों में मांस खाना वेदविरुद्ध और पाप है। आर्यसमाज में गुरुकुल और कॉलेज-पार्टी है, परन्तु इनका नाम घासपार्टी और मांसपार्टी पामर लोगों ने ही रक्खा है। इसलिए आर्यसमाज में तो मांस खाना वैध नहीं। हाँ, मनुस्मृति अध्याय ५, और ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४, अध्याय ८५ में भक्ष्य और अभक्ष्य की व्याख्या से सिद्ध है कि सनातनधर्म में गोमांस तक खाना वैध है और आपने स्वयं स्वीकार किया है कि सनातनधर्म में प्रवृत्ति और निवृत्ति दो मार्ग हैं, अर्थात् मांसपार्टी और घासपार्टी सनातनधर्म में विद्यमान हैं।

८१. पोपजी—संस्कार-विधि पृष्ठ १२ पर स्वामीजी ने लिखा है कि जो व्यक्ति अपने पुत्र को विद्वान्, पण्डित और वेदों के जाननेवाला करना चाहे, वह मांस के साथ भात पकाकर खाये और पृष्ठ ४२ पर लिखा है कि अन्न आदि का इच्छुक गोष्फन्द का मांस खाये। आर्यसमाज के लिए यह स्पष्ट विधिवाक्य है, फिर मांस से इन्कार क्यों?

तोपजी—अजमेर यन्त्रालय में मुद्रित आर्यसमाज की प्रामाणिक संस्कार-विधि में ये दोनों ही बातें नहीं हैं। पता नहीं आपको मिथ्या भाषण और मिथ्या लेखन में क्या आनन्द आता है। हाँ, यदि आपका यह तात्पर्य है कि निरस्त की हुई संस्कार-विधि के प्रथम संस्करण में ये बातें हैं, तो भी स्वामीजी के विज्ञापन के अनुसार ये आपके गृह्यसूत्रों की बातें स्वामीजी ने जनता को सावधान करने के लिए लिखी हैं जोकि स्वामीजी को वेद के विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं हैं। आर्यसमाज इस संस्कार-विधि को सामूहिकरूप से निरस्त करके अग्नि की भेंट चढ़ा चुका है, अतः हमारे लिए तो यह प्रमाण जूते के तले-जितना भी मूल्य नहीं रखता, परन्तु सनातनधर्म में तो गौ आदि पशुओं की देवताओं और पितरों के निमित्त बलि देकर उनका मांस खाने की आज्ञा है और न खानेवाले को मनुस्मृति [५।३५] में दण्ड का विधान है। ऐसी प्रबल आज्ञा होते हुए सनातनधर्म के इन्कार का क्या कारण है, स्पष्टरूप से लिखें।

८२. पोपजी—यजुर्वेद [१३।४९] के भाष्य में स्वामी दयानन्दजी ने नीलगाय को मारने की स्पष्ट आज्ञा दी है, ऐसा पाप क्यों?

तोपजी—स्वामीजी ने राजा और राजपुरुषों को इस मन्त्र में आज्ञा दी है कि जो पशु प्रजा के लिए उपकारी—गौ, घोड़ा, बकरी, भेड़ आदि हैं, उनकी रक्षा करो और जो मनुष्य उन्हें मारे उसे दण्ड दो; और जो नीलगाय आदि पशु प्रजा की खेती को हानि पहुँचानेवाले हैं, उन्हें राजा और राजपुरुष मारें। इसमें तनिक भी पाप की बात नहीं है। हाँ, मनुस्मृति अध्याय ५ और ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४, अध्याय ११५, श्लोक १२-१३ में जो गौ आदि निर्दोष पशुओं को यज्ञ और श्राद्ध के बहाने से मारकर खाना लिखा है, वह अवश्य पाप है।

८३. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ २८६ पर पशु व मनुष्य को मारना तथा इनके मांस

---

१. **पत्या नियुक्ता या चैव पत्नी पुत्रार्थमेव च। न करिष्यति तस्याश्च भविष्यति तदेव हि॥**
यह श्लोक गीताप्रेस संस्करण में नहीं है। १२२वें अध्याय के ४ से १४ श्लोक भी गीताप्रेस संकरण में नहीं हैं। —जगदीश्वरानन्द

को मांसाहारी मनुष्य को खिलाने की आज्ञा स्पष्ट बतला रही है कि आर्यसमाज में मांस खाना वैध है।

तोपजी—यहाँ पर स्वामीजी ने राजा और राजपुरुषों को आज्ञा दी है कि वे प्रजा को हानि पहुँचानेवाले पशुओं और मनुष्यों को भी मारें। यदि कोई मांसाहारी मनुष्य उनका मांस खाए तो संसार की कोई हानि नहीं, परन्तु उस मनुष्य का स्वभाव बिगड़कर हिंसक हो सकता है और भविष्य में वह जीवित प्राणियों को भी मारकर खाने लगेगा, अतः मरे हुए पशुओं का मांस भी नहीं खाना चाहिए। स्वामीजी के इस तात्पर्य को न समझकर अन्य प्रकार से वर्णन करना महा पामरपन है। हाँ, मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक २६८ से २७० तक में श्राद्ध में विभिन्न पशुओं का मांस खाना लिखा है।

८४. पोपजी—आर्याभिविनय पृष्ठ ३३ पर लिखा है कि 'हे परमेश्वर! हमारा वध मत कर और हमारे प्यारे भोगों को मत चुरा और न किसी से चुरवा तथा हमारे गर्भ को मत गिरा।' कहिए साहब! आपका ईश्वर तो कातिल, चोर, चोरी करानेवाला, प्रत्युत गर्भ तक गिरानेवाला सिद्ध हो रहा है, तो क्या ऐसे गुणोंवाला ईश्वर कहला सकता है? और क्या आर्यसमाजी पुरुषों को भी गर्भ होता है, जिसके न गिरने की प्रतिदिन प्रार्थना की जाती है।

तोपजी—इस मन्त्र का पूरा अर्थ न देकर आपने मिथ्या भाषण से काम लिया है। इस मन्त्र के अन्त में स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'अर्थात् कृपा करके पूर्वोक्त सब पदार्थों की यथावत् रक्षा करो।' इस वाक्य को सबके साथ मिलाकर अर्थ करें। हे ईश्वर! हमारा वध मत करो अर्थात् हमारी यथावत् रक्षा करो। हमारे प्यारे भोगों को मत चुरा और न किसी से चुरवा, अर्थात् हमारे प्यारे भोगों की यथावत् रक्षा करो (यहाँ चुराने का अर्थ पृथक् करना है अर्थात् हमारे प्यारे भोगों को हमसे पृथक् न करो और न किसी से पृथक् करवाओ) तथा हमारे गर्भ को मत गिरा अर्थात् हमारे गर्भ की यथावत् रक्षा करो। इसलिए ईश्वर पर कातिल, चोर और गर्भ गिरानेवाला दोष तो सर्वथा ग़लत सिद्ध हो गया।'

रह गया आर्यसमाजी पुरुषों को गर्भ रहने का उपहास! यह बिल्कुल मूर्खता की बात है। प्रथम तो यह प्रार्थना पुरुषों और स्त्रियों दोनों के लिए है। दूसरे, जैसे कोई कहे कि 'मिश्रजी के पुत्र उत्पन्न होनेवाला है' तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि मिश्रजी के गर्भ है। अपितु इसका अर्थ यही है कि मिश्रजी की स्त्री गर्भवती है। यहाँ पर स्वामी और स्व का सम्बन्ध है। हाँ, सनातनधर्म में पुरुषों को भी गर्भ होना सम्भव है। भागवतपुराण [९।६।२५-३२] में लिखा है कि राजा युवनाश्व को गर्भ हो गया और उससे राजा मान्धाता पैदा हुआ; और गर्भ गिराना तो सनातनधर्म का पैतृक व्यवसाय है, इसलिए भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय १७, श्लोक ११ से १४ में लिखा है कि इन्द्र ने दिति के गर्भ के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। इसलिए सनातनधर्मी अब भी विधवाओं का गर्भ गिराना पाप नहीं समझते। इसलिए यह प्रार्थना इन्हें अच्छी नहीं लगती।

८५. पोपजी—'आर्याभिविनय' पृष्ठ ३७ पर तैत्तिरीयारण्यक-मन्त्र के अर्थ में स्वामीजी लिखते हैं कि 'हे ईश्वर! आप और हम आपस में भोग करें'—इसका क्या अर्थ है?

तोपजी—आपने पुस्तक का पाठ अशुद्ध लिखा है। मूल पाठ यूँ है—'आप और हम लोग परस्पर परमानन्द का भोग करें। हम लोग परस्पर हित से आनन्द भोगें कि आप हमको अपने अनन्त परमानन्द का भागी करें, उस आनन्द से हम लोगों को क्षणभर भी अलग न रक्खें।'

कैसा स्पष्ट लेख है जिसका अर्थ स्पष्ट है कि हे ईश्वर! आप तो परमानन्द-स्वरूप हैं ही, हम भी आपके साथ परमानन्द भोगें। इसमें आक्षेप की कौन-सी बात है? इसमें से

भोग आपको कहाँ से दृष्टिगोचर होने लगा? ठीक है, आपको अपने ईश्वर कृष्ण का अर्जुन से भोग स्मरण आ गया होगा, तभी यह भ्रम उत्पन्न हो गया।

८६. पोपजी—आर्यसमाज में मुसलमान और चमार स्त्रियों को शुद्ध करके तो तुरन्त ही किसी आर्यसमाजी से उनका विवाह कर देते हैं, परन्तु शुद्ध हुए पुरुष को कोई आर्यसमाजी अपनी लड़की नहीं देता। क्या उसकी शुद्धि में कोई अन्तर रह जाता है? आज तक कितने आर्यसमाजियों ने शुद्ध हुए मुसलमान और चमारों को लड़कियाँ दी हैं? यदि नहीं तो यह इन्द्रजाल कैसा?

तोपजी—मुसलमान, ईसाई, चमार, भङ्गी आदि जो भी शुद्ध होकर आर्यसमाज में प्रविष्ट हो जाता है आर्यसमाज उसके साथ समानता का व्यवहार करता है, उनकी लड़कियाँ लेता भी है और उन्हें लड़कियाँ देता भी है। दिल्ली, लाहौर, आगरा, सोनीपत, भरतपुर, सिकन्दराबाद के प्रदेशों में इस प्रकार के सैकड़ों विवाह हुए हैं जिनमें लड़कियाँ ली भी गयी हैं और दी भी गयी हैं। यदि प्रमाण की आवश्यकता हो तो लाहौर में जात-पात तोड़क मण्डल के कार्यालय में आकर इन विवाहों की सूची का रजिस्टर देख लें, परन्तु एक मिनट के लिए आपकी बात ही मान लें, तो भी हमारी इस कमी को सनातनधर्म पूरी कर देता है, क्योंकि वह मुसलमान, ईसाई, भङ्गी, चमारों को लड़कियाँ देता ही देता है, इनकी लड़कियों को लेता नहीं है। आवश्यकता हो तो इस प्रकार की सूची प्रस्तुत की जा सकती है कि सनातनधर्म ने कितनी लड़कियाँ मुसलमान, ईसाई, चमार और भङ्गियों को दीं।

८७. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने सब मतों की निन्दा करते हुए सब मतों के पूर्वजों को गालियाँ दी हैं। क्या सबको गाली देनेवाला मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो सकता है? और फिर सब मतों को झूठा बतानेवाले का अपना मत कहाँ तक सच्चा गिना जा सकता है?

तोपजी—मत या सम्प्रदाय उसे कहते हैं जो मनुष्य के चलाये हुए हों और धर्म वह है जो परमात्मा द्वारा उपदिष्ट किया हुआ हो। इसलिए ईश्वरोक्त धर्म की तुलना में मनुष्यकृत मत सब झूठे और दोषयुक्त होते हैं। किसी मत या मत के संस्थापक की आलोचना करना निन्दा या गाली देना नहीं कहा जा सकता। मनुष्य कहते ही उसे हैं जो झूठी बातों का खण्डन करके सच्ची बातों को स्वीकार करे। जो व्यक्ति बुद्धि को ताला लगाकर सच्ची-झूठी सब बातों को बिना विचारे मान ले, वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं, वह गधा है; और धर्म को वही जानता है, जो युक्ति और तर्क से परीक्षा करके किसी सिद्धान्त या धर्म को स्वीकार करता है, अतः स्वामीजी का वैदिक धर्म सच्चा और स्वामीजी मनुष्य कहलाने योग्य हैं। पौराणिक मत झूठा और उसके माननेवाले सब बोझ ढोनेवाले गधे हैं।

८८. पोपजी—आर्यसमाजी ईश्वर को सर्वव्यापक मानते हैं, तो क्या वह गर्भ और वीर्य में है या नहीं? यदि कहो कि है तो ईश्वर गर्भ में आ गया। यदि गर्भ और वीर्य में नहीं है तो वह सर्वव्यापक कैसे?

तोपजी—ईश्वर सर्वव्यापक है। वह गर्भ और वीर्य के अन्दर और बाहर सर्वत्र व्यापक है, अतः उसके लिए किसी स्थान पर आने और जाने, प्रविष्ट होने और निकलने का शब्द प्रयोग करना मूर्खता है। आपके विचार में जब ईश्वर सब गर्भों में विद्यमान है तो फिर सारे ही मनुष्य अवतार हो गये, फिर राम-कृष्ण आदि अवतारों में क्या विशेषता रही?

८९. पोपजी—आर्यसमाजी हवन में कस्तूरी आदि डालने का प्रमाण किस वेद में है?

तोपजी—यजुर्वेद [१।३] में वायु को पवित्र अर्थात् सुगन्धित, रोगरहित, शक्तिदायक

और शुद्ध करने की आज्ञा है, इसलिए आर्यसमाजी इस वेद की आज्ञा के अनुसार कस्तूरी आदि सुगन्धित और घी आदि शक्तिदायक तथा गिलोय आदि रोगनाशक वस्तुओं का हवन करके वायु को पवित्र करते हैं। आप कोई ऐसा मन्त्र प्रस्तुत करें जिसमें कस्तूरी आदि वस्तुओं का हवन में डालने का निषेध हो। आपको कस्तूरी डालने पर तो आपत्ति होने लगी, परन्तु आप पौराणिक यज्ञों में गौ, घोड़ा, बकरी और मनुष्य को मारकर हवन करने की विधि मानते हैं, इसमें कौन-से वेदमन्त्र प्रमाण हैं और क्या इनके मांस के हवन से सुगन्धि उत्पन्न होती है? यदि नहीं तो कस्तूरी पर आपत्ति क्यों?

९०. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास दस में स्वामी दयानन्दजी ने स्पष्ट लिका है कि चाण्डाल अथवा नीच लोगों के हाथ का बना हुआ खाना नहीं खाना चाहिए, तो आर्यसमाज का छूतछात के विरुद्ध आन्दोलन करना कहाँ तक उचित है?

तोपजी—स्वामीजी की दृष्टि में चाण्डाल और नीच वह है जो शराब पीता हो, मांस खाता हो और वेश्यागमन करता हो, वह चाहे ब्राह्मण के घर पैदा हुआ हो, चाहे भङ्गी के घर पैदा हुआ हो। जो व्यक्ति शराब न पीता हो, मांस न खाता हो, शुद्धता से रहे, उसके हाथ का खाने में कोई दोष नहीं। आर्यसमाज चूँकि गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णाश्रम मानता है, अत: आर्यसमाज का सिद्धान्त है कि उठने-बैठने में मापक स्वच्छता है। जो पवित्रता से रहे उसके साथ उठने-बैठने में कोई घृणा मत करो। जो गन्दा रहे उससे घृणा करो। खाने-पीने में सिद्धान्त सदाचार है। जो शराब न पीता हो, मांस न खाता हो, सदाचारी हो, स्वच्छता से भोजन बनाए, उसके हाथ का खा लेना चाहिए और रिश्ते-नाते में मापक गुण-कर्म-स्वभाव है। जिस लड़के-लड़की की अवस्था ठीक, अर्थात् कम-से-कम पच्चीस और सोलह वर्ष की हो, स्वस्थ हों, सदाचारी हों, लड़का कमानेवाला हो, लड़की गृहकार्यों में दक्ष हो, पढ़े-लिखे हों, उनका परस्पर विवाह होना चाहिए, क्योंकि आर्यसमाज गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था मानता है, अत: जात-पात-मूलक छूतछात के विरुद्ध आन्दोलन करना उसका आवश्यक कर्त्तव्य है, परन्तु सनातनधर्मी जब गङ्गा-स्नान और ठाकुरजी के चरणामृत से पापों का दूर होना मानते हैं, तो फिर गङ्गा-स्नान के पश्चात् सनातनधर्म का किसी से छूतछात करना कहाँ तक उचित है? और सनातनधर्म अछूतों को ठाकुरजी का चरणामृत देकर पवित्र क्यों नहीं कर लेता? क्या कलियुग में गङ्गा और चरणामृत में इतनी शक्ति भी नहीं रही?

९१. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ग्यारह में लिखा है कि वेदों में ईश्वर के बुलाने के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं है, परन्तु स्वामीजी स्वयं ही 'आर्याभिविनय' में ऋग्वेद १।१।३।१[१] से ईश्वर को बुलाकर सोमरस पिलाते हैं, क्या यह भङ्ग की तरङ्ग में तो नहीं लिखा गया?

तोपजी—आप जितना भी लिखते हैं, सचाई से एक प्रश्न भी नहीं करते। छल-कपट और धोखे से स्वामीजी के लेख को आधा लिखकर प्रश्न करते हैं, जिसकी पोल सारा लेख पढ़ते ही तुरन्त खुल जाती है। इस प्रश्न में ही देख लीजिए। बुलाने के दो अर्थ हैं। एक तो ईश्वर को पहले किसी स्थान पर उपस्थित न समझकर बुलाना और फिर भेज देना, जैसाकि पूजारि लोग मूर्त्तियों में ईश्वर का आवाहन करते हैं और फिर उसका विसर्जन कर देते हैं। इसपर स्वामीजी आक्षेप करते हैं कि मूर्त्तियों में जब ईश्वर व्यापक है तो उसका आना और जाना कैसे हो सकता है? इसी बात को दृष्टि में रखकर स्वामीजी ने लिखा है

१. सरल पता है १।२।१ अर्थात् मण्डल १, सूक्त २, मन्त्र १।

कि "वेदों में पाषाण आदि मूर्त्तिपूजा और परमेश्वर के आवाहन-विसर्जन करने का एक अक्षर भी नहीं।" इससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामीजी इस स्थान पर मूर्त्ति और मूर्त्ति में ईश्वर के आवाहन और विसर्जन को वेद के विरुद्ध बतला रहे हैं। दूसरे, बुलाने का अर्थ है सम्बोधित करना, जैसे हम प्रार्थना में ईश्वर को सम्बोधित करते हैं। बस, 'आर्याभिविनय' के मन्त्र में भी ईश्वर को सम्बोधित करके प्रार्थना की गयी है, न कि उसके बुलाने और भेजने की चर्चा है, अतः आपकी उपर्युक्त कल्पना निराधार और ग़लत है।

प्रिय पाठक महाशय! हमने पोपजी के कपोलकल्पित, बनावटी, ग़लत और बेहूदा प्रश्नों का संक्षिप्तरूप से उत्तर दे दिया है। हम आशा करते हैं कि पाठक महाशय इन प्रश्नों की शैली और पद्धति को सम्यक् प्रकार से समझकर, पौराणिक पोपमण्डल की चालों से अच्छी प्रकार परिचित होकर कभी भी इन लोगों की ठगी और चालाकी के जाल में न फँसेंगे और स्वामीजी के मूल ग्रन्थों का स्वाध्याय करके अपनी आत्मा को पवित्र करेंगे।

सनातनधर्म की अर्थी

ओं य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—यजुः० २५।१३

अर्थ—जो परमात्मा आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक बल का देनेवाला है, जिस परमात्मा के शासन को सब विद्वान् लोग मानते हैं, जिस परमात्मा का आश्रय लेना ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन है और जिसका आश्रय न लेना ही मृत्यु का कारण है, उस सुखस्वरूप परमात्मा की हम श्रद्धा और भक्ति से उपासना किया करें।

वेद का कैसा सुन्दर उपदेश है! उस परमात्मा का आश्रय लेना, अर्थात् उसकी आज्ञा का पालन करना ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन है और उसकी आज्ञा के विरुद्ध चलना ही मृत्यु है। उसकी आज्ञा का नाम ही धर्म और उसके निषेध का नाम ही पाप है। परमात्मा स्वयं सत्यस्वरूप हैं, अतः सत्य का मानना, सत्य का बोलना और सत्य का ही आचरण करना धर्म है; और झूठ का मानना, झूठ का बोलना तथा झूठ का आचरण करना ही पाप है। इसीलिए तो शास्त्र कहते हैं कि—

नहि सत्यात् परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्॥

अर्थात् सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं है।

इसीलिए महात्मा लोग कहते हैं कि सत्य ही जीवन और झूठ ही मृत्यु है। जिस व्यक्ति ने या जिस समाज ने या जिस देश ने सत्य को छोड़कर झूठ का पल्ला पकड़ लिया है, समझ लो कि क्रियात्मक रूप से उसकी मृत्यु हो चुकी है। आज पौराणिक पोपमण्डल अर्थात् सनातनधर्म पूर्णरूप से सत्य को छोड़कर सर्वथा झूठ के सहारे पर दिन पूरे कर रहा है, अतः हम निःसन्देह यह कह सकते हैं कि पौराणिक पोपमण्डल अर्थात् सनातनधर्म की मृत्यु हो चुकी है और इस मृत्यु का होना अवश्यम्भावी भी था, क्योंकि काठ की हँडिया कब तक चूल्हे पर सुरक्षित रह सकती थी! प्रमाण के रूप में 'सनातनधर्म विजय' नामक पुस्तक हमारे समक्ष है। इस पुस्तक के जिस भाग का सम्बन्ध वेद, शास्त्र और पुराणों के साथ है, इसमें सैकड़ों प्रमाण सर्वथा ग़लत लिखे हैं और जनता को छल-कपट और मिथ्या लेखन से धोखा देने का प्रयत्न किया है। इस पुस्तक के जिस भाग का सम्बन्ध ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों के साथ है और उनके आधार पर जितने भी प्रश्न आर्यसमाज पर किये गये हैं, एक में भी ईमानदारी से काम लेकर ऋषि दयानन्दजी के आशय को ठीक-ठीक

प्रस्तुत करके आक्षेप नहीं किया गया। पुस्तक के इन भागों से ही सनातनधर्म की मौत के प्रमाण प्रकट थे कि ''आर्यसमाज के विरुद्ध लिखित निर्णय'' और ''शास्त्रार्थों में आर्यसमाज की पराजयों के नमूने'' वाले भागों और न्याय से दूर, बेहदा, झूठे और बनावटी लेखों ने तो पौराणिक पोपमण्डल के सनातनधर्म की अर्थी ही निकाल दी है।

इस भाग में आरम्भ में 'सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध न्यायालय का निर्णय' के शीर्षक से पेशावर के न्यायालय का वह निर्णय अङ्कित किया गया है जिसके सम्बन्ध में हम नियोग प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं। इस निर्णय को प्राप्त करने में सनातनधर्म ने पूरे छल-कपट से काम लिया है। वह इस प्रकार कि—

१. एक कट्टर सनातनधर्मी को आर्यसमाज का सदस्य बनाया गया और दूसरे सनातनधर्मी ने सनातनधर्मसभा में सत्यार्थप्रकाश पर अश्लील टीका-टिप्पणी की। पहले व्यक्ति ने न्यायालय में दावा कर दिया। जब प्रतिवादी के वकील ने वादी के साथ प्रश्नोत्तर किये तो वादी ने प्रतिवादी की इच्छा के अनुसार सब बातों को स्वीकार कर लिया। जब वादी ने ही सारी बातें प्रतिवादी के पक्ष में स्वीकार कर लीं, तब वादी का दावा खारिज होना अवश्यम्भावी था। जब इस मक्कारी और धोखे का आर्यसमाज को पता लगा तो आर्यसमाज ने सेशन में अपील की, परन्तु अपील में किन्हीं नये साक्षियों की साक्षी तो होनी नहीं होती, केवल मिसल में लिखी हुई सामग्री के आधार पर ही निर्णय होता है, अतः अपील खारिज हो गयी। यदि आर्यसमाज चाहता तो हाईकोर्ट में अपील करके इस निर्णय को निरस्त करवा सकता था, परन्तु आर्य प्रतिनिधिसभा पञ्जाब ने परामर्श दिया कि इस प्रकार के निर्णय धर्म-अधर्म के सम्बन्ध में कोई प्रभाव नहीं रखते, अतः इसकी अपील में समय और धन व्यय करना व्यर्थ है।

यह है वह निर्णय जिसे पौराणिक पोपमण्डल गीदड़ के परवाने (आदेश-पत्र) की भाँति उठाये फिरता है और प्रत्येक स्थान पर शेखी से प्रस्तुत करने की मूर्खता करता है। अब इसपर पाठक तनिक मस्तिष्क लगाकर विचार करें—

क्योंकि वर्तमान राज्य वैदिक राज्य नहीं है, इसलिए इसका विधि-विधान भी वेदानुकूल न होकर वेद के विरुद्ध है। प्रमाण के लिए अवलोकन कीजिए—

(क) मद्यपान—मद्यपान वेद के विरुद्ध है, परन्तु वर्तमान राज्य में मद्यपान कोई अपराध नहीं है, अपितु सरकार शराब के ठेके नीलाम करके इसकी आय से देश में शिक्षा का प्रबन्ध करती है। इसी प्रकार भङ्ग, अफीम, सुल्फा, गाँजा आदि-आदि का सेवन कोई अपराध नहीं है, अतः यह विधि-विधान वेदविरुद्ध है।

(ख) मांस-भक्षण—मांस खाना वेदविरुद्ध है, परन्तु वर्तमान राज्य में मांस-भक्षण कोई अपराध नहीं है, प्रत्युत राज्य बूचड़खानों और नगर में दुकानों के लिए लाइसैंस देती है, इसलिए यह कानून वेद के विरुद्ध है।

(ग) वेश्यागमन—वेश्यागमन वेद के विरुद्ध है और वर्तमान सरकार के कानून में वेश्यागमन कोई अपराध नहीं है, प्रत्युत राज्य वेश्याओं को पेशा करने के लिए प्रमाण-पत्र देता है, अतः वर्तमान विधि-विधान वेद के विरुद्ध है।

(घ) व्यभिचार—व्यभिचार करना वेद के विरुद्ध है और वर्तमान विधि-विधान बालिग (वयःप्राप्त) कुमारी और विधवा स्त्री के साथ उनकी सहमति से मैथुन करने को व्यभिचार स्वीकार नहीं करता, अतः वर्तमान कानून वेद के विरुद्ध है।

(ङ) गो-वध—गो-वध वेद के विरुद्ध है और वर्तमान सरकार के कानून में गो-वध

कोई अपराध नहीं है, प्रत्युत राज्य स्थान-स्थान पर गो-वध के लिए बूचड़खाने स्थापित करने में सहायता करता है, इसलिए वर्त्तमान विधि-विधान वेद के विरुद्ध है।

चूँकि वर्त्तमान विधि-विधान वेद के विरुद्ध है, इसलिए वह स्मृति का गौरवपूर्ण पद नहीं रखता जैसाकि---

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमो निष्ठा हि ताः स्मृताः॥ ९५॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥ ९६॥

—मनु० १२।९५-९६

अर्थ—जो वेद के विरुद्ध कानून हैं और जो अनुचित विधि-विधान है, वे सब-के-सब व्यर्थ हैं, क्योंकि वे अज्ञान का परिणाम हैं॥९५॥ ऐसे कानून बनते हैं और बिगड़ते हैं। वेद के अतिरिक्त और कोई भी कानून नये होने के कारण व्यर्थ और झूठे हैं॥९६॥

अतः वर्त्तमान विधि-विधान धर्म-अधर्म के निर्णय में कोई प्रभाव नहीं रखता, क्योंकि वर्त्तमान न्यायालय वर्त्तमान विधि-विधान के अधीन हैं, अतः वे न्यायालय अवैदिक हैं, जैसाकि—

ऋग्वेदविद्यजुर्वेदविच्च सामवेदविदेव च। त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥

—मनु० १२.११२

अर्थ—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के जाननेवाले तीन विद्वानों की परिषद् धर्म के सम्बन्ध में सन्देहों का निर्णय करने के लिए होनी चाहिए।

इससे सिद्ध है कि वर्त्तमान न्यायालय धर्म-अधर्म का निर्णय करने का अधिकार नहीं रखते, अतः वर्त्तमान कानून के अधीन चलनेवाले न्यायालयों के निर्णय धर्म-अधर्म के सम्बन्ध में कोई प्रभाव नहीं रखते।

इससे स्पष्ट प्रमाणित है कि पेशावर न्यायालय का सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में दिया गया निर्णय सत्यार्थप्रकाश पर तनिक भी प्रभावी नहीं हो सकता, वह व्यर्थ और झूठा है।

यदि आप वर्त्तमान विधि-विधान और उसके अधीन कार्यरत न्यायालयों के निर्णयों को भी धर्म-अधर्म के लिए कसौटी मानते हैं तो फिर पौराणिक पोपमण्डल के सनातनधर्म का तो मनीआर्डर ही हो जाएगा, क्योंकि बाल-अवस्था के विवाह, सती होना, विधवा-विवाह न करना, छूतछात तो सनातनधर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं, परन्तु वर्त्तमान कानून में इनके विरुद्ध निर्णय ही नहीं अपितु एक्ट [Act] बने हुए हैं।

शारदा एक्ट—बाल्यावस्था में विवाह करना अपराध है और इस कानून के अन्तर्गत दण्ड-प्राप्त—दण्डित किये गये बाल्यावस्था में विवाह करनेवालों के सैकड़ों निर्णय अङ्कित किये जा सकते हैं।

सती प्रथा—सती होना अपराध है। इस कानून के अधीन सहस्रों व्यक्ति दण्डित हो चुके हैं, जिनके निर्णय यहाँ लिखे जा सकते हैं।

छूतछात—कानून की दृष्टि से अपराध है और अछूतों को कुएँ पर पानी भरने के अधिकार के अनेक निर्णय विद्यमान हैं, जो यहाँ दिये जा सकते हैं।

विधवा-विवाह एक्ट—पास हो चुका है और इसके अधीन सैकड़ों नहीं सहस्रों विधवा-विवाह हो चुके हैं, जिनकी सन्तान वैध ठहराई जा चुकी है और विधवा-विवाह का विरोध करनेवालों को कितने ही स्थानों पर दण्डित भी किया जा चुका है। विधवा-

विवाह के पक्ष में अनेक निर्णय यहाँ दिये जा सकते हैं।

मद्यपान, मांस-भक्षण, वेश्यागमन, गोवध आदि के पक्ष में न्यायालयों के सैकड़ों निर्णय भी यहाँ अङ्कित किये जा सकते हैं और बाल-विवाह, सती-प्रथा आदि के विरुद्ध भी सकड़ों निर्णय यहाँ लिखे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त खन्ना के कुएँ के सम्बन्ध में हाईकोर्ट का और भटिण्डा के कुएँ के सम्बन्ध में नाज़िम साहब [व्यवस्थापक] बरनाला का निर्णय अछूतों को सरकारी कुओं से पानी लेने के पक्ष में अङ्कित किया जा सकता है।

'सद्धर्म प्रचारक' पर प्रथम लाइबल केस [Libel case, मानहानि का मुकद्दमा] जिसमें सनातनधर्म के चोटी के नेता पं० गोपीनाथ पर वेश्यागमन और गोमांस खाने का अपराध सिद्ध होकर मुकद्दमा खारिज हुआ और काशी का समुद्र-यात्रा का मुकद्दमा जिसमें पौराणिक पोपमण्डल के सरदार पं० शिवकुमार शास्त्री की और पुराणों की दुर्दशा होकर अपराधियों के दण्डित होने के निर्णय भी लिखे जा सकते हैं, परन्तु पुस्तक का कलेवर बढ़ जाने के भय से उन्हें यहाँ अङ्कित नहीं किया जाता।

प्रश्न तो यह है कि क्या पौराणिक पोपमण्डल वर्त्तमान विधि-विधान और उसके अधीन होनेवाले निर्णयों को धर्म-अधर्म में कसौटी मानकर विधवा-विवाह, मद्यपान, मांस-भक्षण, वेश्या-गमन और गोवध को धर्म के अनुकूल मानकर उनपर आचरण करने के लिए तैयार है? और क्या बाल्यावस्था का विवाह, सती-प्रथा, छूतछात को तिलाञ्जली देने और समुद्र-यात्रा की आज्ञा देने को तैयार है? यदि नहीं तो फिर वर्त्तमान कानून के अन्तर्गत पेशावर के न्यायालय का निर्णय सत्यार्थप्रकाश पर प्रभावी कैसे हो सकता है?

यद्यपि हमने विस्तार के साथ सिद्ध कर दिया है कि इस प्रकार के लेख और निर्णय धर्म और अधर्म के सम्बन्ध में कोई मूल्य नहीं रखते, परन्तु क्योंकि पौराणिक पोपमण्डल 'चूहे को हल्दी की गाँठ मिलने पर पंसारी बन जाने' की उक्ति चरितार्थ करते हुए इस निर्णय को अमूल्य निधि समझता है, अतः हम भी सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में एक लेख 'प्रकाश' लाहौर के ऋषि-अङ्क १८ अक्तूबर १९२५ से उद्धृत कर देते हैं—

श्रीयुत टी०बी० शेषागिरी अय्यर, जज हाईकोर्ट मद्रास की ओर से

"सनातनधर्म का रहस्य समझने के लिए वेद और केवल वेद ही हमारा मार्ग-दर्शन कर सकते हैं और जाति की धार्मिक उमंगों और आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वेदों का अध्ययन ही पर्याप्त है। इस स्थिति में बिना किसी अत्युक्ति और बिना किसी प्रतिवाद के भय के यह कहा जा सकता है कि स्वामीजी द्वारा रचित सत्यार्थप्रकाश हमारी पुरानी सभ्यता की कुञ्जी है। मैं स्पष्ट और खुले शब्दों में स्वीकार करता हूँ कि मैं मूर्त्तिपूजक हूँ और स्वामीजी ने मूर्त्तिपूजा का जो खण्डन किया है, उससे मैं सहमत नहीं हूँ, परन्तु यह मतभेद मुझे हृदय से स्वामीजी के महान् कार्य की प्रशंसा करने से नहीं रोकता।

मैं उन्हें परमात्मा के उन अवतारों में स्थान देता हूँ, जो समय-समय पर हिन्दूधर्म की अपवित्रताओं को दूर करने के लिए प्रकट होते रहे हैं। चूँकि स्वामी दयानन्द का एकमात्र उद्देश्य वेद-उपदेश के गौरव और महत्त्व का झण्डा ऊँचा करना था, अतः आप अवतारों के समूह में स्थान पाने के अधिकारी हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि जिस युग में स्वामीजी का ज्योतिर्मय आविर्भाव हुआ, उस युग में हिन्दूधर्म में बहुत-से दोष उत्पन्न हो चुके थे। फलस्वरूप वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि की ओर से किये गये मुकद्दमे में जो रहस्य प्रकट हुए थे और जिन लोगों ने उन वृत्तान्तों को पढ़ा है, वे अच्छी प्रकार जानते हैं कि पुराणों की घटनाओं से अनुचित लाभ उठाकर कितने अश्लील और घिनौने काम किये जाते थे और अन्धविश्वासों में फँसने के कारण देश की क्या अवस्था हो रही थी।

ठीक ऐसे समय पर स्वामी दयानन्द ने अज्ञान और अन्धकार के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया और ऋषियों की कीर्ति और गौरव की रक्षा के लिए आप कार्यक्षेत्र में उतरे। इस उच्च उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उन्हें वास्तविक रूप में यह घोषणा करनी पड़ी कि धर्म का रहस्य रामायण की कहानियों अथवा पुराणों में उपलब्ध नहीं हो सकता, प्रत्युत वेदों के पवित्र मन्त्रों में ही मिल सकता है। केवल इतना ही नहीं, उन्हें संसार को यह भी दिखलाना पड़ा कि जो लोग ऋषियों के शुद्ध और पवित्र हिन्दूधर्म पर आक्षेप करते हैं, स्वयं उनके सम्प्रदाय कितने तर्क व युक्तिशून्य और दोषों से परिपूर्ण हैं।

प्रत्येक अवस्था में यदि अन्य कोई उचित और टिकाऊ प्रबन्ध शीघ्र न हो तो यह प्रसन्नता प्रदान करनेवाली बात है कि इस प्रशंसनीय और अध्ययन करने योग्य पुस्तक सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद इस प्रान्त की मातृभाषा में हो गया है।''

अन्त में यह बतला देना भी अत्यन्त आवश्यक है कि पेशावर के दोनों निर्णयों में मजिस्ट्रेट और सेशन जज ने निष्पक्ष होकर निर्णय नहीं लिखे जैसाकि उनके वाक्यों 'दयानन्द के सिद्धान्त इस प्रकार के हैं कि वे हिन्दुओं और अन्य सम्प्रदायवालों के रूप और शिष्टाचार—सिद्धान्त और आचार की तीव्र आलोचना करते हैं' से स्पष्ट सिद्ध होता है कि निर्णय लिखते समय सत्यार्थप्रकाश में किये गये इस्लाम और ईसाइयत के खण्डन का विचार उनके हृदय में अवश्य था, इसलिए दोनों महानुभावों ने सनातनधर्म की आड़ में सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध ईर्ष्या-द्वेष के कारण बदला लेने का प्रयत्न किया है और उन्होंने नियोग-जैसी पवित्र रस्म को अश्लील और व्यभिचार लिखते हुए तनिक भी न्यायप्रियता से कार्य नहीं लिया।

यदि वे पक्षपात छोड़कर तनिक भी न्यायप्रियता से अश्लीलता और व्यभिचार की परिभाषा पर विचार करते तो उन्हें पता लग जाता कि वर्त्तमान युग में अश्लीलता और दुराचार की यही परिभाषा हो सकती है कि 'जो सम्प्रदाय जिस पुस्तक को ईश्वरीय ज्ञान मानता है, उसके अनुसार पञ्चायत के विधि-विधान से स्त्री-पुरुष का जो सम्बन्ध किया जाता है, उसका नाम वैध सम्बन्ध है। वह पवित्र और सभ्य प्रथा है' और ''उसके विरुद्ध स्त्री-पुरुष के गुप्त सम्बन्ध व्यभिचार और अश्लीलता में सम्मिलित हैं।'' जब नियोग को वेदानुकूल पञ्चायत के विधि-विधानानुसार आचरण में लाना सत्यार्थप्रकाश में लिखा गया है तो इसे व्यभिचार और अश्लील कैसे कहा जा सकता है?

और यदि किसी सम्प्रदाय को उसकी अपनी ईश्वरीय पुस्तक के गज़ [तीन फुट का मापक] से नहीं अपितु दूसरे मत की ईश्वरीय पुस्तक से नापना अभीष्ट हो तो सब मतों और सम्प्रदायों में एक-दूसरे के दृष्टिकोण से व्यभिचार और अश्लीलता की प्रथाएँ विद्यमान हैं। उदाहरण के रूप में यदि इस्लाम को वेद के गज़-मापक से नापा जाए तो चाचा, मामा, मासी और बुआ की लड़की, चाची, मामी, दादी और ले-पालक[1] की पत्नी से विवाह—ये सब विवाह वेद के दृष्टिकोण से व्यभिचार और अश्लील प्रथाओं में सम्मिलित हैं तथा इस्लाम का हलाला और मताअ जिसमें कि पति के जीवित रहते हुए उसका दूसरे पुरुष से सम्भोग करना आवश्यक है। मताअ के अधीन तो कुछ पैसों के बदले कुछ घण्टे के लिए भी अस्थायी रूप से स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध पति-पत्नी का सम्बन्ध माना गया है, वैदिक दृष्टिकोण से यह सब व्यभिचार और अश्लीलता है।

इसी प्रकार ईसायत की प्रथाओं को भी वैदिक दृष्टिकोण से व्यभिचार और अश्लील

---

१. गोद लिया हुआ लड़का, दत्तक पुत्र। —सम्पादक

ठहराया जा सकता है। उदाहरण के रूप में ईसाइयों का बिना पिता के कुँवारी मरियम के पेट से हज़रत ईसा की उत्पत्ति का मानना ही वैदिक दृष्टिकोण से व्यभिचार और अश्लीलता है। हज़रत नूह का शराब पीकर नङ्गे नाचने और हज़रत लूत का शराब पीकर अपनी लड़कियों से सम्भोग करने की कथाओं का तो कहना ही क्या है? यदि ये सारी प्रथाएँ क़ुरआन और बाइबिल के अनुसार होने से वैध हैं, व्यभिचार और अश्लीलता में सम्मिलित नहीं तो फिर वेदानुकूल नियोग की प्रथा को व्यभिचार और अश्लील लिखना मजिस्ट्रेट और जज साहब दोनों के पक्षपात का प्रकट प्रमाण है। उन्होंने ईमानदारी से न्याय की कुर्सी को शोभा प्रदान नहीं की।

परिणाम—इस सारे विवेचन से यह सिद्ध होता है कि वर्त्तमान राज्य चूँकि वैदिक नहीं है, अतः इसका विधि-विधान और इसके अधीन चलनेवाले न्यायालय भी वेदानुकूल नहीं हैं, अतः वर्त्तमान विधि-विधान और उनके अन्तर्गत कार्य करनेवाले न्यायालयों के निर्णय धर्म-अधर्म का निर्णय करने में कसौटी नहीं माने जा सकते, प्रत्युत धर्म-अधर्म के सम्बन्ध में वेद, उसके अनुकूल स्मृति तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णय ही कसौटी माने जा सकते हैं, जैसेकि—

वेद—

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेपरम्॥ —अथर्व० ९।५।२७

अर्थ—जो स्त्री पहले पति को प्राप्त होकर उसके पश्चात् दूसरे पति को प्राप्त करती है।

को वां शयुत्रा विधवेव देवरम्॥ —ऋ० १०।४०।२

देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते॥ —निरुक्त ३।३।१५

अर्थ—जैसे विधवा देवर के साथ एक ही पलङ्ग पर सोती है।

देवर उसे कहते हैं जो विधवा का दूसरा पति होता है।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि वेद नियोग की आज्ञा देते हैं।

वैदिक विधान अर्थात् स्मृति—

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः। क्षेत्रिकस्य तु तद् बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः॥ १४५॥
अनियुक्ता सुतश्चैव पुत्रिण्याप्तश्च देवरात्। उभौ तौ नार्हतो भागं जारजातककामजौ॥ १४३॥

—मनु० ९.१४५, १४३

अर्थ—नियोग करनेवाली स्त्री में उत्पन्न हुआ पुत्र वैसे ही सम्पत्ति का स्वामी होता है जैसाकि विवाहिता में उत्पन्न हुआ पुत्र, क्योंकि वह खेतवाले का ही बीज माना जाता है और धर्म से पैदा हुआ है॥१४५॥

किसी स्त्री ने बिना नियोग के पुत्र उत्पन्न किया हो अथवा पुत्रवाली ने नियम के विरुद्ध देवर से पुत्र उत्पन्न किया हो—वे दोनों सम्पत्ति के स्वामी नहीं बन सकते, क्योंकि पहला व्यभिचार से पैदा हुआ है और दूसरा कामवासनाओं की पूर्ति करने के लिए॥१४३॥

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वैदिक विधान नियोग से पैदा हुई सन्तान को वैध और सम्पत्ति का उत्तराधिकारी मानता है और बिना नियोग या नियोग के नियमों का उल्लङ्घन करके उत्पन्न की हुई सन्तान को व्यभिचार से पैदा हुई मानकर सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नहीं ठहराता।

वैदिक विधान के अनुसार न्यायालय

महाभारत में जब अम्बिका और अम्बालिका से नियोग कराने का प्रस्ताव आया, तब तीन जजों की समिति बैठी—१. सत्यवती, २. भीष्मजी और ३. व्यासजी। इन तीनों का

सर्वसम्मत निर्णय नियोग के पक्ष में है—

सत्यवती—**धर्मं कर्तुमिहार्हसि।** —महा० आदि० १०३.१०

नियोग धर्म है, तुम्हें यह धर्मकार्य अवश्य करना चाहिए।

भीष्म—**तदिदं धर्मसंयुक्तम्॥** —महा० आदि० १०५।२० [गीता प्रे० सं० १०४।२२]

यह नियोग धर्म के अनुसार है।

व्यासजी—**दृष्टं ह्येतत् सनातनम्॥** —महा० आदि० १०४।३६ [गी० प्रे० सं० १०४।४१]

नियोगरूपी यह सनातन मार्ग शास्त्रों में देखा गया है, अर्थात् शास्त्रसम्मत है।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वैदिक विधान के अधीन न्यायालय का निर्णय नियोग को धर्म ठहराता है। चूँकि वेद, वैदिक विधान और वैदिक विधान के अधीनस्थ न्यायालय नियोग को धर्म ठहराते हैं, अतः नियोग धर्म है और इसका वर्णन करनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदानुकूल है तथा संसार से व्यभिचार और अशिष्टता व असभ्यता को मिटाकर सदाचार और शिष्टता की शिक्षा देनेवाला ग्रन्थ है। इसके विरुद्ध वर्त्तमान न्यायालय का निर्णय निराधार और झूठा है।

२. इस पेशावर के न्यायालय के निर्णय के पश्चात् पोपजी ने लाला लाजपतराय के लिखे स्वामी दयानन्द के जीवनचरित्र पृष्ठ १३० से कुछ लेख उद्धृत करके यह सिद्ध किया है कि ''स्वामी दयानन्दजी निर्भ्रान्त नहीं थे और उन्होंने समय-समय पर कई-एक सिद्धान्तों को परिवर्तित किया। यदि वे जीते रहते तो सम्भव है और भी कई सिद्धान्तों को बदल लेते।''

हमारी यह समझ में नहीं आया कि पोपजी ने इस लेख से आर्यसमाज पर क्या आक्षेप किया है, क्योंकि आर्यसमाज तो इस बात को अपनी विशेषता स्वीकार करता है। आर्यसमाज ईश्वरपूजक है, मनुष्यपूजक नहीं। आर्यसमाज यह मानता है कि ईश्वर निर्भ्रान्त और सर्वज्ञ है, इसलिए उसके प्रकाशित किये हुए चार वेद निर्भ्रान्त और स्वतःप्रमाण हैं; और जीव अल्पज्ञ होने के कारण निर्भ्रान्त नहीं हो सकते, अतः उनकी रची हुई पुस्तकों में ग़लती होना सम्भव है, इसलिए आर्यसमाज ऋषिकृत ग्रन्थों को परतःप्रमाण मानता है, अर्थात् यदि वे वेद के अनुकूल हैं तो ठीक हैं और यदि उनमें कोई बात वेद के विरुद्ध है तो वह ग़लत है।

ऋषि दयानन्दजी में यह विशेषता थी कि वे आर्यसमाज में मनुष्यपूजा आरम्भ नहीं करना चाहते थे और न वे अपनी पूजा ही कराना चाहते थे, इसलिए जब उन्हें पता लग जाता था कि मेरा अमुक सिद्धान्त वेद के अनुकूल नहीं है, तो वे सचाई से उस सिद्धान्त को छोड़कर वेदानुकूल सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते थे। यह ऋषि दयानन्दजी का गुण था, न कि दोष। अब आर्यसमाज भी, यदि उसे सन्तुष्टि हो जाए कि अमुक सिद्धान्त वेद के विरुद्ध है तो उसे छोड़कर वेदानुकूल सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए सदा तत्पर रहता है, परन्तु वह केवल इस आधार पर अपने किसी सिद्धान्त को परिवर्तित करने के लिए तैयार नहीं कि यदि स्वामी दयानन्दजी जीवित रहते तो पता नहीं वे किन-किन सिद्धान्तों को परिवर्तित कर लेते।

हाँ, यदि कोई व्यक्ति युक्ति और प्रमाणों से आर्यसमाज के किसी सिद्धान्त को वेद के विरुद्ध सिद्ध कर दे तो आर्यसमाज हर समय वेदानुकूल सचाई को स्वीकार करने के लिए तैयार है, क्योंकि आर्यसमाज का धर्म स्वामी दयानन्द नहीं, प्रत्युत आर्यसमाज का धर्म वेद है। इसी बात को लाला लाजपतरायजी ने वर्णित किया है और लाला लाजपतरायजी स्वामीजी की इस वेदभक्ति की प्रशंसा करते हैं। पोपजी ने शायद लाला लाजपतराय का

लेख इस उद्देश्य से उद्धृत किया हो कि लाला लाजपतरायजी आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द से घृणा करनेवाले थे, परन्तु पोपजी का यह विचार अत्यन्त तुच्छ है। यद्यपि इसी जीवन-चरित्र में लालाजी ने स्थान-स्थान पर आर्यसमाज और स्वामी दयानन्दजी की प्रशंसा की है, परन्तु इसके अतिरिक्त भी लालाजी आर्यसमाज और स्वामीजी की प्रशंसा में अनेक बार प्रवचन और लेखन करते रहे हैं। हम यहाँ स्वामी दयानन्दजी और आर्यसमाज के बारे में लाला लाजपतरायजी के दो लेख अङ्कित कर रहे हैं। पाठक ध्यान दें कि लालाजी की आर्यसमाज और स्वामी दयानन्दजी में कितनी श्रद्धा-भक्ति थी—

"मैंने सर्वसाधारण की सेवा के समस्त पाठ आर्यसमाज में रहते हुए आर्यसमाज से सीखे। आर्यसमाज के मण्डल में ही मैंने विश्वव्यापी जीवन और पवित्रता के नमूने (आदर्श) देखे। मेरी गर्दन पर आर्यसमाज के उपकार असंख्य और असीम हैं। यदि मेरा रोम-रोम भी आर्यसमाज पर बलिदान हो जाए तो भी मैं उन उपकारों से अनृण नहीं हो सकता। यदि मैं आर्यसमाज में प्रविष्ट न होता तो ईश्वर जाने क्या होता! परन्तु सत्य यह है कि मैं आज जो कुछ हूँ, वह न होता।" —प्रकाश, लाहौर, १२ मई, १९२९

"स्वामी दयानन्द मेरे गुरु हैं। मैंने संसार में केवल उन्हीं को एकमात्र अपना गुरु माना है। वे मेरे धर्म के पिता हैं और आर्यसमाज मेरी माता है। इन दोनों की गोद में मैं पालित और पोषित हुआ और अपने मस्तिष्क को ढाला। मुझे अभिमान इस बात का है कि मेरा गुरु अत्यन्त स्वतन्त्र मनुष्य था।" —प्रताप, लाहौर, २६ नवम्बर, १९२३

इन लेखों से स्पष्ट सिद्ध है कि लाला लाजपतरायजी आर्यसमाज को अपनी माता और स्वामी दयानन्द को अपना पिता और गुरु स्वीकार करते थे। उन्होंने अपने लिखे हुए जीवन-चरित्र के पृष्ठ १३० पर जो लिखा है कि "स्वामी दयानन्द निर्भ्रान्त नहीं थे", वह केवल आर्यसमाज के एक सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए लिखा है जोकि वैदिक धर्म और आर्यसमाज का समर्थन करता है और पौराणिक पोपमण्डल की मनुष्यपूजा का प्रबल खण्डन करता है।

श्रीमान् मिश्रजी महाराज! आर्यसमाज का तो निश्चित सिद्धान्त है कि ऋषि दयानन्दजी भी मनुष्य थे, अतः उनसे ग़लती का होना सम्भव है। इसलिए आर्यसमाज वेद को मापक मानकर प्रत्येक वेदविरुद्ध सिद्धान्त को परिवर्तित करके वेदानुकूल सिद्धान्तों को मानने के लिए तैयार है, परन्तु आर्यसमाज एक ही सिद्धान्त के बारे में दो परस्पर-विरोधी लेखों को प्रमाण नहीं मानता, प्रत्युत आर्यसमाज के सिद्धान्त पूर्णरूप से निश्चित हैं, परन्तु सनातनधर्म के विचार के अनुसार तो वेद, स्मृतियाँ, पुराण आदि शास्त्र आपस में एक-दूसरे के विरुद्ध हैं। ऐसी स्थिति में आपके सिद्धान्त तो दृढ़तापूर्वक स्थिर ही नहीं किये जा सकते, क्योंकि शिवपुराण में लिखा है कि—

चत्वारश्च तथा वेदाः सेतिहासपुराणकाः ॥ ११६ ॥
धर्मशास्त्राणि विद्याभिर्वैदिकीभिस्समन्विताः। परस्परविरुद्धार्थाः शिवप्रकृतिपादकाः ॥ ११७ ॥
सत्कृत्य शिवयोराज्ञां मङ्गलं प्रदिशन्तु मे ॥ ११८ ॥ —शिव० वायु० उत्तरा० ३१। ११६-११८

अर्थ—इतिहास-पुराणों-सहित चारों वेद और वैदिक विद्याओं से युक्त धर्मशास्त्र जोकि शिव का वर्णन करनेवाले और परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध अर्थवाले हैं, वे शिव-पार्वती की आज्ञा का सत्कार करते हुए मेरे लिए कल्याण का उपदेश करें।

इन श्लोकों से स्पष्ट सिद्ध है कि पौराणिक पोपमण्डल के व्यासजी चारों वेदों और शास्त्रों में परस्पर विरोध मानते हैं। इसी बात का गरुडपुराण में स्पष्टरूप से प्रतिपादन किया

गया है—

तर्केऽप्रतिष्ठा श्रुतयो विभिन्ना नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

—गरुड० आचार० १०९।५१

अर्थ—तर्क में कोई श्रद्धा नहीं हो सकती और वेद के मन्त्रों में परस्पर विरोध है। ऐसा कोई ऋषि भी दृष्टिगोचर नहीं होता जिसका सिद्धान्त पृथक् न हो, इसलिए धर्म का रहस्य तो गुफा में छुपा हुआ है, बस, महापुरुष जिस मार्ग से चलें वही धर्म है।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पुराणों के कर्त्ता व्यासजी वेद के मन्त्रों और ऋषियों के धर्मशास्त्रों में परस्पर विरोध मानते हैं। बतलाइए, ऐसी अवस्था में पौराणिक पोपमण्डल के सिद्धान्त ठीक रूप से कैसे निश्चित किये जा सकते हैं? अतः वे समय-समय पर महापुरुषों के आचरण के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं और किसी समय भी सनातनधर्म के सिद्धान्त दृढ़तापूर्वक स्थिर नहीं किये जा सकते, क्योंकि उनकी आधारशिला वेदों पर नहीं प्रत्युत मनुष्यों पर आधारित है। आर्यसमाज के सिद्धान्त सदा स्थिर रहेंगे, क्योंकि उनका आधार मनुष्यों पर नहीं अपितु वेदों पर है। बस, सनातनधर्म मनुष्यपूजक और आर्यसमाज वेदानुकूल ईश्वरपूजक है।

३. लाला लाजपतरायजी की सम्मति लिखने के पश्चात् पोपजी ने 'आर्य मुसाफ़िर' आगरा के पत्र ७।८।३१ के अङ्क में से हरबिलास शारदा, सहायक मन्त्री परोपकारिणी सभा अजमेर की वह घोषणा अङ्कित की है, जिसमें आर्यसमाजियों से प्रार्थना की गयी है कि "वे सत्यार्थप्रकाश की उन ग़लतियों से सभा को सूचित करें कि जो उन्हें दूसरों के साथ वाद-विवाद और शास्त्रार्थों के समय ज्ञात हुई हैं, जिससे उन अशुद्धियों को दूर कर दिया जाए।"

हम चकित हैं कि पोपजी ने इस विज्ञापन को अङ्कित करके अपना कौन-सा प्रयोजन सिद्ध किया है, क्योंकि यह बात आर्यसमाज के गुणों—विशेषताओं में वृद्धि करती है न कि कमी, क्योंकि आर्यसमाज सत्यार्थप्रकाश आदि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों को दयानन्द-स्मृति ही मानता है और स्मृति का यह धर्म होता है कि वह वेद के आधारभूत सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करे तथा देश और काल के अनुसार देश की व्यवस्था को स्थिर रखने के लिए इस प्रकार के विधि और विधान बनाये जो वेद के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध न हों। स्मृतियाँ ऋषिकृत होने से परतःप्रमाण होती हैं, अतः वे वहाँ तक ही प्रमाण होती हैं जहाँ तक वे वेद के विरुद्ध न हों। जहाँ वे वेद के विरुद्ध होंगी वहाँ वे प्रमाण न होंगी। इसलिए स्मृतियों में यदि कोई बात वेद के विरुद्ध हो तो उसे वेद के अनुकूल ठीक किया जा सकता है और देश-काल के परिवर्तन के साथ-साथ उनके विधि-विधान में ऐसे परिवर्तन भी किये जा सकते हैं जो परिवर्तन वेद के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध न हों।

यद्यपि उपर्युक्त विज्ञापन से स्पष्ट सिद्ध है कि सभा का उद्देश्य सत्यार्थप्रकाश में पते, पाठभेद और मुद्रण की शाब्दिक अशुद्धियों को दूर करने का है, किसी सिद्धान्त को परिवर्तित करने का सभा का प्रयोजन नहीं है और न ही आज तक सत्यार्थप्रकाश के सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन हुआ है, परन्तु आर्यसमाज तो यह भी मानता है कि यदि सत्यार्थप्रकाश में कोई सिद्धान्त वेद के विरुद्ध सिद्ध हो जाए तो उसे भी वेदानुकूल ठीक किया जा सकता है और देश-काल के परिवर्तन के साथ-साथ सत्यार्थप्रकाश के विधि-विधान में इस प्रकार के परिवर्तन किये जा सकते हैं जो परिवर्तन वेद के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध न हों।

ऐसी अवस्था में सत्यार्थप्रकाश की वर्त्तमान पदावली और भाषा को तो परिवर्तित नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी लेखक की पुस्तक में किसी दूसरे को हस्तक्षेप करके उसकी भाषा को परिवर्तित करने का कोई अधिकार नहीं है। हाँ, ऐसे परिवर्तनों के सम्बन्ध में सत्यार्थप्रकाश में पादटिप्पणियाँ दी जा सकती हैं और आर्यसमाज सभा में प्रस्ताव पास करके इन परिवर्तनों की सार्वजनिक घोषणा कर सकता है, परन्तु पौराणिक पोपमण्डल तो पुराणों को ईश्वरकृत और वेदों से भी पूर्व प्रकाशित हुए मानता है, जैसाकि शिवपुराण में लिखा है—

प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्॥ ३१॥
अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥ ३२॥ —शिव० वायु० पूर्व० १। ३१-३२

अर्थ—ब्रह्मा ने सब शास्त्रों से पूर्व पुराणों को प्रकाशित किया, तत्पश्चात् उसके मुख से वेदों का प्रकाश हुआ।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पौराणिक लोग पुराणों को ईश्वरकृत मानते हैं, परन्तु इन पुराणों में सदा संशोधन होते आये हैं। भविष्यपुराण में लिखा है—

सर्वाण्येव पुराणानि संज्ञेयानि नरर्षभ। द्वादशैव सहस्राणि प्रोक्तानीह मनीषिभिः॥ १०३॥
पुनर्वृद्धिं गतानीह आख्यानैर्विविधैर्नृप॥ १०४॥ —भवि० ब्राह्म० १.१०३-१०४

अर्थ—हे नरश्रेष्ठ! यह निश्चय जानो कि बुद्धिमानों ने सारे पुराण बारह सहस्र श्लोकों में बनाये थे, फिर अनेक प्रकार की कथाओं से वृद्धि को प्राप्त हो गये।

इन श्लोकों से स्पष्ट सिद्ध है कि पहले सम्पूर्ण अट्ठारह पुराण केवल बारह सहस्र श्लोकों में थे, परन्तु बाद में लोगों ने इनमें असंख्य कथाएँ मिलाकर इस समय लाखों[1] श्लोकों के पोथे बना डाले। गरुडपुराण में महाभारत के विषय में लिखा है—

दैत्याः सर्वे विप्रकुलेषु भूत्वा कृते युगे भारते षट्सहस्र्याम्।
निष्काष्य कांश्चिन्नवनिर्मितानां निवेशनं तत्र कुर्वन्ति नित्यम्॥ —गरुड० उत्तर० १। ६९

अर्थ—सत्ययुग के सारे राक्षस लोग ब्राह्मण-कुलों में उत्पन्न होकर छह सहस्र श्लोकों में बनी हुई महाभारत में से कुछ श्लोकों को निकालकर नये निर्मित श्लोकों को इसमें सदा डालते रहते हैं।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि महाभारत पहले केवल छह सहस्र श्लोकों का ग्रन्थ था, परन्तु ब्राह्मणों ने उसमें से कुछ श्लोक निकाल भी डाले और सहस्रों श्लोक इसमें मिलाकर महाभारत को एक लाख श्लोकों का पोथा बना डाला।

सनातनधर्म सभा के सम्मेलन, लाहौर में मालवीयजी की अध्यक्षता में सन् १९२५ में पुराणों के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास हुआ था, जिसका आशय निम्नलिखित है—

"यह सम्मेलन इस बात को अनुभव करता है कि अब समय आ गया है जबकि पुराणों का संशोधन करके सनातनधर्म की स्थिति को स्पष्ट किया जाए। इसके लिए विद्वानों की एक समिति बनाई जाए जो पुराणों का संशोधन करके आगामी वर्ष के सनातनधर्म के सम्मेलन में प्रस्तुत करे।"

अब आप ही बतलाएँ कि पौराणिक पोपमण्डल की इस सम्बन्ध में क्या स्थिति है?

४. परोपकारिणी सभा के मन्त्री की घोषणा (विज्ञापन) के पश्चात् पोपजी ने आर्यसमाज के सम्बन्ध में महात्मा गाँधी की उस सम्मति को उद्धृत किया है जोकि महात्मा गाँधी ने

---

१. इस समय अट्ठारह पुराणों में लगभग चार लाख श्लोक हैं। —सं०

अनुभवहीनता और मुसलमानों की सङ्गति से प्रभावित होकर आर्यसमाज को हिन्दू-मुस्लिम एकता में बाधक समझकर आर्यसमाज को नष्ट करने के लिए सन् १९२४ में लिखी थी। इसमें महात्मा गाँधी ने अपनी स्थिति का अनुचित लाभ उठाते हुए आर्यसमाज, स्वामी दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द और सत्यार्थप्रकाश पर दोषारोपण किये थे।

महात्मा गाँधी का विचार था कि मेरे इस लेख से आर्यसमाज की मृत्यु हो जाएगी, परन्तु यह तो आर्यसमाज था। जिस आर्यसमाज की आधारशिला ईश्वरीय वैदिक धर्म पर आधारित हो, उसका महात्मा गाँधी-जैसा अल्पज्ञ जीव क्या बिगाड़ सकता था? आर्यसमाज की ओर से महात्मा गाँधी के लेख का करारा उत्तर दिया गया और साथ ही उन्हें शास्त्रार्थ का चैलैञ्ज दिया गया तथा शास्त्रार्थों के महारथी पं० रामचन्द्रजी 'देहलवी' स्वयं गाँधीजी की सेवा में उपस्थित हुए और विचार-विनिमय की आज्ञा माँगी, परन्तु गाँधीजी ने शास्त्रार्थ करने से बिल्कुल इन्कार कर दिया। उन्होंने अपने लेख पर खेद प्रकट किया और इस विवाद को समाप्त करने के लिए आर्यसमाज से प्रार्थना की। आर्यसमाज ने 'इज़हारे हक़ीक़त'[1] नाम से एक पुस्तक सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, दिल्ली की ओर से महात्मा गाँधी के लेख के उत्तर में प्रकाशित करके महात्मा गाँधी की प्रार्थना पर इस क्रम को भविष्य के लिए बन्द कर दिया। इस प्रकार महात्मा गाँधी की ओर से आरम्भ किया गया यह निष्प्रयोजन और व्यर्थ का वाद-विवाद समाप्त कर दिया गया, परन्तु गाँधीजी को इसका दण्ड अवश्य भोगना पड़ा और वह यह कि जब तक महात्मा गाँधी ने अपने लेख को वापस लेकर उसपर खेद प्रकट नहीं किया और जब तक उन्होंने अपने लेख के खण्डन में समय-समय पर लेख लिखकर अपना प्रायश्चित्त नहीं किया तब तक वे शिक्षित हिन्दू जनता में अपने प्रति श्रद्धा का भाव जाग्रत् नहीं कर सके और लगभग पाँच वर्ष तक शरीर से काटकर फेंके गये अङ्ग की भाँति सार्वजनिक कार्यों से अलग-थलग साबरमती आश्रम में पड़े रहे। यह तो हमने वास्तविक वृत्तान्त लिखा है। अब हम इस बारे में आर्यसमाज का सिद्धान्त लिखते हैं—

आर्यसमाज महात्मा गाँधी का आदर करता है, परन्तु आर्यसमाज महात्मा गाँधी को राजनैतिक नेता मानता है, उन्हें धार्मिक आचार्य स्वीकार नहीं करता। महात्मा गाँधी को धार्मिक विषयों में सम्मति देने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि मनुस्मृति में लिखा है—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥ —मनु० १२.११३

अर्थ—वेद को जाननेवाला धर्मात्मा ब्राह्मण अकेला भी जिस धर्म की व्यवस्था दे, वह परमधर्म मानना चाहिए। वेद के न जाननेवाले दस सहस्र व्यक्तियों का कहा हुआ भी धर्म नहीं है।

इस प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध है कि धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिए वह व्यक्ति ही प्रमाण हो सकता है जो चारों वेदों का जाननेवाला, पूर्ण विद्वान् और धर्मात्मा हो। गाँधीजी स्वयं स्वीकार करते हैं कि—"मैं वेदों, उपनिषदों, पुराणों और उन सब ग्रन्थों को मानता हूँ जो हिन्दूशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। हिन्दू-धर्मग्रन्थों पर जो मेरी श्रद्धा है, उसके लिए यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि मैं उनके प्रत्येक शब्द और प्रत्येक श्लोक को ईश्वरीय मानूँ और न मैं इस बात का दावा ही रखता हूँ कि इन अनूठी पुस्तकों का ठीक-ठीक ज्ञान मुझे है। गीता और तुलसीदास की रामायण के सङ्गीत से जो स्फूर्ति मुझे मिलती है, वैसी और किसी से नहीं मिलती। हिन्दूधर्म में भी दो ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनके विषय में कहा जा

१. सभा द्वारा इसी पुस्तक का हिन्दी संस्करण 'सत्य-निर्णय' के नाम से भी प्रकाशित हुआ था। —सं०

सकता है कि मैंने देखे हैं।'' —नवजीवन, ७ अक्तूबर १९२१

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि महात्मा गाँधीजी ने वेदों को बिल्कुल नहीं पढ़ा, प्रत्युत उनका धार्मिक अध्ययन गीता और तुलसीकृत रामायण तक ही सीमित है, इसलिए उपर्युक्त मनुस्मृति के श्लोक के अनुसार महात्मा गाँधी धर्म-अधर्म के विषय में निर्णय देने के योग्य नहीं, अतः आर्यसमाज के सम्बन्ध में उनका लेख प्रभावी और प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

अब मैं पौराणिक पोपमण्डल से पूछना चाहता हूँ कि क्या वह महात्मा गाँधी के लेखों को धर्म और अधर्म के विषय में प्रमाण मानता है? यदि नहीं तो फिर आर्यसमाज के समक्ष महात्मा गाँधी के लेख को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करना केवल मूर्खता ही है। यदि हमारे पौराणिक भाई महात्मा गाँधी के लेखों को धर्म और अधर्म के सम्बन्ध में कसौटी मानते हैं तो कृपा करके बताएँ कि गाँधीजी के निम्नलिखित लेखों को क्या वे धर्म-अधर्म की कसौटी स्वीकार करते हैं—

१. वेद—मैं तो बाइबिल, कुरआन और ज़न्द-अवेस्ता को भी वेदों की भाँति ईश्वर-प्रेरणा का फल मानता हूँ। —नवजीवन, ७ अक्तूबर सन् १९२१

२. मनुस्मृति—अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है, परन्तु इसमें मांस-भक्षण का स्पष्ट आदेश है, तो इससे क्या आप मांस खाएँगे? —नवजीवन, ३० मार्च १९२४

३. रामायण—रामायण से बढ़कर दूसरी प्यारी पुस्तक मेरे लिए नहीं, फिर भी तुलसीदास ने कितनी ही धर्मशास्त्र की बातें लिखी हैं, क्या वे सब मानने के योग्य हैं? —नवजीवन, ३० मार्च १९२४

४. महाभारत—इसका बड़ा भाग काल्पनिक है, उसे ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लिखा ही नहीं गया और न ही दूसरे व्यक्तियों की भाँति मेरा यह विचार है कि महाभारत अपने आरम्भिक मूल की ठीक-ठीक नक़ल है, प्रत्युत मैं तो यह कहूँगा कि इसमें अनेक परिवर्तन हो चुके हैं। —यंग इण्डिया, १ अक्तूबर १९२५

५. पुराण—पुराणों में जो कहानियाँ लिखी हैं, वर्त्तमान परिस्थितियों में यदि हम उनसे परिचित हों तो उनमें से कुछ अत्यन्त भयङ्कर हैं। यदि हम शास्त्रों की प्रत्येक कथा या उनमें जो पात्र वर्णित किये गये हैं, उनके अनुसार अपने चाल-चलन को ढालें तो फिर शास्त्र हमारे लिए मृत्यु का जाल हो जाएँगे। —यंग इण्डिया, २९ जुलाई १९२६

६. शास्त्र—बहुत-सी स्मृतियाँ ऐसी हैं जिन्हें छोटे-छोटे क्षेत्रफलों के बाहर कोई नहीं जानता। कोई नहीं बता सकता कि वे स्मृतियाँ कब बनीं। मैंने ऐसी एक स्मृति दक्षिण भारत में देखी थी। जब मैंने विद्वान् पण्डितों से इसके सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने कहा कि उन्हें इसके सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं। यदि हिन्दुओं को इन समस्त ग्रन्थों का पाबन्द माना जाए तो कदाचित् ही कोई ऐसा दुराचार होगा जिसे शास्त्रों की दृष्टि से उचित न ठहराया जा सके। मुझे ज्ञात है कि मेरे समालोचकों की मेरे इस उत्तर से सन्तुष्टि नहीं होगी। मैं उनका कोई पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकता, परन्तु मैंने अपने आलोचकों के आश्चर्य को दूर करने के लिए उन्हें बता दिया है कि मेरी दृष्टि में शास्त्रों का क्या अर्थ है।

—महात्मा गाँधी की पूना से घोषणा, १७ नवम्बर १९३२

७. कृष्ण—मुझे इस बात का कोई ज्ञान नहीं है कि महाभारत के श्रीकृष्ण कभी इस पृथिवी पर उत्पन्न हुए हैं। मैं तो ऐसे कृष्ण के समक्ष सिर झुकाने से इन्कार कर दूँगा जो वध कराने का दोषी हो, क्योंकि ऐसा करने से स्वाभिमान को ठेस पहुँचती है अथवा उस कृष्ण के समक्ष जिसका हिन्दू-इतर (भिन्न, मुसलमान आदि) एक दुराचारी नौजवान के रूप

में खिल्ली उड़ाते हैं। मैं तो भगवान् कृष्ण को अपने विचार के अनुसार पूर्ण अवतार, एक निर्दोष हस्ती, गीता की बांसुरी बजानेवाला और करोड़ों मनुष्यों में जीवन की लहर दौड़ानेवाला समझता हूँ। यदि मेरे समक्ष यह सिद्ध कर दिया जाए कि वर्त्तमान अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों (भागवत आदि पुराणों) की भाँति महाभारत भी एक इतिहास है और महाभारत के कृष्ण से कुछ वही कर्म हुए हैं जो उनपर आरोपित किये जाते हैं तो मैं इस बात की जोखिम उठाते हुए भी कि मुझे हिन्दूधर्म से निकाल दिया जाएगा, मैं बिना झिझक के कहूँगा कि मैं कृष्ण को भगवान् का अवतार नहीं मानता, परन्तु मेरे विचार में महाभारत एक गम्भीर, धार्मिक पुस्तक है और उसका बहुत बड़ा भाग काल्पनिक है।

—यंग इण्डिया, १ अक्तूबर १९२५

८. राम—हम जिस राम के गुण गाते हैं वे बाल्मीकि के नहीं, तुलसी रामायण के राम भी नहीं हैं। रामायण के राम वे राम नहीं हैं जिनका नाम लेकर भव-सागर से पार हो सकें अथवा जिनका नाम दु:ख के अवसर पर लिया करें, परन्तु वे राम तो दशरथ के पुत्र और सीता के पति नहीं। वे तो देहधारी राम नहीं हो सकते। वे तो न जन्म लेते हैं और न मरते हैं। —प्रताप (लाहौर), १० अप्रैल १९२८

९. मूर्त्तिपूजा—किसी मूर्त्ति को देखकर मेरे हृदय में तो किसी प्रकार की आदर की भावना उत्पन्न नहीं होती। —नवजीवन, १९ मार्च १९२९

१०. श्राद्ध—प्राचीन समय में मरने के पश्चात् दिये जानेवाले भोजन में चाहे कुछ अर्थ भले ही हो, इस युग में हमारी बुद्धि उसे नहीं समझ सकती। ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने संस्कृत श्लोक क्या काम दे सकते है! मरने के बाद भोजन को बुद्धि भी स्वीकार नहीं करती, हृदय भी स्वीकार नहीं करता। ऐसे भोजनों को जंगली मानने के लिए इससे प्रबल कारण मेरे पास नहीं। —नवजीवन, २४ जून १९२६

११. गो-वध—मैं कट्टर सनातनधर्मी हूँ, परन्तु एक मुसलमान को अधिकार दूँगा कि यदि उसकी आस्था है तो नि:सन्देह गौ का मांस खाए!

—प्रताप (लाहौर), २९ दिसम्बर १८२४

१२. तीर्थ—मैं एक तीर्थ-यात्री की भावनाएँ लेकर हरिद्वार नहीं गया था। मैंने स्वयं तो पवित्रता की खोज के लिए तीर्थस्थानों पर जाने का कभी विचार भी नहीं किया। मेरे लिए यह कहना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है कि इस प्रकार के विश्वास से कहाँ तक आत्मिक उन्नति होती है। —यंग इण्डिया, ३१ मई १९२८

१३. राम नाम का उच्चारण—राम नाम का उच्चारण कभी पुरुषार्थ के स्थान पर काम नहीं आ सकता। —यंग इण्डिया, २१ अक्तूबर १९२६

१४. खाना-पीना—मैं नीच जातिवालों के साथ खा-पी लेता हूँ, मुसलमानों के साथ खा-पी लेता हूँ। मैं इतना-कुछ कर सकता हूँ, परन्तु मैं अपने-आपको सनातनधर्मी वर्णाश्रमी मानता हूँ। —तेज (दिल्ली), २५ जुलाई १९२५

१५. जातपात-तोड़क विवाह—रोटी-व्यवहार तो हमारी बहुत-सी जातियों में दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है पर बेटी-व्यवहार आरम्भ हो जाने से भी एक तो सारी जाति का संगठन बढ़ जाएगा और दूसरे कुलों तथा स्त्रियों की खोज का क्षेत्र विस्तृत हो जाएगा।

—नवजीवन, २५ मार्च १९२६

१६. बलिदान—काली को बकरे का बलिदान करना मैं बिल्कुल अधर्म मानता हूँ।

—यंग इण्डिया (हिन्दी), दूसरा भाग, पृष्ठ ७६८

१७. विधवा-विवाह—जो लड़की पन्द्रह वर्ष के भीतर विधवा हो गयी हो तो उसके

विवाह का प्रबन्ध करना पिता का धर्म है। —नवजीवन, ११ मई १९२४

१८. छूतछात—छूतछात की धर्म की ओर से आज्ञा नहीं है। यह तो शैतान का धर्म है। अपने लाभ के लिए शैतान भी धार्मिक पुस्तकों का अवतरण दिया करता है।

—यंग इण्डिया (हिन्दी), दूसरा भाग, पृष्ठ ७१९

१९. नारियों की स्वतन्त्रता—हमारी देवियों को इतनी ही स्वतन्त्रता क्यों नहीं मिलती, जितनी पुरुषों को है? —यंग इण्डिया, ३ फरवरी १९२७

और भी बहुत-सी सम्मतियाँ और आचरण महात्माजी के धर्म के विषय में लिखे जा सकते हैं, उदाहरण के रूप में बछड़े को इञ्जैक्शन द्वारा मरवा डालना, आदि-आदि। क्या पौराणिक पोपमण्डल महात्माजी के उपर्युक्त लेखों को धर्म और अधर्म में कसौटी मानकर उनके अनुसार आचरण करने के लिए तैयार है और क्या महात्माजी के उपर्युक्त लेखों का सनातनधर्म के सिद्धान्तों पर प्रभावी होना पौराणिक पोपमण्डल स्वीकार करता है? यदि नहीं तो फिर सत्यार्थप्रकाश, आर्यसमाज, स्वामी दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्दजी के सम्बन्ध में महात्माजी की सम्मति क्या मूल्य रखती है?

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के सम्बन्ध में प्रमुख नेताओं की सम्मतियाँ

यद्यपि हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि राजनैतिक नेताओं की सम्मति आर्यसमाज, सत्यार्थप्रकाश और स्वामी दयानन्दजी के सम्बन्ध में कोई मूल्य और महत्त्व नहीं रखती, तथापि यदि पौराणिक पोपमण्डल राजनैतिक नेताओं की सम्मति को ही धर्म और अधर्म की कसौटी मानता है तो हम आर्यसमाज, स्वामी दयानन्द और सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में राजनैतिक नेताओं की सम्मतियाँ यहाँ पर लिखते हैं—

१. श्रीयुत वी०जे० पटेल, प्रधान असेम्बली

बहुत-से महानुभाव स्वामी दयानन्द को सामाजिक और धार्मिक सुधारक कहते हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में तो दयानन्द एक सच्चा राजनैतिक नेता था, क्योंकि ऋषि दयानन्द ही पहला व्यक्ति था जिसने यह कहा कि दूसरों का उत्तम शासन भी अपने शासन के समान नहीं हो सकता। चालीस वर्ष से जो पुरोगम इण्डियन नेशनल कांग्रेस का है, वह सब पुरोगम वही है जो ऋषि दयानन्द ने आज से पचास वर्ष पूर्व हम सबके समक्ष रख दिया था। सारे भारत की एक भाषा, खद्दर, स्वदेशी का प्रचार, पञ्चायतों की स्थापना, अछूतों का उद्धार—सारांश यह है कि वर्त्तमान कांग्रेस का प्रत्येक कार्यक्रम भगवान् दयानन्द का ही बतलाया हुआ है। सचमुच हम भाग्यहीन थे, जिन्होंने पचास वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द के पुरोगम को समझकर उसपर आचरण नहीं किया। यदि हम ऋषि दयानन्द के बताये पुरोगम पर आचरण करते तो आज भारतवर्ष स्वतन्त्र हो जाता। मैं ऋषि दयानन्द को अपना राजनैतिक नेता मानता हूँ और मेरी दृष्टि में दयानन्द सचमुच एक राजनैतिक क्रान्तिकारी था।

—तेज (दिल्ली), १५ फरवरी १९२५

२. श्रीयुत सी०एस० रंगास्वामी अय्यर, सदस्य लैजिस्लेटिव असेम्बली

मैं सोचता और चकित होता था कि महात्मा गाँधी को आर्यसमाज, सत्यार्थप्रकाश और स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में इस प्रकार अनर्गल प्रलाप क्यों करना चाहिए था जैसाकि उन्होंने करना पसन्द किया। महात्माजी कहते हैं कि उन्होंने इस महान् ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश

का कारागृह में सर्वप्रथम अध्ययन किया और उन्हें निराशा हुई है। मेरे-जैसे साधारण व्यक्ति को भी कारागृह में ही सत्यार्थप्रकाश पढ़ने का दुर्लभ अवसर प्राप्त हुआ है। कारागृह के सींखचों के पीछे एक वर्ष तक सत्यार्थप्रकाश मेरा मित्र, ज्योति और जीवन बना रहा। सत्यार्थप्रकाश में वेदों का निचोड़ है। सत्यार्थप्रकाश के महत्त्व को कम करने का अर्थ यह है कि वेदों के बहुमूल्य सार एवं संक्षेप की प्रतिष्ठा और मूल्य को कम किया जाए। महात्मा गाँधी और दयानन्द के सम्बन्ध में यह निर्णय करना कठिन नहीं है कि वेदों के विषय में श्रेष्ठ कौन है? महात्मा गाँधी ने जो आक्षेप किये हैं उन्हें दृष्टि में रखते हुए मेरा विचार नहीं कि महात्माजी ने सम्पूर्ण वेदों को पढ़ा हो, इनके अर्थों को समझना तो दूर रहा। स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में महात्माजी के आक्षेपों को मैं दोहराना नहीं चाहता। संन्यासी दयानन्द के जीवन और कार्य को राजनैतिक दृष्टिकोण से देखना न्यायोचित नहीं है। महात्माजी का आर्यन आन्दोलन के महान् आरम्भकर्ता स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में आलोचना करना राजनैतिक कारणों पर निर्भर है। हिन्दू-मुस्लिम एकता उनकी आत्मा की पुकार है और महात्माजी अपने इर्द-गिर्द दृष्टि डालने पर आर्यसमाजियों को ही इसमें रुकावट पाते हैं और वे उन समस्त दोषों को दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं के साथ जोड़ते हैं। जब महात्मा गाँधी समाजियों के दोषों को दयानन्द की शिक्षा से जोड़ते हैं तो कोई भी व्यक्ति यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकता कि एक महापुरुष अन्य महापुरुष के साथ न्याय करने के योग्य नहीं है। साधारण व्यक्ति महापुरुषों के सम्बन्ध में न्याय कर सकते हैं।

—प्रताप (लाहौर), २२ जून १९२४

३. महात्मा टी०एल० वास्वानी

स्वामी दयानन्दजी के लिए मेरे हृदय में प्रेम और आदर है। मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि स्वामी दयानन्द ने हिन्दूधर्म को संकुचित कर दिया है, प्रत्युत मेरा विश्वास है कि उन्होंने हिन्दूधर्म को विस्तृत किया है। स्वामीजी ने न केवल छूतछात के कलङ्क को दूर करने का प्रचार किया, प्रत्युत जाति-पाति के बन्धनों को भी दूर करने का प्रचार किया। आपने स्वदेशी, जातीय शिक्षा, राष्ट्रीय भाषा आदि की वकालत की और अपने कट्टरपन को तोड़ दिया। आपने नाइयों और अन्य प्रसिद्ध अन्त्यज जातियों को धार्मिक अधिकार भी दिये थे। मेरा विश्वास है कि स्वामीजी भारत की आर्यसभ्यता और शिष्टता के वर्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ साक्षी थे। वस्तुतः मैं उन्हें एक सुधारक ही नहीं समझता, प्रत्युत एक ऋषि समझता हूँ। लूथर को सुधारक कहा जाता है। मेरी सम्मति में स्वामी दयानन्द के जीवन और विद्या के सन्देश लूथर की अपेक्षा महान् थे। मैं स्वामी दयानन्द को वर्त्तमान भारत के ऋषियों, मुनियों, विद्वानों, पण्डितों और शहीदों में सबसे बढ़कर मानता हूँ।

—तेज (दिल्ली), ३० जून १९२४

४. श्रीमती सरोजनी नायडू, भूतपूर्व अध्यक्ष इण्डियन नेशनल कांग्रेस

किसी की दृष्टि में ऋषि दयानन्द एक सच्चा मनुष्य दिखाई देता है, कोई ऋषि दयानन्द को सम्पूर्ण गुणों का समूह कहता है, किसी की दृष्टि में दयानन्द स्वराज्य के जन्मदाता हैं, किसी की दृष्टि में ऋषि दयानन्द सचाई और निर्भयता का देवता और धर्म का अवतार है, कोई ऋषि दयानन्द को सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक सुधारक कहता है। वस्तुतः लोग जो कुछ कहते हैं, दयानन्द वह सब-कुछ हैं, परन्तु मैं तो ऋषि दयानन्द को प्रत्येक प्रकार की दासता और बन्धन से छुड़ानेवाला मानती हूँ चाहे वह दासता मस्तिष्क की हो चाहे धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय हो। —तेज (दिल्ली), १५ फरवरी १९२५

५. मौलाना हसरत मोहानी

जब कोई हिन्दू आर्यसमाज में आ जाता है तो उसमें एक विशेष परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है। उसमें उत्साह, देशभक्ति, निर्भयता और एक नयी प्रकार की भावना कार्य करने लगती है। जब लोग स्वराज्य के स्वप्न ले रहे थे तब श्री दयानन्द और आर्यसमाज अपने लेखन और प्रवचन के द्वारा इसका प्रचार कर रहे थे। मैं प्रसन्नतापूर्वक यह बात कहना चाहता हूँ कि असहयोग आन्दोलन के समय पहले लगभग ९० प्रतिशत आर्यसमाजी स्वराज्य के कार्यों में भाग लेनेवाले और नेता थे। —तेज (दिल्ली), ८ फरवरी १९२५

हमने ये केवल पाँच सम्मतियाँ नमूने (आदर्श) के रूप में अङ्कित की हैं। इनसे स्पष्ट सिद्ध है कि भारतवर्ष के सभी नेताओं ने महात्मा गाँधी के इस कर्म को निन्दनीय समझा था, अतः आर्यसमाज के सम्बन्ध में महात्मा गाँधी का लेख असत्य, निराधार और पक्षपातपूर्ण है।

पाठक महाशय! हमने इन राजनैतिक नेताओं की ये कुछ वे सम्मतियाँ अङ्कित की हैं, जो महात्मा गाँधी के लेख के उत्तर में उस समय समाचारपत्रों में प्रकाशित हुई थीं और ये उन महानुभावों की सम्मतियाँ हैं जो राजनैतिक क्षेत्र में महात्मा गाँधी से किसी भी अवस्था में न्यून प्रतिष्ठा नहीं रखते। अब हम भारत और उसके बाहर के कुछ अन्य विद्वान् और विश्वस्त नेताओं की सम्मतियाँ आर्यसमाज और स्वामी दयानन्दजी के सम्बन्ध में लिखते हैं।

नीचे हम भारत और अन्य देशों के कुछ प्रमुख विद्वानों और नेताओं की सम्मतियाँ आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द के सम्बन्ध में लिख रहे हैं—

६. सर सय्यद अहमद खाँ

"अत्यन्त खेद की बात है कि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी, जो संस्कृतभाषा के प्रकाण्ड पण्डित और वेद के बहुत बड़े गवेषक थे, ३० अक्तूबर १८८३ को सायं ६ बजे अजमेर में परलोक सिधार गये। विद्या और पाण्डित्य के अतिरिक्त वे अत्यन्त दयालु और सरल-स्वभाव मनुष्य थे। उनके श्रद्धालु उन्हें देवता समझते और निःसन्देह वे इसी योग्य थे। वे ज्योतिःस्वरूप, निराकार परमात्मा के अतिरिक्त दूसरे किसी की पूजा उचित नहीं समझते थे। हमारी स्वामीजी के साथ बहुत घनिष्ठता थी। हम सदा उनका बहुत आदर करते थे, क्योंकि वे ऐसे विद्वान् और श्रेष्ठ पुरुष थे कि प्रत्येक मतवाले को उनका आदर अनिवार्य था। कदाचित् हमारी समझ की ग़लती हो, परन्तु हमें ध्यान है कि वे प्रकृति को अनादि मानते थे। यदि उनका यह विचार न होता तो परमात्मा के सम्बन्ध में उनका और मुसलमानों का विश्वास बिल्कुल एक था। प्रत्येक प्रकार से वे एक ऐसे व्यक्ति थे जिनका उदाहरण इस समय भारत में विद्यमान नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को उनकी मृत्यु पर दुःखी होना अनिवार्य है कि एक ऐसा अद्वितीय मनुष्य उनके मध्य से जाता रहा।"

७. कर्नल अल्काट महोदय—थियोसोफिकल सोसायटी के संस्थापक

"स्वामी दयानन्दजी महाराज निःसन्देह एक महापुरुष और संस्कृत के एक बड़े विद्वान् थे। उनमें उच्चकोटि की योग्यता, दृढ़ सङ्कल्प और आत्मविश्वास था। वे मानव-जाति के पथ-प्रदर्शक थे। मेरी सम्मति में वे अत्यन्त सुडौल, लम्बे-तगड़े, अत्यन्त मिलनसार और हमारे साथ व्यवहार करने में सदा कृपालु थे। हमारे मन और मस्तिष्क पर उन्होंने अत्यन्त गहरा प्रभाव छोड़ा है।"

८. मिस्टर ह्यूम—नेशनल कांग्रेस के जन्मदाता

"सबको स्वीकार करना पड़ता है कि स्वामी दयानन्द एक महान् और भद्र पुरुष थे और देश के लिए गर्व का कारण थे, जिसे वे हृदय से प्रेम करते थे। सब अनुभव करेंगे

कि उनकी मृत्यु से भारत को एक बहुत बड़ी और खेदजनक हानि सहनी पड़ी है।''

९. मिस्टर जे० रेम्जे मैक्डानल्ड—भूतपूर्व प्रधानमन्त्री, इंगलैण्ड

अपनी 'अवेकनिंग आफ इण्डिया' (Awakening of India) नामक पुस्तक में लिखते हैं ''आर्यसमाज विशेषरूप से एक धार्मिक संस्था है और इसकी आधारशिला स्वामी दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से है। स्वामीजी उन पवित्र आत्माओं में से थे जो हिन्दुओं के धार्मिक जीवन के उथल-पुथल के युग में प्रकट हुए। स्वामी दयानन्द का जन्म सन् १८२४ में हुआ और १८८३ में उनका स्वर्गवास हो गया। यदि एक वाक्य में सारी बात कहनी हो तो यह है कि उनकी शिक्षा का झुकाव हिन्दूधर्म को फिर से वेदों की पवित्रता की ओर ले-जाना था। मूर्त्तिपूजा ने हिन्दुओं को बहुत नीचे गिर दिया था और प्रत्येक सामाजिक दोष उत्पन्न कर दिया था।

''आर्यसमाज प्राचीन समय की उस जाग्रत् अवस्था का एक चिह्न है जोकि भारत में आजकल प्रकट हो रहा है। आर्यसमाज वेदों की विश्वव्याप्ति का स्वप्न देखता है, इसके लिए स्वामी दयानन्द ने न केवल आर्यों में प्राण ही फूँके प्रत्युत सिद्धान्त भी सिखलाये। उनकी शिक्षा का एक भाग यह भी है कि आर्य चुने हुए लोग हैं और वेद चुनी हुई पवित्र पुस्तक है और भारत चुनी हुई पृथिवी है। एक प्रकार से वह जंगजू मिश्नरी [आक्रामक प्रचारक] था। वह सङ्कल्प का दृढ़, विचारों का स्वतन्त्र, स्थिरनिश्चयी तथा शुद्ध और पवित्र था और ये ही गुण उसने अपने अनुयायियों को प्रदान किये हैं।''

१०. सर सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी—बङ्गाल के बेताज बादशाह

''पण्डित दयानन्द असाधारण कीर्तिवाले धार्मिक आचार्य थे। हो सकता है कि धार्मिक विचारों में हमारा उनसे विरोध हो अथवा हम उनके वेदों के भाष्य को स्वीकार न करें, तो भी एक आचार्य के रूप में उनकी शक्ति और तन्मयता सबपर विजय पाती हुई प्रकट होती है। वह एक योगी और ऋषि था जिसने संसार को त्याग दिया, परन्तु वह ऐसी प्रतिभा से सम्पन्न था जो किसी संसारी मनुष्य में नहीं पायी जा सकती। उसकी मृत्यु से न केवल उस धार्मिक संस्था [आर्यसमाज] को जिसका वह प्राण था एक अपूरणीय क्षति हुई है, प्रत्युत देश के उन सभी वासियों के लिए क्षति है जो सदा उनके ज्ञान पर गर्व करेंगे और उसके नाम को सदा प्रेम और कृतज्ञता के साथ स्मरण करेंगे।''

११. लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक

''जो लोग मतभेद को सहन नहीं कर सकते वे चाहे इस बात को न मानें, परन्तु जिनमें अपने शत्रु के भी गुणों की प्रशंसा करने का प्रशंसनीय साहस है वे स्वीकार करेंगे कि स्वामी दयानन्द योग्यता का भण्डार और गवेषक प्रवृत्ति का व्यक्ति था और वे कहेंगे कि एक महापुरुष चल बसा। हिन्दूधर्म से गाढ़ प्रेम करनेवालों को उचित था कि वे उसके साथ क्रूरता का व्यवहार न करते। यदि युग अनुकूल होता तो आर्यधर्म के सिद्धान्तों ने वेदान्तियों के सिद्धान्तों पर विजय प्राप्त कर ली होती। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वामीजी अधिक कार्य न कर सके और न ही उनके पाण्डित्य का पूरा मान-सम्मान हुआ, परन्तु इसका कारण हमारी ही उदासीनता थी। हमारे शासक जो हमसे सर्वथा भिन्न सम्प्रदाय के हैं, इसी कारण हम सबको धर्म के विषय में पूरी स्वतन्त्रता मिली हुई है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि हममें किसी प्रकार का कोई जातीय धर्म नहीं रहा।''

इन सब सम्मतियों को पढ़ने के पश्चात् यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि आज सारे संसार में आर्यसमाज और उसके संस्थापक स्वामी दयानन्दजी के पाण्डित्य, सुधार-

कार्यों और परोपकार की धूम मची हुई है। उस समय महात्मा गाँधी ने कुछ स्वार्थी लोगों के प्रभाव में बहकर आर्यसमाज को हिन्दू-मुस्लिम एकता में रोड़ा समझकर उसे कुचलने के लिए वह लेख लिखा था, परन्तु बाद में आर्यसमाज की दृढ़ता और सैद्धान्तिक सत्य को देखकर उन्हें भी पता लग गया कि आर्यसमाज ऐसा नरम हलवा नहीं है कि जिसे सरलता से निगला और पचाया जा सके, प्रत्युत यह तो लोहे के चने चबाने के सदृश है कि जिनको चबाने का प्रयत्न करनेवाले के दाँत और आँत स्वयं सङ्कट में पड़ जाते हैं।

५. महात्मा गाँधी की आर्यसमाज के सम्बन्ध में सम्मति उद्धृत करने के पश्चात् पोपजी ने पाँच शास्त्रार्थों में आर्यसमाज के विरुद्ध अध्यक्षों के निर्णय अङ्कित करके उन्हें आर्यसमाज की पाँच पराजयों का नाम दिया है। इससे पूर्व कि मैं उन पाँचों शास्त्रार्थों और उनके निर्णयों की वास्तविकता का भण्डाफोड़ करके जनता के समक्ष उनका रहस्य प्रकट करूँ, मैं शास्त्रार्थों में अध्यक्षों की नियुक्ति के सम्बन्ध में आर्यसमाज के दृष्टिकोण का वर्णन करना आवश्यक समझता हूँ।

आर्यसमाज यह मानता है कि शास्त्रार्थों में जय-पराजय का निर्णय करना किसी साधारण उर्दू-अंग्रेजी पढ़े अथवा साधारण संस्कृत जाननेवाले का कार्य नहीं है, प्रत्युत धर्म के विषय में निर्णय वेदों के जाननेवाले तीन व्यक्तियों की परिषद् दे सकती है जैसाकि मनुस्मृति में कहा गया है—

ऋग्वेदविद्यजुर्वेदविच्च सामवेदविदेव च। त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥

—मनु० १२।११२

अर्थ—धर्म के विषय में सन्देह का निर्णय करने के लिए ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के जाननेवाले तीन व्यक्तियों की परिषद् [Bench] ठीक जाननी चाहिए।

यदि तीन व्यक्तियों की परिषद् सम्भव न हो तो आगे चलकर मनुजी कहते हैं—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः। स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

—मनु० १२।११३

अर्थ—वेद का जाननेवाला ब्राह्मण अकेला भी जिस धर्म की व्यवस्था दे, वही परम धर्म जानना चाहिए। वेद न जाननेवाले यदि दस सहस्र मिलकर भी निर्णय करें तो वह धर्म नहीं माना जा सकता।

पूर्ण वेद का जाननेवाला अध्यक्ष मिलने पर भी उसके लिए विशेष निर्देश है कि वह पक्षपात से सर्वथा शून्य हो और बिना किसी का पक्ष लिये हुए निर्णय दे सके, अन्यथा उसे पाप लगता है, जैसाकि मनु महाराज ने कहा है—

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समंजसम्। अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी॥

—मनु० ८।१३

अर्थ—या तो सभा में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए अथवा ठीक-ठीक निर्णय देना चाहिए। यदि सभा का निर्णायक बनकर कोई व्यक्ति चुप रहता है अथवा उलटा निर्णय देता है तो वह व्यक्ति पापी होता है।

इतना ही नहीं कि ग़लत निर्णय देनेवाला अध्यक्ष पापी होता है, वरन् वह शूद्र हो जाता है—

वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्। वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥

—मनु० ८।१६

अर्थ—भगवान् धर्म का नाम 'वृष' है, जो कोई इस धर्म का नाश करता है उसे विद्वान्

लोग वृषल अर्थात् शूद्र कहते हैं, अतः धर्म का लोप नहीं करना चाहिए, अर्थात् ठीक निर्णय देना चाहिए।

इतना ही नहीं कि ग़लत निर्णय देने पर अध्यक्ष पापी और शूद्र हो जाता है, प्रत्युत सभा में बैठे हुए अन्य सर्वसाधारण की भी मृत्यु का कारण बन जाता है, जैसाकि मनुस्मृति में लिखा है—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च। हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥

—मनु० ८।१४

अर्थ—जिस सभा में अधर्म से धर्म और असत्य से सत्य जनता के देखते हुए मारा जाता है वहाँ सब सभासदों, अर्थात् जनता की नैतिक मृत्यु हो जाती है।

इन समस्त प्रमाणों का तात्पर्य यह है कि शास्त्रार्थ में जीत और हार का निर्णय करने के लिए प्रथम तो वेदों के जाननेवाले तीन व्यक्तियों की समिति हो, यदि समिति न बनाई जा सके तो पूर्ण वेद का जाननेवाला, पक्षपातरहित विद्वान् अध्यक्ष हो जो सर्वथा निष्पक्ष होकर निर्णय दे, अन्यथा वह अध्यक्ष भी पापी और शूद्र हो जाता है और सम्पूर्ण जनता की भी नैतिक मृत्यु हो जाती है।

अब वर्त्तमान युग में प्रथम तो चारों वेदों का विद्वान् अध्यक्ष मिलना कठिन है और फिर उसका पक्षपातशून्य होना तो और भी कठिन है, अतः आर्यसमाज इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि वर्त्तमान युग में शास्त्रार्थों में जीत-हार के निर्णय के लिए किसी को अध्यक्ष बनाना उसे पापी और शूद्र तथा जनता को नैतिक मृत्यु की ओर धकेलने का पर्यायवाची है, अतः आर्यसमाज किसी भी शास्त्रार्थ में किसी व्यक्ति को शास्त्रार्थ के निर्णय का अध्यक्ष नियत नहीं करता, प्रत्युत केवल व्यवस्था का ही अध्यक्ष नियुक्त करता है। दोनों पक्षों के भाषणों को सुनकर जीत-हार का निर्णय वह जनता पर ही छोड़ देता है। इससे जनता को दोनों ओर के विचार सुनकर निर्णय करने का अवसर मिल जाता है, अन्यथा उपर्युक्त प्रकार का अध्यक्ष न मिलने की अवस्था में जनता को दोनों पक्ष के विचार सुनने का अवसर भी प्राप्त होना असम्भव है, क्योंकि ऐसी अवस्था में 'न नौ मन तेल हो, न राधा नाचे' लोकोक्ति के चरितार्थ होने पर न शास्त्रार्थ ही हो सकेंगे और न ही जनता को दोनों पक्षों के विचार सुनने का अवसर मिल सकेगा तथा दोनों पक्षों के विचार न सुनने के कारण जनता सत्य और झूठ का निर्णय करके सत्य को स्वीकार करने के योग्य न हो सकेगी।

इसलिए वर्त्तमान युग के शास्त्रार्थों में निर्णय करने के लिए अध्यक्ष नियुक्त करने के आर्यसमाज सर्वथा विरुद्ध है और व्यवस्थापक अध्यक्ष के पक्ष में है। यदि सनातनधर्म के आग्रह करने पर आर्यसमाज कभी शास्त्रार्थ में निर्णय के लिए किसी को अध्यक्ष स्वीकार कर भी लेता है तो इससे आर्यसमाज और सनातनधर्म दोनों को हानि पहुँचती है, क्योंकि अध्यक्ष महोदय ईमानदारी के साथ अपनी निष्पक्षता को स्थिर नहीं रख सकते और वे या तो इस प्रकार का निर्णय देते हैं जो सन्देहजनक शब्दों में लिखा गया हो, जिससे दोनों पक्ष प्रसन्न हो सकें और या ऐसा होता है कि वे सभा में तो केवल प्रबन्ध के लिए अध्यक्ष बनाये जाते हैं, परन्तु घर जाकर किसी एक समुदाय के पक्ष में निर्णय लिखकर दे देते हैं और जिन लोगों को अध्यक्ष बनाया ही नहीं गया हो और वे घर पर आकर किसी एक समुदाय के पक्ष में निर्णय लिखकर दे दें तो उनकी गिरावट का तो ठिकाना ही क्या हो सकता है! यदि ऐसे अध्यक्षों को हम बाज़ारी और इश्तिहारी अध्यक्ष भी कह दें तो कोई अनुचित नहीं है।

पोपजी महाराज ने जिन पाँच शास्त्रार्थों के निर्णयों को पुस्तक में अङ्कित किया है, उनमें

से एक शास्त्रार्थ तो हुआ ही नहीं, कल्पित ही लिख दिया गया है। एक शास्त्रार्थ का निर्णय अध्यक्ष महोदय ने सन्देहजनक शब्दों में लिखा हुआ है जिसे दोनों समुदाय अपने-अपने पक्ष में समझते हैं और एक शास्त्रार्थ ऐसा है जिसमें अध्यक्ष को केवल व्यवस्था करने के लिए नियत किया गया था, निर्णय के लिए नहीं, परन्तु उसने घर जाकर दूसरे समुदाय के पक्ष में विस्तृत निर्णय लिखकर दे दिया और दो शास्त्रार्थ ऐसे हैं जिनमें निर्णय लिखकर देनेवाले अध्यक्ष थे ही नहीं, प्रत्युत वे श्रोतामण्डली में सम्मिलित थे, परन्तु घर पर जाकर उन्होंने एक समुदाय के पक्ष में निर्णय लिखकर दे दिये।

भला! ऐसी अवस्थाओं में यदि यह अध्यक्षता की दुर्दशा नहीं तो और क्या है? इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने में सर्वथा ठीक हैं कि ये लोग अध्यक्ष बनने की योग्यता ही नहीं रखते, क्योंकि न तो इनमें से कोई वेदों का पूर्ण विद्वान् है और न ही ये लोग पक्षपात से ऊपर उठकर निष्पक्ष निर्णय ही दे सकते हैं। अब हम पुस्तक में उद्धृत पाँचों शास्त्रार्थों के निर्णयों की एक-एक करके पड़ताल करेंगे और पौराणिक पोपमण्डल की धिक्कार-योग और घृणित चालों का भण्डाफोड़ करते हैं, जिससे जनता सत्य और असत्य की जाँच करके सत्यमार्ग पर आरूढ़ हो सके।

पोपजी का छल-कपट—१

पोपजी ने 'स्वामी दयानन्द की प्रथम पराजय' शीर्षक के अन्तर्गत इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि स्वामी दयानन्दजी का राजा शिवप्रसादजी से 'ब्राह्मणग्रन्थ वेद हैं या नहीं' इस विषय पर लिखित शास्त्रार्थ हुआ और इसमें दोनों पक्षों ने डॉ० थीबो को निर्णय के लिए निर्णायक स्वीकार करके शास्त्रार्थ का मसौदा (प्रलेख) उनके पास भेज दिया और उन्होंने यह निर्णय दिया।

पाठक यह सुनकर चकित होंगे कि स्वामी दयानन्दजी का राजा शिवप्रसादजी के साथ न कभी शास्त्रार्थ हुआ और न ही डॉ० थीबो को निर्णायक निश्चित किया गया। शास्त्रार्थ तो कहाँ, स्वामीजी तो राजा शिवप्रसादजी को वार्त्तालाप करने के भी योग्य नहीं समझते थे। इस बात के प्रमाण में हम स्वामी दयानन्द द्वारा रचित ग्रन्थ '**भ्रमोच्छेदन**' की भूमिका में से कुछ लेख उद्धृत कर रहे हैं—

"मैंने राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की बुद्धि और चतुराई की प्रशंसा सुनके चित्त में चाहा कि कभी उनसे समागम होकर आनन्द होवे। जैसे पूर्व-समय में बहुत ऋषि-मुनि विद्वानों के बीच प्रज्ञासागर बृहस्पति महर्षि हुए थे, क्या पुनरपि वे ही महा अविद्यान्धकार के प्रचार से नाना प्रकार के अन्यान्य विरुद्ध मत-मतान्तर के इस वर्त्तमान समय में शरीर धारण करके प्रकट तो नहीं हुए हैं?

"देखना चाहिए कि जैसा उनको मैं सुनता हूँ, वैसा ही वे हैं वा नहीं, ऐसी इच्छा थी। यद्यपि मैंने संवत् १९२६ से लेके पाँच बार काशी में जाकर निवास भी किया, परन्तु कभी उनसे ऐसा समागम न हुआ कि कुछ वार्त्तालाप होता। मैंने प्रस्तुत संवत् १९२६ कार्तिक सुदी १४, गुरुवार को काशी में आकर महाराजे विजयनगराधिपति के आनन्द-बाग में निवास किया। इतने में मार्गशीर्ष सुदी में अकस्मात् राजा शिवप्रसादजी प्रसिद्ध एस० एच० कर्नल अल्काट साहब और एच० पी० मेडम ब्लेवेष्टकी को मिलने के लिए आनन्द-बाग में आये। उन्होंने मुझसे मिलकर कहा कि मैं उक्त साहब और मैडम से मिलना चाहता हूँ। सुनकर मैंने एक मनुष्य को भेज राजासाहब की सूचना कराई और जब तक उक्त साहब के साथ राजाजी न उठ गये तब तक जितनी मैं अपने पत्र में लिख चुका हूँ उनसे बातें हुईं, परन्तु

शोक है कि जैसा मेरा प्रथम निश्चय राजाजी पर था, वैसा उनको न पाया। मन में विचारा कि जितनी दूसरे के मुख से बात सुनी जाती है, सो सब सच नहीं होती।

राजाजी लिखते हैं कि—'स्वामीजी की बात सुन मैं भ्रम में पड़ गया।'

यहाँ बुद्धिमानों को विचारना चाहिए कि क्या मेरी बात का सुनना ही राजाजी के बड़े सन्देह में पड़ने का निमित्त है और उनकी कम समझ और आलस्य कारण नहीं है? जबकि उनको सन्देह ही छुड़ाना था तो मेरे पास आके उत्तर सुनके यथाशक्ति सन्देह निवृत्त कर आनन्दित होना योग्य न था? जैसा कोमल लेख उनके पत्र में है, वैसा भीतर का अभिप्राय नहीं, किन्तु इसमें प्रत्यक्ष छल ही विदित होता है।

देखो, मार्गशीर्ष से लेके वैशाख कृष्ण एकादशी बुधवारपर्यन्त सवा चार मास, उनसे मिलने के पश्चात् मैं और वे काशी में निवास करते रहे, क्यों न मिलके सन्देह निवृत्त किये? जब मेरी यात्रा सुनी तभी पत्र भेजके पत्रोत्तर क्यों चाहे? मेरे चलने के समय प्रश्न करना, मेरे बुलाने पर भी उत्तर सुनने न आना, सवाचार महीनेपर्यन्त चुप होके बैठे रहना और मेरे काशी से चले आने पर अपनी व्यर्थ बड़ाई के लिए पुस्तक छपवाकर काशी में और जहाँ-तहाँ भेजना कि काशी में कोई भी विद्वान् स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने में समर्थ न हुआ, किन्तु एक राजा शिवप्रसादजी ने किया। ऐसी प्रसिद्धि होने पर सब लोग मुझको विद्वान् और बुद्धिमान् मानेंगे, ऐसी इच्छा का विदित करना आदि हेतुओं से क्या उनकी अयोग्यता की बात नहीं है? भला! ऐसे मनुष्यों से किसी विद्वान् को उचित है कि बात और शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त होवे?

ऐसे कपट-छल के व्यवहार न करने में मनुजी की साक्षी अनुकूल है—

अधर्मेण तु यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति। तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति॥

अर्थ—(**यः**) जो (**अधर्मेण**) अन्याय, पक्षपात, असत्य का ग्रहण, सत्य का परित्याग, हठ, दुराग्रह से वा जिस भाषा का आप विद्वान् न हो उसी भाषा के विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ किया चाहे और उस भाषा के सच-झूठ की परीक्षा करने में प्रवृत्त होवे और कोई प्रतिवादी सत्य कहे, उसका निरादर करे, इत्यादि अधर्म कर्म से युक्त होकर छल-कपट से (**पृच्छति**) पूछता है (**च**) और (**यः**) जो (**अधर्मेण**) पूर्वोक्त प्रकार से (**प्राह**) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे और न उसको उत्तर देवे। जो ऐसा नहीं करता तो (**तयोः अन्यतरः**) पूछने वा उत्तर देनेवाले दोनों में से एक (**प्रैति**) मर जाता है (**वा**) अथवा (**विद्वेषम्**) अत्यन्त विरोध को (**अधिगच्छति**) प्राप्त होकर दोनों दुःखी होते हैं।

जब इस वचनानुसार राजाजी को अयोग्य जानकर लिखके उत्तर नहीं दिये तो फिर क्या मैं ऐसे मनुष्यों से शास्त्रार्थ करने को प्रवृत्त हो सकता हूँ? —स्वामी दयानन्दरचित भ्रमोच्छेदन

इस लेख से स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामीजी का राजा शिवप्रसादजी से कोई शास्त्रार्थ नहीं हुआ और न किसी को अध्यक्ष या निर्णायक माना गया। जब राजा साहब उद्यान में कर्नल साहब और मैडम को मिलने गये और स्वामीजी ने उन्हें राजासाहब के आने की सूचना दी, जब तक कर्नल साहब आकर राजा साहब को उठाकर अपने साथ ले-गये, तब तक कुछ मिनट राजा साहब का स्वामीजी से वार्त्तालाप हुआ। इसके पश्चात् सवा चार मास तक कोई वार्त्तालाप नहीं हुआ। जब स्वामीजी ने यात्रा की तैयारी कर ली तब राजा साहब ने प्रश्न लिखकर स्वामीजी के पास भेजे। स्वामीजी ने उनके लिखित उत्तर देना उचित न समझकर राजा साहब को उत्तर सुनने के लिए मनुष्य भेजकर अपने पास बुलवाया, परन्तु

राजा साहब उत्तर सुनने के लिए नहीं आये और स्वामीजी के प्रस्थान करने के पश्चात् राजा साहब ने अपनी ओर से ही शास्त्रार्थ का मसौदा (प्रालेख) बनाकर और उसपर थीबो साहब, प्रिंसिपल संस्कृत कॉलेज बनारस और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्री के हस्ताक्षर करवाकर और उनसे समर्थन में सम्मति लिखवाकर पुस्तक प्रकाशित की। जब वह पुस्तक स्वामीजी को मिली तब स्वामीजी ने इसके उत्तर में **भ्रमोच्छेदन** पुस्तक प्रकाशित करवाई। इस पुस्तक में आगे चलकर पुनः लिखा है—

''**प्रश्न**—आपने अपने दूसरे पत्र में राजाजी को लिखकर प्रश्न करने और उत्तर समझने में अयोग्य जानकर लिखके उत्तर न देना चाहा था, फिर अब क्यों लिखके उत्तर देते हो?

उत्तर—जो राजाजी स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति न लिखवाते तो मैं इस पत्र के उत्तर में एक अक्षर भी न लिखता, क्योंकि उनको तो जैसा अपने पत्र में लिख चुका हूँ, वैसा ही निश्चित जानता हूँ।''

इस लेख से सिद्ध है कि स्वामीजी राजा साहब को तो पूर्णरूप से इस योग्य नहीं समझते थे कि उनके प्रश्नों का उत्तर दिया जाए, परन्तु चूँकि स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति उसपर अङ्कित थी, अतः स्वामीजी ने **भ्रमोच्छेदन** के रूप में इन प्रश्नों के उत्तर लिखे। इसके पश्चात् राजा साहब ने जो पुस्तक **भ्रमोच्छेदन** के उत्तर में लिखी, उसमें चूँकि स्वामी विशुद्धानन्द या बालशास्त्री के हस्ताक्षर नहीं थे, अतः स्वामीजी ने उसका उत्तर नहीं दिया, प्रत्युत पं० भीमसेनजी इटावा-निवासी ने उनका उत्तर 'अनुभ्रमोच्छेदन' पुस्तक के नाम से दिया। पाठकगण 'भ्रमोच्छेदन' और 'अनुभ्रमोच्छेदन' दोनों पुस्तकों को पढ़कर विस्तृत वृत्तान्त की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

निष्कर्ष यह कि राजा शिवप्रसादजी का स्वामी दयानन्दजी महाराज से कोई शास्त्रार्थ हुआ ही नहीं। यह सब पौराणिक पोपमण्डल का छल-कपट और धोखेबाज़ी ही है। जब शास्त्रार्थ ही नहीं हुआ तो अध्यक्ष के निर्णय का जाली (बनावटी, कल्पित) होना स्पष्ट सिद्ध है।

रही यह बात कि 'ब्राह्मणग्रन्थ वेद हैं या नहीं', सो इस सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द का पक्ष सुदृढ़ है कि 'ब्राह्मणग्रन्थ वेदों का ऋषिकृत भाष्य हैं', जो स्वतःप्रमाण नहीं, अपितु परतःप्रमाण हैं, स्वतःप्रमाण केवल मन्त्रभाग—मूलसंहिता ही हैं और उन्हीं का नाम वेद है, ब्राह्मणग्रन्थों का नाम वेद नहीं है। इस सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थ 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में जो प्रबल युक्ति और प्रमाण दिये हैं, उनका आज तक कोई उत्तर नहीं दे सका। हम संसारभर के पौराणिक पोपमण्डल को चैलैञ्ज करते हैं कि वे मैदान में आकर ब्राह्मणग्रन्थों को वेद सिद्ध करके दिखाएँ।

अन्त में हम जनता के सन्तोष के लिए केवल वेदों के महाविद्वान् दो ऋषियों की सम्मति अङ्कित कर देते हैं। महर्षि पतञ्जलि ब्राह्मण शब्द का अर्थ करते हुए लिखते हैं—

[1]**चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानीति॥**

—महाभाष्य ५.१.१

अर्थ—चारों वेदों को जाननेवाले महर्षियों ने जो वेदों का भाष्य किया है, उन्हें ब्राह्मण कहते हैं।

यास्कमुनि निरुक्त में लिखते हैं—

यथो एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्त इति उदितानुवादः स भवति॥

—निरुक्त १.५.१६

---

१. ग्रन्थ में आगे-पीछे बहुत खोजने पर भी यह प्रमाण हमें नहीं मिला। —सं०

अर्थ—चूँकि वेदों के अर्थ ब्राह्मणों में पाये जाते हैं, अतः ब्राह्मणग्रन्थ वेद का भाष्य ही हैं।

पोपजी का छल-कपट—२

पोपजी ने 'आर्यसमाज की दूसरी पराजय' शीर्षक के अन्तर्गत वजीराबाद का वह शास्त्रार्थ दिया है, जो श्राद्धविषय में सनातनधर्म और आर्यसमाज के मध्य हुआ था और जिसमें दोनों पक्षों ने मैक्समूलर को मध्यस्थ मानकर उनसे निर्णय प्राप्त किया था। पोपजी ने उस निर्णय में से वे पंक्तियाँ निकाल दी हैं जोकि आर्यसमाज के आधारभूत सिद्धान्त के पक्ष में हैं। आर्यसमाज का यह दावा है कि मृत पितरों के नाम से ब्राह्मणों को खिलाया हुआ भोजन पितरों को नहीं मिलता। इसके विरुद्ध सनातनधर्म का यह दावा है कि मृत पितर स्वयं मानव-शरीर धारण करके ब्राह्मणों में बैठकर भोजन कर जाते हैं और गरुडपुराण में यह सिद्ध किया गया है कि वे पतिर महारानी सीता ने देखे।

पाठक यह पढ़कर चकित होंगे कि जिस मैक्समूलर के निर्णय को लेकर सनातनधर्मी बल्लियों उछल रहे हैं, वह निर्णय सनातनधर्म की मान्यता का प्रबल खण्डन करता है और आर्यसमाज के पक्ष में है। हमारे सामने इस समय शास्त्रार्थ की मुद्रित मूल प्रति विद्यमान है, जिसे पण्डित गणेशदत्तजी ने लिखा है और पं० ब्रजनाथ शर्मा सारस्वत, अध्यक्ष श्री सनातनधर्म ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, आगरा ने प्रकाशित किया है। यह इस पुस्तक का दूसरा संस्करण है। हम इस पुस्तक में से मैक्समूलर साहब की मूल प्रति पहले अंग्रेजी में उद्धृत कर देते हैं और फिर इसका अनुवाद करके इसकी वास्तविकता को पाठकों के समक्ष प्रकट करते हैं। आप तनिक ध्यानपूर्वक अवलोकन कीजिए—

COPY

Mr. Friends, Oxford, 13th September 1896

My hair has long ago turned white and I have seen the children of my children. I have, therefore, the right to become a Vanaprastha, nay to enter the Ashrama of Sannyasa. But though I long for rest and peace, I received so many letters, not only from England, France, Germany, Italy but from America and particularly from India, that I should literally have no time left to myself the whole day, if I were to attempt to answer them all. Still, when I received your first letter, I read it carefully and even began to answer it, but afterwards I could not find it again, it had disappeared among my many papers, or some friends of mine to whom I had shown it, must have carried it away. I confess, however, that I felt at the time what I feel even now, that you with your intimate knowledge of the Shastras, are far better judges than I am as to the original purpose of the Shraddha. You find something like your Shraddha among other Aryan nations also. In fact ancestor-worship is found among other nations also, who do not speak Aryan languages. It arose simply from a very natural human feeling to give up something that is dear to us, to those who were dear to us and are no longer among us, just as the bow and sacrificial vessals were thrown on the funeral piles to be burnt with the body of the deceased. The question whether the departed would come back to take and eat the Pindas was never asked. It was enough to have given them and thus to have honoured the memory of our parents, grand-parents and great-grand-parents. As these offerings were made originally at times when the remaining members of a family were gathered at a

का ही अंग्रेजी अनुवाद कर दिया है। अपनी अयोग्यता को वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं, जब वे लिखते हैं कि "आप लोगों अर्थात् भारतवासियों (जिनमें आर्यसमाज और सनातनधर्म दोनों सम्मिलित हैं) को शास्त्रों का गम्भीर ज्ञान है और आप श्राद्ध के मौलिक उद्देश्य को समझने में अधिक योग्य हैं।" और हम मनुस्मृति (१२।११३) के अनुसार यह सिद्ध कर चुके हैं कि चारों वेदों का पूर्ण पण्डित ही धर्म और अधर्म के सम्बन्ध में निर्णय दे सकता है, अतः मैक्समूलर का यह पत्र धर्म और अधर्म का निर्णय करने में अक्षम है।

३. मैक्समूलर लिखता है कि मुझे वानप्रस्थ और संन्यास लेने का भी अधिकार प्राप्त हो गया है। सनातनधर्म यह मानता है कि संन्यास ब्राह्मण के अतिरिक्त और कोई नहीं ले-सकता। तो क्या सनातनधर्म मैक्समूलर को ब्राह्मण स्वीकार करता है? यदि नहीं तो उपर्युक्त लेख सनातनधर्म के सिद्धान्त का स्पष्ट खण्डन करता है और आर्यसमाज के सर्वमान्य सिद्धान्त गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था का मण्डन करता है।

४. मैक्समूलर लिखता है कि—'वेदपाठी होने के कारण स्वयं मुझे भी भारत से श्राद्ध की वस्तुएँ प्रायः समय-समय पर प्राप्त होती रहती हैं।' सनातनधर्म ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य किसी को श्राद्ध के भोजन आदि वस्तुओं का अधिकारी नहीं समझता; तो क्या सनातनधर्मी मैक्समूलर को ब्राह्मण समझकर उसके पास श्राद्ध की वस्तुएँ भेजते रहते हैं? यदि नहीं तो फिर क्या यह लेख सनातनधर्म के सिद्धान्त का स्पष्ट खण्डन नहीं कर रहा और क्या आर्यसमाज के सिद्धान्त गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था का मण्डन नहीं कर रहा?

५. सनातनधर्म का पक्ष यह है कि मृतक पितरों के निमित्त ब्राह्मणों को कराया हुआ भोजन पितरों को मिलता है और आर्यसमाज का पक्ष यह है कि मरे हुओं को कभी इस लोक के श्राद्ध आदि का फल व खीर-पूरी नहीं पहुँचती, परन्तु मैक्समूलर लिखता है कि 'यह श्राद्ध केवल इस अत्यन्त स्वाभाविक मानवप्रेम की भावना को प्रकट करने के लिए ही है और इसका उद्देश्य इतना ही है कि अपने प्रेम की भावना को प्रकट करने के लिए मृतक पितरों के लिए कुछ अर्पण करके अपने माता-पिता और दादा-परदादा की स्मृति बनाई जाए।' उसने उदाहरण देकर बताया है कि जैसे मृतक के शव के साथ धनुष-बाण और यज्ञ के पात्र भी चिता पर जला दिये जाते थे। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मैक्समूलर श्राद्ध की वस्तुओं का मुर्दों को पहुँचना नहीं मानता, अपितु वह श्राद्ध को केवल स्मृति ही मानता है। वह मानता है कि जैसे मृतक के शव के साथ जलाये हुए धनुष-बाण और यज्ञ के पात्र मृत-आत्मा को नहीं पहुँचते, प्रत्युत केवल प्रेम की भावना को प्रकट करना है। इसी प्रकार मृत-आत्माओं के लिए दी हुई वस्तुएँ उन्हें पहुँचती नहीं, प्रत्युत यह भी केवल मानव-प्रेम की स्वाभाविक भावना का प्रकटीकरण है। यह सारा लेख सनातनधर्म के सिद्धान्त का खण्डन और आर्यसमाज के सिद्धान्त का प्रबल पोषण करता है।

६. सनातनधर्म मानता है कि मृत-आत्माएँ वापस आकर निमन्त्रित ब्राह्मणों के शरीरों में वायुरूप से प्रविष्ट होकर और स्वयं मानव-शरीर धारण करके भी श्राद्ध में दिये हुए भोजन को खा जाती हैं और कि सीता ने श्राद्ध में दशरथ को खाते हुए स्वयं देखा। आर्यसमाज मानता है कि यह सब पाखण्ड है। आत्माएँ शरीरों से निकलने के पश्चात् दूसरा शरीर धारण कर लेती हैं। इनका भोजन के लिए आना असम्भव है। मैक्समूलर लिखता है कि 'यह प्रश्न तो कभी किया ही नहीं जाता था कि क्या मृत-आत्माएँ पिण्डों को खाने के लिए वापस आती हैं?' और मैक्समूलर इन विचारों को अन्धविश्वास बताता है और कहता है कि 'इन अन्ध-विश्वासों से ही लोगों में शंका व सन्देह उत्पन्न हो गया और विरोधियों ने विरोध

अर्थ—चूँकि वेदों के अर्थ ब्राह्मणों में पाये जाते हैं, अतः ब्राह्मणग्रन्थ वेद का भाष्य ही हैं।

पोपजी का छल-कपट—२

पोपजी ने 'आर्यसमाज की दूसरी पराजय' शीर्षक के अन्तर्गत वज़ीराबाद का वह शास्त्रार्थ दिया है, जो श्राद्धविषय में सनातनधर्म और आर्यसमाज के मध्य हुआ था और जिसमें दोनों पक्षों ने मैक्समूलर को मध्यस्थ मानकर उनसे निर्णय प्राप्त किया था। पोपजी ने उस निर्णय में से वे पंक्तियाँ निकाल दी हैं जोकि आर्यसमाज के आधारभूत सिद्धान्त के पक्ष में हैं। आर्यसमाज का यह दावा है कि मृत पितरों के नाम से ब्राह्मणों को खिलाया हुआ भोजन पितरों को नहीं मिलता। इसके विरुद्ध सनातनधर्म का यह दावा है कि मृत पितर स्वयं मानव-शरीर धारण करके ब्राह्मणों में बैठकर भोजन कर जाते हैं और गरुडपुराण में यह सिद्ध किया गया है कि वे पतिर महारानी सीता ने देखे।

पाठक यह पढ़कर चकित होंगे कि जिस मैक्समूलर के निर्णय को लेकर सनातनधर्मी बल्लियों उछल रहे हैं, वह निर्णय सनातनधर्म की मान्यता का प्रबल खण्डन करता है और आर्यसमाज के पक्ष में है। हमारे सामने इस समय शास्त्रार्थ की मुद्रित मूल प्रति विद्यमान है, जिसे पण्डित गणेशदत्तजी ने लिखा है और पं० ब्रजनाथ शर्मा सारस्वत, अध्यक्ष श्री सनातनधर्म ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, आगरा ने प्रकाशित किया है। यह इस पुस्तक का दूसरा संस्करण है। हम इस पुस्तक में से मैक्समूलर साहब की मूल प्रति पहले अंग्रेजी में उद्धृत कर देते हैं और फिर इसका अनुवाद करके इसकी वास्तविकता को पाठकों के समक्ष प्रकट करते हैं। आप तनिक ध्यानपूर्वक अवलोकन कीजिए—

COPY

Mr. Friends, Oxford, 13th September 1896

My hair has long ago turned white and I have seen the children of my children. I have, therefore, the right to become a Vanaprastha, nay to enter the Ashrama of Sannyasa. But though I long for rest and peace, I received so many letters, not only from England, France, Germany, Italy but from America and particularly from India, that I should literally have no time left to myself the whole day, if I were to attempt to answer them all. Still, when I received your first letter, I read it carefully and even began to answer it, but afterwards I could not find it again, it had disappeared among my many papers, or some friends of mine to whom I had shown it, must have carried it away. I confess, however, that I felt at the time what I feel even now, that you with your intimate knowledge of the Shastras, are far better judges than I am as to the original purpose of the Shraddha. You find something like your Shraddha among other Aryan nations also. In fact ancestor-worship is found among other nations also, who do not speak Aryan languages. It arose simply from a very natural human feeling to give up something that is dear to us, to those who were dear to us and are no longer among us, just as the bow and sacrificial vessals were thrown on the funeral piles to be burnt with the body of the deceased. The question whether the departed would come back to take and eat the Pindas was never asked. It was enough to have given them and thus to have honoured the memory of our parents, grand-parents and great-grand-parents. As these offerings were made originally at times when the remaining members of a family were gathered at a

meal, the living also partook of the measl offered, or distributed them to worthy people. Hence the Shraddha was both for the departed and for the survivors. Very soon however, superstition came on and people persuaded themselves that the departed spirits returned in a bodily shape to earth, to partake the offerings and then the scoffers began to say that those Shraddhas were absured because the departed spirits were never seen to consume them or benefit by them. In this way superstition always creats the scepticism of the Nastiks.

You get a very good definition of Shraddha in the Nirnay Sindhu. There Marichi says—

प्रेतं पितृंश्च निर्दिश्य भोज्यं यत्प्रियमात्मनः। श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकीर्तितम्॥

In the same place it is stated that the Yajur Vedas looked upon the Shraddha as Pind-danam, the Rig Vedas as Dvijarchan, Sama Vedas as both—

यजुषां पिण्डदानं तु बह्वृचानां द्विजार्चनम्। श्राद्धशब्दाभिधेयं स्यादुभयं सामवेदिनाम्॥

I hold that in this case the Sama Vedas were right and that the Shraddha was meant both as an honourable offering to the mritas, and as an honour to the living, particularly of the dwijas who came to assist at the Shraddhas. These gifts should be bestowed on near relatives and friends, and I myself, as having studied the Vedas, have frequently received such Shraddha gifts from India, though I was not born in Aryavarta. Now I must close my letter being very busy, and I remain your friend and very distant Sapinda. —(Sd.) F. MaxMuller

अनुवाद

मेरे मित्रो! आक्सफोर्ड, १३ सितम्बर सन् १८९६

पर्याप्त समय से मेरे बाल सफेद हो चुके हैं और मैंने अपने पुत्रों के पुत्र अर्थात् पौत्र भी देख लिये हैं, अतः मुझे वानप्रस्थ बनने अपितु संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने का अधिकार प्राप्त हो चुका है। यद्यपि मैं विश्राम और शान्ति के साथ जीवन-यापन करने का इच्छुक हूँ, परन्तु मेरे पास इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, प्रत्युत अमेरिका और विशेषकर भारत से इतने पत्र प्राप्त हुए हैं कि यदि मैं उन सबका उत्तर देने लगूँ तो यथार्थ में मुझे दिनभर में किसी अन्य कार्य के लिए एक क्षणभर भी न मिले। फिर भी जब मुझे आपका प्रथम पत्र मिला तो मैंने उसे बहुत ध्यानपूर्वक पढ़ा और उसका उत्तर देना भी आरम्भ किया, परन्तु बाद में वह पत्र मेरे हाथ में नहीं आया; या तो वह मेरे बहुत-से पत्रों में इधर-उधर हो गया अथवा मेरा कोई मित्र, जिसे मैंने वह दिखाया था, अपने साथ ही ले-गया होगा।

मैं स्वीकार करता हूँ कि मैंने उस समय भी अनुभव किया था और अब भी अनुभव करता हूँ कि आप लोग जिन्हें शास्त्रों का गम्भीर ज्ञान है, श्राद्ध के मौलिक उद्देश्य के सम्बन्ध में निर्णय देने में अधिक योग्य हैं। आपके श्राद्ध-जैसी प्रथा अन्य आर्यजातियों में भी पाई जाती है। वस्तुतः दूसरी जातियों में भी जो आर्यन भाषाएँ नहीं बोलतीं, अपने पूर्वजों की पूजा (आदर-सत्कार) की प्रथा पाई जाती है। यह प्रथा केवल इस अत्यन्त स्वाभाविक मानव-मनोवृत्ति से प्रचलित हुई थी कि अपने सबसे प्रिय व्यक्ति को, जो जीवित न हों, अपनी प्रिय वस्तुओं में से कुछ-न-कुछ दिया जाए, फलस्वरूप इस मनोवृत्ति से प्रेरित होकर मृतक के शव के साथ धनुष-बाण और यज्ञ के पात्र भी चिता पर जला दिये जाते थे। यह प्रश्न तो कभी किया ही नहीं जाता था कि क्या मृत-आत्माएँ उन वस्तुओं को ग्रहण करने और पिण्डों को खाने के लिए वापस आती हैं। बस, यही पर्याप्त समझा जाता था कि उनके लिए कुछ अर्पण करके अपने माता-पिता, दादा और परदादाओं की स्मृति को अक्षुण्ण रखा

जाए। चूँकि आरम्भ में यह भेंट या दानकर्म उस समय किये जाते थे, जब शेष जीवित सम्बन्धी भोजन करने के लिए एकत्र होते थे, उस समय जीवित मनुष्य भी दान किये हुए भोजन में से कुछ खाते थे अथवा वह अन्य योग्य व्यक्तियों में बाँट दिया जाता था। इस प्रकार श्राद्ध जीवित और मृतक दोनों के लिए था। कुछ ही समय पश्चात् लोगों में अन्धविश्वास फैल गये और लोगों ने यह समझना आरम्भ कर दिया कि मृत-आत्माएँ मानवरूप में संसार में वापस आती हैं और दान में दी गयी वस्तुओं का उपभोग करती हैं। इसपर विरोधियों ने कहना आरम्भ किया कि यह श्राद्ध बिल्कुल व्यर्थ है, क्योंकि कभी किसी ने मृतक आत्माओं को खाते अथवा प्रस्तुत किये हुए भोजनों से लाभ उठाते हुए नहीं देखा। अन्धविश्वासों से नास्तिकों में शङ्का व सन्देह सदा इसी प्रकार उत्पन्न हुआ करते हैं। 'निर्णय-सिन्धु' पुस्तक में श्राद्ध की अत्युत्तम परिभाषा की गयी है। इसमें मरीचि कहता है—**प्रेतं पितृंश्च निर्दिश्य**—इत्यादि।

इसी स्थान पर यह भी कहा गया है कि यजुर्वेदी श्राद्ध से तात्पर्य पिण्डदान लेते हैं, ऋग्वेदी इसे ब्राह्मण-पूजा समझते हैं और सामवेदी दोनों ही....**यजुषां पिण्डदानं तु**—इत्यादि।

मेरी सम्मति में सामवेदियों का विचार ठीक है और श्राद्ध के दोनों ही अर्थ थे, अर्थात् एक तो मृतकों के लिए सम्मानपूर्वक दान और जीवितों का विशेषकर श्राद्ध में सहायता देनेवाले द्विजों का सम्मान। इस प्रकार का दान निकट सम्बन्धियों और मित्रों को दिया जाता था, अतः वेदपाठी होने के कारण स्वयं मुझे भी भारत से श्राद्ध की वस्तुएँ प्रायः समय-समय पर प्राप्त होती रहती हैं, यद्यपि मैं आर्यावर्त में उत्पन्न नहीं हुआ हूँ।

चूँकि मुझे अवकाश कम है, अतः अब मैं इस पत्र को समाप्त करता हूँ। मैं हूँ आपका मित्र और दूरस्थ सपिण्ड।

हस्ताक्षर—**मैक्समूलर**

पाठक महाशय! यह है वह अंग्रेजी पत्र और उसका अनुवाद। आपको ध्यानपूर्वक देखने से पता चलेगा कि पोपजी ने कितने ही स्थानों पर तो इसके अनुवाद में तोड़-मरोड़ की है और दो स्थानों पर तो पोपजी ने पंक्तियों-की-पंक्तियाँ लुप्त कर दी हैं, इसलिए कि वे पोपजी के अभीष्ट के सर्वथा विरुद्ध थीं। यह पत्र पोपजी ने अपने पक्ष में प्रस्तुत किया है, परन्तु यह पत्र न केवल मृतकश्राद्ध का ही खण्डन करता है, अपितु सनातनधर्म के और भी बहुत-से सिद्धान्तों का खण्डन करता है। न जाने अपनी इस मृत्यु को पोपजी ने जीवन कैसे समझ लिया? अब तनिक इस पत्र पर बुद्धिपूर्वक चिन्तन करें।

१. इस पत्र को निर्णय का नाम नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह पत्र उस आधार पर नहीं लिखा गया जो लेख दोनों पक्षों की ओर से मैक्समूलर के पास भेजे गये थे, क्योंकि निर्णय करनेवाले न्यायाधीश का यह कर्त्तव्य होता है कि वह जिसके पक्ष में निर्णय दे उसके विरोधी पक्ष के तर्कों का अपने निर्णय में खण्डन करे। इस पत्र में किसी भी पक्ष के तर्कों का खण्डन नहीं किया गया और वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं कि 'वे पत्र जो दोनों पक्षों की ओर से भेजे गये थे, गुम हो चुके हैं।' अतः यह पत्र मैक्समूलर की व्यक्तिगत सम्मति मानी जा सकती है, इसे निर्णय का नाम नहीं दिया जा सकता।

२. मैक्समूलर को शास्त्रार्थ का मध्यस्थ स्वीकार करना सनातनधर्म और आर्यसमाज की एक बहुत बड़ी ग़लती थी, क्योंकि मैक्समूलर में यह योग्यता ही न थी कि वह वेदों और शास्त्रों के सिद्धान्त पर कोई निर्णय दे सके। वह वेदों का विद्वान् नहीं था। उसने वेदों का जो अंग्रेजी में अनुवाद किया है वह केवल सायणाचार्य और महीधर, उव्वट आदि के भाष्यों

का ही अंग्रेजी अनुवाद कर दिया है। अपनी अयोग्यता को वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं, जब वे लिखते हैं कि "आप लोगों अर्थात् भारतवासियों (जिनमें आर्यसमाज और सनातनधर्म दोनों सम्मिलित हैं) को शास्त्रों का गम्भीर ज्ञान है और आप श्राद्ध के मौलिक उद्देश्य को समझने में अधिक योग्य हैं।" और हम मनुस्मृति (१२।११३) के अनुसार यह सिद्ध कर चुके हैं कि चारों वेदों का पूर्ण पण्डित ही धर्म और अधर्म के सम्बन्ध में निर्णय दे सकता है, अतः मैक्समूलर का यह पत्र धर्म और अधर्म का निर्णय करने में अक्षम है।

३. मैक्समूलर लिखता है कि मुझे वानप्रस्थ और संन्यास लेने का भी अधिकार प्राप्त हो गया है। सनातनधर्म यह मानता है कि संन्यास ब्राह्मण के अतिरिक्त और कोई नहीं ले-सकता। तो क्या सनातनधर्म मैक्समूलर को ब्राह्मण स्वीकार करता है? यदि नहीं तो उपर्युक्त लेख सनातनधर्म के सिद्धान्त का स्पष्ट खण्डन करता है और आर्यसमाज के सर्वमान्य सिद्धान्त गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था का मण्डन करता है।

४. मैक्समूलर लिखता है कि—'वेदपाठी होने के कारण स्वयं मुझे भी भारत से श्राद्ध की वस्तुएँ प्रायः समय-समय पर प्राप्त होती रहती हैं।' सनातनधर्म ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य किसी को श्राद्ध के भोजन आदि वस्तुओं का अधिकारी नहीं समझता; तो क्या सनातनधर्मी मैक्समूलर को ब्राह्मण समझकर उसके पास श्राद्ध की वस्तुएँ भेजते रहते हैं? यदि नहीं तो फिर क्या यह लेख सनातनधर्म के सिद्धान्त का स्पष्ट खण्डन नहीं कर रहा और क्या आर्यसमाज के सिद्धान्त गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था का मण्डन नहीं कर रहा?

५. सनातनधर्म का पक्ष यह है कि मृतक पितरों के निमित्त ब्राह्मणों को कराया हुआ भोजन पितरों को मिलता है और आर्यसमाज का पक्ष यह है कि मरे हुओं को कभी इस लोक के श्राद्ध आदि का फल व खीर-पूरी नहीं पहुँचती, परन्तु मैक्समूलर लिखता है कि 'यह श्राद्ध केवल इस अत्यन्त स्वाभाविक मानवप्रेम की भावना को प्रकट करने के लिए ही है और इसका उद्देश्य इतना ही है कि अपने प्रेम की भावना को प्रकट करने के लिए मृतक पितरों के लिए कुछ अर्पण करके अपने माता-पिता और दादा-परदादा की स्मृति बनाई जाए।' उसने उदाहरण देकर बताया है कि जैसे मृतक के शव के साथ धनुष-बाण और यज्ञ के पात्र भी चिता पर जला दिये जाते थे। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मैक्समूलर श्राद्ध की वस्तुओं का मुर्दों को पहुँचना नहीं मानता, अपितु वह श्राद्ध को केवल स्मृति ही मानता है। वह मानता है कि जैसे मृतक के शव के साथ जलाये हुए धनुष-बाण और यज्ञ के पात्र मृत-आत्मा को नहीं पहुँचते, प्रत्युत केवल प्रेम की भावना को प्रकट करना है। इसी प्रकार मृत-आत्माओं के लिए दी हुई वस्तुएँ उन्हें पहुँचती नहीं, प्रत्युत यह भी केवल मानव-प्रेम की स्वाभाविक भावना का प्रकटीकरण है। यह सारा लेख सनातनधर्म के सिद्धान्त का खण्डन और आर्यसमाज के सिद्धान्त का प्रबल पोषण करता है।

६. सनातनधर्म मानता है कि मृत-आत्माएँ वापस आकर निमन्त्रित ब्राह्मणों के शरीरों में वायुरूप से प्रविष्ट होकर और स्वयं मानव-शरीर धारण करके भी श्राद्ध में दिये हुए भोजन को खा जाती हैं और कि सीता ने श्राद्ध में दशरथ को खाते हुए स्वयं देखा। आर्यसमाज मानता है कि यह सब पाखण्ड है। आत्माएँ शरीरों से निकलने के पश्चात् दूसरा शरीर धारण कर लेती हैं। इनका भोजन के लिए आना असम्भव है। मैक्समूलर लिखता है कि 'यह प्रश्न तो कभी किया ही नहीं जाता था कि क्या मृत-आत्माएँ पिण्डों को खाने के लिए वापस आती हैं?' और मैक्समूलर इन विचारों को अन्धविश्वास बताता है और कहता है कि 'इन अन्ध-विश्वासों से ही लोगों में शंका व सन्देह उत्पन्न हो गया और विरोधियों ने विरोध

आरम्भ कर दिया कि यह श्राद्ध सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि कभी किसी ने मृत-आत्माओं को खाते या प्रस्तुत किये जानेवाले भोजनों से लाभ उठाते नहीं देखा' और वह लिखता है कि 'ऐसे अन्धविश्वास से शंका व सन्देह उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है।' इन लेखों से स्पष्टरूप से सनातनधर्म की मान्यताओं का खण्डन और आर्यसमाज की मान्यताओं का मण्डन होता है।

७. सनातनधर्म का यह सिद्धान्त है कि श्राद्ध मृतकों के निमित्त ही हो सकता है और आर्यसमाज का यह सिद्धान्त है कि श्राद्ध जीवितों का ही हो सकता है, परन्तु मैक्समूलर का कहना है कि 'चूँकि ये दान आरम्भ में उस समय किये जाते थे जब शेष जीवित सदस्य भोजन करने के लिए एकत्र होते थे तो जीवित लोग भी दान किये हुए भोजन में से कुछ खाते थे अथवा अन्य योग्य व्यक्तियों में बाँट दिया जाता था, अतः श्राद्ध जीवित और मृतक दोनों के लिए था।' और फिर मैक्समूलर लिखते हैं कि 'और श्राद्ध के दोनों ही तात्पर्य थे अर्थात् एक तो मृतकों के लिए आदरपूर्वक दान और जीवितों का विशेषकर श्राद्ध में सहायता देनेवाले द्विजों का सत्कार।' इन लेखों से सिद्ध है कि मैक्समूलर जीवित और मृत दोनों के लिए श्राद्ध स्वीकार करता है। इनमें जीवितों को तो खाना खिलाना मानता है और मृतकों की स्मृति के लिए दान मानता है, मृतकों को पहुँचना नहीं मानता, अतः मैक्समूलर का यह लेख आर्यसमाज का समर्थन और सनातनधर्म का स्पष्ट खण्डन करता है।

८. सनातनधर्म यह मानता है कि श्राद्धों में ब्राह्मणों को ही खाना खिलाना या दान देना चाहिए, क्योंकि ब्राह्मण के मुखरूप हवनकुण्ड में डाले हुए पदार्थ मृत पितरों को मिलते हैं और आर्यसमाज यह मानता है कि जीवित पितरों अर्थात् माता-पिता, दादा, परदादा, साधु-महात्मा लोग जोकि ज्ञान, बल और भोजन से हमारी रक्षा करते हैं उनका भोजन आदि से सत्कार करना ही श्राद्ध है, परन्तु मैक्समूलर लिखता है कि 'इस प्रकार का दान आदि निकट सम्बन्धियों और मित्रों को दिया जाता था, इसलिए स्वयं मुझे भी वेदपाठी होने के कारण भारत से श्राद्ध की वस्तुएँ प्रायः समय-समय पर मिलती रहती हैं, यद्यपि मैं आर्यावर्त में उत्पन्न नहीं हुआ हूँ।' यह लेख भी स्पष्ट रूप से आर्यसमाज के सिद्धान्त का समर्थन और सनातनधर्म के सिद्धान्त का खण्डन करता है।

निष्कर्ष यह कि इस पत्र को ध्यानपूर्वक पढ़ने से पता लगता है कि मैक्समूलर श्राद्ध को मृतकों के प्रति मनुष्य के स्वाभाविक प्रेम की भावना का प्रकटीकरण मानता है और श्राद्ध में मृत-आत्माओं के खाने या लाभ उठाने को अन्धविश्वास बतलाता है तथा जीवितों को भोजन कराने को भी श्राद्ध स्वीकार करता है। परिणाम यह कि आर्यसमाज दीपावली के दिन ऋषि दयानन्द की मृत्यु का दिन मनाए और इसमें स्मृति के रूप में उत्सव करके ऋषि दयानन्द की प्रशंसा में व्याख्यान दिये जाएँ और इसमें प्रीतिभोज भी किया जाए तो मैक्समूलर के विचार में यही श्राद्ध है, न कि दयानन्द की आत्मा को कुछ पहुँचना या पहुँचाया जाना, अतः मैक्समूलर का पत्र सोलह आने आर्यसमाज के सिद्धान्त का समर्थन और सनातनधर्म के सिद्धान्त का खण्डन करता है।

यह लेख आर्यसमाज के पक्ष में है, इस बात का एक बड़ा भारी प्रमाण यह भी है कि पोपजी ने इस लेख से कई पंक्तियों को निकाल दिया है। यदि यह लेख सनातनधर्म के विरुद्ध न होता तो इसमें से कई पंक्तियों को लुप्त कर देने की क्या आवश्यकता थी? पोपजी ने जो अंश इस लेख में से निकाला है, वह यह है—

१. मूलपत्र में लिखा है कि 'इसलिए श्राद्ध जीवितों और मृतकों—दोनों के लिए था', परन्तु पोपजी ने लिखा है कि 'इसलिए श्राद्ध मरे हुए पूर्वजों का स्थिर हुआ।'

२. मूलपत्र में यह लेख विद्यमान है कि 'थोड़ा ही समय व्यतीत होने के पश्चात् लोगों में ये अन्धविश्वास फैल गये और वे यह समझने लगे कि मृत-आत्माएँ मानवरूप में संसार में वापस आती हैं और उन वस्तुओं को खाती हैं', परन्तु पोपजी ने लिखा है कि 'थोड़े ही समय के पश्चात् अन्धविश्वास पैदा हो गये और लोगों का यह विश्वास जाता रहा कि प्रेत मानव-शरीर में संसार में पिण्ड आदि वस्तुओं को खाने के लिए आते हैं।'

३. मूलपत्र में यह लेख विद्यमान है कि 'इस प्रकार का दान निकट सम्बन्धियों और मित्रों को दिया जाता था, परिणामस्वरूप स्वयं मुझे भी वेदपाठी होने के कारण भारत से श्राद्ध की वस्तुएँ समय-समय पर प्राप्त होती रही हैं, यद्यपि मेरा जन्म आर्यावर्त में नहीं हुआ है।' पोपजी ने इस सारे अंश को श्राद्ध की खीर की भाँति पचा लिया है और पुस्तक में नहीं दिया है। मूलपत्र की भाषा में हेरा-फेरी करने और कुछ मूल अंश को न लिखने से स्पष्ट सिद्ध है कि पोपजी का आत्मा इस बात को मानता है कि यह लेख आर्यसमाज के सिद्धान्त का समर्थन करता है और सनातनधर्म के सिद्धान्त का प्रबल खण्डन करता है।

अब हम प्रो० मैक्समूलर की आर्यसमाज के सम्बन्ध में सम्मति नीचे अङ्कित करते हैं जिससे पाठकों को पता लगेगा कि वे स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज को क्या समझते थे—

"स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन का सब वृत्तान्त हमें ज्ञात है। उन्होंने हिन्दूधर्म के सुधार का बीड़ा उठाया था और जहाँ तक सामाजिक सुधार व कल्याण का सम्बन्ध है वे उदारहृदय महामानव थे। उनका पूरा विश्वास वेदमन्त्रों पर था।"

"उन्होंने वेदों के सम्बन्ध में बहुत विस्तृत भाष्य प्रकाशित किया है जिससे उनके उच्च संस्कृतज्ञान तथा विस्तृत स्वाध्याय का पता लगता है। वे विधवाओं के पुनर्विवाह को वैध बताते थे और लड़के-लड़कियों के विवाह की आयु-सीमा बढ़ाने का समर्थन करते थे। जातिबन्धन, खान-पान आदि सब अन्धविश्वासों से अपने-आपको सर्वथा स्वतन्त्र प्रकट करते थे। उन्होंने मूर्त्तिपूजा और बहुविवाह का भी खण्डन किया। उनका कार्य योरुप में उस समय से अधिक प्रसिद्ध हो गया जब से वे मैडम ब्लेवेस्टकी के बिछाये हुए जाल में फँस गये थे, परन्तु यह अवस्था बहुत थोड़े समय ही रही और जब स्वामीजी ने उसके वास्तविक अभिप्राय को भाँप लिया तो उन्होंने उससे भविष्य के लिए सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया।"

"वे एक बहुत बड़े शास्त्रार्थ-महारथी थे। उनका प्रभाव-क्षेत्र दिन-प्रतिदिन बढ़ता चला गया। यहाँ तक कि उनके विरोधी और ब्राह्मण अपने भयङ्कर शत्रु को विष देने के अपराध में संदिग्ध माने गये। वे सहसा ही मृत्यु को प्राप्त हो गये, परन्तु उनके अनुयायी जिनका सामूहिक नाम आर्यसमाज है, अब भी भारत में एक बहुत महत्त्वपूर्ण और उन्नतिशील समाज है जो सभी योरुपीय प्रभावों से बचा रहता है।"

"स्वामी दयानन्द एक विद्वान् पुरुष थे, जो अपने देश के धार्मिक साहित्य से पूर्णरूप से परिचित थे। उनके धार्मिक सिद्धान्तों की आधारशिला ईश्वरकृत वेदों पर थी। उन्हें वेद कण्ठस्थ थे। उनके मन और मस्तिष्क में वेदों ने घर किया हुआ था।"

—मैक्समूलर—ग्रेट मैन ऑफ दि ईस्ट

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मैक्समूलर मूर्त्तिपूजा, श्राद्ध आदि प्रथाओं को वेद के विरुद्ध और अन्धविश्वास मानते थे, अतः वे मृतकश्राद्ध के पक्ष में नहीं थे, अपितु विरुद्ध थे और स्वामी दयानन्दजी के विचारों को वेदानुकूल मानते थे।

पोपजी का छल-कपट—३

पोपजी ने 'आर्यसमाज की तीसरी पराजय' शीर्षक के अन्तर्गत नैरोबी (अफरीका) का वह शास्त्रार्थ दिया है जोकि आर्यसमाज और सनातनधर्म के मध्य मूर्त्तिपूजा-विषय पर हुआ था, जिसमें आर्यसमाज की ओर से पं० बालकृष्णजी और सनातनधर्म की ओर से पं० माधवाचार्यजी थे। पोपजी लिखते हैं कि इस शास्त्रार्थ में आर्यसमाज ने निर्णय करने के लिए ऑनरेबल मि० अहमद हसन एम०एल०सी० नैरोबी को मध्यस्थ नियत किया था, जिन्होंने आर्यसमाज के विरुद्ध निर्णय दिया। यह शास्त्रार्थ १९२७ में हुआ था।

पोपजी ने इस लेख में सोलह आने छल-कपट से काम लिया है, क्योंकि इस शास्त्रार्थ में ऑनरेबल मि० अहमद हसन को मध्यस्थ बनाया ही नहीं गया, प्रत्युत वे शास्त्रार्थ आरम्भ होने के पश्चात् उत्सव स्थल में पहुँचे थे। उन्होंने शास्त्रार्थ भी पूरा नहीं सुना। शास्त्रार्थ समाप्त होने के पश्चात् सनातनधर्मी उनके मकान पर गये और उनसे सम्मति माँगी। उन्होंने अपनी जो लिखित सम्मति सनातनधर्मियों को दी थी, उसकी एक प्रति 'प्रधान, आर्यसमाज नैरोबी' को भी भेज दी, परन्तु पौराणिक पोपमण्डल की गद्दारी (आत्मविक्रय) देखिए कि वह सम्मति भी हूबहू अपनी पुस्तक में अङ्कित नहीं की, अपितु उसे काट-छाँटकर अपने प्रयोजन की बनाकर पुस्तक में लिखी गयी है। हम पोपजी को डबल चैलैञ्ज करते हैं कि वे इस बात को सिद्ध करें कि इस शास्त्रार्थ का मध्यस्थ मि० अहमद हसन को बनाया गया था और कि उसने कोई निर्णय भी दिया था और हमारी ओर से अङ्कित किये गये विस्तृत खण्डनात्मक विवरण और व्यवस्था-पत्र का खण्डन करने के लिए मैदान में आएँ—

१. लाला मथुरादासजी आर्य, आर्यसमाज नैरोबी (अफरीका) के जोशीले सदस्य, वर्त्तमान में लुधियाना में स्थित, ने वर्णन किया कि हमने कभी शास्त्रार्थ में किसी अन्य मतावलम्बी को अध्यक्ष नहीं बनाया। इस पुस्तक 'सनातनधर्म विजय' में जो कुछ भी लिखा गया है वह सरासर ग़लत है, क्योंकि सन् १९२७ के शास्त्रार्थ के अध्यक्ष बाबू बद्रीनाथजी आर्य थे जोकि आर्यसमाज नैरोबी के प्रधान थे। मुझे सनातनधर्म के इस मिथ्याभाषण पर अत्यन्त दुःख और खेद है।

२. लाला मोहनलालजी मन्त्री आर्यसमाज जाखल मण्डी, जिला हिसार ने एक पत्र, मन्त्री आर्यसमाज नैरोबी (अफरीका), सन् १९२७ के शास्त्रार्थ का वास्तविक वृत्तान्त जानने के लिए लिखा था, जिसपर मन्त्री आर्यसमाज नैरोबी का निम्न विस्तृत पत्र प्राप्त हुआ जिसके साथ मलिक अहमद हसन साहब की सन् १९२७ के शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में दी गयी सम्मति की नकल भी संलग्न है और जो शास्त्रार्थ इसके पश्चात् सन् १९२९ में हुआ उसके सम्बन्ध में भी मलिक साहब की लिखित सम्मति संलग्न है। हम यहाँ आर्यसमाज नैरोबी के मन्त्री का मूलपत्र और दोनों शास्त्रार्थों के सम्बन्ध में मलिक साहब की व्यक्तिगत सम्मति भी अङ्कित कर देते हैं।

पाठक इस विवरण और व्यवस्था-पत्रों को पढ़कर निर्णय करें कि सचाई किस ओर है—

मान्यवर भ्राता महाशय मोहनलालजी गुप्त,
मन्त्री आर्यसमाज
जाखल मण्डी
नमस्ते।

आपका कृपापत्र २ सितम्बर सन् १९३२ महाशय हरनामसिंहजी के नाम प्राप्त हुआ।

यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि सनातनधर्म जाखल ने भारतवर्ष में प्रतिकूल अवस्थाओं को दृष्टि से ओझल करते हुए जान-बूझकर आर्यसमाज के प्रवर्तक के विरुद्ध व्यर्थ के मिथ्या भाषण और बेहूदा बकवास करने को ही अपना धर्म समझा है और आर्यसमाज नैरोबी के शास्त्रार्थ सन् १९२७ पर मूर्त्तिपूजा-विषय का वृत्तान्त बिल्कुल ग़लतरूप में देकर अपनी अयोग्यता और ओछेपन का प्रमाण और भी बढ़-चढ़कर दिया है, जिसके लिए हमें इनकी इस दयनीय अवस्था और मूर्खता पर सिवाय खेद के और क्या हो सकता है, यद्यपि [शास्त्रार्थ के] वृत्तान्त सर्वथा विरुद्ध थे।

हमारे एक भाई महाशय दौलतसिंहजी ने इस शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में उन्हीं दिनों में एक ट्रैक्ट प्रकाशित कराया था जो आपकी सेवा में इस पत्र के साथ भेजा जा रहा है, जिसे पढ़कर आप स्वयं अनुमान लगा सकेंगे कि सनातनधर्म के पण्डित साहब की युक्तियों में कितना दम था और उन्होंने शास्त्रार्थ में किस प्रकार हाथ-पाँव मारे कि किसी प्रकार प्रतिष्ठा रह जाए।

रही बात मध्यस्थ की, आप अच्छी प्रकार जानते हैं कि आर्यसमाज-जैसी सभ्य समाज कभी एक मुसलमान और ख़ासकर अहमदी (अहमद हसन मलिक) का मध्यस्थ होना कैसे पसन्द कर सकता था? शास्त्रार्थ आर्यसमाज नैरोबी के अधीन दोनों सभाओं के प्रधानों के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ था और इस बात में कदापि कोई सचाई नहीं है कि अहमद हसन मध्यस्थ था।

नैरोबी की सभ्य जनता शास्त्रार्थ के मध्य में दोनों पक्षों के पण्डितों की युक्तियों को सुनकर जब पूर्णरूप से इस विचार की हो चुकी थी कि माननीय स्वर्गीय पं० बालकृष्णजी महाराज के विद्वत्तापूर्ण, अकाट्य और शास्त्रीय प्रमाणों का सनातनधर्म के प्रसिद्ध पण्डित माधवाचार्य क्योंकि सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सके और आर्यसमाज को पूर्णरूप से सफलता मिली है, तो उधर के सनातनियों ने अपनी रीति-नीति के अनुसार अपने दर्शनी पण्डित को धैर्य देने के लिए और आर्यसमाज के गौरव को लोगों के हृदय में से कम करने के लिए हाथ-पाँव मारने आरम्भ किये और जब उन्हें सीधे मार्ग से कोई सफलता दृष्टिगोचर नहीं हुई तो उन्होंने यह मकर व चाल चली कि मि० अहमद हसन मलिक अहमदी के पास जाकर भगवान् जाने किस प्रकार और किन शर्तों पर उनसे शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में निर्णय लिखवाया। यद्यपि वास्तविक बात यह है कि प्रशंसित मलिक ने स्वयं सारा शास्त्रार्थ नहीं सुना, जिसके प्रमाण में उनके पत्र की नक़ल सेवा में भेज रहा हूँ जोकि उन्होंने स्वयं आर्यसमाज की सेवा में भेजी थी।

इसमें आप देखेंगे कि यह पत्र उन्होंने सनातनधर्म की प्रार्थना पर लिखा, फिर भी निर्णय लगभग उनके विरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त दूसरी बार सन् १९२९ में भी इधर नैरोबी में माधवाचार्य के साथ मूर्त्तिपूजा पर ही शास्त्रार्थ हुआ था जिसके सम्बन्ध में मैं आपकी सूचनार्थ यहाँ के Leading Papers [प्रमुख पत्रों] की Cuttings [कतरनें] भेज रहा हूँ। इस शास्त्रार्थ में आर्यसमाज की ओर से पं० बुद्धदेवजी मीरपुरी थे। यह शास्त्रार्थ भी पूर्व-शास्त्रार्थ की भाँति धोखे का शास्त्रार्थ था और इस शास्त्रार्थ में असफलता के कारण ही इधर के सनातनधर्मियों ने माधवाचार्य को इधर से शीघ्र ही वापसी का टिकिट लेने पर विवश किया था। इस शास्त्रार्थ की पूरी-पूरी रिपोर्ट आशा है उन दिनों आपने समाचारपत्रों में पढ़ी होगी। इस शास्त्रार्थ में सनातनधर्म के एक प्रमुख नेता की ओर से महाशय शंकरदास सेठी पर छुरी से आक्रमण किया गया था। अभी तक छुरियाँ चलाने के लिए मुसलमान ही कुख्यात थे, परन्तु इधर

सनातनधर्मियों की ओर से भी यह कमीनी कुचेष्टा होती हुई देखी गयी। इस पत्र के साथ सय्यद जाति के एक मि० अहमद हसन मलिक ने स्वयमेव, शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में जो पत्र आर्यसमाज को लिखकर भेजा था, उसकी प्रतिलिपि आपको भेज रहा हूँ।

इसके अतिरिक्त नैरोबी में दो लिखित शास्त्रार्थ भी हुए थे। एक तो पं० चमूपति एम० ए० और सनातनधर्म के पं० रामसरणदास के मध्य और दूसरा, पं० बालकृष्णजी और माधवाचार्य के मध्य। इन दोनों शास्त्रार्थों की बड़ी भारी Value (मूल्य) है, जिनकी नकल आवश्यकता पड़ने पर भेजी जा सकती है।

आपका शुभचिन्तक

बाबूराम भल्ला, मन्त्री आर्यसमाज नैरोबी

प्रतिलिपि

श्रीमान् प्रधानजी आर्यसमाज नैरोबी, नमस्ते। नैरोबी

दिनाङ्क २६ अगस्त १९२७

सनातनधर्म सभा की प्रार्थना पर मैंने 'मूर्त्तिपूजा' के शास्त्रार्थ पर रिव्यू (समालोचना) लिखकर उनको दिया है।

मैं यह उचित समझता हूँ कि इसकी एक प्रतिलिपि आपके पास भी भेज दूँ, जिससे कोई भ्रम न रहे। विनीत

(हस्ताक्षर) मलिक अहमद हसन अहमदी

संक्षिप्त समालोचना शास्त्रार्थ, मध्य आर्यसमाज नैरोबी और सनातनधर्मसभा नैरोबी (मूर्त्तिपूजा)

दिनाङ्क १४-८-२७, रविवार को आर्यसमाज मन्दिर में 'मूर्त्तिपूजा' पर आर्यसमाज और सनातनधर्म सभा के मध्य शास्त्रार्थ हुआ। यह शास्त्रार्थ २-३० बजे मध्याह्न से ५-०० बजे सायं तक चलता रहा। मैं तीन बजे से तनिक पहले पहुँचा। उस समय सनातनधर्म के पण्डित माधवाचार्यजी अपने भाषण के अन्तिम शब्दों में थे। यह भाषण मैंने नहीं सुना।

आर्यसमाज के विद्वान् पण्डित बालकृष्ण साहब ने अपना भाषण तीन बजे आरम्भ किया। पण्डित माधवाचार्य ने अपनी शेष पारियों (Turns) में कई-एक उद्धरण आर्यसमाज के ग्रन्थों—उदाहरणार्थ आदिम सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, सन्ध्योपासना, पञ्चमहायज्ञविधि, आर्याभिविनय, यजुर्वेदभाष्य और कुछ दोनों के सम्मिलित ग्रन्थ—उदाहरणार्थ यजुर्वेद, शतपथब्राह्मण से इस विषय के प्रमाण में प्रस्तुत किये कि इन पुस्तकों में मूर्त्तिपूजा की शिक्षा किसी-न-किसी रूप में पाई जाती है, परन्तु आर्य शास्त्रार्थ-महारथी के इस आक्षेप का उत्तर कि वेदों में कहाँ लिखा है कि मूर्त्ति किस वस्तु की और किस रूप या आकृति की होनी चाहिए तथा कितनी छोटी-बड़ी होनी चाहिए जो पूजा के योग्य समझी जा सके? मेरी दृष्टि में सनातनधर्मी पण्डित की ओर से उत्तर सन्तोषजनक नहीं था, क्योंकि सनातनी पण्डित ने केवल इतना ही किसी पुस्तक से प्रस्तुत किया कि पाँच बुत (मूर्त्ति) मिट्टी के बनाये जाएँ, जिससे यह पता नहीं चलता कि उनकी आकृति क्या हो और कितनी छोटी-बड़ी हो। इस प्रकार सनातनधर्म के पण्डित साहब ने आर्यपण्डित साहब के इस आक्षेप को छुआ तक नहीं।

कृष्णजी महाराज ने उनकी (ईश्वर की) मूर्त्ति की पूजा करनेवालों को मूढ़ बताया है। सम्भव है कि उपर्युक्त दोनों बातों का कोई सन्तोषजनक उत्तर सनातनधर्म के पास हो, परन्तु शास्त्रार्थ में ऐसा कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया।

(ह०) मलिक अहमद हसन अहमदी

प्रतिलिपि-पत्र मि० अहमद हसन मलिक जो उन्होंने प्रधान आर्यसमाज को शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में भेजी

माननीय श्री महाशय बद्रीनाथजी,

नमस्ते।

परसों रविवार की सायं जो खेदजनक घटना आर्यसमाज और सनातनधर्म के मध्य में हुई, मुझे इससे गहरा आघात पहुँचा है। मेरा व्यक्तिगत विचार है कि यदि पं० बुद्धदेवजी को भाषण के बीच में न टोका जाता और भाषण की समाप्ति पर दूसरे पण्डित साहब इनके विवरण का खण्डन कर देते तो जनता को उत्तम शैली से जानकारी प्राप्ति का अवसर मिलता, परन्तु खेद है कि ऐसी शैली नहीं अपनाई गयी और परिणाम अत्यन्त दुःखद निकला।

मेरे विचार में यदि भविष्य में धार्मिक उत्सव शास्त्रार्थ के रूप में न किये जाएँ तो उत्तम होगा। मैं जानता हूँ कि इस शैली पर विशेषकर वे लोग जिनके साथ जत्थे की भीड़ होती है, शास्त्रार्थों को जत्थे के बल पर अनिष्टकर सभा बनाकर अपना हृदय प्रसन्न किया करते हैं। ऐसे लोगों को जहाँ तक मेरा वर्षों का अनुभव है, वस्तुतः धार्मिक जानकारी नहीं होती। उनका सम्बन्ध इतना ही होता है कि वे किसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित होते हैं और परसों भी झगड़ा करनेवाले जौन-से भी थे, वस्तुतः धर्म के प्रयोजन व उद्देश्य से अनजान थे।

(हस्ताक्षर) अहमद हसन मलिक, नैरोबी

पोपजी का छल-कपट—४

पोपजी ने 'आर्यसमाज की चौथी पराजय' शीर्षक के अन्तर्गत मुहम्मदाबाद जिला गाजीपुर का शास्त्रार्थ अङ्कित किया है जोकि 'पुराण वेदों के विरुद्ध हैं' इस विषय पर हुआ था, जिसमें आर्यसमाज की ओर से पूज्यपाद स्वामी विवेकानन्दजी और सनातनधर्म की ओर से पं० कालूरामजी थे।

पोपजी ने प्रकट किया है कि दोनों पक्षों की ओर से निर्णय देने का अधिकार श्री बाबू सरस्वती दत्तजी बी० ए०, एल-एल० बी० वकील को दिया गया था, जिन्होंने निम्न निर्णय दिया।

पोपजी ने इसमें भी अपने स्वभाव के अनुसार छल-कपट से ही काम लिया है। इस शास्त्रार्थ में भी निर्णय के लिए किसी को मध्यस्थ नहीं बनाया गया था। इस शास्त्रार्थ में सनातनधर्म की बहुत बड़ी पराजय हुई। बाद में सनातनधर्म के अपयश और कलङ्क को धोने के लिए बाबू सरस्वतीदत्त वकील ने एक निर्णय लिखकर एक सार्वजनिक सभा में सुना दिया। यह सब-कुछ आर्यसमाज के उपदेशकों के चले जाने के पश्चात् किया गया। यद्यपि शास्त्रार्थ का विषय 'पुराणों में मांस-भक्षण' था, जिसमें मनुस्मृति, रामायण, महाभारत और अष्टादश पुराणों से यह दिखाया गया था कि सनातनधर्म मधुपर्क, यज्ञ और श्राद्ध में गौ, बकरा, घोड़ा आदि सब पशुओं की देवता और पितरों के नाम से बलि देकर उनका मांस खाना वैध मानता है।

इस शास्त्रार्थ में पं० कालूराम की वह गत बनी कि जिसे वे मरणपर्यन्त स्मरण रक्खेंगे, परन्तु बाबू सरस्वतीदत्तजी ने अपने लेख में केवल कृष्णजी के विवाह में गोवध के खण्डन का ही प्रयत्न किया है और ब्रह्मवैवर्तपुराण से जो दिखाया गया था कि आदिमनु ने जोकि जीवन्मुक्त और धर्मात्मा राजा था पाँच लाख गौओं का मांस पकाकर यज्ञ में ब्राह्मणों को खिलाया और चन्द्रमा के पोते चैत्र ने पाँच करोड़ गौओं का मांस यज्ञ में ब्राह्मणों को खिलाया

आदि-आदि सैकड़ों प्रमाणों का जोकि शास्त्रार्थ में प्रस्तुत किये गये थे, अपने लेख में चर्चा तक नहीं की और कर भी कैसे सकते थे जबकि सनातनधर्म का यह एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है? रुक्मिणी के विवाह में भी भक्ति से गाँव की देवी को बलि देकर गाय, मेंढा, कछुआ आदि के मांस को तैयार करने का वर्णन है। इस प्रकरण में भी बाबू सरस्वतीदत्तजी केवल गोवध से ही इन्कार करते हैं, शेष मेंढा, कछुआ और खरगोश मारे जाने से वे भी सहमत हैं।

वस्तुतः बात यह है कि चूँकि सनातनधर्म के ग्रन्थों में मांस भरा पड़ा है, अतः इससे इन्कार करना पौराणिकों के लिए असम्भव है। स्वामीजी की विजय और कालूराम की पराजय को बाबू सरस्वतीदत्तजी ने भी अपने लेख में अङ्कित किया है। आप लिखते हैं कि 'स्वामीजी महाराज सामयिक सभाचतुर हैं और किसी प्रकार अपना कार्य साधन करना चाहते हैं। विजय के लिए तर्क से असम्भव को सम्भव कर दिखाते हैं।' इससे सिद्ध है कि शास्त्रार्थ में स्वामीजी की भारी विजय हुई और पौराणिक पोपमण्डल ने इस विजय को छिपाने के लिए ही यह छल-कपट खड़ा किया कि आर्यसमाज के पण्डितों के चले जाने के पश्चात् एक सार्वजनिक सभा करके यह काल्पनिक निर्णय उसमें सुना दिया, अन्यथा न बाबू सरस्वतीदत्तजी को निर्णय के लिए मध्यस्थ बनाया गया और न ही कोई निर्णय सुनाया गया।

हम पोपजी को डबल चैलैञ्ज करते हैं कि वे इस बात को सिद्ध करें कि बाबू सरस्वतीदत्तजी को शास्त्रार्थ के लिए मध्यस्थ नियत किया गया था। इस बात की वास्तविकता जानने के लिए महाशय शान्तिप्रकाशजी आर्य ने जोकि आर्यसमाज भटिण्डा के एक जोशीले कार्यकर्ता हैं, स्वामी विवेकानन्दजी को एक पत्र लिखा था। वहाँ से स्वामीजी ने एक विस्तृत उत्तर लिखा है। हम महाशय शान्तिप्रकाशजी के पत्र और स्वामीजी की ओर से उसके उत्तर को हूबहू अङ्कित कर देते हैं, जिससे पाठकों को वास्तविकता का पता लग सके। वे दोनों पत्र निम्न हैं—

ओ३म्

स्वामीजी महाराज!

नमस्ते।

सनातनधर्म फ्री ट्रैक्ट सोसायटी अमृतसर की ओर से एक पुस्तक 'सनातनधर्म विजय' नाम से प्रकाशित हुई है, जिसमें आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द के पवित्र व्यक्तित्व के सम्बन्ध में बहुत-कुछ बकवास की गयी है। जहाँ और कुछ अनर्गल और आपत्तिजनक बातें लिखी हैं, वहाँ शास्त्रार्थ मुहम्मदाबाद, ज़िला गाजीपुर की भी चर्चा है जो आपके और पण्डित कालूराम के मध्य पुराणों के विषय पर हुआ। क्या इसमें बाबू सरस्वतीदत्तजी वकील को दोनों पक्षों ने निर्णय सुनाने के लिए मध्यस्थ नियत किया था और क्या उसने निर्णय आर्यसमाज के विरुद्ध दिया था? उस समय के समाचारपत्रों में कोई कारवाई प्रकाशित हुई हो तो हमें सूचना दें। हमने इस पुस्तक का उत्तर 'वैदिक तोप' तैयार किया है। उनके खण्डन में शास्त्रार्थ मुहम्मदाबाद के सम्बन्ध में आपसे सामग्री चाहिए। कृपा करके लिखें और उत्तर शीघ्र दें।

शान्तिप्रकाश आर्य

भूपेन्द्रा फ्लोर मिल, भटिण्डा, रियासत पटियाला

ओ३म्

महाशय शान्तिप्रकाशजी!

नमस्ते।

आपका पत्र मिला। उत्तर में निवेदन है कि पं० कालूराम और मेरे मध्य मुहम्मदाबाद, ज़िला गाज़ीपुर में कई वर्ष हुए शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें श्रीमान् पं० जे० पी० चौधरीजी

भी विद्यमान थे। इस शास्त्रार्थ में प्रथम दिन पं० कालूरामजी ने सार्वजनिक सभा के समक्ष मुझसे क्षमा माँग ली थी और कहा था कि ग़लती से आर्यसमाज को चैलैञ्ज दिया गया है। मैं शास्त्रार्थ नहीं करना चाहता। इसके लिए मुझे क्षमा किया जाए।

दूसरे दिन सनातनधर्मियों ने पं० कालूरामजी को बहुत लज्जित किया कि आपने हमारी नाक कटवा दी। जैसे भी हो शास्त्रार्थ कीजिए, अन्यथा हमारा बड़ा अपयश हो रहा है। इसपर पं० कालूराम ने आर्यसिद्धान्तों का खण्डन किया, जिसपर हमने चैलैञ्ज दिया और फिर तीसरे दिन शास्त्रार्थ हुआ। मध्यस्थ कोई नहीं था। हमने सिद्ध कर दिया कि पुराणों में मांस खाना लिखा है और परस्पर विरोध है। पं० कालूराम इसका कोई उत्तर नहीं दे सके। इसका सम्पूर्ण वृत्तान्त श्रीमान् पं० जे० पी० चौधरी, सम्पादक 'सत्यधर्म प्रचारक' बनारस के पास है और उन्होंने अपने 'सत्यधर्म प्रचारक' में इस शास्त्रार्थ को प्रकाशित भी किया था। विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिए इन्हें लिखिएगा।

सुना है कि बाद में एक वकील, जिनका नाम सरस्वतीदत्त है, जो सनातनधर्मी हैं, कुछ संस्कृत भी पढ़े हैं, ने इन श्लोकों का अनुवाद करके एक सार्वजनिक सभा में सुनाया और कहा कि इनमें कहीं पशुओं के मारे जाने का वर्णन नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि ये सब बातें हम लोगों के मुहम्मदाबाद से चले आने के बाद की हैं। हम लोगों के रहते हुए पं० कालूराम की घोर पराजय हुई थी। यदि आप इसका पूरा-पूरा वृत्तान्त जानना चाहते हैं तो प्रशंसित चौधरी साहब के पास सम्पूर्ण वृत्तान्त लिखा हुआ मिलेगा। अधिक क्या लिखूँ! यदि फिर भी कालूराम अपने विषय पर शास्त्रार्थ करना चाहते हैं तो हम तैयार हैं, अथवा और कोई विषय जिसे वे सनातनधर्म में बड़ा सिद्ध समझते हैं, उसपर शास्त्रार्थ कर सकते हैं। हम सदा उनसे अथवा सनातनधर्म के बड़े-से-बड़े पण्डित से शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार हैं। यदि सम्भव हो तो इस पुस्तक की एक प्रति मेरे पास भेजने की कृपा करें।

आपका

(हस्ताक्षर) विवेकानन्द सरस्वती

मेरा पता—स्वामी विवेकानन्द सरस्वती, प्रोप्राइटर विवेकानन्द टेलरिंग ट्रेनिंग स्कूल, बलिया है।

पोपजी का छल-कपट—५

पोपजी ने 'आर्यसमाज की पाँचवीं पराजय' शीर्षक के अन्तर्गत हैदराबाद दक्षिण का शास्त्रार्थ अङ्कित किया है, जोकि 'विधवा विवाह' विषय में आर्यसमाज और सनातनधर्म के मध्य में हुआ, जिसमें आर्यसमाज की ओर से पं० चन्द्रभानुजी आर्योपदेशक और सनातनधर्म की ओर से पं० माधवाचार्यजी थे। पोपजी ने लिखा है कि इस शास्त्रार्थ में निर्णय के लिए हैदराबाद हाईकोर्ट के एडवोकेट श्रीमान् बाबू कल्याणरावजी अय्यर को मध्यस्थ बनाया गया था, जिन्होंने कि आर्यसमाज के विरुद्ध यह निर्णय दिया—

पोपजी का यह लेख सोलह आने ग़लत और छल-कपट का पर्यायवाची है, क्योंकि शास्त्रार्थ की शर्तों में एक शर्त यह भी थी कि 'व्यवस्था के अतिरिक्त निर्णय आदि अध्यक्ष महोदय नहीं करेंगे।' इस शास्त्रार्थ में आर्यसमाज को भारी विजय प्राप्त हुई और जनता पर इसका बहुत भारी प्रभाव पड़ा, प्रत्युत अध्यक्ष महोदय ने तो पुराणों में विधवा-विवाह की भरमार को जानकर पुराणों को प्रामाणिक पुस्तकों से बहिष्कृत समझने की शर्त लगा दी थी और माधवाचार्यजी मैदान छोड़कर भाग गये थे। इसका विस्तृत विवरण 'प्रकाश' लाहौर

के २० माघ संवत् १९८७ में अङ्कित है, पाठक अवलोकन कर सकते हैं। बाद में सनातनधर्म ने बाबू कल्याणरावजी से एक निर्णय लिखवाकर प्रकाशित कर दिया, जिसपर यहाँ की आर्यसमाज की ओर से इसके उत्तर में एक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसका नाम है 'नारी पुनर्विवाह मीमांसा।' इस पुस्तक की भूमिका में सनातनधर्म का पत्र अङ्कित करके यह सिद्ध किया गया है कि बाबू कल्याणरावजी ने प्राइवेटरूप से निर्णय लिखकर शास्त्रार्थ के नियमों के विरुद्ध कार्य किया है। हम इस पुस्तक में से वह भाग जोकि इस अवैध निर्णय के सम्बन्ध में है हूबहू अङ्कित कर देते हैं—

"पृष्ठ ४ पर श्री वामन नायकजी ने दौड़-धूप करके अपने मित्र कल्याणराव साहब अय्यर से जो विजय का प्रमाणपत्र प्राप्त किया है, उसका क्या मूल्य है, यह हम नहीं कहेंगे। देखिए, स्वयं नायकजी ऐसी विजय के प्रमाणपत्र का क्या मूल्य लगाते हैं। आपने २४ दिसम्बर १९३० का जो पत्र हमें मुक्ताश्रम बेगमपेट से लिखा था उसके पृष्ठ ३, पंक्ति १० में आप लिखते हैं 'हमें न विजय से कोई सुख है और न पराजय का कोई दुःख है और न ऐसे विजय के प्रमाणपत्र का संसार में कोई मूल्य!' कहिए, वामनजी! आपके ही पत्र ने आपकी काग़ज़ी (पत्र-सम्बन्धी) विजय को किस निर्दयता से दियासलाई लगा दी—

इस घर को आग लग गयी घर के चिराग़ से।
होवें कैसे बेदाग़ फिर आप ऐसे दाग़ से॥

अब रही कल्याण साहब को सम्मति देने के अधिकार की बात। इसके सम्बन्ध में दिल्ली की एक लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि 'हण्डिया गयी तो गयी, परन्तु कुत्ते की जाति पहचानी गयी।' कहावत है तो तनिक कठोर, परन्तु इस स्थान पर फबती खूब है, अर्थात् शास्त्रार्थ होना था सो हो गया। सम्मति किसी पर ज़ोर देकर लिखवानी थी सो लिखी गयी, परन्तु यह पता लग गया कि कल्याणराव अय्यर साहब प्रधान बनने की कितनी शर्तों का पालन करते हैं और श्री वामन नायकजी अपने ही बनाये हुए शास्त्रार्थ के नियमों को कैसी बुरी भाँति ठुकराते हैं। आपने उसी २४ दिसम्बर सन् १९३० के पत्र में पृष्ठ १ पर लिखा था कि 'हम पहले से ही स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रबन्ध के अतिरिक्त, निर्णय आदि अध्यक्ष नहीं करेंगे।' कहिए, नायकजी! फिर आपने अध्यक्ष से किस प्रकार निर्णय की व्यवस्था लेकर अपने बनाये हुए और दोनों पक्षों द्वारा स्वीकृत नियमों को कुचला है या नहीं? उत्तरदायी व्यक्तित्व होते हुए भी आप दायित्वहीन (कर्तव्यच्युत) बनेंगे या नहीं?"

बस, इस लेख की विद्यमानता में और अधिक लिखने की आवश्यकता ही नहीं है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पोपमण्डल ने यह छल-कपट करके जनता को धोखा देने का प्रयत्न किया है, अन्यथा इस शास्त्रार्थ में कल्याणरावजी को परस्पर सहमति से व्यवस्थापक अध्यक्ष ही बनाया गया था। बाद में घर पर आकर सनातनधर्मियों के पक्ष में निर्णय लिखकर देना बाबू कल्याणरावजी का केवल मूर्खतापूर्ण और पाजीपन का काम ही है जोकि किसी भी अवस्था में समादरणीय नहीं।

हम इस बात को सिद्ध कर चुके हैं कि आजकल शास्त्रार्थों में किसी को निर्णायक प्रधान बनाना एक बहुत बड़ी ग़लती है, क्योंकि शास्त्रार्थ का निर्णय देनेवाले पक्षपात-रहित और चारों वेदों के विद्वान् का मिलना इस युग में असम्भव है जैसाकि पोपजी के उक्त पाँच शास्त्रार्थों के निर्णयों की पोल खोलकर हमने सिद्ध भी कर दिखाया है। ऐसी स्थिति में यदि शास्त्रार्थ ही बन्द कर दिये जाएँ तो जनता को दोनों ओर के तुलनात्मक विचारों को सुनने का अवसर नहीं मिल सकता, अतः आर्यसमाज साधारणतया निर्णायक प्रधान किसी को भी

नियत नहीं करता; व्यवस्थापक प्रधान नियत करता है और निर्णय जनता पर ही छोड़ देता है, परन्तु चूँकि पोपजी की दृष्टि में इस प्रकार के निर्णयों का समादर है और वह उन निर्णयों को ही धर्म और अधर्म के सम्बन्ध में निर्णय की कसौटी स्वीकार करते हैं, अतः हम भी कुछ ऐसे शास्त्रार्थ अङ्कित कर देते हैं कि जिनमें आर्यसमाज ने सनातनधर्म के आग्रह करने पर निर्णय के लिए मध्यस्थ नियत किये और जिन्होंने आर्यसमाज के पक्ष में निर्णय सुनाये। हम आशा करते हैं कि पौराणिक पोपमण्डल की इससे सन्तुष्टि हो जाएगी।

स्वामी दयानन्दजी की प्रथम विजय

विषय—मूर्त्तिपूजा

आर्यसमाज की ओर से पूज्य महर्षि स्वामी दयानन्दजी महाराज थे। सनातनधर्म की ओर से काशी के महाविद्वान् स्वामी विशुद्धानन्दजी थे। यह शास्त्रार्थ प्रसिद्ध पौराणिक पोपगढ़ काशी में हुआ था, जिसके अध्यक्ष स्वयं काशीनरेश थे। सनातनधर्म का पक्ष था कि वेदों में मूर्त्तिपूजा की आज्ञा है और स्वामीजी का यह प्रबल दावा था कि चारों वेदों में एक मन्त्र भी मूर्त्तिपूजा की आज्ञा देनेवाला नहीं है। यद्यपि स्वामी दयानन्दजी अकेले थे और स्वामी विशुद्धानन्दजी की पीठ पर काशी का सम्पूर्ण पण्डितमण्डल था, इसपर भी पौराणिक पोपमण्डल वेदों में से एक मन्त्र भी मूर्त्तिपूजा के समर्थन में प्रस्तुत नहीं कर सका। अन्ततः काशीनरेश ने जो निर्णय दिया वह हम सनातनधर्म की मासिक पत्रिका 'प्रत्नकम्रनन्दिनी' संस्कृत, दिसम्बर सन् १८६९ से उद्धृत करते हैं, जिसके सम्पादक संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् सत्यव्रत सामश्रमीजी थे। काशीनरेश का निर्णय निम्न है—

"हमारा आना अच्छा हुआ। दयानन्द को कोई पण्डित किसी प्रकार पराजित न कर सका।"

स्थान—काशीपुरी
—(हस्ताक्षर) काशी नरेश
१६ नवम्बर १८६९

महर्षि दयानन्दजी की दूसरी विजय

विषय—मूर्त्तिपूजा

आर्यसमाज की ओर से महर्षि स्वामी दयानन्दजी सरस्वती थे। सनातनधर्म सभा की ओर से सनातनधर्म जगत् के प्रसिद्ध पण्डित हलधर ओझा शास्त्री थे। यह शास्त्रार्थ भारत के प्रसिद्ध व्यापारिक नगर कानपुर में हुआ था। इस शास्त्रार्थ के मध्यस्थ थेन[१] साहब असिसटैण्ट कलैक्टर बहादुर, कानपुर थे। शास्त्रार्थ की समाप्ति पर उन्होंने जो निर्णय दिया, वह निम्न है—

भद्र पुरुषो! उस समय मैंने दयानन्द सरस्वती फ़क़ीर के पक्ष में अपना निर्णय दिया था और मुझे विश्वास है कि उनकी युक्तियाँ वेद के अनुकूल थीं। मेरे विचार में उनकी विजय हुई। यदि आप कहेंगे तो मैं अपने निर्णय के कारण थोड़े दिन में आपको बतला दूँगा।

कानपुर ३१ जुलाई, सन् १८६९
आपका आज्ञानुवर्ती
—(हस्ताक्षर) डब्ल्यू० थेन[१]

---

१. इनका वास्तविक नाम थेयर था, थेन नहीं।

विजय का प्रकट प्रमाण

इस शास्त्रार्थ से जनता इतनी प्रभावित हुई कि लोग मूर्त्तियों को उठा-उठाकर गङ्गा में फेंकने लगे। इसपर हलधर ओझा ने एक विज्ञापन प्रकाशित किया, जो निम्न है—

हलधर ओझा का विज्ञापन

दयानन्द सरस्वती के मत के अनुसार बहुत लोग—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि अपना कुलधर्म छोड़कर मूर्त्ति-देवताओं को गङ्गाजी में प्रवाहित कर देते हैं, यह बात अनुचित है, अतः यह विज्ञापन दिया जाता है कि जो लोग उनके मत को स्वीकार करें, उन्हें चाहिए कि कृपा करके मूर्त्तियों को एक मन्दिर कैलास नामी महाराज गुरुप्रसाद शुक्ल का है, उसमें अथवा मन्दिर प्रयाग नारायण तिवारी में पहुँचा दें, और यदि उन्हें पहुँचाने का अवकाश न हो तो हमें सूचित करें, हम उन्हें उठवा लिया करेंगे और उनके बहाने या फेंकने में जो पाप है वह शास्त्रों में लिखा है। प्रकाशक

—ओझा हलधर

२ अगस्त १८६९

अतिरिक्त साक्षी—संन्यासीजी के सत्सङ्ग-लाभ से कुछ हिन्दू मूर्त्तियों को नदी में डालने लगे हैं इसके लिए ओझाजी ने विज्ञापन दिया है कि वेद व शास्त्रों में ऐसा करना बहुत अनुचित लिखा है। जिसे मूर्त्ति को नदी में डालना अभीष्ट हो, वह हमारे पास पहुँचा दे, नदी में डालकर पाप न ले। **समाचारपत्र** 'शोलाए तूर' कानपुर, ३ अगस्त १८६९

अनुमान और विचार के अनुसार ऋषि दयानन्दजी ने भारतवर्ष में सैकड़ों स्थानों पर शास्त्रार्थ करके पौराणिक पोपमण्डल पर दिग्विजय प्राप्त की। नमूने के रूप में हमने दो उदाहरण प्रस्तुत कर दिये हैं। अधिक के लिए देखो 'दयानन्ददिग्विजय', लेखक कविरत्न पं० अखिलानन्दजी।

आर्यसमाज की तीसरी विजय

विषय—ब्राह्मणग्रन्थ वेद हैं या नहीं?

आर्यसमाज की ओर से संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् पं० गणपतिजी शर्मा थे। सनातनधर्म की ओर से विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्र थे। यह शास्त्रार्थ हिसार में हुआ। इसके अध्यक्ष श्रीयुत डॉ० धनीरामजी थे। पं० गणपति शर्मा ने यह शास्त्रार्थ अपनी अत्यन्त सरल और ललित संस्कृत में किया जिसे सुनकर जनता चकित रह गयी। पं० ज्वालाप्रसादजी उत्तर में संस्कृत नहीं बोल सके, अपितु भाषा में उत्तर देने लगे। शास्त्रार्थ के अन्त में डॉक्टरजी ने निर्णय सुनाया—

मैंने दोनों पक्षों के भाषणों को ध्यानपूर्वक सुना। मैं बिना भय और प्रतिवाद की आशंका के कह सकता हूँ कि पं० गणपति शर्मा ने वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, महाभाष्य, अष्टाध्यायी और निरुक्त के प्रमाणों तथा प्रबल युक्तियों से इस बात को सिद्ध कर दिया है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेदों का ऋषिकृत भाष्य होने से परतःप्रमाण हैं और चार वेद मन्त्रसंहिता ही ईश्वरकृत होने से स्वतःप्रमाण हैं। पं० ज्वालाप्रसादजी एक भी प्रमाण अपने दावे की सिद्धि में प्रस्तुत नहीं कर सके, इधर-उधर की बातें बनाकर समय को टालते रहे। इसलिए मैं घोषणा करता हूँ कि इस शास्त्रार्थ में पं० गणपति शर्मा को विजयश्री प्राप्त हुई है।

—(हस्ताक्षर) डॉ० धनीराम, हिसार

आर्यसमाज की चौथी विजय

विषय—क्या पुराण वेदानुकूल हैं

आर्यसमाज की ओर से प्रसिद्ध शास्त्रार्थ-महारथी शान्तिप्रकाशजी, महोपदेशक, आर्यप्रतिनिधि सभा, पञ्जाब थे। सनातनधर्म की ओर से काशी के विद्वान् पं० काशीरामजी शास्त्री, होशियारपुरी थे। यह शास्त्रार्थ झोकउत्तरा, जिला डेरा गाज़ीखाँ में हुआ। इसके सभापति स्थानीय सनातनधर्म सभा के प्रधान हकीम टेकचन्दजी विरमानी थे। शास्त्रार्थ के अन्त में विरमानीजी ने खड़े होकर निम्न निर्णय सुनाया—

"हम सनातनधर्मी लोग अत्यन्त लज्जित हैं, क्योंकि हमारे पण्डित बहुत बुरी भाँति असफल रहे हैं और आर्यपण्डित को भारी विजय मिली है। हमने जितने परिश्रम से यहाँ सभा स्थापित की थी, वह सब एक ही शास्त्रार्थ से व्यर्थ हो गयी और कदाचित् हम एक लम्बे समय तक जनता के समक्ष अपना सिर ऊँचा नहीं कर सकेंगे। अब सभा की कार्रवाई समाप्त की जाती है।"

—(हस्ताक्षर) टेकचन्द विरमानी

आर्यसमाज की पाँचवीं विजय

विषय—अवतारवाद

आर्यसमाज की ओर से पं० श्री दलपतिजी शास्त्री, उपदेशक आर्यप्रतिनिधि सभा पञ्जाब थे। सनातनधर्म की ओर से पं० बख्तावरमलजी, व्याख्यानवाचस्पति, फीरोज़पुरी थे। यह शास्त्रार्थ हरसहाय मण्डी, ज़िला फिरोज़पुर में इसी मण्डी के सरदार अर्जुनसिंहजी रईसे आज़म की अध्यक्षता में हुआ, जिसका निर्णय भरी सभा में सरदारजी ने यूँ सुनाया—

"सनातनधर्मी पण्डित आर्यसमाजी पण्डित के दस प्रश्नों में से एक का भी उत्तर नहीं दे सका और अन्त समय तक अनावश्यक बातें बनाता रहा, अतः मैं घोषणा करता हूँ कि इस शास्त्रार्थ में आर्यसमाज की विजय और सनातनधर्म की पराजय हुई है।"

—(हस्ताक्षर) सरदार अर्जुनसिंह

आर्यसमाज की छठी विजय

विषय—पुराणों की सभ्यता से गिरी शिक्षा

आर्यसमाज की ओर से पं० मनसारामजी आर्योपदेशक, आर्यप्रतिनिधि सभा, पञ्जाब थे। सनातनधर्म की ओर से पं० कालूरामजी शास्त्री युक्तिविशारद थे। यह शास्त्रार्थ कोसरयान, रियासत पटियाला में लाला शम्भुप्रसादजी रईस, बब्बनपुर की अध्यक्षता में हुआ। यह शास्त्रार्थ संस्कृत और हिन्दी में हुआ। अन्त में लालजी ने निर्णय सुनाया—

"सम्माननीय सज्जनो! मुझे यह कहने की आज्ञा दीजिए कि शास्त्रार्थ को सुनने के पश्चात् मैं जिस परिणाम पर पहुँचा हूँ वह यह है कि पुराणों ने वस्तुतः अश्लीलता-प्रदर्शन में कमाल कर दिया है। आर्यपण्डित के प्रमाणों का सनातनी पण्डित कोई समाधान नहीं कर सके और न ही सनातनी पण्डित संस्कृत बोलने की प्रतिज्ञा का पालन कर सके।"

—(हस्ताक्षर) शम्भुप्रसाद रईस

आर्यसमाज की सातवीं विजय

विषय—मृतकश्राद्ध

आर्यसमाज की ओर से पं० लोकनाथजी उपदेशक, आर्यप्रतिनिधि सभा, पञ्जाब। सनातनधर्म की ओर से पं० श्रीकृष्णजी शास्त्री, उपदेशक, सनातनधर्म प्रतिनिधि सभा,

पञ्जाब। यह शास्त्रार्थ पाई, ज़िला करनाल में, चौधरी आशुरामजी रईस फतहपुरी की अध्यक्षता में हुआ। शास्त्रार्थ की समाप्ति पर चौधरीजी ने अपने निर्णय की सार्वजनिक घोषणा की—

''मेरी और सारे गाँव की यह प्रतिज्ञा थी कि यदि वेदों से मृतकश्राद्ध सिद्ध हो जाए तो हम सब लोग मृतकश्राद्ध को स्वीकार कर लेंगे, परन्तु मैं खण्डन की आशङ्का के बिना निर्भय होकर इस बात की घोषणा करता हूँ कि पं० श्रीकृष्णजी शास्त्री ने वेद का एक भी मन्त्र मृतकश्राद्ध के समर्थन में नहीं दिया और पं० लोकनाथजी ने कई मन्त्र जीवित पितरों की सेवा के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये। इतना ही नहीं कि सनातनी पण्डित इनका खण्डन नहीं कर सके, अपितु वेदों में से श्राद्ध शब्द भी नहीं दिखा सके, अतः मृतकश्राद्ध वेदों के विरुद्ध सिद्ध हुए।''

—(हस्ताक्षर) चौधरी आशुराम, फतहपुरी

आर्यसमाज की आठवीं विजय

विषय—स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं

आर्यसमाज की ओर से पूज्यपाद स्वामी रुद्रानन्द संन्यासी। सनातनधर्म की ओर से पं० भीमसेनजी उपदेशक सनातनधर्म प्रतिनिधि सभा पञ्जाब। यह शास्त्रार्थ शाहबाद, ज़िला करनाल में, सरदार करतारसिंह, सबइंस्पैक्टर, थाना शाहबाद की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। पं० भीमसेनजी ने प्रश्न किया कि स्वामीजी ने गर्म देश में चोटी का काटना लिखा है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेद के विरुद्ध है। स्वामी रुद्रानन्दजी ने कहा कि दावा बिना युक्ति खारिज (रद्द) करने के योग्य है। जब आपका यह दावा है कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं तो पहले आप कोई वेद का मन्त्र प्रस्तुत करके सिद्ध करें कि कौन-से वेदमन्त्र में कितनी बड़ी चोटी, किस ओर रखना लिखा है। जब तक आप वेद से चोटी की विधि न दिखलाएँ तब तक आपका दावा बिना प्रमाण है। इसपर सनातनधर्म के पाँच पण्डितों ने वेदों के पृष्ठ उलटने आरम्भ किये और निर्णय इसी बात पर रुका रहा। अन्ततः रात्रि के १२ बज लिये और सनातनधर्मी पण्डित कोई वेदमन्त्र चोटी रखने के समर्थन में प्रस्तुत नहीं कर सके। तब अध्यक्ष महोदय ने निम्न निर्णय देकर सभा समाप्त की—

''चूँकि अब रात्रि के १२ बज गये हैं और सनातनधर्मी पण्डित अपने समर्थन में कोई वेदमन्त्र प्रस्तुत करने में अयोग्य सिद्ध हुए हैं, इसलिए मेरे विचार में स्वामी रुद्रानन्दजी सचाई पर हैं कि जब तक वेद का मन्त्र प्रस्तुत करके इसके साथ सत्यार्थप्रकाश का विरोध न दिखाया जाए तब तक बिना प्रमाण दावा खारिज करने के योग्य ही होता है। इसलिए मैं इस सभा को समाप्त घोषित करता हूँ।''

—(हस्ताक्षर) सरदार करतारसिंह
सबइंस्पैक्टर, थाना शाहबाद

आर्यसमाज की नवम विजय

विषय—नमस्ते

आर्यसमाज की ओर से पं० मनसारामजी, उपदेशक आर्यप्रतिनिधि सभा, पञ्जाब। सनातनधर्म की ओर से पं० ब्रह्मदत्तजी, उपदेशक सनातनधर्म प्रतिनिधि सभा, पञ्जाब। यह शास्त्रार्थ अम्बाला सैण्ट्रल जेल में डॉ० सन्तरामजी सेठ, अमृतसरी की अध्यक्षता में हुआ। आर्यसमाज का पक्ष था कि परस्पर छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष—सब नमस्ते कर सकते हैं और नमस्ते करना वैदिक है। सनातनधर्म का पक्ष था कि नमस्ते केवल ईश्वर के लिए ही की

जा सकती है, मनुष्यों के लिए नहीं और नमस्ते व्याकरण की रीति से पद्य में ही बन सकता है, गद्य में नहीं बन सकता। शास्त्रार्थ दो घण्टे तक होता रहा। अन्त में डॉक्टर साहब ने जो निर्णय दिया वह नीचे अङ्कित किया जाता है—

"शास्त्रार्थ को सुनकर मेरी ईमानदारी-पूर्ण सम्मति यह है कि परस्पर नमस्ते करना उचित और वेदों के अनुकूल है और 'जय रामजी की, जय कृष्णजी की' आदि-आदि अभिवादनों का प्रयोग महाभारत के पश्चात् आरम्भ हुआ है।"

—(हस्ताक्षर) डॉ० सन्तराम सेठ, अमृतसरी
सैण्ट्रल जेल, अम्बाला

आर्यसमाज की दशवीं विजय

विषय—विधवा-विवाह

आर्यसमाज की ओर से पं० मनसारामजी, उपदेशक आर्यप्रतिनिधि सभा, पञ्जाब और सनातनधर्म की ओर से पण्डित लक्ष्मीचन्दजी कौल-निवासी थे। यह शास्त्रार्थ जीतो मण्डी, रियासत नाभा में लाला हरिचन्द की अध्यक्षता में हुआ। यह शास्त्रार्थ भी संस्कृत और भाषा में था। सनातनधर्मियों ने अपनी पराजय के लक्षण देखकर शामियाने की रस्सियाँ काट डालीं और शामियाना आर्यपण्डितों के ऊपर गिर पड़ा, परन्तु आर्यपण्डितों ने शास्त्रार्थ प्रचलित रखा। अन्त में सभा-प्रधान ने निर्णय दिया—

"सनातनधर्म के पण्डित विधवा-विवाह को वेद के विरुद्ध सिद्ध करने में असफल रहे। आर्यसमाजी पण्डित इस बात को सिद्ध करने में सफल हैं कि पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी दूसरे पति का अधिकार प्राप्त है और वह वेदानुकूल हैं।"

(हस्ताक्षर) हरिचन्द, पी० डब्ल्यू० आई०, जीतो मण्डी

आर्यसमाज की ग्यारहवीं विजय

विषय—क्या अष्टादश पुराण वेद के अनुकूल हैं

आर्यसमाज की ओर से पं० मनसारामजी उपदेशक, आर्यप्रतिनिध सभा, पञ्जाब और सनातनधर्म की ओर से पं० राजनारायण 'अरमान' देहलवी थे। यह शास्त्रार्थ रियासत पटियाला में लाला रामचन्द्रजी रईस, मारवाड़ी, भटिण्डा, रियासत पटियाला की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। शास्त्रार्थ क्या था, सनातनधर्म पर बम्ब का गोला था। इस शास्त्रार्थ की भीषण मार का मारा हुआ सनातनधर्म, भटिण्डा, शास्त्रार्थ के नाम से कानों पर हाथ रखता है। इस शास्त्रार्थ के अन्त में अध्यक्ष महोदय ने जो निर्णय सुनाया वह नीचे अङ्कित किया जा रहा है—

"मैं इस बात की सार्वजनिक घोषणा करता हूँ कि सनातनधर्म के पण्डित राजनारायण 'अरमान' को आर्यसमाज के पण्डित मनसारामजी के मुकद्दमा में भारी पराजय मिली है। मैं आशा करता हूँ कि इस शास्त्रार्थ के परिणामस्वरूप जनता पुराणों की शिक्षा से घृणा करके वैदिक धर्म की शरण में आएगी।"

(हस्ताक्षर) लाला रामचन्द्र रईस, मारवाड़ी
भटिण्डा, रियासत पटियाला

हमने नमूने के रूप में आर्यसमाज की ये ग्यारह विजय पुस्तक में अङ्कित कर दी हैं। यदि आवश्यकता हो तो इस प्रकार के सैकड़ों शास्त्रार्थ अङ्कित किये जा सकते हैं, जिनमें सनातनधर्म को भारी पराजय का मुँह देखना पड़ा है और सनातनधर्म के पण्डित आर्यसमाज

के पण्डितों के मुकाबले में दुम दबाकर भागते दिखाई दिये हैं। इतनी भारी पराजय के पश्चात् भी यदि पौराणिक पोपमण्डल को पुनः अपने भाग्य की परीक्षा करने की इच्छा हो तो उसके लिए भी आर्यसमाज हर समय तैयार है। परिणामस्वरूप हम पौराणिक पोपमण्डल को निम्न चैलैञ्ज देते हैं—

संसारभर के पौराणिक पोपमण्डल को शास्त्रार्थ के लिए खुला चैलैञ्ज

समादरणीय पाठकवृन्द! यद्यपि इससे पूर्व आर्यसमाज के पौराणिक पोपमण्डल के साथ सहस्रों शास्त्रार्थ हो चुके हैं, जिनमें सनातनधर्म को बुरी भाँति असफलता का मुँह देखना पड़ा है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि दिन-प्रतिदिन आर्यसमाज की दिन दुगुनी और रात चौगुनी उन्नति हो रही है और सनातनधर्म के सिद्धान्तों की चारों ओर अर्थी निकलती दृष्टिगोचर हो रही है, परन्तु इतना होने पर भी यदि पौराणिक पोपमण्डल को अपने भाग्य की परीक्षा करने की इच्छा हो तो हम विश्वभर के पौराणिक पोपमण्डल को डबल चैलैञ्ज देते हैं कि वे जब भी और जिस स्थान पर चाहें निम्न शर्तों पर आर्यसमाज के साथ शास्त्रार्थ करके अपने भाग्य की परीक्षा कर सकते हैं—

शास्त्रार्थ की शर्तें

१. **विषय**—चूँकि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों और अष्टादश पुराणों में कई-एक विषय ऐसे भी हैं जिनके सम्बन्ध में आर्यसमाज और सनातनधर्म का मत एक है, अतः शास्त्रार्थों का विषय ऐसा होना चाहिए जिसमें आर्यसमाज और सनातनधर्म का विरोध हो, जैसे—मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद, मृतकश्राद्ध, वर्णव्यवस्था, विधवा-विवाह आदि-आदि, परन्तु यदि सनातनधर्म को ग्रन्थों पर ही शास्त्रार्थ करने की इच्छा हो तो हम इसके लिए भी तैयार हैं, परन्तु इस स्थिति में विषय एकपक्षीय नहीं होगा, अपितु उभयपक्षीय विषय यह होगा कि ''स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदों के विरुद्ध हैं या अष्टादश पुराण।''

२. **स्थान**—शास्त्रार्थ के लिए स्थान आर्यसमाज मन्दिर या सनातनधर्म मन्दिर अथवा कोई ऐसा साझे का स्थान जिसे दोनों पक्ष स्वीकार करें।

३. **अध्यक्ष**—जिसके स्थान पर शास्त्रार्थ होगा, क्योंकि शान्ति और व्यवस्था का उत्तरदायी वही होता है, इसलिए मुख्य अध्यक्ष उसी का होगा। हाँ, विरोधी पक्ष भी अपनी ओर से एक अध्यक्ष नियुक्त कर सकेगा जोकि मुख्य अध्यक्ष की सम्मति से प्रबन्ध में भाग ले सकेगा। यदि स्थान साझा होगा तो शान्ति का उत्तरदायित्व दोनों पक्षों पर होगा और अध्यक्ष भी एक सर्वसम्मति से और दो सहायक अपने-अपने पक्ष के होंगे।

४. अध्यक्षों का कार्य केवल व्यवस्था स्थिर रखना और समय आदि देने का होगा। वे शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में किसी प्रकार की सम्मति प्रकट करने के अधिकारी नहीं होंगे।

५. **समय**—दोनों पक्षों की सहमति से दोनों पक्षों को बराबर, कम-से-कम दस मिनट दिये जाएँगे।

६. पक्षों में से शास्त्रार्थकर्त्ता के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति बोलने का अधिकारी नहीं होगा और शास्त्रार्थ करनेवालों में से भी एक पक्ष दूसरे पक्ष के भाषण के मध्य में न बोल सकेगा।

७. शास्त्रार्थ एक विषय पर एक दिन में केवल दो घण्टे होगा।

८. जो पक्ष जिन पुस्तकों को प्रामाणिक धर्मपुस्तक मानता है, उसके लिए उन पुस्तकों में से प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकेगा।

९. कोई पक्ष शास्त्रार्थ के मध्य में किसी प्रकार का जयघोष न लगा सकेगा और न

ताली बजा सकेगा।

१०. जो पक्ष अपने भाषण से शास्त्रार्थ आरम्भ करेगा, अन्तिम भाषण उसके विरोधी पक्ष का होगा जिसपर शास्त्रार्थ समाप्त होकर धन्यवाद की प्रक्रिया पूर्ण की जाएगी।

११. जो पक्ष अन्तिम भाषण सुने बिना भाग जाएगा उसकी पराजय स्वीकार की जाएगी।

१२. इन शर्तों में इस प्रकार की अन्य शर्तों को सम्मिलित किया जा सकता है जोकि आवश्यक और पक्षपातशून्य हों।

क्या हम आशा करें कि पौराणिक पोपमण्डल हमारे इस चैलैञ्ज को स्वीकार करके अतिशीघ्र अपने भाग्य की परीक्षा करने के लिए शास्त्रार्थ-समर में आने का साहस दिखाएगा?

सनातनधर्म की अन्त्येष्टि

यद्यपि हमने पौराणिक पोपमण्डल को शास्त्रार्थ के लिए डबल चैलैञ्ज दे दिया है, परन्तु हमें आशा नहीं कि वे हमारे चैलैञ्ज को स्वीकार करे, क्योंकि अब बेचारे सनातनधर्म के वे दिन ही नहीं हैं कि वह शास्त्रार्थ कर सके। अब तो सनातनधर्म की अन्त्येष्टि के दिन हैं, क्योंकि पुराणों में यही लिखा है कि कलियुग में सनातनधर्म समाप्त हो जाएगा और लक्षण भी आजकल ऐसे ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं। देखिए, ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्मखण्ड, अध्याय ९० में नन्दजी ने श्रीकृष्ण से पूछा—

तीर्थान्येतानि सर्वाणि तिष्ठन्त्येव कियद्दिनम्।
साधवो ग्राम्यदेवाश्च शास्त्राण्येतानि वत्सक॥ ३१॥

अर्थ—हे पुत्र! ये सारे तीर्थ, साधु लोग, ग्राम के देवता और शास्त्र कितने दिनों तक इस संसार में और ठहरेंगे, अर्थात् यह सनातनधर्म कब समाप्त होगा?

इसपर कृष्णजी महाराज ने उत्तर दिया—

कलौ दश सहस्राणि हरिस्तिष्ठति मेदिनीम्। देवानां प्रतिमा पूज्या शास्त्राणि च पुराणकम्॥ ३२॥
तदर्धमपि तीर्थानि गङ्गादीनि सुनिश्चितम्। तदर्धं ग्रामदेवाश्च वेदाश्च विदुषामपि॥ ३३॥
अधर्मः परिपूर्णश्च तदन्ते च कलौ पितः। एकवर्णा भविष्यन्ति वर्णाश्चत्वार एव च॥ ३४॥
सर्वैः सार्धं च सर्वेषां भक्षणं नियमच्युतम्॥ ३७॥
राजानश्चापि म्लेच्छाश्च यवना धर्मनिन्दकाः॥ ४९॥
वृद्धाङ्गुष्ठसमा लोका वृक्षाः शाकसमास्तथा॥ ५४॥
तालानां नारिकेलाणां पनसानां तथैव च। फलानि सर्षपाण्येव तत्क्षुद्रं च ततः परम्॥ ५५॥

—ब्रह्म० श्रीकृष्ण० ९०।३१-३४, ३७, ४९, ५४, ५५

अर्थ—कलियुग में हरि अर्थात् विष्णु इस पृथिवी पर दस सहस्र वर्ष तक रहते हैं और इतने ही दिनों तक देवताओं की मूर्त्तियाँ पूजी जाती हैं और शास्त्र तथा पुराण स्थिर रहते हैं॥३२॥

यह निश्चित बात है कि इसके आधे समय अर्थात् पाँच सहस्र वर्षों तक गङ्गा आदि तीर्थ ठहरते हैं और उसके भी आधे अर्थात् ढाई सहस्र वर्ष तक ग्राम के देवता और विद्वानों के वेद स्थिर रहते हैं॥३३॥

हे पिताजी! तत्पश्चात् कलियुग में अधर्म भरपूर हो जाता है, उस समय चारों ही वर्ण के लोग एक वर्ण के हो जाएँगे॥३४॥ सबका सबके साथ अनियमित खाना-पीना हो जाएगा॥३७॥ धर्म की निन्दा करनेवाले यवन और म्लेच्छ राजा होंगे॥५०॥ लोगों के शरीर

अंगूठे के समान छोटे हो जाएँगे और सारे वृक्ष साग के समान हो जाएँगे। ताड़, नारियल और चीड़ के वृक्ष भी वैसे ही—साग के समान हो जाएँगे और सब फल सरसों के दाने के समान हो जाएँगे और इससे आगे-आगे और भी छोटे होते जाएँगे।।५४-५५।।

पाठक महाशय! श्रीकृष्णजी के कथनानुसार अब पौराणिक पोपमण्डल के धर्म की समाप्ति हो चुकी है और इसकी अन्त्येष्टि स्वयं सनातनधर्मियों के हाथों ही की जा रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने जीवन में पौराणिक सनातनधर्म ने हमारा भरपेट विरोध किया, परन्तु इन सारे विरोधों की चर्चा विरोधी के जीवन में ही शोभा पाती है। अब जबकि सनातनधर्म की मृत्यु होकर उसकी अन्त्येष्टि हो रही है, तो हमारे साथ उसके सब विरोध भी समाप्त हैं। अब हमारा काम उसका विरोध करना नहीं, अपितु अब तो हमारा कर्त्तव्य यह है कि हम परमात्मा से प्रार्थना करें कि "परमात्मा इसकी आत्मा को सद्गति प्रदान करें और इसके सम्बन्धियों को धैर्य प्रदान करें।" इस प्रार्थना के पश्चात् हम अन्त में कुछ आहुतियाँ मृतक की चिता में डालना अपना कर्त्तव्य समझते हैं और इसके पश्चात् सनातनधर्म के प्रति हमारा कर्त्तव्य समाप्त हो चुका। यदि पौराणिक पोपमण्डल हमारी सहायता की आवश्यकता अनुभव करेगा और हमें निमन्त्रण देगा तो हम सनातनधर्म के 'अस्थि-सञ्चय' में उनकी पूरी सहायता करेंगे।

अब हम कुछ आहुतियाँ मृतक की चिता में देने के लिए मन्त्रों का उच्चारण करते हैं। पाठक महाशय अन्तिम 'स्वाहा' शब्द एक-साथ बोलें और आहुतियाँ डालते जाएँ—

ओं कलियुगाय स्वाहा। —कलियुग के लिए स्वाहा।
ओं हरये स्वाहा। —विष्णु के लिए स्वाहा।
ओं देवानां प्रतिमायै स्वाहा। —देवताओं की मूर्त्ति के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकशास्त्रेभ्यः स्वाहा। —पौराणिक शास्त्रों के लिए स्वाहा।
ओं पुराणेभ्यः स्वाहा। —पुराणों के लिए स्वाहा।
ओं गङ्गादितीर्थेभ्यः स्वाहा। —गङ्गादि तीर्थों के लिए स्वाहा।
ओं ग्रामदेवेभ्यः स्वाहा। —ग्राम के देवताओं (गूगामसानी आदि) के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकवेदेभ्यः स्वाहा। —पौराणिक वेदों (शाखा आदि) के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकविद्वद्भ्यः स्वाहा। —पौराणिक विद्वान् (वाममार्गी पोपों) के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकधर्माय स्वाहा। —पौराणिक सनातनधर्म के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकवर्णेभ्यः स्वाहा। —पौराणिक जन्ममूलक वर्णों के लिए स्वाहा।
ओं स्थानभोजनस्पर्शतायै स्वाहा।
—सभा, कूप, पाठशाला, खान-पान छूतछात के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकराज्ञे स्वाहा। —पौराणिक राज=अन्धपरम्परा के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकशरीरेभ्यः स्वाहा। —पौराणिक शरीरों के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकवृक्षेभ्यः स्वाहा। —पौराणिक वृक्षों के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकफलेभ्यः स्वाहा। —पौराणिक फलों के लिए स्वाहा।
ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा। —सनातनधर्म की समाप्ति के लिए स्वाहा।
ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा। —सनातनधर्म की समाप्ति के लिए स्वाहा।
ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा। —सनातनधर्म की समाप्ति के लिए स्वाहा।

ओं शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।

मन्त्रानुक्रमणिका

द

—:o:—